हंस
अप्रैल १९३७
आदर्शवाद और यथार्थवाद—जयशंकर 'प्रसाद'
सृष्टि का आरम्भ [शेषांश]— बर्नार्ड शॉ
खोखला ढाल— जैनेन्द्रकुमार
राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा—भदन्त आनन्द कौसल्यायन
बड़ी दीदी या जिज्जी— 'स्नेह रश्मि'
क्षमा— उषादेवी मित्रा
हिन्दी, उर्दू हिन्दुस्तानी— प्रेमचन्द
मुक्ता-मंजूषा, नीर-क्षीर, सामयिक, इत्यादि इत्यादि...
सम्पादिका
शिवरानी देवी

लेख-सूची

१. यथार्थवाद और छायावाद (निबन्ध)—[जयशंकर 'प्रसाद'] ... ६६५

२. खोखला ढोल (कहानी)—[जैनेन्द्रकुमार] ६७१

३. राष्ट्रलिपि और राष्ट्रभाषा—[भदन्त आनन्द कौसल्यायन] ... ६७८

४. सृष्टि का आरम्भ (एकांकी नाटक)—[बर्नार्ड शॉ] ६८५

५. वह मूर्ख—[आइवन तुर्गनेव] ६९९

६. आमंत्रण (कविता)—[शशिभूषण शर्मा] ७००

७. साहित्य का दृष्टिकोण, आदर्शवाद अथवा यथार्थवाद—[देवीशंकर वाजपेयी] ७०१

८. बड़ी दीदी या जिज्जी (कहानी)—['स्नेहरश्मि'] ७०४

९. हिन्दी का बढ़ता हुआ शब्द-कोष—[चन्द्रगुप्त विद्यालंकार] ... ७१४

१०. क्षमा (कहानी)—[उषादेवी मित्रा] ७२०

११. परिचय (गद्यगीत)—[देवीलाल सामर] ७२६

१२. माँ बेटे (एकांकी चित्र)—[भुवनेश्वर प्रसाद]... ... ... ७२७

१३. गीत (कविता)—[मंगलामोहन] ७३०

१४. उत्कल साहित्य में हास्य-रस—[लक्ष्मीनारायण साहु] ७३१

१५. पहचान (गद्य गीत)—[देवीलाल सामर] ७३२

१६. कंकाल का सामाजिक दृष्टिकोण—[रामस्वरूप व्यास] ७३३

१७. खोया प्यार (कविता)—[कमला कुमारी] ७३८

१८. मानवता के मार्ग—[वामन चोरघड़े] ७३९

१९. वसन्त-प्रभा में—(कविता)—[विनय कुमार] ७४२

२०. उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी—[स्व० प्रेमचन्द] ७४३

२१. मुक्ता मंजूषा—(संकलन)... ... . ७५०

२२. नीर क्षीर—(समालोचना)—[विविध] ७५९

२३. सामयिक—(टिप्पणियाँ) ७६९

हंस

अप्रैल १९३७ वर्ष—७ : अंक—७ चैत्र १९९४

यथार्थवाद और छायावाद

जयशंकर 'प्रसाद'

हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुनरुद्धार काल में श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य रसानुभूति का महत्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भाव-धारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों मेंचन्द्रावली के प्रेम रहस्य की उज्ज्वलनीलमणिवाली रस परम्परा स्पष्ट थी और साथ ही सत्य हरिश्चन्द्र में प्राचीन फल योग की आनन्दमयी पूर्णता थी, किन्तु नील देवी और भारत दुर्दशा इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। प्रेम योगिनी हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूँ। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी समय प्रारम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्थावाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिन्दी में उसी समय आरम्भ हुआ। 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाला सिद्धान्त कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यक दृष्टि पात। उसमें स्वभावतः दुख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण आर्य्य संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आन्दोलन करने वाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग के पुरुषों

के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन मात्र समझने लगा। दैवी शक्ति से तथा महत्व से हट कर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना संकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युग-वाणी में प्रगट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्न्मेंएट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेन्दुजी को उनका विरोध करना पड़ा। उन्हीं दिनों हिन्दी और बङ्गाल के दो महाकवियों में परिचय भी हुआ। श्री हरिश्चन्द्र और श्री हेमचन्द्र ने हिन्दी और बँगला में आदान प्रदान किया। हेमचन्द्र ने बहुत-सी हिन्दी की प्राचीन कविताओं का अनुवाद किया और हरिश्चन्द्र ने विद्या सुन्दर आदि का अनुवाद किया।

जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलतः आरम्भिक साहस पूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर—जिनकी घटना राजकुमारों से ही सम्बद्ध होती थी—मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है। भारत के लिए उस समय दोनों ही वास्तविक थे यहाँ के दरिद्र जन-साधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किन्तु जनसाधारण और उनकी लघुता को वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेक दम्भपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान् दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिये कहा जाता है रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वंदी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं। और वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निन्दनीयता भी—जो सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित रहती हैं—अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं। वास्तव में कर्म, जिनके सम्बन्ध में देश, काल और पात्र के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वे सम्पूर्ण रूप से न तो भले हैं और न बुरे हैं; कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर, अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं; वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रगट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह सन्दिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरुष नर है। इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है

कि हमारे लिए दुख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानूभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्म निरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों को समाज से परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना ; जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं टहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहास कर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थिर करता है। दुःख दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है। जो निजी सौन्दर्य्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओतप्रोत रहती है।

सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है वह महत्व और लघुत्व दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य साहित्य ही बना।

× × ×

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा, से जिसमें बाह्य-वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भँगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दों के अनुसार—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोपि हेतुः
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।

बाह्य उपाधि से हटकर आन्तरहेतु की ओर कवि कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे। किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्य्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ चमत्कार का महात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी बल पर कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।' अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा है—

मुक्ता फलेषुच्छायाया स्तरलत्व मिवान्तरा
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्य मिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही छाया की, कान्ति की तरलता अङ्ग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेद समये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेय योरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (शब्दस्यहि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८) कुन्तक के मत में ऐसी भणिति 'शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्ध व्यतिरेकी' होती है। यह रम्यच्छायान्तर स्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह उज्ज्वलाछायातिशय रमणीयता (१३३) वक्रता की उद्भासिनी है।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकाराजनयन्त्येतां चित्रच्छाया मनोहराम्॥३४॥॥

२ उन्मेष व० जी०।

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है। वे आँखें कुछ कहती हैं।

अथवा—

निद्रानिमीलितदृशो मद मन्थराया नाप्यर्थवन्तिनचयानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्यास्तान्यक्षराणि हृदये किमपिध्वनन्ति॥

किन्तु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया।

यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो ध्वनिवर्ण पदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च सप्रबन्धेपि दीप्यते॥

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्द वर्धन के शब्दों में—

मुख्या महाकवि गिरामलंकृति भृतामपि
प्रतीयमानच्छायैषाभूषालज्जेव योषिता॥३-३८॥

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी सुलभ श्री की ब्रहन ही है। घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अनेक अभिव्यक्ति के साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनव गुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है।'परां दुर्लभां छायां आत्मरूपतां यान्ति'

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इनमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था।

'निरहंकार मृगाङ्कं' 'पृथ्वी गतयौवना' 'संवेदन मिवाम्बरं' मेघ के लिए **'जनपद बधू लोचनैः पीयमानः'** या कामदेव के कुसुम शरके लिए—**'विश्वसनीयमायुधं'** ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सादृश्य को प्रगट करने वाले हैं। और भी

'आर्द्र ज्वलति ज्योतिरहमस्मि' 'मधुनक्त मुतोषसि मधुमत् पार्थिव रजः' इत्यादि श्रुतियों में इस प्रकार की अभिव्यंजनाएं बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिरनिःशब्दता का अनुभव किया था—

शुचि शीतल चन्द्रिकाप्लुता श्चिर निःशब्द मनोहरा दिशः
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययुः॥

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिए आनन्दवर्धन ने कहा है।

तेऽलंकाराःपरांछायां यान्तिध्वन्यंगतां गताः। (२—२९)

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके सही परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य जगत् के

लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी वाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब 'वहति विकलं कायः न मुञ्चति चेतनाम्' की विवशता, वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्म स्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तरभाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता है। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है, उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है। कुन्तक के शब्दों में 'अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि' के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्णतादात्म्य नहीं कर पाया हो वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गयी हो। शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो। हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो ; परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं, कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया मात्र हो वास्तविकता का स्पर्श न हो वही छायावाद है। हाँ मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति, विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है। इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य धारा में होने लगा है। किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही 'छायावाद' नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति, छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

खोखला ढोल

जैनेन्द्रकुमार

[कुछ कहानियाँ ऐसी होती हैं जो पुश्त-दर-पुश्त चलती हैं। ज़माने के साथ वे थोड़ी बहुत बदलती तो हैं, पर पुरानी नहीं हो जातीं। आज कल के पत्रों में आये दिन जो गल्पें निकलती हैं, उनसे कुछ अलग तरह की चीज़ वे होती हैं, वे एक आदमी या एक बिरादरी या एक वक़्त के लिए लागू नहीं होतीं, उनमें सभी आदमी और सभी क़ौमों और सभी वक़्तों के लिए दिलचस्पी की बात रहती है। उनमें शिक्षा होती है, पर गहरी, और वह शिक्षा इस तरह कहानी में हल रहती है कि यह तो हो सकता है कि पता न चले, पर यह नहीं हो सकता कि नागवार मालूम हो।

रूस देश में एक मशहूर नदी है, वाल्गा। दक्खिन की तरफ़ के उसके आस-पास के हिस्से का नाम भी वाल्गा पड़ा हुआ है। वहाँ के लोगों में एक क़िस्सा जाने कब से चला आता था। टॉल्स्टॉय ने उसी को ज़रा अपने ढंग पर ढाल कर लिख दिया है। मैंने उसे जहाँ-तहाँ से ज़रा-ही-ज़रा छुआ है।]

इमेल्यान नाम का एक मज़दूर एक दिन अपने मालिक के काम पर जा रहा था। जाते-जाते एक खेत की मेंड पर कहीं से एक मेंढक कूदकर उसके सामने आ गया। मेंढक इमेल्यान के पैर से कुचल ही गया था कि वह तो इमेल्यान तरकीब से बचा गया। इतने में ही सुना कि पीछे से कोई उसका नाम लेकर पुकार रहा है।

मुड़कर देखता है कि एक बड़ी सुन्दर लड़की है। उस लड़की ने कहा—इमेल्यान, तुम शादी क्यों नहीं कर लेते हो?

इमेल्यान ने कहा कि भला मैं शादी कैसे कर सकता हूँ। जो पहने खड़ा हूँ वही कपड़े मेरे पास हैं, और कुछ भी नहीं है। सो कौन मुझसे शादी करने को राज़ी होगा?

लड़की ने कहा—तुम कहो तो मैं राज़ी हूँ। मैं बुरी नहीं हूँ।

लड़की इमेल्यान के मन को बहुत अच्छी लग रही थी। वह बोला कि तुम तो परी दीखती हो। पर मेरा ठौर-ठिकाना भी तो नहीं है। हम लोग रहेंगे कहाँ और कैसे?

लड़की बोली—इसकी क्या सोच-फ़िकर है। आलस कम किया और मेहनत ज़्यादा की, तो अपने लायक़ खाने-पहरने को तो सब कहीं हो जायगा।

इमेल्यान ने कहा—यह बात है, तो चलो, शादी कर लें। लेकिन बताओ कि चलें कहाँ?

'आओ शहर चलो ।'

सो इमेल्यान और लड़की दोनों शहर चले । वहाँ शहर के परले किनारे पर दूर एक झोपड़ी में इमेल्यान को लड़की ले गई । दोनों की शादी हो गई, और वे घर बसा कर रहने लगे ।

एक दिन शहर का राजा वहाँ से गुज़रा । इमेल्यान की बीवी भी राजा की सवारी देखने झोपड़ी से बाहर निकली । राजा ने जो उसे देखा तो दंग रह गया ।

राजा ने मन में कहा, ऐसी परी-सी सुन्दरी यहाँ कहाँ से आ गई ! उसने अपनी सवारी रोककर उसे पास बुलाया । पूछा—तुम कौन हो ?

सुन्दरी ने कहा—मैं इमेल्यान किसान की बीवी हूँ ।

राजा ने कहा—ऐसी सुन्दरी होकर तुमने किसान से ब्याह क्यों किया ? तुम तो रानी होने लायक़ हो ।

सुन्दरी ने कहा—आप मुझसे ऐसी बड़ी बात मत कहें । मेरे लिए तो किसान ही अच्छे हैं ।

इस कुछ देर की बात के बाद राजा की सवारी आगे बढ़ गई । लौटकर राजा महलों में आ तो गया, पर इमेल्यान की स्त्री की मूरत उसके मन से दूर नहीं हुई । वह रात भर नहीं सोया । सोचता रहा, कैसे उसे पाऊँ । पर उसकी समझ में कोई ठीक जुगत नहीं आई । तब उसने अपने नौकरों को बुलाया और कहा—कोई तदबीर उस परी को पाने की निकालो ।

राजा के नौकरों ने बताया—इमेल्यान को काम करने के लिए महल में बुलाइये । वहाँ हम उससे इतना काम लेंगे, इतना काम लेंगे कि आख़िर वह मर ही जाय । तब उसकी बीवी अकेली रह जायगी और आप उसे ले लीजिएगा ।

राजा ने वैसा ही किया । फ़र्मान हो गया कि इमेल्यान महल में काम करने के लिए आवे और स्त्री के साथ वहीं रहे ।

हुक्म इमेल्यान को मिला, तब उसकी स्त्री ने कहा—इमेल्यान, जाओ । दिन भर काम करना, पर रात को सोने घर आ जाना ।

सुन कर इमेल्यान चला गया । महल पहुँचने पर राजा के दीवान ने पूछा—इमेल्यान बीवी को छोड़कर तुम अकेले क्यों आये ?

इमेल्यान ने कहा—मेरे घर में ही उसका तो घर है । उसे साथ क्यों खींचता फिरूँ ?

राजा के महलों में उस अकेले को दो आदमियों का काम दिया गया । आशा तो नहीं थी कि वह काम पूरा होगा पर इमेल्यान उसमें जुट गया । और शाम होते होते अचरज की बात देखो कि काम भी सब पूरा हो गया । दीवान ने देखा कि काम सब निबट गया है । तब अगले दिन के लिए उसने चौगुना काम बता दिया ।

इमेल्यान घर लौटा । वहाँ सब चीज़ साफ़-सुथरी थी, खाना तय्यार था, पानी गरम रक्खा था और बीवी बैठी कपड़े सी रही थी और पति की बाट देख रही थी । उसने पति की आव-भगत की, हाथ-पैर धुलाए, खाने-पीने को दिया और काम की बात पूछी ।

इमेल्यान ने कहा कि काम की बात क्या पूछती हो ! काम तो इतना देते हैं कि बिसात से ज़्यादा । काम के बोझ से मुझे मारना चाहते हैं ।

स्त्री ने कहा—काम के बारे में झींकना अच्छा नहीं होता । काम के वक़्त आगे-पीछे को नहीं देखना चाहिए कि कितना हमने कर लिया, कितना बाक़ी रह गया । बस काम करते चलना चाहिए । बाक़ी सब अपने-आप ठीक हो जायगा ।

सुनकर इमेल्यान बेफ़िक्री से रात को सोया । सबेरे उठकर वह काम पर गया और

बिना दायें-बायें देखे उसमें लगा रहा। होनहार की बात, कि साँझ से पहले सभी काम पूरा हो गया और अँधेरा होते-होते रात बिताने वह अपने घर पहुँच गया।

राजा के लोग दिन-ब-दिन उसका काम बढ़ाते गये। पर हर रोज़ शाम होने से पहले सब काम ख़तम हो जाता और इमेल्यान सोने वहीं अपने घर पहुँच जाता। ऐसे एक हफ़्ता बीत गया। राजा के नौकरों ने देखा कि भारी काम दे-देकर तो वे इमेल्यान का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उन्होंने तब उसे मुश्किल और बारीक काम दिया। उससे भी कुछ न हुआ; क्या बढ़ई का, क्या राजगीरी का, और क्या और तरह का, सब काम इमेल्यान ठीक तरह और ठीक वक़्त से पहले कर देता और मज़े में रात को घर रवाना हो जाता। ऐसे दूसरा हफ़्ता निकल गया।

इस पर राजा ने अपने आदमियों को बुलाकर कहा—क्या मैं तुम्हें मुफ़्त का माल खिलाता हूँ? दो हफ़्ते बीत गए हैं, तुमने क्या करके दिखाया? कहते थे, तुम काम से इमेल्यान को थका दोगे। पर शाम होती नहीं कि खुशी से उसे रोज़ गाते हुए घर लौटते मैं अपनी आँखों से देखता हूँ। क्या तुम लोग मुझे बेवकूफ़ बनाना चाहते हो?

बादशाह के सामने वे लोग इधर-उधर करने लगे। बोले—हमने अपने बस तो भारी-से-भारी काम उसे दिया। पर उसने तो सब ऐसे साफ़ कर दिया जैसे झाड़ू से बुहार दिया हो। वह तो थकता ही नहीं। फिर हमने बारीक काम सौंपे। उन्हें भी उसने पार लगा दिया। कुछ भी काम दो, वह सब कर देता है। जाने कैसे! वह या उसकी बीवी, कोई न कोई जादू ज़रूर जानते मालूम होते हैं। हम तो ख़ुद उससे तंग हैं। हाँ, एक बात सोची है। इमेल्यान को बुलाया जाय, कहा जाय, महल के सामने दिन भर में एक मंदिर की इमारत तुमको खड़ी करनी है, अगर न कर सके तो उसका सिर क़लम कर दिया जाय।

राजा ने इमेल्यान को बुला भेजा। कहा—सुनो इमेल्यान, महल के सामने एक नया मन्दिर बनवाना है। कल शाम तक वह तैयार हो जाना चाहिए। अगर कर दोगे तो इनाम दूँगा, नहीं करोगे तो सिर उतरवा लूँगा।

बादशाह की आज्ञा चुपचाप सुनी और इमेल्यान लौटकर चला आया। उसने सोच लिया कि अब जान गई। घर पहुँचकर बीवी से कहा—सुनती हो? अब तैयारी करो और यहाँ से भाग चलो। नहीं तो बेमौत मरना होगा।

उसकी स्त्री ने कहा—ऐसे क्यों डर गये हो? और हम क्यों भाग चलें?

इमेल्यान ने कहा—डरने की बात ही है। राजा ने कल-कल में एक पूरा नया मंदिर खड़ा करने का हुक्म दिया है। नहीं कर सकूँगा, तो सिर देना होगा। बस, बचने की एक ही राह है। वह यह कि वक़्त रहते हम लोग यहाँ से भाग चलें।

लेकिन उसकी बीवी ने इस बात को कान पर भी नहीं लिया। बोली—राजा के पास बहुत से सिपाही हैं। कहीं से भी वे हमें पकड़ लायेंगे। हम बच नहीं सकते, और जब तक बस हो राजा का हुक्म हमें मानना चाहिए।

'हुकुम मैं कैसे मानूँ जबकि काम मुझसे होना मुमकिन नहीं है!'

स्त्री ने कहा—तो भी, जी क्यों हलका करते हो? जो होगा देखा जायगा। अभी तो खा-पीकर आराम से सोओ। सबेरे तड़के उठ जाना और सब काम ठीक हो जायगा।

इस पर इमेल्यान आराम से सोया। अगले दिन पौ फटते ही बीवी ने उसे जगाया। कहा—झटपट तैयार होकर जाओ और मन्दिर का काम पूरा कर डालो। यह हथौड़ी है, ये कीलें हैं। अभी वहाँ एक दिन के लायक़ काफ़ी काम मिलेगा।

इमेल्यान शहर में गया। चौक में पहुँचा तो देखता क्या है कि मन्दिर बना-बनाया खड़ा है। वह ऊपरी कुछ बचा हुआ काम करने में लग गया जो शाम तक सब पूरा हो गया।

राजा ने जगने पर देखा कि सामने मन्दिर तैयार खड़ा है और इमेल्यान यहाँ-वहाँ कुछ कीलें गाड़ रहा है। मन्दिर बना देखकर राजा को ख़ुशी नहीं हुई। इमेल्यान को सज़ा अब वह कैसे दे? और उसकी बीवी कैसे हाथ लगे? फिर उसने अपने नौकरों को इकट्ठा किया। कहा—इमेल्यान ने यह काम भी पूरा कर दिया। अब बताओ उसे किस बात पर ख़तम किया जाय? इस बार कोई पक्की तरकीब निकालो। नहीं तो उसके साथ तुम सबके भी सिर उतारे जायेंगे।

इस पर उन लोगों ने तय किया कि इमेल्यान से महल के चारों तरफ़ एक दरिया बहाने को कहा जाय, जिसमें किश्तियाँ बह रहीं हों, और किनारे-किनारे पक्के घाट हों। राजा ने इमेल्यान को बुला भेजा और यही हुक्म सुना दिया। कहा—अगर एक दिन में तुम पूरा मंदिर बना सकते हो, तो यह काम भी एक रात में कर सकते हो। कल सब हो जाय। नहीं तो तुम्हारा सिर धड़ पर न रहेगा।

इमेल्यान अब सब आस छोड़ बैठा और भारी जी से घर आया। घर में पत्नी ने पूछा—ऐसे उदास क्यों हो? क्या राजा ने और नया काम बताया है?

जो हुआ था इमेल्यान ने कह सुनाया। बोला—चलो, अब भाग ही चलें, लेकिन बीवी ने कहा—राजा के सिपाही हैं। उनसे कहाँ बचोगे, जहाँ पहुँचोगे वहीं से वे पकड़ लेंगे। इससे हुक्म मानना ही भला है।

'लेकिन मुझसे उतना सब काम कैसे होगा?'

स्त्री ने कहा—जी मत छोटा करो। खा-पीकर आराम से सोओ। सबेरे उठ पड़ना और भगवान् ने चाहा तो सब ठीक हो जायगा।

चिन्ता छोड़कर इमेल्यान सो गया। सबेरे ही उसकी पत्नी ने उठा कर कहा—उठो अब महल जाओ। वहाँ सब तैयार है। महल के सामने दरिया के किनारे ज़रा ज़मीन उठी हुई है। लो यह फावड़ा, उसे हमवार कर देना।

सवेरे उठते ही राजा ने अचम्भे से देखा, जहाँ कुछ नहीं था वहाँ दरिया मौजें ले रहा है, पाल खोले किश्तियाँ तैर रही हैं और एक तरफ़ ज़रा-सी ज़मीन को इमेल्यान फावड़े से हमवार कर रहा है। राजा को अचरज तो हुआ; पर न तो पानी से भरी नदी और न उनपर खेलती हुई हंसिनी-सी किश्तियों को देखकर उसके मन को ज़रा खुशी हुई। इमेल्यान को पकड़ न पाने पर वह इस क़दर बेचैन था। उसने सोचा कि अब मैं करूँ तो क्या करूँ? यह सोच कर उसने फिर अपने नौकरों को बुलवाया।

'देखो तुम लोग'—राजा ने कहा—कोई-न-कोई काम निकालो जो उससे न हो। समझे? जो कहते हैं वह सब कर देता है और अब तक उसकी औरत हमें नहीं मिल सकी है।

सोचते-सोचते नौकरों ने एक युक्ति लगाई। राजा के पास जाकर कहा—इमेल्यान को बुला कर उससे कहिये कि देखो इमेल्यान, वहाँ जाओ कि जाने-कहाँ और वह चीज़ लाओ कि जाने-क्या; तब वह बच कर नहीं निकल सकेगा। वह फिर जहाँ कहीं भी जायगा, आप कह देना कि वहाँ के लिए नहीं कहा था और जो लायेगा, कह देना वह हमने मँगाया ही नहीं था। यह कह कर मौत की सज़ा दे देना और उसकी बीवी ले लेना।

राजा सुन कर ख़ुश हुआ। कहा—यह तुमने ठीक सोचा है। इमेल्यान को बुलाया गया और राजा ने कहा—इमेल्यान, वहाँ जाओ कि जाने-कहाँ और वहाँ से वह लाओ कि जाने-क्या। अगर नहीं ला सके तो तुम्हारा सिर सलामत नहीं है।

इमेल्यान ने घर आकर बीवी से राजा की बात कह सुनाई। सुनकर बीवी सोच में पड़ गई।

बोली—लोगों ने राजा को इस बार तुम्हें पकड़ने की ठीक तरकीब बता दी है। अब हमें होशियारी से चलना चाहिए।

यह कहकर वह बैठी सोचती रही। आख़िर बोली—देखो, दूर एक दादी बुढ़िया है। सिपाहियों की वह धरती-जैसी माँ है। उससे मदद माँगना। अगर वह तुम्हें कुछ दे, या बताये, तो उसे लेकर महल में आना। मैं वहीं रहूँगी। मैं अब राजा के लोगों से नहीं बच सकती। वह मुझे ज़बरदस्ती ले लेंगे। पर थोड़े दिन की बात है। अगर तुम दादी की बात पर चलोगे तो मुझे जल्दी बचा लोगे।

उसने यात्रा के लिए अपने पति को तैयार कर दिया। साथ में कुछ खाना बांध दिया और चर्ख़े का एक तकुआ दे दिया। कहा—देखो, यह तकुआ दादी को देना। इससे वह पहचान जायँगी, तुम कौन हो। यह कहकर ठीक रास्ता बताकर उसे भेज दिया।

इमेल्यान चलते-चलते एक जगह पहुँचा, जहाँ सिपाही क़वायद कर रहे थे। इमेल्यान खड़ा होकर उन्हें देखने लगा। क़वायद के बाद सिपाही बैठकर आराम करने लगे। उसने पास जाकर पूछा—भाइयो, आप लोग जानते हैं कौन-सा रास्ता 'वहाँ जाने कहाँ' जाता है और मैं कैसे 'वह जाने क्या' चीज़ पा सकता हूँ?

सिपाहियों ने अचरज से उसकी बात सुनी। फिर पूछा—तुमको किसने यह काम देकर भेजा है।

'मुझको राजा ने यह हुकम दिया है।'

सिपाहियों ने कहा—हम भी जिस दिन से सिपाही की नौकरी में आये हैं, उसी दिन से 'वहाँ जाने कहाँ' जा रहे हैं। और अभी कहीं नहीं पहुँचे हैं। और 'वह जाने क्या' ढूँढ़ रहे हैं और अभी तक कुछ नहीं पा सके हैं। हमसे भाई तुम्हें कुछ मदद नहीं मिल सकती।

इमेल्यान कुछ देर सिपाहियों के साथ ठहर कर आगे बढ़ा। कोस-पर-कोस चलता गया। आख़िर एक जंगल आया। जंगल में एक झोंपड़ी थी और सिपाहियों की धरती माँ, वही बुढ़िया दादी, चर्ख़े पर ऊन कात रही थी और रो रही थी। कातते-कातते वह उंगलियों को ले जाकर मुँह के नहीं आँख के पानी से गीला करती थी। इमेल्यान को देख बुढ़िया ने चिल्ला कर कहा—कौन है? तू यहाँ क्यों आया है?

तब इमेल्यान ने वह तकुआ बुढ़िया को दिया और कहा—मेरी स्त्री ने यह देकर तुम्हारे पास भेजा है।

बुढ़िया इस पर एकदम मुलायम पड़ गई और हाल-चाल पूछने लगी। इमेल्यान ने सब कह दिया। कैसे बीवी मिली; कैसे ब्याह करके वह शहर में रहने लगे; कैसे काम किया और महल में क्या-क्या किया; कैसे मन्दिर बनाया, और किश्ती—जहाज़ वाला दरिया बनाया, और कैसे अब उसे राजा ने 'वहाँ जाने कहाँ जाने' और 'वह जाने क्या जाने' का हुकुम देकर भेजा है—यह सब उसने बता दिया।

सुनकर दादी का रोना रुक गया। मनमें बोली—अब मेरे संकट कटने का वक़्त आया

है, और इमेल्यान से कहा—अच्छा बेटा बैठो, कुछ खा-पी लो।

खिला-पिलाकर दादी ने बताया कि 'देखो, यह सूत का पिंडा है, इसे लो और सामने लुढ़का दो। इसके सूत के पीछे-पीछे तुम चलते जाना। चलते-चलते समंदर तक पहुँच जाओगे। वहाँ एक बड़ा शहर दीखेगा। उसमें चले जाना। शहर के पार आख़िरी मकान पर एक रात ठहरने को जगह माँगना। वहाँ आँख खोलकर रहना, तब तुम्हारी चीज़ मिल जायगी।'

इमेल्यान ने कहा—दादी मैं पहचानूँगा कैसे कि यही वह चीज़ है ?

बुढ़िया ने कहा—जब तुम ऐसी चीज़ देखो जिसको लोग माँ-बाप से ज़्यादा मानें समझ लेना वही है। उसी को राजा के पास ले जाना। तब राजा कहेगा, यह वह चीज़ नहीं है। तुम कहना—अगर यह वह नहीं है, तो इसे तोड़ देता हूँ और तब तुम उसे पीटने लगना। पीटते-पीटते नदी तक ले जाना और टुकड़े-टुकड़े करके उसे नदी में फेंक देना। तब तुम्हारी स्त्री तुम्हें वापिस मिल जायगी और मेरे आँसू सूख जावेंगे।

इमेल्यान ने दादी से हाथ जोड़कर विदा ली और सूत के गोले के पीछे-पीछे चला। गोला लुढ़कता और खुलता हुआ आख़िर समंदर के किनारे तक पहुँच गया। वहाँ एक बड़ा शहर था और उसके दूसरे सिरे पर एक बड़ा मकान। इमेल्यान ने रात को ठहरने के लिए वहाँ जगह माँगी और मिल गई। सवेरे उसने सुना कि घर में बाप लड़के को जगा रहा है कि उठकर जाओ, जंगल से कुछ लकड़ी काट लाओ। लेकिन लड़के ने सुना-अनसुना करके कहा—अभी बहुतेरा वक़्त है। ऐसी जल्दी क्या है।

माँ ने कहा—जाओ बेटा, तुम्हारे पिताजी के बदन की हड्डी दुखती है। तुम नहीं जाओगे तो उन्हें जाना पड़ेगा। बेटा, दिन बहुत निकल आया है।

पर लड़के ने कुछ बहाना बना दिया और करवट लेकर फिर सो गया। इमेल्यान ने यह सब सुना। तभी एकाएक बाहर सड़क पर से किसी चीज़ की दमादम ज़ोर की आवाज़ होनी शुरु हुई। और देखता क्या है कि वह लड़का फ़ौरन कूद कर उठा और चट कपड़े पहन घर से निकल भागा। यह देख इमेल्यान भी कूद कर देखने पीछे लपका कि क्या चीज़ है, जिसका हुकुम लड़का माँ-बाप से ज़्यादा मानता है। देखता क्या है कि सड़क पर एक आदमी पेट के आगे बाँधे एक चीज़ लिए जा रहा है जिसे वह दोनों तरफ़ दो कमचियों से पीट रहा है। वही चीज़ थी जो इस ज़ोर से गूंज रही थी और जिसकी आवाज़ पर लड़का घर से भाग आया था। इमेल्यान पास पहुँच कर उसे ग़ौर से देखने लगा। वह चीज़ गोल थी। दोनो सिरों पर खाल मढ़ी थी। पूछा कि इसका क्या नाम है ?

लोगों ने बताया—'ढोल'।

'क्या यह अन्दर खोखला है ?'

'हाँ, अन्दर यह खोखला है।'

इमेल्यान ताज्जुब में रह गया। उसने कहा—यह हमें दे दो। पर देने वाले ने नहीं दिया। इस पर इमेल्यान ढोल वाले के पीछे-पीछे हो लिया। सारे दिन साथ लगा रहा। आख़िर जब ढोल वाला सोया, तब ढोल उठा कर इमेल्यान भाग आया।

भागा भाग-भागा भाग, अपनी बस्ती में आया। पहले तो बीवी से मिलने पहुँचा, घर। पर वहाँ वह नहीं थी, इमेल्यान के जाने के अगले दिन उसे राजा के लोग ले गये थे। इस पर इमेल्यान महल पर पहुँचा और अन्दर ख़बर भिजवाई कि इमेल्यान लौट आया है, जो 'वहाँ गया था जाने कहाँ, और 'वह ले आया है जाने क्या।'

सुनकर राजा ने हुक्म दिया कि कह दो अगले दिन आवे।

इस पर इमेल्यान ने कहलवाया—मैं वह चीज़ लेकर आया हूँ जो राजा ने चाही थी। राजा मेरे पास उसे लेने नहीं आ सकते, तो मैं ही उनके पास आता हूँ।

राजा बाहर आए। उन्होंने पूछा—अच्छा तुम कहाँ गये थे?

इमेल्यान ने ठीक-ठीक बता दिया।

राजा ने कहा—वह असली जगह नहीं है। अच्छा, लाये क्या?

इमेल्यान ने ढोल दिखा दिया; लेकिन राजा ने उसे देखा भी नहीं। कहा—यह वह नहीं है।

इमेल्यान ने कहा—अगर यह वह चीज़ नहीं है तो इसे पीट कर तोड़ देता हूँ। फिर देखा जायगा।

यह कह कर इमेल्यान ढोल पीटता हुआ महल से बाहर निकल गया। ढोल का पिटना था कि पीछे-पीछे राजा की फ़ौज सब निकल आई और इमेल्यान को सलाम करके उसके हुक्म के इन्तज़ार में खड़ी हो गई।

राजा ने अपनी खिड़की से यह देखा तो अपनी फौज को चिल्ला-चिल्लाकर कहा कि इमेल्यान के पीछे मत जाओ। पर किसी ने कुछ नहीं सुना और सब उसके ढोल के पीछे चल पड़े।

राजा ने जब यह देखा तब हुकुम दिया कि इमेल्यान की बीवी उसको दे दो और वापिस वह ढोल माँगा।

पर इमेल्यान ने कहा—यह नहीं हो सकता। इसको तोड़ कर मुझे तो नदी में फेंक देना है।

यह कह कर इमेल्यान ढोल पीटता हुआ नदी की तरफ़ बढ़ गया। सिपाही सब उसके पीछे थे। नदी पहुँच कर ढोल को टुकड़े-टुकड़े कर इमेल्यान ने नदी की धार में फेंक दिया। तब सिपाही सब अपने-अपने घर भाग गये।

फिर इमेल्यान बीवी को साथ लेकर अपने घर पहुँच गया। उसके बाद राजा ने उन्हें नहीं सताया और वे सुख से रहने लगे।

राष्ट्रलिपि और राष्ट्रभाषा

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

यदि भारतवर्ष बृटेन की तरह एक छोटा-सा देश होता तब तो हमारे राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी झँकड़े का वर्तमान स्वरूप अत्यन्त ही हास्यास्पद होता, लेकिन इस अवस्था में भी कम नहीं। इंगलिश भाषा के नाम से प्रकट होता है कि यह इंगलैण्ड की बोली रही होगी; समस्त बृटेन की नहीं। तो भी इङ्गलैण्ड को छोड़ कर बृटेन के स्काटलैण्ड और वेल्स आदि जो हिस्से हैं, वहाँ के किसी आदमी को इस बात का ख़्याल नहीं होता—कम-से-कम वह इस बात के लिए रोता नज़र नहीं आता कि इङ्गलिश का नाम इङ्गलिश भाषा न होकर दूसरा नाम बृटिश-भाषा क्यों नहीं पड़ा? आज वह न तो इस बात के लिए मरता है कि उसकी भाषा क्यों अमुक अक्षरों में लिखी जाती है और क्यों अमुक अक्षरों में नहीं लिखी जाती, और न इस बात के लिए परेशान है कि उसकी भाषा में अमुक सम्प्रदाय के अनुयायियों के इतने शब्द क्यों हैं और अमुक के क्यों नहीं? और तो और, हमारे यहाँ की 'हिन्दी प्रचारिणी' और 'नागरी-प्रचारिणी' सभा के ढंग की 'इंगलिश-प्रचारिणी' और, 'रोमन-प्रचारिणी' सभाओं की बात भी कभी सुनने में नहीं आती।

इसका यह मतलब नहीं कि बृटेन में साहित्यिक सभायें नहीं। अंग्रेज़ी वाङ्मय के भिन्न-भिन्न अंगों की सेवा के लिए वहाँ सभाओं की क्या कमी! अनेक सभायें हैं—किसी का उद्देश्य भू-वृत्त* सम्बन्धी साहित्य पैदा करना, किसी का उद्देश्य पुराने गीतों का संग्रह करना, तो किसी का उद्देश्य जन-कथाओं को इकट्ठा करना है। यह सब होते हुए भी हमारे भारत में अपनी राष्ट्र-भाषा के नाम, उसकी लिपि और स्वरूप का निश्चय करने के लिए, अपनी राष्ट्र-भाषा के शब्दों का साम्प्रदायिक बँटवारा करने के लिए, अपनी राष्ट्र-भाषा के साहित्य की साम्प्रदायिक छीछा-लेदर करने के लिए जैसी-जैसी संस्थायें हैं, वैसी संस्थायें आपको ढूँढ़े न मिलेंगी।

हमारी राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा की समस्या कितनी ही और समस्याओं की तरह जिन कारणों से इतनी अधिक विकट हो गई है, उनमें एक यह भी है कि जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर पानी पीते समय हमें अपने मज़हब के मुताबिक़ हिन्दू-पानी या मुसलमान-पानी पीना चाहिए—और पीते हैं—उसी प्रकार हम समझते हैं कि अपनी राष्ट्र-भाषा की समस्याओं पर विचार करते

---

* 'भूगोल' शब्द एक शास्त्र के लिए उपयुक्त नहीं जँचता।

समय भी हमें अपने मज़हब के मुताबिक़ हिन्दू-हल वा मुसलमान-हल पसन्द करना चाहिए। बिना अपने मज़हब की ओर देखे विचार करने से, न जाने क्या हो जाये ?

अधिक सज्जन तो खुल्लमखुल्ला हिन्दू होने से हिन्दी के और मुसल्मान होने से उर्दू के पक्षपाती बनते हैं, लेकिन कुछ महानुभाव ऐसे भी हैं जो अपने आप को समझते हैं कि वह इस मज़हबी पक्षपात से ऊपर हैं ; लेकिन अगर आप को फ़ुर्सत हो और आप उनकी मनोवृत्ति का अध्ययन करें, तो वह भी आपको हिन्दू और मुसलमान के साथ बराबर-बराबर इन्साफ़ करते नज़र आयेंगे। यहाँ प्रश्न हिन्दू-मुसल्मानों के साथ इन्साफ़ या बेइन्साफी का नहीं, यहाँ प्रश्न है अपनी राष्ट्रीय समस्याओं पर हिन्दू-मुसल्मानों की विभक्त-दृष्टि से विचार या अविचार करने तथा न करने का।

नेता पर नेता उठकर हमें यह बतलाने से बाज़ नहीं आते कि हिन्दुस्तान की राजनीति में ही नहीं, हिन्दुस्तान की हरेक चीज़ में मज़हब का स्थान सर्वोपरि है और रहना चाहिए, मानो अभागी भारत-माँ के बच्चों में हिन्दू-मुसलमानों को छोड़कर और कोई दो टुकड़े—दो फ़िर्क़े—हो ही नहीं सकते।

हाँ, तो इस लेख में हिंदुओं और मुसलमानों—दोनों को बालाए-ताक़ रखकर अपनी राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा की समस्या पर कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। ये विचार न एक हिन्दू के हैं, न मुसलमान के। ये विचार हैं अपने को राष्ट्र-भारती का एक तुच्छ सेवक समझने वाले के।

राष्ट्र-लिपि

यह कहने की एक रस्म-सी पड़ गई है कि हिन्दुस्तान में दो लिपियाँ हैं—एक हिन्दी, दूसरी उर्दू। मोटे तौर पर आप जो मरज़ी हो कहिये; लेकिन न तो हिन्दी कोई लिपि है न उर्दू। हिन्दुस्तान में कम से कम दस प्रधान लिपियाँ प्रचलित हैं:—नागरी, बङ्गला, गुजराती, गुरुमुखी, तमिष, तेलुगू, कन्नडी, मलयालम, फ़ारसी (उर्दू) तथा रोमन। इनमें नागरी या देव-नागरी लिपि प्रधान है। हिन्दी भाषा तो इस लिपि में लिखी ही जाती है, संस्कृत के अधिकांश ग्रन्थ इसी लिपि में छपते हैं, मराठी भाषा की यही लिपि है और गुजराती भाषा की लिपि भी एक प्रकार से शिरोरेखा रहित नागरी ही है। बङ्गला, गुरुमुखी सदृश लिपियों के ज्ञाता इस लिपि को बड़ी आसानी से सीख सकते हैं, बाक़ी, तेलुगू, तमिष आदि जो दक्षिण-भारत के प्रान्तों की लिपियाँ हैं उनका मूल स्रोत भी वही है जो नागरी लिपि का। द्रविड़-कुल की लिपियों की बात जाने दें तो भी १९३१ की मर्दुम शुमारी की रिपोर्ट के अनुसार हर १०,००० मनुष्यों में ४,०५६ मनुष्य देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली भाषायें काम में लाते हैं, और २,६६२ मनुष्य देव-नागरी लिपि के किसी भी एक प्रकार में लिखी जाने वाली भाषायें उपयोग करते हैं। * इस प्रकार १०,००० मनुष्यों में कम से कम ६,७१८ आदमी तो ऐसे ही हैं, जिनकी प्रवृत्ति राष्ट्र-लिपि के मामले में स्वभावतः देवनागरी ही के पक्ष में होगी। रही द्रविड कुल की लिपियों की बात, उनमें उत्तर-भारतीय लिपियों के साथ एकरूपता और समानता न रहने पर भी वे नागरी ही की बहिनें हैं, क्योंकि निकलीं वह भी उसी अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि से हैं, जिससे नागरी लिपि।

ऐसी अवस्था में क्या हम यह समझने में ग़लती करते हैं कि दक्षिण-भारत में प्रचलित लिपियों के ज्ञाताओं की नज़रों में भी उनकी अपनी लिपि के बाद देवनागरी का ही स्थान सर्वोच्च है ?

---

* भारतीय साहित्य और भाषा—श्री कन्हैयालाल मुन्शी।

अब हमें उन लोगों की दृष्टि से विचार करना है, जो किसी भी लिपि से परिचित नहीं और जिन्हें जल्दी से जल्दी साक्षर बनाना राष्ट्रकर्मियों का पहला कर्तव्य है। हम उन्हें कौन-सी लिपि जल्दी-से-जल्दी सिखा सकते हैं? नागरी लिपि या उर्दू लिपि? एक लिपि में तो एक-एक उच्चारण के लिए एक-एक अक्षर है। उन अक्षरों को सीखते ही आप उस लिपि में लिखे हुए शब्द और उन शब्दों से बने हुए वाक्य पढ़ सकते हैं, और दूसरी लिपि में तो दो-दो तीन-तीन अक्षर हैं, जब उन अक्षरों के शब्द बनाते हैं, तो आधे उच्चारण का तो उपयोग होता है, आधा पता नहीं कहाँ चला जाता है! और फिर जब अक्षरों को जोड़कर शब्द बनाये जाते हैं तो उनको कुछ ऐसे तरीके से जोड़ना पड़ता है कि मूल अक्षरों का रूप बिलकुल ही क्या-का-क्या हो जाता है। जहाँ आदमी नागरी अक्षर सीख लेने के बाद तुरन्त ही उन अक्षरों के मेल से बने हुए शब्दों को पढ़ सकता है, वहाँ उर्दू के अलिफ़, क़ाफ़, लाम सीख लेने के बाद भी उन अक्षरों में लिखे गये शब्दों को काफ़ी अर्से तक नहीं पढ़ सकता। हमें प्राचीन तथा आधुनिक लिपियों के एक बड़े विद्वान् का नाम याद आ रहा है जिन्होंने तीन बार प्रयत्न करके भी हताश होकर उर्दू सीख सकने की आशा छोड़ दी।

जैसे देश में बीसियों लिपियाँ हैं—इक्कीसवीं उर्दू लिपि भी रहे। हम उसे निकाल बाहर करने की बात नहीं कहते। जिन्हें एक से अधिक लिपियाँ सीखने का अवकाश और सामर्थ्य है, वह क्यों न उर्दू-लिपि भी सीखें? लेकिन जिस प्रकार हम यह कहते हैं कि प्रत्येक भारतीय को देवनागरी लिपि से अवश्य परिचित होना चाहिए, उसी प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि प्रत्येक भारतीय को उर्दू लिपि से भी अवश्य परिचित होना चाहिए। जो उर्दू लिपि के भी प्रेमी हैं, वह उसमें भी लिखें—पढ़ें। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी अन्त समय तक उर्दू में भी लिखते ही रहे। लेकिन जब हम देवनागरी लिपि को अपनी राष्ट्र-लिपि कह रहे हैं तो उसका यह साफ़ मतलब है कि नागरी लिपि को छोड़कर अन्य सभी लिपियों के ज्ञाताओं से हम यह आशा रखते हैं कि वह नागरी लिपि को अवश्य सीखें, अनिवार्य तौर पर सीखें। लेकिन जो नागरी-लिपि जानते हैं उनसे हमें राष्ट्र-लिपि के प्रचारक की हैसियत से यह कहने का अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरी लिपि को भी अवश्य सीखें; अनिवार्य तौर पर सीखें, और अधिक स्पष्टता से कहना हो तो शायद यूँ भी कह सकते हैं कि किसी को किसी भी दूसरी लिपि का ज्ञान हो चाहे न हो, राष्ट्र-लिपि देवनागरी का ज्ञान होना अनिवार्य है, और यदि किसी को राष्ट्र-लिपि देवनागरी का ज्ञान है, तो उसके लिए किसी भी दूसरी लिपि का ज्ञान अनिवार्य नहीं।

कुछ लोग कहेंगे कि उर्दू लिपि को भी नागरी लिपि के साथ बराबरी का दर्जा दे देने में क्या हर्ज है? भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी होनी चाहिए, फिर उसे चाहे कोई नागरी में लिखे चाहे उर्दू में। हम पूछते हैं कि उर्दू लिपि में कौन-सी विशेषता है कि उसे भी नागरी लिपि की तरह राष्ट्र-लिपि स्वीकार किया जाय? और अगर उसे स्वीकार किया जाय तो गुजराती, बङ्गला आदि अन्य प्रान्तीय लिपियों को भी क्यों न राष्ट्र-लिपियाँ मान लिया जाय? बस, देश की भाषा एक, लिपियाँ अनेक। जिस की इच्छा हो नागरी अक्षरों का प्रयोग करे, जिस की इच्छा हो उर्दू अक्षरों का; जिसकी इच्छा हो गुजराती अक्षरों का, जिसकी इच्छा हो बङ्गला अक्षरों का, जिस की इच्छा हो तमिष् अक्षरों का, जिसकी इच्छा हो तेलुगू अक्षरों का। चलो, राष्ट्र-लिपि की समस्या हल हो गई!

एक ख़याल है लेकिन ग़लत कि सभी हिन्दुओं को सभी प्रान्तों में नागरी लिपि का आग्रह है और सभी मुसलमानों को सभी प्रान्तों में उर्दू लिपि की ज़िद। पंजाब और युक्तप्रान्त

भारत के कितने ही महत्वपूर्ण प्रान्त हों सही—किन्तु वे भारत के केवल दो प्रान्त हैं। जो बात उनके लिए ठीक है, उसे समस्त भारत के लिए ठीक समझना ग़लती है। और फिर पंजाब और युक्तप्रान्त में घर पर तो सब हिन्दू मुसलमान एक ही भाषा बोलते हैं। उसे जब लिख कर छपवाते हैं तभी दो लिपियों का अड़ंगा खड़ा होता है न? अब आप क्या समझते हैं कि पंजाब के सभी हिन्दू नागरी लिपि से बेज़ार हैं? फ़ैशन की बात छोड़िए, कहने को सभी कह देंगे 'हम हिन्दू हैं, हिन्दी के लिए मर मिटेंगे'; लेकिन उनमें से अनेकों की धार्मिक सन्ध्या आज भी उर्दू अक्षरों में होती है। हिन्दूसभाओं के अनेक कार्यकर्त्ताओं को हम हिन्दी का पण्डित केवल इसलिए समझते हैं कि वह नागरी अक्षरों को टटोल-टटोल कर पढ़ लेते हैं। जो दशा पंजाब में हिन्दुओं की है, उससे कहीं गई बीती हालत भारत के अन्य प्रान्तों में मुसलमानों की है। पंजाब के हिन्दू को नागरी लिपि का उससे कहीं अधिक ज्ञान है जितना कि एक गुजराती या महाराष्ट्री मुसलमान को उर्दू का। ऐसी हालत में उर्दू लिपि को हमेशा मुसलमानों की लिपि समझना और नागरी को हिन्दुओं की, क्या हमारे सीमित दृष्टिकोण का परिचायक नहीं? नागरी लिपि और उर्दू लिपि की समस्या हिन्दू मुसलमानों की समस्या नहीं—भले ही उभय पक्ष के प्रचारक उसको वैसा कहते फिरें—वह है एक वैज्ञानिक और एक अवैज्ञानिक लिपि की समस्या; वह है एक आसानी से प्रचार की जा सकने वाली और न की जा सकने वाली लिपि की समस्या। इसलिए हम जब विचार करें, तो हमें इन्हीं और ऐसी ही दूसरी बातों को लेकर आगे बढ़ना होगा।

उर्दू और नागरी लिपि के साथ एक तीसरी लिपि भी है जो चाहती है अथवा जिसे कुछ लोग चाहते हैं कि वह ही पटरानी बन जाय। उर्दू वाले नागरी का विरोध करते हैं और नागरी वाले उर्दू का, लेकिन जिस लिपि का विरोध यदि दोनों को नहीं तो कम से कम एक को तो अवश्य करना चाहिए उसका कोई नहीं करता। हमारी 'हिन्दी-प्रचारिणी' तथा 'नागरी-प्रचारिणी' सभाओं की कोई भी कारवाई उर्दू अक्षरों में नहीं होती और न 'अंजुमन तरक़्क़िए उर्दू' की कोई कारवाई देवनागरी अक्षरों में; लेकिन रोमन अक्षरों में कुछ-न-कुछ कारवाई दोनों की अवश्य होती है। इसका मुख्य कारण है टाइप करने तथा छापने की कुछ सुविधा। बीसवीं सदी में लिपि-विशेष में छपने की सहूलियत होना साधारण गुण नहीं, और उस पर जब उसे राज्याश्रय मिला हो तब तो उसके समर्थकों की बात सुननी ही पड़ेगी। रोमन लिपि के समर्थकों का कहना है कि भारत की प्रस्तावित राष्ट्र-लिपि में इतने अधिक अक्षर हैं और हरेक अक्षर पर स्वरों की इतनी अधिक मात्रायें लगानी पड़ती हैं और संयुक्त अक्षरों की ऐसी ख़राब प्रथा है कि जब तक हम छापेख़ाने में कम से कम ७०० तरह के अक्षर न रखें तब तक छपाई का काम हो ही नहीं सकता। रोमन में कुल जमा २६ अक्षरों से काम चलता है और उसे राष्ट्र-लिपि स्वीकार कर लेने पर हम अन्य देशों के साथ एक क़तार में खड़े हो सकते हैं—

यह दोनों तर्क साधारणतः जितने सबल समझे जाते हैं, उतने सबल नहीं। जहाँ तक हिन्दी के रोमन अक्षरों में लिखी जाने की बात है, यह २६ अक्षरों की लिपि उसमें समर्थ नहीं। हिन्दी की बात छोड़िए, स्वयं अंग्रेज़ी भाषा भी जो रोमन अक्षरों में लिखी जाती है, उसके शब्दों के ठीक उच्चारण को हमें किसी से विशेष रूप से सीखना पड़ता है। यदि हम यह आशा करें कि अपने रोमन वर्णमाला के ज्ञान के भरोसे हम अंग्रेज़ी भाषा को पढ़ लें, तो तीन काल तक सम्भव नहीं। यूरोप वालों को जब संस्कृत और पाली के ग्रन्थों को अपनी रोमन लिपि में छपवा छपवा कर पढ़ने की इच्छा हुई तो उन्होंने अपनी रोमन लिपि में नीचे ऊपर न जाने कितने चिन्ह लगा कर उसे इस योग्य बनाया कि उसमें संस्कृत और पाली ग्रन्थ शुद्ध-शुद्ध लिखे और पढ़े जा सकें। इसके लिए उन्हें एक

प्रकार की नई ही सचिन्ह-लिपि बनानी पड़ी। न बनाने से तो वह हमारी भाषाओं के आधे शब्दों को अशुद्ध ही लिखते पड़ते। उन्होंने अपनी लिपि को छोड़कर हमारी लिपि को नहीं अपनाया, अपनी लिपि को भी नहीं बदला, केवल संस्कृत, पाली भाषायें लिखने के लिए एक नई लिपि बना ली। जिस प्रकार पश्चिम के विद्वानों ने अपनी लिपि पर नीचे ऊपर अनेक चिन्ह लगाकर अपना काम चला लिया, उसी प्रकार क्या हम अपनी लिपि की ऊपर नीचे की मात्रायें हटाकर तथा अन्य परिवर्तन करके अपना काम नहीं चला सकते? वर्तमान नागरी लिपि को हमने ढाई हज़ार वर्ष पुराने ब्राह्मी अक्षरों से यथासमय परिवर्तन करके बनाया है। सम्भव है, उसमें जान-बूझकर अधिक परिवर्तन न किया हो; लेकिन परिवर्तन हुआ है, यह निर्विवाद है। सनातन से यह लिपि ऐसी ही नहीं चली आई। जब पहले भी यह अनेक बार परिवर्तित हुई है, तो इसमें क्या हर्ज है कि वर्तमान युग की आवश्यकताओं की भी कुछ छाप इस पर पड़ जाये? यदि थोड़े परिवर्तन के साथ हम इसे अपने छापाखानेवालों के लिए अपेक्षाकृत आसान और सस्ता बना सकें, तो क्यों न बना लें? लेकिन ऐसा करने में हमारे मनीषियों को यह ख़याल रखना है कि हमारे अक्षरों के आकार में, हमारी लिपि के स्वरूप में छापेखाने की आवश्यकतायें ही एक मात्र निर्णायक न हों। हम सुधार करें; लेकिन ऐसा सुधार न हो कि हमारी लिपि की जो वैज्ञानिकता है, जो विशेषता है, जो सुन्दरता है, हम उससे ही हाथ धो बैठें और हमें कहना पड़े—

एक हम हैं कि लिया अपनी सूरत को बिगाड़,
एक वह हैं जिन्हें तसवीर बना आती है।

रोमन लिपि का राज्य बड़ा है—हमारी लिपि का राज्य भी छोटा नहीं, वर्णमाला का राज्य तो और बड़ा है। रोमन लिपि संसार की एकमात्र लिपि नहीं कि उसके साथ क़दम-ब-क़दम घिसटने में हम अपना गौरव समझें। हमारी लिपि और हमारी वर्णमाला हमारे राष्ट्र की एक विशेष चीज़ है—समस्त संसार को दी हुई एक देन है। हम उसकी रक्षा और उसका प्रसार करेंगे ही।

राष्ट्र-भाषा

जिस दृष्टि से हमने अपनी राष्ट्र-लिपि के प्रश्न पर विचार किया है, उसी दृष्टि से हमें अपनी राष्ट्र-भाषा की समस्या निबटानी होगी। भारत में अनेक लिपियों ही की तरह अनेक भाषायें भी प्रचलित हैं; हिन्दी, बङ्गला, मराठी, गुजराती, तमिष, तेलुगू, कन्नाडी इत्यादि। उर्दू भाषा नाम की कोई पृथक भाषा नहीं। आप यह भी कह सकते हैं कि हिन्दो भाषा नाम की कोई पृथक भाषा नहीं। हिन्दी और बङ्गला में भेद है, हिन्दी और उर्दू में नहीं। हिन्दी और मराठी में भेद है, हिन्दी और उर्दू में नहीं। हिन्दी और गुजराती में भेद है, हिन्दी और उर्दू में नहीं। देखिये—

हिन्दी	उर्दू	बङ्गला	मराठी	गुजराती
मैंने खाया	मैंने खाया	आमि खेयेछि	मी खाल्ल	में खाद्युं
मैं आया	मैं आया	आमि आनियेछि	मी आयाले	हुँ आव्यो
हम गये	हम गये	आमरा गियेछि	आम्ही गेलो	हमें गया

लिपि-भेद की बात भुला दी जाय तो जो हिन्दी है, वह उर्दू है, और जो उर्दू है वही हिन्दी। दोनों का ढांचा एक ही है। अब इस भाषा को—जिसके नामकरण संस्कार का श्रेय मुसलमानों को ही है—हम हिन्दी ही कहेंगे। इस हिन्दी ने अपना शब्द-भण्डार अनेक जगहों से भरा है। संस्कृत शब्दावलि की प्रचुरता तो उसमें है ही, प्राकृत भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त उसमें फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पोर्चगीज, अंग्रेज़ी, हीब्रू तथा यूनानी के शब्द भी हैं। इधर जब से भिन्न-भिन्न प्रान्त वालों ने हिन्दी में अधिकाधिक लिखना आरम्भ किया है, जाने-अनजाने उनकी प्रान्तीय भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी में आ गये हैं। किसी भी जीवित भाषा के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आवश्यकताओं को जहाँ से जैसे हो पूरा करे, हिन्दी ऐसा करती रही है और राष्ट्र-भाषा बन जाने के नाते अधिकाधिक ऐसा करेगी।

अब यदि कोई 'शुद्ध-हिन्दी' का प्रेमी यह प्रस्ताव करे कि हिन्दी में से फ़ारसी, अरबी शब्दों को—जो कि अब हिन्दी बन गये हैं—निकाल दिया जाय तो हम पूछेंगे क्या यह सम्भव है? 'हमने अभी आलमारी में से एक किताब निकाल कर मेज़ पर रक्खी है'—न अलमारी शुद्ध हिन्दी है, न किताब शुद्ध हिन्दी और न मेज़ शुद्ध-हिन्दी। जो लोग मराठी-शुद्धिकरण-आन्दोलन की नक़ल करके हिन्दी में भी वैसा ही आन्दोलन चलाना चाहते हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि उसमें कोई 'आदमी' उनका साथ न देगा। किसी की 'ज़बान' न पकड़ी जा सकेगी। न 'दोस्त' साथ रहेंगे न 'दुश्मन'। ऐसी हालत में ऐसा काम ही क्यों किया जाय कि हम इतने 'ग़रीब' हो जायें कि हमारे पास न गिलास रहे न 'तवा'। हम तो चाहते हैं कि हम 'अमीर' बने रहें— सूंघने के लिए 'गुलाब' के फूल और खाने के लिए गुलाब का जामुन।

न केवल अरबी-फ़ारसी के बल्कि किसी भी भाषा के किसी भी शब्द को—जिस पर एक बार हिन्दी ने अपना हाथ रख दिया है, हम घर से निकालने के विरोधी हैं—शर्त यह है कि वे नालायक़ लड़कों की तरह बेमतलब गड़बड़ न कर रहे हों। भाषा-विशेष के शब्दों का आज बायकाट न सम्भव है, न वाञ्छनीय। यही नहीं, भारत में जब तक हिन्दी के साथ-साथ अन्य भाषाओं की नदियाँ बह रही हैं, तब तक भविष्य में भी यदि उन-उन भाषाओं के शब्द हिन्दी के पास आएँगे तो हम उनका स्वागत करेंगे; उर्दू में जो अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रचलित हैं वे भी आ सकेंगे। हम अपनी ओर से किसी को आश्रय देने से इनकार न करेंगे।

यह सब होने पर भी, हिन्दी भाषा के वर्तमान और भविष्य-स्वरूप के सामने एक समस्या है, जिसका हल हमें बहुत विचार के साथ करना है। आज की राष्ट्र-भाषा को हम यूँही बनते-बिगड़ते रहने के लिए नहीं छोड़ सकते; आज हमें उसे जान बूझ कर सँवारना है, बनाना है। अब हिन्दी भाषा कुछ वर्ष पहले की 'भाखा' नहीं रह गई है। हम उसे अपनी ऊँची से ऊँची शिक्षा का माध्यम बनाने चले हैं। हम जहाँ यह चाहते हैं कि वह काश्मीर से कन्याकुमारी तक समझी जाय, वहाँ यह भी चाहते हैं कि उसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, जटिल-से-जटिल, अर्वाचीन-से-अर्वाचीन भावों को प्रगट करने की सामर्थ्य आ जाये। हम चाहते हैं कि उसमें न केवल समुद्र का-सा फैलाव हो, बल्कि उसकी गहराई भी हो।

अब प्रश्न यह है कि आज के संसार में जितने और जैसे-जैसे गम्भीर विषयों का अध्ययन हो रहा है, जब हमें हिन्दी में उन सभी विषयों पर ग्रन्थ देखने की लालसा है, तो क्या वे ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे जा सकते हैं जिसे यदि गुस्ताख़ी माफ़ हो, तो हम बाज़ारू भाषा कहें तो कोई हर्ज नहीं? हिन्दुस्तान में एक राष्ट्र-भाषा है, जिसे लाहौर से लेकर मद्रास तक के स्टेशनों पर हम उस समय बोलते हैं जब हमें कुलियों से निबटना होता है। अब क्या उस तरह की भाषा

में किसी शास्त्रीय-विषय की चर्चा की जा सकती है? आप से यदि कोई कहे कि आप प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद पर एक पुस्तक लिखें, जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हों, न अरबी-फ़ारसी के' तो क्या आप लिख सकेंगे? आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद को आप जाने दीजिए—कहते हैं उसे अध्यापन संसार में केवल तीन ही आदमी ठीक से समझ सके हैं! अपने ही किसी दर्शन-शास्त्र पर आप कुछ भी लिख सकते हैं? यदि नहीं तो हमें यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए कि हमें जब अपने इतिहास की कुछ गहरी व्याख्या करनी होगी, जब हमें संसार के भौतिक भू-वृत्तकी बातें समझनी-समझानी होंगी, जब ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियों के लिए शास्त्रीय ढंग की पुस्तकें लिखनी-लिखानी होंगी—तब किसी ऐसी राष्ट्र-भाषा, से जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हों, न अरबी-फ़ारसी के' हमारा काम नहीं चल सकता। हमें न केवल पारिभाषिक शब्दों के लिए, बल्कि ऐसे शब्दों के लिए भी जो हमारे गहरे चिन्तन के यथार्थ प्रतिबिम्ब हो सकें, संस्कृत अथवा अरबी-फ़ारसी की शरण लेनी होगी। प्रश्न यह है कि संस्कृत की लें अथवा अरबी-फ़ारसी की?

इस समस्या पर विचार करते समय हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि पंजाब और युक्त-प्रान्त ही सारा-का-सारा भारतवर्ष नहीं हैं। भारत के अनेक प्रान्त हैं, और यदि भाषा की दृष्टि से विचार किया जाय, तो उनमें ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है जो संस्कृत-प्रधान या संस्कृत-प्रचुर भाषाएँ काम में लाते हैं। यदि १०० मनुष्यों का हिसाब लगाया जाय, तो उनमें से ९१ मनुष्य ऐसे होगें जिनके साहित्य का समन्वय संस्कृत साहित्य और कोष से होगा। अर्थात् यदि हम किसी विदेशी शब्द का अनुवाद करने के लिए अथवा किसी नये भाव को प्रगट करने के लिए किसी संस्कृत शब्द का प्रयोग करें, तो वह भारत के लगभग सभी प्रान्तों में आसानी से समझा जायगा। एक अंग्रेज़ी शब्द है 'एकानॉमिक्स।' हम उसका अनुवाद करते हैं—अर्थ-शास्त्र या सम्पत्ति-शास्त्र। भारत का कौन-सा प्रान्त है जिसका पठित समाज इन दोनों शब्दों में से किसी एक को भी न समझेगा? और फ़र्ज़ कीजिए, आप एकानॉमिक्स का अनुवाद करते हैं, 'इल्मे इक़्तसादियात'—इसे भारत में कितने आदमी समझेंगे? भारत ही की बात नहीं, आपका अर्थ-शास्त्र और सम्पत्ति-शास्त्र सिंहल और स्याम के निवासी भी समझ लेंगे, और इल्मेइक़्तसादियात? कुछ अच्छी अरबी-फ़ारसी-मय उर्दू जानने वाले ही समझें तो समझें!

ऐसी हालत में क्या हमारे लिए एकमात्र यही मार्ग नहीं है कि लिखने-पढ़ने की हिन्दी के लिए आवश्यकता पड़ने पर हम नये शब्द संस्कृत से लें? आज स्याम देश में जाग्रति है, वहाँ के लेखक नये-से-नये विचारों को अपनी राष्ट्र-भाषा में प्रगट करने में संलग्न हैं; और इसके लिए अपनी भाषा को—जिसमें पहले ही से साठ-सत्तर फ़ी सदी शब्द संस्कृत के हैं—संस्कृत शब्दों से भर रहे हैं। अब क्या यह पहले दर्जे का साहित्यिक मज़ाक़ न होगा कि आवश्यकता पड़ने पर स्याम वाले तो संस्कृत का मुँह निहारें और हम हिन्दवाले अरबी-फ़ारसी का? इसका यह मतलब नहीं कि हम हमेशा केवल संस्कृत से ही शब्द लेंगे; देशज भाषा में भी हमें कभी-कभी अनेक ऐसे शब्द मिलेंगे कि जो न संस्कृत में हैं और न अरबी-फ़ारसी में।*

---

* हमारा इस लेख में व्यक्त किए गए विचारों से कई स्थलों पर मतभेद है। लेकिन ये विचार लेखक के अपने विचार हैं और उनका हार्दिक स्वागत किया गया है।

—सं०

सृष्टि का आरम्भ

बर्नार्ड शॉ की एक ओजपूर्ण रचना

(गतांक से आगे)

हौआ—उत्पत्ति में रुकावट न होनी चाहिए। मैंने कह दिया कि मैं उत्पन्न करूंगी, यदि ऐसा करने में मुझे अपने को खण्ड-खण्ड भी कर देना पड़े!

आदम—तुम दोनों चुप रहो, मैं भविष्य को अवश्य बाँधूँगा। मैं भय से अवश्य स्वतंत्र होऊंगा (हौआ से) हम अपनी-अपनी प्रतिज्ञा कर चुके, यदि तुमको उत्पन्न करना है, तो तुम इस प्रतिज्ञा की सीमा के भीतर उत्पन्न करो। अब सर्प की बातें अधिक न सुनो। (हौआ के केश पकड़कर खींचता है।)

हौआ—छोड़ मूर्ख ! अभी इसने मुझको अपना भेद नहीं बताया है।

आदम—(उसको छोड़कर) हाँ ठीक है, मूर्ख किसको कहते हैं ?

हौआ—मैं नहीं जानती, यह शब्द आप-से-आप आ गया। जब तुम भूल जाते हो और विचारने लगते हो और भय से पराजित हो जाते हो, उस समय तुम जो कुछ होते हो, वही मूर्ख है। आओ सर्प की बातें सुनें।

आदम—नहीं, मुझे भय लगता है, जब वह बोलता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि मेरे पैरों के नीचे बैठ रही है। क्या तुम उसकी बातें सुनने के लिए ठहरोगी ?

(सर्प ठट्ठा मारकर हँसता है।)

आदम—(खिलकर) इस शब्द से भय दूर हो जाता है। क्या कौतूहल है, सर्प और स्त्री आपस में भेद की बातें करने जा रहे हैं। (हँसता है और धीरे-धीरे चला जाता है। यह इसकी पहली हँसी थी)

हौआ—अब भेद बता, भेद ! (चट्टान पर बैठ जाती है और सर्प के कंठ में भुजाएं डाल देती है। सर्प ओठ के नीचे कुछ कहने लगता है। हौआ का मुख अत्यंत रोचकता से चमकने लगता है। उसकी रोचकता बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि फिर उसके स्थान पर अत्यधिक घृणा के चिह्न प्रकट हो जाते हैं और वह अपना मुख अपने हाथों से छिपा लेती है।)

कुछ शताब्दियों के पश्चात्। प्रातःकाल। ईराक़—अरब में भूमि का एक हरा-भरा खण्ड और वह भी लट्ठों से बना हुआ एक भवन है जो एक बाई वाटिका पर जाकर

समाप्त होता है। आदम मध्य वाटिका में भूमि खोद रहा है, उसके दक्षिण ओर हौआ द्वार के पास एक वृक्ष की छाँह में तिपाई पर बैठी हुई सूत कात रही है। उसका चरखा जिसको वह हाथ से चला रही है, एक बड़े चक्र की भाँति है, जो भारी लकड़ी का बना हुआ है। वाटिका की दूसरी ओर काँटों की एक भीति है, जिसमें टट्टी से बंद एक मार्ग है।

दोनों किफ़ायत और बेपरवाही के साथ मोटे कपड़ों और पत्तों को पहिने हैं। दोनों अपना बाल्यकाल और निर्मलता खो चुके हैं। आदम की दाढ़ी बढ़ी हुई है और उसके केश बेढंगे कटे हुए हैं। परन्तु दोनों स्वस्थ हैं और तरुण अवस्था में हैं। आदम एक कृषक की भाँति थका हुआ दृष्टि आता है। हौआ अपेक्षाकृत अधिक प्रसन्न है। वह बैठी कात रही है और कुछ विचार कर रही है।

एक पुरुष का शब्द—अहा, माता!

हौआ—(दृष्टि उठाकर सम्मुख टट्टी की ओर देखती है) क़ाबील आ रहा है।

(आदम घृणा प्रदर्शित करता है और बिना सिर उठाए हुए धरती खोदने में लगा रहता है।)

क़ाबील टट्टी को ठोकर मारकर मार्ग से अलग कर देता है और लम्बे-लम्बे पगों से वाटिका में प्रवेश करता है। बातचीत और रूप-रंग से वह एक हठीला सिपाही ज्ञात होता है। वह एक लम्बे बल्लम और चर्म की एक चौड़ी ढाल से सुसज्जित है। ढाल पर पीतल मढ़ा हुआ है। उसकी लोहे की टोपी सिंह के सिर से बनाई गई है, जिसमें बैल की सींगें लगी हुई हैं। वह लाल कवच पहने हुए है और एक पदक लगाए हुए है। पदक सिंह-चर्म पर टँका हुआ है जिसमें सिंह के नख लटक रहे हैं। पगों में खड़ाऊँ हैं जिनपर पीतल का काम बना हुआ है। उसकी टाँगें पीतल के आवरण से सुरक्षित हैं। उसकी सिपाहियों जैसी खड़ी मूछें तैल से चमक रही हैं। माता-पिताके साथ उसका बर्ताव ऐसा है, जिससे उसकी उद्दण्डता और अवज्ञा का पता चलता है। वह जानता है कि उसके ढंग पसन्द नहीं किए जाते और न वह क्षमा किया गया है।

क़ाबील—(आदम से) अभी तक धरती खोदना समाप्त नहीं हुआ? तुम सदा धरती खोदते रहोगे और सदा उसी पुरानी नाली में लगे रहोगे, कोई उन्नति नहीं, कोई नया विचार नहीं, कोई कीर्ति नहीं! यदि मैं भी इसी भूमि खोदने में लगा रहता, जैसा कि तुमने मुझे सिखाया था, तो आज मैं कुछ न होता।

आदम—तुम भाला और ढाल लिए हुए इस समय क्या हो, जब कि तुम्हारे भाई का रक्त धरती के भीतर से, तुम्हारे विरुद्ध क्रन्दन कर रहा है!

क़ाबील—मैं पहला वध करनेवाला हूँ, तुम केवल पहले मनुष्य हो! प्रत्येक व्यक्ति पहला मनुष्य हो सकता है। यह ऐसा ही सहज है जैसा कि पहली गोभी होना। किन्तु पहला हत्यारा होने के लिये, साहसी मनुष्य की आवश्यकता है।

आदम—यहाँ से चले जाओ, हमारा पीछा छोड़ दो। हम को अलग रखने के लिए संसार बहुत विस्तृत है।

हौआ—तुम उसको क्यों भगाते हो? वह मेरा है। मैंने उसको अपने शरीर से बनाया था। मैं अपनी बनाई हुई वस्तु को कभी-कभी देखना चाहती हूँ!

आदम—तुमने तो हाबील को भी बनाया था। इसने हाबील को मार डाला;

इस पर भी क्या तुम उसको देखने की कामना कर सकती हो ?

क़ाबील—मैंने हाबील को मार डाला, तो यह किसका अपराध था ? मार डालने का आविष्कार किसने किया था ? मैंने ? नहीं, उसीने आविष्कार किया था। मैं तो तुम्हारी शिक्षा पर चल रहा था। मैं तो धरती खोदा करता था और कूड़ा-करकट साफ़ किया करता था। मैं पृथ्वी का फल खाता था और तुम्हारी तरह परिश्रम से जीवन-निर्वाह करता था। मैं मूर्ख था, किन्तु हाबील नए विचार और साहस का मनुष्य था। वह खोजी था और वस्तुतः उन्नति करने वाला था। उसने रक्त का अनु-संधान किया और हत्या का आविष्कार किया। उसने यह ज्ञात किया कि सूर्य की अग्नि ओस की बूँदों के द्वारा नीचे लाई जा सकती है। उसने अग्नि को सदैव प्रकाशमान रखने के लिए एक बलि का स्थान निर्माण किया। जितने पशुओं को मारता था, उनके मांस को बलि-स्थान में अग्नि से पकाता था। वह अपने को मांस खा-खाकर जीवित रखता था। उसको अपना आहार प्राप्त करने के लिए केवल इसकी आवश्यकता थी कि अपना दिन आखेट जैसे स्वाथ्यदायक और गौरवपूर्ण कार्य में व्यय करे और फिर एक घंटा अग्नि के साथ खेल करे। तुमने उससे कुछ भी नहीं सीखा। तुम परिश्रम करते रहे और मुझसे भी यही काम कराते रहे। मैं हाबील के हर्ष और स्वाधीनता पर ईर्ष्या करता था। मैं अपने को इसलिए तुच्छ समझता था कि तुम्हारा अनुकरण करने के स्थान पर उसका अनुकरण नहीं करता था। वह ऐसा भाग्यवान् था कि अपने भोजन में उस 'शब्द' को भी सम्मिलित रखता था, जिसने उसको अनेक नई बातें बताई थीं। वह कहता था—वह 'शब्द' उस अग्नि का 'शब्द' है, जो मेरा भोजन पकाती है और जो अग्नि भोजन पका सकती है, वह खा भी सकती है। यह सच था कि मैंने अग्नि को बलि-स्थान में भोजन को समाप्त कर देते हुए स्वयं देखा, तब मैंने भी एक बलि-स्थान बनाया और उस पर भोजन की भेंट चढ़ाई। अन्न, मूल और फल सब, व्यर्थ कुछ न हुआ। हाबील मुझ पर हँसता था और तब एक बड़ी बात मैंने सोची—'क्यों न हाबील को मार डालें, जिस तरह वह पशुओं को मारा करता है !' मैंने वार किया और वह मर गया, जिस प्रकार पशु मरा करते थे। इसके बाद मैंने तुम्हारी मूर्खता और परि-श्रम के जीवन को छोड़ दिया और उसकी तरह निर्वाह करने लगा—शिकार, रक्त बहाना। शिकार के द्वारा क्या मैं तुमसे श्रेष्ठ, तुमसे अधिक बलिष्ठ, तुमसे अधिक प्रसन्न और तुमसे अधिक स्वाधीन नहीं हूँ ?

आदम—तुम अधिक बलिष्ठ नहीं हो, तुम ठिगने हो। तुम्हारा जीवन दृढ़ नहीं हो सकता। तुमने पशुओं को अपने से भयभीत कर दिया है। सर्प ने अपने को तुम से बचाने के लिए विष उत्पन्न कर लिया है। मैं स्वयं तुम से डरता हूँ। यदि तुम अपनी माता की ओर एक पग और बढ़े तो मैं अपनी कुदाल से तुमको उसी तरह मार कर गिरा दूँगा, जिस तरह तुमने हाबील को मार कर गिरा दिया था।

हौआ—वह मुझको मारेगा नहीं, वह मुझसे प्रेम करता है।

आदम—वह हाबील से भी प्रेम करता था ; परन्तु उसको उसने मार डाला।

क़ाबील—मैं स्त्रियों को मारना नहीं चाहता, मैं अपनी माँ को नहीं मारूँगा और उसी के विचार से तुमको भी नहीं मारूँगा। यद्यपि बिना तुम्हारे कुदाल की धार में आए हुए इस भाले को तुम्हारे पार कर सकता हूँ। मुझे यह ध्यान न होता, तो मैं

तुम्हें मार डालने की चेष्टा किए बिना न रहता, यद्यपि डरता हूँ कि कहीं तुम न मुझे मार डालो। मैंने सिंह और वन शूकर से संग्राम किया है, यह देखने के लिए कि कौन किसको मार डालता है। मैंने मनुष्य के साथ भी युद्ध किया है। यह है तो भयानक काम पर इससे अधिक आनंद भी किसी और काम में नहीं। मैं इसको लड़ाई कहता हूँ। जो कभी लड़ा नहीं है, जीवन का आनंद वह नहीं जानता। यही आवश्यकता मुझको माँ के पास ले आई है।

आदम—अब तुमको एक दूसरे से क्या प्रयोजन? वह उत्पन्न करनेवाली है और तुम विनाश करने वाले हो।

क़ाबील—मैं विनाश कैसे कर सकता हूँ जबतक वह उत्पन्न न करे? मैं चाहता हूँ कि वह और पुरुष उत्पन्न करती रहे, और हाँ, स्त्रियाँ भी जिससे वह सब अपनी-अपनी बारी से और अधिक पुरुष उत्पन्न करें, असंख्य पुरुषों की, जितनी कि सहस्र वृक्षों में पत्तियाँ होंगी उनसे भी अधिक पुरुषों की एक बड़ी भारी रचना का ध्यान मेरे मस्तिष्क में है। मैं उनको दो बड़े भागों में विभाजित करूँगा। एक का सेनापति मैं होऊँगा, दूसरे का वह व्यक्ति जिससे मैं सबसे अधिक भय करूँ और जिसको सबसे पहले मार डालना चाहूँ। तनिक विचार तो करो, मनुष्य का यह सारा दल आपस में लड़ता-मरता रहेगा। जय की पुकार, उत्तेजना के शब्द, निराशा का गान, दुःख की विनय, निःसन्देह इन्हीं में जीवन होगा। ऐसा जीवन जो पूर्ण-रूप से कार्य में लाया गया हो। एक प्रज्वलित आग का और आँधी का जीवन, जिसने उसको न देखा होगा, न सुना होगा, न अनुभव किया होगा और न परीक्षा की होगी। वह इस आदम के सम्मुख, जिसने यह सब कुछ किया होगा, अपने को अपदार्थ और मूर्ख समझेगा।

हौआ—और मैं! मैं केवल एक सुगम द्वार होऊँगी पुरुषों को उत्पन्न करने का, जिससे तुम उनको मार डालो!

आदम—या वह तुमको मार डालें!

क़ाबील—माता! पुरुषों का उत्पन्न करना तुम्हारा अधिकार है, तुम्हारा काम है। तुम्हारे कष्ट से तुम्हारा गौरव है और तुम्हारी विजय है। तुम मेरे पिता को जैसा कि तुम कह रही हो, इसके लिए केवल अपना एक द्वारा बना लेती हो। उसको तुम्हारे लिए भूमि खोदनी पड़ती है, परिश्रम करना पड़ता है, चलना पड़ता है, बिलकुल उस बैल की भाँति जो भूमि खोदने में उसे सहायता देता है, या उस गधे की भाँति जो उसका बोझा लादता है। कोई स्त्री मुझसे मेरे पिता का जीवन नहीं व्यतीत करा सकती, मैं शिकार करूँगा, लड़ूँगा और अपने नस-नस की शक्ति व्यय करूँगा। जब अपने प्राण संकट में डाल कर जंगली सुअर मारकर लाऊँगा, तो मैं अपनी स्त्री के सम्मुख लाकर डाल दूँगा कि वह उसको पकावे। और उसके परिश्रम के बदले में उसको भी एक कौर दे दूँगा। उसको कोई दूसरा भोजन नहीं मिलेगा। इससे वह मेरी चेरी हो जायगी। और जो मुझको मार डालेगा, वह उस स्त्री को लूट के माल की तरह ले जायगा। पुरुष स्त्री का स्वामी होगा, न कि उसका बालक और मजदूर!

(आदम अपनी कुदाल फेंक देता है और ध्यान से हौआ को देखने लगता है।)

हौआ—आदम! क्या तुम परीक्षा में पड़ गए? क्या हमारे आपस की प्रीति से तुमको यह बात उत्तम मालूम होती है?

क़ाबील—प्रीति का हाल वह क्या जाने ? जब वह लड़ चुकेगा तब भय और मृत्यु का सामना कर लेगा। जब वह अपनी शक्ति का अंतिम आवेश व्यय करके आंदोलन कर चुकेगा, उस समय उसको ज्ञात होगा कि वास्तव में स्त्री के आलिंगन में प्रेम से शांति प्राप्त करना किसको कहते हैं। उस स्त्री से पूछो जिसको तुमने उत्पन्न किया है और जो मेरी पत्नी है। क्या वह मेरी अगली चाल पसंद करेगी, जब कि मैं आदम का अनुसरण करता था, कृषि और मज़दूरी करता था।

हौआ—(क्रोध में चराख़ छोड़कर) तुम्हारा मुँह कि तुम यहाँ आकर लुआ * पर अभिमान करो जो किसी काम की नहीं और जो बेहद बुरी लड़की और सबसे निकम्मी पत्नी है! तुम उसके स्वामी हो। तुम तो आदम के बैल या अपने रक्षक श्वान से भी कहीं अधिक उसके दास हो। निःसंदेह जब तुम अपने प्राण संकट में डालकर जंगली सुअर का शिकार करोगे, तो उसके परिश्रम के बदले में एक और उसके सम्मुख भी डाल दोगे। अहाहा! दुर्भाग्य! क्या तुम यह समझते हो कि मैं उससे या उससे अधिक तुमसे परिचित नहीं हूँ ? क्या तुम्हारा प्राण उस समय भी संकट में होता है जब तुम गिलहरी या नीली लोमड़ी को मारते हो, जिससे वह उनको अपने शरीर से लटकाकर स्त्री से पशु बन जाय ? जब तुम बेबस और बलहीन पक्षियों को जाल में फँसाते हो तो केवल इसलिए कि लुआ को साधारण और हलाल खाद्य खाने में कष्ट होता है। तो उस समय कैसे सूरमा मालूम होते हो ? तुम सिंह को मारने के लिए अवश्य अपनी जान संकट में डालते हो, किंतु उसका चर्म किसको मिलता है, जिसके लिए तुमने भय का सामना किया! लुआ उसको अपना बिछौना बनाने के लिए ले लेती है और उसका सड़ा हुआ मांस तुम्हारे आगे फेंक देती है, जिसको तुम खा भी नहीं सकते। तुम लड़ते हो, इस कारण कि समझते हो कि वह इससे तुम्हारा आदर करती है और तुमको चाहती है। मूर्ख! वह तुमको इस प्रयोजन से लड़ाती है कि तुम उसको सुखभोग के सामान और मारे हुए लोगों का माल लाकर देते हो, और वह लोग जो तुमसे डरते हैं, उसको सोना-चाँदी और धन देते रहते हैं। तुम कहते हो कि मैं आदम को केवल एक माध्यम बनाए हुए हूँ! मैं तो चरखा चलाती हूँ और घर की देख-भाल करती हूँ, संतान उत्पन्न करती हूँ और उनका पालन करती हूँ। मैं तो एक स्त्री हूँ और पुरुषों को लुभाने और उनका शिकार करने के लिए कोई पालतू पशु नहीं हूँ! तुम क्या हो ? एक दुर्भाग्य-दास, जो मुँह पर मुलम्मा किए हो! या पशुओं के बालों की एक गठरी हो! जब मैंने उत्पन्न किया था तो तुम एक मनुष्य के बालक थे सौर लुआ एक मनुष्य की बालिका। तुम लोगों ने अब अपने को क्या बना डाला है ?

क़ाबील—(बल्लम को हाथ में पहनाकर मूँछों को ऐंठता हुआ) मनुष्य से उत्तम-तर भी कोई वस्तु है—'शूर', और वही है मनुष्य-शिरोमणि।

हौआ—नर-शिरोमणि! तुम तो नराधम हो। तुम्हारा अन्य पुरुषों के साथ वही संबंध है जो सफ़ेद लोमड़ी का शशक के साथ है, और लुआ का तुम्हारे साथ वह संबंध है, जो जोंक का सफ़ेद लोमड़ी के साथ है। तुम अपने पिता को तुच्छ समझते हो, परंतु जब वह मरेगा, तो संसार उसके जीवन के कारण अधिक पूर्ण हो चुका होगा। जब तुम मरोगे, तो लोग कहेंगे वह बड़ा लड़ाका था, संसार के लिए यह उत्तम होता कि

* बार्टन ने अपने नाटक में क़ाबील की स्त्री का नाम आदा बताया था।

वह उत्पन्न न हुआ होता, और लुआ के विषय में वह कुछ न कहेंगे, वरन् जब उसको स्मरण करेंगे, तो उसके नाम पर थूक देंगे।

क़ाबील—वह संग रखने के लिए तुमसे अच्छी स्त्री है और यदि वह भी मुझको उसी प्रकार बुरा कहती जिस प्रकार तुम कह रही हो या जिस प्रकार आदम को बुरा कहा करती हो, तो मैं मारते-मारते उसको नीला कर देता। मैंने ऐसा किया भी है और तुम कहती हो कि मैं दास हूँ।

हौआ—इस कारण कि उसने दूसरे पुरुष पर दृष्टि डाली थी और तुम उसके पैरों पर गिरे और रो-रोकर क्षमा माँगने लगे और पहले से दस गुना उसके दास हो गये और वह जब भलीभाँति कराह चुकी और उसकी पीड़ा कम हुई, तो उसने तुमको क्षमा कर दिया। क्यों सच है कि नहीं?

क़ाबील—वह मुझसे पहले से अधिक प्रेम करने लगी। यही स्त्री का वास्तविक स्वभाव है।

हौआ—(माता की भाँति उस पर करुणा करके) प्रेम! तुम इसको प्रेम कहते हो! इसको स्त्री का स्वभाव कहते हो। मेरे पुत्र! इसका नाम न पुरुष है, न स्त्री, न इसको प्रेम कहते हैं, न जीवन! तुम्हारी अस्थियों में वास्तविक बल नहीं और न तुम्हारे शरीर में ख़ून है।

क़ाबील—हा हा! (अपने बल्लम को पकड़कर पूरे बल से घुमाता है।)

हौआ—हाँ, तुमको आप ही अपने बल का अनुमान करने के लिए छड़ी घुमाने की आवश्यकता होती है। तुम जीवन का, बिना कड़वा किये हुए और बिना खौलाये हुए उसके स्वाद का अनुभव नहीं कर सकते। तुम लुआ का प्रेम, जब तक उसका मुख रँगा हुआ न हो, अनुभव नहीं कर सकते। तुम उसके शरीर की गरमी नहीं अनुभव कर सकते, जब तक कि वह गिलहरी के बालों से ढँकी न हो। तुम सिवा दुःख के कुछ नहीं अनुभव कर सकते और न सिवा मिथ्या के किसी वस्तु का विश्वास कर सकते हो। तुम जीवन के उन दृश्यों के देखने के लिए मस्तक भी नहीं उठाओगे, जो तुम्हारे चारों ओर हैं, किन्तु कोई लड़ाई या मृत्यु देखने के लिए दस मील दौड़ते चले जाओगे।

आदम—बस! बहुत कहा जा चुका। लड़के को छोड़ दो।

क़ाबील—लड़का! हा हा!

हौआ—(आदम से) तुम शायद यह विचार रहे हो कि संभव है, इसका जीविकोपाय तुम्हारे जीविकोपाय से उत्तम हो। तुम अभी तक परीक्षा करने में लगे हुए हो। क्या तुम भी मेरे साथ वह बर्ताव करोगे, जो वह अपनी स्त्री के साथ करता है? क्या तुम भी सिंह और भालू का शिकार करना चाहते हो, जिससे मेरे सोने के लिए चमड़ों की बहुतायत हो जाय? क्या मैं भी अपना मुख रँगा करूँ और अपनी बाहुओं को नरम और कोमल बनाकर ख़राब कर डालूँ? क्या मैं भी पिढ़की, बटेर और बकरी के बच्चों का मांस खाने लगूँ, जिनका दूध तुम मेरे लिए चुराकर ले आया करोगे?

आदम—तुम्हारे साथ बसर करना योंही एक परीक्षा है। जैसी हो, वैसी रहो, मैं भी जैसा हूँ, वैसा रहूँगा।

क़ाबील—तुममें से कोई जीवन को नहीं जानता। तुम सीधे-सादे ग्रामीण मनुष्य हो। तुम उन बैलों, गधों और कुत्तों के दास हो, जिनको तुमने अपनी आवश्यकताओं

के लिए पाल रखा है। मैं तुमको उभारकर उससे अधिक ऊँचाई पर ला सकता हूँ। मैंने एक उपाय सोचा है। क्यों न हम अपनी सेवा के लिए पुरुष और स्त्रियों को पालें, क्यों न बाल्यावस्था ही से उनका इस रीति से पालन करें कि उनको किसी दूसरे प्रकार के जीवन का ज्ञान न होने पावे, जिसमें वह स्वीकार कर लें कि हम देवता हैं और वह यहाँ केवल इसलिए हैं कि हमारे जीवन को गौरवशाली बनाये रहें ?

आदम—(प्रभावित होकर) यह तो निःसंदेह एक बहुत बड़ा विचार है।

हौआ—(घृणा पूर्वक) बहुत बड़ा विचार है !

आदम—हाँ, जैसा कि साँप कहा करता था, 'क्यों नहीं ?'

हौआ—क्योंकि ऐसे नीचों को मैं अपने घर में नहीं रहने दूँगी, क्योंकि ऐसे पशुओं से मुझको घृणा है, जिनके दो शिर हों या जिनके अंग सूखे हों, या जो कुरूप, हठी, और प्रकृति-विरुद्ध हों। मैंने पहले ही क़ाबील से कह दिया कि वह पुरुष नहीं है और न 'लुआ' स्त्री है, दोनों राक्षस हैं, और अब तुम उनसे भी अधिक प्रकृति के विरुद्ध राक्षस उत्पन्न करना चाहते हो, जिसमें तुम केवल सुस्त और बेकार हो जाओ और तुम्हारे पाले हुए 'मानवी पशु' परिश्रम को एक झुलसनेवाली व्याधि समझें। अच्छा स्वप्न है, क्या कहना ? (क़ाबील से) तुम्हारा पिता तो केवल साधारण ही मूर्ख है, किन्तु तुम्हारे रोम-रोम में मूर्खता व्याप्त है; और तुम्हारी स्त्री तुमसे भी अधिक मूर्खा है।

आदम—मैं क्यों मूर्ख हूँ ? मैं तुमसे अधिक मूर्ख कैसे हो सकता हूँ ?

हौआ—तुमने कहा था कि वध कभी नहीं होगा, इसलिए कि 'शब्द' हमारी संतान को इससे रोकेगा। उसने क़ाबील को क्यों नहीं रोका !

क़ाबील—उसने मना तो किया था, किन्तु मैं कोई बच्चा नहीं हूँ कि एक शब्द से डर जाऊँ। 'शब्द' ने समझा था कि मैं अपने भाई का रक्षक होने के सिवा और कुछ नहीं हूँ। उसको ज्ञात हो गया कि मैं 'मैं' हूँ और हाबील को भी वही होना चाहिए और अपनी देखभाल आप करना चाहिए। जिस प्रकार कि मैं उसका रक्षक था उससे अधिक वह मेरा रक्षक नहीं था, फिर उसने तुझको क्यों न मार डाला ? यदि मुझको कोई रोकने वाला नहीं था, तो उसको भी कोई रोकनेवाला न था। व्यक्तिगत सामना था और मैं जीत गया। मैं पहला विजेता था।

आदम—जब तुमने यह सब सोचा था तो 'शब्द' ने तुमसे क्या कहा था ?

क़ाबील—क्यों ? उसने मुझको अधिकार दे दिया और कहा कि मेरा यह कृत्य मुझपर एक धब्बा है, एक जला हुआ धब्बा, जिसमें कोई मुझको वध न कर सके, जैसा कि हाबील अपनी भेड़ों पर लगा देता था। मैं यहाँ ठीकमठाक खड़ा हूँ और जिन कायरों ने कभी वध नहीं किया, जो अपने भाइयों के रक्षक बनने से सन्तुष्ट हैं, वह तिरस्कृत समझ कर छोड़ दिए जाते हैं और शशकों की तरह मार डाले जाते हैं। जो क़ाबील के ज्ञान पर चलेगा, वह संसार पर शासन करेगा और वह यदि हारकर गिर जायगा, तो उसका सात गुना बदला लिया जायगा। 'शब्द' ने यह कह दिया है, अतः तुमको और दूसरों को मुझसे विद्रोह करते समय सावधान रहना चाहिए।

आदम—डींग मारना और ढिठाई छोड़ो और सच-सच बताओ, क्या 'शब्द' यह नहीं कहता कि यदि कोई दूसरा तुमको तुम्हारे भाई के वध के लिए मार डालने का साहस नहीं कर सकता, तो तुम स्वयं अपने को मार डालो ?

क़ाबील—नहीं।

आदम—यदि तुम झूठ नहीं बोलते, तो फिर ईश्वरीय न्याय कोई वस्तु नहीं।

क़ाबील—मैं झूठ नहीं बोलता, ईश्वरीय न्याय अवश्य एक वस्तु है। क्योंकि 'शब्द' मुझसे कहता है कि मैं अपने को प्रत्येक व्यक्ति के आगे उपस्थित करूँ, जिसमें यदि वह मुझे मार डाल सके, तो मार डाले। बिना जोखिम के मैं महत्वशाली नहीं हो सकता। हाबील का खून बहाना मैं इसी रूप में दे रहा हूँ। जोखिम और भय पग-पग पर मेरे पीछे हैं। बिना इसके साहस का कोई अर्थ नहीं होता और साहस ही वह वस्तु है, जो रक्त को गरमाकर लाल और तेजपूर्ण बना देता है।

आदम—(अपनी कुदाल उठाकर फिर खोदने की तैयारी करता है) अच्छा अब चले जाओ। तुम्हारा यह तेजपूर्ण-जीवन एक सहस्र वर्ष तक नहीं रहेगा और मुझे एक सहस्र वर्ष तक रहना है। तुम सब यदि परस्पर, या हिंस्र पशुओं के साथ लड़ने से नहीं मरोगे, तो उस व्याधि से मर जाओगे, जो स्वयं तुम्हारे भीतर विद्यमान है। तुम्हारा शरीर मनुष्य के शरीर के सदृश नहीं, वरन् उस 'छतरफेन'...के सदृश परिपालित होता है जो वृक्षों पर अंकुरित होता है। श्वास लेने के स्थान पर तुम छींकते हो और खाँसते हो और अंततः मुरझाकर नष्ट हो जाते हो। तुम्हारी आँतें सड़ जाती हैं, तुम्हारे सिर के केश झड़ जाते हैं, तुम्हारे दाँत मैले हो जाते हैं और गिर जाते हैं और तुम समय से पहले मर जाते हो; इसलिए नहीं कि तुम मरना चाहते हो, बल्कि इसलिए कि तुमको मरना पड़ता है। मैं खेती करूँगा और जीवित रहूँगा।

क़ाबील—और तुम्हारा यह सहस्र वर्ष का जीवन तुम्हारे किस काम का है, तुम पुरानी घास हो, सौ वर्ष तक धरती खोदते रहने से, क्या अब तुम कुछ बढ़िया खोदने लगे हो? मैं उतने समय तक नहीं जीवित रहा हूँ, जितने समय तक तुम जी चुके हो। किंतु खेती की कला से संबन्ध रखनेवाली जितनी बातें हो सकती थीं, उनको मैं जानता हूँ और अब उसको छोड़कर उससे उत्तम कलाओं के जानने में तत्पर हूँ। मैं लड़ना और शिकार करना अर्थात् मार डालने की विद्या जानता हूँ। तुमको अपने सहस्र वर्ष का निश्चय कैसे हो सकता है? मैं अभी तुम दोनों को मार डाल सकता हूँ और तुम दो भेड़ों से अधिक अपनी रक्षा नहीं कर सकते। मैं तुमको छोड़ देता हूँ, परन्तु दूसरे तुमको मार डाल सकते हैं। क्यों न वीरता के साथ जीवन निर्वाह करो और शीघ्र मरकर दूसरों के लिए स्थान रिक्त कर दो? मैं स्वयं जो तुम दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक विद्याओं को जानता हूँ, अपने आपसे विरक्त हो जाऊँ, यदि लड़ना या शिकार खेलना न हो। ऐसे सहस्र वर्ष बिताने से पहिले ही मैं अपने को मार डालूँ, जैसा कि प्रायः 'शब्द' की ओर से आंदोलन हुआ करता है।

आदम—छोटे, अभी तुम कह रहे थे कि 'शब्द' हाबील की जान के बदले तुम्हारी जान का सामना नहीं करता।

क़ाबील—'शब्द' इस प्रकार सम्मुख नहीं होता, जिस प्रकार तुमसे हुआ करता है। मैं एक युवा पुरुष हूँ और तुम एक बूढ़े बच्चे। कोई बच्चे और युवा से एक-सी बातें नहीं करता और युवा सुनकर चुपचाप काँपने नहीं लगता वरन् उत्तर देता है और वह 'शब्द' से अपना मान कराता है और अन्ततः जो चाहता है उससे कहलाने लगता है।

आदम—इस बड़े बोल पर तुम्हारी जीभ नष्ट हो!

हौआ—अपनी जीभ को वश में रखो और मेरे बच्चे को कोसो मत ! ललस की यह भूल थी कि उसने उत्पन्न करने की प्रीति को स्त्री और पुरुष के बीच में असमान भागों में विभाजित किया। क़ाबील ! यदि हाबील के उत्पन्न करने की पीड़ा तुमको सहन करनी पड़ती या उसके मर जाने पर दूसरा मनुष्य उत्पन्न करना पड़ता, तो तुम उसका वध न करते, वरन् उसकी जान को बचाने के लिए अपनी जान संकट में डालते। यही कारण है कि ऐसी निर्मूल बातचीत, जिसने अभी आदम को भी लुभा लिया था, जब कि वह अपनी कुदाल फेंककर थोड़ी देर के लिए तुम्हारी ओर आकर्षित हो गया था, मुझको एक व्यतीत हो जाने वाली वायु ज्ञात हुई, जो किसी शव पर से बह गई हो। यही कारण है कि उत्पन्न करनेवाली स्त्री और नाश करनेवाले पुरुष के मध्य शत्रुता है। मैं तुमको जानती हूँ। तुम सुखाभिलाषी और इन्द्रियों के दास हो। जीवन को उत्पन्न करना परिश्रम और कठिनता का काम है, जिसके लिए अधिक समय की आवश्यकता है। दूसरों के उत्पन्न किये हुए जीवन को चुरा ले जाना सुगम है और थोड़ी देर का काम है। जब तक तुम कृषि करते रहे, तुम संसार को जीवित और उत्पन्न करने के योग्य बनाए हुए थे, जिस प्रकार मैं जीवित हूँ और उत्पन्न करती हूँ। ललस ने तुमको इसीलिए स्त्रियों के परिश्रम से स्वतंत्र रखा था, चोरी और वध के लिए नहीं !

क़ाबील—शैतान उसका कृतज्ञ हो, मैं अपने पावों तले की मिट्टी के साथ पति का खेल खेलने से अधिक उत्तम अपने समय का सुव्यय निकाल सकता हूँ।

आदम—'शैतान' ! यह कौन-सा नया शब्द है ?

क़ाबील—सुनो, जब कभी तुमने 'शब्द' की चर्चा की, जो तुमको बातें बताया करते हैं, तो मैंने कभी चित्त लगाकर तुम्हारी बात नहीं सुनी है। दो शब्द होंगे, एक तो वह जो तुमको बुरा कहता है और तुच्छ समझता है दूसरा वह जो मेरा मान करता है और मुझ पर भरोसा रखता है। मैं तुम्हारे शब्द को 'शैतान का शब्द' कहता हूँ और अपने शब्द को 'ईश्वर का शब्द।'

आदम—मेरा शब्द जीवन का शब्द है और तुम्हारा शब्द मृत्यु का !

क़ाबील—अच्छा तो यही सही, क्योंकि वह मुझसे कहता है कि मृत्यु वास्तव में मृत्यु नहीं है, वरन् दूसरे जीवन का एक द्वार है—ऐसा जीवन जो अधिक शक्तिशाली और तेजपूर्ण है, जो केवल आत्मा का जीवन है, जिसमें मिट्टी के ढेले और बसूले या भूख और थकान नहीं।

हौआ—इंद्रिय-विलास और आलस्य का जीवन, क़ाबील ! मैं भली प्रकार जानती हूँ।

क़ाबील—इन्द्रिय-विलास का जीवन ! हाँ क्यों नहीं, ऐसा जीवन जिसमें कोई अपने भाई की रक्षा नहीं करता, इसलिए कि उसका भाई अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है; परन्तु क्या मैं आलसी हूँ, तुम्हारे परिश्रम के जीवन को छोड़कर क्या मुझे उन संकटों और विपत्तियों का सामना करना नहीं पड़ा है जिनका तुमको कोई अनुभव नहीं ? तीर हाथ में बसूले से हलका जान पड़ता है, किंतु जो शक्ति तीर को लड़ने वाले के हृदय में उतार देती है, और जो शक्ति बसूले को अक्षत और स्थूल मिट्टी के भीतर प्रविष्ट कर देती है, इन दोनों में अग्नि और जल का सम्बन्ध है। मेरी शक्ति इसकी शक्ति के समान है। इसलिए कि मेरा मन पवित्र है।

आदम—यह क्या शब्द है ? पवित्र का क्या अर्थ ?

क़ाबील—जो मिट्टी से विमुख होकर ऊपर सूर्य और स्वच्छ आकाश की ओर आकर्षित हों।

आदम—बच्चे! आकाश तो शून्य है, किंतु भूमि फलों से पूर्ण है; भूमि हमको भोजन देती है और हमको वह शक्ति प्रदान करती है जिससे हमने तुमको और समस्त मनुष्य जाति को उत्पन्न किया। आज उस मिट्टी से सम्बन्ध-रहित हो जाओ जिसको तुम तुच्छ समझते हो, तो तुम बुरी तरह नष्ट हो जाओगे।

क़ाबील—मुझको मिट्टी से घृणा है, मुझको भोजन से घृणा है। तुम कहते हो कि भूमि हमको शक्ति प्रदान करती है; किन्तु क्या यही भूमि विष्टा होकर हमको रोगों का शिकार नहीं बनाती? मुझको उस उत्पन्न करने से घृणा है जिस पर तुमको और माता को गर्व है और जो हमको पिछाड़कर पशुओं के तुल्य कर देता है। परिणाम भी यदि यही होता है जैसा कि आरंभ रहा है, तो मनुष्य-जाति का मिट जाना अच्छा। यदि मुझको भालू की भाँति उदर भरना है, यदि लुआ को भालू की भाँति पिल्ले जनना है, तो मैं मनुष्य के बदले भालू ही होना पसन्द करूँगा, क्योंकि भालू अपने से लजाता नहीं, उसको अपने से उत्तम वस्तु का ज्ञान नहीं होता। यदि तुम भालू की भाँति तृप्त हो, तो मैं नहीं हूँ। तुम उस स्त्री के साथ रहो, जो तुमको बच्चे दे। मैं उस स्त्री के पास जाऊँगा, जो मुझे 'स्वप्न' दे। तुम अपने भोजन के लिए भूमि टटोलते रहो, मैं अपना भोजन अपने तीर के द्वारा या तो आकाश से ले आऊँगा या उस समय उसको गिरा दूँगा, जब कि वह अपने जीवन के बल से भूमि पर चलती-फिरती होगी। यदि मेरे लिए बस यही दो उपाय हैं कि भोजन प्राप्त करूँ या मर जाऊँ, तो अपने भोजन को भूमि से जहाँ तक संभव होगा, दूरी पर से प्राप्त करूँगा। बैल, इसके पहले कि वह मुझे मिले, घास से बढ़ कर भोजन प्राप्त करेगा। और चूँकि मनुष्य बैल से अधिक चुना हुआ है, इसलिए किसी दिन मैं अपने शत्रु को बैल खाने के लिए दूँगा और फिर उसको मारकर आप ही खा जाऊँगा।

आदम—राक्षस! सुनती हो हौआ?

हौआ—तो अपने मुँह को स्वच्छ निर्मल आकाश की ओर आकर्षित करने से यही तात्पर्य है! मनुष्य-भक्षण! बच्चों को खा जाना! इसका तो बिल्कुल यही परिणाम होगा कि जो मेमनों और बकरी के बच्चों का हुआ था, जब कि हाबील ने भेड़ और बकरी से प्रारंभ किया था। अंततः तुम बेचारे मूर्ख ही रहे। क्या तुम समझते हो कि मैंने इन बातों पर विचार नहीं किया है, जिसको बच्चा जनने की पीड़ा सहनी पड़ती है और जिसको भोजन तैयार करने का परिश्रम करना होता है? मुझे भी अपने बच्चे के संबन्ध में यह विचार था कि शायद मेरा शूर और वीर पुत्र किसी उत्तम वस्तु का ध्यान करे और उसकी इच्छा करे और संभव है उसका संकल्प भी करे—यहाँ तक कि उसको उत्पन्न कर ले, और परिणाम यह हुआ कि वह भालू होना और बच्चों को खा जाना चाहता है। रीछ भी आदमी को न खाए, यदि उसको शहद मिलता रहे।

क़ाबील—मैं रीछ होना नहीं चाहता और न बच्चों को खाना चाहता हूँ। मैं आप ही नहीं जानता कि मैं क्या चाहता हूँ। सिवाय इसके कि इस बुड्ढे कृषक से कुछ अच्छा होना चाहता हूँ जिसको ललस ने इसलिए बनाया था कि मुझको उत्पन्न करने

में तुम्हारी सहायता करे और जिसको तुम अब तुच्छ समझती हो, इसलिए कि वह तुम्हारी आवश्यकता पूरी कर चुका है।

आदम—(क्रोध से उत्तेजित होकर) जी चाहता है कि तुमको अभी दिखा दूँ कि मेरा कुदाल तुम्हारे बल्लम के होते हुए तुम्हारे अवज्ञा-पूर्ण शिर के दो टुकड़े कर सकता है!

क़ाबील—अवज्ञा-पूर्ण ! हा हा ! (अपने बल्लम को घुमाकर) आओ सबके बुड्ढे बाप ! परीक्षा कर लो। लड़ाई का तनिक स्वाद चख लो।

हौआ—बस सब, मूर्खो ! बैठ जाओ और चुप होकर मेरी बात सुनो। (आदम उदास होकर अपने शस्त्रों को हिलाकर बसूला फेंक देता है। क़ाबील भी हँसता हुआ बल्लम और ढाल को भूमि पर डाल देता है, दोनों बैठ जाते हैं) मैं नहीं कह सकती कि तुममें से कौन तनिक भी मुझको तृप्त कर रहा है, तुम अपनी खेती से या वह अपने गंदी हिंसा से। मैं समझती हूँ कि ललस ने तुमको जीवन के उन सुगम उपायों से किसी के लिए भी स्वतंत्र नहीं किया था। (आदम से) तुम वृक्षों की जड़ खोदते हो और भूमि के भीतर से अन्न निकालते हो, आकाश से कोई ईश्वर-प्रद भोजन क्यों नहीं उतारते ? वह अपने भोजन के लिए चोरी और वध करता है। मृत्यु के पश्चात् आयु पर व्यर्थ कविता करता है और अपने भयानक जीवन को सुन्दर शब्दों में और अपने रोएँदार शरीर को अच्छे वस्त्रों में, जिससे लोग चोर और हत्यारा समझकर कोसने के बदले उसकी मान-प्रतिष्ठा करें, छिपाये हुए है। आदम के सिवा तुम सब मनुष्य मेरी संतान और मेरी संतान की संतान हो। तुम लोग मेरे पास आते हो और अपनी प्रदर्शिनी करना चाहते हो, परन्तु तुम्हारी सारी बुद्धि और योग्यता तुम्हारी माता हौआ के सम्मुख लुप्त हो जाती है।

किसान आते हैं, लड़ने-मरनेवाले आते हैं, किन्तु दोनों से मैं एक समान ऊब जाती हूँ, क्योंकि वह या तो पिछली फ़सल की शिकायत करते हैं या अपनी पिछली लड़ाई पर घमंड करते हैं ; यद्यपि पिछली फ़सल बिल्कुल पहली फ़सल के समान ही होती है, और पिछली लड़ाई केवल पहली लड़ाई की शत्रुता होती है। मैं यह सब हज़ारों बार सुन चुकी हूँ। कुछ लोग आकर अपने सबसे छोटे बच्चे की चर्चा करते हैं, कि मेरे सबसे समझदार और प्यारे बच्चे ने 'कल' कहा है, या यह कि वह और बच्चों से अधिक अनोखा और हसमुख है ; और मुझको आश्चर्य, प्रसन्नता और रुचि को प्रकट करना पड़ता है, यद्यपि पिछला लड़का बिल्कुल पहले लड़के के समान ही होता है और वह कोई ऐसी नई बात नहीं कहता, जिसको तुम्हारे और हाबील के मुँह से सुनकर मैंने और आदम ने आनन्द न उठाया हो, इसलिए कि तुम दोनों संसार में सबसे पहले बच्चे थे और हमको उस आश्चर्य और आनन्द से पूर्ण करते थे जिसको जब तक संसार की स्थिति रहेगी, फिर कोई दो व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकते। जब मैं उत्पन्न करने के योग्य न रहूँगी, तो अपने पुराने बाग़ में, जो कूड़ा-करकट का ढेर हो रहा है, चली जाऊँगी, इस विचार से कि कदाचित् बात करने के लिए फिर सर्प मिल जाय, किन्तु सर्प को तुमने हमारा शत्रु बना दिया है। उसने बाग़ छोड़ दिया है, या मर गया है। मैं अब उसको कभी नहीं देखती। इसलिए मुझको लौट आना पड़ता है और आदम की उन्हीं बातों को सुनना पड़ता है, जो दस हज़ार बार सुन चुकी हूँ, या परपोते की सेवा-सुश्रूषा करनी पड़ती है, जो अब युवा हो चुका है और अपने बड़प्पन से मुझको भयभीत करना चाहता है। आह ! कैसा शिथिल कर देनेवाला जीवन है और अभी इसी प्रकार लगभग सात सौ वर्ष काटने होंगे!

क़ाबील—दीन माता ! देखती हो, जीवन कितना विशाल है ! मनुष्य प्रत्येक वस्तु से थक जाता है। आकाश के नीचे कोई नई वस्तु नहीं।

आदम—(हौआ से घृणा-पूर्ण भाव में) यदि तुमको शिकायत करने के अतिरिक्त कोई काम नहीं है, तो तुम क्यों जी रही हो ?

हौआ—इसलिए कि अभी आशा शेष है।

क़ाबील—किस बात की ?

हौआ—तुम्हारे और मेरे स्वप्न के सत्य सिद्ध होने की, नई और उत्तम वस्तुओं के उत्पन्न होने की। मेरी सन्तान और सन्तान की सन्तान कृषक हैं, न कि लड़ाके। उनमें से कुछ लोग खेती करेंगे, न कि लड़ाई। वह तुम दोनों से अधिक उपयोगी हैं। वह दुर्बल हैं, भीरु हैं, और प्रदर्शन के इच्छुक हैं। फिर भी वह मैले-कुचैले रहते हैं और बाल कटाने का कष्ट भी सहन नहीं करते। वह ऋण लेते हैं और कभी परिशोध नहीं करते। इस पर भी उनको जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, लोग उनको दे देते हैं। इसलिए कि वह सुन्दर शब्दों में, सुन्दर झूठ बोलते हैं। वह अपने स्वप्न को स्मरण रख सकते हैं। वह बिना सोए हुए स्वप्न देख सकते हैं। उनकी संकल्प शक्ति ऐसी नहीं कि वह स्वप्न देखने के स्थान में सृजन कर सकें ; किन्तु सर्प ने कहा था कि वह लोग जो दृढ़ विश्वास रखते हैं, प्रत्येक स्वप्न को अपने संकल्प से उत्पन्न कर सकते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो बाँसुरी के कुछ टुकड़े काटकर उनको फूकते हैं, जिनसे वायु में 'शब्द' के मनोहर स्वर उत्पन्न होते हैं और कुछ तो इन भाँति-भाँति के स्वरों को परस्पर मिला देते हैं, और तीन-तीन टुकड़ों से एक ही समय शब्द निकलते हैं और मेरे प्राणों को उभारकर उन वस्तुओं तक पहुँचा देते हैं, जिनके लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। और कुछ मिट्टी के पशु बनाते हैं और पत्थर पर आकृतियाँ ठोंक देते हैं और मुझसे कहते हैं कि इन आकृतियों की स्त्रियाँ उत्पन्न करो। मैंने उन आकृतियों पर विचार किया है और फिर संकल्प किया है और लड़की उत्पन्न भी की है, जो अब बढ़कर उन आकृतियों से मिल गई है, और कुछ लोग हैं, जो बिना उँगलियों पर गिने हुए संख्या सोच लेते हैं, और रात्रि के समय आकाश की ओर देखा करते हैं। यह लोग तारों के नाम रखते हैं और पूर्व ही से यह बता सकते हैं कि सूर्य कब काले तवे से ढक जायगा। तू बाल को देखो जिसने इस चर्खे को बना कर मेरे श्रमों को बहुत कुछ घटा दिया है, फिर हनूक को देखो जो पहाड़ियों पर फिरा करता है और बराबर 'शब्द' की बातें सुना करता है ; उसने अपनी इच्छा को उस 'शब्द' की इच्छा पूरी करने के लिए छोड़ दिया है। स्वयं उसमें बहुत कुछ 'शब्द' की महिमा आ गई है। जब यह लोग आते हैं, तो सदैव कोई-न-कोई नई बात या नई आशा अवश्य होती है और जीवित रहने के लिए बहाना मिल जाता है। वह कभी मरना नहीं चाहते ; क्योंकि वह सदैव सीखते रहते हैं और कोई-न-कोई अन्य वस्तु या विद्या उत्पन्न करते रहते हैं। और यदि उत्पन्न नहीं करते, तो कम-से-कम उनके स्वप्न देखते रहते हैं। और इसके बाद भी क़ाबील तुम अपनी लड़ाई और नाशकारिता पर मूर्खों की भाँति इतराते हुए आते हो और मुझसे कहते हो कि 'यह सब अत्यन्त प्रभावशाली है, मैं शूर हूँ और मृत्यु या मृत्यु के भय के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु जीवन को प्रिय नहीं बना सकी।' बस दुष्ट बालक ! यहाँ से चले जाओ और तुम आदम ! अपना काम देखो और इसकी बातें सुनने में अपना समय न नष्ट करो।

क़ाबील—मैं कदाचित् बहुत बुद्धिमान तो नहीं हूँ किन्तु......

हौआ—(बात काटकर) हाँ कदाचित् नहीं हो, परन्तु इस पर अभिमान न करो। यह कोई प्रशंसा योग्य बात नहीं है।

क़ाबील—तो भी माता! मेरे भीतर एक निर्विवाद शक्ति है जो मुझको बताती है, कि मृत्यु जीवन में अपना भाग अवश्य लेती है। अच्छा, मुझे यह बताओ कि मृत्यु का आविष्कार किसने किया?

(आदम चौंक पड़ता है, हौआ अपना चरख़ा छोड़ देती है। दोनों अत्यन्त विस्मय का प्रदर्शन करते हैं।)

क़ाबील—तुम दोनों को क्या हो गया है?

आदम—लड़के, तुमने हमसे एक भयानक प्रश्न किया है।

हौआ—तुमने वध आविष्कार किया, बस इतना कह देना पर्याप्त समझो।

क़ाबील—वध मृत्यु नहीं है। तुम मेरा अभिप्राय समझते हो? जिनको मैं वध करता हूँ, यदि उनको मैं छोड़ दूँ, तो भी वह मर जायँगे। यदि मैं वध न किया जाऊँ, तो भी मर जाऊँगा। मुझको इसमें किसने फँसाया? मैं पूछता हूँ कि मृत्यु का किसने आविष्कार किया?

आदम—लड़के! बुद्धि की बात करो, क्या तुम सदैव का जीवन सहन कर सकते थे? तुम्हारा विचार है कि तुम सहन कर सकते थे। चूँकि जानते हो कि अपने विचार की परीक्षा नहीं कर सकते, परन्तु मैं जानता हूँ कि अनंत और अशेषता के रूप में बैठकर अपने भाग्य को झींखना क्या अर्थ रखता है। तनिक विचार तो करो, कभी छुटकारा न होता और तुम नदी के तट पर बालू के जितने कण हैं, उनसे अधिक दिनों तक आदम ही आदम रहते और फिर भी परिणाम से उतनी दूर रहते, जितना कि पहले थे! मेरे भीतर बहुत कुछ है, जिससे कि मुझे घृणा है और जिसे मैं निकालकर फेंक देना चाहता हूँ। अपने माता-पिता के कृतज्ञ बनो जिन्होंने तुमको इस योग्य बनाया कि अपना बोझ नए और अच्छे मनुष्यों को सौंप दो और इस प्रकार तुम्हारे लिए प्रत्येक स्थिर-शांति को उपस्थित किया, क्योंकि हमीं ने मृत्यु का भी आविष्कार किया था।

क़ाबील—(उठकर) तुमने अच्छा किया, मैं भी सदैव जीवित रहना नहीं चाहता, किन्तु यदि मृत्यु को तुमने आविष्कार किया, तो मुझे दोष न लगाओ, क्योंकि मैं मृत्यु का प्रबन्धक हूँ।

आदम—मैं तुमको लांछन नहीं लगाता। विश्वास मानकर चले जाओ, मुझे खेती के लिए और अपनी माँ को चरखा कातने के लिए छोड़ दो।

क़ाबील—तुमको इसलिए छोड़ देता हूँ, किंतु मैंने तुम लोगों को एक उत्तम मार्ग दिखा दिया है। (ढाल और भाला उठा लेता है) मैं अपने शूर-वीर मित्रों और उनकी सुंदरी स्त्रियों के पास चला जाऊँगा। (काँटों की दीवार की ओर जाता है) जब आदम धरती खोदा करता था और हौआ चरखा चलाया करती थी, उस समय सभ्य मनुष्य कहाँ थे? (ठहाका लगाता हुआ जाता है और फिर चुप होकर दूर से पुकारता है) माता! विदा।

आदम—(बड़बड़ाते हुए) पामर श्वान! टट्टी को फिर बंद कर सकता था। (वह स्वयं टट्टी को मार्ग में खड़ी कर देता है) उसकी और उसी प्रकार के लोगों की बदौ-

लत मृत्यु जीवन पर विजय पाती जाती है। इसी समय देखो मेरे बहुत से पोते और नाती जीवन को पूर्ण-रूप से जानने के पहले ही मर जाते हैं। कुछ परवाह नहीं; (अपने हाथ पर थूकता है और अपनी कुदाल उठा लेता है) खेती सीखने के लिए जीवन अभी यथेष्ट विशाल है, यद्यपि यह लोग संक्षिप्त बना रहे हैं!

हौआ—(सोचते हुए) हाँ खेती के लिए और लड़ने के लिए। किंतु क्या दूसरे अत्यंत आवश्यक कामों के लिए भी जीवन यथेष्ट विशाल है? क्या यह लोग इतने समय तक जीवित रहेंगे कि 'मन' खा सकें?

आदम—'मन' क्या है?

हौआ—वह आहार जो आकाश से लाया जाय, जो वायु से बना हो और मलिन रीति से धरती खोद कर न निकाला गया हो। क्या लोग अपनी अल्पायु में समस्त तारों की गति जान लेंगे? हनूक को तो 'शब्द' का अर्थान्तर सीखने में दो सौ बरस लग गए। जब वह केवल अस्सी बरस का बच्चा था, तो उसके शब्द को समझने के बाल-प्रयत्न क़ाबील के प्रलयंकारी क्रोध से अधिक भयानक थे। जब उनकी परमायु अल्प हो जायगी तो लोग खेती करेंगे, लड़ेंगे, मारेंगे और मरेंगे और उनके बच्चे हनूक उनसे कहेंगे कि 'शब्द' की इच्छा यही है कि वह सदैव या तो खेती करते रहें या लड़ते रहें और मारते-मरते रहें।

आदम—यदि वे स्वयं आलसी हैं और उनका संकल्प यही है कि मर जायँ तो मैं उनको रोक नहीं सकता। मैं एक सहस्र वर्ष तक जीता रहूँगा। यदि उनको यह स्वीकार नहीं, तो वह मर जायँ और धिक्कार में फँसे रहें।

हौआ—धिक्कार? यह क्या है?

आदम—यह उन लोगों की दशा है, जो मृत्यु को जीवन से अच्छा कहते हैं। तुम चरखा चलाए जाओ, बेकार न बैठी रहो, जब कि मैं तुम्हारे लिए रोम-रोम की शक्ति व्यय कर रहा हूँ।

हौआ—(धीरे से चरख़ा घुमाते हुए) यदि तुम मूर्ख होते तो हम दोनों के लिए खेती और चरखे से उत्तम जीवन का कोई द्वार निकाल लेते!

आदम—अपना काम करो, अन्यथा बिना रोटी के रहना पड़ेगा।

हौआ—मनुष्य केवल रोटी से जीवित नहीं रहेगा, और भी कोई वस्तु है। हम अभी नहीं जानते कि वह क्या है; किन्तु किसी दिन हमको ज्ञात हो जायगा और तब हम अकेले उससे जीवन निर्वाह करेंगे और फिर न खेती रह जायगी, न चरखा, न लड़ना होगा, न मारना।

[वह विवश होकर चरख़ा चलाती है, आदम अधीरता के साथ भूमि खोदता है।]

समाप्त

वह मूर्ख

आइवन तुर्गनेव

एक मूर्ख था।

बहुत दिनों तक वह शान्ति और सन्तोष से अपने जीवन के दिन बिताता रहा था। क्रमशः उसके पास ये अफ़वाहें पहुँचने लगीं कि सब लोग एक तरफ़ से उसे एक मन्दबुद्धि गँवार समझते हैं।

मूर्ख को इससे बड़ी ग्लानि हुई। वह सोचने लगा—किसी तरह इन अप्रिय अफ़वाहों का अन्त वह करे।

निदान उसकी मोटी समझ में एक उपाय सहसा सूझ पड़ा...और बिना किसी विलम्ब के उसने उसे कार्यरूप में परिणत भी कर दिया।

सड़क पर उसकी एक मित्र से मुलाक़ात हो गई, जिसने एक विख्यात चित्रकार की प्रशंसा करनी शुरू कर दी...मूर्ख चीख़ पड़ा—हैं, यह क्या! क्या तुम्हें इतना भी नहीं मालूम कि उस कलाकार की कृतियों का तो युग कभी का बीत चुका?...मुझे तो कम-से-कम तुमसे ऐसी आशा न थी। सचमुच तुम समय से बहुत पीछे हो!

मित्र बेचारा डर गया और फ़ौरन ही मूर्ख के विचार से सहमति प्रकट की।

एक दूसरे ने उससे कहा—कल मैंने क्या ही सुन्दर कृति पढ़ी!

मूर्ख बोला—हे भगवान! मुझे आश्चर्य है कि तुम्हें यह कहते लज्जा भी नहीं आती। वह ग्रंथ तो दो कौड़ी का है। लोगों को यह जाने हुए ज़माना हुआ। क्या तुम्हें नहीं मालूम था? सचमुच तुम समय से बहुत पीछे हो! यह मित्र भी घबड़ा गये और उन्होंने भी मूर्ख का समर्थन किया।

एक तीसरे मित्र ने मूर्ख से कहा—हमारे मित्र श्री......क्या ही योग्य पुरुष हैं। वास्तव में वह एक उदार व्यक्ति हैं।

मूर्ख बोल उठा—अरे! वह भी......जो मशहूर ठग है, जिसने अपने सारे रिश्तेदारों ही को झाँसा देकर ठगा। हर एक आदमी यह बात जानता है। सचमुच तुम समय से बहुत पीछे

तीसरा मित्र भी घबरा गया और मूर्ख के मन्तव्य से सहमत हुआ और अपने मित्र हो! का साथ छोड़ दिया।

इस तरह जिस किसी वस्तु या व्यक्ति की मूर्ख के सामने सराहना की जाती, वह उसका छिद्रान्वेषण करने से न चूकता।

कभी-कभी वह झिड़की के साथ यह भी कहता—क्या अब भी तुम्हारा विश्वास पुरानी रूढ़ियों में है!

उसका मित्र समुदाय उसके विषय में कहता—कमीना! दम्भी!...परन्तु साथ ही कैसी तीव्र बुद्धि पाई है!

और लोग कहते—और कैसी तेज़ ज़बान है! सचमुच वह एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति है!

इन सब का फल यह हुआ कि एक पत्र के सम्पादक ने उससे पत्र सम्बन्धी समालोचना करने के लिए प्रार्थना की।

और मूर्ख ने भी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति की कड़ी आलोचना करनी शुरू की। न तो कोई अन्तर उसके ढंग में हुआ न उसके उद्गारों में। वह व्यक्ति जो एक समय गुरुओं का विरोधी था, आज स्वयं एक माना हुआ गुरु है। युवक समुदाय उसकी इज़्ज़त करता है और उसका भय मानता है।

और बेचारे वे नवयुवक कर ही क्या सकते हैं? यद्यपि साधारण क़ायदे के अनुसार उन्हें किसी की अर्चना नहीं करनी चाहिए; परन्तु यदि इसकी अर्चना न हुई तो वे लोग समय के बिल्कुल पीछे समझे जायँगे!

भीरु समाज में मूर्खों की बन आती है।

आमन्त्रण *

शशिभूषण शर्मा

(१)

उषः काल था, तुम आए गाते निज मंजुल गान—
मैं सोया था, द्रुत विनिद्र हो, मेरे दृग खुल आए!
क्रुद्ध हुआ मैं तुम पर, (तुम थे अधर-कपाट लगाए!)
असह अवज्ञा सह कर तूने विहँस किया प्रस्थान!

(२)

तपता था मार्तण्ड व्योम में, दोपहरी थी घोर,
तृषित-हृदय से आए तुम माँगा चुल्लू भर पानी;
मैं था व्यस्तमना, असह्य थी तेरी यह नादानी—
तुम्हें किया प्रत्यागत कह कर वाणी कर्ण-कठोर!

(३)

अस्त हुआ दिनमान, (और आई संध्या निस्पन्द!)
तुम फिर आए, तेजपुञ्ज से हुए मुझे दर्शित से!
मूर्त्तिमन्त भय से दीखे तुम, हुए रोम हर्षित से!!
भीति-विकम्पित किया द्वार गृह का, तब मैंने बन्द!!

• • •

(४)

यह निशीथ का प्रथम प्रहर है, प्रकृति सुप्त, एकान्त!
मैं विभ्रान्त हृदय लेकर बैठा निर्दीप्त भवन में;
कर, प्रिय! मौनालाप ग्लानि सहता हूँ मन-ही-मन में!
कृतअपराधों को विस्मृत कर आओगे फिर कान्त? *

* (कवीन्द्र रवीन्द्र की एक कविता का भाव)

साहित्य का दृष्टिकोण: आदर्शवाद अथवा यथार्थवाद ?

देवीशङ्कर वाजपेयी

जिस प्रकार जड़-चेतन, अनुराग-विराग, गुण-दोष तथा सुख-दुःख से निर्मित संसार दुरङ्गा है, वैसे ही मानव-प्रकृति भी दुरङ्गी है। संसार के सभी प्राणियों से श्रेष्ठ होने के कारण मनुष्य अपनी जीविका-वृत्ति पर ही सन्तोष न करके सद्भावों तथा उच्च आशाओं से प्रेरित हो, जीवन के मंगलकारी, आदर्शमय पदार्थों की गवेषणा में तत्पर होता है, उसमें जीवन को आदर्शमय बनाने की पिपासा रहती है ; वह मानव दौर्बल्य को सहन नहीं कर सकता—उसे देखते ही वह दुःखित ही नहीं हो उठता प्रत्युत तमतमा उठता है, दुर्बलता का नाश करने के लिए वह 'सत्य, शिव तथा सुन्दर' सिद्धान्तों को आदर्श रूप से मानव समाज के सम्मुख रखता है। यह नहीं कि उसका यह आदर्शवाद स्वप्नों का बना हुआ शुष्क आदर्शवाद ही रहता है तथा उसमें संसार की वास्तविक घटनाओं का कोई स्थान नहीं रहता पर संसार के अन्धकारमय पहलू पर झलक डालते हुए भी आदर्शवादी निर्दिष्ट पथ प्रदर्शन के लिए उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है—वे सिद्धान्त जिनकी उपादेयता लौकिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि पारलौकिक दृष्टि से भी महान् होती है। यही आदर्शवाद है।

पर यह 'दुरङ्गा' मनुष्य सदैव आदर्शमयी चित्तवृत्ति में नहीं रहता। कभी-कभी तो दोष तथा पापमय असार संसार, तथा विधि-विडम्बना को देखकर वह हतोत्साह हो जाता है। आदर्श-ध्वनि सुनाने की चिन्ता उसे नहीं रहती। यातनामय मानव जीवन से सहानुभूति करता हुआ वह रोता है, दुःखी होता है और कभी-कभी ईश्वर पर भी क्रोधपूर्ण व्यंग्यों की बौछार करने लगता है। उसे उस समय सुधार का ध्यान नहीं रहता ; क्या होना चाहिए, यह उसे एक आँख भी नहीं भाता ; क्या हो रहा है इसी की शिकायत वह कर उठता है और संसार का नग्न चित्र खोलकर समाज के सम्मुख रख देता है। उससे सुधार हो, यह उसका काम नहीं है, समाज स्वयं इसके लिए उत्तरदायी है। यही स्पष्टवाद है।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि आदर्शवाद एवं यथार्थवाद में यह अन्तर है कि आदर्शवादी हमारी दुर्बलताओं की ओर छिपी रीति से सङ्केत करता है अवश्य, पर उसका कार्य्य यहीं नहीं समाप्त हो जाता; वह सफलता तथा सुधार के रहस्य का उद्घाटन करता है तथा हमारे सम्मुख आदर्शों की स्थापना करता है, बुराइयों में भी भलाई की झलक देखता है—

> जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल,
> तोकूँ फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।

साधारणतया वह बुराइयों की ओर दृष्टिपात नहीं करता; जीवन में सत्य, सार्थकता तथा सफलता का कितना अंश है, इसी का विश्लेषण करना उसका ध्येय रहता है। पर यथार्थवादी इतनी दूर नहीं जाता। जीवन की करुणाजनक कहानी वह स्पष्ट कह देगा, बुराइयों में भलाइयों का ढूँढ़ना तो दूर रहा, उसे यह जीवन इतना तुच्छ ज्ञात होता है कि जग का कण-कण इसका उपहास करता है—

'इस जग का कण-कण करता है
मेरे जीवन का उपहास'

तुलनात्मक दृष्टि से भारत के प्राचीन तथा आधुनिक युग को ले लीजिए। अतुल सम्पत्ति का स्वामी होने के कारण प्राचीन भारत रोटियों का मुहताज न था; सुख की गोद में पले हुए भारतीयों को जीविका उपार्जन की चिन्ता न थी। ऐसी दशा में सम्पूर्ण अवकाश का समय जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन में व्यतीत होता था। संसार असार है, मोह के सांसारिक-पाश कच्चे धागे की तरह दुर्बल हैं, यह सब हमारे पूर्वज जानते तथा मानते थे, पर उन्होंने इह-लौकिक दुःखों को बताकर लोगों को दुःखी बनाने के स्थान में आध्यात्मिक आनन्द का समर्थन किया—ऐसा आनन्द जहाँ क्षणिक सुख नहीं, वरन् आत्मा तथा परमात्मा के अपूर्व मिलन से उत्पन्न आनन्द की अनुभूति होती है। हमारा प्राचीन साहित्य आदर्शवाद से परिपूर्ण है; इसका कारण हमारी दार्शनिक चित्तवृत्ति थी। दुःखान्त काव्यों अथवा आख्यायिकाओं का लिखना अमाङ्गलिक समझा जाता था। रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर करुणाजनक वर्णन आ गये हैं, पर अन्त में राम का आदर्श राज्य सब दुःखों को भुला देता है।

धीरे-धीरे भारत का वैभव स्वप्नतुल्य हो चला। हम सताये गये, कुचले गये और ठुकरा दिये गये। दैवी प्रकोप भी उत्तरोत्तर बढ़ता-सा गया; चिन्ता—आधिव्याधि ने आ घेरा। समय ने पलटा खाया अवश्य, पर आशाओं का तार जीवन-पर्यन्त नहीं टूटता। हम अपने पुराने वैभव का स्वप्न देखते ही रहे और बीते दिनों की स्मृति में आँसू बहाने लगे। यही नहीं, प्राचीनकाल से मनुष्य अब अधिक सांसारिक हो चला है; ऐसी दशा में असफलता की अधिक सम्भावना रहती है। स्वभावतः हम निराशा के कारण, संसार के तमोमय होने का विचार अपने हृदय में स्थापित कर लेते हैं। अस्तु कवि, लेखक सभी इस धारा में बह चले। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसी परिस्थिति में कवि का आदर्शवादी होना असम्भव है? समय के प्रतिनिधि के नाते यदि वह रो पड़ता है, तो क्या कवि होने के नाते उसका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह जनता के उत्थान में हाथ बटावे? रोते हुओं का रुलाना उसका कार्य्य है अथवा उन्हें शान्त करना? इसमें सन्देह नहीं कि आत्मिक असफलता तथा देश की पतितावस्था को देखकर एक सच्चा कवि आँसू बहावेगा। साथ ही साथ कुछ लोगों का कथन है कि कवि उपदेशक नहीं है, वह कहेगा हृदय की बात! पर इतना सब होने पर भी, यह संसार आधारमात्र रहते हुए भी, कवि का जगत् इस जगत् से भिन्न है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द से सम्बन्ध रखता है। कवि उपदेश भले ही न दे, पर सांसारिक पात्रों पर रोते रहना भी तो अकर्मण्यता है। आदर्शवाद का अर्थ यह नहीं कि कवि उपदेशक ही हो, पर आदर्श-वाद से तात्पर्य्य कवि की विशद भावनाओं से प्रेरित उच्च विचारपूर्ण आनन्दवर्द्धक उक्तियों से है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी सीमा तक यथार्थवादी रहते हुए भी वर्तमान कवि आदर्श-वादी हो सकते हैं।

आधुनिक काल में यथार्थवाद की लहर चल पड़ने पर कवियों के लिए मानव-जीवन वह न रहा जिसे हमारे पूर्वजों ने सकल साधना का हेतु बताया है। सत्य दोनों कथनों में है। मनुष्य-जीवन अमूल्य भी है और साथ ही असार तथा दुःखमय भी। अन्तर केवल दृष्टिकोण में है। कवि यथार्थवादी होते हुए भी आदर्शवादी कैसे हो सकता है, देखिये—

'दुर्लभ मानुष जनम है, मिले न बारम्बार
तरिवर ज्यों पत्ता झड़े, फेरि न लागै डार।'

मनुष्य-जीवन पेड़ के पत्ते के समान है—कौन जाने कब गिर जाय! इसमें यथार्थता का समावेश है, पर 'दुर्लभ' शब्द में पूर्ण आदर्शवाद भरा है। वास्तव में मनुष्य जीवन की उपादेयता

अत्यधिक है, यह इतना अमूल्य रत्न है कि बार-बार मिल नहीं सकता। पर वर्तमान कवि इस प्रकार निराशा-भरे शब्दों में बोल उठता है—

'इच्छायें हैं प्रबल किन्तु हैं असफल सकल उपाय,
भटकते हैं हम सब असहाय !'

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या आदर्शवाद ईश्वरवाद तथा आशावाद का रूपान्तर है और यथार्थवाद निराशावाद का ?

इसमें सन्देह नहीं कि मानव-शरीर का अन्तिम उद्देश्य क्षणिक सारहीन सुखसाधन नहीं, बल्कि परमानन्द की प्राप्ति है। जीवन की कृतकृत्यता ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति में है जो लोकोत्तर आनन्ददायी हो, अतः यह माना जा सकता है कि ईश्वरोन्मुखी उच्च भावना ने ही मनुष्य को आदर्शमार्ग दिखाया है। पर यदि और सूक्ष्मता से देखा जाय, तो आदर्शवाद निरा ईश्वरवाद नहीं है। हाँ, आदर्शवाद में आशा का अधिकांश पुट रहता है, इसमें सन्देह नहीं। आदर्श-प्राप्ति की सुखद कल्पना करता हुआ मनुष्य कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होता है ; आदर्श स्वयं आशामय होते हैं ; आशायें संगिनी बनकर सहायता करती हैं।

फिर भी यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो आदर्शवाद ने ही मनुष्य को निराशावादी भी बना दिया है। आदर्शप्राप्ति के लिए लालायित मनुष्य आशापूर्ण नेत्रों से भविष्य की प्रतीक्षा करता रहता है। बस, इसी का अनन्त तार बँधा रहता है। पूर्ण सफलता मिले, यह असम्भव है। जब मनुष्य की आशाओं पर पानी फिर जाता है, तो वह निराशावादी बन बैठता है। संसार में स्पष्ट क्या दृष्टिगोचर होता है ? आज नव-विकसित जीवन, कल धधकती चिता ! आज वैभव के बीच अठखेलियाँ, कल दर-दर का भिखारी बनकर फिरना ! कहीं अन्यायी सुख भोग रहा है और धर्म-निष्ठ कष्ट भोग रहा है ! भलाई तथा पुण्य का फल विपरीत ही मिलता देख पड़ता है। ये सब बातें करुणाजनक हैं, अतः यथार्थवाद में निराशावाद का आ जाना अनिवार्य है।

जो कुछ हो, वर्तमान यथार्थवाद का भविष्य कैसा है, यह विवादास्पद हो सकता है। लाभ की दृष्टि से आदर्शवाद श्रेष्ठ है, यह सभी स्वीकार कर लेंगे; पर यथार्थवाद का भी भविष्य कम उज्ज्वल नहीं है। काल के परिवर्तन के साथ बहुत-सा साहित्य लुप्त हो गया, उसकी सीमा अपने ही तक संकुचित थी। पर वर्तमान यथार्थवाद मनोवैज्ञानिकता तथा सहृदयता से सम्बन्ध रखता है। रोना आज कल ही नहीं, जब तक मनुष्य रहेगा तब तक चलेगा। किसी अंग्रेज़ी समालोचक ने कहा है कि कवि को अपने समय के विचार तथा प्रत्येक समय के (भाव जिनका कि जीवन से सदैव अभिन्न सम्बन्ध रहेगा) प्रकट करना चाहिए। एक बात और भी है। जिस समय मनुष्य असहाय होकर रो पड़ता है, उस समय उसे रोने में ही शान्ति मिलती है। धीरे-धीरे उसे दुःख में ही सुख का अनुभव होने लगता है। वर्तमान कविता ने अभी तो अपना जीवन आरम्भ किया है ; आशा है कि इसी निराशा से आशा की एक ज्योति चमक उठेगी। इसकी पुष्टि के लिए श्री पन्तजी का उदाहरण दिया जा सकता है। आपकी प्रारम्भिक कविता करुण-रस से ओत-प्रोत है ; पर अब आपकी उर्वर लेखनी से शान्तिमयी कल्याणकारी कवितायें ही निकलती दिखाई पड़ती हैं। यही आशा अन्य लेखकों से भी है। सुश्री महादेवी वर्मा का कथन देखिये—'मेरा यह अभिप्राय नहीं है, कि मैं जीवन भर 'आँसू की माला' ही गूँथा करूँगी और सुख का वैभव जीवन के एक कोने में बन्द पड़ा रहेगा।' इन्हीं सब बातों पर विचार करते हुए यथार्थवाद से भी बड़ी-बड़ी आशायें हैं।

बड़ी दीदी या जिज्जी

'स्नेहरश्मि'

मुकुन्दराय देसाई के घर में आज आनन्द की हिलोरें उठ रही थीं। मुकुन्दराय की पत्नी सविता का हर्ष किसी तरह भी समाता न था। अपने आनन्द में सारी दुनिया को निमंत्रण देने के लिए वह अस्थिर हो रही थी। मुकुन्दराय देसाई के छोटे भाई कपिलराय की पत्नी मणि ने आज एक पुत्ररत्न को जन्म दिया है। मुकुन्दराय की आयु पैंतीस वर्ष की होगी। सविता होगी उससे दो एक वर्ष छोटी। कपिलराय की आयु सत्ताईस के लगभग होगी और मणि उससे तीन चार वर्ष छोटी होगी। इस आनन्द के अतिरेक के अनेक कारण थे। एक कारण तो यह था कि सविता के एक चार वर्ष की लड़की के सिवा और कोई सन्तान न थी। उसके एक लड़का हुआ था पर वह तीन साल की आयु में मृत्युवश हो गया था।

सविता को इससे बहुत बड़ा आघात पहुँचा था। पर मुकुन्दराय और कपिलराय की सावधानी से धीरे-धीरे उसका दुःख हलका हो गया था। दूसरा कारण यह था कि मणि को बाईस वर्ष की आयु तक कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ था। और लोगों में बात फैल गई थी कि मणि वंध्या है। सविता को यह बात बहुत दुःख देती थी। मणि को सविता अपनी छोटी बहिन ही समझती थी। सविता ने ही कपिलराय का विवाह कराया था, वर की माता भी अपने आप ही बनी थी और जिस दिन से मणि को अपने घर लाई थी, उस दिन से मणि के मायके वालों को एक-एक चिन्ता और एक-एक जवाबदेही से मुक्त कर दिया था। जिस प्रकार सविता का स्वभाव इतना स्नेहार्द्र था उसी तरह उसका स्वभाव उग्र भी था। जब वह क़ाबू में न रहती तो चण्डिका का स्वरूप धारण करती। ख़ुद मुकुन्दराय को उस समय चुप हो जाना पड़ता। अगर कभी कोई बच जाता तो वह थे कपिलराय। जिस समय छः वर्ष की अवस्था में विवाह होने के बाद सविता अपने ससुराल आई, तब कपिलराय मुश्किल से छः महीने का रहा होगा। बालिका सविता ने कपिलराय को बड़ी उमंगों के साथ झुलाया था और उसे अपनी गोद में लेकर आनन्द से सारे घर में घूमी थी और जब चार वर्ष के बालक कपिल को छोड़कर उसकी माता परलोक सिधारी, तब से इस ग्यारह वर्ष की बालिका पर माता का उत्तरदायित्व भी आ पड़ा और उसने उसे अच्छी तरह से निभाया भी। कपिलराय भी इस प्रकार सविता से हिल-मिल गया था कि वह भूल गया था कि उसे माँ नहीं है।

इस प्रकार सविता के आनन्द के कई कारण थे। मुकुन्दराय और कपिलराय को इतनी

अधिक चहल-पहल पसन्द न आई ; पर दोनों में से किसी की हिम्मत न हुई कि सविता को रोकें। सविता को बताशे ओटने और बजनियों को बुलाने से फ़ुरसत न थी। जब दोनों भाइयों ने सुना कि शहनाई वाले भी आने वाले हैं, तब तो उनकी बेचैनी का पार न रहा। मुकुन्दराय बोले—

'कपिल ! अपनी भाभी को कुछ तो समझाओ। बताशे बाँटे तब तक तो ठीक था पर ये ढोल और शहनाई क्या अच्छे लगेंगे ?'

'भाई साहब ! मैं तो शर्म के मारे मरा जाता हूँ। लड़का क्या अपने यहाँ ही पैदा हुआ है ! पर भाभी किसी की सुनें तब न !'

'कपिल ! तेरी बात वह मानती है। तेरे सिवा आज उसे कोई नहीं रोक सकता।'

'पर...पर मेरी हिम्मत नहीं होती। सीधी बात कहते वह उलटी उलझती है। अगर तुम कहो तो अच्छा हो।'

मुकुन्दराय विचार में तल्लीन हो गये ; पर जानते थे अगर वे बोलेंगे तो व्यर्थ ही अशान्ति फैल जायगी। वे फिर बोले—कपिल ! तू एक दफ़े कह तो सही।

'अच्छा भाई साहब ! आप कहते हैं तो जाता हूँ ; पर मेरे पाँव नहीं उठते।'

कपिल अंदर गया। सविता भीतर ब्राह्मणों को दक्षिणा देने में लगी हुई थी। इस विधि के पूर्ण होने तक कपिलराय ने चुपचाप रहना ही उचित समझा। इसी समय सविता ने कपिलराय की ओर देखा—

'क्यों ? कैसे ?'

'हाँ...हाँ भाभी...'

'हाँ'

'मैं...मैं...नाराज़ न हो तो...'

सविता हँस पड़ी—पागल हो गए हो क्या ? आज मैं नाराज़ होऊँगी ?

'हाँ ! हाँ भाभी ! यह तो, मैं भी जानता हूँ, पर...पर डर तो...'

सविता मुस्कुराई—अभी तुम निरे बच्चे ही हो, जो मुझसे डरते हो ! डरते हो ? मुझसे कौन डरता है ? यह मुन्ना ही जब घुटनों पर चलने लगेगा तब कहेगा—'चाची तो बेवक़ूफ़ है !'

कपिलराय से हँसे बिना न रहा गया। इस अवसर का लाभ उठाने की इच्छा से वे बोले—

'भाभी ! भाईसाहब कहते हैं कि बताशे बाँटे और ब्राह्मणों को दक्षिणा दी, यह तो ठीक किया; पर अगर ढोल और शहनाई वाले को न बुलाया जाय तो क्या हर्ज है ?'

'हाँ ! इसीलिए, ये चिकनी चुपड़ी बातें कर रहे थे, क्यों ? उनसे जा कर कहना कि क्या कभी भी मैं उनके कार्य के बीच में आई हूँ कि वे मेरे बीच में पड़ते हैं ? अपने घर में मुझे जो ठीक लगेगा, करूँगी। आज मैं किसी का कुछ सुनने वाली नहीं।'

'पर भाभी...'

'बस ! तुम्हें मेरी क़सम अगर एक शब्द भी आगे बोले ! आज मिहरबानी करके मुझे न चिढ़ाओ। आज बड़े भाग्य से मुझे लड़का मिला है। उनसे कहना सूरत से 'बैंड' नहीं मँगवाया यह मेरा एहसान मानें, नहीं तो...और यह सब सह न सकते हों तो बगीचे में जाकर माली का काम करें। बैठे-बैठे मेरे काम में बाधा न डालें।' यह कहती हुई वह रसोई घर में चली गई।

कपिलराय ने अपना अहोभाग्य समझा कि इतने में ही काम निपट गया।

(२)

'छोटी बहू !'

सविता की आवाज़ सुनते ही अपनी सहेलियों के साथ घर के दालान में बैठी ग़प्पें मारती हुई मणि चौंक उठी। वह एकदम बोल उठी—क्या कहती हो, बड़ी बहिन?

'मरे तेरी बड़ी बहिन! इस लड़के को भूखा मार डालेगी?'

'तुम तो बड़ी बहिन, यों ही बेचैन होती हो। मैंने तुम्हारे देखते अभी तो दूध पिलाया ही था। यदि वह नहीं पीता तो मैं क्या करूँ?'

'इसका मतलब यह है कि बच्चा भूखा मर जाय। ईश्वर न जाने क्यों ऐसों को लड़का देता है!'

मणि हँस पड़ी—यह तो बहिन तुम ले आईं! मैं थोड़े ही लेने गई थी? रोज़ महादेव को दिया चढ़ाने क्या मैं जाती थी? तुमने जप किये, सोमवार-व्रत किये और महादेव को मना कर इसे ले आईं!

'भली मानस! रहने दे अपनी भलमनसाहत! पहिले बच्चे को दूध पिला दे फिर चाहे तो दिन भर अपनी सहेलियों के साथ ग़प्पें मारा करना।'

मणि को अब उठने के सिवाय कोई चारा न था। बात बन्द कर वह लड़के को लेने के लिए उठी। नींद से जगा हुआ लड़का रोने लगा। सविता इसे न सह सकी। झट उसने बच्चे को मणि के हाथ से छीन लिया और उसे झुलाती हुई कहने लगी—आ भाई! आ! यह क्या तेरी माँ है? मेरे बेटे!......

मणि हँस दी—जिज्जी! तुम तो ज़ुल्म करती हो, भई!

'अच्छा, अच्छा! अगर यह ज़ुल्म सहन न होता हो, तो जा अपनी सहेलियों के पास। मुझे तेरा कुछ काम नहीं। बच्चे को दूध पिलाती है, उसमें न जाने क्या एहसान कर देती है। मुझे कोई दूसरा रास्ता दिखाई नहीं देता, इसीलिए न! फिर तो इसकी ओर देखेगा भी कौन?'

मणि हँसते-हँसते सविता को भेंट पड़ी—क्यों बड़ी बहिन! पिछले जन्म में तुम्हारी लड़की थी न?

'किसने कहा?'

'नहीं मुझे बताओ, फिर कहूँगी।'

'पर मुझे क्या ख़बर।'

'क्यों ख़बर नहीं, इतना लाड़ क्या यों ही उँडेलती हो?'

'जा जा, तू अभी छोटी मुन्नी ही रही जो तुझे लाड़-प्यार करूँगी! तेरे जैसी आलसी को कोई प्यार करता होगा?'

'तुम्हीं तो जिज्जी, मुझे काम करने नहीं देतीं। न झाड़ू लगाने देती हो, न कपड़े धोने देती हो। और मुन्ना जब से आया है तब से तुम ही रात भर जागती हो, मुझे......'

'इसमें मैंने क्या अधिक किया है? घर पर और काम-काज नौकर लोग करते हैं, और तेरे योग्य काम तू किया ही करती है। और कितनी ही बार मैं तुझसे नाराज़ भी हो जाया करती हूँ। आठ बरस की जब तू यहाँ आई थी—उस दिन के तेरी माता के आँसू मैं नहीं भूली हूँ। उसकी लाड़ली बेटी तू—मैं तेरे लिए क्या कर सकी हूँ?'

'ऐसा मत कहो जिज्जी! एक राजकुमारी से भी अधिक तुमने मुझे प्रेम किया है। इस घर में दुःख क्या है, इसका तो मैंने नाम भी नहीं सुना। जिज्जी यह सब तुम्हारे पुण्यों का प्रताप है। और तुम्हारे बिना है भी कौन?' कहते-कहते मणि की आँखें छलछला आईं।

'चल पगली ! ऐसी बातें न कर। तेरे ही स्वभाव का फल तुझे मिला है। तेरी जगह कोई दूसरी होती, तो घर में न जाने कितने झगड़े पैदा हुये होते।'

'ऐसा मत कहो जिज्जी ! मैं मरी जाती हूँ।'

'वाह !'

'पर जिज्जी एक बात है।'

'क्या ?'

'वचन दो।'

'क्या ?'

'मेरा कोई भी अपराध हो, मुझे तुम छोड़ न देना—अपने से अलग कभी न करना।'

'तू ऐसा क्यों सोचती है ?'

'नहीं, सोचती नहीं—पर मुझे कभी-कभी होता है, मेरा इतना सुख-सौभाग्य कहीं छिन न जाय।'

'बहिन ! ऐसा डर क्यों रखती है ? तुझ जैसी को ईश्वर सुखी न रखेगा, तो और किसे रखेगा ? पर देख, यह मुन्ना कैसे सो गया है ? तेरी सहेलियाँ तेरी राह देखती होंगी। देखना छोले न खाना, नहीं तो मुन्ना बीमार हो जायगा।'

'ना, ना,—न खाऊँगी।'

वह वहाँ से चली गई।

(३)

'ओ ईश्वर ! मैं अब कहाँ जाऊँ ? यह लड़का तो मेरा धरम बिगाड़ने बैठा है।' स्नान-गृह में घुसते हुए सविता ने कहा। यह सुनते ही मणि दौड़ती हुई आई और पूछने लगी—

'क्या हुआ जिज्जी ?'

'क्या हुआ ? देख अपने मुन्ना के पराक्रम ! ठाकुरजी को ही मोरी में डाल आया है। इसे पकड़े-पकड़े कहाँ तक फिरा करूँगी ? और तुम्हें कुछ फ़िक्र है ? तुम भली और तुम्हारी सहेलियाँ भली !'

'हैं जिज्जी ! क्या मुन्ना ने ठाकुरजी को मोरी में फेंक दिया ? सचमुच ? कहाँ गया वह ?' कहती हुई मणि अपने तीन बरस के लड़के को उठाकर ले आई। उसे ज़मीन पर रखकर उसके कान ऐंठते हुए पूछने लगी, 'बोल बदमाश कहीं का......'

'हाँ, हाँ ! रहने दे ! रहने दे !' कहती हुई सविता स्नानगृह से बाहर निकल आई। उसने मणि के हाथ से लड़का छीन लिया।

'आ भाई आ ! वह तेरी माँ है ? मेरे मुन्ने ! कान ऐंठते हुए दया भी न आई।'

मणि हट गई। 'यह तुम्हारी ही ग़लती है जिज्जी कि मुन्ना को तुमने इतना सिर पर चढ़ा रखा है। आज तो ठाकुरजी को मोरी में फेंक आया पर कल वह तुम्हें और मुझे, दोनों को न फेंक आवे तो मुझसे कहना। देखा न ! कैसा हँस रहा है ! नटखट कहीं का ! आना अब मेरे पास !'

'कौन आता है तेरे पास ? अरे ख़ुशी ! अपने भाई का हलुवा तो लाना।'

'नहीं—मैं हलुवा नहीं खाऊँगा—मुझे पूड़ी खाना है।'

'देखा ! भाई साहब को हलवा नहीं खाना है। छोटी बहू ! दो-तीन छोटी पूरियाँ सेंक देना—मैं तो नहाए बिना रसोई घर में घुसूँगी नहीं।'

'जिज्जी ! उसके कहने पर यह नाच नाचने की क्या ज़रूरत ? आज तो हलुवा नहीं खाना पूरी खाना है, कल कहेगा जलेबी चाहिए और परसों कलाकन्द—तुम चाहे इसके ये लाड़ सहन करो—मुझसे सहन न होगा।'

'हाँ, हाँ, तू काहे को सहेगी ! इतना-सा काम भी भारी पड़ता है। दो पूरियाँ सेंकते माथा दुख जाता है ! अरे मुन्ना, यहाँ तो आ। अभी तो हलुवा खा ले, फिर पूरी बना दूँगा।'

'ना, मुझे हलुवा नहीं खाना'—कहते-कहते अपने छोटे-छोटे हाथ बढ़ाकर सुशीला जिस तश्तरी में हलवा लाई थी उसे फेंकने की कोशिश करने लगा। सुशीला के हाथ में से तश्तरी नीचे गिरते-गिरते बच गई। उसने धीरे से चपत मार कर कहा—'अभी तश्तरी गिर जाती तो ? अब देखना हलुवा खिलाती हूँ ! यह ले—' कहकर सुशीला ने अपना अँगूठा दिखाया। मुन्ना ने अपना मुँह खोल उसे काटने का प्रयत्न किया। 'ओ बापरे ! मुझे काट खाया' सुशीला चिल्लाई। दोनों हँस पड़े।

मणि ने कहा—ले लेती जा ! और दुलार कर देखो जिज्जी ! सुशीला के हाथ में खून निकल आया है।

यह कह कर मणि ने सुशीला को गोद में ले लिया—'देख सुशी, अब तू इससे बोलना ही मत। नहीं जिज्जी, तुम भले ही मुझसे नाराज़ हो, मैं अब इसकी शरारतें नहीं सह सकती !'

सुशीला को ले वह बाहर आई।

बात यों थी। सविता बचपन से ही बहुत धर्म-भीरु वातावरण में पली थी। उसकी माता एक आस्तिक और धर्मनिष्ठ स्त्री थी। एक अचिंतित घटना ने उसे और भी चिंताशील बना दिया, और भी धर्म परायणा बना दिया। यह घटना थी सविता के पिता की कुसंगति का परिणाम—शराबीपन। ज्यों-ज्यों वह इस कुमार्ग पर बढ़ता गया, त्यों-त्यों सविता की माता स्नान संध्या में अधिक लीन होती गई—मानो अपने तप से अपने पति के पापों को धो डालना चाहती हो। और यह धर्मनिष्ठा सविता को मानो दहेज में मिली थी। बचपन से ही सविता निर्जला एकादशी करती, शिवरात्रि का व्रत रखती। अपने सुसराल से भी उसे अपनी इच्छा के अनुसार धर्ममय वातावरण मिल गया था। मुकुन्दराय धार्मिक व्यक्ति थे। बचपन से ही उन्होंने साधु-संतों की संगति की। वह नियम का पालन करने में पूरे चुस्त थे। कपिलराय ऐसे धर्म परायण भाई और भाभी की छाया में पले थे। छोटा कपिल जब स्कूल से वापिस आता तो उसे नहलाए बिना भाभी खाने को न देती थी। टट्टी हो आने के बाद केवल हाथ पैर धोना ही पर्याप्त न होता था, उसे नहाना भी पड़ता। बाज़ार से आने के बाद यदि रसोई घर में घुसना हो तो नहाए बिना नहीं। इसका परिणाम यह निकला कि बचपन से ही कपिलराय धर्म को ढोंग समझने लगे। वे अपनी भाभी को माँ से अधिक मानते थे। इसलिए उसके दिये हुए आदेश को झट क़बूल कर लेते थे। बड़े भाई मुकुन्दराय के प्रति उनका बहुत पूज्य भाव था। फिर भी इस स्नान-संध्यादि से बड़ी बेचैनी उन्हें मालूम होती। पर भाभी का प्रेम इतना अधिक था कि उसके सामने खुल्लम खुल्ला बग़ावत करने की हिम्मत न होती थी। इसलिए उन्होंने 'नेपाली स्नान' की प्रथा क़ायम की थी। यह स्नान, स्नानगृह में जाकर हाथ मुँह धोने में ही समाप्त हो जाता था। स्नानगृह में घुसकर कपड़े बदलकर वह कहता—भाभी नहा आया हूँ। अब खाने को दो। बेशक बिचारी भाभी देवर के पराक्रमों से अनभिज्ञ ही रहती।

मुकुन्दराय और सविता के न जानते हुए, कपिलराय अपने एक वणिक मित्र के घर

आया आया करते थे। वहाँ चाय पी लेते और नाश्ता भी कर लेते। धीरे-धीरे होटल-प्रवेश भी शुरू हुआ, और बीस बरस की उम्र होते-होते तो उनके रूढ़िखंडन विचारों ने उग्र रूप धारण किया। अपने बड़े भाई और भाभी की भावनाओं को धक्का पहुँचे, ऐसा काम अभी तक उन्होंने न किया था। ख़ासकर भाभी के लिए उनमें बहुत मान था; उनका ख़ूब ख़याल रहता। इन परिस्थितियों में आज तक घर में शांति रही। सविता को अपने दो बच्चों पर अपार स्नेह था; फिर भी ये दोनों उसकी धर्मचर्या में विघ्न न डाल सके थे। उनका लड़का तो दुर्दैव से मृत्युलोक पहुँच गया था। और सुशीला का तो यह स्वभाव ही था कि उसे एक बार ना कही जाय तो वह उस ओर कभी देखती भी नहीं। पर कपिलराय के इस बच्चे के आगमन ने सविता के धर्म साम्राज्य में बड़ी हलचल मचाई। यह छोटा बदमाश, सीधा सविता के पूजागृह में घुस जाता और ठाकुरजी के प्रसाद को चट कर जाता। मानो एक ही जगह पर बैठे-बैठे देव लोग थक गये हों, अतः उन्हें सारे घर की सैर कराता। घर में, अगर कोई नहाए बिना पूजा-गृह में प्रवेश करता तो, सविता उसका दम ले डालती, पर छोटे शरारती के सामने वह लाचार थी। उसकी इन शरारतों से जब वह तंग आ जाती, तब सुशीला, मणि और मुकुन्दराय तक भी आफ़त में आ जाते—बच जाते केवल दो, एक कपिलराय और दूसरे उच्छृङ्खलता के अधिकारी नटवर। कोई भूलकर भी नटवर का नाम लेता, तो उसकी आफ़त आ जाती थी। पर आज तो हद हो गई थी। आज और तो कहीं नहीं, पर सीधे मोरी में ही भाई साहब ठाकुरजी को पहुँचा आये थे। सविता बहुत उद्विग्न हुई। सारे दिन-भर वह पूजा घर में बैठी रही। उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी रही। वह बार-बार कहती—देव! यह तो बालक है; इसे कुछ होश नहीं है। आपको यदि क्रोध चढ़ा हो, तो मेरे सिर डालना पर इस कोमल फूल को आँच भी न आने देना। मेरे नाथ! मणि दो-तीन बार पूजागृह में आ चुकी थी। उसने सविता की आँख के आँसू देखे, उसकी प्रार्थना भी थोड़ी-बहुत सुनी। सविता को किस प्रकार आश्वासन दिया जाय, यह उसे न सूझा। कृतज्ञता से उसका हृदय भर आया। अपनी मूर्खता पर उसे शोक हुआ। प्रायः वह सविता को अनेक प्रकार से चिढ़ाया करती थी, पर आज तो सविता को ख़ुश करने का उसने निश्चय किया। वह रेशमी पीताम्बर पहिनकर पूजागृह में आई और सविता के पास बैठ गई। बोली—जिज्जी!

मानो नींद से चौंक पड़ी हो, इस प्रकार वह मणि की ओर देखने लगी और बोली—क्यों आज यह क्या सूझा?

'मुझे भी जिज्जी, अपनी तरह पूजा करना सिखा दो'—मणि प्यार से बोली।

सविता ने पहले इसे हँसी समझा, इसीलिए एक दम बोल उठी—वाह! आज क्या सूरज पश्चिम में उगा है?

'ना, ना जिज्जी! मैं ग़लत नहीं कहती। मुझे भी अपने-जैसी बना दो। मैं अब नहाने में किसी दिन आलस्य न करूँगी।'

स्नेह से सविता मणि को देखती रही; फिर धीरे से बोली—देवता तो तेरी गोद में आकर बैठे हैं। उन्हें सँभाल, यही बहुत है। वह देव पधारे हैं, इसलिए इस देव के पाँव पकड़कर प्रार्थना कर रही हूँ कि देव! हमसे अब तुम्हारी सेवा नहीं होती। जीते-जागते आप पधारे हैं, उसी की सेवा कर सकूँ, तो बहुत है। छोटी बहू! कल ठाकुरजी को लक्ष्मीनारायण के मंदिर में स्थापित कर आने का मैंने निश्चय किया है। अब इन्हें यहाँ रखकर हम व्यर्थ पाप अपने सिर ले रहे हैं।

'यह कैसे जिज्जी?'

'तू देखती है न, यह मुन्ना मानता ही नहीं है।'

'उसे तो मैं सीधा रखूँगी।'

'नहीं बहिन! यों मार-पीट कर बच्चे को हैरान करने से क्या लाभ? बच्चों वाले घर में जो धर्म पाला जाय, उसे ही धर्म समझना चाहिए। आज तक बहुत सूक्ष्मता से सब कुछ सँभाला। अब सब कुछ सँभाला जाय, ऐसा नहीं दीखता, इसलिए हाथ जोड़कर मैं कहती हूँ देव! जहाँ रहो, वहीं से हमारे ऊपर कृपा दृष्टि बनाये रखो।'

दूसरे दिन समारोहपूर्वक अपने ठाकुरजी को लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में स्थापित करवा दिया। उस दिन मुकुन्दराय के यहाँ ब्रह्मभोज का एक उत्सव हुआ।

(४)

नटवर सात वर्ष का होने को आया था। सविता के मन में उसका उपनयन-संस्कार करवाने की इच्छा उठ रही थी; पर घर में पुरुष वर्ग को इतनी जल्दी न थी। सविता एक दिन आपे से बाहर हो गई। मुकुन्दराय को डाँटते हुए वह बोली—छोटा भाई तो अभी लड़का ही है, पर तुम्हारे तो बाल सफ़ेद होने को आये। लड़का सात वर्ष का हो गया है। क्या उसे ऊँट जितना बड़ा करके जनेऊ देना है?

'पर अभी कहाँ इतना बड़ा दिखाई देता है?'

'दिखाई नहीं देता! इससे क्या हुआ? यदि तुम्हें इस तरह की बातें करनी हों, तो तुम जानो और तुम्हारा घर!' कहती हुई सविता रसोई घर में चली गई। कपिलराय पास के कमरे से यह सब सुन रहे थे। बड़े भाई को यह सब सुनना पड़े, यह वे न सह सके। उन्होंने धीरे से मुकुन्दराय से कहा—दद्दा! भाभीजी चिढ़ गई हैं—वे ऐसे ही नहीं माननेवाली!

'उसे अक़्ल ही कहाँ है? मैं उसे समझा-समझा कर थक गया कि सुशीला अब ग्यारह वर्ष की तो हुई। एक दो वर्ष में उसका विवाह करना पड़ेगा, मैं उसी की चिन्ता में हूँ। मेरी इच्छा है कि एक ख़र्च में दोनों ख़र्च मिल जायँ पर उसका तो सारा धर्म उलटा हुआ जाता है। लड़का सात साल का हुआ इसलिए उपनयन संस्कार होना ही चाहिए—न जाने कैसा भूत सवार हुआ है!'

'पर भाई साहब! सुशी के लिए इतनी जल्दी क्या पड़ी है? अभी तो बिचारी बालिका है। अब तो ज़माना बदल गया है। तुम्हें जनेऊ दिलाना हो तो दिलवाओ या ऐसे ही रहने दो; पर सुशी के विवाह की बात मेरे गले नहीं उतरती।'

साधारण तौर पर कपिलराय अपने बड़े भाई के साथ कभी चर्चा में न पड़ते थे। हमेशा उनकी बात मानते; पर बहुत दिनों से उनके मनमें एक विचार चक्कर काट रहा था और उसे बड़ी मृदुता और विनय से आज उन्होंने बाहर निकाला। मुकुन्दराय आँख फाड़ कर देखते रहे। उन्होंने कभी इसकी कल्पना भी न की थी। वह ज़रा खिन्न होकर बोले—एक को समझाने जाता हूँ, तो दूसरा फिसलता है! मैं क्या करूँ? यों तो मुकुन्दराय शान्त स्वभाव के थे। कठिनाई सहने की उन्हें आदत न थी। उनके सरल जीवन में ज़रा भी विघ्न पड़ता तो वे खिन्न हो जाते थे। आज उन्हें अचिन्तित कठिनाइयाँ अपने सामने खड़ी होती दिखीं। सारे दिन घर में इस प्रश्न की चर्चा रही। अन्त में सुशीला की बात थोड़ी देर के लिए स्थगित रखी गई और नटवर को जनेऊ देने का निश्चय हुआ। मुहूर्त देखा गया। दूसरे दिन ज्योतिषी को बुलाया गया और डेढ़ महीने बाद एक तारीख़ निश्चित हुई। सविता के उत्साह और आनन्द का पार न रहा।

परन्तु बीच में एक अचिंतित घटना आ खड़ी हुई। मुहूर्त देखने के बीसेक दिन बाद जब

अनेक की तैयारियाँ पूरे ज़ोर से चल रही थीं, तब कपिलराय एक दिन पास के गाँव में गये। वहाँ से रात को देर में घर आये। दूसरे दिन सविता ने जो समाचार सुना, उसने इस शांत घर में कलह और अशांति की ज्वाला प्रज्वलित कर दी।

कपिलराय बचपन से रूढ़िभंजक तो थे ही, पर अपने बुज़ुर्गों के आगे वह इस तरह बरतना चाहते थे कि उन्हें आघात न पहुँचे, उनकी भावना न दुखे। बहुत समय से, वे विधवा विवाह के हिमायती बन गये थे। अपने एक परम स्नेही ब्राह्मण की लड़की के पांच वर्ष पहले विधवा हो जाने से कपिलराय को बहुत आघात पहुँचा था। इस लड़की का पिता इस आघात को न सह सका। कुछ समय बाद वह इस संसार को छोड़ कर चल बसा। लड़की के ससुराल वाले दुष्टप्रकृति के थे। इन संयोगों में, कपिलराय ने लड़की के संरक्षक की जगह ले ली। उन्होंने उसे वनिता-श्रम में पढ़ाने के लिए रक्खा, उस समय उसकी आयु १३ वर्ष की थी। कल परसों ही कपिल-राय उसका बम्बई के एक जवान सॉलीसीटर के साथ विवाह करा आये थे।

सिर पर बिजली पड़ने से भी सविता को इतना आघात न पहुँचता, जितना इस समाचार को सुनकर पहुँचा। सबसे पहिले मणि ही उसके क्रोध की ज्वाला में आई।

'छोटी बहू! तू जानती थी या नहीं?'

सलज्ज मणि झूठ न बोल सकी।

'हाँ, जिज्जी!' वह धीरे से बोली।

'हाँ, जिज्जी! कहते शरम नहीं आती?' क्रोधावेश में सविता बोली।

मणि चुप थी। तेरी जीभ के सौ टुकड़े नहीं हो जाते! तूने ही यह सब सिखाया है। इतने बड़े हुए हैं, पर किसी दिन हमसे बिना पूछे एक प्याला पानी भी न पीते थे। यह सब तेरी ही कारस्तानियाँ हैं। छोटी बहू! इसका परिणाम अच्छा न होगा।'

'पर बड़ी बहिन! मेरी बात तो...'

'बड़ी बहिन, बड़ी बहिन! क्या कर रही है? हाय! हाय! अब मैं दुनिया को क्या मुँह दिखाऊँगी।' सविता ने ज़ोर ज़ोर से रोते हुए कहा।

'पर जिज्जी! इसमें उनका क्या अपराध?'

'हाँ, हाँ, उनका क्या अपराध? जाओ, तुम दोनों जने जाओ। निकल जाओ मेरे घर से। तुम्हें कुछ भी लाज है? शर्म है?' सविता ने चंडी का रूप धारण कर लिया था।

'आज तो कपिल यह करके आया है—कल न जाने...'

'जिज्जी! जिज्जी!...' मणि के लिये अब सहन करना असह्य था। उसने अपने को सँभालने का ख़ूब प्रयास किया।

'और कल चमारों के यहाँ...'

'जिज्जी! वे शराब तो नहीं पीते—और दूसरों की तरह रंडियों...'

बस पूरी तैयारी हो चुकी थी। मणि बेचारी को ख़्याल भी न था कि उसके न जानते हुए उसके मुँह से जो शब्द निकल गये थे वे उसका सर्वनाश निकट ला रहे हैं। उसने केवल भोले भाव से कहा था। उसके समवयस्क कई लोग शराब पीते थे, पर कपिलराय ने कभी उसे छुआ न था। यहाँ तक कि बीड़ी भी वे कभी न पीते थे। इसलिए अपना पति औरों से अच्छा है यह बताते, सविता ने उसका उलटा ही अर्थ किया। सविता का पिता शराबी था, यह बात जगप्रसिद्ध थी। सविता ने समझा कि मणि ने उसको खिझाने के लिए, उसे नीचा दिखाने के लिए, शराब की बात छेड़ी है। एकदम क्रोध के आवेश में आँसू बहाती हुई वह बोली—

मेरे पिता को बदनाम करने बैठी है! लानत है तुझे! आज से तेरे घर में रहूँ, तो मुझे गो-हत्या का पाप लगे!

'अरे! अरे! जिज्जी......' मणि खिन्न होकर बोली।

'हाँ, हाँ, गो-हत्या का पाप...' बोलती हुई, आँसू बहाती-बहाती वह चली गई। मणि बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ी। सुखी घर में, मानों विपत्ति के बादल छा गये। सविता सीधी मुकुन्दराय के पास गई। उसे देखते ही मुकुन्दराय चौंक पड़े। वे अभी पूछने ही वाले थे कि सविता बोल उठी—अभी ही अभी, इस घर में से निकलो! इस घर का अन्न-जल भी मेरे लिए हराम है।

'बात क्या है?'

'कुछ नहीं, आज कल की लड़कियाँ मुझे ही समझाने चलीं। मेरे पिता के गड़े मुरदे को उखाड़ने बैठी हैं। मेरी ही लड़की मेरी दुश्मन बन बैठी है।' इतना कहते-कहते तो वह हिचकियाँ लेने लगी।

उस दिन शाम को घर में चूल्हा न जला। किसी ने कुछ न खाया। बच्चों को भी किसी ने न पूछा।

कपिलराय सविता को अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने बड़े भाई से कहा कि इस समय तो जो सविता कहे, वही करना ठीक होगा। जो सौगन्ध खाई है उससे वह पीछे हटनेवाली नहीं।

चुप रहना ही अच्छा था। मुकुन्दराय को भी इसके सिवाय और रास्ता न दिखाई दिया। पड़ोस के तीन चार घर छोड़ कर उनका एक दूसरा मकान था, उसमें दूसरे दिन मुकुन्दराय, सविता और सुशीला चले गये।

सविता का हृदय सहन करते हुए फटा जा रहा था। उसका क्रोध भी उतर रहा था; पर उसका स्वाभिमान उसके रास्ते में आ रहा था। एक बार मुँह से निकले हुए शब्द क्या वापस लौटाए जा सकते हैं? मणि तो बेचारी बीमार पड़ गई। और जनेऊ? आधी से अधिक तैयारियाँ हो चुकी थीं। बहुत-सा सामान पनसारी की दूकान से आ चुका था। बहुत से दूकानदारों को आर्डर भी दिया जा चुका था। न तो कपिलराय को और न मणि को ही कुछ सूझता था। कपिलराय तो सारा नुक़सान उठाकर जब तक भाभी न लौटे, तब तक, जनेऊ का बन्द रखना चाहते थे। मणि का भी यही विचार था। आधे में छोड़ देना ठीक नहीं और इतना ख़र्च करके पैसे बरबाद करने में कोई लाभ नहीं; बड़े भाई की यह सम्मति कपिलराय को स्वीकार करनी ही पड़ी। जनेऊ की तिथि निश्चित रही। दस बारह दिन पहले से ही सगे सम्बन्धी आने लगे। मणि के मायके से अनेक लोग आये। उसकी एक विधवा फूफी अपनी तीन विधवा लड़कियाँ और एक लड़की, दो लड़के और अपने देवर की लड़की को लेकर आई। इन सबका आगत स्वागत करने में मणि झुँझला गई। आए हुए सगे सम्बन्धियों ने देवरानी-जेठानी का झगड़ा नमक मिर्च लगाकर सुना। बहुत-सा सामान गुम होने लगा। चाभी का क़ब्ज़ा फूफी ले बैठीं। मणि को कुछ सूझता ही न था। वह बिचारी एक कोने में सुन्न-मुन्न पड़ी रहती थी। किसी दिन उसने इतना काम न किया था। आज उसका ध्यान बड़ी बहिन के सिवा और कहीं न था। पर क्या किया जाय? दूसरी ओर वह अपने सगे-सम्बन्धियों से तंग आ रही थी। हरएक अपने को बड़ा कार्यकर्ता समझ रहा था। कोई ज़रा भी काम न करता था, पर सबसे अधिक शोर मचाता था। उसमें भी फूफा की बातें तो असह्य हो रही थीं। आँगन में स्त्रियाँ सेवइयाँ बना

रही थीं। सभापति का स्थान फूफी ने ले रखा था। उनकी दोनों लड़कियाँ मन्त्री के स्थान पर थीं। सेवइयाँ बनाते-बनाते उसकी गर्जना सुनाई दी—एक बार नहीं, दस बार नहीं, सौ बार नहीं, हज़ार बार, वह शराबी की लड़की है! काने को कोई काना कहे तो उसमें नाक मुँह क्यों सिकोड़िए?

मणि का सारा शरीर काँप उठा। इतने में फूफी की लड़की के शब्द सुनाई दिये—

'ठीक बात है, यहाँ किसी को ख़बर नहीं है इसलिए भगतानी बनी बैठी थीं। पर मेरी मणि बहिन के सामने उसके सैर सपाटे न चलने वाले थे......'

मणि अधिक न सुन सकी। उसकी आँख में दुःख और क्रोध के आँसू फूट पड़े। वह कपिलराय के पास दौड़ी गई और बोली—'तु.. तुम्हारा क्या विचार है?'

'किस बात पर?'

'जिज्जी को बुला लाओ न!'

'यह कैसे हो सकता है? उन्होंने तो सौगंध खाई है।'

'ऐसी सौगंध होती होगी! तुम भी मेरे दुश्मन ही निकले!' वह फूट-फूट कर रोने लगी—'आज मेरी बड़ी बहिन नहीं है। तभी सब मेरी इस तरह हँसी उड़ा रहे हो।...' कहती हुई वह पास के कमरे में चली गई।

कपिलराय उसका सब दुःख समझ गये। पर इसका यदि किसी के हाथों में उपाय था तो वह मणि ही के। वे पास के कमरे में पलंग पर पड़ी हुई मणि के पास गये। उसके माथे पर हाथ रख कर बोले—'तो तुम्हीं क्यों भाभी के पास नहीं जातीं?'

'मेरी हिम्मत नहीं होती।'

'हिम्मत नहीं होती? उसके हाथ से थाली छीनकर खाते हुए डर न लगता था, और आज क्यों डर लगता है?'

'उस दिन उन्होंने जो कहा था उसे याद करते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मुझे उनके पास जाते हुए शरम आती है।'

'शर्म कैसी? आजतक जो उनके सामने प्रेम-अभिनय किया था, वे क्या सब ढोंग थे? तुम्हें कैसी शर्म? तुम जाओ तो भाभी आए बिना न रहेंगी।' मणि ने कुछ जवाब न दिया। कपिलराय उठ कर चल दिये। इस बीच घर में अव्यवस्था का साम्राज्य फैला हुआ था। रसोइये को दो सेर घी चाहिए तो उसके आगे एकदम पाँच सेर घी की पतीली आ पड़ती। मणि की सुपात्र फूफी को अपनी उदारता दिखाने का इससे बढ़कर कौनसा मौक़ा मिल सकता था! और फिर भी मिलेगा कि नहीं यह प्रश्न था। तो इस शुभ अवसर को वह हाथ से न जाने देना चाहती थी। गाँव के लोग भी इस घटना पर अनेक प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ करते थे। यह सब सविता दूर बैठी-बैठी देखती रहती थी; पर बोल न सकती थी।

उसके पड़ोस में एक विधवा लड़की अपनी विधवा मौसी के साथ रहती थी। दोनों का गाँव में अच्छा नाम न था। उनके कारनामे सुनकर सविता जब तंग आ जाती तब बोल उठती—'इसकी अपेक्षा राँड़...विवाह करके किसी का घर चलाये तो क्या हानि?'

आज उसने इस लड़की को बातें करते सुना—

'मौसी! सुना—बड़ा भारी ख़र्च करने चली है, पर बैंगन के साथ क्या सेम की फली भी शोभा देती है? या आलू? इसका भी उसे ख़याल नहीं है। और कपिलराय तो उस ब्राह्मण की लड़की को भी लाने वाले हैं! ऐसे लोगों की पंगत में कौन खाने आयगा?'

ग़ुस्से से सविता का हृदय जल उठा। उसने मणि के घर की तरफ़ देखा। घर में से एक कुत्ता मुँह में पूरी लेकर निकला। उसके पीछे दूसरा निकला। यह देखकर वह हताश हो गई—

'मेरी बेटी! आज कितनी घबराती होगी! कुत्ते घर में दौड़ादौड़ कर रहे हैं! हे प्रभो! मैंने ऐसी विषम सौगन्ध क्यों खा ली!'

जनेऊ के संस्कार में अब एक ही दिन बचा था। मुन्न-मुन्न मुकुन्दराय अपने घर के आगे बैठे अन्यमनस्क आस-पास देख रहे थे। सविता दरवाज़े पर सुशीला के बाल सँवार रही थी। इतने में मुकुन्दराय की आँख में आँसू देख कर वह चौंक पड़ी, एकदम वह बोल उठी—

'क्यों? तुम्हारी आँखें कैसे भर आईं? क्या हुआ? किसी ने कुछ कहा?'

'मुझे कौन कहेगा और अब क्या कहना बाक़ी रहा है!'

इन तानों का अर्थ न समझ सके, इतनी मूर्ख सविता न थी।

'पर मुझसे सीधी तरह कहो तो!'

'सीधा क्या अपना करम कहूँ? बिचारी मणि मरनेवाली है और तेरे हृदय में पानी नहीं हिलता!'

'कौन? मेरी मणी?' कहती हुई, वह धम्म से दहलीज पर गिर पड़ी।

'हाँ! आज चार दिन से उसने मुँह में पानी भी नहीं डाला है और न एक बार पलक ही मारी है। बुख़ार का तो पूछना ही क्या!'

'हायरे! अब तक मुझे क्यों न कहा था? बिचारी अकेली झुलस रही होगी! बस माफ़ करो अब'—कहती हुई वह अन्दर चली गई और कपड़े बदल कर मणि के घर की ओर चली। स्त्रियों को आश्चर्य हुआ। कपिलराय बाहर बैठे थे। सविता को देख वे आश्चर्य में पड़े। सविता ने आँख के इशारे से पूछा—'मणि कहाँ है?' कपिलराय ने आँख के इशारे से जगह बता दी। किसी से बिना पूछे वह सीधे वहाँ पहुँची।

मणि बुख़ार से छटपटा रही थी। सविता को अन्दर आती देख वह पलंग पर से कूद पड़ी, सविता के गले से लिपट गई। सविता ने उसे छाती से लगाया। मणि ने अपना मुँह बड़ी बहन के आँचल में छिपा लिया। उस पर आँसुओं की वर्षा करती हुई सविता बोली, 'बहिन! मेरी! कितनी दुबली पड़ गई है!' इसके सिवाय दूसरा वाक्य न बोल सकी। आवेग थमने के बाद वह बोली—इतना बुख़ार और मुझे बुलाया भी नहीं?

'पर मुझे जीना होता तब तो कहलाती, न?'

भावनाओं के आघात-प्रत्याघात के कारण मणि का हृदय टूट रहा था। सविता एकदम बोली—पगली! भगवान् तुझे सौ बरस की करें। चल, सो जा अब। एक शब्द भी अब न बोलना। दूसरे लोग समझ रहे हैं कि यह घर स्वामी रहित है; पर मैं कोई मर नहीं गई हूँ।

'जिउजी! मैं अब कुछ नहीं जानती।'

'किस दिन बहिन तूने कुछ भी जाना था! मेरा ईश्वर अभी रूठा नहीं है। तू चंगी हो जा, बस मैं यही माँगती हूँ, और मेरा मुन्ना—वह भी मुझे भूल गया?'

'जिउजी! मेरा मन जानता है कि किस तरह उसे चुप रखा है......'

'मुझसे कोई बात छिपी नहीं है, बहिन!'

इतने में कपिलराय, सत्रह-अठारह वर्ष की एक युवती के साथ कमरे में दाख़िल हुए। ...वती के मुख पर जो निर्दोषता और सरलता थी, उसे सविता क्षणभर देखती रही।

'भाभी! मंगला आज बंबई जाते हुए मणि से विदा लेने आई है। इसी समय की

गाड़ी से जा रही है। मैं उसे स्टेशन पर छोड़कर अभी वापिस आता हूँ। तुम अब सब सँभाल लेना।'

सविता ने झट मंगला को पहिचान लिया। यही वह लड़की थी जिसका कपिलराय उस दिन बम्बई में विवाह करा आये थे। सचमुच वह मंगला थी। सविता ने उसके सिर पर हाथ रखते हुए कहा।—बेटी! ईश्वर तेरा सौभाग्य अखंड रक्खे। और तू सौ बरस जीये। कपिल भाई! तुम्हें शरम नहीं आती, आज इसे बम्बई भेज रहे हो?

कपिलराय का मुँह आनन्द से खिल उठा। मंगला एकदम सविता के पाँवों में गिर पड़ी। मणि फिर सविता के गले में आनन्द से लिपट पड़ी और बोली—जिज्जी!......

एक बार फिर घर में वही शान्ति, वही सुख और आनन्द खिल गये।

हिन्दी का बढ़ता हुआ शब्द-कोष

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

हिन्दी के शब्द-कोष का ज़िक्र करते हुए मुझे हिन्दी भाषा की उत्पत्ति तथा उसके विकास के सम्बन्ध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। यह एक तथ्य है कि संस्कृत और प्राकृत से जन्म लेकर जो भाषा उर्दू की सहेली और हमजोली के नाते पिछली अनेक शताब्दियों में खड़ीबोली का स्वरूप धारण करती गई, वही हिन्दी आज भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा के रूप में विकसित होती हुई दिखाई दे रही है।

हिन्दी में इस समय क़रीब ९० हज़ार शब्द हैं। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक हिन्दी के सम्पूर्ण शब्दों की संख्या इसकी अपेक्षा काफ़ी कम थी। और कौन कह सकता है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में प्रवेश करने के साथ-साथ हिन्दी शब्द-कोष का आकार अब की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ नहीं जायगा। अंग्रेज़ी के सम्पूर्ण शब्दों की संख्या इस समय चार लाख से ऊपर है। संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं की शब्द-संख्या भी लाखों में है। इस दशा में, कोई वजह नहीं कि हिन्दी के शब्दों की संख्या क्रमशः स्वाभाविक रूप में बढ़ती चली न जाय।

आज जो हिन्दी बोली या लिखी जाती है, उसे अनेक लोगों की राय में, खिचड़ी भाषा कहना चाहिए। उसमें कोई शब्द संस्कृत का है, कोई उर्दू का, कोई फ़ारसी का, कोई अरबी का, कोई पोर्चुगीज़ का, कोई अंग्रेज़ी का और कोई भारतवर्ष की अन्य प्रान्तीय भाषाओं का। यदि आप हिन्दी के किसी वाक्य को लेकर छापेखाने के छोकरों (Distributers) के समान उसका विभाजन (Distribution) शुरू कर दें तो आप देखेंगे कि उसके प्रायः सभी शब्द विभिन्न भाषाओं के केसों (Cases) में वापस लौटते जायेंगे। आपके पास बाक़ी बच रहेंगी सिर्फ़ क्रियाएँ और विभक्तियाँ। और इनमें से भी अनेक ऐसी होंगी, जिनके सम्बन्ध में उर्दू के दावे को झूठा साबित करने में हमें काफ़ी प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ेगी।

उदाहरण के लिए मैं अपनी मेज़ पर रखी किसी हिन्दी पुस्तक का एक वाक्य, जो पुस्तक खोलते ही मेरे सामने आ गया है, यहाँ उद्धृत करता हूँ—'कई मिनटों के बाद आख़िर ऊपर की मंज़िल वाली एक खिड़की खुली और उसमें से झाँक, दूकानवाले ने नीचे की ओर देखा। उसे दिखाई दिया कि एक अर्धनग्न-सी मनुष्य-मूर्त्ति लालटेन हाथ में लिए उसके बरामदे के बाहर खड़ी है।'

इन वाक्यों में 'कई, बाद, आख़िर, मंज़िल, खिड़की, दूकान' आदि शब्द उर्दू और

फ़ारसी के हैं। 'मिनट' शब्द अंग्रेज़ी का है। 'लालटेन और बरामदा' शब्द पोर्चुगीज़ के हैं। अर्धनग्न, मनुष्य, मूर्त्ति आदि शब्द संस्कृत के हैं।

यह सब होते हुए भी, यह कोई नहीं कह सकता कि हिन्दी कोई भाषा नहीं है। सच बात तो यह है कि वर्त्तमान युग के सभ्य-समाज में बोली जानेवाली सभी भाषाएँ वास्तव में खिचड़ी भाषाएँ हैं। और वर्त्तमान संसार की सभी भाषाओं की यह खिचड़ी है भी बड़ी मज़ेदार। क्या यह सच नहीं कि वर्तमान अंग्रेज़ी का शब्दकोष यदि ग्रीक, रोमन, हिब्रू और संस्कृत के सैकड़ों-हज़ारों शब्दों को अपने में खपा न सकता तो वह आज इतना समृद्ध कभी न बन पाया होता ? यही बात जर्मन, फ़्रैंञ्च, रशियन आदि संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जिन लोगों को किसी अंग्रेज़ी ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद करने का कभी अवसर मिला है, वे लोग इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि हिन्दी शब्द-कोष में शब्दों की कमी के कारण साहित्यिकों को कितनी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता है। अंग्रेज़ी के पाँच-पाँच और छः-छः शब्दों के लिए हिन्दी के एक ही शब्द से काम चलाना पड़ता है। विशेष कर मनोवैज्ञानिक भावप्रकाशन के लिए तो हिन्दी में शब्दों की बहुत कमी है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यासकार टॉमस हार्डी की कहानियों का अनुवाद करने के लिए अनेक स्थानों पर मुझे अंग्रेज़ी के एक शब्द का भाव हिन्दी में देते हुए एक पूरा वाक्य तक लिखना पड़ता है। उदाहरण के लिए मैं हिन्दी के आचार्यों और पण्डितों से यह पूछना चाहता हूँ कि वे Sentimental, sensitive, emotional, moody, touchy, idiocincratic temper आदि मनोवैज्ञानिक शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची बताने की कृपा करें। ये शब्द इस तरह के हैं, जिनसे साहित्यिकों का प्रति दिन वास्ता पड़ता है।

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वर्तमान हिन्दी (खड़ी बोली का प्रचलित स्वरूप) अभी अपने विकास की द्वितीय अवस्था में है। यह सच है कि उसका बचपन समाप्त हो गया है। परन्तु आधुनिक हिन्दी की यह किशोरावस्था ही तो उसकी वृद्धि का उपयुक्त समय है। मुझे मालूम है कि हिन्दी के अनेक पण्डितों की राय में हिन्दी में एक भी नए शब्द का समावेश करना हिन्दी का रूप विकृत करने के समान है। परन्तु ऐसे लोग, सम्भवतः अपने अनजाने में ही, हिन्दी के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हो रहे हैं। यह तो वैसी ही बात है जैसे पन्द्रह-सोलह बरस के एक बालक को इस उद्देश्य से फ़ौलाद के फ़्रेम में बन्द कर दिया जाय कि बाहर का आहार पाकर उसका शरीर बढ़ने न लगे! यह एक आशा का चिह्न है कि हिन्दी में इस तरह के अपरिवर्तनवादियों की संख्या बहुत कम है।

अब प्रश्न यह है कि हिन्दी के नए पर्यायवाचियों और शब्दों का स्रोत क्या हो। मेरी राय में हिन्दी के नए शब्दों के स्रोत निम्नलिखित हो सकते हैं—

१. संस्कृत।

२. उर्दू।

३. भारतवर्ष की प्रान्तीय भाषाएँ।

४. वे विदेशी शब्द जो सर्वसाधारण जनता की बोल-चाल का भाग बनते जाते हैं।

हिन्दुस्तान के लगभग ८० प्रतिशत लोग जो भाषाएँ बोलते हैं, उनका स्रोत संस्कृत है। और यह हमारे देश के लिए सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष की अधिकांश भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा के पास शब्दों का अक्षय कोष है। संस्कृत का निर्माण इतने वैज्ञानिक आधारों

पर किया गया है कि उसमें शब्दों की कमी नहीं हो सकती। वहाँ शब्दों की अक्षय टकसाल है। इस टकसाल से जब चाहे, जितने नए शब्द गढ़े जा सकते हैं। संस्कृत में लगभग तीन हज़ार धातुएँ हैं और उनके आधार पर चाहे जितने नए शब्द तैयार किए जा सकते हैं।

संस्कृत जैसी वैज्ञानिक भाषा को उसके व्याकरण की दुरूहता तथा कतिपय अन्य कारणों ने जिस तरह उसे अप्रचलित, बूढ़ी और पुरानी भाषा बना दिया, उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है। इस बात से बहुत कम लोगों का मतभेद होगा कि हिन्दी के लिए नए पारिभाषिक (Technical) शब्द हमें संस्कृत से ही गढ़ने चाहिएँ। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि संस्कृत जैसी समृद्ध और वैज्ञानिक भाषा से हमें जितने अच्छे और माक़ूल शब्द मिल सकते हैं, वैसे शब्द संसार की अन्य किसी भाषा से शायद ही गढ़े जा सकें। दूसरा यह कि भारतवर्ष की अधिकांश भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं अथवा उन पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है, इस दशा में बड़ी आसानी के साथ ऐसा प्रबन्ध किया जा सकता है कि संस्कृत के वे पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्द हिन्दी के साथ ही साथ बंगाली, गुजराती, मराठी और पंजाबी में भी बढ़ते जायँ। मेरा तो ख़्याल है कि दक्षिण की भाषाओं के लिए भी उन पारिभाषिक शब्दों को अपना लेना कुछ बहुत कठिन न रहेगा, क्योंकि उन पर संस्कृत का गहरा प्रभाव सदियों से विद्यमान है। इस उद्देश्य से कभी अन्तर्प्रान्तीय पारिभाषिक शब्द-समिति की स्थापना भी की जा सकेगी।

हिन्दी अपने विकास में संस्कृत की अनेक प्रथाओं से मदद लेगी और इस दृष्टि से अतिरिक्त शक्तियाँ (Residuary powers) संस्कृत में ही रहेंगी, इस बात से भी मुझे इनकार नहीं है। तथापि हिन्दी के विकास में अन्य भाषाओं से, विशेषकर उर्दू से हमें जो सहायता मिलती है, उसे स्वीकार किए बिना हम हिन्दी को व्यापक और प्रभावशालिनी नहीं बना सकते।

हिन्दी और उर्दू को दो बहनें कहना भी कुछ अत्युक्ति न होगी। दोनों का विकास एक-सी दशाओं और लगभग एक ही समय में हुआ है। उर्दू छोटी बहन है और हिन्दी बड़ी। इन दोनों का मुख्य भेद लिपि सम्बन्धी है। खड़ी भाषा पर उर्दू मुहावरों का जो प्रभाव पड़ा है, उसने वर्तमान हिन्दी को अधिक सजीव और सुन्दर बना दिया है, इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। मेरा तो ख़्याल है कि हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के पथिकों में से यदि सामुदायिकता की संकुचित और विषैली मनोवृत्ति नष्ट हो जाय तो उर्दू का सम्पूर्ण शब्द-कोष बड़ी आसानी के साथ हिन्दी में पचा लिया जा सकता है।

जिस दिन यह बात हो जायगी, उस दिन हम देखेंगे कि हमारी मातृ-भाषा हिन्दी सहसा बहुत अधिक समृद्ध और बलशालिनी बन गई है।

बीसवीं सदी में हिन्दी-आन्दोलन के अनेक नेताओं तथा साहित्यिकों ने इस तथ्य को समझा है और इन्होंने हिन्दी में सैकड़ों—हज़ारों उर्दू शब्दों और मुहावरों को खपा लेने का सफल प्रयत्न भी किया है। वर्तमान हिन्दी साहित्य के तीन प्रमुख साहित्यिकों का नाम इस सम्बन्ध में पेश किया जा सकता है, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पण्डित पद्मसिंह शर्मा और मुन्शी प्रेमचन्द। कौन कह सकता है कि वर्तमान हिन्दी पर इन तीनों महान् साहित्यिकों की गहरी छाप नहीं है ?

उर्दू का अधिकांश शब्द जो उत्तर भारत की सर्वसाधारण जनता में बोले और

समझे जाते हैं, अपने में खपाकर हिन्दी निस्सन्देह अधिक सम्पन्न और सजीव बन सकेगी। परन्तु यह कार्य भी होगा, प्रयत्न-पूर्वक ही—धीरे-धीरे और समझदारी के साथ।

भारतवर्ष के अनेक राजनीतिक नेताओं ने इस सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण हम लोगों के सम्मुख पेश किया है। इनका कहना है कि न हिन्दी पर बल दो न उर्दू पर। दोनों भाषाओं के आसान शब्द लेकर हिन्दोस्तानी' नाम से एक नई भाषा की सृष्टि करो।

यह हिन्दोस्तानी की बात बहुत कोशिश करने पर भी मैं पसन्द नहीं कर सका। इस हिन्दोस्तानी को महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरू जैसे इस युग के महापुरुषों का आशीर्वाद प्राप्त रहने पर भी, मेरी राय में साहित्यिक दृष्टि से सिर्फ़ ऐसे लोग ही इस नई हिन्दोस्तानी के पैरोकार हो सकते हैं, जिन्हें हिन्दी या उर्दू के साहित्य से कुछ विशेष या गहरा वास्ता न हो। यह जानते हुए भी कि हिन्दी का शब्द-कोष अभी अमीर नहीं है यह सलाह देना कि हिन्दी में आप संस्कृत के शब्दों का प्रयोग इसलिए न कीजिए क्योंकि सर्वसाधारण किसान उन्हें अपने दैनिक व्यवहार में इस्तेमाल नहीं करते अथवा उत्तर भारत की एक महत्त्वपूर्ण जमात उन्हें नापसन्द करती है,—एक साहित्यिक की दृष्टि में उसी तरह की बात है, जिस तरह किसी बालक की कोई महत्त्वपूर्ण नस काट देना। आप किसानों के लिए लिखिए, आप मज़दूरों के लिए लिखिए और आप आसान भाषा में लिखिए, यह सब ठीक है। परन्तु इस कार्य के लिए हिन्दी को हिन्दोस्तानी का नाम देने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई, यह मैं समझ नहीं पाया।

वास्तविक समस्या तो लिपि के प्रश्न की थी। जहाँ तक हिन्दी और उर्दू के शब्द-कोष, प्रयोग और मुहावरों को एक दूसरे के निकट लाने का सवाल है, हिन्दी—सम्भवतः उर्दू के भी साहित्यकार इस बात की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं और पिछली तीन दशाब्दियों में ये दोनों बहन-भाषाएँ एक-दूसरे के बहुत निकट आ गई हैं। राजनीतिक नेता यदि इस ओर दख़ल न भी देते तो साहित्यिक-भारतवर्ष का कुछ विशेष नुक़सान न होता। असली गुत्थी तो लिपि का सवाल है और उसे हल करने की ओर जैसे किसी ने ध्यान ही नहीं दिया।

मैं अनुभव करता हूँ कि मुझे अपने विषय से इतनी दूर नहीं आना चाहिए था परन्तु ये बातें भी कम से कम अप्रासंगिक नहीं थीं।

हिन्दी शब्द-कोष को समृद्ध बनाने के लिए तीसरा स्रोत इस देश की प्रान्तीय भाषाएँ हैं। इस समय तक युक्तप्रान्त, राजपूताना, दिल्ली, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रान्त—इन प्रान्तों की मुख्य भाषा हिन्दी है। पंजाब, बम्बई और भारतवर्ष की अधिक से अधिक रियासतों में हिन्दी अच्छी तरह समझी जाती है और इन प्रान्तों में कुछ अंश तक हिन्दी का प्रचलन भी है। कलकत्ता के निवासियों में चार लाख व्यक्ति हिन्दी बोलने वाले हैं और इसी कारण कलकत्ता हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ है। मद्रास नगर तथा प्रान्त में भी हिन्दी का क्षेत्र तैयार किया जा रहा है। सीमाप्रान्त की राजधानी पेशावर में हिन्दी जाननेवाला व्यक्ति बख़ूबी अपना काम चला सकता है। इन परिस्थितियों में हिन्दी को निस्संकोच हो कर भारतवर्ष की सबसे अधिक व्यापक भाषा कहा जा सकता है।

हिन्दी की इस व्यापकता का सीधा प्रभाव उसके स्वरूप तथा शब्द-कोष पर भी पड़ रहा है, और यह स्वाभाविक भी है। एक प्रान्त की हिन्दी दूसरे प्रांत से भिन्न होती चली जा रही है। गुजराती, बंगाली, मराठी, पंजाबी आदि प्रांतीय भाषाओं का हिन्दी पर प्रभाव पड़ रहा है और हिंदी-भाषी सभी प्रांतों में विभिन्न शैली की हिन्दी का प्रचलन बढ़ रहा है। पंजाब में प्रयुक्त होनेवाली हिंदी का मज़ाक उड़ाते, मैंने अपने अनेक युक्तप्रांतीय मित्रों को सुना है। बिहारी-हिंदी

का मज़ाक दिल्ली में उड़ाया जाता है और मराठी प्रभाव वाली मध्यप्रांतीय हिंदी का कलकत्ता में।

प्रान्तीय भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी में ख़ूब अच्छी तरह अपना लिए गये हैं। बंगाली 'ठो' शब्द अदद के लिए प्रयुक्त होता है। सम्पूर्ण बिहार और लगभग एक तिहाई युक्तप्रान्त में यह शब्द अब दैनिक व्यवहार का भाग बन गया है। इसी तरह अन्य भी अनेक बंगाली, मराठी, पंजाबी और गुजराती शब्द अब हिन्दी शब्द-कोष की भी शोभा बढ़ा रहे हैं।

मेरा ख़्याल है कि प्रान्तीय भाषाओं से हिंदी का शब्द-कोष समृद्ध बनने में एक बहुत बड़ी बाधा इस देश में अंग्रेज़ी भाषा का अनुचित और अननुपातिक आधिपत्य है। हमारे देश में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या वैसे ही कम है। भारतवर्ष की लगभग ९० प्रतिशत जनसंख्या किसी भी भाषा की वर्णमाला तक नहीं जानती। यह ९० प्रतिशत जनसंख्या हमारे देश की भाषाओं—जिनमें हिंदी प्रमुख है—को समृद्ध करने में कहाँ तक सहायक हो सकती है, इस बात का अन्दाज़ा आसानी के साथ लगाया जा सकता है। शेष १० प्रतिशत जनता में से जिन लोगों में थोड़ी-बहुत साहित्यिक रुचि उत्पन्न हो चुकी है उनका एक बहुत बड़ा भाग अपनी प्रान्तीय भाषाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, और हिन्दी वालों में तो छोटेपन की इस संक्रामक बीमारी का विशेष प्रकोप है। हम लोग जब अपनी मातृ-भाषा के साहित्य की दरिद्रता, विपन्नता और दुर्बलता की चर्चा करते हैं तो इस बात को भूल जाते हैं कि यह तो हमारे अपने ही मस्तक का लांछन है। हिन्दी का साहित्य यदि दरिद्र है, तो उसे समृद्ध बनाना हम लोगों का ही तो काम है?

इस देश के पढ़े-लिखे लोगों में आज जो भाषा दैनिक व्यवहार में लाई जाती है, उसे 'खिचड़ी-भाषा' भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस भाषा के भाग (Components) दाल और चावल की तरह आपस में मिल नहीं जाते। लाहौर के कॉलेजों में जब मैं अंग्रेज़ी शब्दों को पंजाबी और उर्दू की क्रियाओं के साथ स्थानीय मुहावरों में गूँथ कर बोले जाते सुनता हूँ, तो यह समझ में नहीं आता कि इस भाषा को कौन सा नाम दिया जा सकता है। यही दशा प्रायः सम्पूर्ण देश की पढ़ी-लिखी जनता की है। अपने को कुलीन कहने या समझने वाले अनेक घरानों ने अब अपने पारिवारिक बोलचाल की भाषा भी अंग्रेज़ी को ही बना लिया है। यह दशा निस्सन्देह चिन्ताजनक है। परन्तु इस लेख में इन परिस्थितियों का ज़िक्र मैंने सिर्फ़ यही बात सिद्ध करने के लिए किया है कि भारतवर्ष की, विशेष कर हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों की पढ़ीलिखी जनता में बोलचाल के लिए कोई स्टैण्डर्ड हिन्दी प्रचलित न रहने का एक प्रभाव हिन्दी के बढ़ते हुए शब्द-कोष को समुचित ढंग से विकसित न होने के रूप में भी पड़ रहा है। अंग्रेज़ी का प्रभुत्व हमारे देश की भाषाओं को ठीक ढंग से पनपने नहीं दे रहा है। एक विदेशी भाषा को ही सारी महत्ता देकर हमारे देश के पढ़े लिखे लोग अपने दैनिक व्यवहार के लिए किसी स्टैण्डर्ड हिंदी की जब कोई विशेष आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते, तब अन्य प्रान्तीय भाषाओं से शब्दों और प्रयोगों के आदान-प्रदान का सवाल ही कहाँ उठता है।

बाक़ी रहे विदेशी शब्द। पोर्चुगीज़ के मेज़, कुर्सी, चमचा, बरामदा, लालटेन, चाकू आदि बीसों शब्द हिन्दी का भाग बन चुके हैं। अंग्रेज़ी के भी सैकड़ों शब्द इस समय तक हिन्दी में खपा लिए जा चुके हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी के वर्तमान लेखकों की शैली, मुहावरों पर अंग्रेज़ी का बहुत स्पष्ट प्रभाव पड़ रहा है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि अंग्रेज़ी के और कितने शब्द हिन्दी में खपा लिए जा सकेंगे। इस युग में संसार भर की उन्नत भाषाएँ एक दूसरे से लाभ उठा रही हैं और इसमें बुराई कुछ भी नहीं है।

हिन्दी का शब्द-कोष बढ़ रहा है और अभी उसके बढ़ने की रफ़्तार और भी तेज़ हो

जाने की सम्भावना है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

१. संस्कृत में 'अमर कोष' जैसी डिक्शनरियों ने पर्यायवाची शब्दों के सम्बन्ध में जिस दूषित मनोवृत्ति को जन्म दिया है, उसका प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा है। अंग्रेज़ी जैसी उन्नत भाषा में एक शब्द का सिर्फ़ एक ही अर्थ होता है। शेक्सपीयर द्वारा प्रयुक्त किए गये किसी एक शब्द के बदले आप कोई दूसरा शब्द शायद ही सुझा सकें। और मेरी राय में किसी भाषा के स्वास्थ्य की पहिचान ही यही है। एक उन्नत भाषा के प्रत्येक शब्द का अपना एक इतिहास होना चाहिए, उसका एक ही निश्चित अभिप्राय होना चाहिए। संस्कृत में पत्थर और शिलाओं के नाना भेदों के लिए जो क़रीब एक दर्जन शब्द थे, अमरकोष-कार ने उन सब को पत्थर का पर्यायवाची बनाकर उन शब्दों के जान की हत्या कर दी। 'पंकज-लोचन' जैसे हास्यास्पद शब्द इसी मनोवृत्ति का परिणाम हैं।

आज हिन्दी का शब्द-कोष समृद्ध करते हुए हमें नए और पुराने प्रत्येक शब्द का अर्थ और प्रयोग निश्चित कर देना चाहिए। पर्यायवाची शब्दों के सूक्ष्म भेदों को समझे बिना हम अपने शब्द-कोष को सम्पन्न कदापि न बना सकेंगे, उसमें अनावश्यक भीड़-भाड़ चाहे भले ही कर लें।

यहाँ सिर्फ़ एक उदाहरण देना ही काफ़ी है। संस्कृत का हिम शब्द आस्मान से गिरने वाली बरफ़, जिसे अंग्रेजी में 'स्नो' (Snow) कहते हैं, प्रयुक्त होता है। इधर उर्दू का बरफ़ शब्द जमाई गई आइस (Ice) तथा आस्मान से गिरने वाली 'स्नो' दोनों के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है। अब अच्छा यह होगा कि हिन्दी में 'हिम' शब्द 'स्नो' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय और 'बरफ़' शब्द 'आइस' के अर्थ में।

इसी तरह के पचासों उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं।

२. दूसरी बात इस सम्बन्ध में तरतीब (Harmony) बनाए रखने की है। नए-नए और किसी की समझ में न आनेवाले शब्दों का अंधाधुन्ध प्रयोग तो सर्वसाधारण हिन्दी-जनता भी सहन न कर सकेगी। इसलिए इस बात से तो मुझे भय प्रतीत नहीं होता। वास्तविक समस्या विभिन्न प्रान्तों के साहित्यिकों में शब्द-कोष सम्बन्धी व्यवस्था बनाये रखने की है। यह बात तभी हो सकेगी जब हिन्दी के विभिन्न प्रान्तों में रहनेवाले साहित्यिक एक-दूसरे से सजीव सम्बन्ध बनाये रख सकेंगे। नए शब्दों को अपनाने में जल्दबाज़ी या धाँधली तो कभी सफल न हो सकेगी।

३. हिन्दुस्तान की जनता में साम्प्रदायिकता का विष बहुत गहराई तक व्याप्त है। प्रान्तीयता नाम का एक नया मर्ज़ भी इन दिनों हमारे देश में बढ़ रहा है। हिन्दी के शब्द-कोष का विकास करते हुए हमें इन दोनों विषों और कीटाणुओं से सावधान रहना चाहिए। बल्कि हिन्दी तो अनेक प्रान्तों में सच्चा सौहार्द्र बढ़ाने में सहायक हो सकती है।

हिन्दी के शब्द-कोष में कौन-कौन सा नया शब्द लिया जाय, इसका अन्तिम निर्णय तो आख़िर हिन्दी-जनता के ही हाथ में रहेगा। साहित्यिक लोग अपनी रचनाओं द्वारा नए शब्दों और नए मुहावरों का परिचय हिन्दी जनता से करायेंगे और वह चाहे जिस शब्द या मुहावरे को स्वीकार करेगी और चाहे जिसे अस्वीकार कर देगी। जो शब्द या मुहावरा इस खिचड़ी में आकर पूरी तरह घुलमिल जायगा वह तो ठीक, और जो कचरे की तरह कच्चा रहेगा, अथवा दाँतों को लगेगा, वह इस जगह स्थान न पा सकेगा।

हमारी भाषा के साहित्यिकों, पण्डितों, और आचार्यों का यह कर्तव्य है कि वे इस प्रक्रिया (Process) को समझें, इसे सहानुभूति की दृष्टि से देखें और इस पर नियन्त्रण रखें।

क्षमा

उषादेवी मित्रा

उस दिन भी उसे निद्रारहित रजनी काटनी थी—नित की भाँति रोते, कलपते, स्मृति को बटोरकर, दीर्घ श्वास से आँसू कलंकित करते हुए ; किन्तु हुआ उसका उल्टा । द्वार पर अचानक आकर खड़ा हो गया वीरेश्वर । धीरे से उसने पुकारा—माँ, अरी अम्मा, सुनती नहीं ?

विधवा जाह्नवी के हृदय में एक ज़ोर का धक्का लगा । दुःख, वेदना से पीड़ित उसके अन्तर की मरणोन्मुख नारी उत्सुक होकर बाहर आने के लिए विकल हो पड़ी; किन्तु फिर भी उसने कहा—आओ, बेटा ! बेटा कैसा ? बेटा तो उसका धीरेन्द्र था न ? वही धीरेन्द्र, एक दिन जो माँ को देखे बिना रह नहीं सकता था, जिसे उसने जन्म दिया था और जो उसकी गोद में हँस-खेलकर, लिख-पढ़कर चौबीस वर्ष का स्वस्थ-सुन्दर युवक हो गया था, और रंगून में नौकरी पाकर चला गया था। और उसके बाद, बस वही तो है एक करुण कहानी । जिस दिन उसे घर लौटना था—वर्षों बाद माँ की गोद में लौटना था, ठीक उसी दिन माँ की गोद सूनी हो गई थी । उसे हैज़ा हो गया और जहाज़ पर ही वह चिर-निद्रा में अचेत हो गया । इधर माता सोलहो व्यञ्जन बनाए उसकी प्रतीक्षा में बैठी, बेटी इला को बार-बार द्वार पर दौड़ा रही थी—'इला देख तो गाड़ी दरवाज़े पर लगी न ? हाँ-हाँ, मैं कहती हूँ गाड़ी ज़रूर रुकी ।' तो उस बार गाड़ी आई ज़रूर थी और एक युवक रोता, कलपता, माँ, माँ पुकारता उतरा अवश्य था ; किन्तु नहीं, वह उसका धीरेन्द्र नहीं, वरन् धीरेन्द्र का मित्र और मृत्यु की सूचना देने वाला—वीरेश्वर था—हाँ उसी की मृत्यु की ख़बर लेकर वह आया था । बस उसी दिन से वीरेश्वर फिर रंगून लौटकर नहीं गया । पुत्र-हीना जननी की सूनी गोद का अधिकारी वह बन बैठा । रहता वह अपने घर था किन्तु इस छोटे परिवार की ख़बर सदा लिया करता था । उस परिवार में था ही कौन, केवल माँ और बेटी ! पुकारा तो जाह्नवी ने—आओ बेटा ! किंतु उसका मन जाने कैसा कर उठा । बेटा ? हाँ फिर यह भी तो उसका बेटा है, न ? है, है, निश्चय है, धीरेन्द्र की तरह वीरेश्वर भी उसका बेटा है, किंतु फिर भी इस बार जाह्नवी ने पूर्ण शक्ति से पुकारा—आओ, बेटा !

वीरेश्वर उसके निकट बैठ गया—कब से पुकार रहा हूँ, तुम सुनती क्यों नहीं अम्मा ?

'सुनती तो थी ।'

'इला कहाँ गई ?'

'उस कमरे में पढ़ रही है । इतनी रात गये कैसे आये ?'

'जी चाहा—चल दिया—तुम्हें देखने। अम्मा, अरी ओ अम्मा, सुन तो सही। कल पर्व है न, कुछ पकवान भी बनाए कि नहीं?'

जाह्नवी बोली—बहुत धीरे बोली—क्या बनाऊँ? जी नहीं चाहता वीरेश्वर! मेरे लिए दिन-रात बराबर है, कैसी ख़ुशी और कैसा आह्लाद!

'और हम क्या तुम्हारे कोई नहीं हैं? इला और मैं, हम दो जो अभी जी रहे हैं। हम दोनों जब मर जायँ, तब बैठी दिन-रात रोया करना, देखने न आवेंगे!'

माता सिहर उठी—ऐसी बात मुँह से न निकालो, वीरेश्वर! भला आज के दिन कोई ऐसा कहता है?

'तुम्हीं तो कहलाती हो अम्मा।'

जाह्नवी खिन्न हँसी हँसी—अच्छा ले, अब न कहूँगी। तो क्या-क्या बनाऊँ?

'पूरी, खीर, सेव, गुझिया और—और......'

द्वार पर से इला खिलखिला पड़ी—तो कहिए आपके पेट में राक्षस घुस बैठा है!

'क्या मैं अकेला खाऊँगा री पगली! मेरे दो मित्र विपिन और सन्तोष कल यहाँ भोजन करेंगे न!'

'उन्हें निमंत्रण दे आये हो?'

'हाँ! जानती हो इला, वे कौन हैं? विपिन एक सिनेमा का मालिक है और सन्तोष है डिरेक्टर।'

अत्यन्त प्रसन्नता से इला ने कहा—सच? तो वह दोनों हमारे घर भोजन करने आयेंगे?

'हाँ-हाँ आयेंगे। चलो माँ, आज तुम्हें सिनेमा दिखला लाऊँ। और अब तो रोज़ आया करना।'

जाह्नवी ने कहा—नहीं भैया, मुझे अच्छा नहीं लगता, धीरेन एक बार ले गया था, बस।

विस्मय-पूर्ण नेत्र से इला कह उठी—न जाने अम्मा का मन ईश्वर ने कैसा बनाया है, न ख़ुद देखेंगी न दूसरों को देखने देंगी। काम करो, खाओ और सोओ! कभी ख़ुशी का अवसर आया भी तो आप झट टाल देती हैं।

उत्तर जाह्नवी के कंठ में आया किन्तु वह उसी क्षण चुप हो रही। मुश्किल से यह बची तो बच पाई है। इसे कुछ कहते-सुनते उसका मातृ-हृदय वेदना, संकोच से सिकुड़-सा जाता है और उसी मातृ-हृदय की छाया में उस अन्ध प्रेम के नीचे उस दिन इला के खेलने की एक-एक गुड़िया स्वार्थी, कटु भाषी, उच्छृंखल-सी हो रही थी।

चाहे जाह्नवी चुप रहे किन्तु इला ने तो जैसे सौगन्ध खा ली थी कठोर, रूखा और कटु कुछ कहने के लिए। वह कह चली—आप बूढ़ी हो गई हैं तो दुनिया आपकी दृष्टि में बूढ़ी बन बैठी है। अब तुम्हारे दिन निकल गए, हँस-खेल चुकी हो, अब मुझे भी तो कुछ देख-सुन लेने दो।

'क्या बकती है री इला?' वीरेश्वर ने फटकारा 'ज़रा सी बात के लिए किसे क्या कह रही है?'

जान्हवी की हँसी मानो आर्त हाहाकार-सी घर के कोने-कोने में छिपने लगी—'नहीं बेटा वह ठीक कह रही है।'

'ठीक कह रही है!' वीरेश्वर के इस विस्मित स्वर को सुनकर जाह्नवी ने मुँह फेर

लिया—'ठीक नहीं तो क्या, मुश्किल से एक यही तो बच पाई है। मैं अपने दुःख के बोझ से ऐसी दबी रहती हूँ कि इसकी देख-सँभार भी नहीं कर पाती। चलो बेटी मैं चलती हूँ।'

(२)

जीवन में इला प्रथम बार ही सुखी, तृप्त हो रही थी। उसके इस अठारह वर्ष की अवस्था में उस दिन-सा आनन्द कभी न आया था। जिस स्थिति में रहने के लिए उसकी आत्मा सदा लालायित रहती थी, उस स्थिति को जिस दिन उसने देखा—उसी पल में वह उसे पहचान भी गई—हाँ, यही है, यही, यही ! व्यग्र बाँहें बढ़ाकर उसने उसी पल उसे आलिङ्गनाबद्ध करने में द्विविधा मात्र न की।

हर रोज़ अब इला सिनेमा जाती। विपिन और सन्तोष उसके घर जुटे रहते। नित्य नवीन उपहार से उसके बॉक्स-ट्रङ्क भर जाते। अब उसे सेन्ट, पाउडर, क्रीम के लिए माता के निकट धरना नहीं देना पड़ता।

जाह्नवी उस ओर ध्यान देती थी या शायद न भी देती थी। इला को संतुष्ट देखकर वह तृप्त होती, मन में विचारती—अभागिन बेटी किसी तरह सुखी तो हो ! मैं माता तो अनायास बन बैठी किन्तु बच्ची को सुख से कभी न रख सकी। ईश्वर की करुणा है जो विपिन और सन्तोष उससे बहन-सा स्नेह करने लगे हैं। माँ होकर भी मैं सन्तान को सन्तोष न दे सकी। बेचारी लड़की सिनेमा देखने के लिए सदा लालायित रहती थी। ईश्वर सन्तोष और विपिन को दीर्घायु करे, दिन पर दिन उनकी उन्नति हो।

और इला ? वह तो उन दिनों शायद माता का अस्तित्व भी भूल बैठी थी। वर्तमान था मात्र विपिन, सन्तोष, सिनेमा और वेष-भूषा !

सन्ध्या के पहले वह स्नान करती और आईने के सामने खड़ी शृङ्गार करती। घंटों बीत जाते, उसकी ख़बर तक उसे न होती। दस बार कङ्घी करती, बाल सँवारती, आँख के सुरमे को बार-बार पोंछती, लगाती। कभी द्वार रुद्ध कर आईने के सामने खड़ी मुस्कराती और उस मुस्कराहट को अपने आप देखती—मुग्ध, विस्फारित दृष्टि से। देख-देख कर स्वयं तृप्त न हो पाती, फिर देखती—और फिर देखती। कभी नृत्य की भङ्गिमा से खड़ी हो जाती, कभी नृत्य करती, कभी ऐक्टिङ्ग करती।

धीरे-धीरे इला अपने परिचित घर-द्वार को भूल गई। शायद माता को भी भूल गई। इतना ही नहीं, वरन् सिनेमा जगत उसका अपना हो उठा। उसे लगता उस जगत से वह आजन्म परिचित थी और गत जीवन तो एक दुःस्वप्न था।

उसका जी मचल पड़ा—अपने उस परिचित जगत में जाने के लिए।

गहने-कपड़े पहनकर उस दिन इला प्रस्तुत बैठी थी, सिनेमा जाने के लिए। केवल विपिन के आने की देर थी। ऐसे समय एक अभिशाप की नाईं कमरे में आकर खड़ा हो गया, वीरेश्वर—इला ! उसने पुकारा। नहीं, दूसरे दिनों-सा उस दिन उसका स्वर कोमल नहीं, तीव्र था। अत्यन्त रूखा।

'क्या कहते हो ?'

'तुमसे तो ऐसी आशा न थी, इला !'

'याने ?'—एक बार इला घबराई और फिर दूसरे पल वह सहमी।

'मैं कहता हूँ, आज से विपिन, सन्तोष इस घर में नहीं आने पावेंगे और तुम्हें सिनेमा जाने की आज्ञा न मिलेगी।'

'क्यों ?'

इस निर्भीक प्रश्न को सुनकर वीरेश्वर विस्मित हुआ, बोला—पहले नहीं जानता था कि वे ऐसे पशु हैं।

'वे पशु नहीं हैं। पशु कहीं जंगल में नहीं होता, वीरेश्वर बाबू ! वह तो मनुष्य के मन में रहता है। संकीर्णता के भीतर उसका जन्म है। विपिन बाबू-से उदार, उच्च विचार वाले व्यक्ति को भी यदि आप पशु कहने का साहस कर सके—'

वह चुप हो रही।

वीरेश्वर का मुँह काला पड़ गया। संयत स्वर से बोला—मैं तुमसे तर्क करने नहीं आया हूँ। कहना केवल इतना है कि गृहस्थ की लड़की के लिए एक्ट्रेस बनना वाञ्छनीय नहीं है, और न उपयोगी ही है।

'तो जितनी एक्ट्रेसें हैं इनमें से कोई भी भद्र घर की नहीं हैं, यही कहना चाहते हैं न आप ?'

'मैं केवल यह कहता हूँ—सिनेमा का वातावरण भद्र घर की लड़कियों के लिए उपयुक्त नहीं है।'

'क्या मैं पूछ सकती हूँ कि क्यों ?'—परिहास से इला ने पूछा।

'इसलिए कि वातावरण एक ऐसी वस्तु होती है कि उसके सम्पर्क में आए हुओं को वह अपना लेती है। सिनेमा के दूषित वातावरण का प्रभाव तुम जैसी लड़कियों पर पड़ जाना स्वाभाविक है।'

'किंतु यदि उदार दृष्टि लेकर आप देखते तो देख पाते कि सिनेमा एक उच्च कला के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।'

'मैं कब कहता हूँ कि वह कला नहीं है ? किंतु सबके लिए सब कलाएं उपयोगी नहीं हो सकतीं।'

'क्यों ?'

'क्यों ? तुम्हीं सोचो कि एक अविवाहित युवक और एक अविवाहिता युवती एक दूसरे के साथ अभिनय करते हैं, और उन्हें मिला है प्रेम करने का पार्ट। हम देखते हैं वह एक खेल है, है न ? किंतु उस खेल को खेलते खेलते और एक दूसरे को स्पर्श करते-करते वह युवक-युवती उस खेल ही को कभी सत्य न समझ बैठेंगे, यह भी क्या कोई कह सकता है ?'

'यदि वह सत्य हो जाय तो इसमें हानि क्या है ?'

वीरेश्वर चौंका—हानि नहीं है ? कहती क्या हो इला ! नारी पृथ्वी में आई है, सहधर्मिणी होने के लिए; पत्नी, माता होने के लिए, वेश्या होकर रहने के लिए नहीं !

'याने एक्ट्रेस सब वेश्या हैं, बाक़ी सब स्त्रियाँ सती हैं, कह तो आप यही रहे हैं न ? किंतु पर्दे में बैठी स्त्रियाँ कौन-सा अनर्थ किया करती हैं, उसकी ख़बर भी कुछ है आपको ?'

'ज़रूरत नहीं पड़ी कभी उसकी ख़बर लेने की। अच्छा तो मैं जा रहा हूँ—याद रखना तुम्हारा घर सिनेमा नहीं है।'

'और मैं उसी को अपना घर समझती हूँ।' एक हठी बालिका-सी वह कह उठी।

वीरेश्वर लौटा—'तुम अभी छोटी हो; अपनी भलाई बुराई समझ सकने की योग्यता अभी तुममें है नहीं। आज से उन लफ़ंगों के लिए इस घर का द्वार बन्द रहेगा और तुम्हारा सिनेमा जाना भी। यह विनय नहीं, मेरा आदेश है।'

पलभर के लिए इला चुप रही। क्रोध से उसका मुँह तमतमाने लगा, कह उठी—'मुझे आदेश देनेवाले आप कौन होते हैं?'

'सब कोई! मेरा स्नेह इस घर का पूर्ण अधिकारी है। और उसी स्नेह के बल पर ही आज तुम्हें आदेश दे रहा हूँ, समझीं?'

वीरेश्वर चला गया और क्रोध, अपमान से काँपती इला वहीं खड़ी रह गई।

(३)

'इस घर में तुम अब न आया करो, वीरेश्वर!' दूसरी ओर मुँह किए जाह्नवी ने कहा। निर्वाक विस्मय से वीरेश्वर की आँखें स्तिमित-सी हो रहीं। वह पूछ भी न सका कि—क्यों?

'मैं नहीं जानती थी कि तुम मुझसे ऐसा विश्वासघात कर सकोगे। बचपन से तुम इला को बहन-सी देखते हो और वह तुम्हें भाई जैसा मानती है। तुम ब्राह्मण, हम कायस्थ। विवाह तो हो नहीं सकता; फिर भाई-बहन का सम्बन्ध क्या कम महत्व का था? तुम उसे कुपथ में खींचने की चेष्टा कर रहे हो।'

'मैं! अपनी बहन से और मैं ही ऐसा नीच बर्ताव करूँ? आप कहती क्या हैं, अम्मा? स्वप्न तो नहीं देख रही हैं?'

'नहीं वीरेश्वर, इला मुझसे झूठ न बोलेगी।'

'इला—इला ने कहा?' और फिर इसके बाद वीरेश्वर ने झुककर जाह्नवी को प्रणाम किया और धीरे-धीरे चला गया।

दिन बीते, एक दो करके पूरे छः महीने। उस दिन प्रातःकाल बाहर निकलकर वीरेश्वर अवाक् हो गया। पुलिस उसके मकान को घेरे खड़ी थी। वह अभियुक्त था। नाबालिग़ इला को चार हज़ार के गहने सहित चुराने का अभियोग उस पर लगाया गया था। मुक़दमा चला किन्तु प्रमाण के अभाव से अन्त तक वह चल नहीं सका और वीरेश्वर बेक़सूर प्रमाणित हो गया।

'माँ, अरी ओ अम्मा, सुन तो सही।' एक ग्रीष्म की दोपहरी में वीरेश्वर जाह्नवी के द्वार पर पुकारने लगा।

जाह्नवी आई—भूमिकम्प से उजड़े एक-एक अर्द्धभग्न नगर की भाँति, क्लिष्ट, निपीड़ित निष्पेषित। देखा उस चेहरे को वीरेश्वर ने—जी भरकर देखा। फिर धीरे से पूछा—तुमने किस काम के लिए मुझे बुलाया है? आदेश दो, अम्मा!

जाह्नवी उसके पैर से लिपट गई—'उसके ज़ेवर तू सब ले ले। किन्तु उसे प्राण से न मार वीरेश्वर! मेरी बच्ची को मुझे वापस कर दे।'

वीरेश्वर खड़ा रहा चुपचाप, न उसने वृद्धा को उठाने की चेष्टा की और न स्वयं कुछ बोला। शव की भाँति अकड़ा वह खड़ा रहा।

'माँ कह कर पुकारते हो, तो उस पर दया करो, उस शब्द को निबाहो वीरेश्वर!'

वह अकड़कर खड़ा हो गया—'उस शब्द का तो मैंने कभी भी अपमान करना न चाहा था माँ और न कर ही सकता हूँ।'

'तो यह कैसे क्या कर बैठे वीरेश्वर?'

'परन्तु अपने जान में तो मैंने कोई भी अपराध नहीं किया।'

'भूल है वीरेश्वर—भूल, जीवन में कितनी ही भूल हम कर बैठते हैं। अब अपनी भूल को तुम सुधारो। मेरी बच्ची को वापस ला दो।'

विस्मय-विमूढ़ वीरेश्वर देर तक खड़ा रहा। फिर बोला—हाँ भूल मैंने ज़रूर की,

किन्तु वह भूल थी दूसरे तरह की। जब कि मैं सब कुछ जानता था, तब मेरा कर्तव्य था तुम्हें सावधान कर देना, परन्तु जब वैसा मैंने किया नहीं, तब सम्पूर्ण अपराधी मैं ही हूँ। तुम्हारा अनुमान झूठ कैसे हो सकता है?

ज़रा आश्चर्य से जाह्नवी ने पूछा—समझी नहीं, क्या कह गये वीरेश्वर?

'अब तक जिस बात को समझी नहीं, उसे अब न समझना ही ठीक होगा।'

'मेरी इला अच्छी तो है न वीरेश्वर?'

'हाँ मज़े में है। अच्छा जाता हूँ।'

'उसे लौटा दे बेटा।'

'अच्छा, चेष्टा करूँगा'—वीरेश्वर चलते-चलते लौटा, 'और मेरा अपराध?'

'मेरी बच्ची को ला दो मैं सब कुछ भूल जाऊँगी। तुझे क्षमा कर रही हूँ, वीरेश्वर!'

वीरेश्वर चुपचाप चला गया।

(४)

सूर्य के सुवर्णरेखापात से दिशाएँ दीप्त हो रही थीं। दिव्य प्रकाश फैल चुका था। रुग्णा जाह्नवी पड़ी-पड़ी द्वार की ओर ताक रही थी। प्रतीक्षा करते-करते न जाने कितने दिन निकल गये, किन्तु उस दिन के बाद से न वीरेश्वर आया और न इला। धीरे-धीरे जाह्नवी पलंग से लग गई। वह तो लग गई पलँग से, किन्तु आशा, प्रतीक्षा की अधीरता वैसी ही सजीव बनी रही।

अचानक उस दिन द्वार पर मोटर आकर रुकी। उत्सुक दृष्टि प्रसारित कर जाह्नवी उस ओर देखने लगी। वीरेश्वर आया और उसके पीछे? हाँ, वही तो है—उसकी, उसी की इला। जाह्नवी उठकर बैठ गई। उठकर बैठने के परिश्रम, उत्तेजना से वह हाँफने लगी। जाह्नवी ने दोनों हाथ बढ़ा दिये—इला, आ जा बेटी! मेरी बच्ची, मेरी गोद में आ जा!

किन्तु दूसरे पल वह सिहर उठी—उसकी लड़की के स्थान में यह विलासिता की मूर्ति कौन और कहाँ से आकर खड़ी हो गई? जाह्नवी की बाँह अपने आप झुक गई, उसने मुँह फेर लिया।

इला ने माता के पैर पकड़े—मुझे क्षमा करो माँ, तुम्हें छोड़कर अब मैं कहीं न जाऊँगी।

जाह्नवी कुछ सहमी-सी बोली—क्षमा किस बात की बेटी? तू अपने मन से घर छोड़कर कहीं थोड़े ही जा सकती थी।

इला संकोच के साथ कहने लगी—अपने मनसे ही तो मैं चली गई थी, माँ!

'और वीरेश्वर?'

'वह सब झूठी बातें थीं, मेरी बनाई हुई। वीरेश्वर भैया देवता हैं। वही तो मुझे वहाँ से ले आए हैं।'

'कहाँ से? कहो—कहो, जल्दी कहो! इला, कहाँ से? वीरेश्वर तुम्हें कहाँ से ले आया? इतने दिन तक तुम कहाँ रहीं?'

उन रक्त-नेत्रों के सामने इला काँपने लगी। वीरेश्वर सामने आया—उस बात को जानकर क्या करोगी अम्मा? जानो कि इला तुम्हारी आ गई और तुम उसे क्षमा कर चुकी हो, बस। जाओ इला, माँ की सेवा करो।

जाह्नवी पलंग पर गिर पड़ी। इला रोने लगी—माँ! माँ! वीरेश्वर मुँह पर पानी के छींटे मारने लगा। धीरे-धीरे वह चैतन्य हुई—'बेटा वीरेश्वर!'

'माँ!'

'मेरे दिन अब अधिक नहीं हैं। क्या तुम मुझे क्षमा कर सकोगे वीरेश्वर?'

वीरेश्वर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया—अनुचित कह रही हो अम्मा। माँ भी क्या अपराध कर सकती है ?

जाह्नवी उदास हँसी हँसी—ऐसा कहो कि देवता के निकट अपराध का कोई मानदण्ड होता ही नहीं। उसके निकट अपराध और निरपराध समान है। पानी दो बेटा, मेरा जी घबरा रहा है।

इला पंखा लेकर दौड़ी।

जाह्नवी बोली—पंखा वीरेश्वर को दे दो। तुमसे एक विनय है वीरेश्वर, जब तक मैं जीऊँ तब तक तुम्हीं मेरी सेवा करो।

'और माँ, मैं ?'

इला के प्रश्न पर जाह्नवी निरुत्तर रही।

व्यथित स्वर से वीरेश्वर बोल उठा—अभी—अभी जिसे तुम क्षमा कर चुकी हो, क्या उसी के सिर पर अपराध का दण्ड रख रही हो अम्मा ? फिर क्षमा कैसी ?

'इला को मैं क्षमा कर चुकी हूँ, किंतु उसकी सेवा लेते मेरी आत्मा संकुचित हो रही है। मैं देवी नहीं हूँ, वीरेश्वर !'

परिचय

देवीलाल सामर

जब तुम अन्धकार में छिपे थे,

मैं अपने पंखों को इधर-उधर पटककर चलने की हविस पूरी कर रहा था। असंख्य यात्रियों के बीच मेरी यात्रा कुछ नहीं थी।

मैं विद्युत् के दीप जला जलाकर बुझा देता था और काले बादलों के दो बूँद आँसुओं से पृथ्वी को प्लावित करता था, पर असंख्य धूलि-कणों की प्यास उन क्षुद्र अश्रुकणों से नहीं बुझ सकी और असंख्य यात्रियों का साहस मेरे आयोजन से नहीं गिर सका।

अन्धकार की कालिख जब विश्व के अन्तरपट पर पसर उठी, तुम्हारे आगमन की पुकार जब चारों ओर फैली और मेरे अन्तर में तुम्हारे ज्योतिर्मय होने की सूचना हुई, तब तुमने प्रतीक्षा की सीमा पार कर प्रकाश की दो एक रेखाएँ सूचनार्थ भेजीं। मेरे अन्तर की ज्योति जागी और धुँधलेपन ही में मैंने तुम्हारी असीमता जान ली।

तुम सम्पूर्ण-प्रकाश थे और मैं उसके एक अंश को छिपाये हुई कालिमा ! तुम अनंत सुन्दर थे और मैं तुम्हारी शोभा बढ़ाने वाला कुरूप। तुम अनंत ज्ञान थे और मैं माया पर रीझा हुआ अज्ञान। तुम विश्व की प्रबल प्रेरणा थे और मैं अज्ञान की ओर बढ़ी हुई लहर।

जब तुम पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय हुए, मैंने अन्धकार में छिपे हुए गड्ढों की गहराई नाप ली। मेरे पद-चिन्ह किसी तरह उनसे बचे हुए थे। मैंने उन बुझे हुए दियों को देखा। वे स्नेहपूर्ण थे। मैंने अज्ञान का परदा हटाया। मेरे मुख की छवि तुमसे मिलती-जुलती थी।

मैंने जीवन-सरिता की लहरों की प्रगति आँकी। वे तो तुम्हारे ही पद पखारने को निकली थीं।

जब तुम अन्धकार से उभककर पूर्ण ज्योतिर्मय हुए, मैंने अपना अस्तित्व अलग नहीं पाया।

तुम-हम तो एक ही थे।

माँ बेटे

[एक चित्र]

भुवनेश्वर प्रसाद

चारपाई को घेरकर बैठे हुए उन सब लोगों ने एक साथ एक गहरी साँस ली। वह सब थके और हारे हुए ख़ामोश थे। कमरे में पूरी ख़ामोशी थी, मरने वाले की साँस भी थकी हुई सी हारी हुई थी। तीन दिन से वह सब मौत की लड़ाई देख रहे थे और उसकी जीत का इन्तज़ार कर रहे थे। पड़ोस के लोग ख़ाली वक्त में आते, दरवाज़े में घुसते ही मुँह सुखा कर किसी एक से धीमी आवाज़ में पूछते—डाक्टर क्या कहता है? या ऐसा ही और कुछ कह, मरने वाले का बुझा हुआ ख़ाली मुँह देखकर सलाह या आलोचना के कुछ लफ्ज़ कह चले जाते। वह सब दुनिया के साथ घूम रहे थे। सिर्फ़ मरने वाला धीरे-धीरे तेज़ी से अलग हो रहा था। चारपाई को घेर कर बैठने वाले, दुनिया में ऐसे वक्त जो होता आया है, कर रहे थे और जो कुछ दुनिया में होता आया है उसके लिए तैयार थे या तैयार हो रहे थे। मरने वाली उनकी माँ, नानी और दादी ही तो थी।

बड़ी लड़की कुचो गो भाई के दो ख़तों पर नहीं आई, उसकी लड़की को बचा होने वाला था; पर तार पाते ही अपनी लड़की को लेकर चली आई। बड़ा लड़का रेलवे की नौकरी में रात की ड्यूटी करता है, उसके लिए सुबह पराठे कौन और कैसे बनाता होगा, छोटा लड़का अब तो फ़लाश की बैठक नहीं जमाता है, इससे माँ की बीमारी या मौत से उसका कोई रिश्ता है, यह वह कभी-कभी जानना चाहती है। छोटी अभी जवान है, अभी तीन साल हुए उसकी शादी हुई है। छोटी भाभी से बड़ी की चुगली खाती आई है, आज भी खाती है। माँ की बीमारी या मरने का असर वहाँ किस तरह पड़ रहा है, न जानती है न जानना चाहती है। बड़ा लड़का अधेड़ हो चला है, घर से अलग हो गया था, उसकी बीवी को अलग चूल्हा जलाते आज सत्रह साल हो गये, मरने वाली से उसे हज़ार शिकायतें हैं। आज वह उन्हें भूल जाना चाहती है। बीमारी के ख़र्चे और शायद श्राद्ध में भी आधा देने को तैयार है पर वह छोटे के हाथ में रुपया न देगी। कौन उससे झगड़ा मोल ले! न, वह इस झगड़े में न पड़ेगी। छोटी बहू पांचवी बार यह कहने के लिए बेताब है कि बड़ी बहू कल शाम को रोते हुए बच्चे का झूठा बहाना कर सो गई। सिविल सर्जन को वह बुला लेती पर बड़ी बार-बार 'सिविल सर्जन', 'सिविल सर्जन' क्यों चिल्ला रही है? क्या उनके सिवा यहाँ सब देहाती, गधे ही हैं? दोनो लड़के एक दूसरे से काफ़ी अरसे से दूर रह चुके हैं, आज एक साथ पा कर कुछ अजब-सा जान रहे हैं। थर्मामीटर दोनों एक साथ देखते हैं, दवा की ख़ूराक़ दोनों एक साथ देखते हैं। वैदजी से दोनों बातें करना चाहते हैं। इनके अलावा बच्चे हैं, उनके माँ बाप उन्हें घेर-घेर कर कहते हैं बेटे, बेटी! नानी—दादी जा रहीं हैं, देख लो! मरने वाली के

कान के पास कहते हैं—अम्मा! पोता, नाती, पैर छू रहे हैं, असीस दो! मरने वाली आँखें चौड़ी करती है और कुछ बुदबुदाती है। वही अकेली तो मर रही है। वही अकेली तो जोती जा रही है। पछत्तर साल कड़ाके की गरमी, जाड़े, बरसात में जो जीवन कड़ा और स्थिर हो चुका है, आज वह फिर बिखर रहा है!

बड़ी लड़की कहती है—अम्मा, क्या सोच रही हो? हमें देखो। भगवान का नाम लो।

बड़ी बहू कहती है—अम्मा, राम नाम कहो, पाप कटें!

छोटी जो जेठ की वजह से घूँघट काढ़े है, साँस भर कर कहती है—अम्मा के बराबर पुन्नात्मा कौन होगा?

× × ×

बड़े लड़के ने कार्निस पर से शीशी उठा कर दवा डाली—छोटे ने जम्हाई लेते हुए कहा—पीली में लगाने की दवा है। बड़े ने मुँह बनाया और अम्मा को उठाकर दवा पिला दी। तकिये में मुँह गड़ा कर उसने दीवार की तरफ़ करवट ली। उसके उलझे हुए छोटे सफ़ेद बाल मैले तकिये पर बिखरे थे।

छोटी बिछौना बदलना चाहती थी, पर बड़ी की राय न थी, छोटी ने फिर कहा—अम्मा धोती में क़ै लगी है, बदलोगी? अम्मा ने करवट ली और घूरकर देखा। सबके चेहरे एक से और सादे थे। उनमें सबमें भरपूर ज़िंदगी थी। वह जैसे उनमें कुछ और ढूँढ़ रही थी। मौत के वक़्त, सुनते आये हैं कि सारी ज़िन्दगी फ़िल्म की तरह आँखों के सामने फिर जाती है, मन धीमा हो जाता है, निश्चित और पके हुए—बीते हुए पर ही वह बार-बार टिकता है। यह शायद उसे याद हो या न याद हो पर उसका मन तो रीता, बेज़बान जानवर की तरह हो रहा था। अब जब उसने उनके चेहरे 'डीज़' की पुरानी लालटेन में देखे तो वह एक बारगी सोच उठी कि यह सब असफल क्यों हो गये? बड़े लड़के को, जब वह पैदा भी नहीं हुआ था और जब महल्ले का एक लड़का वकील हुआ था, उसने वकील बनाना चाहा था। पर वह वकील क्यों नहीं बना? उसने उसकी तरफ़ गर्दन घुमा कर देखा, वह पास आकर बोला—क्या है अम्मा! वह अजाने उसकी तरफ़ से सन्तुष्ट हो गई। उसने पानी माँगा।

पानी पीकर वह थककर लेट रही। आस पास लोग बातें कर रहे थे। बड़ी लड़की की गर्भवती लड़की भी वहाँ आकर बैठ गई थी। उसकी माँ उसे हटाना चाहती थी। छोटा लड़का कुछ सोच रहा था और दुःखी था। अम्माँ ने एक बारगी धीमें से पुकारा, छोटे! छोटा लड़का उठ कर उसके पास तक गया और रो दिया। अम्मा ने मुँह फेर लिया। उसने आँसू पोंछते हुए कहा—सवेरे बड़े डाक्टर को बुलायेंगे—और धोती से नाक पोछते हुए बाहर चला गया। बड़ी ने गोद में लेटे हुए लड़के के मुँह में दूध देते हुए जानकारी से कहा—हाँ, सिविल सर्जन को बुलाओ, लाला! छोटी ने मुँह बनाया। छोटी लड़की कुछ बूझ कर मुस्कराई। बड़ी लड़की ने अपने बने हुए दाँत निकाल कर कहा, कितना लेगा बहू?

बड़ा लड़का बोला—बड़ा डाक्टर कोई परमात्मा है? और फिर सब चुप हो गये। अम्मा ने पूरा-पूरा सुना और जान लिया कि बड़ा डाक्टर परमात्मा नहीं है। परमात्मा का ख्याल आते ही उसे एक बारगी मालूम हुआ कि परमात्मा से वह इस वक़्त भी इतनी ही दूर है जितनी कभी थी। सिर्फ़ उसमें इस वक़्त एक तकलीफ़, एक तंगी समाई हुई है जो कभी न थी। वह कमरे की सब चीज़ें ग़ौर से देखने लगी। उन चीज़ों को वह लाख बार देख चुकी थी; यहाँ तक कि वे अपनी असली शक्ल खो बैठे थे। पर आज वह सब अलग-अलग और तीखी मालूम

हो रही थीं। बड़ी बहू से वह नाराज़ है। एक मरतबे उसने ग़ुस्से में यह भी कह दिया था कि मरते वक्त़ मैं तेरे हाथ का पानी भी न पीऊँगी! छोटी नेक है। उसने उसकी बड़ी सेवा की है; पर आज वह दोनों एक नये ही रूप में उसके सामने आ रही हैं। वह देख रही है कि वे दोनों ग़रीब हैं, दोनों लाचार हैं। क्यों लाचार हैं? वह सोचने लगी—यह भूल कर कि वह ख़ुद लाचार है। वह फिर बुदबुदा उठी, कुचो! कुचो—बड़ी लड़की आँचल सँभाल कर उठी पर अम्मा का चेहरा तब पत्थर की तरह सफ़ेद हो चुका था। वह उसे ग़ौर से देखने लगी।

बड़ी बहू—अम्मा कुछ सोच रही है।

बड़ा लड़का—माया-मोह घेरे है। दुनिया अजब तमाशा है!

बड़ी बहू—न जाने किसकी क़िस्मत में क्या लिखा है। (एक गहरी साँस लेकर छोटी बहू से धीरे से) बाबूजी की बात सोच रही होंगी! पर अम्मा बाबूजी (अपने पति) की बात नहीं सोच रही थीं। वह सब बहुत दूर था। वहाँ तक घिसट कर पहुँचने की मन में ताक़त नहीं रह गई थी। वह इन लोगों से दूर, दूर...धीरे-धीरे चली जा रही थी।

× × ×

वाक़ई यह सब लोग असफल रहे। एक आदमी मरते वक्त़ ही दूसरे की इस बेमतलब और शर्मनाक असफलता को पूरी तरह जान सकता है। कुचो एक ज़माने में हसीन, उमंगों वाली थी। पहली संतान, माँ-बाप की लाड़ली। हौसले से ब्याही गई, पर यही नहीं कि समय-सूरमा से हार गई हो, पर रीती-रीती हो गई। अम्मा का एक वक्त़ इस पर अटूट प्यार था जो बाद में बड़े लड़के के हिस्से में पड़ा। वह भी असफल रहा। अम्मा ने इन सब के लिए गहरे रंगों के पैटर्न बनाये, पर वह सब टूट गये। इनमें से एक भी उसके नज़दीक न था, उसका न था। इस वक्त़ तो उसके वही अपने थे जो बिलकुल पूरे-पूरे उसके बनाये थे। हो सकता है, उसने उनसे बहुत ज़्यादा चाहा, पर क्या हुआ। किसी को अपनाना क्या कुछ कम है? आधी रात को वह सब ज़मीन में बिस्तर बिछाये सो रहे थे, सिर्फ़ अम्मा जाग रही थी और जैसे डूब रही थी। ताज्जुब है कि उसकी तकलीफ़ भी डूब रही थी। वह दूर-दूर की बातें सोचने लगी। बेमतलब, बेजोड़। कोई मकान, कोई कभी का देखा हुआ आदमी, वह अजीब आवाज़ें सुनने लगी। पर यह हालत बहुत देर तक न रही। वह घबराने लगी जैसे वह अकेली किसी अँधेरे रास्ते पर जाने से डर रही है। बदन में शक्ति न थी, वह बहुत दिन हुए जान चुकी थी, इसकी आदी हो चुकी थी, पर इस वक्त़ वह उस शक्ति के लिए लड़ने को तैयार हो गई, और सब सो रहे थे। वह उनके नथनों की आवाज़ सुन रही थी, पहचान रही थी, पर यह सब उसके लिए क्या है, जब उसके ही अपने जिस्म में शक्ति न थी? वह तो उसके लिए लड़ेगी! उसके चेहरे की शान्ति ग़ायब हो गई। वहाँ एक कड़वे संग्राम ने जगह पाई। उसका मुँह तीखा और और भी बेजान हो चला।

बड़ा लड़का इत्तफ़ाक से जाग उठा, वह कोई अप्रिय सपना देख रहा था। उसने खाँसकर सिरहाने रखा पानी पिया और उठकर अम्मा के पास आया, झुककर धीमी रोशनी में उसने उसका मुँह देखा, सिरहाने खाट पर ही सर रखे सोती हुई छोटी बहन को जगाना चाहा, पर फिर अम्मा के बाल सँभालते हुए बोला—अम्मा! अम्मा ने चौंककर उसकी तरफ़ देखा और वह अन्दर का संग्राम जैसे धीमा पड़ गया, उसमें उसे थोड़ी-सी शांति मिली, बड़े लड़के ने फिर पुकारा' अम्मा! अम्मा फिर जैसे सोते से जगी। उसके पूरे-पूरे मन ने लड़के को पहचान लिया। वह एक पल के लिए उसके सिवा सब कुछ भूल गई। उसके स्तनों से एक गहरी और तीव्र लालसा बह उठी, उसे कुछ दे डालने को—कुछ!...

'पानी पिओगी, अम्मा !' लड़के ने फिर कहा।

'अम्मा' के अंग-अंग ने कुछ बोलना चाहा, पर वह बोल न सकी। संग्राम फिर शुरू हो गया। उसने मुँह फेरकर ज़ोर-ज़ोर से साँस लेना शुरू किया।

बड़े लड़के ने कुछ घबराकर उसकी दोनों बाहों पर हाथ रख कर कहा—क्या है अम्मा ?

अचानक अम्मा ने पाया, अपने अन्दर एक पुरानी पहचानी हुई लपट को तीर की तरह सब तरफ़ घुसते हुए। उसने जाना था कि यह लपट हमेशा के लिए बुझ गई है ; पर इस वक्त, इस समूचे और सच्चे संग्राम के वक्त, इस छू भर जाने से वह पुरानी लपट उसके रोएँ-रोएँ में नाच उठी। वह सिहर उठी और अब सारा संग्राम उस लपट की ओर मुड़ गया। बड़ा बेटा काँपती हुई अम्मा को मज़बूती से थामकर उसके बिलकुल नज़दीक आ गया था, यहाँ तक कि उनके सीने मिल गये और वह लपट और तेज़ हो गई, और कमर के नीचे के हिस्से में बढ़कर उसकी पिण्डलियों में चक्कर काटने लगी। उसने मुश्किल से अपने कमज़ोर हाथ उठाये और एक प्रेत के स्पर्श की तरह उसकी पीठ को सहलाने लगी। सारा संग्राम ख़त्म हो चुका था, सिर्फ़ उसके कमज़ोर मरते हुए हाथ एक अन्दर की प्रेरणा से बेटे की पीठ पर घिसटते रहे और फिर धीरे-धीरे मर गये। बड़े बेटे ने आज तक किसी को मरते न देखा था इसीलिए वह किसी को वक्त पर जगा भी न सका।

गीत

मंगलामोहन

रे मुग्ध-पुरुष यौवन-अधीर !
निज में खोई-सी प्रकृति, तरुणि का सिहर रहा पुलकित शरीर;
देता नभ रंगीनी, क्षिति सौरभ, पुलक-स्पर्श मादक समीर।
रे मुग्ध-पुरुष यौवन-अधीर !

कल पीत-पर्ण-शयिता-शीर्णा ने,
स्वप्न दिया जाते जाते;
औ' उसी स्वप्न को नवागता ने,
रूप दिया आते आते;
फिर आग लगाने प्राणों में छूटे दिशि-दिशि से सुमन तीर।
रे मुग्ध-पुरुष यौवन-अधीर !

सहकार-मुकुल-छाया में नव—
मुग्धा-मानव लालसा-अन्ध,
लज्जा की लाली, जी की हरियाली
में खो जागी अबन्ध।
उस वयःसन्धि वाली के अधरों पर झलकी स्मिति की लकीर।
रे मुग्ध-पुरुष यौवन-अधीर !

उत्कल साहित्य में हास्य-रस

लक्ष्मीनारायण साहु

उत्कल साहित्य बहुत प्राचीन है। प्राचीन पाली भाषा का जन्म उत्कल देश में हुआ था, यह अनुमान रायसाहब श्रीयुत आर्त्तबल्लभ महान्ती, प्रोफ़ेसर रेभेन्सा कॉलेज के का है। आदिम मनुष्यों का उद्भव सबसे पहले उत्कल प्रान्त में हुआ था, ऐसा पंडितों का मत है। इन सब प्रमाणों का उल्लेख करना यहाँ ठीक नहीं होगा।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि आदिम युग से आदिम मनुष्य का सुख दुःख उत्कल इतिहास से प्रारम्भ होता है। और इसीलिए उत्कल साहित्य में हास्य-रस का प्रकाश भी बहुत है। परन्तु यह बात माननी पड़ेगी कि प्राचीन विद्वान प्राकृत में लिखना पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए उड़िया में इसकी स्फूर्ति नहीं हुई।

जब उत्कल में उड़िया भाषा का प्रचार हुआ उस समय उत्कल गिरी अवस्था में नहीं था, परन्तु उड़िया में लिखने का ढंग नहीं था। इसीलिए प्राचीन उड़िया में हास्य-रस में कुछ एक गल्पों के सिवाय उच्च ढंग के हास्य-रस के लेख नहीं पाए जाते। फिर भी बहुत से हास्य रस के लेख थे, जो अश्लील होने के कारण आजकल की रुचि के विरुद्ध हैं।

हास्य-रस उस समय कलापूर्ण होता है, जब आदमी को अच्छा खाना पीना मिलता है। उत्कल में यह बड़ा मुश्किल है। राज-दरबारों में भी एक-एक विदूषक के सिवा और अधिक चर्चा हास्य-रस की नहीं है।

फिर भी उड़िया भाषा में अष्टादश शताब्दी के अन्त में यदुमणी नामक एक प्रसिद्ध हास्य-रस के लेखक कवि हुए हैं। वे आठगढ़, खल्लिकोट राजसभा में रहते थे। वे आशु कवि थे। गोपाल भांड के समान इनकी भी बहुत कहानियाँ हैं।

उसके बाद रायबहादुर गोपालचन्द्र प्रहराज ने, जो उड़िया-भाषा-कोष के लेखक हैं, हास्य-रस में काफ़ी ख्याति अर्जन किया है। किन्तु इनके हास्यरस का प्रचार विषय के साथ नहीं चलता। किसी विषय को सूक्ष्म करके ये हास्य नहीं बनाते। यह बनाते हैं दिल्लगी करने के लिए, केवल हँसाने के लिए। इसलिए इनका हास्य-रस अक्सर अश्लील हो जाता है।

रायबहादुर भिखारीचरण पट्टनायक हास्य-रस में कविता लिखते हैं। इनकी कविता हास्य-रस से भरी रहती है। लेकिन इन सब से स्वर्गीय फ़क़ीरमोहन सेनापति (बालेश्वर) का हास्य-रस उत्कल साहित्य में प्रसिद्ध है। इनके उपन्यास बहुत अच्छे हैं और उनमें नायक-नायि-

कारों के कथोपकथन में बहुत सुन्दर भाव से हास्य-रस का उद्भव होता है। हास्य-रस की कहानियाँ गल्प भी इनकी कई एक हैं।

इनके सिवा श्री लक्ष्मीकान्त महापात्र हास्य-रस के अच्छे लेखक हैं। राज-नैतिक नाटक में आपने उत्कल के ज़मींदार, लीडर और अन्य आदमियों को बहुत फटकारा है, किंतु हँसा-हँसा कर। श्रीयुत वांछा निधि महांती ने ग्रामोफ़ोन रेकार्ड में और जातीय संगीत में हास्य-रस का बहुत अवतावरण किया है। श्री वीर किशोर दास और एक राजनीतिक हास्य-रस के कवि हुए हैं।

यह सब लिखने के पश्चात यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि ग़रीब भूखे उत्कल में पूर्णरूप से हास्य-रस का प्रकाश नहीं हुआ है क्योंकि इस जाति में खाने पीने की तकलीफ़ बहुत है—भारत में सबसे अधिक। कोई-कोई कथाकार कभी आते हैं और हास्य-रस की कहानियाँ लिखते भी हैं, लेकिन ये कथायें उच्चकोटि की नहीं होतीं।

पहचान

देवीलाल सामर

हमारी पहचान पुरानी नहीं थी।

मैं सृष्टि के सूक्ष्म अणुओं में से एक था; विश्व के सृजन का साहस लिए हुए, अनुभूति के बोझ को उतार चुका था और तुम्हारे उज्ज्वल रत्न-कणों में चमक रहा था।

जहाँ मेरे साहस की सीमा पहुँची वहाँ तुमने मेरा प्रोत्साहन किया और कई विभूतियों से मुझे अलंकृत होने दिया।

सौन्दर्य के उस शिशुपन में भी मैं निखर पड़ा, और एकाकीपन के उस स्वतंत्र जीवन को मैं भूल गया।

नभ पर भी तुमने प्रकाश-रज्जु फैलाई, फूलों में भी सौरभ बिखराया, सर्वत्र तुमने सौन्दर्य-जाल बिछाया और कलाकार ने कारीगरी से सृष्टि का विविध शृंगार सजाया और सौन्दर्य स्वयं मेरा स्नेह-बंधन बन गया।

तंद्रा में तुम स्वप्न बने, जाग्रति में तुम छिपे रहे और सुषुप्ति में तुम छाया हुए।

शरीर का बंधन आँखों से अभियुक्त हुआ, अंतर के द्वार बंद रहे और तुमको मैंने ऊपर-ऊपर से ही जाना। आँखों की आसक्ति आँसुओं के साथ ढुलक पड़ी और स्नेह की बढ़ती में भी भारी कमी हुई।

मैंने अपना अस्तित्व अलग जाना, सौरभ को छोड़कर फूलों से परिचय पाया, वायु से लिपटकर मैं प्रेरणाओं से परे रहा, ज्योति से आलोकित होकर मैंने दीपक को नहीं जाना, और संगीत से मुग्ध होकर गायक को भुला दिया।

अपनी चेतना के आख़िरी क्षण तक मैं संदिग्ध रहा और अंत में मेरे माथे का यह बोझ फेंककर तुमने यकायक मेरे अंतर के द्वार खोल डाले, और सौन्दर्य की एक क्षणिक झाँकी दिखाकर मुझे कई बार रुलाया।

'कंकाल' का सामाजिक दृष्टिकोण

रामस्वरूप व्यास

'कंकाल' में श्री 'प्रसाद' जी ने जिस सामाजिक दृष्टिकोण को सम्मुख रखा है वह नवीन भारत का दृष्टिकोण है। 'प्रसाद' जी ने भारतीय आत्मा का बड़ी सूक्ष्मता के साथ दिग्दर्शन कराया है और 'कंकाल' में यह बात सबसे अधिक स्पष्ट हो उठती है। इसीलिए 'कंकाल' केवल साहित्य की ऊँची कृतियों में से ही नहीं है, वरन् उसमें देश में फैले हुए सुधारवादी भावों और विचारों का बड़ी पटुता के साथ संमिश्रण किया गया है। इसमें केवल देश की सामाजिक बातों का ही सुन्दर चित्रण नहीं किया गया है वरन् देश की विकृत धार्मिकता का भी नग्न-चित्र हमारे सामने रखा गया है। यों तो सामान्यतया सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों को अलग-अलग विभाजित करने वाली कोई रेखा प्रतीत नहीं होती और दोनों दूध, पानी के समान हिल-मिलकर एक रंग हो गये हैं, पर फिर भी दोनों हैं पृथक् पृथक् वस्तु ही। इसी विचार का स्पष्टीकरण उपन्यासकार ने बड़ा सुन्दर किया है।

'कंकाल' की एक भारी विशेषता यह है कि इस पश्चिमी सभ्यता से ओतप्रोत युग में भी इसका वातावरण और विचार भारतीय है। आज कल हमारे शिक्षित वर्ग के विचार, पश्चिम के विचारों और वहाँ के अनेक मतों का समूह हो रहे हैं। पश्चिमी विचारों का आवरण हमारे विचारों पर इस प्रकार छाया हुआ है जैसे शीत काल में आकाश पर कुहरा, और तब हमें मौलिक और मिश्रित विचारों का ठीक पता लगाना कठिन हो जाता है। परंतु 'कंकाल' का सारा वातावरण शुद्ध भारतीय है।

चाहे 'कंकाल' में 'प्रसाद' जी ने किसी प्रकार के विचारों का प्रचार करने का कोई प्रयत्न न किया हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इन्होंने नये दृष्टिकोण को बहुत ही स्पष्टता से रखा है। उपन्यास को गहरी दृष्टि से मनन करने पर पाठक के मन में हमारी सामाजिक कुरीतियों के प्रति घृणा पैदा हुए बिना नहीं रहती। इस दृष्टि से 'प्रसाद' जी उस नये युग के पोषक हैं जो भारतीय अंतरिक्ष पर उषा के समान अपनी पहली झलक दिखा रहा है।

'कंकाल' के सामाजिक विचार सर्वप्रथम स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध पर गहरी दृष्टि डालते हैं। यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी कि 'कंकाल' की धारणा के मूल में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ही है। यह स्त्री-पुरुष का संबंध दो भागों में विभक्त किया जा सकता है; विवाहित और अविवाहित जीवन। 'कंकाल' के पात्रों में कई एक ऐसे हैं जो जारज कहे जा सकते हैं। उपन्यास की नायिका तारा और नायक विजय दोनों ही जारज सन्तान थे और तारा का पुत्र भी जारज था।

सम्भवतः हमारे धार्मिक लोग इसे वर्णसंकरता का प्रचार कहें पर यहाँ तो उपन्यासकार का तात्पर्य इससे भी अधिक गहन है। समाज में विवाह केवल एक मर्यादा को क़ायम रखने के लिए होता है पर यदि यह मर्यादा अपना रूप बदलकर हमारे पैर में बेड़ी के समान हो जाय तो क्या हम इसे तोड़ न फेंकेंगे? हिंदुओं का विवाह इसी प्रकार अपनी आत्मा खोकर हमारे लिए एक शृङ्खला से अधिक कुछ नहीं रह गया है। तब क्यों न नवयुग की आत्मा विजय के शब्दों में पुकार उठे?—

'घण्टी, जो कहते हैं अविवाहित जीवन 'पाशव' है, उच्छृङ्खल है, वे भ्रांत हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों? मन्त्रों का महत्व कितना? झगड़े की विनिमय की यदि संभावना रही तो वह समर्पण ही कैसा। मैं स्वतंत्र प्रेम के सत्ता को स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या!'

विजय के मुख से कही हुई यह बातें नवयुग के अंतःकरण से निकली हुई आवाज़ की प्रतिध्वनि है। इसमें प्रेम को व्यवसाय के ऊपर स्थान दिया गया है और उस व्यापारिक विवाह की भावना पर कुठाराघात किया गया है जिसने हिंदू जाति को मृतक समान बना दिया है। 'स्वतंत्र-प्रेम' तो तब ही हो सकेगा जब स्त्री-पुरुष स्वतंत्र होंगे और उसका अनुभव कर सकेंगे। दुधमुहें बच्चे, जिन्हें यौवन में पदार्पण करने से पहले ही विवाहसूत्र में आबद्ध कर दिया जाता है, उन्हें प्रेम से क्या?

इसी प्रकार उपन्यास के प्रारम्भ में मंगल और तारा का प्रेम क्या किसी विवाहित दम्पति के प्रेम से कम था? और क्या तारा का सारा जीवन मंगल के साथ प्रेम-सूत्र में आबद्ध हो जाने का परिशिष्ट न था? क्या तारा का पातिव्रत—जो किन्हीं मंत्रों या शपथों के कारण नहीं था, केवल स्वतंत्र प्रेम के कारण था—किसी भी सीता या दमयंती के पातिव्रत से कम था? क्या उसके ये शब्द किसी भी पतिव्रता स्त्री को लज्जित करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं!—

'भगवान जानते होंगे कि तुम्हारी शैय्या पवित्र है। कभी मैंने स्वप्न में भी तुम्हें छोड़कर इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया और न तो मैं कलुषित हुई।' केवल यही नहीं। तारा का सारा जीवन अपने प्रथम प्रेम की उपासना थी। उसे किसी विवाह-बंधन ने नहीं बाँध रखा था—वह बंधन जिस पर समाज इतना दर्प करता है—पर फिर भी कितनी स्त्रियाँ ऐसी होंगी जो तारा की कठिनाइयों की उपेक्षा कर अपने निर्धारित मार्ग पर अटल रह सकें? यह नहीं कि तारा को मंगल से प्रेम करने के बाद जीवन में प्रलोभन न मिले हों। विजय ने उससे प्रेम करना चाहा, उससे विवाह कर उसे सुखी बनाना चाहा पर तारा अपने प्रेम-आदर्श पर दृढ़ रही। क्या इस आदर्श प्रेम की अणु मात्र अनुभूति भी हमें विवाह-बंधन में मिल सकती है? तुलनात्मक दृष्टि से देखते हुए हमें विवाह एक बीहड़ मरुभूमि के समान प्रतीत होता है जहाँ कहीं-कहीं छोटे-छोटे मरुउद्यान जीवन में स्नेह धारा बहा रहे हैं। और तारा का मंगल के प्रति स्वतंत्र प्रेम हमें गंगा की सलिल धारा के समान प्रतीत होता है जो अविरल गति से सुख बिखेर रहा है।

जहाँ एक ओर हमें प्रेम की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है वहाँ दूसरी ओर किशोरी और श्रीचंद के विवाहित जीवन में हमें विवाह-संस्था की त्रुटियों के मनन करने का अपूर्व अवसर मिलता है। किशोरी हर स्त्री की तरह विवाह के परिणाम-स्वरूप पुत्र से वंचित नहीं रहना चाहती। पुत्र की कामना एक हिन्दू स्त्री के जीवन की सबसे बड़ी कामनाओं में से है। प्रकृति ने तो उसे इसलिए बनाया ही है, पर भारतीय सामाजिक आदर्शों ने इस कामना को और भी गहन बना दिया है। स्त्री को पुत्र के बिना प्यार से वंचित रहना पड़ता है और इसी कारण अनेक प्रकार

की सामाजिक अवहेलना सहना स्त्री के जीवन की प्रतिदिन की घटनाएँ हैं। तब क्या आश्चर्य कि स्त्रियाँ पुत्र-प्राप्ति के लिए महात्माओं के चरणों को न चूमें। अनेकों स्त्रियाँ जब पुत्र-कामना से प्रेरित होकर निरंजन जैसे नवयुवक महात्माओं के पास जाती हैं तब क्या आश्चर्य है कि उनमें से कितनों की दशा किशोरी के समान न हो जाय!

उपरोक्त उदाहरणों से यदि पाठक इस निर्णय पर पहुँचें कि उपन्यासकार का आशय सामाजिक जीवन में अनियम फैलाने का है या वर्णसंकरता का प्रचार करना है तो यह दृष्टिकोण बड़ा भ्रमात्मक होगा। 'प्रसाद'जी तो प्रेम को अपने विशिष्ट आसन पर बैठाने के बाद जीवन को नियमित ही देखना चाहते हैं और इसी कारण वह मंगल और गाला को प्रेम-सूत्र में आबद्ध कर उसे एक सामाजिक रूप दे देते हैं। पर इसमें न कोई आडम्बर है, न व्यवसाय। यह तो मनुष्य जाति की सेवा में अग्रसर होने का एक साधन मात्र है।

'कंकाल' का दूसरा दृष्टिकोण हिंदू समाज में स्त्रियों की स्थिति का हृदय-विदारक चित्रण करना है। वह अबला है और उसने पुरुष के क्या-क्या अत्याचार नहीं सहे? परन्तु फिर भी वह पतित पावनी गङ्गा के समान सबको सींचती जाती है। आरम्भ में ही गुलेनार रूपी तारा क्या पुरुषों का खिलौना नहीं थी और क्या तारा जैसी अनेकों युवतियाँ पुरुषों की कामाग्नि में पतंगों के समान जल कर स्वाहा नहीं हो जातीं? उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, वह तो केवल पुरुषों के हाथ की कठपुतली होती हैं। यों चाहे गुलेनार का जीवन अबला स्त्री के पतन की पराकाष्ठा भले ही हो पर तारा का समस्त जीवन अबला स्त्री के रुदन का सकरुण इतिहास है। इस इतिहास में एक बार पतन होने पर उन्नति का मार्ग ही बन्द हो जाता है। तारा ने एक भूल की, जो उसी के शब्दों में यह थी—'मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न कर लिया और कुछ मन्त्रों से लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं कर लिया, पर किया था प्रेम।' इसी एक भूल के कारण तारा की सारी समाजिकता पानी के बुलबुले के समान नष्ट हो गयी। यह तो हुआ नैतिक दृष्टिकोण, पर इससे सम्बन्धित और भी कई दृष्टिकोण हैं जिनसे स्त्री के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

एक जगह घण्टी कहती है—'हिंदू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, इसमें उनके लिए कोई अधिकार हो तब तो सोचना विचारना चाहिए। और जहाँ अंध-अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है......उसे क्यों छोड़ दूँ? यह कैसे हो, क्या हो और क्यों हो, इसका विचार तो पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हें हिसाब बनाना है, कौड़ी पाई लेना है। और स्त्रियों को भरना पड़ता है, तब इधर-उधर देखने से क्या। 'भरना है' यही सत्य है। उसे दिखावे के आदर से ब्याह करके भरा लो या व्यभिचार कहकर तिरस्कार से।'

दूसरी जगह यमुना कहती है—'कोई समाज स्त्रियों का नहीं, बहन! सब पुरुषों के हैं। स्त्रियों का एक धर्म है, आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिए यही पूर्णता बता दी है।'

इसके अतिरिक्त कई जगह उपन्यासकार ने स्त्री-पुरुषों की असमानता पर कटाक्ष किया है। नीचे कुछ थोड़े से उदाहरण दिये जाते हैं।

घंटी एक जगह स्त्री-शिक्षा पर कहती है—'पुरुष उन्हें इतनी ही शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं, जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो। घरों के भीतर अन्धकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें अत्याचार के परदे में छिपाई जा रही हैं।'

'स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।'

'नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है।'

इन और अनेक स्थानों पर पुरुष जनित इस असमानता का उन्होंने हृदयद्रावी चित्रण किया है और स्त्री स्वभाव को निश्छलरूप से पाठकों के सम्मुख रखा है।

परन्तु वह केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं हो गये। जहाँ उन्होंने सामाजिक असमानताओं, कुरीतियों और दुर्व्यवहारों के प्रति हमारे हृदय में घृणा उत्पन्न की, वहाँ वह उस नये पथ के प्रदर्शक भी बने जिस पर आगे चल हम हिन्दुओं में नवजीवन संचार कर सकते हैं। 'भारत संघ' की स्थापना इसी उद्देश को लेकर की गई थी और यही हिन्दू जाति के जीर्ण शरीर में फिर से नव-जीवन संचार करने की क्षमता रखता है। इसके लिए इसके उद्देशों पर ही दृष्टि डालना पर्याप्त होगा।

'भारत संघ' हिन्दू धर्म का सर्वसाधारण के लिए खुला हुआ द्वार—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (जो किसी विशेष कुल में जन्म लेने के कारण संसार में सबसे अलग रह कर निस्सार महत्ता में फँसे हैं) से भिन्न एक नवीन हिन्दू जाति का सुदृढ़ केंद्र, जिसका आदर्श प्राचीन है—राम, कृष्ण, बुद्ध की आर्य्य-संस्कृति का प्रचारक वही 'भारत संघ' सब को आमंत्रित करता है।

'भारत संघ' वर्तमान कष्ट के दिनों में वर्गवाद, धार्मिक पवित्रतावाद, आभिजात्यवाद इत्यादि अनेक रूपों में फैले हुए सब देशों के भिन्न-भिन्न प्रकार के जातिवादों की अत्यंत उपेक्षा करता है।

'मनुष्य अपनी सुविधा के लिए अपने और ईश्वर के संबंध को धर्म, अपने और मनुष्यों के संबंध को नीति, और रोटी बेटी के संबंध को समाज कहने लगता है।—धर्म और नीति में शिथिल हिन्दुओं का समाज-शासन कठिन हो चला है क्योंकि इसमें दुर्बल स्त्रियों पर ही शक्ति का उपयोग करने की क्षमता बच रही है। 'भारत संघ' ऋषि-वाणी को दुहराता है 'यत्र नार्यस्तु, पूज्यंते रमंते तत्र देवता' और कहते हैं, स्त्रियों का सम्मान करो।

उपरोक्त विचारों में भावी हिन्दूधर्म किस पथ का अनुगामी होकर अपना जीर्णोद्धार कर सकता है यह स्पष्टतया बता दिया गया है। हमें झूठी महत्ता का त्याग करना होगा। वर्गवाद और जातिवाद को जड़ से खोद कर फेंक देना होगा। स्त्रियों को उनका उचित स्थान देकर उनके साथ न्याय करना होगा। यही बातें हैं जिन्हें हमें अपने जीवन में कार्य्य रूप में परिणत करनी होंगी।

'भारत-संघ' की स्थापना पर निरंजनदेव ने जो विचार प्रगट किए वह बहुमूल्य हैं और हमारे शिक्षित वर्ग के विचारों का प्रतिबिंब हैं। उनके व्याख्यान का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है।

'प्रत्येक समाज में संपत्ति, अधिकार और विद्या ने भिन्न देशों में जाति-वर्ण और ऊँच नीच की सृष्टि की। जब आप उसे ईश्वर कृत विभाग समझने लगते हैं तब यह भूल जाते हैं कि इसमें ईश्वर का उतना संबंध नहीं जितना उसकी विभूतियों का। कुछ दिनों तक उन विभूतियों के अधिकारी बने रहने पर मनुष्य के संस्कार भी वैसे ही हो जाते हैं और वह प्रमत्त हो जाता है। प्राकृतिक ईश्वरीय नियम विभूतियों का दुरुपयोग देखकर विकास की चेष्टा करता है, वह कहलाती है, उत्क्रांति। उस समय केन्द्रीभूत विभूतियाँ मानव स्वार्थ के बंधनों को तोड़ कर समस्त भूतहित बिखरना चाहती हैं। यह समदर्शी भगवान की क्रीड़ा है।'

'यद्यपि अन्य देशों में भी इस प्रकार के समूह बन गये हैं, यहाँ उनका भीषण रूप है। महत्व का संस्कार अधिक दिनों तक प्रभुत्व भोग कर खोखला हो गया है। समाज अपना महत्व धारण करने की क्षमता तो खो चुका परन्तु व्यक्तियों की उन्नति में दल बनाकर सामूहिक रूप से

विरोध करने लगा है।...वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना परन्तु, द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में अधिक सहायक हुआ।...गुण-कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर आभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई। वर्णों के शुद्ध वर्गीकरण के लिए इस प्रतिवाद को मिटाना होगा। भगवान का स्मरण कर नारी-जाति पर अत्याचार करने से विरक्त रहो। किसी को शबरी के सदृश अछूत मत समझो, किसी को अहिल्या के सदृश पापिनी मत कहो। किसी को लघु न समझो। सर्वभूत हित-रत होकर भगवान के लिए सर्वस्व समर्पण करो।'

'घरों के परदे की दीवारों के भीतर नारी-जाति के सुख, स्वास्थ्य और संयत-स्वतंत्रता की घोषणा करें। उनमें उन्नति, सहानुभूति क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलायें। हमारा देश इस संदेश से—नवयुग के संदेश से—स्वास्थ लाभ करे। आर्य ललनाओं का उत्साह सफल हो, यही भगवान से प्रार्थना है।'

यह है भारत के उज्ज्वल भविष्य का आदर्श जिस पर चलकर हम सुन्दर समाज की नींव डाल सकते हैं। 'कंकाल' का संदेश है, स्त्रियों का सम्मान करना, उनकी समानता को स्वीकार करना और धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचारों को रोकना। 'कंकाल' का उद्देश्य प्रधानतः स्त्री-पुरुष की समस्या को ही हल करना है। यों तो इसमें हमारे जातिवाद, वर्गवाद और धार्मिक संकीर्णता का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है, पर सबसे अधिक इसमें स्त्री-पुरुष के नैतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों पर ही तीव्र प्रकाश डाला गया है। यहीं 'कंकाल' की विशेषता है और इसी कारण यह भारतीय जागरण के युग की एक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना है।

खोया-प्यार

कमला कुमारी

खोलो अपने मन-मन्दिर का—
बन्द हुआ कोमल-तम द्वार,
दग्ध-हृदय को शीतल कर दो
मेरे प्रियतम, बनो उदार।

अति विलम्ब, से यहाँ खड़ी है,
दर्शन की प्यासी अनजान;
तनिक झाँक कर नभस्थान से,
बिखरा दो मञ्जुल मुसक्यान।

निशि में जला दीप तारों का,
रजनी करती है अभिसार;
तुम्हें ढूँढ़ती है विह्वल-सी,
कर में लेकर मुक्ता-हार।

पर जब यहाँ न तुमको पाती—
गिरा अश्रु बूँदे दो-चार;
पगली चल देती किस तल में,
कहाँ खोजने खोया प्यार ?

प्राची का मृदु द्वार खोल कर,
किरनों का लेकर उपहार;
कौन सुन्दरी अति सुकुमारी
करती है नभ-गंगा पार ?

क्या रजनी के बाद उषा अब,
तुम्हें खोजने को तैयार—
होकर, आई है वसुधा पर,
करके शुचि सुन्दर शृङ्गार ?

रजनी और उषा दोनों ही,
खोज-खोज कर थकित अपार !
छिप जाती हैं किस जगती में,
कहाँ खोजने खोया-प्यार ?

मानवता के मार्ग

वामन चोरघडे

जब मैं नदी पर पहुँचा तब सवेरा हो चुका था। निसर्ग फूल की भाँति खिला हुआ था। प्रवाह की हलचल शांत हो गई थी। पक्षियों का कलरव शुरू हो गया था।

सीटी बजाते हुए मैं न मालूम कितनी देर तक खड़ा रहा। कुछ समय के बाद पास के क्षितिज से सूर्य-बिंब ऊपर आता दिखाई दिया। विद्यमान सृष्टि पर तेज छा गया। सूर्य लहराते हुए पानी पर नाचने लगा। मैं जेब से चाक़ू निकालकर दतून तोड़ने के लिए बबूल के एक वृक्ष की ओर चल दिया। काँटा न लगने पाए, इस विचार से मैं डालियाँ बड़े धीरे-धीरे खींचता था। एक पतली शाखा को दो उँगलियों के बीच पकड़ कर मैंने चाक़ू मारा। किंतु हाय! वह निशाना चूककर मेरी उँगली पर लगा और ख़ून बहने लगा। मेरी जान तड़प गई। पास में कोई उपचार न था इस-लिए मैंने उँगली को ज़ोर से पकड़ रखा और मरुस्थल के बालुका में जा बैठा।

—'बेंऽऽऽ—' मेरे पीछे से आवाज़ आई। मैंने घूमकर देखा। एक आदमी दो भेंड़ों को पकड़े चला आ रहा था। आते ही वह पानी में उतरा और भेंड़ों को भी पानी में ढकेल दिया। वे बेचारी इधर उधर भागने का विफल प्रयास करने लगीं।

मैं स्वयं अस्वस्थ था ही कि उसमें उनके रुदन का भी मेल हो गया। एकदम मुझे एक पुरानी घटना स्मरण हो आई।

जब...जब उस दिन भी इसी समय मैं यहीं बालू पर बैठा था। इतने में एक मध्यम वयस का किसान एक भेड़ को लिए हुए नदी पर आ पहुँचा और उसने भी भेड़ को पानी में ढकेल दिया। मैं उसकी ओर देखने लगा। उस भेड़ के शरीर पर की मख़मल-सी ऊन गीली हो गई थी। किसान ने उसको यथास्थान धोया और बाहर निकालकर अपने कपड़ों से उसे अच्छी तरह पोंछा। थोड़ी देर ही भेड़ के धूप में रहने से उसका चिल्लाना बन्द हो गया। वह चलने लगी और उसके पीछे किसान भी चला। मैंने देखा कि उस बालुका-राशि में भेड़ के पदचिन्ह बनते जाते थे और पीछे आने वाले आदमी के पद चिन्हों से वे मिटते भी जाते थे।

मेरा मन ग्लानि से भर आया।

घर आते ही, रामजी ने—जो कि उस किसान का नाम था—उस भेड़ की रस्सी थाम कर उसे अपने पुत्र के सिपुर्द किया और ख़ुद घर में गया। आँगन में एक ओर बाजे वाले बैठे थे।

दूसरी ओर पण्डित एकत्रित थे और रामजी से बार-बार जल्दी आने के लिए कह रहे थे। यह सब क्या हो रहा था, इसकी मुझे ज़रा भी ख़बर न थी। इतने में रामजी बाहर आया। उसकी एक मुट्ठी कुंकुम से भरी थी और दूसरे हाथ में मोर का एक पूरा पर था। उसने कुंकुम का एक बड़ा टीका भेड़े के सिर पर लगाया और उसकी रस्सी तोड़कर उसे वहाँ बाँध दिया। बाजेवाले को बाजा बजाने का आदेश देकर वह फिर घर के अन्दर चला गया। नहा-धोकर वह थोड़ी देर में लौटा। उसके हाथ में एक पूजा-पात्र था। आटे के बने हुए दीपकों में आरती चमक रही थी। भेड़े के ऊपर से आरती उतारी गई। मृत्यु के पहले भेड़े का यह सौभाग्य देखकर मेरे पेट में जैसे एक अग्नि जल उठी।

रामजी ने अपने मस्तक पर कुंकुम का तिलक लगाया और अपनी घरवाली को पुकारा। वह अन्दर से आ गई। उसने पीले रंग की बालियाँ पहन रखी थीं। उसकी गोद में एक चार साल का लड़का था, जिसके शरीर पर एक मलिन ओढ़नी होने के कारण केवल उसकी रंगीन कपड़े की टोपी ही दिखाई देती थी।

सबसे आगे बाजेवाले, बीच में भेड़ और उसके पीछे रामजी चले जा रहे थे। रामजी की स्त्री तथा पड़ोसियों को मिलाकर क़रीब बीस आदमियों का वह जुलूस था। उस भेड़े को कोई सन्देह हुआ या नहीं?

आज उसे सुनहरे रंग के गेहूँ खाने को मिले थे। उसके सब अंग बगुले के पर के समान साफ़ धोये गये थे। और वह अपनी ही इच्छा से इधर-उधर टहलता हुआ चल रहा था। अबकी दफ़ा फिर मैंने देखा कि भेड़ के छोटे-छोटे गोल-गोल पाँव ज़मीन पर उभर आते थे और रामजी के पैरों से वे निशान मिट जाते थे। मेरे हृदय पर तो जैसे भय से अँधेरा छा गया। कितनी डरावनी घटना!

एक टूटे-फूटे मन्दिर के सामने यह जुलूस रुका। मन्दिर को नीम की पत्तियों से सजाया गया था। एक त्रिशूल सामने गड़ा हुआ था, और उसको सिंदूर से रँगा गया था। मन्दिर के सीढ़ियों पर मुर्ग़ियों के बच्चे चहचहा रहे थे।

मन्दिर के भीतर जगन्माता देवी पत्थर के रूप में सिंदूर से रँगी बैठी थीं। आँखों में भी सिंदूर भरा होने के कारण वे अपने भक्तों के इस वैभव को देखने में असमर्थ थीं। रामजी, उसकी स्त्री तथा बच्चों और कुछ पड़ोसियों के अन्दर जाने पर देवी की पूजा प्रारम्भ हुई। दही और चावल देवी को खिलाया गया। फिर फूल चढ़ाये गये। नारियल और कपड़ा उनकी गोद में डाला गया। गुगुल और ऊद की उग्र सुगन्ध आने लगी।

उन खेलते हुए मुर्ग़ी के बच्चों में से एक देवी को अर्पण किया गया। यह सब हो चुकने के बाद रामजी की निगाह उस भेड़ की तरफ़ गई। वह बेचारा लेटा था। मालूम नहीं गुगुल की तेज़ ख़ुशबू के कारण या अपनी मृत्यु के भय के कारण उसने एक हृदय विदारक चीख़ छोड़ी। रामजी ने उसको देवी के पास खड़ा किया। उसे इस प्रकार खड़ा किया गया कि उसका सिर कट जाने के बाद रुधिर की धारा देवी के मस्तक पर ही पड़े! और वह देवता की प्रार्थना करने लगा—देवी, तू मेरी माता है, मेरे कर्म-काण्ड में यदि कोई भूल हुई हो तो उसे क्षमा कर दो! यह बच्चा भी तुम्हारा ही है। यह स्वस्थ रहे। भूतों और प्रेतों से इसकी रक्षा तुम्हीं कर सकती हो। इस भेड़ को तुम्हारे चरणों में अर्पण करता हूँ, सन्तुष्ट होकर स्वीकार करो!

उसकी स्त्री ने भी इसी तरह प्रार्थना की। बच्चे के माथे पर पास की राख लगाई गई। एक गँड़ासा लेकर रामजी उस भेड़ के पास गया और ज़ोर से उसने उसकी गर्दन पर

गँड़ासा मारा। भेड़ा आर्त-क्रंदन कर उठा! किंतु उसके चिल्लाने का किसी को क्या ख़्याल? दो बार वार करने पर देवी के सिर पर रुधिर की धारा बह चली! एक अत्यन्त असहाय क्रन्दन-ध्वनि के साथ उसका सिर नीचे आ पड़ा और देवी के चरणों में गिर पड़ा। देवता द्वारा ही निर्मित एक जीवधारी, देवी की बलि चढ़ गया। बलि देने वाला कौन? देवता द्वारा ही निर्मित मानव, रामजी। विधि का विधान!

रामजी का मुख कमल की भाँति खिल उठा। उसके लड़के की रोग-व्याधि का अब अन्त होनेवाला था। वह सुख पानेवाला था। देवी उसके ऊपर कृपा करने वाली थीं। मरे हुए भेड़ की आज सबको दावत दी जायगी। पड़ोसियों की दृष्टि में रामजी एक बड़ा भगत था।

जुलूस वापस आया। पूजा की थाली बच्चे के हाथ में थी, भेड़े का शरीर रामजी ले आ रहा था और उसमें से ख़ून टपक रहा था।

फिर एक बार मैंने देखा कि जिस ज़मीन पर थोड़ी देर पहले उस भेड़े के पैर पड़े थे, उसी धरती पर उसका ख़ून इस वक्त गिर रहा था। रामजी के पैर वैसे ही पड़ रहे थे, और पीछे आनेवाले आदमियों के पैरों से वे निशान मिटते भी जाते थे। इसका नाम है, काल की महिमा!

× × ×

नदी पर आये हुए उन दो भेड़ों को देखते ही मेरी आँखों के सामने ऊपर का यह दृश्य चल-चित्र की भाँति घूम गया। वह आदमी अभी तक उनको नहला रहा था। मेरी उँगली से ख़ून बहना बन्द हो गया था।

मैंने अपने मन में विचार किया, बेचारों को जब मारना ही है, तो इस नहलाने-धुलाने की आवश्यकता? क्रोध से मैं कुछ कह न सका। इस आदमी का मान अधिक मालूम होता है, क्योंकि यह दो भेड़ों का बलिदान करने जा रहा है। मैं उससे कुछ कहने ही वाला था कि उसने भेड़ों को बाहर निकाला। फिर मुझे मालूम हुआ—अब वह उनको छुरी से......सहमी हुई आँखों से मैं उसकी हर एक हरकत को देख रहा था। वह अपने ही कार्य में मग्न था। भेड़ों के शरीर पर के बाल बिल्कुल भीग गये थे। उन्हें अच्छी तरह पोंछकर वह उन्हें लेकर बाहर चला। आँगन में आते ही उसने अपनी पत्नी को पुकारा और एक कम्बल माँगा। आँगन में कोई भी दिखाई नहीं देता था। बाजेवाले भी न थे। कम्बल को उसने फैलाया और उस पर उन दोनों को बैठा दिया।

मेरा अनुमान तो यह था कि अब वह आरती की थाली लिए हुए अपनी पत्नी के साथ बाहर आयेगा, किन्तु मेरा यह अनुमान ग़लत निकला। बाहर कोई नहीं आया। वह अन्दर ही बातचीत कर रहा था—

'खाना पक गया या नहीं?'

'नहीं।'

'कितनी देर है, अभी?'

'एक घण्टे की। मैं आपको खेत में ही खाना लाकर दूँगी।'

'नहीं, आज मैं काम पर नहीं जाता। खाना तैयार होने पर मुझे बुला लेना।'

वह बाहर निकल आया। भेड़े धूप में आराम से बैठे थे।

यथावकाश वह आदमी उनके पास गया। एक को उठाकर उसने अपनी गोद में लिया और बड़े प्रेम से उसे चूमा।

मैंने मन में कहा—रे मूर्ख! यदि तुझे इससे इतना ही प्रेम है तो बेचारों की बलि क्यों चढ़ाता है?

उसने उसके सिर पर हाथ फेरा। पीठ पर एक हलकी-सी चपत लगाई। उसने अपना पंजा उनके बालों में डाल कर देखा कि वे सूख गए हैं या नहीं। वे तृण की भाँति सूख गए थे। वह बैठ गया। उसने जेब से एक क़ैंची निकाली और भेड़ों के बाल काटने लगा।

वह अपने आप में मग्न था। उसका मुख सतेज, खिला हुआ और हर्षोत्फुल्ल था। किंतु उसके सम्मुख सिंदूर से रँगी हुई देवी न थी जो रुधिर से नहाने के लिए लालायित थी, वरन् एक विपुल ऊन का ढेर पड़ा था और देवता द्वारा निर्माण किए हुए दो प्राणधारी एक दूसरे की कामनाओं को पूरा कर रहे थे!

वसन्त-प्रभा में—

विनय कुमार

लाई सरस-सँदेश कहाँ से? कोयलिया री!
फूल उठी है आज जिसे सुन क्यारी-क्यारी!!

किरणों ने पथ लीपा किसके शुभागमन में?
लेने चला समीर किसे पुलकित हो मन में?
कैसी आज प्रसन्न दीखती मधुशाला री?

बोल, अचानक इंद्र-धनुष से लेकर कूँची!
किसने कलिएँ रँगीं मौन, लुक प्रात समूची?
फिर उनमें किस लिए मधुर आसव डाला री?

गूँज रही है वेणु, कि गाते हैं अलि-छौने?
उड़ता पीत-पराग, कि आते प्राण-सलौने?
उत्सुक लहरें झाँक रही हैं उठ-उठ क्या री?

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी ×

स्व० प्रेमचन्द

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक विशेष अङ्ग है। श्रीमती ख़लीदा अदीब ख़ानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो; परन्तु बौद्धों के पतन के उपरान्त उसकी राष्ट्रीयता का भी अन्त हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्त्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खंड-खंड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासन-काल में भी जो कुछ हुआ था, उसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत थोड़े दिनों से संसार में उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरम्भ अंगरेज़ी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ था। और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अंगों और तत्वों में कोई ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंगरेज़ी शासन उठ जाय तो इन तत्वों में जो एकता इस समय दिखाई दे रही है, बहुत सम्भव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा नया संघटन उत्पन्न हो जाय जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंगरेज़ों के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है; इसलिए यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरम्भ हो जायगी और एक ऐसा समय आयेगा, जब कि भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों के साहित्यिक-मंडल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के क़ाबिल हो जायगी।

× प्रथम प्रकाशित, 'ज़माना' (उर्दू), अप्रैल १६३५।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय-भाषा का स्वरूप क्या हो ? आज-कल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो भाषाएँ प्रचलित हैं उसमें तो राष्ट्रीय-भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उनके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय-रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इनमें से कौन सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज़्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उनमें खींचातानी हो रही है। यहाँ तक कि इस मत-भेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शान्त चित्त और शान्त मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गए हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असम्भव समझकर हिम्मत न हार बैठें तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी-न-किसी प्रकार मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

देश में ऐसे आदमियों की संख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतंत्र उन्नति और विकास के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहते। उन्होंने यह मान लिया है कि आरम्भ में इन दोनों के स्वरूपों में चाहे जो कुछ एकता और समानता रही हो लेकिन फिर भी इस समय दोनों की दोनों जिस रास्ते पर जा रही हैं, उसे देखते हुए इन दोनों में मेल और एकता होना असम्भव ही है। प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। उर्दू का फ़ारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। और हिन्दी का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है। उनकी यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नहीं सकते। फिर इन दोनों को आपस में मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यों व्यर्थ इन दोनों को हानि पहुँचावें।

यदि उर्दू और हिन्दी दोनों अपने आप को अपने जन्म-स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक ही परिमित रखें तो हमें इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विकास के सम्बन्ध में कोई आपत्ति न हो। बँगला, मराठी, गुजराती, तमिष, तेलगू और कन्नडी आदि प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। उन्हें अधिकार है कि वे अपने अन्दर चाहे जितनी संस्कृत, अरबी या लैटिन आदि भरती चलें। उन भाषाओं के लेखक आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं; परन्तु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है। यहाँ तो दोनों ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती हैं। परन्तु वे अपने व्यक्तिगत रूप में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसीलिए संयुक्त रूप में स्वयं ही उनका संयोग और मेल आरम्भ हो गया। और दोनों का वह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी ज़बान कहते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय-भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फ़ारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है। यदि इन दोनों भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी अपनी साहित्यिक भाषाओं में बातें करें तो शायद एक दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्व-सामान्य-बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। वह इस बात की क्यों परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह फ़ारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है ? वह तो केवल यह मान-दंड अपने सामने

रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं या नहीं और जन-साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बंगाली, महाराष्ट्र और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा या पारिभाषिक शब्द जन-साधारण में प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि वह कहाँ से निकला है और कहाँ से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंगरेज़ों की भाषा अंगरेज़ी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिन्दुस्तानी कहना केवल उचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिन्दुस्तान न कहकर केवल हिन्द कहें तो इसकी भाषा को हिन्दी कह सकते हैं। लेकिन यहाँ की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता, जब तक हम हिन्दुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। प्राचीन काल के लोग यहाँ की भाषा को हिन्दी ही कहते थे। और ख़ुसरो ने ख़ालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रन्थ की रचना में कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जन-साधारण को आवश्यकता के शब्द उन्हें दोनों ही रूपों में सिखलाए जायँ जिसमें उन्हें अपने रोज़मर्रा के कामों में सहूलियत हो जाय। अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहाँ हुई थी। जो हो, परन्तु भारतवर्ष की राष्ट्रीय-भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी, बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उसके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है, लेकिन फिर भी लिखी कहीं नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यज्ञ उसे टाट बाहर कर देते हैं। वास्तव में उर्दू और हिन्दी की उन्नति में जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नहीं लिखते, बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएँ जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिलकुल ठीक है कि किसी देश में भी लिखने और बोलने की भाषाएँ एक नहीं हुआ करतीं। जो अंगरेज़ी हम किताबों और अख़बारों में पढ़ते हैं, वह कहीं बोली नहीं जाती। पढ़े-लिखे लोग भी उस भाषा में बात-चीत नहीं करते, जिस भाषा में ग्रन्थ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते हैं। और जन-साधारण की भाषा तो बिलकुल अलग ही होती है। इंग्लैंड के हर एक पढ़े लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जाने वाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान में भी चाहते हैं।

परन्तु आज क्या परिस्थिति है? हमारे हिन्दी वाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हें 'मनुष्य' से तो प्रेम है परन्तु 'आदमी' से पूरी पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख़्वास्त' जन-साधारण में भली भाँति प्रचलित है, परन्तु फिर भी उनके यहाँ इस का प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थनापत्र' ही लिखना चाहते हैं, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिलकुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफ़ा' को वे किसी तरह मंजूर नहीं कर सकते और इसके स्थान पर वे 'त्यागपत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज़' चाहे कितना ही सुबोध क्यों न हो, परन्तु उन्हें 'वायु यान' की सैर ही पसन्द है। उर्दू वाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू हैं। वे 'ख़ुदा' को तो मानते हैं, परन्तु 'ईश्वर' को नहीं मानते। 'क़ुसूर' तो वे बहुत से कर सकते हैं, परन्तु 'अपराध' कभी नहीं कर सकते। 'ख़िदमत' तो उन्हें बहुत पसन्द है, परन्तु 'सेवा' उन्हें एक आँख भी नहीं भाती। इसी तरह हम लोगों ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग अलग कैम्प बना लिए हैं और मजाल नहीं कि एक कैम्प का

आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुक़ाबले में उर्दू में कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेलजोल पैदा कर देना चाहती है, जिसमें दोनों एक दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें; और वह भी सिर्फ़ मेहमान की हैसियत से नहीं, बल्कि घर के आदमी की तरह। 'गारसन डि टासी' के शब्दों में उर्दू और हिन्दी के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अङ्गरेज़ी भाषा के भी अनेक रङ्ग हैं। कहीं लैटिन और यूनानी शब्दों की अधिकता होती है, कहीं एंग्लो-सैक्सन शब्दों की। परन्तु हैं दोनों ही अङ्गरेज़ी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दों के विभेद के कारण दो भिन्न भिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय-राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं और जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमन्त्रण ग्रहण करें जो कोई नई भाषा नहीं है, बल्कि उर्दू और हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त प्रान्त के अपर प्राइमरी स्कूलों में चौथे दरजे तक इसी मिश्रित भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती हैं। केवल उनकी लिपि अलग होती है। उनकी भाषा में कोई अन्तर नहीं होता। इसमें शिक्षा विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियों में बचपन में ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दों से भली भाँति परिचित हो जायँगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेंगे। इसमें दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गई हैं कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों को कुछ भी साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता और वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरों के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए एक साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़ने वाले लड़कों के पास फ़ारसी और अरबी शब्दों का और हिन्दी पढ़नेवाले लड़कों के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भंडार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहाँ उर्दू और हिन्दी का विभेद आरम्भ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी-भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं के पास पहुँच जाती है। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाये शब्द मिल जाते हैं। लिखावट में साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि, आदि। इसी तरह उर्दू का झंडा लेकर चलनेवाले कहते हैं कि फ़ारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएँ, जैसे फ़ारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या-सम्बन्धी भांडार मिल जाता है जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेख-शैली में गम्भीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यों न इन दोनों को अपने-अपने ढंग पर चलने दिया जाय और उन्हें आपस में मिलाकर क्यों दोनों के रास्तों में रुकावटें पैदा की जायँ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जायँ, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान में कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमें आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी

परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे हम दिन पर दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप पहुँचते जायँ, और सम्भव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणत हो जाय।

हिन्दुस्तान के हर एक सूबे में मुसलमानों की थोड़ी-बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्त प्रान्त के सिवा और और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बँगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नडी, मदरास का तमिष और पंजाब का पंजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने-अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्य प्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिल्कुल आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक अपनी भी बना सकते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्त प्रांत और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं? हमारे सूबे के देहातों में रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों में देहाती ज़बान ही बोलते हैं। बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोलचाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी ही हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तकों और समाचार पत्रों में व्यवहृत होते हैं और कभी-कभी पण्डितों के भाषणों में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हज़ार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फ़ारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होंगे। क्या उर्दू के वर्त्तमान कोशों में दो हज़ार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोशों में दो हज़ार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाए जा सकते? और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोश की सृष्टि नहीं कर सकते? क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा? हम अंगरेज़ी के असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्त्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े-से शब्द भी याद नहीं कर सकते? उर्दू और हिन्दी भाषाओं में न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दों की संख्या परिमित है। प्रायः साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दों की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से और या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बँगला की तो लिपियाँ भी देव-नागरी से मिलती-जुलती हैं। यद्यपि दक्षिणी भारत की भाषाओं की लिपियाँ बिल्कुल भिन्न हैं; परन्तु फिर भी उनमें संस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फ़ारसी के शब्द भी सभी प्रान्तीय भाषाओं में कुछ न कुछ मिलते हैं। परन्तु उनमें संस्कृत शब्दों की उतनी अधिकता नहीं होती, जितनी हिन्दी में होती है। इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि भारतवर्ष में ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। दूसरे प्रांतों के मुसलमान भी ऐसी हिंदी सहज में समझ सकते हैं; परंतु फ़ारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्तप्रांत और पंजाब के नगरों और क़स्बों तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरों के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं; लेकिन उर्दू बोलनेवाले मुसलमान इसके एक चौथाई से अधिक न होंगे। ऐसी अवस्था में क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इस की आवश्यकता नहीं है कि उर्दू में कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी में भी इसी प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और

इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष में बोली समझी जा सके ? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो ; बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो ? सिन्धी भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिन्धी भाषा की केवल लिपि अरबी है ; परन्तु उसमें हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिए गए हैं। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमें संस्कृत, अरबी और फ़ारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिलकुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में क़िस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परन्तु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमें नहीं लिखे जा सकते। वहाँ तो विवश होकर फ़ारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दों से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या सम्बन्धी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द-भांडारों से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही हैं। उर्दू में भी विज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द बनाए गए हैं और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सभाएँ और संस्थाएँ आपस में मिलकर परामर्श करें और एक दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें ? इस समय सभी लोगों को अलग-अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है, और उसमें बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ में तो यह आता है कि नए सिरे से पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अंगरेज़ी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अंगरेज़ी में ही प्रचलित नहीं हैं, बल्कि प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में उनसे मिलते-जुलते पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है। और मिश्र में थोड़े बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैकड़ों विदेशी शब्द खप सकते हैं, तो फिर पारिभाषिक शब्दों को लेने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है ? यदि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिए तो फिर भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान सम्बन्धी भाषा न बन सकेगी। बँगला, मराठी, गुजराती और कन्नडी आदि भाषाएँ संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती है। उर्दू भी अरबी और फ़ारसी की सहायता से अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परन्तु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अंगरेज़ी पारिभाषिक शब्दों से भी कहीं अधिक अपरिचित होंगे। 'आईन अकबरी' ने हिन्दू दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म-शास्त्र आदि में हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याएँ पाश्चात्य देशों से अपने-अपने पारिभाषिक शब्द लेकर आई हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न होगी। परन्तु सरसता और कोमलता का मान-दण्ड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अपकम

र अंगरेज़ी टोपी बे-जोड़ और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणतः सभी
गह दिखाई देती है। स्त्रियों के लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष स्तम्भ हैं;
रन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते हैं। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण
सकी सरसता ही नहीं है। बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम
रसता और कोमलता की क़ुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो
में इसमें संकोच नहीं होना चाहिए। जब कि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ
ी नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की
थापना करें जिसमें हर एक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए
किसी केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय-भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में
ामने आनेवाली समस्याओं की मीमांसा करें? जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक
ंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर
ाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोणों पर अड़े रहें? अब वह
वसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था
थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी-भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त में
चलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और
द्देश्य क्या होंगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्य-क्रम तैयार करे।
मारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम में ज़्यादा देर करने की गुंजाइश नहीं है।
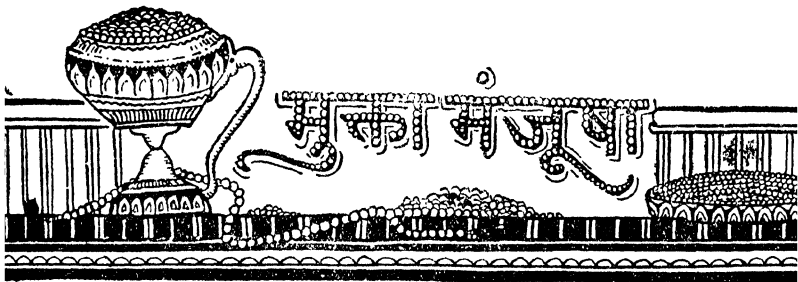
मराठी

साहित्य का व्यवसाय—

इस वर्ष बम्बई-साहित्य-सम्मेलन के सभापति मराठी के प्रख्यात साहित्यिक श्री मामा-साहब वरेरकर थे। मामासाहब उन व्यक्तियों में हैं जो साहित्य का व्यवसाय कर जीवन-यापन कर रहे हैं। उस सम्मेलन में लेखन-व्यवसाय को संरक्षण तथा प्रोत्साहन देने वाले दो प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इस व्यवसाय के लोगों का, संघ स्थापित करने की योजना बन रही है। मामासाहब ने अपने भाषण में ऐसा संघ स्थापित करने का कारण बतलाकर उस पर बड़ा ज़ोर दिया था। हिन्दी के साहित्य सेवियों को भी उन कारणों पर विचार करने की आवश्यकता है। 'हंस' के पाठकों के लिए हम भाषण का वह अंश नीचे उद्धृत करते हैं—

'लेखन-व्यवसाय से ही ज़िंदगी बसर करने वालों के हितों का संरक्षण करने के लिए प्रयत्न होना आवश्यक है। उसके अनेक कारण हैं। आपने जब मुझे सम्मेलन का सभापति चुना तो गत वर्ष में कौन-कौन सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं यह बात जानने के लिए मैंने बंबई के सब प्रकाशकों तथा पुस्तक विक्रेताओं के पास चिट्ठियाँ भेजकर गत वर्ष में प्रकाशित हुई सब पुस्तकों के बारे में जानना चाहा। तीन सप्ताह पहले चिट्ठियाँ भेजने पर भी सिर्फ़ तीन प्रकाशकों ने ही पत्र के जवाब भेजे। जिनके साहित्य से इनकी रोज़ी चलती है और जिनके रक्त पर ये मोटे होते हैं, उनके ही सम्मेलन के कार्य के विषय में ये कितने बेफ़िक्र और उदासीन हैं इसका यह एक ताज़ा उदाहरण है। प्रकाशकों और पुस्तकें बेंचनेवालों की पूंजीशाही, लेखक-मजूरों का इसी प्रकार शोषण करती है।

पुस्तक विक्रेताओं ने अपनी-अपनी दूकानों में एक-एक लाइब्रेरी खोल रखी है। पुस्तक प्रकाशित होते ही उन्हें वे पाठकों को पढ़ने के लिए देते हैं। इससे संग्रहालय तथा वाचनालयों की हानि होती है। पुस्तक की बिक्री पर भी इसका ख़ासा प्रभाव पड़ता है। और इन कारणों से मराठी पुस्तकों का दूसरा संस्करण निकलना मुश्किल हो जाता है। साहित्य का गला जो इस प्रकार घोंटा जा रहा है, उसे रोकने के लिए लेखक तथा पाठकों को तैयार हो जाना चाहिए। साहित्योप-जीवी लोगों की संख्या अब धीरे-धीरे बढ़ रही है, उनको अपना संघ निर्माण करना चाहिए। संघटित होकर ख़ुद प्रकाशक बनना चाहिए। वह समय अब आ गया है।

• • •

ट्राट्स्की और रोमारोलाँ

मराठी के साहित्यिक पाक्षिक 'प्रतिभा' के १ मार्च के अंक में श्री 'प्रोबेक' लिखते हैं—

ट्राटस्की सिर्फ़ बड़े आदमी ही नहीं हैं; वे प्रतीक हैं—पराक्रम, प्रामाणिकता, धैर्य और

तत्वनिष्ठा के वे उज्ज्वल प्रतीक हैं। और भी कई बड़े व्यक्तियों का मैं आदर करता हूँ। रोमा रोलाँ, आइन्स्टीन, बर्नार्ड शॉ, महात्मा गांधी इत्यादि लोगों का महत्त्व मैं जानता हूँ। पर एक आइन-स्टीन को छोड़कर 'ललकार' उन लोगों के जीवन का वर्णन नहीं हो सकता। ट्राट्स्की का जीवन सिर्फ़ जीवन नहीं है, वह 'ललकार' है। उसका पराक्रम नए युग का चमत्कार है; उसकी तत्वनिष्ठा नए युग का प्रबोधन है।

गत नवंबर से स्टालिन ने पुराने षड्यंत्रों के गड़े मुर्दे उखाड़ कर और नए वधस्तंभों पर लटका कर अपने तथा लेनिन के कई सहकारियों को फाँसी पर चढ़ा दिया और कई को जेल में ठूँस दिया। ट्राट्स्की के ख़ून का वह प्यासा है पर उसके दुर्भाग्य से ट्राट्स्की रूस के बाहर है। ट्राट्स्की को देश निकाला देने का अब उसे पश्चात्ताप होता होगा। ट्राट्स्की की जान न मिलने पर अब उसे बदनाम करने का, उसके निष्कलंक क्रांतिनिष्ठ जीवन पर कलंक का धब्बा लगाने का प्रयत्न स्टालिन कर रहा है।

इन तिरष्करणीय अभियोगों के उत्तर में ट्राट्स्की ने सारे संसार को ललकारा है। 'संसार का कोई भी कठोर पर निष्पक्ष न्यायमंडल मेरे ऊपर लगाये गये अभियोगों की जाँच करे और उसमें अगर मैं दोषी साबित होऊँ तो चाहे जो सज़ा भुगतने के लिए तैयार हूँ' यह उनका आवाहन है।

ट्राट्स्की के विरोधी दल में रोमा रोलाँ की तरह प्रख्यात उदारात्मा भी हैं। आज वे शांति के अतिरिक्त दूसरी बात मुंह से निकालने के लिए तैयार नहीं हैं। 'I will not rest'* यह उनका निश्चय है। आज वह सत्पुरुष चुप क्यों बैठा है? अंतर-राष्ट्रीय जाँच कमेटी का उन्हें शौक है। सत्य के सिवा उन्हें और सब कुछ तुच्छ मालूम पड़ता है। ऐसा है तो वे आज इस ललकार का जवाब देने के लिए आगे क्यों नहीं आते?

उर्दू

स्वाधीन-चिन्तन-मण्डल

सुप्रसिद्ध उर्दू मासिक 'कलीम' के मार्च के अंक में भारत में स्वाधीन-चिन्तन का महत्व बताते और उसमें विश्वास रखनेवाले साहित्यकारों और समीक्षकों के एक मण्डल की स्थापना की आवश्यकता दिखाते हुए सम्पादक श्री 'जोश' मलीहाबादी ने एक ज़ोरदार लेख लिखा है जिसके मुख्यांश का अनुवाद नीचे दिया जाता है।

'भारतवर्ष के मानसिक अन्धकार और पतन को देखते हुए पहले भी निवेदन किया जा चुका है और आज भी किया जा रहा है कि यहाँ एक ऐसे विचारक मण्डल की स्थापना की अतिशय और अविलम्ब आवश्यकता है जिसके ज़रिये ऐसे स्वास्थप्रद विचारों का प्रचार किया और उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय जो दार्शनिक और समीक्षात्मक अनुसन्धान पर आश्रित हों। और ऐसे साहित्य का सम्वर्द्धन किया जाय जो मानव जाति की तर्क और विचार-शक्ति को अन्ध-विश्वास, परम्परा-पूजन, दृष्टि की संकीर्णता और धर्मगत पक्षपात की बेड़ियों से मुक्त कर दे।

भारतवासियों के लिए यह बात ख़ास तौर से अति लज्जाजनक है कि प्राचीनता

---

* 'मैं विश्राम नहीं लूँगा।' इस शीर्षक से आपकी सबसे ताज़ी रचना अभी हाल में प्रकाशित हुई है।

अथवा पुरातत्व जहाँ अब तक पवित्र और पूजनीय समझा जाता है वहाँ स्वाधीन चिन्तन पर नास्तिकता का फ़तवा दिया जाता है।

हमने अब तक सीखा और सोचा ही क्या है? जब इस पर नज़र जाती है तो माथे से शर्म का पसीना टपकने लगता है। क्या हम विद्या और ज्ञान की प्रागतिक प्रवृत्तियों का साथ दे सकते हैं? इसके जवाब में ग़रीबान में मुँह छिपा लेने के सिवा और कोई उपाय नहीं दिखाई देता।

जब यह साबित हो चुका है, विचार रूप में नहीं व्यवहार रूप में—कि हमारी वर्तमान संस्थायें इस उत्क्रान्ति-युग में हमारा साथ नहीं दे सकतीं, तो कोई कारण नहीं मालूम होता कि एक नई और वस्तुतः उपयुक्त संस्था क्यों न निर्माण की जाय? ......अगर हमारी लौकिक, पारलौकिक व्यवस्थायें हमारा साथ देने से इनकार कर रही हैं, ज्ञान-विकास की दौड़ में हाँप रही हैं, तो क्या यह अवसरोपयुक्त बुद्धिमानी की बात न होगी कि उन प्राचीन संस्थाओं की जर्जर और सील-सड़ान से भरी इमारतों को ढा कर उनके स्थान पर नवीन स्थापत्य-कला के नमूने पर नई व्यवस्था का प्रासाद निर्माण किया जाय? या आप केवल प्राचीन भावगत सम्बन्ध के आधार पर यह कहना उचित समझेंगे कि चूँकि इन संस्थाओं को परम्परा की पवित्रता प्राप्त है इसलिए हमें इन्हीं अस्वास्थ्यप्रद खण्डहरों में एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर दम तोड़ देना चाहिए? इसमें शक नहीं कि आपका लड़कपन का कोट निहायत आरामदेह और चमकीला था लेकिन क्या जवानी में उसी कोट को पहनने के शौक़ में आप अपने ऊपर यह ज़ुल्म करना पसन्द करेंगे कि अपने अंगों का काँट-छाँट कर डालें? सवाल यह है कि कोट हमारी देह के वास्ते सिया गया था या हमारी देह कोट के लिए बनाई गई है?'

आगे चलकर सत्यज्ञान के व्यापक प्रचार की आवश्यकता बताते हुए लिखा गया है—

'सचाइयों का विस्तार ओर-छोर रहित है और देखने में बहुत छोटे मालूम होनेवाले उनके वह अंग भी असीम विस्तारवाले हैं जिनपर विद्वज्जन प्रकाश डाल चुके हैं। (यद्यपि प्रकाश डाल चुके हैं यह लिखते हुए मुझे शर्म मालूम होती है।) इसलिए इस उद्देश्य को सामने रखने का समय आ गया है कि सचाइयाँ भूमण्डल में और ख़ासकर भारतवर्ष में सर्वसुलभ कर दी जायँ, अज्ञान से युद्ध किया जाय, संकुचित दृष्टि का नाश किया जाय, प्रमाणों और पवित्र आख्यानों का विश्लेषण करके अन्ध-विश्वासों का भण्डाफोड़ किया जाय।

केवल इतना ही काफ़ी न होगा कि नवीन रीति और खोजों का परिचय विद्वन्मण्डली या विद्यापीठ अथवा शास्त्रीय विषयों की चर्चा करनेवाली पत्र-पत्रिकाओं तक ही परिमित रह जाय, बल्कि इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि सूर्य की किरणों की तरह सर्वत्र उनकी पहुँच और प्रसार हो जाय। सचाइयाँ अखिल-मानव जाति की सम्पत्ति हैं और उन्हें एक स्थान में सीमित कर देना मानव-जाति के अधिकार का अपहरण है।

अब वह समय आ गया है कि उन समस्त व्यक्तियों को, जिनकी शिक्षा-दीक्षा की ओर उपेक्षा की दृष्टि रखी गई या जिन्हें ग़लत ढंग से शिक्षा दी गई, ऐसी आँखें खोलने वाली शिक्षा दी जाय जिससे वह बुद्धि और विचार से काम लेना सीख जायँ। प्राकृतिक ज्ञान-विज्ञान से परिचित हो जायँ और स्वाधीन चिन्तन के अपने जन्म-सिद्ध अधिकार, जिससे वह लगातार अनेक कौशलों द्वारा वंचित किये गये हैं, उन्हें फिर प्राप्त हो जायँ, और उनकी ज्ञानशक्ति इतनी परिष्कृत और शुद्ध हो जाय कि उनके दिमाग़ ठोस तर्क और उनसे सही-सही नतीजे निकालने का अर्थ समझने लगें।'

मण्डल की सदस्यता के अधिकारी कैसे विचार रखने वाले लोग हो सकते हैं, और वह किस तरह अपना काम करें, इसका परिचय देते हुए लिखा है—

'जो सज्जन इस स्वाधीन-चिंतन-मंडल के सदस्य रहें उनके लिए यह शर्त होगी कि वह किसी भी बुद्धि विरोधी—भाव-रूप या अभाव-रूप सिद्धांत के अनुयायी न हों। क्योंकि इस मण्डल में उन अगणित विचारों और प्रश्नों के लिए काफ़ी से ज़्यादा गुंजाइश होगी जो प्रकृति और बुद्धि द्वारा स्वीकृत सचाइयों के विरोधी न हों, यह मण्डल अन्धविश्वासों और परम्परा के पूजकों को चुनौती देगा कि वह अपने विश्वासों की मान्यता का प्रमाण पेश करें और यह प्रश्न उठायें कि जो 'धार्मिक' सज्जन मानव जाति को कल्पित विश्वासों और सिद्धांतों के जाल में फँसाने के मौक़ों की तलाश में परेशान रहा करते हैं, क्या उन्हें दुनिया में और कोई रोज़गार नहीं मिलता ? और यह भी पूछेंगे कि उन्हें इस ख़तरनाक खेल का कहाँ से हक़ मिला है ?......यदि यह मण्डल स्थापित करने में हमें सफलता मिल गई तो यह आशा उचित रूप में पाई जा सकती है कि परम्परागत धर्म विश्वासों, रिवाजी सदाचार और अन्धानुसरण के मुक़ाबले में यह मण्डल मानव आचार-विचार पर बहुत अधिक और स्थायी प्रभाव डाल सकेगा।'

अन्त में सच्चे धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'विदित हो कि जिस सिद्धान्त में भी मानव जाति के कल्याण के लिए सच्चा उत्साह और सचेतन प्राणियों को सुखी बनाने के लिए दृढ़ और निस्वार्थ मत पाया जाय, वही सिद्धान्त या मार्ग दुनिया का सर्वोत्तम और प्राकृतिक धर्म कहा जा सकता है।'

अंग्रेज़ी

स्त्रियों की दिक्क़तें—

श्रीमती लक्ष्मी मेनन ने मार्च १९३७ की 'ट्वेन्टियेथ सेन्चुरी' में भारत में स्त्रियों की परिस्थिति का अच्छा विवेचन किया है—

'स्त्रियों की एक संस्था हमें चाहिए ही, जो राजनैतिक मुक्ति की न बुझनेवाली प्यास के आगे सामाजिक सुधार को भूल न बैठे। आज परिस्थितियाँ जैसी हैं, उनमें राजनैतिक स्वतन्त्रता, चाहे उसकी माँग कितनी ही दफ़ा क्यों न दुहराई गई हो, एक दूर की चीज़ है, जिसका इंतज़ार हम सन्तोषपूर्वक नहीं ही कर सकते। यह अब हमारी बुद्धि का उचित प्रश्न होना चाहिए कि हम इस बीच क्या करने जा रहे हैं। क्या हम अपने हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें जब कि ८० लाख स्कूल जाने की अवस्था वाले लड़के तथा एक करोड़ ३० लाख लड़कियाँ अज्ञानता के बीच पल रहे हैं क्योंकि सरकार ११ करोड़ रुपए की व्यवस्था नहीं कर पा रही है, जिससे कि यह निरक्षरता दूर भगाई जा सके ? क्या हम सचमुच बिना कुछ किये इंतज़ार करते रहें, जब कि दो लाख माताएँ प्रति वर्ष हम से उचित उपचार के अभाव के कारण छीन ली जाती हैं ?

उन लोगों के लिए, जो यह कहते हैं कि राजनैतिक स्वतंत्रता पहले आनी चाहिए, ये सब बातें उस समय तक स्थगित रखी जा सकती हैं, यह जवाब है। यह सत्य है कि राजनैतिक स्वतंत्रता तथा अधिकार हमारा काम बहुत आसान कर देंगे, इस लिहाज़ से कि हमें

बिला रोक-टोक स्वतन्त्रता रहेगी कि हम अपने मामलों की व्यवस्था अपने आदर्शों के अनुसार कर सकें। किंतु एक निहत्थे तथा निरीह राष्ट्र के लिए, जो धार्मिक मतभेदों से द्विगुण कमज़ोर हो गया है, राजनैतिक स्वतंत्रता आनेवाले कुछ समय तक एक आदर्शमात्र ही रहेगी। किन्तु अच्छे से अच्छे की आशा रखते हुए कि वह समय अवश्य आवेगा और जल्दी ही, हमें सच्ची परिस्थितियों से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। राष्ट्र को मुक्त करने का कार्य अवश्य हलका हो जायगा यदि हम राष्ट्र को उचित जिन्सी तरीक़ों से पैदा करें, उसका वैज्ञानिक तरीक़ों पर लालन-पालन करें, बुद्धिमत्ता से उसको शिक्षा दें और उसे उपयुक्त बनाएँ बुद्धिमानी और सुरुचि से रहने के लिए राष्ट्र की भलाई का कोई भी मित्र इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि ये आवश्यक बातें हैं जो तत्काल हमारी तवज्जुह की मुस्तहक़ हैं और जिन पर मुस्तैद अमल की भी ज़रूरत है।'

• • •

चीनियों की बुद्धि—

श्री सी० डेमूर ने 'न्यू-रिव्यू' (अप्रैल, १९३७) में नैतिक विषयों पर चीनियों के धार्मिक-गुरु कन्फ़्यूशियस के विचार हमारे सम्मुख रखे हैं। कन्फ़्यूशियस चीनियों का सबसे बड़ा नीति-दार्शनिक है। कनफ़्यूशियस के विचार में एक 'सज्जन' के गुण क्या होने चाहिएँ? वह हिस्सा पाठकों के सम्मुख हम रखते हैं—

'कन्फ़्यूशियस ख़ास तौर पर एक 'सज्जन' के विशेष गुणों में सचाई, नम्रता, दया, मन की पवित्रता, औचित्य का ध्यान, धार्मिक संस्कारों और रीतियों ('ली') की अटल पाबन्दी पर ज़ोर देता है।'

• • •

कनफ़्यूशियस उन लोगों को कौन-सा मार्ग बताता है जो इन गुणों की अभिवृद्धि अपने में करना चाहते हैं?

बहुत-से मनोवैज्ञानिक रास्ते जो कि आधुनिक ईसाई धर्म-विचारों से भिन्न नहीं हैं।

सबसे पहले वह अच्छे उदाहरण तथा योग्य मित्रों से सम्बन्ध रखने को रखता है। कनफ़्यूशियस अपने शिष्यों को यह बताते नहीं थकता कि वे भूत के महापुरुषों की कृतियों का तथा उनके जीवन का अध्ययन करें; या तो फिर उसके प्रिय शिष्य येन युवाँ—जो मृत्यु द्वारा बहुत ही कम आयु में छीन लिया गया था—के कथनों का उदाहरण अपने सामने रखें। दूसरी आवश्यक चीज़ संयम एवं आत्म-नियमन है। 'अपने अन्दर के दुर्गुणों से लड़ो, दूसरों के अन्दर के-से नहीं.. यदि वह अपने ऊपर शासन नहीं कर सकता तो दूसरों पर वह कैसे शासन करेगा?' 'अपने विषय में अधिक और दूसरों के विषय में कम जिज्ञासा रखो।'

आत्म-परीक्षा को असाधारण महत्व दिया गया है:— 'सद्‌गुण देखकर उसी प्रकार कर्म करने का प्रयत्न करो, दुर्गुण देखकर अपने अंदर खोज करो।' ' 'त्सेन ज़ू ने कहा है—प्रति दिन तीन बार मैं अपने आपसे पूछता हूँ, दूसरों से व्यवहार करने में मैं अपने तईं बेईमान रहा?... जो मैं उपदेश करता हूँ, क्या उस पर अमल भी करता हूँ?'

पारस्परिक दयावृत्ति पर भी समान रूप से ज़ोर दिया गया है। हालाँकि उनका आदर्श यहूदियों के आदर्शों की भाँति ही है—An eye for an eye, a tooth for a tooth. (संक्षिप्त में, जैसे को तैसा!) एक दिन उनका एक शिष्य उनके समीप सभीत पहुँचा और उनके

सामने यह प्रश्न रखा—'यदि बुराई का बदला अच्छाई से दिया जाय, तो कैसा रहे ?' कनफ़्यूशियस ने उसकी ओर मुख़ातिब होकर कहा, 'अच्छाई का बदला तुम कैसे दोगे ?......बुराई का जवाब न्याय से दो, अच्छाई का अच्छाई से !'

जब ये मार्ग व्यवहार में लाये जा चुके हों, तब कन्फ़्यूशियस, जैसे आत्म-पूर्णता के शिखर-स्थान पर, संगीत और काव्य के अध्ययन को उसमें जोड़ता है। 'जो मनुष्य कविता का अध्ययन नहीं करता, उसका शब्दों पर कोई आधिपत्य नहीं है।' 'कविता आपको परिपक्व बनाएगी, आपको अंतर्दृष्टि एवं सहिष्णुता सिखायेगा।' जो कोई भी यह नहीं जानता कि चीनियों के जीवन में काव्य-गति का कितना महत्वपूर्ण भाग है यह चकित कर देगा। समस्त प्रकृति जब इस गत्यांतर (Rhythmic Alternation) द्वारा चालित है, तो आश्चर्य क्या है कि मनुष्य का जीवन भी उसके अधिकार के अधीन रखा जाय।

संक्षेप में कनफ़्यूशियस ने यही शिक्षा अपने अनुयायियों को प्रदान की है। उसका उद्देश्य एक संपूर्ण प्राकृतिक-मनुष्य का निर्माण था, ऐसा मनुष्य जो इसी संसार का हो और अखिल ब्रह्माण्ड के सांसारिक नियम 'ताओ' की पूर्ण एकता में रहता हो। कनफ़्यूशियनवाद इसलिए बहुत ही मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद है कि यह मानवप्रगति में जो सबसे उत्तम है, उसे हमारे सामने ला उपस्थित करता है—वह जाने या अनजाने में परम सत्य एवं प्रेम (अर्थात् ईश्वर) की लालसा जो प्रत्येक आत्मा के अन्तस्तल में सन्निहित है। यह आदर्श काफ़ी ऊँचा है ; किन्तु इसका असफल होना निश्चित है। कोई भी मनुष्य केवल अपनी ही असहाय शक्तियों से अपनी यह प्राकृतिक सम्पूर्णता भी प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक प्राकृतिक नैतिक-आदर्श का ही यह दुःखमय अन्त है। इस मानवीय-दर्शन (Human Philosophy) की असफलता की प्रतिध्वनि स्वयं कन्फ़्यूशियस के ही उपदेशों में है—'मैं किसी पवित्र आत्मा को देखने तक जीवित नहीं रह सकूँगा; यही पर्याप्त है कि मैं एक 'सज्जन' देख लूँ! एक सत्पुरुष देखने के लिए मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ; यही पर्याप्त है कि मैं एक दृढ़ पुरुष देख लूँ!' या आगे—'बस, हो चुका! मैंने किसी को नहीं पाया जो अपनी भूलें स्वयं देख सकता है और अपने आपको स्वयं धिक्कार सकता है।' यहाँ तक कि अपनी भी पूर्णता के विषय में कन्फ़्यूशियस किसी भ्रम में नहीं है—'......एक 'सज्जन' की भाँति रहना अभी मेरे मान का नहीं,...... किस प्रकार भला मैं पवित्रता तथा प्रेम को पा जाने का साहस करूँ? मेरे विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि मैं असीम लालसाएँ लिए हुए एक व्यक्ति हूँ जो शिक्षा देने से कभी नहीं थकता ; किन्तु बस इतना ही।' उस दुःखान्त 'असीम लालसा' की परितुष्टि के लिए ही सत्य ने शरीर धारण किया और हमारे बीच जीवन बिताया।'

हिन्दी

जनता का साहित्य

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'बिजली' के साहित्य-अंक (१४ मार्च १९३७) में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। आज 'जनता के लिए साहित्य' की पुकार बिल्कुल जायज़ है—

'साहित्य यदि युग का प्रतिबिंब है, तो आप इसे रोक नहीं सकते। इसे रोकने की चेष्टा, कैन्यूट-राजा के द्वारा समुद्र की लहरों को रोकने के समान, व्यर्थ प्रयास सिद्ध होगी।

किंतु, यह प्रायः देखा गया है कि नए युग को अपना प्रभाव दिखाने के पहले पुराने युग से लड़ना पड़ता है। राजा परीक्षित और कलियुग की लड़ाई पौराणिक ढंग से इसी युग-संघर्ष की सूचना देती है। मानव का एक समूह पुराण-पंथी, दक़ियानूसी, प्रतिक्रियावादी होता है। जिस समय नया युग उसके सामने आता है, वह कभी उसे भूल जाने, कभी उसकी निंदा करने और अंत में लड़ने पर आमादा हो जाता है। कभी-कभी इन दक़ियानूसी शक्तियों की विजय-सी भी होते देखी जाती है। किंतु चंद दिनों के लिए ही!—आख़िर नवयुग की जीत होती है!! यदि ऐसा नहीं होता तो मानवता अभी न जाने किस अंधकूप में पड़ी कराहती होती।

हमारे साहित्य में भी आज यही हो रहा है। एक ओर प्रगतिशील लेखकों का एक गिरोह है, जो उस नवीन युग का स्वागत कर रहा है, उस युग के देवता को केंद्रित कर साहित्य का निर्माण करने पर तुला है—'जनता का साहित्य' दिन-दिन विकास पा रहा है। दूसरा गिरोह इसकी चर्चा से ही नाक-भौं सिकोड़ता है। गगन-चुंबी अट्टालिकाएँ, विलास-ऐश्वर्य-पूरित शयन-कक्ष, उसमें विचरण करनेवाली परियों, उनके गुलाबी गालों, चंपक-कली-सी उँगलियों, उन्नत उरोज और नयन सरोज, या मधुशाला और उसकी मधुबाला, हाला और प्याला—भला साहित्य इनको छोड़कर झोपड़ियों में कैसे जा सकता है, जहाँ गंदगी है अंधकार है, नर-कंकाल-सी ठठरियाँ हैं, भूख है, तड़प है, नाना तरह के शोषण और उत्पीड़न हैं!—यह है उनकी मानसिक धारणा! उन्होंने माता सरस्वती को या तो वारांगना या भठियारिन समझ रखा है! वह कल्पना ही नहीं कर सकते कि यह गृह-देवी—दीनों की त्राता, असहायों की माता भी बन सकती है!

एक तर्क और भी किया जाता है। कुछ लोग कहते हैं, साहित्य के सौष्ठव के लिए विविधता होना आवश्यक है! ग़रीबों के घर में—जनता में—यह विविधता कहाँ! वहाँ तो एक ही सुर, एक ही लय है—वह है त्राहि-त्राहि! हाँ, मैं मानता हूँ, आज की जनता इस प्रकार तबाह और बर्बाद है कि हमें उसकी त्राहि-त्राहि ही सुनाई पड़ती है। किंतु, मैं आपसे निवेदन करूँगा, ज़रा उसके निकट जाइए। यदि आप विचित्रता ही चाहते हैं, तो इसकी भी कमी वहाँ नहीं मिलेगी! उसके इस अनंत रुदन के बीच में आप कभी वह चुभीला हास्य भी पायेंगे, कि आपका नाज़ुक हृदय आनंद से नाच उठेगा। 'रोमाँस' के आप भक्त हैं, तो इसकी भी कमी आपको नहीं होगी। आप क्यों भूल जाते हैं कि आख़िर वह भी मानव हैं—उनके भी हृदय है; परिस्थिति ने उनके हृदय को श्मशान बना दिया है सही, किंतु कभी-कभी उस श्मशान में भी प्रेम की वैसी वनतुलसी उग आती है, जिसके सौंदर्य और सुरभि के मुक़ाबले आपके बाग़ के गुलाब झख मारें। युगों की ग़ुलामी के कारण आत्म सम्मान और आत्मबल से वंचित होने पर भी उनके हृदय में जब कभी प्रतिहिंसा जगती है, तो वह आपके महलों की प्रतिहिंसा से कितनी गुनी ज़्यादा भयंकर—प्रलयकारी होती है! 'एडवेंचर'—यह तो उनकी ही चीज़ है—गुलगुले गद्दे पर पाँव रगड़नेवाले, एडवेंचर किस चिड़िए का नाम—यह क्या जानें? इसके लिए तो आप वहाँ जाएँ ही। संक्षेप में यही कहूँगा—यदि आप सच्चे साहित्यकार हैं, तो वहाँ आप नव रसों की बहार पा सकेंगे। और, आप यह क्यों भूलते हैं कि विविधता से भी बढ़कर एक चीज़ है, नवीनता—आप युगों से जिन बातों का चर्वित चर्वण कर रहे हैं, उन्हें स्वाद के ख़याल से भी तो उगलिए! एक नई दुनिया आपकी लेखनी की प्रतीक्षा में है—ज़रा उसे भी तो क़लम-बंद होने का मौक़ा दीजिए!'

• • •

ग्राम्य साहित्य की माँग—

श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर' ने उपर्युक्त शीर्षक से 'विशाल भारत' (मार्च १९३७) में एक सामयिक चर्चा चलाई है। हमारे साहित्य को अब गाँव में रहनेवाले उन नंगे, भूखे किसानों तक पहुँचना ही होगा, जिनको हम अभी तक उपेक्षित समझते आये हैं—

'संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। एक ज़माना था, जब भारतीय कवि-मण्डली अपने रसिक प्रभुओं को रिझाने के लिए नायिका-भेद तथा नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन आदि नपुंसक साहित्य की सृष्टि करना ही अपनी विद्वत्ता की पराकाष्ठा समझती थी। उसके बाद वीर-गुण-गान-सम्बन्धी साहित्य-रचना का समय आया। आज कल 'वादों' का दौरदौरा है; 'हालावाद' 'प्यालावाद', 'रहस्यवाद', 'छायावाद' आदि न जाने कितने 'वादों' की उत्पत्ति हो चुकी है, और ऐसा लगता है कि यदि हिन्दी-साहित्य का यही दृष्टिकोण रहा, तो भविष्य में न जाने और कितने 'वादों' की उत्पत्ति होगी। प्रश्न यह है कि इन 'वादों' से भारतीय ग्रामीण जनता का, जिनकी संख्या भारत की कुल आबादी की तीन चौथाई है, क्या उपकार हुआ है? भले ही दस-बीस समझदार साहित्य-मर्मज्ञों का उनसे मनोरंजन हुआ हो; किन्तु हम तो उसी साहित्य को सर्वाङ्गपूर्ण कहेंगे, जो थोड़ा-बहुत सबके हित के लिए हो। ज़माने का तक़ाज़ा भी कोई चीज़ है। उसका भी कुछ मूल्य होता है। बेवक्त की शहनाई से अरुचि ही पैदा होती है। आज जब भारत का प्रमुख अंग ग्रामीण-समाज एक टुकड़ा रोटी के लिए तरस रहा हो, लज्जा-निवारणार्थ तन ढाँकने के लिए लत्ते-लत्ते को लिए मुहताज हो तथा भूकम्प, अकाल और बाढ़-बहैया से त्रस्त होकर अपने जीवन से निराश हो चुका हो, उस समय इन वादों की क्या उपयोगिता हो सकती है? पेट भरे पर सब 'वाद' अच्छे लगते हैं। अस्तु अब समय आ गया है कि साहित्य-सेवी देहातों की ओर लौटें और उन निरीह, निस्सहाय तथा मूक ग्रामवासियों के सुधार के कुछ उपाय सोच निकालें, जिनसे उनकी दशा सुधर जाय और वे अज्ञानरूपी निविड़तम खड्ड से निकलकर ज्ञान-मार्तण्ड का दर्शन कर सकें।

ग्रामीण साहित्य की रूप-रेखा तथा निर्माण-कार्य

इसके बाद स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि फिर ग्राम्य साहित्य की रूप-रेखा क्या हो? जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक ने समझा है, ग्राम्य साहित्य एक व्यावहारिक और सजीव साहित्य है, और एक सजीव साहित्य से राजनैतिक आन्दोलन का चोली-दामन का रिश्ता है। क्या हम नहीं चाहते कि हमारे अन्नदाता किसानों की दशा सुधरे? क्या हम नहीं चाहते कि हमारे किसान भाई यह जान जायँ कि संसार के अन्य किसानों के मुक़ाबले में उनकी स्थिति क्या है? यदि हम ये सब बातें चाहते हैं और हमको अपने किसान भाइयों से तनिक भी सहानुभूति है, तो हमें शीघ्रातिशीघ्र सबसे पहले ऐसे साहित्य का निर्माण करना होगा, जिसमें उक्त सभी विषयों का समावेश हो, जिसके द्वारा ग्रामीणों की दशा सुधारी जा सके।

ग्राम्य साहित्य-निर्माण के अधिकारी

सभी को सभी कार्य कर लेने की क्षमता होना असम्भव है। उदाहरण-स्वरूप, एक चित्रकार से वैद्यक-साहित्य की आशा करना तथा एक वैद्य से चित्रकारी कराना उनके प्रति अन्याय करना होगा। इसी प्रकार ग्राम्य-साहित्य-निर्माण के अधिकारी सभी 'लेखन-कलाप्रवीण व्यक्ति नहीं हो

सकते। इस कार्य को कुछ वही अनुभवी और मँजे हुए साहित्यिक भलीभाँति निबाह सकते हैं, जो इस विषय से स्वभावतः प्रेम करते हों तथा जिनके हृदय में दरिद्र तथा दीन-हीन ग्रामीणों के प्रति सच्ची सहानुभूति हो। हमारा कहना तो सिर्फ़ इतना ही है कि ग्राम्य-साहित्य-निर्माण-कार्य के लिए जो साहित्यिक अपने को योग्य और समर्थ समझें, उन्हें ही अपनी लेखनी को इस तरफ़ प्रेरित करना चाहिए।

भाषा और उसकी शैली

ग्राम्य-साहित्य की भाषा तथा उसकी शैली पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो प्रायः अब सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी-भाषा भारत की अन्य सभी भाषाओं से सरल है। कदाचित् यही कारण है कि भारतीयों ने इसे 'राष्ट्र-भाषा' कहकर स्वीकृत किया है। किसी अनुभवी साहित्यिक ने ठीक ही कहा है—'कोई यह नहीं सोचता कि भाषा को सरल किस भाँति बनाया जाय।' यह बात अभी उपेक्षा की दृष्टि से ही देखी जाती है कि यह समय न तो संस्कृत मिली हुई पंडिताऊ भाषा का है और न मौलवियों की अरबी फ़ारसी लदी हुई उर्दू का, यह युग तो सुन्दर सरल हिन्दी का है। ठेठ हिन्दी में कुछ पुस्तकें लिखी गई सही; मगर वहाँ भी बहिष्कार के आग्रह ने कृत्रिमता को ही दाखिल किया। शिष्ट लोग चाहे जो आग्रह रखें; पर उन्हें लोक-भाषा—ग़रीब जनता की भाषा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। साहित्यिक सौन्दर्य या पद-लालित्य के लोभ से, अथवा विवेचन के गाम्भीर्य की अभिलाषा से भाषा अधिकाधिक दुरूह की जा रही है, जिसका फल यह हो रहा है कि साहित्यिक संस्कार से साधारण जनता वंचित ही रह जाती है। दरअसल यदि दुरूह भाषा में ग्राम्य-साहित्य की पुस्तकें लिखी जायँगी, तो अभिष्ट-सिद्धि की आशा कम है। यदि सच पूछा जाय, तो इस कार्य के लिए वही भाषा अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, जो इतनी सरल और सुबोध हो, जिसे कम पढ़े आदमी भी आसानी से समझ लें। युक्त-प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन के अवसर पर आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने भी उक्त प्रान्त के साहित्यिकों से जनता के लिए साहित्य प्रस्तुत करने का अनुरोध करते हुए कहा था कि इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सरल भाषा का प्रयोग करना आवश्यक होगा।'

[प्रमुख भारतीय भाषाओं की पुस्तकों की आलोचना 'हंस' में होती है ; किन्तु सभी भेजी हुई पुस्तकों की आलोचना अनिवार्य नहीं है। स्कूल और कॉलेज की पाठ्य-पुस्तकें, नोटिसें, छोटे-छोटे पैम्फ़लेटों की आलोचना नहीं होती। समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों की पहुँच की सूचना नहीं दी जाती है और न उस विषय में कोई जवाबदेही ही हो सकती है। पुस्तकों की समालोचना की कोई प्रत्यालोचना प्रकाशित नहीं की जाती।]

—सम्पादिका, हंस।

ब्रजरज—राय कृष्णदासजी को एक उत्कृष्ट कलाकार और पारखी के रूप में हिन्दी संसार मुद्दत से जानता है। आपके गद्यकाव्य के सुन्दर कमनीय नमूने भी हम देख चुके हैं ; परन्तु काव्यकला के रत्नों के प्रसविता रत्नाकरजी के शिष्य और कवि के रूप में हिंदी संसार के लिए आपका दर्शन शायद पहली बार ही हो रहा है। मालूम होता है कि राय साहब चुपके-चुपके बिना प्रकाश में आये व्रज-भाषा के पद्य अपने बाल्यकाल से स्वान्तः सुखाय लिखते आये हैं, उन्हीं में-से चुन-चुनकर कुछ पद्य आपने 'ब्रजरज' के नाम से प्रकाशित किये हैं। इसमें पुराने ढंग के ५१ कवित्त और सवैये हैं, ५१ ही दोहे और सोरठे हैं, २५ गीत हैं और अन्त में ध्यान, प्रभात, सावन, मुरझाई कली, और मिश्र-आगमन नाम की पाँच स्फुट कविताएँ हैं।

आपकी रचना में भावचित्रण की विशेषता और व्यंग्य की शोख़ी है। मंगलाचरण में ही आप 'परब्रह्म-राम' को 'मानव ही मानने का ज्ञान' माँगकर मानसकार के मनु से (सुत विषयक तव पद रति होऊ। मोहि बढ़ मूढ़ कहै किन कोऊ) होड़ लगाते हैं। 'ठाढो उवै पै धँस्यौ इतैं आय हमारे हियें यह छोहरो कौन' छोहरे की साहसिकता के इस वर्णन में पद्माकर की रचना याद आती है। बंसी की तानपर जो 'डोलि नगराज उठे, झूमि नागराज उठे, नाचि नटराज उठे, बौरि के बहकि उठे' तो यद्यपि भक्तों के निकट अचम्भे की बात नहीं है तो भी कवि-जन इसे अत्युक्ति की अनोखी सूझ मानेंगें।

सखी के द्वारा नायिका अपना सन्देश कैसे मार्मिक शब्दों में और हृद्गत् भावों को कैसी अनोखी रीति से वर्णन करती है, देखने लायक है—

> एक ही गाँव में बास तऊ,
> दृग देखन हूँ कों मरौं हौं अभागी।
> कैसें निहारिये सामुहें ह्वै,
> यह लाज निगोड़ी रहै सँग लागी।
> चौचँद हाइन को डर त्यौं,
> जिन ऊसहूँ जाय लगावत आगी।
> अन्तर ही में जरौं बरौं जू!
> पुटपाक-सी ह्वै तुव नेह में पागी।

'हंस' के पाठकों को नीचे लिखे कवित्तों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रेमोपालम्भों का आनन्द आवेगा।

नैक सी बात में रूसि गये कही एतिऐ हौं तो तुम्हें नहिं मोह।
देखो बिचारि कही कहा झूँठ कबौं तुम का लही भूलि हूँ जोह।
पै जो गुनाह है साँच इतैं, तो छमा पिय माँगों करो जनि कोह।
एक तिहारिऐ आस हमैं, रहौंगी कहाँ ह्वै, गो करौगे न छोह।

ऐसो सुभाव भला केहि काम को, काहुऐ एती फबै न रुखाई।
रूप सनेहई सों सजै है इँद्रायन की केहि हेत निकाई।
चाहत हौं तव एकै छटा, तऊ रूप धनी इतनी कृपिनाई!
सम्पदा को फल दान ही में लहिये दुहुँ लोकन जातें बड़ाई।

एजू प्रान प्यारे घन साँवरे तिहारी आस,
लाइ कब की हौं मग जोवति खरी रहौं।
भावते इते पै तुम भूलिहू न भूलौ इतैं,
छाए कितैं जाय सुधि साधन मरी रहौं।
आन ना उपाय पेखि, पूरि तोहिं प्रानन में,
तो कौं अनुहारि, दृग ल्यावति झरी रहौं।
पौन पुरवाई साँस, तड़िता तड़प हिए
चातकी-सी ररौं औ जवास-सी जरी रहौं।

रूप को सौदो बड़ो महँगो उतैं वे त्यों न भूलिहुँ सील दिखैहैं।
पै हम हूँ बदि वाहि खरीदिहैं माँगै जोइ सोइ कीमति दैहैं।
पूछ करी मनि मानिक हू की न प्रान लिए बिन वे न अघैंहैं।
पै बन्यो सेंतही काज इतैं हम देई कै प्रानहि प्रान बेसैहैं।

इसी तरह के प्रेम रस से भरे कवित्त हरिश्चन्द्र के माधुर्य और रतनाकर के ओज की याद दिलाते हैं और 'नेही' कवि रायसाहब ने, हमारा विश्वास है कि, अपने इन दोनों गुरुजनों से प्रसाद रूप में ये गुण पाये हैं!

आपके दोहे भी एक से एक रसीले हैं। उनकी भी बानगी लीजिए—

सब विधि सुन्दर तासु मुख नजर न कहुँ लगि जाय।
तातें तिल मिस दैव ने दियौ डिठौना लाय॥
सीस अलक, दृगपूतरी, त्यों कपोल तिल पाइ।
मिटी स्यामता साध नहिं, गुदनो लियो गुदाइ॥

एक ओर से जहाँ गोराई के आधिक्य की व्यंजना है, वहीं दूसरी ओर 'श्याम-ता' की साध है, श्यामता पर लट्टू हैं!

वर्षा में किसी तरह परदेश जाना नहीं तो क्या, कुछ देर के लिए विलग होना भी संभव ...ीं है क्योंकि—

'मेह रुकै जो घरी हूँ, झरी लगावैं नैन'

और सुनिए—

'कत अचरज सर प्रेम के डूबि सकै नहिं सोइ।
भारी बोझो लाज को जिनके माथें होइ॥
अपुनो मोहन रूप जो तुमहिं निरखिबो होइ।
इन नैनन में आइकै नेकु लेहु पिय जोइ॥
नैन परें, रजहू रँचिक करत बिकल बेहाल।
नैन गड़ें बड़रे नयन, कस न होयँ जिय काल॥

इसी तरह के अनेक दोहे मतिराम की याद दिलाते हैं। एक जगह आजकल के उपचार के साथ श्लेष कैसा सुन्दर है! आँखें जब दुखती हैं, डाक्टर रूप के नमक का घोल आँखों में टपकाता है। दर्शनों के लिए आँखें तरस रही हैं, विरह की पीड़ा से व्यथित हैं—

दूखति ये अँखियाँ हितू कीजै ध्रुव उपचार।
रूप-लुनाई को सुरस, दीजै इनमें डार॥

क्या माक़ूल इलाज है! आँखों की पीड़ा शर्तिया दूर हो जायगी! गीत भी भारतेन्दु के ही गीतों का मज़ा देते हैं। 'तुमहूँ पातकिन सों डरत' में कितनी शोख़ी है! 'जेती बिरदावली तिहारी।' 'लायो जो था मरुथल माहिं' 'बतावत काहें न प्रिय की बात' 'तनिक भरि नैनन नाहिं निहारे' 'प्रीति को यह अनुपम उपहार।'

भक्तों के लिए मस्ती लाने वाले ये पद प्रसाद और माधुर्य से ओत-प्रोत हैं।

स्फुट रचनाओं में 'मुरझाई कली' की अन्योक्ति मर्मभेदी है। यह शिशु-वियोग की याद दिलाती है, और 'मित्र-आगमन' तो इसके बाद ही सुखान्त करने के लिए ही मानो रख दिया गया है।

आदि से अन्त तक 'अचरज' सचमुच हृदय में लगा लेने लायक़ चीज़ है। यह है छोटा-सा संग्रह, पर नावक के तीर-सा सीधे अन्तस्तल तक की ख़बर लेनेवाला है।

भाषा के सम्बन्ध में कट्टर वैयाकरणी बहुत कुछ ननुनच कर सकते हैं। परन्तु ब्रजभाषा तो वस्तुतः 'ब्रजभाषा' नहीं, वरन् 'कवि भाषा' है। सूर, बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि किसी ने भी ब्रज की किसी समय की प्रचलित भाषा में नहीं लिखा है, और आज के खड़ी बोली के कवि ही कौन-सी प्रचलित भाषा में लिखते हैं? पद्य की भाषा सदा गद्य से भिन्न होती आई है और रहेगी। हाँ, कवियों के प्रसिद्ध प्रयोग कवि-भाषा के प्रमाण हैं, और इस प्रामाणिक भाषा के नियमों का राय साहब ने उल्लंघन नहीं किया है। छापे की भूलों से छन्दोभंग ज़रूर कहीं कहीं दीखते हैं, पर उनके लिए कवि दोषी नहीं है।

यह ८० पृष्ठों की डबल क्रौन १६ पेजी पोथी ॥) में लीडर प्रेस, प्रयाग से मिल सकती है।

रामदास गौड़।

• • •

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का नया समस्या-नाटक 'आधी रात'

हम श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नए नाटक को समझने की कोशिश करें। तो पहले कथा-वस्तु पर विचार किया जाय। नाटक में चार पात्र हैं—मायावती, प्रकाशचंद्र, राघवशरण,

---

आधीरात—लेखक, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रकाशक, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, संवत् १९९३। पृष्ठ संख्या ११६, मूल्य १)।

राधाचरण। मायावती विलायत में शिक्षा पाई हुई एक आधुनिक रमणी है। राधाचरण तथा एक और, ये दोनों विलायत में रहते समय उससे प्रेम करने लगते हैं। भारत में आने पर उन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में से एक राधाचरण ने उस दूसरे प्रेमी की हत्या कर डाली और ख़ुद कालेपानी की सज़ा का भागी बना। राजा के राज्याभिषेक के उपलक्ष में रिहाई पाकर वह छूट आया है। मायावती राधाचरण के ही मकान में अपने नव-विवाहित पति प्रकाशचंद्र के साथ रह रही है। प्रकाशचंद्र एक लेखक है। उसका भी विवाह बचपन में हो चुका था और उसकी पत्नी अभी जीवित है। किंतु अपनी पत्नी से वह संतुष्ट न हो सका। वह चाहता था एक आधुनिक नारी, और मायावती में उसने उसे पा लिया। दोनों का इतिहास एक दूसरे से छिपा हुआ है। प्रकाशचंद्र को मायावती का इतिहास राघवशरण द्वारा मालूम होता है। राधाचरण ने मायावती को क्षमा कर दिया है। वह अपने आपको एक हत्यारा समझता है, जिसे मनुष्य के समाज में रहने का अधिकार ही नहीं है! राघवशरण भी मायावती को प्रेम करता है। इस प्रकार मायावती के एक, दो, तीन, चार प्रेमी हुए। मायावती के भीतर एक संघर्ष उठ खड़ा होता है और वह पाती है कि पत्नीत्व की वह कल्पना भी नहीं कर सकती और इसीलिए जैसे वह टुकड़े-टुकड़े हो जायगी। वह आत्महत्या कर लेती है।

प्रस्तुत नाटक, इस प्रकार, एक समस्या को सुलझाने का प्रयत्न है। लेकिन क्या वह समस्या हमारे आज के समाज में है? सच पूछिए तो आधुनिकता की जो एक पुकार चारों ओर से आ रही है, उसी की आवाज़ में आवाज़ मिलाने का यह प्रयास है। लेकिन यह पुकार कोई स्थायी चीज़ नहीं। और लेखक यदि अपने आप को इन क्षणिक आवेशों के ऊपर नहीं रख सकेगा, तो अमर साहित्य का सृजन भी वह नहीं कर सकेगा। यद्यपि श्री मिश्र ने भारतीय संस्कृति की दुहाई अपने नाटक में आदि से अन्त तक दी है किंतु एक आनेवाली भविष्य की अ-भारतीय समस्या के विवेचन के लोभ का वे संवरण न कर सके। और कृत्रिम समस्याओं का सृजन एक नाटककार का कार्य नहीं है। नाटक के कथा-प्रवाह के पीछे मानो एक दर्शन-स्रोत बह रहा है। आज के समस्त विवादग्रस्त प्रश्नों पर लेखक ने अपने पात्रों से विचार प्रकट कराए हैं। यह एक दोष है।

इस बीसवीं शताब्दी में लेखक का प्रेतात्माओं पर विश्वास है, यह हमें आश्चर्य में डाल देता है। शायद लेखक का प्रेतों से साबक़ा पड़ चुका हो!

श्री मिश्र की भाषा-शैली सुन्दर है और साहित्य की एक निश्चित निधि है। लेखक जैसे अपनी भाषा में निखर आता है। प्रस्तुत नाटक में पात्रों द्वारा व्यक्त किये गये कुछ विचार दृष्टव्य हैं—

लेखक क्यों लिखता है? प्रकाशचन्द्र का उत्तर देखिए—'लिखना तो मुझे होता है! नहीं तो, मेरे भीतर जो बोझ बढ़ जाता है, उसी से दबकर मर जाऊँ।'

आज के इस युग के विषय में मायावती कहती है—'इस युग के मनुष्य का सबसे बड़ा भरोसा संदेह हो रहा है।' (यह एक बड़ा ही कटु सत्य है।)

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र में अच्छी प्रतिभा है, और उनके दो-एक नाटक काफ़ी ख्याति पा चुके हैं। किन्तु उनका यह प्रयास असफल है और सब कुछ देखते हुए इस नाटक का भविष्य बिल्कुल अँधेरा है और वह एक दुर्बल मनोवृत्ति का परिचायक है।

'सुशील'

सामयिक

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भाषण

श्री जमनालाल बजाज आज एक लोकसेवक की हैसियत से आदरणीय हैं। अबकी दफ़ा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति आपको ही बनाया गया। श्री बजाज ने हिन्दी या अब हिन्दी-हिंदुस्तानी (राष्ट्र-भाषा) के प्रचार के लिए बड़ा कार्य किया है। इस लिहाज़ से आपकी सेवाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। आप साहित्य-रचयिता नहीं हैं। आपने स्वयं अपने अभिभाषण में कहा है—

'साहित्य न तो मेरा क्षेत्र है, और न साहित्य-सम्मान हासिल करने की मुझे कभी इच्छा या आशा ही रही है। हाँ; मुझे बचपन से हिंदुस्तान के लिए राष्ट्र-भाषा की तो आवश्यकता ज़रूर मालूम होती थी—ख़ासकर १९०६ की ऐतिहासिक कलकत्ता- कांग्रेस के समय से। मैं इस कांग्रेस में शरीक हुआ था। स्व० दादाभाई नौरोजी की सदारत में इस कांग्रेस का सारा काम अंगरेज़ी में ही हुआ जो मैं बहुत कम समझ पाया था। उस समय मन में ये विचार आये कि यह कितने दुःख और चिंता की बात है कि हिन्दुस्तानी होते हुए भी अपने देश में हमें आपस में एक विदेशी भाषा द्वारा काम-काज करना पड़ता है।......मेरी दिली इच्छा थी कि मुझ जैसे अधपढ़ आदमियों को भी देश की हालत अच्छी तरह मालूम हो सके और मामूली-से-मामूली आदमी भी मुल्क की कुछ-न-कुछ सेवा कर सके। इसीलिए राष्ट्र-भाषा की दृष्टि से मैं हिन्दी-हिन्दुस्तानी का प्रचार देखने के लिए उत्सुक था।'

आपका पूरा अभिभाषण 'राष्ट्र-भाषा-प्रचार' पर है। जैसे वे 'राष्ट्र-भाषा-प्रचार-सम्मेलन' के सभापति हों!

यह तो हमने पहले ही मान लिया कि श्री बजाज ने हिन्दी-साहित्य की सेवा नहीं की है। किन्तु साहित्य की जानकारी की आशा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति से अवश्य की जाती है। साहित्य का रचयिता न सही ; किन्तु साहित्य का चतुर पाठक तो उसे बनना ही पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं है तो जिस संस्था का वह सभापति है उसे हम क्यों 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' कहें? यह तो तभी कह सकते हैं कि जब हमें यह अधिकार भी प्राप्त हो कि धोती पहन कर हम कह सकें, हमने पतलून पहन लिया! श्री बजाज ने एक स्थान पर यह भी कहा है—'गांधीजी को सभापति बनाते समय ही उनसे यह कह दिया गया था कि सम्मेलन का उद्देश्य सिर्फ़ साहित्य-निर्माण ही नहीं है।' किन्तु यह नहीं है, यह कैसे मान लिया जाय? यह कितने खेद की बात है कि हिन्दी की सबसे बड़ी सार्वजनिक संस्था का सभापति अपने सभापति-भाषण में मुख्य विषय का कुछ भी ज़िक्र न करे—साहित्य में प्रचलित प्रवृत्तियों का, साहित्यिक में चलने वाली विभिन्न धाराओं का, साहित्य में जो असत्य है, उसका? इसी कारण से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन एक प्राणरहित संस्था बन गई है। केवल बड़े नामों से ही हम संतुष्ट नहीं हो सकते।

हम में प्राण भी फूँकना होगा। वास्तव में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का यह फ़र्ज़ है कि वह राष्ट्र-भाषा प्रचार के साथ-ही-साथ साहित्य की ओर से भी लापरवाह न रहे। जिस भाषा को आप हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं, उसके साहित्य के विषय में भी आप भला कुछ जानते हैं? क्या केवल देवनागरी अक्षर ही हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए पर्याप्त हैं? हमारे जो नेता हैं—राजनैतिक नेता—वे साहित्य से बेख़बर हैं और उन्हें सभापति बनाया जाता है एक बड़ी साहित्यिक संस्था का। यह हम कैसे मान लें कि राजनैतिक नेता साहित्य का ज्ञाता हो ही नहीं सकता? ट्राट्स्की आज एक बड़ा राजनैतिक नेता है। किन्तु क्या आप जानते हैं कि उसका साहित्य का अध्ययन कितना गहरा है? साहित्यिकों को उसकी पुस्तक Literature and Revolution (साहित्य और क्रान्ति) ने चकित कर दिया है। उसने, साहित्य में जो कुछ भी लिखा गया है, सब पढ़ा है। साहित्यिकों में से कुछ तो उन पुस्तकों का नाम तक भी नहीं जानते थे जिनका उसने ज़िक्र किया है और जिनका अध्ययन उसने किया है!

यदि हम किसी राजनैतिक नेता को अपना साहित्यिक नेता भी मानते हैं, तो उसे ऐसा ही होना चाहिए। और हम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से निवेदन कर देना चाहते हैं कि जनमत की वह सदा अवहेलना नहीं कर सकेगा। केवल दो चार बड़े-बड़े नामों के ही सहारे वह अधिक दिन तक अपनी सत्ता क़ायम नहीं रख सकता। आज जो दशा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की है, वह बड़ी ही निराशाजनक है। उसमें बस राजनैतिक नेताओं का बोलबाला है और यदि कांग्रेस का ही उसको एक अङ्ग समझ लिया जाय तो अनुचित न होगा। होना तो यह चाहिए था कि जब हिंदी राष्ट्र-भाषा बनने जा रही है तो हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के दो विभाग हो जाँय। एक तो वह जो राष्ट्र-भाषा प्रचार का कार्य करे और दूसरा वह जो साहित्य की खोज-फ़िकर करे। भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य-समारोह भी होते हैं, किंतु साहित्य की ओर से यह बेफ़िक्री कहीं नहीं है। जब हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने जा रही है, तब यह लापरवाही और भी खटकती है। हिंदी में जो ख़ामियाँ हैं, उनकी पूर्ति की ओर किसी का भी ध्यान नहीं है। हिंदी की जो दशा आज है, उसका इस संस्था को ख़्याल भी नहीं है। मात्र जनता की आवाज़ को घोंट देने का प्रयत्न वह कर रही है। किंतु यदि आवाज़ है, तो वह मर नहीं सकेगी। यदि साहित्य-सम्मेलन अपना जीवन ख़तरे में नहीं डालना चाहता तो उसे सावधान हो जाना चाहिए।

भारतीय साहित्य-परिषद् के सभापति का भाषण

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ ही साथ भारतीय साहित्य-परिषद् का भी अधिवेशन मद्रास में हुआ था। इस परिषद् का जन्म १९३६ में ही हुआ है। इस वर्ष इस परिषद् के प्रथम अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष तमिष् साहित्य के कलानिधि महामहोपाध्याय डॉ स्वामीनाथ ऐयर थे। आपने अपना भाषण तमिष् में दिया और यह भाषण अपने विषय का अत्यंत महत्वपूर्ण और अनुपम है।

परिषद् के मन्त्री श्री काकासाहब कालेलकर ने परिषद् के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए यह बताया, 'कि यह परिषद् केवल भावात्मक या निरे कलात्मक ('कला के लिए कला') साहित्य की उपासक नहीं, न उसकी दिलचस्पी क्षणभंगुर साहित्य में है, उसका तो लोक-जीवन को ऊंचा उठानेवाले स्थायी महत्व के साहित्य के प्रति अनुराग है।'

परिषद् के सभापति गांधीजी थे। सभापति-पद से दिए हुए अभिभाषण का आवश्यक अंश हम यहाँ देते हैं—

'महामहोपाध्याय के भाषण ने मेरी तमिष् भाषा के अध्ययन की लालसा को बढ़ा दिया है। उम्र या इच्छा मुझे इस काम से नहीं रोक सकती, लेकिन सिर्फ़ समय की कमी के कारण ऐसा करना कठिन हो जाता है। इस परिषद् का उद्देश तो यह है कि सब प्रान्तीय साहित्यों की सारभूत बातें संग्रह करके हिन्दी में उन्हें उपलब्ध किया जाय। इसके लिए मैं आपसे एक प्रार्थना करूँगा। निस्सन्देह हरेक आदमी को अपनी मातृ-भाषा अच्छी तरह जानना चाहिए और इसके साथ ही हिन्दी के द्वारा अन्य भाषाओं के महान् साहित्य का भी उसे ज्ञान होना चाहिए। लेकिन साथ ही परिषद् का यह भी उद्देश्य है कि वह हम लोगों में अन्य प्रान्तों की भाषाएँ जानने की इच्छा को प्रोत्साहन दे। जैसे गुजराती लोग तमिष् जानें, बंगाली गुजराती जानें, और ऐसे ही और प्रान्तों के लोग भी करें, और मैं तजुर्बे के साथ आपसे कहता हूँ कि दूसरी देशी भाषा सीख लेना कोई मुश्किल बात नहीं है। लेकिन इसके लिए एक सर्वसामान्य लिपि का होना आवश्यक है। तमिलनाड में ऐसा करना कुछ मुश्किल नहीं है। क्योंकि इस सीधी-साधी बात पर ध्यान दीजिये कि ६० फ़ी सदी से भी ज़्यादा हमारे देशवासी अशिक्षित हैं। नये सिरे से हमें उनकी शिक्षा शुरू करनी होगी, तब सामान्य लिपि के द्वारा ही हम उनको शिक्षित बनाने की शुरुआत क्यों न करें? यूरोप में वहाँ वालों ने सामान्य लिपि का प्रयोग किया और वह बिल्कुल सफल रहा, कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि हम भी यूरोप की रोमन लिपि को ही ग्रहण कर लें। लेकिन फिर वादविवाद के बाद यह विचार बन चुका है कि हमारी सामान्य लिपि देवनागरी ही हो सकती है, और कोई नहीं। उर्दू को उसका प्रतिस्पर्धी बताया जाता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि उर्दू या रोमन किसी में भी वैसी सम्पूर्णता और ध्वन्यात्मक शक्ति नहीं है जैसी कि देवनागरी में है। याद रखिए कि आपकी मातृ-भाषाओं के ख़िलाफ़ मैं कुछ नहीं कह रहा हूँ। तमिष्, तेलुगु, मलयालम, कन्नड तो ज़रूर रहनी चाहिएँ, और रहेंगी; लेकिन इन प्रदेशों के अशिक्षितों को हम देवनागरी लिपि के द्वारा इन भाषाओं के साहित्य की शिक्षा क्यों न दें? हम जो राष्ट्रीय एकता हासिल करना चाहते हैं, उसकी ख़ातिर देवनागरी को सामान्य लिपि स्वीकार करना आवश्यक है। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। बात सिर्फ़ यह है कि हम अपनी प्रान्तीयता और संकीर्णता को छोड़ दें। तमिष् और उर्दू लिपियाँ मुझे पसन्द न हों सो बात नहीं है। मैं इन दोनों को जानता हूँ। लेकिन मातृ-भूमि की सेवा ने, जिसके लिए मैंने अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया है, और जिसके बिना मेरा जीवन निरर्थक होगा, मुझे सिखाया है कि हमारे लोगों पर जो अनावश्यक बोझ हैं, उनसे उन्हें मुक्त करने की हमें कोशिश करनी चाहिए। तमाम लिपियों के जानने का बोझ ऐसा है जो अनावश्यक है और आसानी से उससे बचा जा सकता है। अतः सभी प्रान्तों के साहित्यिकों से मैं प्रार्थना करूँगा कि वे इस सम्बन्ध के अपने भेद-भावों को भुलाकर इस अत्यन्त आवश्यक विषय पर एकमत हो जायँ। तभी भारतीय साहित्य-परिषद् अपने उद्देश्य में सफल हो सकती है।

'तब आपको यह सोचना होगा कि इस काम के लिए हम क्या तौर-तरीके अख़्तियार करें। काका साहब ने आपको बताया है कि अब वह परिषद् के उद्देश्य को लेकर पुस्तिकाएँ प्रकाशित कर रहे हैं, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ करना था वह सब होने लगा है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी उदासीनता छोड़कर इसमें मदद करें। यह याद रखें कि सारे काम का बोझ सम्मेलन के प्रमुख कार्य-कर्त्ताओं पर ही है। धनाभाव से हमारा काम नहीं रुकता, किन्तु कमी कार्यकर्त्ताओं की है। हम तो चाहते हैं कि सभी प्रान्तों के कार्यकर्त्ता काम करें। काका साहब ने कहा है कि हमने अपनी प्रबन्ध-समिति को ४० सदस्यों में सीमित कर लिया है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं, कि उसे और कार्य-कर्त्ताओं की ज़रूरत नहीं है।

'आज का हमारा साहित्य कुछ ही लोगों के काम का है यानी जो लोग शिक्षित हैं उन्हीं के मतलब का। यहाँ तक कि शिक्षितों में भी ऐसे थोड़े ही होंगे, जिनकी साहित्य में दिलचस्पी हो। गाँवों में तो हम बिल्कुल गये ही नहीं हैं। गाँव के लोगों में एक फ़ी सदी ऐसे नहीं हैं जो साहित्य को पढ़ सकें। हमारी रात्रिशाला में नियमित रूप से अख़बार सुनने के लिए भी आधे दर्जन से ज़्यादा आदमी नहीं आते। इस अज्ञान को दूर करने का महान् कार्य हमें करना है। क्या मुट्ठी भर आदमियों के सहारे हम इसे कर सकेंगे? हमें तो आप सबके सहयोग की ज़रूरत है।

'हमने अपने लिए जैसे साहित्य की मर्यादा रखी है वह काका साहब ने आपको बता दिया है। मैं साहित्य के लिए साहित्य का रसिक नहीं हूँ। यह ज़रूरी नहीं कि बौद्धिक विकास के जो अनेक साधन हैं उनमें साक्षरता को भी एक साधन होना ही चाहिए; हमारे प्राचीन काल में ऐसे-ऐसे बुद्धिशाली महापुरुष हुए हैं जो बिल्कुल अशिक्षित थे। यही कारण है कि हमने अपने को केवल ऐसे ही साहित्य तक सीमित रखा है, जो अधिक-से-अधिक स्पष्ट और हितकर हो। जब तक हमें आपका हार्दिक सहयोग नहीं मिलता, और आप अपनी अपनी भाषा में से उपयुक्त सत्साहित्य चुनने के लिए तैयार नहीं होते, तब तक हमें इसमें सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है?'

इससे परिषद् के उद्देश्यों के विषय में कोई संशय नहीं रह जाता। अवश्य ही परिषद् बहुत उच्च आदर्श लेकर अग्रसर हुआ है, और उसे महात्मा गांधी जैसे महान् पुरुष का क्रियात्मक सहयोग भी प्राप्त है। यह बहुत शुभ है। हम उसकी सफलता की हृदय से कामना करते हैं।

मुद्रक तथा प्रकाशक—पं० गुरुराम विश्वकर्मा, 'साहित्यरत्न', सरस्वती-प्रेस, बनारस कैंट।

HANS : Regd. No. A. 2038.

May 1937
V-7-No 8
मई १९३७
प्रेमचंद-स्मृति-अंक
: सम्पादक :
बाबूराव विष्णु पराड़कर
मूल्य

लेख-सूची

१. मैं लुट गई !—[श्रीमती शिवरानी देवी] ७६७

२. प्रेमचन्द : मैंने क्या जाना और पाया—[श्री जैनेन्द्रकुमार] ... ७७१

३. गुण-ग्राहकता —[श्री अवध उपाध्याय] ७८४

४. प्रेमचन्दजी की कला और उनका मनुष्यत्व—[श्री इलाचन्द्र जोशी] ... ७८६

५. प्रेमचन्दजी की याद—[श्री रामनरेश त्रिपाठी] ७८९

६. महान् साहित्यकार की स्मृति में—[श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार] ... ७९१

७. बड़े का विनय—[श्री श्री प्रकाश, एम० एल० ए०] ७९५

८. कवि का आमंत्रण —[श्रीमती 'नलिनी'] ७९८

९. श्रद्धांजलि—[सेठ जमनालालजी बजाज] ७९९

१०. प्रेमचन्दजी की देन—[श्री हरिभाऊ उपाध्याय] ८००

११. प्रेमचन्दजी—[श्री ए० चन्द्रहासन, एम० ए०] ८०३

१२. श्री प्रेमचन्द की अन्तर्दृष्टि—[श्री उदयशंकर भट्ट] ८०५

१३. हिन्दी साहित्य में श्री प्रेमचन्दजी का स्थान—[श्री धीरेन्द्रवर्मा, एम० ए०, डी-लिट्] ८०८

१४. प्रेमचन्द और देहात—[श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'] ८१०

१५. प्रेमचन्द : हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभा—[श्री रामनाथ 'सुमन']... ८१९

१६. प्रेमचन्द जिन्दाबाद !—[श्री रामवृक्ष बेनीपुरी] ८२५

१७. मेरा भी कुछ खो गया है—[डा० धनीराम प्रेम] ८३३

१८. स्वर्गीय प्रेमचन्दजी—[श्री भगवानदास हालना] ८३६

१९. स्वर्गीय आत्मा की स्मृति में—[श्री श्री निवासाचार्य] ८३८

२०. दक्षिण भारत में प्रेमचन्द—[श्री ब्रजनन्दन शर्मा, हिन्दी प्रचारक, मद्रास] ... ८४१

२१. प्रेमचन्द, जैसा मैंने पाया—[श्री जनार्दन राय] ८४५

२२. केवल तीन खत—[भदन्त आनन्द कौसल्यायन] ८५६

२३. प्रेमचन्द—[श्री ऋषभचरण जैन] ८६०

२४. श्री प्रेमचन्दजी की याद में—[श्री महेश प्रसाद मौलवी आलिम फ़ाजिल] ... ८६४

२५ प्रेमचन्द (कविता)—[श्री गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'] ८६७

२६. मुन्शी प्रेमचन्द मरहूम—[मौ० मुहम्मद आक़िल, एम० ए०, ...
जामिया मिल्लिया, दिल्ली] ८६८

(शेष कवर के तीसरे पृष्ठ पर)

हंस

ई १९३७ वर्ष—७ : अंक—८ वैशाख १९९
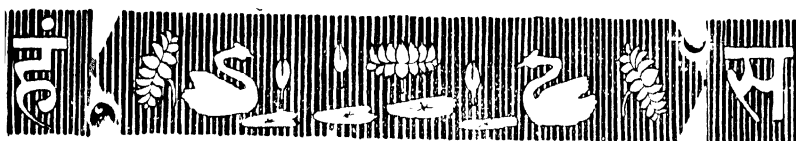
मैं लुट गई !

२५ जून की ढाई बजे रात को—

'बेटा धुन्नू ! ज़रा पंखा खोल दो; बड़ी गरमी हो रही है,—ये उनके शब्द थे; उसके थोड़ी देर बाद छोटा लड़का बन्नू दौड़ता हुआ मेरे कमरे में आया और बोला,—अम्मा, बाबूजी को कै हुई है। आशंका, भय और दुःख के मारे मैं चौंक पड़ी—झपट कर जब वहाँ पहुँची और खून की कै देखी तो मैं सिहर उठी।—मानो किसी ने मेरे देह में बिजली छुलाकर घाव कर दिया हो ! थोड़ी देर पश्चात् वह अस्फुट शब्दों में कह गये—रानी ! अब मैं चला।

आती हुई दुःख की आँधी से सम्हल, धैर्य और साहस को बटोर, मैंने अपने स्वाभाविक शासन-स्वर में कहा—चुप रहो; आप मुझे छोड़कर नहीं जा सकते। तब खून की तरफ़ इशारा करके बोले—जिसके मुँह से इतना खून निकले, क्या उससे भी तुम आशा रखती हो कि वह जीये ? मैंने कहा—आशा क्यों न करूँ ? मैंने किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ा है। उन्होंने मुँह फेर लिया और मैंने धन्नू को दौड़ाकर डॉक्टर को बुलवाया; डाक्टर ने आकर ढाढ़स दिया और कहा, केवल पित्त की खराबी है। उसने ऐसे दो चार मरीज़ों को ठीक किया है। मेरे चित्त को सांत्वना मिली और मुझे विश्वास हो गया कि वे चंगे हो जायँगे।

उस दिन के बाद, आपको अच्छी तरह नींद नहीं आई। रात को आप रोशनी करके लिखते पढ़ते थे; इस महान् पीड़ा-काल में भी वे बराबर लिखते रहे और इसी दशा में उन्होंने 'मंगलसूत्र' के बीसों सफ़े लिखे हैं। तबीयत अधिक खराब हो जायगी इस भय के मारे मैंने कई बार उनको लिखने से रोका, वे मान गये, परन्तु फिर अधिक बार मैं उनको न रोक सकी। कभी कभी रात भर उनको नींद नहीं आती थी और इस प्रकार पढ़ने लिखने में उनका दिल बहलेगा यह सोच कर मैं उनको पुस्तक दे देती थी। मैं रात दिन उनके खाट के आसपास चक्कर काटती रहती

थी; और उनका सिर सहलाया करती थी। उनके सामने मैं सदैव खुश रहने की चेष्टा करती थी।

× × ×

एक रात को—

मेरे स्वामी के पेट में बहुत दर्द था ; मैं उनके सिरहाने बैठी हुई थी, जब दर्द कुछ कम हुआ तो वे बोले—रानी, मुझे तुम्हारी और बन्नू की बड़ी चिन्ता है। धुन्नू तो हाथ पैरवाला है ; बेटी की शादी हो गई है—वह सुखी है परन्तु तुम्हारी और बन्नू की क्या दशा होगी? उस समय मेरे संयम, धैर्य, और विश्वास के बाँध टूट गये ; जीवन में मैं पहली बार रो पड़ी। हमेशा मैं समस्त रंजोग़म अपने ऊपर सह लेती थी परन्तु उस दिन मैं रो पड़ी। परन्तु मैंने अपने आँसुओं को छिपा लिया। उन्होंने मेरे हृदय को देख लिया परन्तु आँसुओं को न देख सके; क्योंकि मैं जानती थी कि वे सब दुःख देख सकते थे परन्तु मेरे आँसू उनके लिए असहनीय थे। इस प्रकार वे बोलते रहे—रानी, मैं भी तुम्हें छोड़कर जाना नहीं चाहता। यहाँ मैं सब कष्ट सहने को तैयार हूँ—परन्तु इसके आगे मेरा बस ही क्या है? इसके बाद......। फिर वे कहने लगे—रानी, तुम अगले जन्म में मेरी माँ थीं और इस जन्म में देवी हो। मैंने उनका मुँह बन्द कर दिया, फिर भी वे कहने लगे—रानी, तुम्हीं मेरी आदि-शक्ति हो ; तुम घबराना मत, फिर तुम्हीं कौन यहाँ बैठी रहोगी? इस प्रकार उस रात को बजाय मेरे, वे मुझे ही सांत्वना देने लगे। मैं चुपचाप बैठी हुई उनका आशीर्वाद ले रही थी ; मेरी आँखें झुकी हुई थीं और उनका महान् हाथ मेरे मस्तक पर था......।

× × ×

बारह वर्ष पूर्व

'प्रेस' खुल गया था, और आप स्वयं वहाँ काम करते थे ; जाड़े के दिन थे। मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भद्दे जँचे और गरम कपड़े बनाने के लिए अनुरोधपूर्वक दो बार चालीस चालीस रुपये दिये परन्तु उन्होंने दोनों बार वे रुपये मज़दूरों को दे दिये। घर पर जब मैंने पूछा—कपड़े कहाँ है? तब आप हँस कर बोले—कैसे कपड़े? वे रुपये तो मैंने मज़दूरों को दे दिये ; शायद उन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज़ हो गई तब वे अपने सहज स्वर में बोले—रानी, जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करे वह भूखा मरे और मैं गरम सूट पहनूं, यह तो शोभा नहीं देता। उनकी इस दलील पर मैं खीझ उठी और बोली—मैंने कोई तुम्हारे प्रेस का ठेका नहीं लिया है। तब आप खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—जब तुमने मेरा ठेका ले लिया है, तब मेरा रहा ही क्या? सब कुछ तुम्हारा ही तो है। फिर हम तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं ; हमारा तुम्हारा कर्तव्य जुदा नहीं हो सकता। जो मेरा है वह भी तुम्हारा है क्योंकि मैंने अपने आपको तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। मैं निरुत्तर हो गई और बोली—मैं तो ऐसा सोचना नहीं चाहती। तब उन्होंने असीम प्यार के साथ कहा—तुम पगली हो।

जब मैंने देखा कि इस तरह वे जाड़े के कपड़े नहीं बनवाते हैं तब मैंने उनके भाई साहब को रुपये दिये और कहा कि इनके लिए आप कपड़े बनवा दें। तब बड़ी मुश्किल से आपने कपड़ा खरीदा। जब सूट बनकर आया तब आप पहिन कर मेरे पास आये और बोले—मैं सलाम करता हूँ, मैंने तुम्हारा हुक्म बजा लिया है। मैंने भी हँसकर आशीर्वाद दिया और

बोली—'ईश्वर तुम्हें सुखी रखे, और हर साल नये नये कपड़े पहिनो।' फिर मैंने कहा—सलाम तो बड़ों को किया जाता है ; मैं तो न उमर में बड़ी हूँ, न रिश्ते में, न पदवी में ; फिर आप मुझे सलाम क्यों करते हैं ? तब उन्होंने उत्तर दिया—उम्र, रिश्ता, या पदवी कोई चीज़ नहीं है ; मैं तो हृदय देखता हूँ और तुम्हारा हृदय माँ का हृदय है ; जिस प्रकार माता अपने बच्चों को खिला पिलाकर खुश होती है, उसी प्रकार तुम भी मुझे देखकर प्रसन्न होती हो और इसलिए अब मैं हमेशा तुम्हें सलाम किया करूँगा। हा ! पारसाल मई के महीने में उन्होंने स्नान करके नई बनियान पहनी थी और मुझे सलाम किया था—यही उनका अन्तिम सलाम था।

× × ×

सात साल पहिले—

वे लखनऊ में 'माधुरी' का संपादन करते थे; कांग्रेस का तूफ़ानी युग था; मेरे हृदय में भी देश-सेवा की भावना हिलोरें मारने लगीं; एक दिन उन्होंने कहा—आज मैं घर पर ही रहूँगा, अच्छा हो अगर तुम भी आज के लिए न जातीं; नहीं तो अकेले में मेरी तबीयत नहीं लगेगी। मैं रुक गई परन्तु इतने में कई बहनें आकर मुझे घसीट ले गईं। आखिर मैं क्या करती ? उस दिन शहर में मेरे नाम से नोटिस बँटी थी और मैं जाने के लिए मजबूर की गई थी। आठ बजे रात को जब लौटी तब लड़कों के ज़बानी मालूम हुआ कि आप भी कांग्रेस दफ़्तर की तरफ़ गये हैं। आखिर आप रात के दो बजे आये, मेरे पूछने पर आप मुस्किराकर बोले—जब तुम्हें देश-प्रेम बेबस कर सकता है तो क्या मुझे नहीं कर सकता ? मैंने उसी स्वर में उत्तर दिया—ज़रूर, क्यों नहीं; तभी तो पोथे के पोथे लिखा करते हो, रात की रात एक एक बात के सोचने में लगा देते हो; फिर भी रुपयों के दर्शन नहीं होते; मैं कैसे कहूँ कि अब तक सरकारी पेंशन पाने लगते। परन्तु उन्होंने मुझे बीच में ही रोक दिया और सहज स्वाभाविक स्वर में बोले—हटाओ जी, इस लालसा को। मैं तो मज़दूर हूँ; लिखना मेरा धर्म है—यही मेरी मज़दूरी है; इसमें मुझे सन्तोष है; दुःख की बात केवल एक यह है कि अगर मैं जेल चला गया तो तुम्हारी और बच्चों की क्या दशा होगी ? कौन तुम्हारी खबर लेगा ?......इस प्रकार उस दिन बड़ी देर तक चर्चा होती रही।

× × ×

परन्तु आज—

आज मैं लुट गई हूँ; मेरी समस्त निधि आज खाली हो गई है। आज मुझे अपने ऊपर दुःख होता है—कि मैं कितनी अभागिन हूँ। मेर समस्त विचार और विश्वास उखड़ रहे हैं; ईश्वर के न्याय पर भी मेरा विश्वास घटता चला जा रहा है। यह तो मेरे जीवन की अमावस्या है। बार बार यही स्मृति मेरे मन में आती है कि वे कितने महान् थे; देवता थे; और मैंने उन पर शासन किया। वे मेरे इतने निकट थे कि मैं उनके देवत्व को पहिचान तक न सकी। मुझमें क्या था—फिर भी उन्होंने मेरा उद्धार किया, प्यार किया, और सम्मान सहित अपने हृदय के ऊँचे से ऊँचे आसन पर बिठाया। उस दिन मुझे कितना गर्व था—मैं रानी थी—वे उपन्यास सम्राट् तो लोगों की आँखों में थे, परन्तु मेरे तो स्वामी होते हुए भी विनीत मित्र थे। मेरे पास उस समय

विश्व का समस्त सुख था, परन्तु आज मैं अकेली हूँ। आज मेरे जीवन का समस्त बल पानी हो गया है; मेरा मन उचट गया है; न मेरी लेखनी चल सकती है, न घर का काम कर सकती हूँ—मैं उस अमूल्य मोती को खोकर दिङ्मूढ़-सी हो गई हूँ।

आज इस घर में उनका सरल हास्य नहीं; उनकी सम्पादकीय चौकी खाली है। यों तो सब कुछ है; परन्तु सब होते हुए भी कुछ नहीं है। आज मेरे ईश्वर नहीं हैं। मैं अपना सब कुछ त्याग कर भी उनको बचाना चाहती थी, परन्तु मैं कुछ नहीं कर सकी! मनुष्य का प्रयत्न इतना तुच्छ है, इसका आज मैं दुःखद अनुभव कर रही हूँ।

उनकी स्मृति—'हंस' आज भी जीवित है, परन्तु 'हंस' का वह मोती कहाँ? शायद मैं इसीलिए जीवित हूँ कि मेरे देवता जिस छोटे से पौधे को छोड़ गये हैं उसको मैं हृदय के खून से सींच कर बड़ा कर जाऊँ।

फिर भी मेरे देवता ने सच कहा था, 'मैं पगली हूँ' और आज दुनिया की आँखों में भी पगली हूँ। बार-बार केवल यही ध्वनि मेरे कानों में आती है, 'मैं लुट गई!'

हाँ! मैं लुट गई!

शोक-ग्रस्ता—

उनकी दासी रानी।

(श्रीमती शिवरानी देवी)

प्रेमचन्द : मैंने क्या जाना और पाया

[लेखक—श्री जैनेन्द्रकुमार]

इस साल की होली को गए दिन अभी ज़्यादा नहीं हुए हैं। इस बार उस दिन हमारे यहाँ रंग-गुलाल कुछ नहीं हुआ। मुन्नी घर में बीमार थी। मैं अपने कमरे में अकेला बैठा था। मामूली तौर पर होली का दिन फीका नहीं गुज़रा करता। पर मुझे पिछले बरस का वह दिन खास तौर से याद आ रहा था। मैं सोच रहा था कि वह दिन तो अब ऐसा गया कि लौटनेवाला नहीं है। ये बीतते हुए दिन आखिर चले कहाँ जाते हैं? क्या कहीं ये इकट्ठे होते जाते हैं? इस भाँति उन जाते हुए दिनों के पीछे पड़कर मैं खुद खोया-सा हो रहा था।

तभी सहसा पत्नी ने आकर कहा—पारसाल इस दिन बाबूजी यहीं थे—

कहती-कहती बीच ही में रुककर वह सामने सूने में देखती हुई रह गई। मैं भी कुछ कह नहीं सका। उस वक्त तो उनकी ओर देखना भी मुझे कठिन हुआ।

थोड़ी देर बाद बोलीं—मैं आखिरी वक्त उन्हें देख भी न सकी—अम्माँ जी से भी अब तक मिलना न हुआ।

यह कहकर फिर मौन साधकर वह खड़ी हो गईं।

तब मैंने कहा कि उस बात को छोड़ो। यह बताओ कि मुन्नी का क्या हाल है? सो गई है?

'हाँ, बड़ी मुश्किल से सुला के आई हूँ।'

इतने में ही रंग-बिरंग मुँह, तर-बतर कपड़े और हाथ में पिचकारी लिए बड़ा बालक ऊपर आन पहुँचा। जाने क्या उसके कान में भनक पड़ी थी। आते ही उछाह में भरकर बोला—अम्माँ, बाबा जी आयेंगे? कब आयेंगे?

अम्माँ ने पूछा—कौन बाबाजी?

बालक ने कहा—हाँ, मैं जानता हूँ। पारसाल जो होली पर थे नहीं, वही बाबाजी। मैं सब जानता हूँ। अम्माँ, वह कब आयेंगे?

उस समय मैंने उसे डपट कर कहा—जाओ, नीचे बालकों में खेलो।

इस पर वह बालक मुझसे भी पूछ उठा—बाबू जी, बनारस वाले बाबा जी आने वाले हैं? वह कब आयेंगे?

मैंने और भी डपटकर कहा—मुझे नहीं मालूम। जाओ, तुम खेलो।

बालक चला तो गया था। हो सकता है कि नीचे खेला भी हो, लेकिन इस तरह उस पारसाल के होली के दिन की याद के छिड़ जाने से मन की तकलीफ़ बढ़ गई।

पत्नी मेरी ओर देखती रहीं, मैं उनकी ओर देखता रहा। बोल कुछ सूझता ही न था। आखिर काफ़ी देर बाद वह बोलीं—तुम बनारस कब जाओगे? मैं भी ज़रूर चलूँगी।

मैंने इतना ही कहा कि देखो—

बात यह थी कि पारसाल इसी होली के दिन प्रेमचन्द जी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान थी जिसमें उनकी दुबली और लाल-पीली देह छिपती न थी। वक़्त साढ़े नौ का होगा। ऐसे ही समय होलीवालों का एक दल घर में अनायास घुस आया और बीसियों पिचकारियों की धार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्द जी भी चौंक गए। पलक मारने में वह तो सिर से पाँव तक कई रंग के पानी से भींग चुके थे। हड़बड़ाकर उठे, क्षण-इक रुके, स्थिति पहचानी, और फिर वह क़हक़हा लगाया कि मुझे अब तक याद है। बोले—अरे भाई जैनेन्द्र, हम तो मेहमान हैं।

मैंने आगत सज्जनों से, जिनमें आठ बरस के बच्चों से लगाकर पचास बरस के बुज़ुर्ग भी थे, परिचय कराते हुए कहा—आप प्रेमचन्द जी हैं।

यह जानकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए।

प्रेमचन्द जी बोले—भाई, अब तो खैर है न। या कि अभी ज़हमत बाक़ी है?

'लेकिन इन दिनों खैरियत का भरोसा क्या कीजिए। और होली के दिन का तो और भी ठिकाना नहीं है।'

इस पर प्रेमचन्द जी ने फिर क़हक़हा लगाया। बोले—तो कौन कपड़े बदले। हम तो यहीं बैठते हैं खाट पर कि आए जो चाहे।

......सच, यक़ीन करना मुश्किल होता है कि वह दिन अभी एक बरस पहले था और प्रेमचन्द जी अब नहीं हैं। फिर भी प्रेमचन्द जी तो नहीं ही हैं। इतने दूर हो गए हैं कि जीते जी उन्हें नहीं पाया जा सकता। इस सत्य को जैसे भी चाहे हम समझें, चाहे तो उसके प्रति विद्रोही ही बने रहें, पर किसी भी उपाय से उसे अन्यथा नहीं कर सकते।

(२)

छुटपन से प्रेमचन्द जी का नाम सुनता देखता आया हूँ। वह नाम कुछ-कुछ इस तरह मन में बस गया था जैसे पुराण-पुरुषों के नाम। मानो वह मनोलोक के ही वासी हैं। सदेह भी वह हैं और इस कर्म-कलाप-संकुलित जगत में हम तुम की भाँति कर्म करते हुए जी रहे हैं—ऐसी सम्भावना मन में नहीं होती थी। बचपन का मन था, कल्पनाओं में से रस लेता था। उन्हीं पर पल-फूलकर वह पक रहा था। सन् '२६ में शायद, या सन् '२७ में, 'रंगभूमि' हाथों पड़ी। तभी चिपट कर उसे पढ़ गया। तब कदाचित् एक ही भाग मिला था, वह भी दूसरा। पर उससे क्या। प्रेमचन्द जी की पुस्तक थी और शुरू करने पर छूटना दुष्कर था। उसे पढ़ने पर मेरे लिए प्रेमचन्द जी और भी वाध्यता से मनोलोक के वासी हो गए।

पर दिन निकलते गए और इधर मेरा मन भी पकता गया। इधर-उधर की सूचनाओं से बोध हुआ कि प्रेमचंद जी लेखक ही नहीं हैं और आकाश-लोक में ही नहीं रहते, वह हम-तुम जैसे आदमी भी हैं। यह जानकर प्रसन्नता बढ़ी, यह तो नहीं कह सकता। पर यह नया ज्ञान विचित्र मालूम हुआ और मेरा कुतूहल बढ़ गया।

सन्, '२६ आते-आते मैं अकस्मात् कुछ लिख बैठा। यों कहिए कि अघटनीय ही घटित हुआ। जिस बात से सबसे अधिक डरता रहा था—यानी, लिखना—वही सामने आ रहा। इस अपने दुस्साहस पर मैं पहले-पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। मैं, और लिखूं—यह बहुत ही अनहोनी बात मेरे लिए थी। पर विधि पर किसका बस। जब मुझ पर यह आविष्कार प्रगट हुआ कि मैं लिखता हूँ तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचंद जो पूरी 'रंगभूमि' को अपने भीतर से प्रगट कर सकते हैं, वही प्रेमचंद जी लखनऊ से निकलने वाली 'माधुरी' के संपादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बाँधकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह संपादक के लिए नहीं है, ग्रंथकर्ता प्रेमचंद के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता ही नहीं हूँ, पर लेखक प्रेमचंद उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आई। साथ एक कार्ड भी मिला जिसपर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापिस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था, फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे लौटता हूँ कि पीठ पर फीकी लाल स्याही में अंग्रेज़ी में लिखा है—'Please ask if this is a translation.' जाने किस अतर्क्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप में भर गई कि हो न हो, ये प्रेमचंद जी के शब्द हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही साथ मानो कृतज्ञता में नहा उठा, मेरा मन तो एक प्रकार से मुर्झा ही चला था, लेकिन इस छोटे-से वाक्य ने मुझे संजीवन दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने आपमें कितना बड़ा उपकार है।

पर मैंने न प्रेमचन्द जी को कुछ लिखा, न माधुरी को लिखा। फिर भी तब से अलक्ष्य भाव से प्रेमचन्द जी के प्रति मैं एक ऐसे अनिवार्य बन्धन से बँध गया कि उससे छुटकारा न था।

कुछ दिनों बाद एक और* कहानी मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचन्द की उस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है, छपने लायक़ तो वह होगी ही नहीं। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक न थीं। स्वयं प्रेमचन्द जी ने लिखा था—'प्रिय महोदय, दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलनेवाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गई है।'

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का, प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं था। लेकिन जो कुछ था वह ऐसे प्रोत्साहनों से भारी था। प्रेमचन्द जी की अन्तः प्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गई। वह जितने सद्भावनाशील थे उतने ही उन सद्भावनाओं के प्रदर्शन में संकोची थे। नेकी हो तो कर देना पर कहना नहीं—यह उनकी आदत हो गई थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढ़ा था और मैं दंग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लड़के के प्रति इतनी बड़ी दया का, उपकार का काम कर सकता है, फिर भी उसका तनिक भी श्रेय लेना नहीं चाहता। अगर उस पत्र के साथ कृपा-भाव (Patronisation) से भरे वाक्य भी होते तो क्या बेजा था। लेकिन प्रेमचन्द वह व्यक्ति था जो उनसे ऊँचा था। उसने कभी जाना ही नहीं कि उसने कभी उपकार किया है या कर सकता है। नेकी उससे होती थी, उसे नेकी करने की ज़रूरत न थी। इसलिए वह ऐसा व्यक्ति था जिससे बदी नहीं हो सकती।

* 'अन्धों का भेद।'

लेकिन मैं तो तब बच्चा था न। अपने को छपा देखने को उतावला था। लिखा—अगर वह कहानी छपने योग्य है तो अगले अंक में ही छपा दीजिए। विशेषांक के लिए और भेज दूँगा।

उत्तर आया—'प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषांक के लिए चुन ली गई है, उसी में छपेगी।'

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया। अब भी मैं उसको याद कर विस्मय से भर जाता हूँ। मुझे मालूम होता है कि प्रेमचन्द जी की सबसे घनिष्ट विशेषता यही है। यही साहित्य में खिली और फली है। उनके साहित्य की रग-रग में सद्भावना व्याप्त है। लेकिन भावुकता में वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नहीं हो गई। वह अपने में समाई हुई है, छलक-छलक नहीं पड़ती। प्रेमचन्द का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दीखे, पर टोस है और खरा है। उसके भीतर भावना की अडिग सचाई है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की एक सहज दुर्बलता है, दया। दयावान दूसरे को दयनीय मानता है तभी दया कर सकता है। उसमें दम्भ भी आता है। प्रेमचन्द इस बात को समझते थे और वह शायद ही कभी वहाँ तक नीचे गिरे। सचाई तक ही उठने की कोशिश करते रहे।

उसके बाद अचानक उनका एक पत्र आया। लिखा था-'त्याग भूमि' में तुम्हारी कहानी * पढ़ी। पसंद आई। बधाई।

इस पत्र से तो जैसे एकाएक मुझपर वज्र गिरा। मन की सद्भावना कैसे किसी को भीतर तक भिगो कर कोमल कर सकती है, उसे अपने अपदार्थ होने का भान करा सकती है, यह तब से मैं समझने लगा हूँ। उस पत्र से मेरा दिल तो बढ़ा ही लेकिन सच पूछो तो कहीं भीतर कठोर बन कर जमा हुआ मेरा अहंकार उस पत्र की चोट से बिल्कुल बिखर गया और मैं मानो एक प्रकार के सुख से रो-रो आया।

अहंकार आत्म के बचाव का ज़रिया (A measure of self-defence) है। वह अपनी हीनता के दबाव से बचने के प्रयत्न का स्वरूप है। उसमें व्यक्ति अपने में ही उभरा हुआ दीखना चाहता है। प्रयास यह अयथार्थ है। जब हम अपनी हीनता दूसरे के निकट स्वीकार लेते हैं, उसे निवेदन कर देते हैं, तब अहंकार व्यर्थ होकर सहसा ही बिखर जाता है। तब एक निर्मल गर्व का भाव होता है जिसका हीनता-बोध से संबन्ध नहीं होता। वह अहंकार से बिल्कुल ही और वस्तु है।

प्रेमचन्द जी के उस पत्र के नीचे मैंने अपने को कृतार्थ भाव से हीन स्वीकार किया, और मैंने उसको प्रेमचन्द जी का आशीर्वाद ही माना। उस समय किसी भी प्रकार मैं उसको अपनी योग्यता का सर्टिफ़िकेट नहीं मान सका। फिर भी आशीर्वाद का पात्र बन सका, यही गर्व क्या मेरे लिए कम था। मैंने पाया है, गुरुजनों का आशीर्वाद मन के काठिन्य को, कल्मष को धोता है। पर उसे आशीष के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा वही शाप भी हो सकता है।

उसके बाद से पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। फिर जो कहानी ‡ भेजी उसको प्रकाशन के लिए अस्वीकार करते हुए उन्होंने खुलकर लिखा—कहानी में 'यह' होना चाहिए, कहानी 'ऐसी' होनी चाहिए। मेरी धृष्टता देखो, कि मैंने शंका की कि, कहानी में क्यों 'यह' होना चाहिए, और क्यों कहानी 'ऐसी' ही होनी चाहिए। छोटे मुँह बड़ी बात करते मुझे शर्म आनी चाहिए थी; पर प्रेमचन्द जी ने ज़रा भी वह शर्म मेरे पास न आने दी। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे तो यह मालूम

* परीक्षा। ‡ 'आतिथ्य।'

होता है कि उस प्रकार की निर्लज्ज शंका के कारण तो मानो और भी उन्होंने मुझे अपने पास ले लिया। शंकाओं के उत्तर में एक प्रकार से उन्होंने यह भी मुझे सुझाया और याद रखने को कहा कि 'मुझे निर्भ्रान्त न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो जायँ तब बेशक उन्हें उल्लंघनीय मानना चाहिए। लेकिन—।' उनका ज़ोर इस अंतिम 'लेकिन' पर अवश्य रहता था। नियम बदलेंगे, वे टूटेंगे भी, पर इस 'लेकिन' से सावधान रहना होगा। प्रेमचन्द जी इस 'लेकिन' की ओर उससे आगे की ज़िम्मेदारी स्वयं न लेकर मानो निर्णायक के ऊपर ही छोड़ देते थे। मानो कहते हों—'उधर बहुत खतरा है, बहुत खटका है। मेरी सलाह तो यही है, यही होगी कि उधर न बढ़ा जाय। फिर भी यदि कोई बढ़ना चाहता है तो वह जाने, उसका अन्तःकरण जाने। कौन जाने कि मुझे खुशी ही हो कि कोई है तो, जो खतरा देखकर भी (या ही) उधर बढ़ना चाहता है।' कई बार उन्होंने कहा है—'जैनेन्द्र, हम समाज के साथ हैं, समाज में हैं।' यह इस भाव से कहा है कि मानो कहना चाहते हों कि—'जो हीन-दृष्टि इतना तक नहीं देखता उसे तर्क में पड़ने की अपनी ओर से मैं पूरी छुट्टी देता हूँ!'

(३)

इस भाँति दूर-दूर रहकर भी चिट्ठी-पत्री द्वारा परस्पर का अपरिचय बिल्कुल जाता रहा था। कुंभ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहाँ प्रेमचंद जी का जवाब भी मिल गया। लिखा था—'अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओगे ही। ज़रूर आओ।'

सन् '३० की जनवरी थी। खासे जाड़े थे। बनारस से गाड़ी लखनऊ रात के कोई ४ बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और शीत भी कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पासवाला, लाल मकान मिल तो जायगा ही, पर मुमकिन है असुविधा भी कुछ हो। लेकिन दरअसल जो परेशानी उठानी पड़ी उसके लिए मैं बिल्कुल तैयार न था।

क्या मैं जानता न था कि मैं प्रेमचन्द जी के यहाँ जा रहा हूँ? जी हाँ, वही जो साहित्य के सम्राट् हैं; घर-घर जिनके नाम की चर्चा है, उनके-से मशहूर आदमी हैं कितने! मैं जानता था और बड़ी खुशी से हर किसी को जतलाने को उत्सुक था कि मैं उनके, उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ।

लेकिन मैं अपने को कितना भी ज्ञानी जानता होऊँ, और अखबार में छपने लायक़ दो-एक कहानियाँ भी लिख चुका होऊँ पर यह जानना मुझे बाक़ी था कि मैं कितना भूला, भोला—कितना मूर्ख हूँ। महत्ता के साथ मेरे दिमाग़ में जैसे अगले क़दम पर ही महल आ जाता था। जो महल में प्रतिष्ठित नहीं है, क्या ऐसी भी कोई महत्ता हो सकती है? पर मुझे जानना शेष था कि महल और चीज़ है, महत्ता और चीज़ है। उन दोना में कोई बहुत सगा सम्बन्ध नहीं है। महत्ता मन से बनती है, महल पत्थर का बनता है। अतः इन दोनों तत्वों में मित्रता अनिवार्य नहीं। किन्तु इस सद्ज्ञान से मैं तब तक सर्वथा शून्य था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोबीच आ खड़ा हो गया हूँ, सामान सामने निर्जन एक दुकान के तख्तों पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ़ आदमी टहलने के लिए आ जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता हूँ—जी, माफ़ कीजिएगा। प्रेमचंद जी का मकान आप बतला सकते हैं? नज़दीक ही कहीं है। जी हाँ, प्रेमचंद।

सज्जन विनम्र, कुछ सोच में पड़ गए। माथा खुजलाया, बोले—प्रेमचन्द! कौन प्रेमचन्द?

'जी वही आला मुसन्निफ़। नावलिस्ट। वह एडिटर भी तो हैं, साहब। मशहूर आदमी हैं।'

'एँ-एँ, पि...रे...म...च...न्द!' और सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर मुझसे क्षमा माँग उठे। क्षमा माँग, बिदा ले, छड़ी उठा, मुझे छोड़ वह अपनी सैर पर बढ़ गए।

उस सड़क पर ही मुझे छः बज आए। साढ़े छः भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को मैंने क्षमा किया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया था। लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रगट किया। मैं उनकी असमर्थता पर खीझ तक भी तो न सका क्योंकि वे सचमुच ही असमर्थ थे।

आस पास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहाँ मैं खड़ा था, वहाँ से प्रेमचन्द जी का मकान मुश्किल से बीस गज़ निकला; लेकिन उस रोज़ मुझे संभ्रांत श्रेणी से प्रेमचन्द जी तक के उस बीस गज़ के दुर्लंघ्य अन्तर को लाँघने में काफ़ी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूँ कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गज़ों को पार कर प्रेमचन्द जी के घर पर आ लगा वह कुलशील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था?

मैंने अचानक ही उससे पूछा था—भाई, प्रेमचंदजी का घर बता सकते हो?

उसने कहा—मुंशी प्रेमचंद?

किन्तु मैं किसी प्रकार के मुंशीपन की मार्फ़त तो प्रेमचंद जी को जानता न था। मैंने कहा—अच्छा, मुंशी ही सही।

'वह तो है' यह कह कर वह आदमी उठा और मेरे साथ बताने चल दिया। मैंने कहा—ठहरो, ज़रा सामान ले लूँ। वह व्यक्ति इस पर मेरे साथ साथ आया, बिना कुछ कहे सुने मेरे हाथ से सामान उसने ले लिया। और प्रेमचंद जी के मकान के ज़ीने के आगे उसे रखकर बोला—घर यह है। अब गुहार लो।

मैंने आवाज़ दी। वह आवाज़ इस योग्य न रही होगी कि दूसरी मंजिल पर चढ़कर द्वार-दीवार लाँघती हुई भीतर तक पहुँच जाय। इसलिए उस व्यक्ति ने तत्पर होकर पुकारा—बाबू जी! बाबू जी!

थोड़ी देर बाद ज़ीने के ऊपर से आवाज़ आई—कौन साहब हैं?

'मैं जैनेन्द्र।'

'आओ भाई'।

(४)

ज़ीने के नीचे से झाँकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बड़ी घनी मूँछें थीं; पाँच रुपयेवाली लाल-इमली की चादर ओढ़े थे जो काफ़ी पुरानी और चिकनी थी; बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम होता था। सिर ज़रूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से ज़रा नीचे तक आ गई थी। आँखों में खुमारी भरी दीखी। मैंने जान लिया कि प्रेमचंद यही हैं। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। पर उनको ही प्रेमचंद जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते जी प्रेमचंद इनको ही मानना होगा? इतनी दूर से, इतनी आस बाँध कर क्या इन्हीं मूर्ति के दर्शन करने मैं आया हूँ? एक बार तो जी में आया कि अपने मन के असली रमणीक प्रेमचंद के प्रति आस्था क़ायम रखनी हो तो मैं यहाँ से लौट ही क्यों न

जाऊँ ? प्रेमचंद के नाम पर यह सामने खड़ा व्यक्ति साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि—

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा—आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा ज़ीने पर जो चढ़ने लगा कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा। बक्स तो खैर मैंने छिनने न दिया; लेकिन तब वह और दो-एक छोटी-मोटी चीज़ों को अपने हाथ में थामकर ज़ीने से मुझे ऊपर ले गए।

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आँगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीज़ें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए खाली ही नहीं रही। थोड़ी ही देर में मुझे भूल चला कि यह तनिक भी पराई जगह है। मेरे भीतर की आलोचनाशक्ति न कुछ देर में मुरझा सोई।

सब काम छोड़ प्रेमचंद जी मुझे लेकर बैठ गए। सात बज गए, साढ़े-सात बज गए, आठ होने आए, बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। यह भूल गया कि यह प्रेमचंद हैं, हिंदी के साहित्य सम्राट हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी। देखते-देखते बातों-बातों में मैं एक अत्यंत घनिष्ट प्रकार की आत्मीयता में घिर कर ऊपरी सब बातों को भूल गया।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने आपमें सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आन-बान में था। अपने ही जीवन-इतिहास की वह प्रतिमा थे। उनके चेहरे पर बहुत कुछ लिखा था जो पढ़ने योग्य था। मैं सोचा करता हूँ कि बादाम की मीठी गिरी के लिए, उस गिरी की मिठास के लिए, उस मिठास की रक्षा के लिए क्या यह नितांत उचित और अनिवार्य नहीं है कि उसके ऊपर का छिलका खूब कड़ा हो। मैं मानता हूँ कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश, वैसी सुविधा न हो; बादाम को कभी बादाम बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो।

इस जगह आकर प्रेमचंद की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ जो अतिशय छटामयी और प्रियदर्शन थीं एकदम ढह कर चूर-चूर हो गईं और मुझे तनिक भी दुःख नहीं होने पाया। माया सत्य के प्रकाश पर टूट बिखरे तो दुःख कैसा। आते ही एक डेढ़ घंटे के क़रीब बातचीत हुई और फलतः प्रेमचंद के प्रति मेरी आस्था इतनी पुष्ठ हो गई कि उसके बाद किसी भी वेश-भूषा में, रंग-रूप में वह उपस्थित क्यों न होते, अकुंठित भाव से उनके चरण छुए बिना मैं न रहता।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ट रूप में अवगत हैं। योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है। जानकर ही नहीं छोड़ दिया, उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर रखा और तौला है। वह अपने प्रति सचेत हैं, Consistent हैं, स्वनिष्ठ हैं।

मैंने कहा—बङ्गाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचन्द जी ने कहा—सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझ में वह काफ़ी नहीं है।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा—स्त्रीत्व है, इसीसे वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?

बोले—हाँ तो। वह जगह-जगह Reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिए दोनों चाहिए—

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं। उस समय उन आँखों की सुर्खी एक दम ग़ायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गई थी। मानो अब उनकी आँखों के सामने जो हो, स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि 'मैं कह तो रहा हूँ पर जानता मैं भी कुछ नहीं हूँ। शब्द तो शब्द हैं ; तुम उनपर मत रुकना। उनके अगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुँच कर जो पाओगे पाओगे। वहीं पहुँचो, हम तुम पर रुको नहीं। राह में जो है बाधा है। लाँघते जाओ लाँघते जाओ। उल्लंघित होने में ही बाधा की सार्थकता है।'

बोले—जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बङ्गाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ ? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिए—

कह कर प्रेमचन्द जैसे कन्या की भाँति लज्जित हो उठे। उनकी मूँछें इतनी घनी थीं कि बेहद। उनमें सफ़ेद बाल तब भी रहे होंगे। फिर भी मैं कहता हूँ, वह कन्या की भाँति लज्जा में घिर गए। बोले—जैनेन्द्र, रवीन्द्र, शरत् दोनों महान् हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है; शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति (Confession) ही बजती मुझे सुन पड़ी। गर्वोक्ति की तो वहाँ संभावना ही न थी।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर से खबर आई कि अभी डॉक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नहीं रखी गई है, ऐसा हो क्या रहा है! दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी ख़बर नहीं है ?

प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले—ज़रा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ ख्याल ही न रहा।

कहकर इतने ज़ोर से क़हक़हा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो भौंचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।

बोले—और तुम भी तो अभी शौच नहीं गये होगे। वाह, यह खूब रही! और हँसी का वह क़हक़हा और भी द्विगुणित वेग से घर भर में गूँज गया। अनंतर, मेरे देखते-देखते लपककर स्लीपर पहने, आले में से शीशी उठाई और उन्हीं कपड़ों दवाई लेने बाहर निकल गये।

मेरे मन पर प्रेमचन्द के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नहीं है। इसे अपने महत्व या दूसरों के सम्मान में आसक्ति नहीं है। इस व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में इतना ही पता है कि कोटि-कोटि आदमियों के बीच में वह भी एक आदमी है। उससे अधिक कुछ होने का, या पाने का वह दावेदार न बनेगा। मानवोचित सम्मान का हक़दार वह है, और बस ; उससे न कम न ज़्यादा।

उन दिनों अपने सरस्वती प्रेस, काशी से 'हंस' निकालने का निश्चय हो रहा था। मैंने पूछा कि प्रेस छोड़कर, अपने गाँव का घर छोड़कर, यहाँ लखनऊ में नौकरी करें, ऐसी क्या आपके साथ कोई लाचारी है ?

उनसे यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। हममें कोई समानता न थी। मेरा यह प्रश्न धृष्टतापूर्ण समझा जा सकता था। लेकिन मैंने कहा न कि पहले ही अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सब दूरी खो बैठा था। मैं लाख छोटा होऊँ, पर प्रेमचन्द जी इतने बड़े थे कि अपनी उपस्थिति में वह मुझे तनिक भी अपने तईं हीन अनुभव नहीं होने देते थे। प्रश्न के उत्तर में निस्संकोच और अकुंठित भाव से अपनी आर्थिक अवस्था अथवा दुरवस्था सब कह सुनाई। तब मुझे पता चला कि यह प्रेमचन्द जो लिखते हैं वह केवल लिखते ही नहीं हैं, उसको मानते भी हैं, उस पर जीते भी हैं। असहयोग में उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी। कुछ दिनों तो वह 'असहयोग' ही एक काम रहा। फिर क्या करें? कुछ दिनों कानपुर विद्यालय में अध्यापकी की। फिर काशी विद्यापीठ में आये। आंदोलन तब मध्यम पड़ गया था। सोचने लगे, कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं और मेरा वेतन विद्यापीठ पर बोझ हो रहा हो। इस तरह के सोच विचार में उसे छोड़ दिया। अब क्या करें?

क्यों, मैंने कहा—आपके हाथ में तो क़लम थी। फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें?

नहीं जैनेन्द्र, वह बोले—तुम्हारा ख्याल ठीक नहीं है। यह मुल्क विलायत नहीं है। विलायत हो जाय, यह भी शायद मैं नहीं चाहूँगा।

फिर बताया कि लिखने पर निर्भर रहकर काम नहीं चलता। मन भी नहीं भरता, खर्च भी पूरा नहीं होता। तबीयत बेचैन हो जाती है। फिर किन-किन हालतों में से गुज़रना पड़ा, यह भी सुनाया। आख़िर यहाँ-वहाँ से कुछ पूंजी बटोरकर प्रेस खोला। पर बाज़ारवालों से निपटना न आता था। प्रेस एक गले का कौर बन गया जो न निगला जाय, न उगलते ही बने। अपना लेना पटे नहीं, देनदारों को देना सो पड़े ही। ऐसी हालत में प्रेमचंद जी जैसे व्यक्ति की गति अकथनीय हो गई। और कुछ न सूझा, तो प्रेस में ताला डाल घर बैठे रहे। प्रेस न चले तो न, पर जान को कब तक घुलाया जाय? पर ऐसी हालत में पैसे का अभाव ही चारों ओर दीखने लगा। और उस अभाव से घिर कर तबीयत घुटने लगी।

अब बताओ जैनेन्द्र, वह बोले—क्या अब भी नौकरी न करता? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है। प्रेस प्रवासीलाल चलाते हैं। और बोले कि प्रेस से एक मासिक पत्र निकालना तय किया है, 'हंस'। क्या राय है?

मैंने पूछा—क्यों तय किया है?

'प्रेस का पेट भरना है कि नहीं। छपाई का काम काफ़ी नहीं आता और फिर हमारा यह साहित्य का शग़ल भी चलता रहेगा।'

मैंने कहा—अच्छा तो है।

बोले—'हंस' को कहानियों का अखबार बनाने का इरादा है। उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए। ईश्वरीप्रसाद जी को जानते तो हो न? नहीं? खैर, शाम को 'हंस' का कवर-डिज़ाइन लाएंगे। ज़िंदादिल आदमी हैं, मिलकर खुश होगे। कहानियों का एक अखबार हिंदी में हो, इसका वक्त आ गया है। क्यों?

'हंस' के संबंध में उनको मिथ्या आशाएं न थीं पर वह उत्साहशील थे। 'हंस' के समारंभ को लेकर वह उस समय नवयुवक की भाँति अपने को अनुभव करते थे।

पहली मुलाक़ात में मैं वहाँ ज़्यादा देर नहीं ठहरा। सवेरे गया, शाम को चल दिया। लेकिन इसी बीच में प्रेमचंद जी की अपनी निजता और आत्मीयता पूरी तरह प्रस्फुटित होकर मेरे सामने आ गई।

(५)

खाना खा-पीकर बोले—जैनेन्द्र, चलो दफ़्तर चलते हो ?

मैं चलने को उद्यत था ही। जिस ढंग से उन्होंने इक्केवाले को पुकारा, उसको पटाया, इक्के में बैठते-बैठते उसके कुशल-क्षेम की भी कुछ खबर ले ली, जिस सहजभाव से उन्होंने उससे एक प्रकार की अपनी समकक्षता ही स्थापित कर ली—वह सब कहने की यह जगह शायद न हो, लेकिन मेरे मन पर वह बहुत ही सुंदर रूप में अंकित है।

रास्ते में एकाएक बोले—कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?

मैंने पूछा—आप विश्सास करते हैं ?

बोले—क्या बताऊँ ; लेकिन दफ़्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं। भाई उनकी बताई कई बातें ऐसी सही बैठी हैं कि मैं नहीं कह सकता, यह सारा शास्त्र पाखंड है।

मैंने कहा—तो आप विश्वास करते हैं ! मैं तो कभी नहीं कर पाया।

बोले—इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसंधान में लगे रहे हैं, उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं ?

मुझे यह सुनकर विस्मय हुआ। मैंने कहा—तो विश्वास करना ही होगा ? आप परमात्मा में जो विश्वास नहीं करते हैं।

प्रेमचन्द जी गम्भीर हो गये। बोले—जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ, जब देखता हूँ, बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है। यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है। वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा क़सूर है ? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो ? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो ?

मैंने कहा—उससे बचने का रास्ता मुझे कहीं नज़र नहीं आता।

प्रेमचन्द जी मौन हो गये। उनकी आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो गईं और वहीं दूर गड़ गईं। उस मग्न मौन की गंभीरता ऐसी थी कि हम सब उसमें दब ही जायँ।

आफ़िस पहुँचकर उन मित्र को मेरा हाथ दिखलाया गया। उन्होंने काफ़ी युक्तिपूर्ण बातें कहीं। मेरे लिए दुष्कर था कि कह डालूँ कि जो कुछ बताया गया, वह ग़लत है। आफ़िस से लौटते वक्त प्रेमचन्द जी ने पूछा—कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो ?

मैंने कहा—सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते हो ? वह ज्यों-की-त्यों है, यानी दृढ़ नहीं हुई।

यह बात सुनकर जैसे प्रेमचन्द जी को दुःख हुआ। दूसरों के अनुभव-ज्ञान की यह उन्हें अवज्ञा ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्द जी के मन में यों मूलतत्व—अर्थात्, ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव-जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हों, कट्टर नहीं थे। दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहण-शील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा-किंचित् विश्वास—ये दोनों वृत्ति उनमें युगवत् देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है, लेकिन मैंने उनके जीवन में अब तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्वों को निभते देखा है। वह अत्यंत स-प्रश्न थे, किन्तु तभी अत्यंत श्रद्धालु भी थे। कई छोटी-छोटी बातों को ज्यों-का-त्यों मानते और पालते थे, कई बड़ी-बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।

उसी शाम रुद्रनारायण जी भी आए थे। टॉल्स्टाय के लगभग सभी ग्रन्थ उन्होंने अनुवाद कर डाले थे। पर छापने को कोई प्रकाशक न मिलता था। इतनी लगन और मेहनत अकारथ जा रही थी। छोटा-मोटा प्रकाशक तो इस काम को उठाता किस भरोसे पर, पर साधन-संपन्न बड़े प्रकाशक भी किनारा दे रहे थे। इस स्थिति पर प्रेमचंद भी खिन्न थे। उनका मन वहाँ था जहाँ साहित्य की असली नब्ज़ है। बाज़ार की यथार्थताओं पर उनका मन मलिन हो आता था।

रात को जब चलने की बात आई तब बोले—तो आज ही तुम चल भी दोगे? मैं सोचे बैठा था कुछ रोज़ ठहरोगे।

उनके शब्दों में कोई स्पष्ट आग्रह नहीं था। आग्रह उनके स्वभाव में ही नहीं था। किसी के जाने-आने की सुविधा-व्यवस्था के बीच में वह कभी अपनी इच्छाओं को नहीं डालते थे। किसी के काम में अड़चन बनने से वह बचते थे। यहाँ तक कि लोगों से मिलते-जुलते असमंजस होता था कि कहीं मैं उनका हर्ज न कर रहा होऊँ। आज के कर्मव्यस्त युग में यह उनके स्वभाव की विशेषता बहुत ही मूल्यवान थी। चाहे साहित्य-रसिकों को यह थोड़ी बहुत अखरे ही।

(६)

फिर सन् '३० का राष्ट्रीय आंदोलन आ गया जिसमें बहुत लोग जेल पहुँचे। इस बीच 'हंस' निकल गया ही था। प्रेमचंद जी उसके तो संपादक ही थे; इधर उधर भी लिखते थे; आंदोलन में योग देते थे; और 'ग़बन' उपन्यास तैयार कर रहे थे। यह भाग्य ही हुआ कि वह जेल नहीं गए। उनका जेल के बाहर रहना ज़्यादा कठिन तपस्या थी। जेल में मैंने जो उनके पत्र पाए उनसे मैंने जाना कि प्रेमचंद जी में मैंने क्या निधि पाई है। आरंभ में ही प्रेमचन्द जी ने सूचना दी—'मेरी पत्नी जी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सज़ा पा गई हैं। कल फ़ैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परीशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बंद कर दिया।'

उनके पत्रों में हिन्दी साहित्य की विहंगम आलोचना रहा करती थी, कुछ अपने मन की और स्थिति की, सुख-दुःख की बातें रहा करती थीं। एक पत्र में लिखा—

'...'ग़बन' अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली को निभाए जाता हूँ। कथा को बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।'

मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा—'पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूँगा, पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाय। (अमुक) को या (अमुक) पा जाँय, मुझे समान हर्ष होगा।'

आगे लिखा—'मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रसाद-स्कूल, प्रेमचंद-स्कूल की चर्चा की थी। शैली में ज़रूर कुछ अन्तर है मगर वह अन्तर कहाँ है यह मेरी समझ में खुद नहीं आता।...प्रसाद जी के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है। Realist हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।'

× × ×

किसी को अपनाने का उनका तरीक़ा ही अलग था। इस पत्र में मुझे अपनाया क्या

बनाया ही गया है। पर संपादकीय रवादारी देखते ही बनती है। मैं तो इस पर पानी पानी होकर रह गया था। तिस पर यह कि पहली ही मुलाक़ात के बाद यह लिखा गया था।—

'प्रिय जैनेन्द्र जी!

मैं थरथर काँप रहा हूँ कि आप 'हंस' में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गई। आपकी कहानी भी रह गई। अब वे सब फ़रवरी के अंक में जा रही हैं, क्षमा कीजिएगा।

'ग़बन' छप गया है। बाइंडिंग होते ही पहुँचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूँगा।

भवदीय,

धनपत राय'

× × ×

उनकी व्यावसायिक स्थिति और मानसिक चिन्ता का अन्दाज़ इस पत्र से कीजिए—

'प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए मिला। मैं आशा कर रहा था देहली (घर) से आ रहा होगा पर आया लाहोर (जेल) से! ख़ैर, लाहोर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उससे कई दिन पहले मुलतान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौट कर आ गया हो, तुम्हें मिल गया हो। अच्छा मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर ज़मानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ ज़मानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ ज़मानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, ज़मानत माँगी। अब मैंने गवर्मेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर ज़मानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से क़र्ज़ लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।

'इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान है। मैं जब तक इसे चलाता हूँ। फिर यह तुम्हारी ही चीज़ है। धन का अभाव है, 'हंस' में कई हज़ार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हज़ारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या। यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जायगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो

मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूँगा। अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा!

'कर्मभूमि' के तीस फ़ार्म छप चुके हैं, अभी क़रीब छः फ़ार्म बाक़ी हैं। अब उसे जल्द समाप्त करता हूँ। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ही ममताशून्य फ़ैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है।

'......इधर पण्डित श्रीरामशर्मा का शिकार, स्वामी सत्यदेव जी की कहानियों का संग्रह, डॉ० रवीन्द्रनाथ की षोडशी आदि पुस्तकें निकली हैं। बाबू वृन्दावनलाल जी का कुण्डली-चक्र बड़े शौक़ से पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं। गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक। शायद मुझमें भावशून्यता का दोष हो।'

× × ×

एक उलहने का पत्र देखिए—

'प्रिय जैनेन्द्र,

'आदाब अर्ज़! भई वाह! मानता हूँ। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मैटर भी जानेवाला है। जुलाई बीस तक निकल जायगा। लेकिन हज़ूर को याद ही नहीं। क्यों याद आये। बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपए तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है। और यश के धनी धन के धनी से क्या कुछ (कम) मग़रूर और भुलक्कड़ होते हैं।

'अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो? न कहानी भेजते हो, न ख़त भेजते हो। कहानी न भेजो, ख़त तो भेजते रहो। मैं तो इधर बहुत परीशान रहा। याद नहीं आता अपनी कथा कह चुका हूँ। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत ज्वर ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी-सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए यहाँ आ गई है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया। महीनों उसमें लगे। दस्त आए और अभी तक कुछ-न-कुछ शिकायत बाक़ी है। दाँतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है। और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ।

'काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिंदी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।

'तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ। (वह प्रबंध) निभा जाता है या नहीं। कोई नई चीज़ कब आ रही है। बच्चा कैसा है, भगवतीदेवी कैसी हैं, माता जी कैसी हैं? महात्मा जी कैसे हैं? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम ख़ामोश हो!

'सरस्वती' में वह नोट तुमने देखा? आज ...मालूम हुआ कि यह (अमुक) जी की दया है। ठीक है। मैं तो ख़ैर बूढ़ा हो गया हूँ और जो कुछ लिख सकता था लिख चुका और मित्रों ने मुझे आस्मान पर भी चढ़ा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार! भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानी बहुत सुंदर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है...कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' लिख डाला। इसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रॅपिगेंडा का ज़ोरों से मुक़ाबला करना होगा।...'

उनकी कैसी ही अवस्था हो, पर साहित्य में कदर्य और कदर्थ का विरोध करने में उन्हें हिचक न होती थी।

× × ×

गुण-ग्राहकता

[श्री अवध उपाध्याय का एक पत्र ।]

[श्री अवध उपाध्याय आजकल यूरोप में गणित का अध्ययन कर रहे हैं । श्री प्रेमचन्द जी की मृत्यु का समाचार आपको पेरिस में मिला। वहीं से आपने अपने 'लँगोटिया यार' श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा को एक पत्र लिखा था जो नीचे प्रकाशित किया जाता है । श्री अवध उपाध्याय को हिन्दी संसार प्रेमचंद का कठोर टीकाकार ही समझता आया है । इस पत्र से उनके प्रकृत भाव प्रकट होंगे । हमें आशा है कि प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में उपाध्याय जी जो कार्य उनके पार्थिव जीवन में न कर पाये उसे अब करेंगे, क्योंकि प्रेमचन्द साहित्यिक रूप में अब भी जीवित हैं और तब तक रहेंगे जब तक हिन्दी हमारी भाषा रहेगी ।—हमें यह पत्र श्री अन्नपूर्णानन्द जी की कृपा से प्राप्त हुआ है ।—सं०]

216 Rue St. Jacques,
Paris V.
26 - 2 - 37.

प्रिय मित्र अन्नपूर्णा !

तुम्हारे पत्र से प्रेमचन्द जी की मृत्यु का पता चला । इस दुःखद समाचार ने मेरे हृदय को मथ डाला, मैं रो उठा क्योंकि मेरे हृदय में एक कसक रह गई । मैंने प्रेमचन्द के सब ग्रन्थों का अध्ययन किया था और मैं भलीभाँति उनके गुणों से परिचित था । वास्तव में हिन्दी भाषा का एक स्तंभ टूट गया, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक उठ गया, आज हमारे उपन्यास-सम्राट् का देहावसान हो गया । परन्तु उनकी अमर कीर्ति की ध्वजा सर्वथा फहराती रहेगी । मैं आज निःसंकोच भाव से कह रहा हूँ कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचन्द की तरह प्रसिद्ध नहीं हो सका । भाषा प्रेमचन्द की दासी-सी बन गई थी । उसे वे जैसे चाहते थे, नचाते थे । मानव-हृदय का ज्ञान भी उन्हें बहुत था । मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृतियों में अमर साहित्य की सामग्री है । मेरी राय में प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवा-सदन' और सर्वश्रेष्ठ गल्प-संग्रह 'नवनिधि' हिन्दी भाषा में सदा अमर रहेंगे । मुझे हार्दिक दुःख है कि मैं प्रेमचन्द जी के गुणों का वर्णन उनके जीवनकाल ही में नहीं कर सका । इस समय भी मैं गणित के अध्ययन में व्यस्त रहने के कारण, उनके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता । दूसरी बात यह है कि उनके गुणों के वर्णन के लिए पुस्तक लिखने की आवश्यकता है । मैं इस छोटे से पत्र में क्या क्या लिखूँ ? परन्तु भाई ! मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, मैं उस समय भी उनके गुणों के बारे में भी

लिखना चाहता था। तुम जानते हो, जो कुछ मैंने प्रेमचन्द जी के बारे में लिखा था, वह सब कुछ शुद्धभाव से, द्वेषवश नहीं। यह संभव है कि मैंने ग़लती की हो, यह भी संभव है कि मेरी राय से बहुत लोग सहमत न हों परन्तु मैंने अपनी धारणा साफ़-साफ़ और शुद्ध हृदय से लिखी थी। बात यह है कि प्रेमचन्द के सब ग्रंथों के अध्ययन के बाद मेरी समझ में यह बात आई कि 'सेवा-सदन' ही उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। मैं चाहता था कि प्रेमचन्द जी उसी सेवासदन के मार्ग का अवलंबन करें, 'रंगभूमि' और 'काया कल्प' का नहीं। मैंने उनसे भी इस संबंध से बातें कीं परन्तु उन्हें विश्वास नहीं दिला सका। तदनन्तर मैंने खुले तौर से उनके विरुद्ध लिखकर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहा। मैं चाहता था कि मैं प्रेमचन्द जी के विरुद्ध लिखूँ और वे उसका खुलकर उत्तर दें। मैं चाहता था कि हिन्दी भाषा में स्वतंत्र समालोचना की धारा बहे। परन्तु अन्त में प्रेमचन्द जी के गुणों का भी वर्णन करना चाहता था। गुण और दोष मैं दोनों दिखलाना चाहता था। तुम जानते हो, हिन्दी में वह मेरा पहला लेख था। मैं तो वास्तव में पहले उनके गुणों का ही वर्णन करना चाहता था और बाद में दोषों का। परन्तु मेरे एक मित्र ने पहले दोषों का वर्णन करने के लिए उपदेश दिया और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। इसी बीच में प्रेमचन्द जी बुरा मान गये और हिन्दी के कुछ लोगों ने वास्तव में यह सोचना प्रारंभ कर दिया कि मैं द्वेषवश लिख रहा हूँ। इसी बीच प्रेमचन्द जी और सहगल जी मेरे पास आये और समालोचना बंद कर देने का विचार प्रकट किया। बस मैंने समालोचना बंद कर दी और मेरे सब विचार हिन्दी भाषा के सामने न आ सके। परन्तु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि प्रेमचन्द जी हिन्दी के एक बड़े लेखक थे और मैं उनके गुणों को भी भली भाँति जानता हूँ। फिर कभी विस्तारपूर्वक इन सब गुणों का वर्णन करूँगा।

तुम मेरे लँगोटिए यार हो। इस लिए तुम्हारे पास लिख रहा हूँ और आशा करता हूँ कि मेरी यह बात अवश्य मानोगे। वास्तव में मैं नहीं जानता कि हिन्दी संसार प्रेमचंद जी के स्मारक के लिए क्या कर रहा है। परन्तु मेरा विश्वास है कि वह स्मारक के लिए अवश्य प्रयत्न करेगा। अन्नपूर्णा! स्मारक ठीक है, तुम भी इसमें सहयोग देना। परन्तु मैं तुमसे दोनों हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि तुम एक अलग समिति स्थापित करो जो उनके कुटुम्ब को सहायता दे। यदि तुम्हारे प्रयत्न से उनके कुटुम्ब की देख रेख हो सकी तो मैं तुम्हारा आजन्म अभारी रहूँगा। प्रायः यह देखा जाता है कि घर के प्रधान की मृत्यु के बाद उसके कुटुम्ब की सहायता करने वाले तो कम रह जाते हैं परन्तु उनके लूटने वाले अधिक हो जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि इस आपत्ति से उनके कुटुम्ब की रक्षा करना, अवश्य रक्षा करना। एक प्रार्थना तुमसे और है। मेरी ओर से उस देवी—प्रेमचंद की धर्मपत्नी—के यहाँ जाना और कहना कि मैं सदा उनके साथ हूँ। यदि वे कोई आज्ञा दें तो मैं सदा उनकी आज्ञा का पालन करूँगा और यदि मुझसे बन पड़ा तो उनकी सहायता करूँगा।

तुम नहीं जानते कि उस देवी से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, उनके बनाये हुए भोजन मैंने कई बार खाए हैं। कई बार मैंने उन्हें तथा प्रेमचन्द जी को अपने घर निमंत्रित किया और उन्होंने मुझे। मेरा उनका संबंध बड़ा घनिष्ट रहा। इसी लिए तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम उनके यहाँ मेरी ओर से अवश्य जाना और उन्हें विश्वास दिलाना कि मैं उनके साथ हूँ।

अभिन्न हृदय मित्र—

अवध उपाध्याय,

प्रेमचन्द जी की कला और उनका मनुष्यत्व

[श्री इलाचन्द्र जोशी]

जब प्रेमचन्द जी ने पहले-पहल हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया था तब मैं एक स्कूली लड़का था पर तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सभी सामयिक बातों के सम्बन्ध में खासी जानकारी रखता था। उन दिनों प्रेमचंद जी की कहानियाँ अक्सर 'सरस्वती' में निकला करती थीं। उस युग में हिन्दी में कहानियों की जो मिट्टी खराब की जा रही थी उसे देखते हुए मेरे आश्चर्य और हर्ष का ठिकाना न रहा। जब मैंने देखा कि अकस्मात् एक ऐसे लेखक का आविर्भाव हुआ है जिसके भाव, भाषा और शैली में निरालापन और चमत्कार के अतिरिक्त एक ऐसी विशेषता वर्तमान है जो अपनी सहृदयता से बरबस पाठक के हृदय को मोह लेती है तब से मैं जिस किसी भी पत्र में प्रेमचन्द जी की कहानी छपी हुई पाता उस पर भुक्खड़ की तरह झपट पड़ता।

शीघ्र ही प्रेमचन्द जी की कहानियों के दो संग्रह निकले—'नवनिधि' और 'सप्तसरोज'। जहाँ तक मुझे याद है, 'नवनिधि' की कहानियाँ अधिकांशतः ऐतिहासिक थीं। तथापि उनका विषय-निरूपण ऐसा सुन्दर था कि लेखक का रचना-कौशल देखकर वास्तव में चकित रह जाना पड़ता था और उनमें भावों की खूबियाँ ऐसे अच्छे ढंग से व्यक्त की गई थीं कि कोई भी पढ़कर मुग्ध हुए बिना न रह सकता था। मैंने इस पुस्तक को अपनी स्कूली अवस्था में कम-से-कम बारह बार पढ़ा होगा। इसके बाद 'सप्तसरोज' नामक संग्रह मेरे देखने में आया। इस संग्रह ने हिन्दी के कहानी-साहित्य में एक पूर्णतः अभिनूतन युग की सूचना दी। इसमें आधुनिक विश्व-साहित्य की कहानी-कला के 'टेकनिक' के पूर्ण प्रदर्शन के अतिरिक्त अन्तस्तल में प्रवेश करनेवाली मार्मिक गहनता तथा सरल स्पष्ट वास्तविकता के 'बैकग्राउण्ड' में प्रतिफलित होनेवाली स्निग्ध सुन्दर सहृदयता की अपूर्व मनोहर अभिव्यञ्जना हृदय में एक मधुर वेदना की गुदगुदी-सी पैदा करती थी। प्रायः बीस वर्ष पहले मैंने 'सप्तसरोज' की कहानियाँ पढ़ी थीं और एक ही बार उन्हें पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था; तथापि अभी तक उसकी कुछ कहानियाँ मेरे स्मृति-पटल में अत्यन्त उज्वल तथा सुस्पष्ट रूप से अङ्कित हैं। 'सौत', 'बड़े घर की बेटी', 'पञ्च परमेश्वर' आदि कहानियाँ साहित्य-संसार में सदा अमर होकर रहेंगी। ऐसी सुन्दर छोटी कहानियाँ हिन्दी में न उस युग के पहले कभी लिखी गई थीं, न उसके बाद ही कोई ऐसी कहानी मुझे पढ़ने को मिली जिनमें 'टेकनिक' और सहृदयता का ऐसा अच्छा सामञ्जस्य पाया जाता हो।

इसके बाद 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में यह निर्विवाद रूप में युगान्तरकारी रचना थी। इसमें पात्रों के सुन्दर मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आन्तरिक समवेदना के साथ अभिव्यक्त की गई थी। इस उपन्यास ने मेरे मन में एक नई अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।

'सेवा-सदन' प्रकाशित होने के शायद तीन-चार वर्ष बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। इस बीच साहित्य और कला के सम्बन्ध में मेरे विचारों में बहुत कुछ परिवर्तन और विवर्तन हो गया था। प्राच्य तथा पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उलटी-सीधी गति से तरङ्गित हो रही थी। अतएव मेरी ऐसी मानसिक अवस्था में जब प्रेमचन्द जी का 'प्रेमाश्रम' दीर्घ छः सौ पृष्ठव्यापी विस्तृत तथा विशाल-काय आकार में प्रकाशित होकर सामने आया तो मैं अपने 'फ़ेवरिट' लेखक की इस नई कृति को अत्यन्त उत्सुकता से पढ़ने लगा। पर मुझे खेद हुआ जब मैंने उक्त रचना अपने मन की आशाओं के अनुरूप न पाई। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिभा के विराट् रूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अपने मन के अनुरूप न पाया। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था। 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्या-लोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यन्त प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा। इस पर आलोचना—प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन साहित्य के ऐतिहासिक गगन में जो क्रान्तिकारी बवण्डर मचा था, उससे उस युग के पाठक भलीभाँति परिचित हैं। आज मैं अपनी उस असहनशीलता के कारण लज्जित हूँ। पर यदि विचारपूर्वक उदार दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रान्तिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के विचित्र सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया-प्रति-क्रिया ने जो तहलका मचा रखा था उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहनशीलता आनी अनिवार्य थी।

प्रेमचन्दजी की कला के सम्बन्ध में यह कड़वी धारणा मेरे मन में कुछ समय तक रही। पर मैं उनकी प्रतिभा के बृहद् रूप पर बराबर ज़ोर देता चला आया—मैंने उसे कभी अस्वीकार नहीं किया। १९२७ में जब प्रेमचन्द जी 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे तो उनसे मैं लखनऊ में प्रथम बार मिला। उनके दर्शन मात्र से ही मैं सहम-सा गया। उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगंभीर और शान्त आँखें, मोटी भौहें और बड़ी-बड़ी मूछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था। जहाँ तक मुझे याद है, रवीन्द्रनाथ ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध में कहा था कि यद्यपि वह अपने बाल्य-जीवन में पूरे बंगाली थे और बंगालियों के प्रति उनके मन में पूर्ण सहानुभूति थी तथापि अपने अन्तर्जीवन में वह एकदम अ-बङ्गाली थे और अपने सतेज व्यक्तित्व तथा उदार सदाशय स्वभाव के कारण वे स्वजातीयों से पूर्णतः भिन्न जान पड़ते थे। प्रेमचन्द जी को देखते ही मेरे मनमें वही धारणा जम गई। मैंने युक्तप्रान्त में अपने परिचित प्रतिष्ठित मित्रों से उनमें एक विशिष्ट विभिन्नता पाई। ज़ार के युग में नाना कड़वे अनुभवों से निष्पेषित प्रताड़ित तथा प्रपीड़ित रूस के प्रतिभाशाली मनीषियों के अतल व्यापी अव्यक्त विक्षोभ की सघन गहनता उनके व्यक्तित्व में लक्षित होती थी। यदि ग़ौर किया जाय तो प्रेमचन्द जी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्याकृतियों में भी एक आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों के फ़ोटो उठाकर दोनों का व्यक्तित्व मिलाकर देखिये। आप हैरत में पड़ जायँगे कि दोनों देशों की भौगोलिक परिस्थिति, सभ्यता तथा संस्कृति में मूलतः भिन्नता होनेपर भी दोनों देशों के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट प्रतिनिधियों की मुखाकृतियों में प्रकट होनेवाले व्यक्तित्व में इतनी अधिक समानता पाई जाती है।

केवल बाह्य समता ही नहीं, गोर्की और प्रेमचन्द जी के भीतरी व्यक्तित्व में भी कुछ कम समता नहीं पाई जाती। जिस प्रकार गोर्की ने दलित मानवता के सुख-दुःखों का वास्तविक

अनुभव प्राप्त करके अपनी उस सच्ची सहृदयतापूर्ण तथा समवेदनामूलक अनुभूति को अपनी क्रियात्मक रचनाओं में अत्यन्त सुन्दर रूप से कलात्मक परिपूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया, उसी प्रकार प्रेमचन्द जी ने भी भारत की पिष्ट निपीड़ित निःशोषित तथा उपेक्षित ग्रामीण जनता की आत्मा से अपनी अन्तरात्मा का पूर्ण संयोग संघटित करके उनका यथार्थ चरित्र चित्रित करके अपनी कलामयी अनुभूति का परिचय दिया है।

यद्यपि सामयिक पत्रों में प्रेमचन्द जी की कला-सम्बन्धी धारणा से मेरा मतभेद कुछ कड़वे रूप में व्यक्त हो चुका था, पर जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने अपनी बातों में किसी सामान्य सङ्केत से भी यह बात प्रकट न होने दी कि मेरे विचारों से मतभेद होने के कारण मेरे प्रति उनके मनमें किसी प्रकार का द्वेषभाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में उन्होने कुछ सङ्कोच के साथ बातें अवश्य कीं, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगों की बड़ी पुरानी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्द जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही सम्भव हुई थी। उस दिन से मेरा हृदय प्रेमचन्द जी के प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम के भाव से झुक गया। हिन्दी के बहुसंख्यक साहित्यिकों में विचार-विभिन्नता के कारण जो पारस्परिक असहनशीलता व्यक्तिगत रागद्वेष के रूप में अत्यन्त संकीर्णतापूर्वक व्यक्त होती रहती है, उसका लेश भी मैंने प्रेमचन्द जी में नहीं पाया। उनके साथ घण्टे भर की बात चीत से मैं समझ गया कि हम दोनों को कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धाराएँ दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित हुई हैं। प्रेमचन्द जी वास्तविक और व्यक्त जीवन की कठोरता के भीतर आदर्शवाद के मूल प्राण की खोज करके उसे जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं, और मैं अव्यक्त की अज्ञात माया की मोहिनी के फेर में पड़कर, वास्तविक जीवन के अन्तराल में छिपी छायात्मिका प्रकृति के रहस्य की ओर निरुद्देश्य दौड़ा चला जा रहा हूँ। तथापि इस कारण से हम दोनों की मूलात्माओं के सम्पूर्ण सहयोग तथा समवेदनात्मक अनुभूति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़ने का कोई कारण मुझे नहीं दिखाई दिया।

इसके बाद प्रेमचन्द जी से मैं केवल एक बार थोड़े समय के लिए मिल पाया था। पर उनके प्रति श्रद्धा का जो भाव मेरे मन में एक बार जम गया था वह स्थिर रहा और सदा अमिट होकर रहेगा।

जनता प्रेमचन्द जी को केवल एक ऊँचे दर्जे के कलाकार के रूप में जानती है, पर कला के अतिरिक्त उनमें मनुष्यत्व कितना अधिक था, इस बात से बहुत कम लोग परिचित हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने जिन दलितात्माओं के निर्यातन का निदर्शन किया है उनके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी, वह अपनी उस सहानुभूति को अनेक बार वास्तविक जीवन में व्यावहारिक रूप में प्रकट करके हमारे कलाकारों के लिए एक महत् आदर्श छोड़ गये हैं। कला की मार्मिक अनुभूति का वास्तविक मूल्य यहीं पर है। उन्होंने अपने जीवन में जिन कष्टों का अनुभव किया उससे उन्होंने दूसरे पीड़ितों को यथार्थ रूपमें समझने में सहायता पाई, और केवल समझ कर ही वह चुप नहीं रहे, बल्कि अपनी घोर आर्थिक सङ्कट की दशा में भी वह समय समय पर सङ्कटापन्न परिस्थिति में पड़े हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को यथासामर्थ्य व्यावहारिक सहायता पहुँचाने के लिए सदा उद्यत रहते थे। हिन्दी की साहित्यिक मण्डलियों के घोर स्वार्थपूर्ण वातावरण की सङ्कीर्ण मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए जब मैं प्रेमचन्द जी के इस उदार मनुष्यत्व की सदाशयता पर विचार करता हूँ तो मेरे हृदय में विह्वल श्रद्धा गद्गद् होकर उमड़ उठती है।

प्रेमचन्द जी की याद

[लेखक—श्री रामनरेश त्रिपाठी]

प्रेमचन्द जी की मेरी पहली मुलाक़ात सन् १६१५ या १६ में प्रयाग में हुई थी। वह श्री महावीर प्रसाद पोद्दार के साथ आये हुए थे। उसके पहले मैं उनको नहीं जानता था। उस समय वह शायद गोरखपुर के किसी स्कूल में अध्यापक थे और बी० ए० की परीक्षा दे चुके थे। उनका परिचय देते हुए पोद्दार जी ने उनकी कहानियों की बड़ी प्रशंसा की थी। शायद उन दिनों वे 'सप्तसरोज' का प्रकाशन करने जा रहे थे।

उस मुलाक़ात के बाद मैंने पहले-पहल उनका 'सेवा-सदन' पढ़ा और उनकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उसके बाद तो मैं उनकी कहानियों और उपन्यासों का नियमित पाठक बन गया।

प्रेमचन्द जी उर्दू से हिन्दी में आये थे और थोड़े ही समय में उन्होंने हिन्दी में अपनी ख़ास शैली निर्धारित कर ली, जो उनकी बिलकुल निज की थी, और मेरी राय में वही उनका सब से अधिक स्थायी और वर्द्धनशील स्मारक है।

उनके घनिष्ठ मित्रों से उनके कौटुम्बिक जीवन की बहुत-सी बातें सुनता रहता था; उनमें एक मुख्य बात यह थी कि वे एक ग़रीब गृहस्थ के घर के रत्न थे। इससे ग़रीब जनता के लिए उनमें स्वाभाविक सहानुभूति थी और यही कारण था कि उन्होंने जीवन के अन्त समय तक अपना हृदय और मस्तिष्क ग़रीबों को समर्पण कर रखा था। उनकी समस्त रचनाओं में उनके हृदय की यह अविचलित धड़कन विद्यमान है। वह हँसे भी तो ग़रीब-समाज में बैठ कर; रोये भी तो ग़रीबों की दुनिया में; और उन्होंने मज़ाक़ भी किया तो उन्हीं भावों को लेकर। ग़रीबों का इतना बड़ा लेखक शायद ही इस देश की किसी भाषा में हुआ हो।

खेद है, प्रेमचन्द जी को उनके जीवनकाल में हिन्दी वालों ने नहीं पहचाना। आज उनकी मृत्यु के बाद हम उनके अभाव को जिस मोह से अनुभव कर रहे हैं वह उनके जीवन-काल में हुआ होता तो हम उनको लेकर बहुत उच्च हुए होते। उन पर क्या-क्या इलज़ाम न लगाये गये, उनके सद्‌गुणों को ढकने के लिए क्या-क्या उद्योग नहीं किये गये, इन सब का स्मरण करके हमें लज्जा से सिर झुका लेना पड़ता है।

मैं गुजरात, काठियावाड़ और दक्षिण भारत में दो-तीन बार हो आया हूँ। प्रत्येक बार नये-नये साहित्य-प्रेमियों से मिलने का मुझे अवसर मिला है। मैंने सर्वत्र प्रेमचन्द जी को व्याप्त

पाया। मैं अधिक सचाई के साथ कह सकता हूँ कि अ-हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के लेखकों और कवियों में केवल प्रेमचन्द जी ही का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उनकी कहानियों के अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं में हो गये हैं जिन्हें उत्तरभारत के साहित्यिक शायद न जानते होंगे। यदि प्रेमचन्द जी गुजराती या बँगला में लिखते होते तो निश्चय ही उन भाषाओं के उत्साही लोग उनका यथोचित सम्मान करके उन्हें भारतवर्ष के साहित्यिकों में सर्वोच्च स्थान तक पहुँचा चुके होते। हिन्दीवालों से अधिक सम्मान तो उनका उर्दू ही वाले करते थे। खेद है, आज उनकी मृत्यु के बाद हम उनका स्मारक बनाने की फ़िक्र में हैं।

प्रेमचन्द जी से मिलने का मुझे कितनी ही बार मौक़ा मिला था। वह बड़े ही मिलनसार, दोस्तदार, सदा प्रसन्नमुख और साफ़गो आदमी थे। वह जी खोलकर ऐसा हँसते थे कि घर गूँज उठता था। उनका अट्टहास तो अब भी कानों में गूँज रहा है। अभिमान की उनमें बू भी नहीं थी। बीमारी से पहले मेरा उनका साथ नागपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में हुआ था। हम दोनों एक साथ घूमने-फिरने, चाय पीने, जलपान करने और गपशप के लिए एक-दूसरे को ढूँढ़ लिया करते थे।

उनका अंतिम दर्शन मैंने उनकी रुग्ण-शय्या पर किया। मैं एक इच्छा लेकर गया था कि यदि उनमें चलने फिरने की शक्ति हो तो उन्हें सुल्तानपुर ले जाता, जहाँ की आबहवा उनको बहुत मुवाफ़िक़ पड़ती। पर वह तो करवट बदलने में भी लाचार थे। मुझे देखकर वह मुसकुराये और धीरे से बोले—'किनारे लग चुका हूँ, पता नहीं कब नाव छोड़ दूँ।' यह कह कर उन्होंने एक शेर पढ़ा, जो मुझे सुनाई नहीं पड़ा। उनका रागहीन पीला चेहरा और हाथ अब भी मेरी आँखों में चित्रित हैं। भरे हुए हृदय से उन्हें जीने का मिथ्या आश्वासन देकर, क्योंकि देखते ही मुझे विश्वास हो गया था कि वह अब चंद दिनों के मेहमान हैं, मैं उनसे जुदा हुआ और इसके थोड़े ही दिन बाद 'लीडर' में यह दुखदायी समाचार पढ़ा कि प्रेमचन्द जी अब इस नश्वर संसार में नहीं रहे।

हमारे साहित्यिक आकाश का एक बड़ा नक्षत्र टूट कर गिर पड़ा; हिन्दी के नन्दन-कानन का एक सुरभित सुमन अकाल ही में मुरझा गया; हमारे साहित्यक जीवन का एक स्रोत सूख गया; ग़रीबों के लिए धड़कता हुआ एक हृदय यकायक बंद हो गया; सहृदय मित्रों का एक मध्यस्थ अपनी जगह ख़ाली करके चला गया। अब केवल उसकी ख़ूबियाँ हैं, और उनके अंदर उसकी सूरत देखकर आहें भरने वाले उसके कुछ मित्र।—

'कमर बाँधे हुए चलने को याँ सब यार बैठे हैं।
'बहुत आगे गये, बाक़ी जो हैं, तैयार बैठे हैं॥'

महान् साहित्यकार की स्मृति में

[श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार]

सन् १९३२ के नवम्बर महीने में मुझे बनारस जाना था। उससे पूर्व सिर्फ़ एक बार, वह भी सिर्फ़ एक दिन के लिए, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी के साथ मैं बनारस गया था। शर्मा जी साथ थे, इससे तब वहाँ ज़रा भी दिक्कत नहीं हुई थी। शर्मा जी के निकट हर समय महफ़िल का-सा वातावरण बना रहता था, इससे वह यात्रा तो बड़े मज़े की हुई। परन्तु सारा दिन बनारस में रहने पर भी वहाँ की भौगोलिक स्थिति से मैं अपरिचित ही रहा। इसी कारण लाहोर से चलते समय मैंने हिन्दी के सबसे महान् साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द जी के नाम इस आशय का पत्र डाल दिया कि मैं अमुक तारीख को बनारस पहुँच रहा हूँ और यह भी कि बनारस से मेरा परिचय शून्य के बराबर है।

तब तक प्रेमचन्द जी से मेरा घनिष्ट परिचय नहीं था। गुरुकुल काँगड़ी में वह दो-चार दिन रहे थे, तब और उसके बाद सन् १९३१ में उनकी प्रथम दिल्ली-यात्रा के दिनों में उनसे मिलते-जुलते रहने का मुझे काफ़ी अवसर मिला था। परन्तु वह परिचय इतना घनिष्ट नहीं था कि मैं उनके यहाँ ठहरने की इच्छा कर सकता। मुझे बताया गया था कि युक्तप्रांत में बिना अत्यधिक निकट का सम्बन्ध हुए किसी को अपने घर पर ठहराने की प्रथा नहीं है। और यह भी मुझे मालूम था कि बड़े शहरों में अच्छे होटलों की कमी नहीं है। फिर भी मुख्यतः कुछ समय तक उनके अत्यन्त निकट रहने के प्रलोभन से मैंने उन्हें वह पत्र लिखा था।

एक दिन का भी विलम्ब किये बिना उन्होंने मेरे पत्र का जवाब दे दिया। उन्होंने लिखा कि उन्हीं दिनों किसी काम से वह लखनऊ जाना चाहते थे मगर अब वह उस प्रोग्राम को मुलतवी कर देंगे। 'तुम मेरे यहाँ ठहरोगे तो इससे मुझे बड़ी खुशी होगी।' और साथ ही अपने बेनिया पार्क वाले लाल मकान का पता भी उन्होंने मुझे समझा कर लिख दिया।

उन दो-तीन दिनों में प्रेमचन्द जी को मैंने बहुत निकट से देखा। उनके खुल कर ऊँचा हँसने की आदत से तो मैं पहले भी परिचित था; परन्तु उनकी हँसी के पीछे कितनी पवित्र और सरल आत्मा विद्यमान है, यह मैंने उनके निकट रह कर ही अनुभव किया। मैंने देखा, उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय में किसी भी तरह की सांसारिक, राजनीतिक या सामाजिक रूढ़ियों के प्रति मोह नहीं है। धर्म, जाति या देश की सीमाओं को तोड़कर वह महान् कलाकार सभी अवस्थाओं में मनुष्य के लिए उदार और अनुभूतिपूर्ण बन कर रहता है।

गुरुकुल काँगड़ी में मैंने देखा था कि प्रेमचन्द जी बहुत बार काफ़ी अन्यमनस्क-से हो जाते हैं। एक मीटिंग में वह सभापति थे। कोई सज्जन भाषण कर रहे थे और सभापति महोदय का ध्यान अन्तर्मुखी हो गया। काफ़ी समय तक उन्हें ख्याल ही न रहा कि वह कहाँ और क्यों बैठाए गए हैं। यही कुछ देखकर मेरा ख्याल बन गया था कि प्रेमचन्द जी को बातचीत करने का विशेष शौक़ न होगा। परन्तु मेरी वह धारणा नितान्त अशुद्ध सिद्ध हुई। मैंने देखा कि उन्हें अत्यन्त मनोरंजक ढंग से बातचीत करने की कला आती है। सिर्फ़ उन्हें खुल जाने का अवसर मिलना चाहिए। हाँ, किसी-किसी समय अन्यमनस्कता का 'फ़िट' भी उन्हें ज़रूर आता था, और मेरा ख्याल है कि अन्यमनस्कता कलाकारों का विशेष अधिकार है।

अपनी उसी बनारस-यात्रा में मैं 'आज' के सम्पादक श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर से भी मिलना चाहता था। जब प्रेमचन्द जी से मैंने इस बात का ज़िक्र किया तो उन्होंने कहा—चलो, मैं भी साथ ही चलूँगा।

मुझे लेकर वह 'आज'-कार्यालय पहुँचे। 'आज'-कार्यालय के अनेक कार्यकर्त्ता प्रेमचन्द जी को पहचानते थे, उन्होंने पराड़कर जी को उनके आगमन की सूचना दी। पराड़कर जी उठकर बाहर चले आए और हम लोगों को भीतर ले गए। प्रेमचन्द जी ने मेरा परिचय उनसे कराया और प्रथम परिचय की रस्मों के बाद पराड़कर जी ने प्रेमचन्द जी से कहा—पिछले पन्द्रह बरसों से मेरी आप से मिलने की ज़बरदस्त इच्छा थी। आज आप ने बड़ी कृपा की।

प्रेमचन्द जी ने मुस्कराकर कहा—मेरा भी यही हाल था। बरसों से इच्छा थी और आज इनकी मेहरबानी से चला ही आया।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने अत्यधिक अचरज भरे स्वर में पूछा—क्या आप दोनों आज पहली बार ही एक-दूसरे से मिल रहे हैं!

प्रेमचन्द जी खिलखिलाकर हँस पड़े। वही पवित्र और सरल हँसी। पराड़कर जी ने कहा—काम-काज के जंजाल में इतना फँसा रहता हूँ कि कभी कहीं आने-जाने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती।

परन्तु मेरे लिए यह बात आखीर तक एक आश्चर्य का विषय रही कि इतने बरसों से बनारस में रहते हुए भी ये दोनों सज्जन कभी एक-दूसरे से मिले क्यों नहीं।

विदेशी उपन्यास, प्रेमचन्द जी के विगत जीवन की घटना और उनके व्यापारिक अनुभव हम लोगों की बात-चीत के मनोरंजक विषय थे। मैंने देखा कि प्रेमचन्द जी अपने को अपने व्यवहार और कारोबार से पृथक् और ऊँचा रखकर खुद अपनी क़ीमत पर अपना और दूसरों का मनोरंजन कर सकते हैं। और यह बहुत बड़ा गुण है।

प्रेमचन्द जी का पारिवारिक जीवन मुझे पर्याप्त सुखी, शान्त और सन्तोषपूर्ण अनुभव हुआ। उनमें, उनकी पत्नी में और उनके बच्चों में परस्पर यथेष्ट मधुरता मैंने पाई। परन्तु जो भोजन वह करते थे, वह मुझे बहुत दोषपूर्ण प्रतीत हुआ। श्रीमती शिवरानी देवी जी से मैं अब यह अनुरोध करूँगा कि अपने भोजन में ताज़ी और कच्ची सब्ज़ियों, फलों तथा दही को वह विशेष महत्ता दें।

इस यात्रा के छः महीने बाद ही कलकत्ते जाते हुए कुछ घण्टों के लिए मैं बनारस उतरा और अब की बार किसी तरह की सूचना दिये बिना ही प्रेमचन्द जी के यहाँ जा पहुँचा। उस दिन बनारस में बेहद गरमी थी। थोड़ी ही देर में हम लोग दशाश्वमेध घाट की ओर सैर के लिए चल दिये।

इससे कुछ ही दिन पूर्व किसी सज्जन ने प्रेमचन्द जी की रचनाओं के खिलाफ़ कुछ लेख काफ़ी महत्वपूर्ण ढंग से प्रकाशित करवाये थे। उन लेखों का ज़िक्र चला तो मैंने कहा कि मैं उन आक्षेपों के उत्तर के रूप में कुछ लिखना चाहता हूँ। प्रेमचन्द जी खिलखिलाकर हँस पड़े और कहा—जब कोई कमज़ोर आदमी ज़बरदस्ती किसी पहलवान से भिड़ पड़े तो उसके लिए सब से बड़ी सज़ा यही है कि दूसरे लोग बीच में पड़कर उन्हें जुदा न कर दें।

अपने एक मित्र के लिए कानपुर से एक काफ़ी बढ़िया चमड़े का सूटकेस मैं एक ही दिन पहले खरीद कर लाया था। घर पहुँचकर प्रेमचन्द जी की निगाह उस पर पड़ी और खूब खिलखिलाकर हँस लेने के बाद उन्होंने कहा—यदि कभी मैं इतना बढ़िया सूटकेस लेकर सफ़र पर निकलूँ, तो चोरी के डर से सारी रात जागते ही बीते।

उसके बाद अनेक बार प्रेमचन्द जी से मिलने का अवसर मिला। गत वर्ष फ़रवरी मास में, कलकत्ता जाते हुए, सिर्फ़ उन्हीं से मिलने की इच्छा से मैं कुछ घण्टों के लिए बनारस उतरा था। पिछले एप्रिल में आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब की अर्द्ध-शताब्दी पर, विशेषतः मेरे निमन्त्रण पर ही, वह लाहोर भी आये थे। और मेरी उनके साथ वही अन्तिम भेंट थी।

इस समय तक हिन्दी में 'साहित्यिक' का एक विशेष अर्थ समझा जाता रहा है। भाषा, व्याकरण और साहित्य पर ये लोग अपना सभी अधिकार समझते हैं। विचित्र-से विचित्र आकृति और उससे भी अधिक विचित्र पोशाक में ये लोग जनता को दर्शन देते हैं। 'साहित्यिक' नामधारी यह जमात सम्भवतः केवल हिन्दी-जगत् में ही पाई जाती है। भाषा, साहित्य और व्याकरण के सम्बन्ध में इन लोगों ने जो विशेष प्रकार की रूढ़ियाँ काफी समय से बना रखी हैं, उन्हें ईमानदारी के साथ अपनाये बिना कोई व्यक्ति साहित्यिक नहीं कहला सकता। प्रेमचन्द जी इस तरह के साहित्यिक नहीं थे। उनका साहित्य जीवन का साहित्य था और इसी से वह जनता का साहित्य बन सका।

प्रेमचन्द जी विशेष प्रकार के 'साहित्यिक जीव' नहीं थे। उन्होंने कभी कोई गुट बनाने का प्रयत्न नहीं किया। न कभी उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक नेताओं के पास अपनी पहुँच बनाने की कोशिश की। सम्भवतः यही कारण था कि न तो उन्हें कभी मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल सका और न कभी वह हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति ही बनाये जा सके।

खड़ी हिन्दी ने आज तक सिर्फ़ एक ही साहित्यकार ऐसा पैदा किया है जो अपनी प्रतिभा के बल पर अन्तर्भारतीय स्थिति बना सका। मैं पूछता हूँ कि आज से सिर्फ़ पाँच महीना पहले तक हिन्दी वालों के पास अन्य प्रान्तों के लोगों को दिखाने के लिए प्रेमचन्द को छोड़ कर और कौन साहित्यिक था? आज तो वह भी नहीं रहे!

मोलियर आज फ्रैञ्च साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना जाता है। परन्तु मोलियर के जीवन काल में उसे ऊँची प्रतिष्ठा इसलिए नहीं मिल सकी कि वह स्वयं अपने नाटकों में अभिनय करता था और उस समय अभिनय करना कुलीनता के विरुद्ध माना जाता था और यह कि उसने अपने नाटकों में प्राचीन रूढ़ियों की अवहेलना की थी। यहाँ तक कि फ्रान्स के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिकों की संस्था फ्रैञ्च एकेडमी ने भी उसे कभी अपना सदस्य नहीं बनाया। मोलियर की मृत्यु के बाद फ्रैञ्च एकेडमी को अपनी भूल मालूम हुई। अपनी इस भूल का प्रायश्चित्त करने का एक उपाय आखिर फ्रैञ्च एकेडमी ने खोज ही निकाला। फ्रैञ्च एकेडमी के कुल मिलाकर एक सौ सदस्य होते थे। न कम और न अधिक। किसी सदस्य की मृत्यु के बाद उस स्थान की पूर्ति कर दी जाती थी। मोलियर के देहान्त के बाद जब एकेडमी में कोई स्थान रिक्त हुआ तो उसकी

जगह मोलियर को एकेडमी का सदस्य चुन लिया गया। जो लोग जीवित दशा में सदस्य बनते हैं, देहान्त के बाद उनका सदस्यत्व स्वयं समाप्त हो जाता है। परन्तु जिसे देहान्त के बाद सदस्य बनाया जाय, उसके सदस्यत्व का काल कैसे समाप्त हो? फ्रैञ्च एकेडमी के आज भी एक ही सौ सदस्य हैं—एक स्वर्गीय मोलियर और शेष ९९ जीवित सदस्य! जीवित सदस्य बदलते रहते हैं, परन्तु मोलियर एकेडमी का स्थायी सदस्य है।

तो क्या इसी तरह इस वर्ष का साहित्य का मंगलाप्रसाद पारितोषक 'गोदान' पर देकर सम्मेलन अपने इस पारितोषिक को सम्मानित नहीं कर सकता? 'गोदान' को छपे अभी एक साल भी नहीं हुआ। वह हिन्दी का सबसे ताज़ा और सबसे श्रेष्ठ मौलिक उपन्यास है। मुझे बताया गया है कि नियम सम्बन्धी अड़चनें इसके मार्ग में हैं। मगर ये अड़चनें आखिर परमात्मा या प्रकृति की बनाई हुई नहीं हैं, हमी लोगों की बनाई हुई हैं, हम चाहें तो इन्हें दूर भी कर सकते हैं। शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य एक दिन में नया कानून बनाकर एक सम्राट के जीवित रहते हुए उसके राजत्याग को स्वीकार कर नया सम्राट् बना सकता है, तो इतने महीनों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने पारितोषिक सम्बन्धी नियमों में यह ज़रा-सा परिवर्तन भी नहीं करवा सकता?

बड़े का विनय

[लेखक—श्री श्रीप्रकाश, एम. एल. ए.]

यों तो प्रेमचन्दजी से मेरा सम्बन्ध सभी कार्यक्षेत्रों में था—कांग्रेस, ज्ञानमण्डल, विद्यापीठ, सब में वे काम कर चुके थे—तथापि मेरा उनका सम्पर्क, मेरे अभाग्य से, बहुत थोड़ा हुआ। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है वह मेरे घर पर केवल एक बार आए थे। 'हंस' के किसी विशेषाङ्क के लिए वह लेख चाहते थे। मुझे खेद है, उस समय मैं उनके लिये लेख न लिख सका। आज उनकी स्मृति के विशेषाङ्क में दो-चार शब्द लिखकर वर्तमान सम्पादक के आज्ञापालन के साथ-साथ उस समय का प्रायश्चित्त भी कर लेना चाहता हूँ।

जिस समय वह मेरे यहाँ आए थे उसकी स्मृति बड़ी स्पष्ट मेरे सामने है। प्रातः काल का समय था। मैं चाय पीने जा ही रहा था और उन्हें यकायक देखकर उनसे कहा कि आप भी चले चलिये। मैंने अपनी कन्याओं और पुत्रों का उनको परिचय दिया। सबके चेहरों की वही दशा हुई जो आजसे इक्कीस वर्ष पहले मेरी हुई थी जब हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के समय किसी ने महात्मा गांधी की ओर संकेत कर मुझसे कहा था—'ये ही गांधी जी हैं।' अर्थात् न मुझे उस समय यह विश्वास हुआ था कि दक्षिण अफ्रीका के वीर पुरुष, ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध करनेवाले, सत्यता-निर्भीकता-साहस के कारण संसार को हिलानेवाले, गांधी जी यही हो सकते हैं, न मेरे बच्चों को यह विश्वास हुआ कि हिन्दी के प्रचण्ड लेखक, साहित्यिक संसार के सम्मान प्राप्त प्रेमचन्द जी यही हैं। यह समझकर कि मैं दिल्लगी कर रहा हूँ—जिस मेरी प्रवृत्ति से मेरे बच्चे आवश्यकता से अधिक परिचित हैं—वे सब हँस पड़े, और जब मैंने हर तरह से उन्हें विश्वास दिलाया कि ये वही हैं जिनकी कहानियाँ उन बच्चों ने पढ़ी थीं, तब जाकर सबने उनका समुचित आदर सत्कार किया।

गुण कहिये चाहे दोष, प्रेमचन्द जी की विशेषता यही थी कि उन्होंने अपने बड़प्पन को न माना न जाना। साधारणतः हम सबका यह विचार होता है कि जो कोई नामी पुरुष है वह साधारण मनुष्य से डील-डौल में बहुत बड़ा होगा और उसकी बातचीत और आचार व्यवहार विशेष प्रकार का होगा। यह ख़याल ही नहीं होता कि वह साधारण मनुष्य-सा भी हो सकता है। यही कारण है कि पुराने चित्रकार राजाओं और देवताओं के चित्र को बहुत बड़ा बनाते थे और उनके चेहरे के चारो तरफ़ ज्योति अंकित करते थे। इससे किसी को भ्रम नहीं होता था और बड़ा आदमी फ़ौरन पहचाना जाता था। पुराने लेखकों ने रावण, कुम्भकर्ण आदि की रचना इतनी भीषण इसी कारण की है कि उनका बड़प्पन संसार में बना रहे। बाल्यावस्था का संस्कार ऐसा ही

होता है कि हम जब बड़े आदमी की कल्पना करते हैं तो यही समझते हैं कि वह वृहदाकार कोई जीव होगा और यदि गान्धी जी या प्रेमचन्द जी की तरह का साधारण मनुष्यों से भी छोटा पुरुष देख पड़ता है तो हमारे बड़प्पन के विचार को गहरा धक्का लगता है। समझदारों के हृदय में तो उनकी ममता बढ़ जाती है और उनकी रचनाओं का अधिक आदर होने लगता है, पर बच्चों को तो खासी ठेस पहुँचती है और उनके मन में सम्भवतः श्रद्धा कम हो जाती है। अंग्रेज़ी में इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए कहा है—'अपने किंकर के प्रति कोई भी वीर पुरुष नहीं रहते' ('नो वन इज़ ए हीरो टु हिज़ वाले') क्योंकि नौकर अपने मालिक को हर समय और हर हालत में देखता है जिससे गुण और दोष दोनों ही प्रकट हो जाते हैं और उसकी श्रद्धा उतनी नहीं रहती जितनी दूर से देखनेवालों की रहती है।

मैं कैसे कहूँ कि प्रेमचन्द जी में कोई दोष नहीं रहे होंगे? मनुष्य ही थे, त्रुटियाँ अवश्य ही रही होंगी, पर मैं उन्हें नहीं जानता। प्रत्यक्ष सम्पर्क मेरा उनका बहुत ही कम रहा। दूर से ही उनको जानता हूँ और स्वभावतः उनका बहुत आदर करता हूँ। उनके व्यक्तिगत जीवन की विशेषता मुझे यही प्रतीत होती है कि विनय का भाव उनमें अत्यधिक मात्रा में मौजूद था। सम्भव है कि इसी कारण वे समाजिक सम्बन्ध बहुत कम रख सकते थे और प्रत्यक्ष सम्पर्क से जो प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, वह बहुत कम कर पाये। साथ ही वह काफ़ी साहसी पुरुष थे और समाज के बन्धनों को उन्होंने निज के जीवन में बार-बार तोड़ा। राजनीतिक लड़ाई से अधिक कठिन सामाजिक लड़ाई होती है और सामाजिक बुराइयों का सामना करने का साहस अधिक कष्टप्रद और, इसी कारण, अधिक प्रशंसनीय भी है। उनका यह आन्तरिक साहस उनके लेखों और पुस्तकों में प्रतिबिम्बित हुआ है। उन्होंने राजाओं और ग़रीबों की कथाओं को छोड़ कर साधारण नर-नारियों की कथाएँ लिखी हैं। महलों में न घूमकर झोपड़ियों में घूमे हैं। साधारण लोगों के प्रतिदिन के जीवन के भोजन और विवाह सम्बन्धी अभिलाषाओं की चर्चा की है और निम्न श्रेणी के लोगों के जीवन को समझने का संसार को मौक़ा दिया है। पौराणिक वीर पुरुषों के ही चारो तरफ़ मड़राते हुए और उन्हीं की चेष्टाओं और भावनाओं में मर्यादित कल्पनाओं से अपने को पृथक कर उन्होंने वास्तविकता पर अपने विचारों और आदर्शों को केन्द्रभूत किया। हमारे साहित्य को और हमारे समाज को उनकी यह देन बहुमूल्य है और इसके लिए उनके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

अवश्य ही हमारे ऐसे परतन्त्र, दरिद्र देशों में अधिकतर लोगों के जन्म से मृत्यु तक सहचर दुःख और कष्ट ही होते हैं। इस कारण यह स्वाभाविक है कि प्रेमचन्द जी के पात्र भी अपनी संसार-यात्रा में पग-पग पर कष्टों और दुःखों का ही सामना करें। मेरी प्रेमचन्द जी से यह शिकायत रही कि वे अपने पात्रों को ऐसा फँसा देते हैं कि फिर बाहर नहीं निकाल पाते। और अपनी आरम्भिक कहानियों में उन्होंने कितने ही पात्रों से आत्महत्या करा डाली है। मेरे ऐसा आदमी, जिसने योरोपीय साहित्य की बहुत सी कहानियाँ बाल्यावस्था में पढ़ी हों जिनमें लेखक अपने पात्रों को चाहे कितना ही फँसावे किसी-न-किसी लौकिक सम्भावना के अनुकूल प्रकार से—पूर्व के हिन्दी लेखकों के तिलस्म के प्रकार से नहीं—बाहर निकाल ही लाता है, प्रेमचन्द जी का यह रूपक नहीं पसन्द कर सकता था।

शुरू में तो मुझे ऐसा ख़याल हुआ कि लेखक की लेखन-कला का यह दोष है कि वह अपने पात्र को बाहर निकाल न सके और अन्त में उसकी अभिलाषा पूरी न करा सके। पीछे मैंने अनुभव किया कि भारत के वर्तमान जीवन में यह अनिवार्य है, तथापि मुझे शिकायत

बनी रही और एक बार मैंने अपनी प्राकृतिक उद्दण्डता से उनसे कहा था कि मैं अब आपकी कहानियाँ कभी न पढ़ूँगा यदि आप अपने पात्रों को केवल फँसाना जानते हैं और उनकी रक्षा न करके उनसे आत्महत्या कराते हैं। उत्तर में उन्होंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी जैसा दूसरा देता न मुझे ही उन्होंने बेवकूफ़ साबित करने की कोशिश की जैसा मैं हूँ और जैसा दूसरे लेखक अवश्य करते। उन्होंने तुरन्त 'दोष' स्वीकार कर लिया और कहा कि अपने पात्रों की आगे से वह रक्षा करेंगे। मुझे खेद है कि पीछे की उनकी कहानियों के पढ़ने का मुझे मौक़ा नहीं मिला। पर मुझे मालूम हुआ है कि उन्होंने इस मामले में कुछ परिवर्तन अवश्य किया है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरे कहने से उन्होंने ऐसा किया, परन्तु मुझे सन्तोष है कि ऐसा किया गया।

प्रेमचन्द जी के समय का दर्पण उनकी पुस्तकें हैं। जिस विशेष युग से हम गुज़र रहे हैं उसे जानने और समझने में उनकी पुस्तकें सदा सहायक होंगी। भारत के इतिहास में यह युग भी विशेष युग है। पुराने और नये, पूर्व और पश्चिम का अद्भुत संघर्ष है, सबके मस्तिष्क डाँवाडोल हैं, समन्वय करना असम्भव हो रहा है। आगे अँधेरा देख पड़ रहा है। अनुभवसिद्ध साधनों से काम नहीं लिया जा रहा है। बड़ी-बड़ी आशाएँ और अभिलाषाएँ मँड़रा रही हैं। परम्परागत धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों की कड़ी समालोचना हो रही है। व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन सब अस्त-व्यस्त हो रहा है। इस युग का जिस लेखक ने चरित्र चित्रण किया है वह अपने को अमर कर गया है। पर मैं उनकी अमरकीर्ति से सन्तुष्ट नहीं हूँ। मुझे उससे यह शिकायत है और रहेगी कि वे इतनी जल्दी संसार से उठ गये।

उन्होंने अपने स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं की। स्वास्थ्य की तरफ हम अक्सर उदासीन होते हैं और इसके कारण अपनी उपयोगिता से अपने को, अपने कुटुम्ब को और अपने समाज को असमय और कुसमय वञ्चित कर देते हैं। मैं उनकी स्मृति में आज श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ उनके कुटुम्बी जनों के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करता हूँ कि उनका अवलम्ब टूट गया, हिंदी साहित्य के साथ दुःख प्रकट करता हूँ कि उसके भण्डार को सुशोभित करने वाला एक प्रधान पुरुष उठ गया, समाज के साथ सहानुभूति प्रकट करता हूँ कि उसका एक सेवक, सुधारक, पथ-प्रदर्शक चला गया, और सब भाइयों, बहिनों, साहित्यिकों, कार्यकर्ताओं से प्रार्थना करता हूँ कि अपना जीवन समझदारी के साथ सुसंघटित करें, इस बात को अनुभव करें कि यदि शरीर बिना आत्मा के किसी काम का नहीं है, तो आत्मा भी बिना शरीर के अपनी विभूति संसार के सामने प्रकट नहीं कर सकती और प्रेमचन्द जी की जीवनी और दुःखप्रद मृत्यु से यह शिक्षा ग्रहण करें कि आध्यात्मिक और मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति के साथ-साथ अपने शरीर को भी सुदृढ़ रख-कर अपने को हर प्रकार से उपयोगी बनाते हुए चिरजीवी भी बनावें।

कवि का आमंत्रण

[श्रीमती 'नलिनी']

कुसुम कलेवरा कविता कामिनी के कलित काव्य कानन के कमनीय कुसुमाकर !

उठो ! उठो !!

मूर्छना के मदिर प्रवाह में तिरते तुम्हें युग विगत हो गया ! विस्मृति की बेहोश घड़ियों के क्षणिक सुख में विस्मृत विभोर होकर तुम अपनी आराध्य देवी का आराधन करना भी भूल गये !

आओ ! आओ ! इस मंगल प्रभात की पुण्य वेला में सस्मित प्रस्फुटित सरोज की भाँति अपने युगल चक्षुओं को खोलो !

देखो !

तुम्हारे सौम्य साहित्य का नन्दन पारिजात प्रातः के धूमिल कान्तिहीन सुधांशु के पाण्डु कपोलों की भाँति पीतिमाविमज्जित श्रीविहीन हो रहा है !

कला के चिर अमर पुजारी ! अपनी मौन मुद्रा भंग करो। तुम्हारे वियोग की समाधि पर विधुरा वियोगिनी कलाकामिनी कब से प्रलाप कर रही है। अपने आकुल मूक आह्वानों से तुम्हारा अनुसंधान कर रही है। तुम्हारे मानस-सर का बाल मराल आज अपनी सम्पुट सीपी मुक्ताविहीन देखकर तृषित मीन-सा मणि-विहीन वासुकि-सा आकुल-व्याकुल होकर म्रियमाण हो रहा है !

कुशल कलाकार ! आओ ! तन्द्रिल आँखों को खोलो ! ऊषा प्रेयसि ने अपने कमल-करों से प्राची के स्वर्णसौध के सुनील वातायन के अवरुद्ध कपाट उन्मुक्त करके कनक-किरणों का संदेश-वाहक भेजकर विश्व को जाग्रति का अभिनव-सजीला संदेश भेजा है—स्वप्निल संसार स्पंदित हो उठा है। ऋतुराज का स्पन्दन भी आनन्दगति से वसुधा के वक्ष पर विचरने लगा ! मधुदूती कोकिला विश्व-वीणा पर संगीत वर्षा करने लगी ! गन्धवात अपनी झोली में सौरभ का उपहार लेकर भिखारी विश्व को विजयी के पारितोषिक की भाँति वितरण करने लगा ! पुहुपों की प्रत्येक पँखुरियों से अनुराग की अरुणाई फूटी पड़ रही है। विशाल वसुन्धरा का कण-कण अभिनव-श्री से अलंकृत हो रहा है ! ऐसी नयनाभिराम मनमोहक मुग्ध-स्निग्ध बेला में तुम्हार असहनीय अभाव ! गुलाब में कटु शूलों-सा, चन्द्रिकाविहीन निशीथ-सा प्रतीत हो रहा है ! आओ, देखो प्रकृति-प्रिया ने दूर्वादल के हरिताभ पाँवड़े बिछाकर तुम्हारे पद-पूजन-हेतु हेम-मल्लिका की धवल झालर उसमें लगा दी है।

द्रुत गति से प्रात में दिनकर की भाँति-विहँसते आओ !!

स्व० श्री प्रेमचन्द

दिल्ली में जापानो चित्रकार ओयामा द्वारा बनाया हुआ।
पेन्सिल स्केच, १९३६
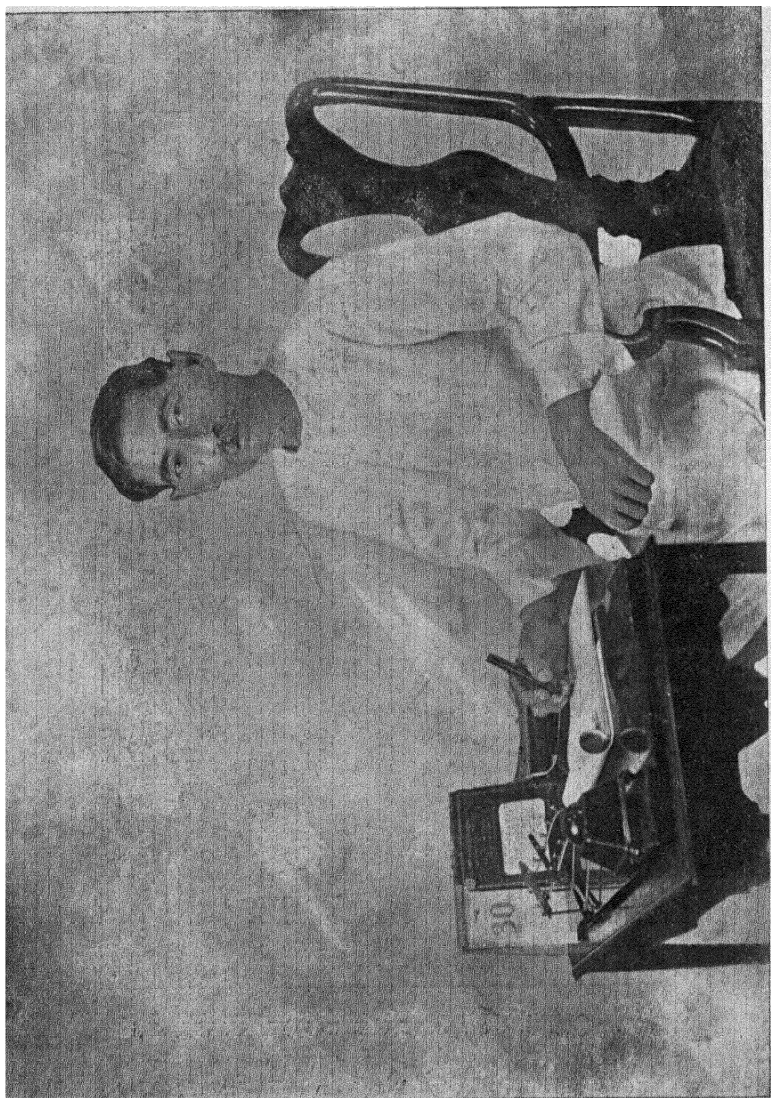
बम्बई, १९३४।

स्व० प्रेमचन्दजी
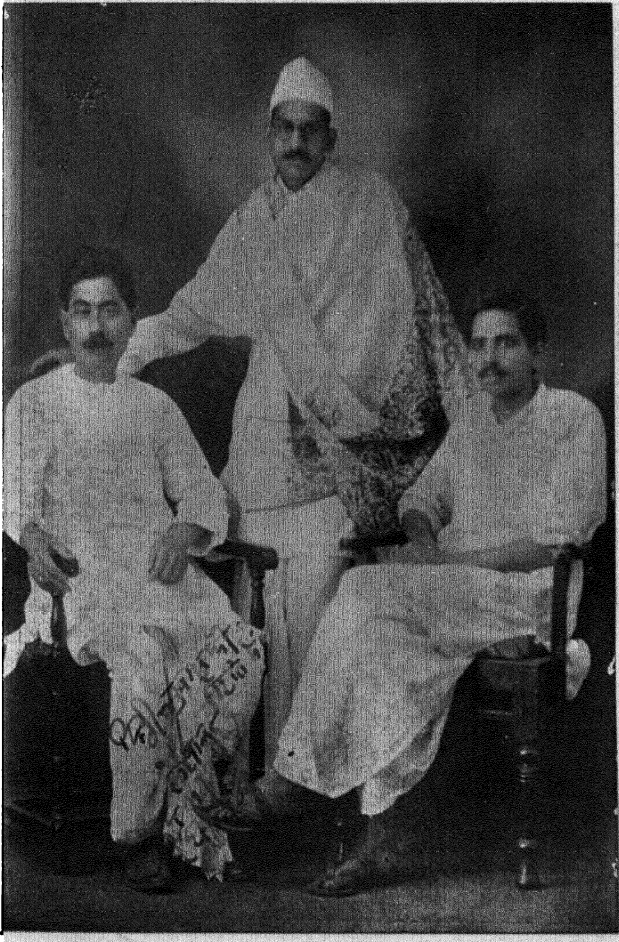
श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री ऋषभचरण जैन।

स्वर्गीय प्रेमचन्दजी

श्रीमती शिवरानी देवी

स्व० श्री प्रेमचन्द के सुपुत्र

चि० श्रीपतराय

चि० अमृतराय
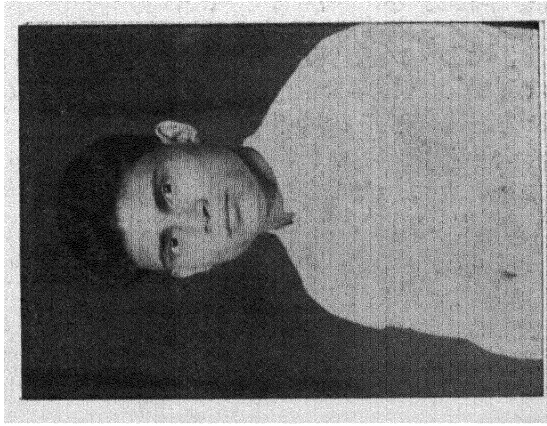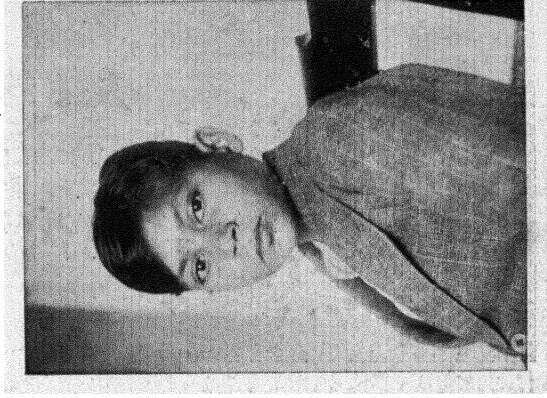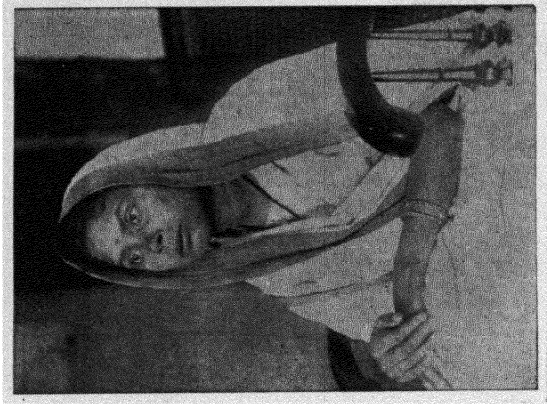
श्रीमती शिवरानी देवी

श्रीमती कमला देवी

श्रद्धांजलि

[सेठ जमनालालजी बजाज]

औपन्यासिक सम्राट् श्री प्रेमचन्दजी के बारे में तो जितना लिखा जाय थोड़ा ही होगा। हिंदुस्तानी लिखने वालों में वह बेजोड़ थे। राष्ट्रभाषा-प्रचार के लिए उनकी आत्मा तड़पती थी। आज, जब कि राष्ट्र भाषा का भविष्य इतना उज्वल नज़र आता है, श्री प्रेमचन्दजी की कमी और भी तीव्रता से महसूस होती है। साहित्य सेवा द्वारा उन्होंने भारत की राष्ट्रीयता को सींचा, उसकी संस्कृति को रौशन किया। ग्रामवासियों के प्रति उनकी आत्मीयता दर्जेकमाल की थी। उनकी याद आती है तो अब भी हृदय भर आता है। हमने एक महान् साहित्यकार को अपने बीच से खो दिया—परन्तु वे तो अमर हो गये। आज प्रेमचन्दजी की वजह से साहित्य संसार में हमारा सर ऊँचा है और ऊँचा रहेगा!

प्रेमचन्दजी की देन

[श्री हरिभाऊ उपाध्याय]

प्रेमचन्दजी से मेरा प्रथम परिचय उनकी कहानियों द्वारा हुआ। 'पंच-परमेश्वर' नामक उनकी कहानी मुझे बहुत पसन्द आई थी। उनसे मिलने का इत्तफ़ाक तो कुल दो बार हुआ, एक बार लखनऊ में और दूसरी बार अभी नागपुर में। उनकी कहानियाँ और उपन्यास बोलते थे कि प्रेमचन्दजी मामूली लेखक नहीं हैं। वे कुछ कहानियाँ और उपन्यास ही लिख जाने के लिए पैदा नहीं हुए हैं, बल्कि उनका जन्म हिन्दी-संसार को कुछ दे जाने के लिए है। जो साहित्य और समाज को कुछ देता और दे जाता है, वही वास्तव में सच्चा साहित्य-सेवी और समाज-सेवी कहला सकता है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य जो कुछ समाज को देता है, उसका उतना मूल्य नहीं है, जितना उस वस्तु का जो वह अपने जीवन के द्वारा अपनी सहानुभूति और समवेदना के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में देता है। प्रेमचन्दजी ने अपने और अपने भिन्न-भिन्न पात्रों के जीवन के द्वारा हिन्दी समाज को जो कुछ दिया है, वह वे हर्गिज न दे सकते, अगर उनमें भारत के दीन-दुखियों के प्रति, ग्रामवासी किसान और मज़दूरों के प्रति, ग़ुलामी से पीड़ित अपने देशवासियों के प्रति व्यापक और गहरी सहानुभूति न होती। केवल बुद्धि के व्यापार से वे ऐसे सजीव पात्रों की सृष्टि नहीं कर सकते थे। भले ही कथानक की रचना करने में और विवाद तथा विश्लेषण में उनके बुद्धि-कौशल ने काम किया हो, परन्तु वह सब फीका और निर्जीव होता, यदि उनके हृदय का जीवन-तत्व उन पात्रों के द्वारा सजीव न हुआ होता।

ऐसे महान् लेखक और, शुद्ध अर्थ में, साहित्य-सेवी और कलाकार के दर्शन की आकांक्षा रहा ही करती थी। एक बार लखनऊ में 'माधुरी-कार्यालय' में उनसे साक्षात्कार हुआ। परिचय कराने पर भी यह विश्वास नहीं होता था कि सामनेवाला व्यक्ति जिसे आँख खोलकर देखने में भी संकोच मालूम होता है, जिसके चेहरे पर जाहिरा कोई महानता के लक्षण नहीं दिखाई देते हैं, सचमुच प्रेमचन्द ही है। मेरे मन में यह आश्चर्य हुआ था कि आँख मूँद कर बैठने वाला यह लेखक मनुष्य के जीवन का अवलोकन इतनी गहराई के साथ कैसे करता होगा; परन्तु उसी समय मैंने अपनी ग़लती महसूस की, कि सचमुच जो बाहर से आँख मूँद लेता है, वही अन्दर से और अन्दर का बहुत कुछ देख सकता है। नागपुर में भी कुशल समाचार के अलावा बातचीत का कोई मौक़ा नहीं मिला। उस समय उनके चेहरे में एक स्फूर्ति ज़रूर मालूम होती थी।

मुझे उनका विशेष परिचय तो उनकी पुस्तकों द्वारा ही हुआ है। उनके प्रेमाश्रम की समालोचना 'हिन्दी-नवजीवन' में और रंगभूमि की विस्तृत समालोचना 'मालव-मयूर' में मैंने की थी। 'मालव-मयूर' वाली समालोचना कई मित्रों को पसन्द आई थी। असल में मैं समालोचक नहीं हूँ। गुण-ग्राहक और प्रशंसक की पंगत में बिठाया जा सकता हूँ। 'रंगभूमि' का 'सूरदास' मेरे हृदय में बैठ गया था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह हिन्दुस्तान के स्वराज्य की कुंजी लेकर आया है। उसे पाकर ऐसा लगता था, मानो कोई खोई हुई चीज़ मिल गई हो। मैंने उनका 'कर्मभूमि' और 'गोदान' भी पढ़ा है। परन्तु दोनों 'रंगभूमि' की होड़ के नहीं जँचे। 'गोदान' मैंने उनकी अन्तिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु न मिली जो 'रंगभूमि' में मिली थी। 'रंगभूमि' में एक ग़रीब अन्धे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण जाग्रति और आन्दोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता है, इसका वह नमूना था। 'गोदान' में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता। उनके दूसरे उपन्यासों से यह जुदे प्रकार का है, यह यथार्थवादी है। इसका सब से बड़ा मूल्य यह है कि यह दीन-हीन और प्रपीड़ित देहातियों के दुःखमय जीवन की ओर शिक्षित कहलानेवाले लोगों का ध्यान खींचता है, और उनके प्रति अपने कर्तव्य की याद दिलाता है। मिस मालती के जीवन-परिवर्तन के द्वारा यह काम प्रेमचन्दजी बड़ी खूबी से करते हैं। एक ओर देहात के ग़रीबों की दुःखगाथा है तो दूसरी ओर शिक्षित, धनी-मानी लोगों के ऊपर से सुखी और सुखलोलुप जीवन, लेकिन अन्दर से दुखी और क्लेशमय जीवन का दृश्य है। दोनों चित्र-पट एक साथ चलते हैं, बीच में कहीं-कहीं उनका मेल हो जाता है, नहीं तो ऐसा मालूम होता है, मानो दो स्वतंत्र उपन्यास लिखकर जोड़ दिये गये हों। जहाँ तक समाज की इन दो श्रेणियों के यथार्थ चित्रांकण से सम्बन्ध है, वहाँ तक 'गोदान' में प्रेमचन्दजी बहुत सफल हुए हैं। जहाँ तक वर्तमान भारतीय समाज की ज्वलन्त समस्याओं को पेश करने से सम्बन्ध है, वहाँ तक प्रेमचन्दजी 'गोदान' में ठीक-ठीक सफल हुए हैं, परन्तु उनका कोई हल किसी तत्त्व या व्यक्ति के रूप में उन्होंने पेश नहीं किया है। सम्भव है, वे खुद दुविधा में रहे हों, या यथार्थवादी कला के दरबार में इसकी मनाही हो। मुझे यथार्थवादी चित्रांकण से तृप्ति नहीं होती। जो कुछ समाज में है और हो रहा है, उसे हम देखते हैं और जानते भी हैं। पुस्तक में उन्हें पढ़ने और देखने से कई चित्रों का और कई दृश्यों का एक साथ, एक जगह, सम्मिलित रूप में, अवलोकन हो जाता है और उसका कुछ विशेष परिणाम मन पर ज़रूर होता है; परंतु सर्व-साधारण को उससे कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ता। वे हृदय में एक हलचल मचाकर छोड़ देते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि वह हलचल फलोत्पादक ही हो; परन्तु जब हम उनका कोई हल पेश करते हैं, और किसी व्यक्ति के पुरुषार्थ के द्वारा उस कठिनाई को दूर करते हैं, या इष्ट वस्तु की सिद्धि कराते हैं, तब जनता को वह चीज़ मिलती है जो सहसा उनमें अपने आस-पास नहीं मिलती। धर्म और नीति ग्रन्थों में बहुत से उच्च और उपयोगी तत्वों और साधनों का विवेचन और प्रतिपादन मिलता है परन्तु जब हम किसी राम, कृष्ण, बुद्ध या ईसामसीह या गान्धी के जीवन में उन तत्वों को मूर्तिमन्त देखते हैं, और उनके परम पुरुषार्थ से विकट समस्याओं को हल होते और कठिनाइयों और विपदाओं को दूर होते देखते हैं, तब जन-साधारण को उन तत्वों, साधनों और पुरुषार्थ पर विश्वास होने लगता है और उनमें यह स्फूर्ति पैदा होती है कि हम भी ऐसा क्यों न करें, क्यों नहीं कर सकते? 'गोदान' में जब 'गोबर' का आरम्भिक जीवन देखते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, कि यह आगे चलकर किसानों का कोई नेता होगा और ग्रामीणों को अपने उद्धार का मार्ग दिखायेगा। परन्तु जब उसे शहर के जीवन में पड़कर हततेज

और असहाय होता हुआ देखते हैं, तो प्रेमचन्दजी से कुछ शिकायत होने लगती है और 'गोबर' के साथ सहानुभूति। 'मालती' ज़रूर अपने अन्तिम जीवन-क्रम के द्वारा सेवा-मार्ग की ओर संकेत करती है—शिक्षित और मध्यम वर्ग के लोगों के प्रतिनिधि के रूप में। इससे ज़रूर कुछ तसल्ली मिलती है।

प्रश्न यह है कि प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-जगत् को क्या दिया ? मनुष्य अपने से अच्छी चीज़ तो जगत् को दे ही नहीं सकता। जो कुछ उसके पास होगा, उससे कम ही वह जगत् को दे सकता है, क्योंकि देने के अर्थात् अभिव्यक्ति के साधन और शक्ति मर्यादित होती है। प्रेमचंद जी के ग्रन्थों और पात्रों से सेवामय और सत्-जीवन व्यतीत करने की अखण्ड और अमर प्रेरणा मिलती है, इसे मैं उनकी सबसे बड़ी देन मानता हूँ। सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति के संघर्ष की किसी भी अवस्था में वे अपने पाठक पर असत्प्रवृत्ति को इतना हावी नहीं होने देते, कि मनुष्य पतन के गर्त में सदा के लिए डूब जाय। दूसरी उनकी देन है, सरल, सुन्दर और स्पष्ट लेखन-शैली। कई लोग प्रेमचन्द की भाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना मानते हैं। विचार उनके सुलझे हुए और भाषा सरल और स्पष्ट। सूक्तियाँ हृदय में बैठ जाने वाली। मुझे याद है, जब प्रेमचन्दजी ने हिन्दी लिखना शुरू किया, तो वे उर्दू की नक़ल किया करते थे। जब मैं 'सरस्वती' में काम करता था उनकी एक कहानी की हस्तलिपि मैंने देखी थी; जिसमें एक वाक्य था—'यह आपका बड़ा आधिक्य है'; उनका मतलब था, 'यह आपकी बड़ी ज़्यादती है।' यह पढ़कर मुझे खूब हँसी आई थी। वही प्रेमचन्द हिन्दी को एक उत्तम भाषा-शैली दे गये, यह कितने आनन्द और अभिमान की बात है।

एक रोज़ मैंने कुछ साहित्यिक मित्रों से पूछा—अब प्रेमचन्दजी की जगह हिन्दी में किसको कहानी-लेखक और उपन्यास-लेखक मानें। प्रेमचन्दजी का नाम आते ही, जैसे हठात् उनकी ओर अँगुली उठ जाती थी, वैसे उनके अभाव में अब किसी भी ओर सहसा उठती दिखाई नहीं देती। जब प्रेमचन्द थे, तब हम कहानी और उपन्यास-क्षेत्र में बँगला, मराठी, और गुजराती के मुक़ाबले में उनको खड़ा कर सकते थे। अब हम उनके अभाव में निष्प्रभ से जान पड़ते हैं। मगर हमें यह दिखता है कि हिन्दी के विद्यमान कहानी और उपन्यास-लेखकों की आत्मा में प्रेमचन्दजी की आत्मा अवश्य काम करती रहेगी और प्रेमचन्दजी अब पंचभौतिक बन्धनों से रहित होकर अधिक स्वतन्त्रता और बल के साथ अपना जीवन-कार्य करते रहेंगे।

प्रेमचंदजी

[श्री ए. चंद्रहासन. एम. ए.]

प्रेमचंदजी का स्वर्गवास उत्तर के हिन्दी भाषियों को उतना न खटका होगा जितना कि दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों को। इसकी वजह साफ़ है। उत्तर के भाई उनकी समालोचना करके या तो प्रशंसा के पुल बाँधते आये हैं या निंदा के गड्ढे खोदते; पर दक्षिण के भाई-बहन प्रेमचंदजी की दिलचस्प रचनाओं को पढ़कर मुग्ध और चाव से राष्ट्रभाषा के अध्ययन में अग्रसर हुए हैं। अगर काशी के दीपस्तंभ का उजाला, प्रयाग आदि निकट जगहों से ज़्यादा, दूर दक्षिण में फैला तो इसमें अचरज की बात ही क्या है? दक्षिण के हिन्दी पाठकों पर प्रेमचंदजी का-सा प्रभाव किसी दूसरे लेखक ने नहीं डाला है और यह बात निर्विवाद है कि यहाँ उनकी ही रचना सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। हम लोगों की नज़र में प्रेमचंदजी हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ानेवाले उपन्यास-सम्राट नहीं, हिन्दी गद्य की प्रगति में युग-प्रवर्तन करनेवाले साहित्य-महारथी नहीं, छोटी-छोटी कहानियों द्वारा जीवन के सब क्षेत्रों में क्रीड़ा करनेवाले पात्रों का प्रदर्शन तथा हृदय के भिन्न-भिन्न भावों का दार्शनिक विश्लेषण करनेवाले कलाकार नहीं; पर हिन्दुस्तान को एक सूत्र में बाँधनेवाली राष्ट्रभाषा के आदर्श और ज़ोरदार लेखक हैं।

यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि मुझे प्रेमचंदजी का थोड़ा बहुत व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करने के मौके मिले थे। सन् १९३४ मार्च की बात है। दक्षिण भारतीय हिन्दी-प्रेमी यात्री-दल के अन्य सदस्यों को प्रयाग में छोड़कर मैं कुछ खासकाम पर पहले ही काशी पहुँचा। 'सप्त-सरोज' और 'रंगभूमि' के रचयिता के दर्शन करने की अभिलाषा मेरे मन में पहले ही से थी। सोचा कि इस मौक़े का फ़ायदा उठाऊँ और जाकर प्रेमचंदजी से मिलूँ। पता लगाकर शाम के वक़्त उनके मकान पर पहुँचा। बाहर थोड़ी देर ठहरकर खाँ-खूँ करने पर भी कोई नज़र न आया तो दरवाज़े पर गया और झाँककर भीतर कमरे में देखा। वहाँ एक आदमी, बड़ी-बड़ी मूँछों के कारण जिसका चेहरा छिपा-सा था, फ़र्श पर बैठकर एकाग्रचित्त से कुछ लिख रहा था। मैंने सोचा कि लेखक श्रेणी का कोई होगा और आगे बढ़कर बोला कि मैं श्रीयुत प्रेमचंदजी से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने झट आखें उठाकर आश्चर्य के साथ मुझे निहारा, क़लम रख दी और मुँह भर हँसी भरते हुए बोले—'खड़े-खड़े क्या मुलाक़ात करेंगे? बैठिए और मुलाक़ात कीजिए।' अविश्वास और अचंभे में आकर मैं दो तीन मिनट तक खड़ा ही रह गया, पर जल्दी ही सँभल कर बैठ गया। मेरे मन की प्रेमचंदजी की कल्पित मूर्ति बिल्कुल दूसरी थी। हमने करीब दो घंटे

तक अनेक विषयों पर बातचीत की। ज्यों-ज्यों हमारी बातचीत आगे बढ़ी त्यों-त्यों मेरा आश्चर्य भी बढ़ता गया। ऐसी बेतकल्लुफ़ी, ऐसी सादगी, ऐसी सरलता एकदम अप्रतीक्षित थी। आज भी प्रेमचंदजी का नाम लेते ही उनकी हँसी, मूँछ और सादगी मेरी कल्पना दृष्टि के सामने खड़ी हो जाती है।

प्रेमचन्दजी के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता मुझे कुछ महीने पहले और स्पष्टरूप से मालूम हुई जब कि मैं एक दिन के लिए लखनऊ गया था। मैं वहाँ एक सुप्रसिद्ध कवि-संपादक-प्रकाशक की सेवा में दर्शनार्थ हाज़िर हुआ। अपना परिचय देने के बाद करीब एक घंटे तक बैठा रहा। उस समय उन्होंने अपने बड़प्पन, कार्यकुशलता और कर्मचारियों के साथ के कड़े व्यवहार आदि का खूब परिचय दिया। जब मैं हार कर विदा होने लगा तब बहुत 'बिज़ी' होने के कारण इतने समय तक बातचीत तक न कर सकने का दुःख उन्होंने अवश्य प्रकट किया। प्रेमचन्दजी के साथ इन महाशय की तुलना करते हुए मैं लौटा। उस दिन यह बात भी मेरी समझ में आ गई कि अमूल्य ग्रन्थों के लेखक होने पर भी प्रेमचन्दजी आर्थिक कठिनाई क्यों झेल रहे थे।

प्रेमचन्दजी की मौत से हिन्दी संसार और भारत राष्ट्र को हानि अवश्य पहुँची है। पर हमें निराश न होना चाहिए। उन्होंने हमें वे चीज़ें दी हैं जिनसे देश और साहित्य का महत्व बढ़ा है, और आगे बढ़ेगा भी। उनकी जीवनी से शिक्षा लेकर उनके बताये मार्गों पर कार्य करने से उनके अभाव की पूर्ति की जा सकती है।

श्री प्रेमचन्द की अन्तर्दृष्टि

[श्री उदयशंकर भट्ट]

'मेरे विचार में बिरले ही प्रतिभाशाली लोग अपनी सम्पूर्ण चेतना से संसार को देखते हैं। कल्पना और वास्तविकता दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं परन्तु कलाकार उन दोनों की समानान्तर रेखाओं के बीच से अपना मार्ग निकालता है। प्रेमचन्द उन्हीं कलाकारों में से एक थे।' मेरे उन मित्र ने यह बात बहुत ज़ोर देकर कही।

मैंने कहा—आपका कहना सत्य है; पर प्रेमचन्द इसके अतिरिक्त और भी कुछ थे। कलाकार प्रायः दो तरह के होते हैं; एक तो वे जो केवल प्रतिभा के बल पर परिस्थितियों का गंभीर और सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, वे सम्पन्न होकर भी ग़रीबी को अंतर की आँख से स्पष्ट देख पाते हैं और उनके वर्णन में वास्तविकता भी होती है, और दूसरे वे, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियाँ जिनकी प्रतिभा और विवेक को रगड़ कर स्पष्ट और उज्वल बना देती हैं। एक के उदाहरण हमारे साहित्य में रवि बाबू हैं और दूसरे के श्री प्रेमचन्द। दूसरे शब्दों में यह कहना होगा कि प्रेमचन्द परिस्थितियों के मूर्त रूप थे। ऐसे मूर्त जो कल्पना और कला के द्वारा चुटकियाँ लेते परिस्थिति के इलाज को ढूँढ़ते हैं। ऐसे कलाकर साहित्य की प्रेरणा करनेवाले होते हैं। प्रेमचन्दजी ने राष्ट्र और साहित्य के धूमिल हृदय में सुधारवादी प्राणों की प्रेरणा की। उन्होंने समाज के भीतर घुसकर सुख-दुःख की तीव्र अनुभूति द्वारा राष्ट्र के हृदय को टटोला। उन्होंने शेक्सपियर की तरह मानव हृदय के उत्थान, पतन, स्वभाव आदि का गम्भीर अध्ययन करके रोमान्स की रचना नहीं की। मैं समझता हूँ, शेक्सपियर में दशा का चित्रण है, सुधार की चेष्टा नहीं। वह वेदना है जिसका इलाज स्वयं नाटककार को ज्ञात न था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी वेदना, परिहास, आनन्द का चित्रण संसार के साहित्य में अद्वितीय वस्तु है, परन्तु उनके प्राणों में कला का सौन्दर्य है, हृदय का आकर्षण है, एक मिठास है, एक टीस है, एक सुषुप्त-जागृति है जो इलाज ढूँढ़ने के लिए, रोग के निदान के लिए प्रेरित नहीं करती। वहाँ निदान की इच्छा भी नहीं। वह एक ऐसा रस है जिसे विष जानकर भी पाठक पीने से इनकार नहीं कर सकता; अमृत जान कर भी पी नहीं सकता।

प्रेमचन्द इस प्रकार की कोई धारणा लेकर साहित्य में नहीं उतरे। उन्होंने सत्य को सत्य देख कर, परख कर, जाँच कर टालसटाय की तरह सत्य कहना सीखा। उन्होंने जीवन की सभी दिशाओं के, सभी परिस्थितियों के पात्रों के हाथों अपने व्यक्तित्व के

द्वारा देश और समाज भी रेखाएँ खींची हैं, उन रेखाओं के द्वारा बने हुए स्पष्ट चित्र (कुछ कुछ धुँधले होते हुए भी) अभी तक हमारे सामने अपनी समस्याओं का, जिनका समाज ने अभी तक कोई हल पेश नहीं किया, ज़िक्र कर रहे हैं। उनका साहित्य क्रांति की भावना को लेकर चला है। उन्होंने व्यक्ति और समाज को एक निश्चित दिशा की ओर संकेत किया है जिसमें बनावट नहीं स्वाभाविकता है, सहज हृदय की स्फूर्ति भरी प्रेरणा है, आदर्श शान्ति है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उनके प्रवेश के पहले हमारे साहित्य की दिशा किस ओर थी। परन्तु जो निश्चित और सुधारक दिशा हमारे इस साहित्यकार ने हमें दिखाई है वह कला को मूर्तिमान बना देने के साथ ही गहरी जीवन-गति देने वाली भी है। उनका प्रत्येक पात्र, ऐसा लगता है मानो एक तथ्य का विश्लेषण करके अपने हृदय की दहकती हुई पीड़ा की ओर अचल गति से संकेत कर रहा है। और उसकी प्रत्येक क्रिया में ठोस और अव्यर्थ अनुभूति काम कर रही है। धर्म की दक़ियानूसी प्रवृत्ति के प्रेमचन्द घोर शत्रु थे। उन्होंने धर्म को विशाल और समाज में नये प्राणों के फूँकने का कारण समझा था। उनके विचार में धर्म परलोक के द्वार खोल देने के बजाय इस लोक को सुखी बनाने का मुख्य साधन होना चाहिए। इसी दिशा को लेकर प्रेमचन्द की रंगभूमि, सेवासदन, प्रेमाश्रम आदि उपन्यासों की अवतरणा हुई है। उन्होंने सदा ही आडम्बर को अधर्म और धर्म (यदि वस्तुतः वह कुछ है तो) को समाज का एक अङ्ग समझा। जो धर्म समाज का कल्याण नहीं कर सकता, समाज में आवश्यकतानुसार प्राण नहीं डाल सकता, उस धर्म से उन्हें आजीवन घृणा रही। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द का धर्म समाज और व्यक्ति की सद्भावना का धर्म था। इस अंश में प्रेमचन्द समाज-सुधारवादी कलाकार थे। उन्होंने सदा रूढ़ियों की भर्त्सना की है।

अब उनकी कला के सम्बन्ध में लीजिये। प्रेमचन्द की कृतियों और परस्पर की बातचीत से मालूम होता है कि वे 'Art for art sake' (कला के लिए कला) के कभी पक्षपाती नहीं रहे। वे Art for life sake, art for society sake (कला जीवन के लिए, कला समाज के लिए) या इसी प्रकार की कला के पक्षपाती थे। उनके विचार में कला साधन थी, साध्य नहीं। लक्षण थी, लक्ष्य नहीं। पिछली लाहौर की यात्रा में (जब वे आर्य-प्रतिनिधि सभा की अर्ध-शताब्दी के अवसर पर होने वाले आर्य-भाषा-सम्मेलन के अध्यक्ष की हैसियत से यहाँ आये थे) उन्होंने साहित्य गोष्ठी में भाषण करते हुए कला की बड़ी गम्भीर विवेचना की थी। उसमें उन्होंने बताया था कि 'कला हमारे जीवन की अन्तरंग साधना नहीं है। वह तो विश्व में सबसे चमत्कारपूर्ण जीवन की विश्लेषणात्मक क्रिया मात्र है। उससे हमारी आँखों में चमक पैदा होती है, हमारे प्राणों में स्फूर्ति होती है, वह प्राण कभी नहीं।'

उस समय मैंने अनुभव किया कि साहित्य को जीवन का साधन माननेवाले कलाकार कभी भी उसको चरमलक्ष्य नहीं मान सकते। 'आर्ट फ़ार आर्टसेक' कला का वह चरम उद्देश्य है और उस देश में हो सकता है जहाँ विलासिता, समाज का स्वास्थ्य, स्वतंत्रता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गये हों, जहाँ आनन्द और आनन्द के प्रकारों को ढूँढ़ निकालकर उसमें तल्लीन होने की चाह जीवन का उद्देश्य बन चुकी हो। पतनोन्मुख रोम का यह उद्देश्य हो सकता है, परन्तु उस देश का, जहाँ कला का अंग शिथिल है, जहाँ रोटी और भूख का सवाल सदा प्रबल रहता है, जहाँ समाज और धर्म, राजनीति और सम्पत्ति के एक कोने में क्रान्ति की गुप-चुप चिनगारियाँ कभी-कभी सुलग उठती हों, कला मुख्य अंग नहीं बन सकती। इसलिए हमारे इस साहित्य तपस्वी ने कला को कला के लिए माननेवालों का घोर विरोध किया है। वे ऐसी कोई चीज़

साहित्य में देखने के आदी नहीं थे जो उसके प्राणों में स्फूर्ति उत्पन्न न कर सके।

प्रेमचन्दजी ने साहित्य, समाज, राजनीति के क्षेत्रों में क्रान्ति का बीजारोपण किया है जो आगे चलकर विशाल वृक्ष में परिणत होगा, जिसकी सुशीतल छाया में सुखी राष्ट्र का निर्माण होगा। उनका साहित्य स्वस्थ साहित्य है, जिसमें जागृति की औषधि है, जिसकी नींव पर राष्ट्र के साहित्य का विशाल भवन खड़ा होगा। और राष्ट्र अपने साहित्य के इस सूत्रधार का चिरकाल तक अभिनन्दन करता रहेगा।

हिन्दी साहित्य में श्री प्रेमचन्द जी का स्थान

[लेखक—श्री धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी-लिट्]

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति कुछ दिनों डाँवाडोल रहकर बीसवीं शताब्दी में पहुँचकर कुछ-कुछ स्थिर हो सकी। किन्तु इस शताब्दी में भी यूरोपीय महायुद्ध के पहले तक संस्कृत, अँग्रेज़ी और बँगला की छाप अपने साहित्य पर पर्याप्त रही। ये प्रभाव या तो साक्षात् अनुवादों के रूप में मिलते हैं या आधारभूत अथवा प्रभावित हिन्दी रचनाओं के रूप में। उधर यूरोप में महायुद्ध हो रहा था और इधर हिन्दी साहित्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीख रहा था। आधुनिक हिन्दी साहित्य की भिन्न-भिन्न धाराओं में उपन्यास और कहानी की धारा सबसे प्रथम बाहरी प्रभाव हटाने में सफल हुई और इस नवयुग में अपने साहित्य को ले जाने का मुख्य श्रेय स्वर्गीय प्रेमचन्द जी को प्राप्त है।

प्रेमचन्द जी हिन्दी के प्रथम सर्वोत्कृष्ट मौलिक लेखक थे। उन्होंने हिन्दी पाठकों की अभिरुचि को चन्द्रकान्ता के गर्त्त से निकालकर सुदृढ़ साहित्यिक नींव पर स्थिर किया। बंकिम बाबू के अथवा अंग्रेज़ी उपन्यासों के अनुवादों की माँग को तो उन्होंने बिल्कुल ही रोक दिया। हिन्दी साहित्य के इस विशेष क्षेत्र में कादम्बरी या हितोपदेश के अनुवादों का लोकप्रिय होना तो सम्भव ही न था। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द जी ने समाज के असाधारण वर्गों की ओर से दृष्टि को हटवा कर मध्यम तथा निचली श्रेणी के लोगों की नित्यप्रति की समस्याओं की ओर हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। किसान, मज़दूर, क्लर्क, दूकानदार, और ज़मींदार, साहूकार, सरकारी अफ़सर और पूँजीपतियों से संघर्ष जैसे जीवित रूप में प्रेमचन्द जी ने चित्रित किया है, वैसा उनके पहले हिन्दी साहित्य में कभी नहीं हुआ था। वास्तव में प्रेमचन्द जी साम्यवाद के संदेशवाहक थे। उन्होंने इन विचारों की नींव निश्चित रूप से डाल दी।

शैलीकार की दृष्टि से भी प्रेमचन्द जी का स्थान हिन्दी साहित्य में असाधारण है। वह सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य-शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के रूप में पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में लेते आये। हिन्दी शैली की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्रायः नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफ़ी मँज नहीं पाई है। मुहावरों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासंभव बचाने का उद्योग किया जाता है। प्रसाद-गुण की रक्षा की ओर भी साधारणतया जितना ध्यान देना चाहिए उतना नहीं दिया जाता। इन त्रुटियों का प्रधान कारण यह है कि हिन्दी गद्य जितना लिखा जाना

चाहिए उतना अभी लिखा नहीं गया है। वह अभी संस्कृत तथा परिमार्जित नहीं हो पाया है। शब्दों के प्रयोगों के चारों ओर अभी इतिहास नहीं इकट्ठा हो पाया है। इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचन्द जी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उस पर चलने के लिये आमंत्रित किया।

किसी भी लेखक या कवि के प्रभाव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह लोकप्रिय हो और उसके आलोचक तक जान में या अनजान में उसका अनुकरण करने लगें। यदि इस कसौटी में कुछ भी तथ्य है तो प्रेमचन्द जी निःसंदेह आधुनिक हिन्दी साहित्य की अपनी धारा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि तथा प्रमुख लेखक थे और मुझे तो सन्देह है कि हमारे साहित्य की अन्य धाराओं में भी उनसे आगे बढ़ा हुआ कोई प्रतिनिधि लेखक अभी तक पैदा हो सका है। जिस तरह हरिश्चन्द्र उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्याकाश को चमका गये उसी तरह प्रेमचन्द बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को चमका कर चले गये। दोनों ही चन्द्र हिन्दी साहित्याकाश की अमर निधियाँ हैं।

प्रेमचन्द और देहात

[श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बी० ए०, एल-एल० बी०]

'भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।' (६ जूलाई, १६३६)

यह पत्र जिसमें से मैं उक्त पंक्तियाँ दे रहा हूँ, स्व० प्रेमचन्दजी ने मुझे अपनी उस लम्बी बीमारी के शुरू में लिखा था जो अन्त में उनकी जान लेकर रही। उम्र का अधिक भाग शहरों में बिताने पर भी प्रेमचन्द आयुपर्य्यन्त देहात में रहे। यह बात कुछ असंगत-सी जान पड़ती है परन्तु यदि आप उनके जीवन और उसकी हलचलों में रहनेवाले शांतिप्रिय दिल से अभिज्ञ हैं, उस दिल की गहराई में ग़ोता लगा सकते हैं तो आपको ज्ञात होगा कि शरीर के नाते चाहे वह नगर में रहे हों परन्तु मन के नाते वह सदैव देहात में रहे ; देहातियों—निरीह, निर्धन और भोलेभाले देहातियों के साथ रहे ; उनके दुःख-दर्द में शरीक होते रहे और उन्हें बिपत्तियों के गहरे खड्ड से निकाल कर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने के स्वप्न देखते रहे।

मैं प्रेमचन्द और देहात को पृथक्-पृथक् नहीं समझता। एक की याद आते ही मेरे सामने दूसरे का चित्र खिंच जाता है और यद्यपि मुझे उनके समीप रहने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ और मैं नहीं जान सका कि वह बाह्यरूप से कितने देहाती थे परन्तु उनकी अमर कृतियों को देखकर, उनका अध्ययन करके मैं इसके अतिरिक्त किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका कि देहात की रूह उनकी नस-नस में बसी हुई थी। शहरों में रहते हुए भी वह देहात में साँस लेते थे, शहरों में रहते हुए भी वह देहात की उन्नति तथा प्रगति के विषय में सोचते थे। वह जानते थे, भारत देहात में बसता है, उसकी स्वतन्त्रता और उन्नति देहातियों की स्वतन्त्रता और उन्नति पर निर्भर है। जब तक देहाती, अंधश्रद्धा, झूठी मर्य्यादा, अशिक्षा, जहालत और क़र्ज़े के बोझ तले दबे हुए हैं, फ़ज़ूलख़र्ची और दुर्व्यसनों की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं तब तक भारत भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता, वह भी दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहेगा।

स्व० प्रेमचन्दजी ने देहात पर बीसियों कहानियाँ लिखी हैं, 'पंच परमेश्वर', 'बेटी का धन', 'नमक का दारोग़ा' आदि। और दूसरी कहानियाँ देहात के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं, परन्तु अपने उपन्यासों में से मुख्य की नींव भी उन्होंने देहात और उनकी संस्कृति पर ही रखी है। मैं उनके बृहद् उपन्यासों से यह बताने का प्रयास करूँगा कि शहरों की हलचल, सरगरमी और चकाचौंध ने उनके हृदय से देहात के उस शान्तिप्रद, सरल और मादक वातावरण को नहीं

भुला दिया था जहाँ वह पैदा हुए, पले और परवान चढ़े। उनके उपन्यासों में, 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' अधिकतर देहात की राम कहानी ही कहते हैं और बताते हैं कि देहातियों के पैरों में कौन-सी बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं और कौन-सी चीज़ें उन्हें घुन की भाँति अन्दर-ही-अन्दर खाये जाती हैं।

प्रेमचन्द के गाँव

'उत्तरीय गिरिमाला के बीच में एक छोटा-सा हरा-भरा गाँव है, सामने गंगा तरुणी की भाँति हँसती, खेलती, नाचती-गाती चली जा रही है। गाँव के पीछे एक बड़ा पहाड़ किसी वृद्ध जोगी की भाँति जटा बढ़ाए, काला और गम्भीर, अपने विचारों में निमग्न खड़ा है। यह गाँव मानो उसके बचपन की याद है, उल्लास और मनोरंजन से परिपूर्ण, अथवा भरपूर जवानी का कोई सुनहला स्वप्न। गाँव में मुश्किल से बीस-पचीस झोंपड़े होंगे। पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों को ऊपर नीचे रखकर दीवारें बनाई गई हैं। उन पर बनकट की टट्टियाँ हैं। इन्हीं काबकों में इस गाँव के वासी अपनी गाय, बैल, भेड़, बकरियों को लिए राम जाने कब से बसे हुए हैं।' (कर्मभूमि)

नगर के जीवन से तंग आये हुए अमरकान्त को यह गाँव सुन्दर और सुरम्य लगा। वह कहते भी हैं, 'ऐसा सुन्दर गाँव मैंने नहीं देखा, नदी, पहाड़, जंगल इसका तो समा ही निराला है, जी चाहता है यहीं रह जाऊँ और कहीं जाने का नाम न लूँ।' अमरकान्त ही क्यों, कोई भी प्रकृति-प्रेमी वहाँ जाकर अपनी तप्त आत्मा को शान्त कर सकता है। भारत के देहात प्रकृति के ही रूप हैं। जहाँ पहाड़ हैं, नदी है, हरे-भरे वृक्ष हैं, खेत हैं, वहाँ पत्थर अथवा मिट्टी के बने हुए छोटे-छोटे घरों का चित्र भी मस्तिष्क में खिंच जाता है। नगर तो प्रकृति के सुन्दर शरीर पर फोड़े हैं, उसकी सुन्दरता के डाकू हैं। यदि नागरिकों की कुत्सित चालों ने इन देहातियों के जीवन को तल्ख़ न कर दिया होता, तो शहर से देहात में जानेवाला सचमुच ही वहाँ से आने का नाम न लेता।

एक दूसरी जगह प्रेमचंद ने 'बेलारी' में फागुन के आगमन का वर्णन करते हुए लिखा है—

'फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा। आम के पेड़ दोनो हाथों से बौर की सुगन्ध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।' (गोदान, पृष्ठ ३४१)

देहात की यही सुन्दरता है जो प्रेमचन्द को बार-बार अपनी ओर खींचती रही है और यही सुन्दरता है जिसका चित्र खींचते समय प्रेमचन्द—ऐसा प्रतीत होता है—उसमें खो जाते थे। परन्तु देहात में सुन्दरता ही सुन्दरता हो, आकर्षण ही आकर्षण हो, यह बात नहीं। देहात का आकर्षण, देहात की रमणीयता देहातियों की सम्पन्नता पर निर्भर है। फ़ाकेमस्त के चेहरे पर भर पेट खानेवाले का-सा नूर कहाँ? अमरकान्त ने 'कर्मभूमि' में जो गाँव देखा था वह 'गोदान' के बेलारी से भिन्न था। वहाँ के वासी भुक्खड़ नहीं थे। एक आना रोज़ाना अथवा बेगार की मज़दूरी का वहाँ नाम भी न था। अमरकान्त चाहते थे, कोई काम मिल जाये तो गाँव में ही टिक जायें। उनका अभिप्राय जानकर 'गोबर' कहता है—'काम की यहाँ कौन कमी है, घास भी कर लो तो रुपये रोज़ की मज़दूरी हो जाय, नहीं तो चप्पल बनाओ, चरसे बनाओ, परिश्रम करनेवाला भूखा नहीं मरता, धेली की मज़दूरी कहीं गई नहीं।'

परन्तु बेलारी में परिश्रम करने पर भी भूखा रहना पड़ता है, वहाँ मज़दूरी ऐसे आराम से नहीं मिलती। धनिया कहती है—

'कब तक पुआल में घुस कर रात काटेंगे, और पुआल में घुस भी लें तो पुआल खा कर रहा तो न जायगा, तुम्हारी इच्छा हो तो घास ही खाओ, हमसे तो घास न खाई जायगी।'

होरी कहता है—'मज़दूरी तो मिलेगी, मजदूरी करके खायेंगे।'

धनिया पूछती है—'कहाँ है इस गाँव में मजदूरी?' (गोदान, पृष्ठ ३११)

राय साहब वहाँ मज़दूरी लेते हैं लेकिन एक आना रोज़ देते हैं। दातादीन पण्डित सेतमेंत में या तीन आने रोज़ पर मज़दूरी लेते हैं, परन्तु ऐसी कड़ी कि उनके यहाँ कोई मज़दूर टिकता ही नहीं और बेलारी के समीप ही एक ठेकेदार भी मज़दूरी लेता है लेकिन ऐसी सख्त कि यह मज़दूरी करते करते होरी अपनी जान से ही हाथ धो बैठता है।

ऐसी हालत में गाँव का चित्र कैसे आकर्षक हो सकता अथवा प्रेमचन्द किस प्रकार अपनी लेखनी के चमत्कार से ही इसे सुन्दर और आकर्षक बना देते? और यदि ऐसा करते भी तो इस चित्र में सूत (Harmony) कहाँ रहता? इसीलिए जब गोबर नगर से घर लौटता है तो वही गाँव जो सम्पन्नता के दिनों में सुन्दर लगता, मन को शान्ति देता, अब रूखा फीका और उजड़ा उजड़ा-सा दिखाई देता है। 'कर्मभूमि' के गाँव के पश्चात् अब 'गोदान' के इस गाँव का भी नक़शा देखिये, कितनी दीनता है और कितना दारिद्रय।

'गोबर ने घर की दशा देखी तो ऐसी निराशा हुई कि इसी वक्त वहाँ से लौट जाय। घर का एक हिस्सा गिरने गिरने को हो गया था, द्वार पर केवल एक बैल बँधा हुआ था वह भी नीमजान।............'

'और यह दशा कुछ होरी की ही न थी, सारे गाँव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक भी आदमी न था जिसकी रोनी सूरत न हो, मानो उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो।......द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है मगर उनकी नाक में न गन्ध है न आँखों में ज्योति। सरेशाम ही से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं पर किसी को ग़म नहीं।' (गोदान, पृष्ठ ५६३-५६८)

कहाँ है वह सुन्दरता, वह आकर्षण, वह पवित्रता, जो नगर से आनेवाले को मोह ले, उसका स्वागत करे, उसे बिठा ले कि बस अब तुम मेरी ठंडी छाया में बैठो, मेरी हरियाली से मन को शान्ति दो, मेरे पवित्र वातावरण में साँस लो। प्रेमचन्द यथार्थवादी थे और अपने उपन्यासों में उन्होंने जहाँ-जहाँ देहात का चित्र खींचा है वहाँ प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता के साथ-साथ देहात की सब से बड़ी दिलकशी—देहातियों के जीवन को भी नहीं भूले।

देहात के मौसम

प्रेमचन्द की क़लम में जादू था। जिस वस्तु का ज़िक्र उन्होंने किया उसका चित्र आँखों के सामने खिंच गया। आपने आयु भर कोई गाँव न देखा हो, आपको देहात के मौसिमों का कुछ भी ज्ञान न हो, आपको देहात के शीत से पाला न पड़ा हो, आप न जानते हों कि निर्धन किसान पर शरद ऋतु में क्या बीतती है, परन्तु आप प्रेमचन्द की यथार्थवादी क़लम से खींची हुई तस्वीर देखें, सब कुछ जान जायँगे, सब कुछ अनुभव करेंगे। आपके सामने गाँव की सर्दी और उसमें ठिठुरते हुए किसान का चित्र खिंच जायगा—

'माघ के दिन थे। महावट लगी हुई थी। घटाटोप अँधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, सरे माघ की वर्षा। मौत का-सा सन्नाटा छाया था। अँधेरा तक न सूझता था।

होरी पुनिया के मटर के खेत की मेंड पर अपनी मँड़ैया में लेटा हुआ था, चाहता था शीत को भूल जाय और सो रहे ; लेकिन तार-तार कम्बल और फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल, इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिली कि उससे मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था, पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर और हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपने ही साँसों से अपने को गरम करने की चेष्टा कर रहा था पर बूढ़ा कम्बल अब उसका साथी तो था मगर अब वह चबानेवाला दाँत नहीं, दुखने वाला दाँत है।' (गोदान, पृष्ठ १६४)

कितनी दर्दनाक तस्वीर है ! गरमियों के दिनों में यदि वर्षा न हो तो क्या दशा होती है, ज़रा इसका भी हाल पढ़िये।

'सावन का महीना आ गया था और बगूले उठ रहे थे। कुओं का पानी भी सूख गया था और ऊख ताप से जली जाती थी। नदी से थोड़ा-थोड़ा पानी मिलता था पर उसके पीछे आये दिन लाठियाँ चलती थीं। यहाँ तक कि नदी ने भी जवाब दे दिया, जगह-जगह चोरियाँ होने लगीं, डाके पड़ने लगे। सारे प्रान्त में हाहाकार मच गया।'

और इस दशा में यदि वर्षा हो जाये तो किसानों के दिलों के सूखे कमल किस प्रकार हरे हो जाते हैं। इसका ख़ाका भी प्रेमचन्द ने खींचा है। देखिये—

'बारे कुशल हुई कि भादों में वर्षा हो गई और किसानों के प्राण हरे हुए। कितना उछाह था उस दिन। प्यासी पृथ्वी जैसे अघाती ही न थी और प्यासे किसान जैसे उछल रहे थे, मानो पानी नहीं अशर्फ़ियाँ बरस रही हैं। बटोर लो जितना बटोरते बने। खेतों में जहाँ बगूले उठते थे, वहाँ हल चलने लगे। बालवृन्द निकल-निकल कर तालाबों और पोखरों और गड़हियों का मुआयना कर रहे थे। 'ओ हो तालाब तो आधा भर गया' और वहाँ से गड़हिया की तरफ़ भागे।' (गोदान, पृष्ठ २५१)

कितना सजीव चित्र है ! वर्षा होने पर ज़रा देहातियों की व्यस्तता देखिये—'बरसात के दिन थे। किसानों को ज्वार और बाजरे की रखवाली से दम मारने का अवकाश न मिलता था। जिधर देखिये, हा हू की ध्वनि आती थी। कोई ढोल बजाता था, कोई टीन के पीपे पीटता था। दिन को तोतों के झुण्ड-के-झुण्ड टूटते थे, रात को गीदड़ों के ग़ोल, उस पर धान की क्यारियों में पौधे बिठाने पड़ते थे। पहर रात रहे ताल में जाते और पहर रात गए आते थे। मच्छरों के डंक से देह में छाले पड़ जाते थे। किसी का घर गिरता था, किसी के खेत की मेंड़े काटी जाती थीं। जीवन संग्राम की दोहाई मची हुई थी।'—(प्रेमाश्रम, पृष्ठ २७०)

वर्षा ऋतु के बाद का भी एक चित्र है—

'वर्षा ऋतु समाप्त हो गई थी। देहातों में जिधर निकल जाइये सड़े हुए सन की दुर्गन्ध उड़ती थी। कभी ज्येष्ठ को लज्जित करनेवाली धूप होती थी, कभी सावन को शरमानेवाले बादल घिर आते थे। मच्छर और मलेरिया का प्रकोप था, नीम की छाल और गिलोय की बहार थी। चरावर में दूर तक हरी-हरी घास लहरा रही थी। अभी किसी को उसके काटने का अवकाश न मिलता था।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ २६४)

प्रेमचन्द की दृष्टि कितनी सूक्ष्म है और क़लम में कितनी सफ़ाई है, यह इन क़लमी चित्रों को देखकर ही मालूम हो जायगा। सारी आयु देहात में बितानेवाला भी शायद इस बारीकी, इस सफ़ाई से देहात का चित्र न खींच सकता जैसा प्रेमचन्द ने इसके बाहर रहते हुए खींचा है।

देहाती और उनकी दीनावस्था

प्रेमचन्द के देहाती हमारे देहात के, भोलेभाले निरीह, ग़रीब, क़र्ज़े के बोझ तले दबे हुए, पुरानी रस्मों और झूठी मर्य्यादा के पाबन्द, धर्म और दीन के बन्धनों में जकड़े हुए, आन की ख़ातिर मर मिटनेवाले, दर्दरस, बेबस, मज़लूम, विपन्न देहाती हैं। वह गुनाह करते हैं ; परन्तु उनका गुनाह भी विवशता का दूसरा नाम है, पाप के कड़वेपन से पाक ! उनके पाप में भी उनकी सादा लौ ही टपकती है। उन्हें पाप करते देखकर क्रोध के बदले दया आती है। मैं कहता हूँ, सरकार अथवा दूसरी संस्थाएँ देहात सुधार का शोर मचाने के बदले प्रेमाश्रम और गोदान की क़ापियाँ छपवा कर लाख-दो-लाख की संख्या में मुफ़्त बाँट दें तो कहीं अच्छा हो। केवल महकमें और संस्थाएँ खोलने से काम न चलेगा। ज़रूरत इस बात की है कि जन साधारण को देहातियों की इस दीनावस्था का ज्ञान हो जाये और वह यह अनुभव करें कि उनकी ये असेम्बलियाँ, उनके ये चुनाव, उनके ये भाषण, देहात सुधार के सम्बन्ध में उनके ये दावे अभी तक महज़ खोखले साबित हुए हैं। सब स्वार्थ और मतलबपरस्ती के सिवा कुछ नहीं और इनसे देहातियों को कोई लाभ नहीं। उनकी अवस्था अब भी वैसी ही दीन है जैसी पहले थी।

प्रेमाश्रम में मनोहर ग़ौस खाँ को क़त्ल कर देता है ; लेकिन क्या वह पापी है ? क्या उसके इस अमानुषीय कर्म पर आपके दिल में उसके लिए उपेक्षा पैदा होती है ? वह कमज़ोर ग़रीब और मुफ़लिस देहाती है, रात को उसे ठीक तरह सुझाई भी नहीं देता। आयु के साठ पतझड़ देख चुका है, फिर क्या कारण है कि जिस काम को उसका युवक पुत्र बलिष्ट और मज़बूत होते हुए भी करने से झिझकता है उसे वह वृद्ध और दुर्बल होते हुए भी करने के लिए तैयार हो जाता है ? यह उसी की ज़बान से सुनिये। दो घड़ी रात बीतने पर जब सब सो गये हैं, चारों तरफ़ सन्नाटा है, मनोहर बलराज को जगाता है और कहता है—

'अच्छा तो अब राम का नाम लेकर तैयार हो जाओ, डरने या घबराने की कोई बात नहीं। अपने मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं। बेइज़्ज़त होकर जीने से मर जाना अच्छा है।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३०५)

और फिर यही मनोहर उस काम के लिए, जिसका उत्तरदायित्व उस अकेले पर है, सारे-का-सारा गाँव बँधा जा रहा है तो, अपने हाथों अपने जीवन की रस्सी काट देता है। क्या उसका यह काम उसके चरित्र को हमारी नज़रों में ऊँचा नहीं कर देता ? कौन जानता है कि आये दिन देहात में जो हत्याएँ होती हैं, डाके पड़ते हैं, लड़ाइयाँ की जाती हैं, उनकी तह में इसी प्रकार के ज़ुल्म काम नहीं करते ? इन ज़ुल्मों की रोकथाम अपराधियों को फाँसी की रस्सी पर लटकाकर, अथवा कालेपानी भेजकर नहीं हो सकती ; वरन् उन कारणों को दूर करके ही हो सकती है जो इन सीधे-साधे देहातियों को जान जैसी प्यारी चीज़ को तुच्छ समझने के लिए विवश कर देते हैं।

'गोदान' में होरी लड़की को बेचने का पाप करता है। दीनधर्म और मर्यादा पर मर मिटने वाला होरी रूपा जैसी कमसिन लड़की को रामसेवक जैसे अधेड़ व्यक्ति से ब्याह देने को तैयार हो जाता है। लेकिन क्यों ? इसलिए कि—

'जीवन के संघर्ष में उसकी सदैव हार हुई ; पर उसने कभी हिम्मत न हारी। प्रत्येक हार जैसे उसे भाग्य से लड़ने की शक्ति दे देती थी ; मगर अब वह उस अन्तिम दशा को पहुँच गया था, जब उसमें आत्मविश्वास भी न रहा था कि वह अपने धर्म पर अटल रह सकता है।'

(गोदान पृष्ठ ५८८)

एक दूसरे स्थल पर प्रेमचन्द देहातियों की हीनावस्था का करुणापूर्ण चित्र खींचते हैं—

'चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, क्योंकि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गई हो। जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है, मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहानों ही में तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है वह भी दूसरों ही का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उनमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। सारी चेतनाएँ शिथिल हो गई हैं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आता है निगल जाते हैं, उसी तरह जैसे इंजन कोयला निगल जाता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बग़ैर नाँद में मुँह नहीं डालते ; मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिए, स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है, उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है।'

इसलिए—

'चाहे उनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की यह इन्तहा है जब आदमी शर्म और इज़्ज़त को भी भूल जाता है।'

(गोदान, पृष्ठ ५९८)

इस अवस्था में, इस करुणाजनक शोचनीय अवस्था में, क्या इन परेशान-हाल देहातियों पर, जिनकी इस दीनदशा का कारण नगर और नगरों की फ़ैशनपरस्तियाँ हैं, उपेक्षा के बदले दया नहीं आती ? इस हालत में वह बड़े से बड़ा अपराध भी कर दें तो क्षम्य हैं। दण्ड के भागी यह निरीह देहाती नहीं बल्कि वे लोग हैं जो उन्हें अपनी और दूसरों की हस्ती को भूल जाने के लिए विवश करते हैं ; यह भूल जाने के लिए विवश करते हैं कि वे पशु नहीं, मनुष्य हैं और उनके पहलू में दिल और मस्तिष्क में सोचने की शक्ति मौजूद है।

देहात की जोंकें

देहात की इस नीमजान लाश से जो जोंकें चिमटी हुई हैं और इसके रक्त की अन्तिम बूँद तक चूस जाना चाहती हैं, प्रेमचन्द उनको भी नहीं भूले। 'गोदान' के पण्डित दातादीन, झिंगुरी शाह, मँगरू शाह पटवारी पटेश्वरीलाल और कारिन्दा नोखेराम और प्रेमाश्रम के ग़ौस खां, फ़ैज़ुल्लाह, बिसेसर शाह, थानेदार दयाशंकर इत्यादि इन्हीं जोंकों की विभिन्न जातियाँ हैं। देहातियों के शरीर में रक्त का नाम तक नहीं रहा, वे मृतप्राय हो गए हैं परन्तु इस बात से उन्हें कोई मतलब नहीं, उन्हें तो जबतक आशा है चिमटी रहेंगी, लहू चूसती रहेंगी, दया, धर्म, सहानुभूति का उनके यहाँ कोई काम नहीं।

होरी की गाय को, उसका सगा भाई विष देकर कहीं भाग गया है। उसकी अनुपस्थिति में पुलिस तलाशी करना चाहती है। होरी मर्य्यादा का पाबन्द है, वह नहीं चाहता कि उसके भाई के घर की तलाशी हो और कुल को बट्टा लगे। वह उसका शत्रु ही सही, उसकी वर्षों से सींची हुई आशाओं पर पानी फेर देने वाला ही सही, लेकिन भाई तो उसका ही है ; तो क्या उसकी तलाशी से कुल को बट्टा न लगेगा, भाई की इज़्ज़त क्या उसकी इज़्ज़त नहीं ?

पटवारी पटेश्वरी होरी की इस कमज़ोरी से लाभ उठाना चाहते हैं। होरी के घर खाने को अनाज नहीं, उसे रोटी के लाले पड़े हुए हैं इससे उन्हें क्या ? होरी के घर को चाहे आग लगे

चाहे वह विध्वंस हो, वह तो इस सुअवसर पर हाथ रँगेंगे। बढ़कर थानेदार से कहते हैं 'तलाशी लेकर क्या करेंगे हुज़ूर, उसका भाई आपकी ताबेदारी के लिए हाज़िर है।'

दोनों आदमी ज़रा अलग जाकर बातें करने लगे।

'कैसा आदमी है?'

'बहुत ही ग़रीब हज़ूर! भोजन का भी ठिकाना नहीं।'

'सच?'

'हाँ, हज़ूर, ईमान से कहता हूँ।'

'अरे तो क्या एक पचासे का भी डौल नहीं?'

'कहाँ की बात हज़ूर! दस भी मिल जायें तो हज़ार समझिए। पचास तो पचास जन्म में भी मुमकिन नहीं; और वह भी जब कोई महाजन खड़ा हो जायेगा।'

दारोगाजी में दया का सर्वथा अभाव न हुआ था। उन्होंने एक मिनट तक विचार करके कहा—'तो फिर उसे सताने से क्या फ़ायदा? मैं ऐसों को नहीं सताता जो स्वयं ही मर रहे हों।'

पटेश्वरी ने देखा, निशाना और आगे पड़ा। बोले—'नहीं हज़ूर, ऐसा न कीजिये, नहीं फिर हम कहाँ जायँगे। हमारे पास दूसरी कौन सी खेती है?'

'तुम इलाक़े के पटवारी हो जी, कैसी बातें करते हो।'

'जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं। नहीं पटवारी को कौन पूछता है?'

'अच्छा जाओ, तीस रुपए दिलवा दो। बीस रुपए हमारे, दस रुपए तुम्हारे।'

'चार मुखिया हैं, इसका तो ख़याल कीजिए।'

'अच्छा आधेआध पर रखो और जल्दी करो।'

पटेश्वरी ने झिंगुरी से कहा, झिंगुरी ने होरी को इशारे से बुलाया। अपने घर ले गये, तीस रुपए गिनकर उसके हवाले किये और एहसान से दबाते हुए बोले—'आज ही कागद लिख देना। तुम्हारा मुँह देखकर रुपए दे रहा हूँ, तुम्हारी भलमंसी पर।'

और होरी तो यह रुपए दे देता परन्तु धनिया ने सब भंडा फोड़ दिया, बोली—

'हमें किसी से उधार नहीं लेना। मैं दमड़ी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने के लिए पचीस रुपए माँगते थे, किसी ने न दिए। आज अँजुरी भर रुपए निकालकर ठनाठन गिन दिए। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट बखरा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। यह हत्यारे गाँव के मुखिया हैं वा ग़रीबों का ख़ून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूसघास, जैसे भी हो, ग़रीबों को लूटो।' (गोदान, पृष्ठ १८७-१८८)

और ऐसी बीसियों ही घटनाएँ हैं जहाँ ये देहाती जोंकें ग़रीब देहातियों का ख़ून चूसती हैं। झिंगुरी शाह शक्कर के कारखाने में होरी के एक सौ रुपए हथिया लेता है और बाक़ी के २५ नोखेराम ले लेता है और होरी के घर खाने को दाना तक नहीं। गिरधर मुश्किल से एक आना मुँह में छिपा कर रख लेता है और उसकी ताड़ी पी आता है। ज़रा उसके शब्द सुनिये, कितनी बेदना भरी है—

'झिंगुरिया ने सारे-का-सारा ले लिया, होरी काका। चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का। रोया, गिड़गिड़ाया, पर इस पापी को दया न आई।'

आदर्श गाँव

रंगभूमि और गोदान में प्रेमचन्द ने देहात की तबाही का खाका खींचा है। औद्योगिक धंधों के इस युग में, कारखानदारों के इस दौरे में, जब कि हिन्दुस्तान में भी मशीनों की गड़गड़ाहट का शोर सुनाई देने लगा है, प्रेमचन्द देहात की तबाही और बर्बादी का दृश्य देखते हैं। पांडेपुर भी बनारस के पड़ोस में एक छोटा-सा गाँव ही है। इसके विनाश का हाल पढ़कर प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कविता Deserted Village (ऊजड़ गाँव) की स्मृति ताज़ा हो जाती है। गोदान में देहात की जिस तबाही का ज़िक्र किया गया है उसका कारण हमारे समाज की आधुनिक व्यवस्था और उसकी कुरीतियाँ, खराबियाँ, ज़िमींदारों और उनके कारिन्दों के अत्याचार और साहूकारों की खून चूसने वाली सरगरमियाँ हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रेमचन्द की आँखों के सामने सदैव तारीकी-ही-तारीकी रही है, उन्होंने गिरते, धँसते और विनाश की ओर शीघ्रता से अग्रसर होने वाले गाँव ही देखे हैं। नहीं, उन्होंने आदर्श गाँव का स्वप्न भी देखा है और उस स्वप्न की सत्यता आपको 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर में दृष्टिगोचर होगी।

मायाशंकर के उस भाषण में, जो उसने अपने तिलकोत्सव पर किया, इस आदर्श की झलक मिलती है। उसे देहातियों की वास्तविक दशा का खूब ज्ञान है, जब ज्ञानशंकर ने उसे विलायत न जाने दिया था और अपने इलाकों का दौरा करने को कहा, तो उसने उनकी वास्तविक दशा का पूरा-पूरा परिचय पा लिया था। उसने देखा कि—

'चारों तरफ़ तबाही छाई हुई थी, ऐसा विरला ही कोई घर होगा जिसमें धातु के बर्तन दिखाई देते हों। कितने घरों में लोहे के तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोंपड़े में और कुछ दिखाई ही न देता था, न ओढ़ना, न बिछौना, यहाँ तक कि बहुत से घरों में खाटें तक न थीं। और वह घर ही क्या थे ? एक-एक दो-दो छोटी, तंग कोठरियाँ थीं। एक मनुष्यों के लिए, एक पशुओं के लिए। उसी एक कोठरी में खाना, सोना, उठना, बैठना—सब कुछ होता था।'

उसने यह भी देखा कि—

'जो किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे, उनके बदन पर साबित कपड़े भी न थे, उन्हें भी एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। वह भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अच्छे जानवरों के देखने को आँखें तरस जातीं। जहाँ देखो छोटे-छोटे मरियल दुर्बल बैल दिखाई देते थे और खेतों में रींगते और चरनियों पर औंघते थे।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६२३-६२४)

इस व्यापक दरिद्रता और दीनता को देखकर माया का कोमल हृदय तड़पकर रह गया था और उसने कम-से-कम अपने कर्तव्य का निर्णय कर लिया था। देखिये, अपने भाषण में वह इसकी घोषणा भी कर देता है—

'मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दनों पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं। मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूँ जो प्रथा-नियम और समाज-व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ। वह न मेरे असामी हैं न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं। आज से वे अपनी जोत के स्वयं जमींदार हैं। अब उन्हें मेरे कारिन्दों के अन्याय और मेरी स्वार्थ-भक्ति की यन्त्रणायें न सहनी पड़ेंगी। वह इज़ाफ़े, एखराज, बेगार की विडम्बनाओं से निवृत्त हो गए।'

'मेरा अपने समस्त भाइयों से निवेदन है कि वे अपने-अपने हिस्से का सरकारी लगान पूछ

लें और वह रक़म खज़ाने में जमा कर दें। मुझे आशा है कि मेरे समस्त भ्रातृवर्ग आपस में प्रेम से रहेंगे और ज़रा-सी बातों के लिए अदालतों की शरण न लेंगे।' (प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६२५-६२६)

और इस घोषणा के फलस्वरूप हम प्रेमाश्रम के अन्तिम पृष्ठों में स्वतन्त्र और सम्पन्न लखनपुर की तस्वीर देखते हैं। मायाशंकर अपने दौरे पर हैं। इसी सिलसिले में लखनपुर भी आये हैं। देखते हैं कि वही लखनपुर, जो तबाही और बर्बादी का मसकिन था, अब स्वर्ग को लजानेवाला बन गया है। वहाँ खूब रौनक और सफ़ाई है। 'प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे। उनमें बड़े-बड़े तख्ते बिछे हुए थे। अधिकांश घरों पर सुफ़ेदी हो गई थी। फूस के झोंपड़े ग़ायब हो गए थे, अब सभी घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बँधे दिखाई देते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुआँ और धर्मशाला था। मायाशंकर सुक्खू चौधरी के मन्दिर पर रुके। वहाँ इस समय बड़ी बहार थी। चबूतरे पर इस समय चौधरी बैठे हुए रामायण पढ़ रहे थे और कई स्त्रियाँ बैठी हुई सुन रही थीं। मायाशंकर घोड़े से उतर कर चबूतरे पर जा बैठे। उन्हें देखते ही गाँव वाले अपने काम धन्धे छोड़कर आ गये थे, सब ने उन्हें घेर लिया और सब की कुशल क्षेम पूछने लगे।'

गाँव की यह कायापलट उस घोषणा के केवल दो वर्ष बाद हो गई है। अब तनिक देहातियों की आर्थिक स्थिति का हाल भी सुनिये और पहली दशा से उसका मिलान कीजिये। कादिर मियाँ, जिन्हें मायाशंकर चाचा कहकर पुकारते हैं, सहर्ष अपनी हालत बयान करते हैं—

'बेटा, और क्या दुआ दें? रोयें रोयें से तो दुआ निकल रही है। मुंशी को देखो, पहले २० बीघे का काश्तकार था, १०० रु० लगान देने पड़ते थे। दस बीस साल नज़राने में निकल जाते थे। अब जुमला २० रु० लगान है और नज़राना नहीं लगता। पहले अनाज खलिहान से घर तक न आता था। आपके चपरासी कारिन्दे वहीं गला दबा कर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाये, घर की मरम्मत कराई, सायबान डाला। हाँडियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं। मालगुजारी दाखिल करके चुपके से घर चले आते हैं। नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत में भी जी लगता है, नहीं तो नमाज़ भी बोझ मालूम होती थी।' (प्रेमाश्रम, पृ० ६४३)

और यही हालत दुखरन भगत, कल्लू, डपटसिंह और बलराज इत्यादि का है। बलराज के पास तो एक घोड़ा भी है। ज़िला-बोर्ड का सदस्य हो गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ पहले कोई समाचारपत्र का नाम तक न जानता था वहाँ अब छोटा-सा वाचनालय भी है, अच्छे अच्छे अखबार भी आते हैं। गाँव वालों की नैतिक उन्नति भी काफ़ी हुई है और बलराज के क़ौल के मुताबिक 'गाँव में अब रामराज है।'

मायाशंकर ने देहातियों की जो दशा स्वयं देखी थी और जो दशा उसने बना दी है, उसमें कितना अन्तर है! यह है देहातियों का वह स्वर्ग जिसके स्वप्न प्रेमचन्द देखते थे। काश हमारे जमींदारों में एक भी मायाशंकर निकलता तो प्रेमचन्द को अपनी जीवन-सन्ध्या में निराश होकर 'गोदान' न लिखना पड़ता।

प्रेमचन्द : हिंदी की सर्वश्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभा

[श्री रामनाथ 'सुमन']

(१)

प्रेमचन्द की मृत्यु को आज छः महीने होने को आये। इस बीच बार-बार मुझे उन पर लिखने को कहा गया है—मेरे दिल ने भी कहा है। मैं सोचता रहा हूँ, मन ज़रा सुस्थ हो ले तो लिखूँ। पर क्या लिखूँ? दिल में अनेक भाव उठते हैं और एक दूसरे को मिटाते हुए मिट जाते हैं। इस बाढ़ में मन की नाव डगमगा रही है। सोचता हूँ, हिंदी-संसार ने उनके साथ क्या किया? उनके जीवन में उनकी क़द्र न हुई—मौखिक और धुएँ के समान अस्पष्ट आकाश में उड़ जाने वाली क़द्र तो बहुत हुई पर मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूँ। मेरे निकट इसका महत्व नहीं। मैं पूछता यह हूँ कि प्रेमचन्द की आत्मा को, उनके संदेश को कितनों ने पहचाना, समझा और ग्रहण किया। आज से १७ वर्ष पूर्व जब हिंदी ने अपनी आत्मा को पहचाना न था और जब उसके अंदर कोई ऐसा न था कि उसकी अन्तःप्रतिभा को, उसके आत्म-रूप को, उसकी प्रच्छन्न शक्तियों को परदा फाड़कर बाहर कर देता; जब हम खोये और भूले हुए, बँगला की जूठन को लेकर तृप्त थे तब एक प्रौढ़ युवक हमारे बीच आया और उसने परदे को उठा दिया। उसने हमारे बीच वह चीज़ रखी जिसको पाकर हमने अपने को देखना—पहचानना सीखा और हम हम हुए। इस व्यक्ति ने प्रेम को सौदे और मोल-तोल तथा विलासिता के बाज़ार से उठा कर कर्त्तव्य की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इसने साहित्य में सर्वसामान्य के प्राणों का कम्पन व्यक्त किया। इसने हमें नशा करने वाला नहीं, जिलाने वाला, पुष्ट करने वाला साहित्य दिया। जहाँ हमारी सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाएँ उधार एवं उच्छिष्ट अन्न पर पनप रही थीं तहाँ इसने औरों को हमारी चीज़ें लेने और पढ़ने को बाध्य किया। पहली बार हमने अनुभव किया कि हमारे साहित्य में भी ऐसी चीज़ें हैं जिसे पाकर दूसरे धन्य होते; जिसे दूसरे लेते हैं और सिर चढ़ाते हैं।

प्रेमचन्दजी पहले हिन्दी लेखक हैं जिनकी रचनाओं के न केवल बँगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तमिल इत्यादि देशी भाषाओं वरन् जापानी, अंग्रेज़ी, जर्मन इत्यादि विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हुए और अंग्रेज़ी लेखकों ने जिनकी तुलना संसार के सर्वश्रेष्ठ आख्यायिकाकारों एवं औपन्यासिकों से की है।

पर यह केवल उपन्यासों का ही प्रश्न नहीं है; यह हमारे समस्त साहित्य की आत्मा का प्रश्न है। प्रेमचन्द ने सब से पहले हमारे साहित्य के पाँव में मनोवैज्ञानिक प्रवंचना एवं दासता

की जो बेड़ियाँ पड़ी थीं उन्हें तोड़ दिया। प्रथम बार साहित्य की आत्मा का सम्पुट-शतदल, तेजः-पुंज के स्पर्श से खुलने लगा और प्रथम बार साहित्य की आत्मा उस मुक्त पक्षी की तरह ऊपर उड़ी जिसने वर्षों पिंजड़े में रहने के बाद एकाएक अपना खोया एवं भूला हुआ स्वतंत्रता का, आत्म-परिचय का उल्लास प्राप्त कर लिया हो। वह न केवल कहानी एवं उपन्यास-जगत् में वरन् सम्पूर्ण साहित्य के जीवन में एक स्फूर्ति, एक प्रेरणा, एक प्राणद-स्पर्श उत्पन्न करते हुए आये।

मैं मानता हूँ, हिन्दी में वंचकों की कमी नहीं है। मैंने सुना है—'उन्होंने क्या काम किया ?' यह प्रश्न हमारी ग़ुलाम एवं उल्टी—'परवर्टेड'—मनोवृत्ति पर कोढ़ का वह धब्बा है जो हमारे जीवन की शालीनता के विरुद्ध दुष्प्रवृत्ति के एक पदक-सा हमारे सामने सदा चमकता रहेगा। यह दाग़ धुल न सकेगा, पर इसका उत्तर समय ने दे दिया है और अभी आनेवाला समय पूर्णतर उत्तर देगा। उन्होंने किया यह कि हिंदी को राष्ट्र की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। वह सच्चे अर्थों में हमारे राष्ट्रीय ग्रंथकार थे—उनकी रचनाएँ कश्मीर से कन्याकुमारी तक पढ़ी जाती हैं। वही एक हिन्दी लेखक हैं जिनका नाम सब प्रांतों के साहित्य-पाठक जानते हैं; जिन्होंने हिन्दी का नाम दूर-दूर तक फैलाया है और उस नाम को गर्व और गौरव से प्रदीप्त किया है। उन्होंने हिन्दी में समाज, देश एवं राष्ट्र के जीवन को प्रतिध्वनित किया है। उन्होंने हिन्दी को राजाओं के विलासागारों एवं रईसों के मनोविनोद से उठाकर सर्वसाधारण की झोपड़ियों तक ला खड़ा किया है। समय की माँग से प्रभावित, समाज के संघर्षों से दुःखी, हमारे सामाजिक जीवन को परिष्कृत करने की वेदना से संयुक्त, वह भावों एवं सिद्धान्तों, स्थिति एवं समय के संघर्ष में जीवन का चित्रण करते हुए चलते हैं।

(२)

कहानी के प्रति चिर-काल से मनुष्य की ममता है। इसमें मनुष्य सहज ही अपने को पा जाता है। इसमें उसके सुख-दुःख, उसकी आशा-निराशाएँ, उसके अन्तःभाव एवं आकांक्षाएँ उसे अत्यन्त स्वाभाविक रूप में स्पर्श करती हैं। इसमें वह बिना किसी बोझीले प्रयास के अपने जीवन के बहुत निकट आता है; अपने को अनुभव करता है और दूसरों के जीवन से अपने ममत्व का सम्बन्ध स्थिर कर लेता है।

संसार में जो इतनी समस्याएँ हैं और इतने द्वंद्व हैं उनके बीच अनादि-काल से मनुष्य आनन्द की शोध में संलग्न है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, शोक में और हर्ष में, सफलता में और विफलता में, आशा में और निराशा में, आनन्द की वह यात्रा जारी है। जगत् की विविधता और द्वंद्व में वैषम्य कहाँ है ? उल्टे एक क्रम है, एक एकता है, एक सामंजस्य है। आनन्द की शोध में मनुष्य का यह अनुभव अत्यन्त मूल्यवान है। साहित्यकार जीवन के विविध रूपों में इस केंद्रीय प्रकाश-रेखा को लेकर ही, जो नाशमान-सा लगता है—ऐसे उपादान-समूह से, एक चिरन्तन जीवन की, सत्य की सृष्टि करता है। इसीलिए संसार के श्रेष्ठ साहित्य अथवा ज्ञान में व्यक्ति मूल की तरह समाया हुआ है क्योंकि यह जो समाज है और जो उसकी समस्याएँ हैं, व्यक्ति को छोड़कर खड़ी नहीं हो सकतीं और समाज व्यक्ति का एक प्रकार मात्र है।

इसीलिए शुद्ध कला की पूजा व्यक्ति की आत्मा को लेकर है। जो इसमें कला की उपयोगिता नहीं देख पाते, वे कला को जानते नहीं हैं। यह कला की चरम उपयोगिता है कि वह हमारे अन्तर में जो सत्य प्रच्छन्न है उसकी ओर हमारी आँखें खोलती है। इसीलिए विशुद्ध साहित्यकार जगत् का बाह्य द्वंद्व दिखा कर, व्यक्ति के मूल में मनस्तत्व का निदर्शन एवं चित्रण करते हैं। समाज के बाह्यवरण और तात्कालिक परिस्थितियों की भिन्नता के बीच भी युग एवं स्थिति से ऊपर उठकर वे मानव जीवन के प्रति एक सनातन संदेश छोड़ जाते हैं।

परन्तु शुद्ध कला के इस रूप में पिछली शताब्दियों की विचार-धारा ने संशोधन भी किया है। ज्यों-ज्यों हमारी सभ्यता जटिल होती गई है, मनुष्य का व्यक्तित्व समाज में खोता गया है और अन्त में हमें समाज-यंत्र के एक पुर्ज़े के रूप में उसके दर्शन होते हैं। वह समाज का एक अंग मात्र बन गया है और समाज से भिन्न उसके अस्तित्व को स्वीकार करने को आज का समाज-शास्त्री तैयार नहीं है।

आज की सारी समस्याएँ वस्तुतः इसी व्यक्ति और समाज के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न हुई हैं। आज सर्वत्र व्यक्ति और समाज में संघर्ष है। जब तक यह संघर्ष है तब तक संसार शान्ति पा न सकेगा क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी होकर जी नहीं सकते। आज की आवश्यकता यह है कि व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे को उठाते हुए चलें। दोनों में सामञ्जस्य हो। इसलिए आज के साहित्यकार पर हमारे जीवन के सामञ्जस्य का यह नूतन सन्देश देने की एक बड़ी ज़िम्मेदारी आ पड़ी है।

प्रेमचन्द की सफलता और देन यही है। व्यक्तिमूलक शुद्ध कला के पुजारी एवं समाज-तत्व के आलोचक साहित्यकार के बीच उन्होने समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। यह अवश्य है कि उनपर दूसरे 'स्कूल' की बड़ी गहरी छाप पड़ी है और वह स्पष्टतः समाज-तत्व-वादी उन लेखकों के 'स्कूल' की ओर झुके हुए हैं जो व्यक्ति एवं समाज के संघर्ष में समाज की एक गूढ़ समस्या लेकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं (याद रहे ज़रा-से बाहरी भेद के साथ ऐसी समस्याएँ भी प्रायः व्यापक होती हैं) और परिस्थिति के उतार-चढ़ाव एवं दबाव में मानव का चित्रण करते हुए, पात्रों की गति या अवस्था द्वारा ही उस समस्या के हल की ओर निर्देश करते हैं। पिछले १७ वर्षों में भारत की राष्ट्रीय चेतना ज्यों-ज्यों जागती गई है और उसमें उथल-पुथल हुई हैं त्यों-त्यों प्रेमचन्द पर उसका प्रभाव पड़ता गया है और वे दूसरे स्कूल की ओर झुकते गये हैं। पर यह प्रभाव युग का प्रभाव है और इस प्रवाह के बीच भी व्यक्ति की श्रेष्ठता में उनका विश्वास, संस्कार-निर्मूल नहीं हो पाया है। इसीलिए प्रेमचन्द में हमारी संस्कृति के संक्राति-(Transition) काल का प्रतिबिम्ब है। उन्होंने समाज को ग्रहण किया है ; उसके हितों के लिए उनमें तीव्र समवेदना है, पर व्यक्ति को भूलना उनसे नहीं हुआ है। उन्होंने एक मध्य स्कूल का निर्माण किया है जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का अवलम्ब है। वह सदा व्यक्ति या समाज की जगह भाव को ही अधिक लेते हैं। जहाँ व्यक्ति को लेते भी हैं वहाँ भी हम उसे भाव के प्रतिनिधि, भावनाओं के एक चेतन चक्र के रूप में देखते हैं।

यही प्रेमचन्द की विशेषता है। वह समय के निर्देश की ओर व्यक्ति को जाग्रत करते हुए चलते हैं। उनके उपन्यास शरचन्द्र के व्यक्तित्वों (Individualities) से बहुधा शून्य हैं। उनके पात्र 'सिम्बोलिक' हैं और हमें इन पात्रों के रूप में समाज की विविध समस्याएँ और उनके बीच पड़ा हुआ व्यक्ति याद आता है। इस प्रकार 'उपयोगितावादी' स्कूल की ओर झुके होकर भी प्रेमचन्द ने व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वथा लोप नहीं होने दिया है, और न समय के प्रवाह में अपनी अन्तर्वाणी और आत्म-निर्णय बह जाने दिया है। जीवन की प्रत्येक अवस्था में उनकी विनोद की दृष्टि बनी रही है। वह किसी चित्र में एक दम निमजित नहीं हैं, वरन् सम्पूर्ण में निमज्जित हैं।

(२)

ऊपर मैंने जो बात कही है वह कहीं उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में स्पष्ट है। कला और तत्वज्ञान की दृष्टि से 'रंगभूमि' प्रेमचन्द का 'मास्टरपीस' है।

वह मानव जीवन को एक व्यक्तित्व और एक सत्य प्रदान करता है। वह शरीर पर आत्मा की विजय का शंखनाद है। वह सम्पूर्ण जीवन का एक चित्र और उस चित्र में चिरन्तन तत्व की कला का प्रस्फुटन है। पर पिछले वर्षों ने प्रेमचन्द के जीवन पर जो प्रभाव डाला उसका प्रतिनिधि-चित्र 'गोदान' है। इसमें 'रंगभूमि' की भाँति जीवन की कोई निर्दिष्ट 'फ़िलासफ़ी' नहीं है; 'कर्मभूमि' की तरह समाज-क्षेत्र की कोई 'स्ट्रेटेजी' नहीं है और न 'सेवासदन' की भाँति समाज-सेवा का स्पष्ट कार्य-क्रम है। इसमें केवल चित्र हैं और समस्याएँ हैं। नामकरण नहीं हैं; जिसे हल कह सकें, वह भी नहीं। चित्रों में रंग है; वे सजीव हैं। वे उठते हैं और बोलते हैं। इस महा-प्राण लेखक ने उनके अन्दर चेतना और अपना रंग भरा है।

होरी नामक एक साधारण किसान के चारों ओर इस चित्र का विस्तार है। होरी औसत भारतीय किसान का एक सच्चा—sincere—चित्र है। आरंभ से उसका जीवन संघर्षों की एक माला है। संघर्ष में आरम्भ होता है और संघर्ष में ही उसका अन्त हो जाता है। एक दुःख सुलझा नहीं पाता कि दूसरा आ जाता है। वह अंत तक ऋणों से लदा हुआ, छोटी-छोटी कामनाओं में भी विफल है, परन्तु उसमें भारतीय ग्रामीण जीवन का 'मानवीय स्पर्श' भी है। वह संस्कारों और कुसंस्कारों, आशाओं और निराशाओं, असंतोष और संतोष, विरक्ति एवं अनुरक्ति से पूर्ण होकर सतत अपने कर्म-मार्ग पर चल रहा है।

मेरा अपना ख्याल है कि कोई भारतीय उपन्यासकार हमारे ग्रामीण जीवन से उतना परिचित नहीं है जितना प्रेमचन्द हैं। सच पूछें तो यह उनका अपना क्षेत्र है और वह ग्रामीण जीवन के एक जातीय चित्रकार हैं। प्रेम के घात-प्रतिघात का चित्रण उनमें शरच्चन्द्र-सा नहीं मिल सकता। उनका समग्र जीवन 'रोमांस' से दूर रहा है। उनकी रचनाओं में सर्वत्र एक प्रकार का ग्रामीण वातावरण (Rural atmosphere) है; कृत्रिम नागरिकता (urbanity) कम है। जो है वह ग्रामीण सरलता में ओत-प्रोत है। जहाँ उनके पात्र एवं चरित्र नागरिकता की सतह से लिए गये हैं वहाँ भी उनमें एक प्रकार की विचित्र सरलता और सच्चाई (earnestness) है।

गोदान हमारे ग्रामीण जीवन का एक अत्यन्त जीवित एवं मनोहर चित्र है। इसमें ग्रामीण जीवन की आशा है, निराशा है; त्याग है, भोग है; प्रेम है, द्वेष है; सरलता है, कुटिलता है। इसमें हमारे ग्रामीण दाम्पत्य जीवन का सरल, कर्तव्य के सूत्र में जीवन के साथ बँधा हुआ प्रेम है; यौवन का विनोद है; यौवन का उल्लास है। इसमें गृह-कलह है और फिर उसी कलह का परिमार्जन है। निराशा और अंधकार से भरे हुए इस ग्रामीण जीवन के 'बैक ग्राउण्ड'—पार्श्वभूमि—पर नागरिकता का विनोद, समाज सेवा, शिक्षा, वाणी-विलास सब अपने अहंकार के साथ खड़े हैं। उस अंधकार में इनका प्रकाश कोढ़-सा चमकता है। हम नागरिक सभ्यता की सुविधाओं और आकर्षणों के बीच प्रलुब्ध नहीं हैं; ग्रामीण जीवन के अंधकार में हमारा दम घुटता है, पर उतना नहीं जितना इस कृत्रिम नागरिक सभ्यता के प्रकाश में। अपने सारे दुर्गुणों और दोषों के साथ भी ग्रामीण जीवन का अपना सत्त्व है, अपना व्यक्तित्व भी है; जब इस नागरिक जीवन का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं।

इस गोदान में प्रेमचन्द ने हमें पुनिया, धनिया, झुनिया, सिलिया, चुहिया के जो जो चित्र भेंट किये हैं वे अत्यन्त सजीव हैं और अपनी स्थिति के पूर्ण प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार होरी, भोला, दातादीन, झिंगुरी सिंह, नोखेराम, मँगरू साह और परमेश्वरी प्रसाद ग्रामीण जीवन के विविध अंगों (Ingredients) के प्रतिनिधि हैं। इनके साथ मालती के रूप में आधुनिकता के प्रकाश में बढ़ती हुई नारी है जो अंत में मेहता के रूप में बलिष्ठ पौरुष (Vigorous Manhood)

को आत्मदान करती है। इनके साथ श्रीमती खन्ना प्राचीन नारी की बफ़ादारी का स्मृति-दीप जलाये चल रही हैं। राय साहब एक परिस्थिति एवं संस्कार से प्रभावित पर सदेच्छु ज़मींदार के प्रतिनिधि हैं। व्यक्तिगत अहंकार समष्टि के हित में आत्मार्पण करने में बाधक होता है। मेहता एक उद्दाम, तेजस्वी, पौरुष से भरे हुए जीवन की फ़िलासफ़ी का प्रतिनिधि है। यह एक शासक (Domineering) पुरुष के व्यक्तित्व का चित्र है, पर उसकी फ़िलासफ़ी पर पश्चिम के अनात्मवाद का जो प्रभाव है वही उसकी अपूर्णता है और उसीने उसे दाम्पत्य जीवन के प्रति एक तेजस्वी दृष्टिकोण देकर भी नारी (मालती) के प्रति आवेग की सृष्टि की है। होरी, मालती और मेहता इस उपन्यास की जान हैं।

गोदान को हम एक सम्पूर्ण—अपने में पूर्णता लिये हुए चलनेवाला चित्र तो नहीं कह सकते, परन्तु अपने 'ब्लैक ऐंड ह्वाइट' में वह असाधारण है। उसकी अपूर्णता में पूर्णता के प्रति एक आकांक्षा है, एक संकेत है। अपूर्ण इसलिए कि इसका होरी व्यक्ति के सत्य से बहुत हटा-सा है ; उसकी पराजय में व्यक्ति की आत्मा की विजय का संदेश नहीं है जैसा कि 'रंगभूमि' में है ; यहाँ होरी मुख्यतः अवांच्छनीय समाज-व्यवस्था का एक अंग और यंत्र हो उठा है। परन्तु प्रेमचन्द एक लोक-संग्रही मानव थे इसलिए यदि ऐसा न करते, तो अपने का इन्कार—'डिनाई'—करते। साम्यवाद की उठती लहरों के बीच उनका संग्राहक (Receptive) मन उससे बिल्कुल अछूता रहने को तैयार न हो सकता था।

पर गोदान ने किया यह है कि हमारे सम्मुख एक दर्पण लाकर रख दिया है। इसमें हम अपने को, अपनी परिस्थिति को देखते हैं और अपना भयावना रूप देखकर सिहर उठते हैं। यह रूप-दर्शन हमारी तीव्र आत्मवंचना का स्वप्न भग कर देता है और हम लज्जा और ग्लानि से भरे हुए सोचते हैं कि यह हम क्या हो गये हैं। बस यही गोदान की सफलता है। वह हमें अपने सामाजिक जीवन के सामने लगे हुए महान् प्रश्न-चिह्न का उत्तर देने के लिए एक विचार-प्रवाह जाग्रत कर देता है।

गोदान हमारे ग्रामीण जीवन के अन्धकार पक्ष का एक महाकाव्य है। हमारे कार्यकर्ताओं को यह प्रकाश देगा, हमारे पाठकों में अनुभूति और विचार पैदा करेगा। इसकी भाषा सुन्दर, चलती हुई भाषा है। उसमें बोझ नहीं है ; वह झरने की भाँति कल-कल करती, उछलती और कूदती हुई चलती है। मुहाविरों का ऐसा सुन्दर उपयोग करनेवाला, जीवन के अनुभवों को स्थान-स्थान पर, सुन्दर उपमाओं के बीच इतनी सफलता के साथ संक्षिप्त और घनीभूत करके रख देनेवाला, हिन्दी में दूसरा उपन्यासकार नहीं हुआ।

और सबसे बड़ी सेवा जो 'गोदान' कार ने की है वह यह है कि उन्होंने हमारे हिन्दी-जगत् के भावचक्र को ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध कर दिया है। यह जो हिन्दी का कथा-साहित्य केवल नगरों की प्रेमकुञ्जों में ही पनप रहा है, जहाँ कादम्बिनी-माला है, जहाँ बुल-बुल और गुल हैं, जहाँ बेला और चमेली के फूल हैं और खस की टट्टियों में मनुष्य ठंडा किया जा रहा है; जहाँ जीवन की प्रखर दोपहरी के दर्शन नहीं होते और प्रणय, खुली हुई स्वस्थ-वायु से भरी अमराइयों से दूर, थियेटरों एवं कॉलेजों की भीड़ में चोरी करता हुआ चलता है ; जहाँ केवल नाज़ है और नाट्य है और जीवन कर्तव्य और कर्म के मार्ग को भूलकर सस्ते प्रेम की गुलकारियों में भटक रहा है, वहाँ इस मृत, शिथिल और रसहीन मार्ग के प्रति विद्रोह करने का यश प्रेमचन्द को मिलना चाहिए। उन्होंने हमारे मदिरालय में शीतल जल का एक मटका लाकर रख दिया है, जिसे पीकर प्रेमोन्माद कम हो सकता है।

दूसरी बात—एक सुसंस्कृत भावना की प्रतिमूर्ति प्रेमचन्द में किसान, मजूर, विधवा, वेश्या, क्लर्क सम्पूर्ण पीड़ित वर्ग को 'एडवोकेसी' (वकालत) प्राप्त हुई है। और यह सब होते हुए भी भारतीय संस्कृति की मध्यरेखा से वह कहीं अलग नहीं हुए हैं। उन्होंने सदा विद्या पर मनुष्यता को और विज्ञान पर शिष्टता, उदारता, धर्म एवं नीति को तरजीह दी है। जहाँ उन्होंने नारी की वकालत की है वहाँ आधुनिक युग की तितलियों और मधुमक्षिकाओं के प्रति उनमें सूक्ष्म व्यंग भी है। उन्होंने जहाँ विज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता दिखाई है वहाँ उसके शोषण पर निर्दय प्रहार भी किये हैं। सदा उन्होंने विलास और भोग पर कर्तव्य एवं त्याग की श्रेष्ठता स्थापित की है।

प्रेमचन्द ज़िन्दाबाद !

[श्री रामवृक्ष बेनीपुरी]

क़रीब दस वर्ष पहले की बात ।

काशी । कम्पनीबाग़ के निकट का वह चौराहा । एक साधारण-सा व्यक्ति खड़ा । क़द, पोशाक, खड़ा होने का ढंग—सभी साधारण । सिर खाली । जिनमें विशुद्ध आर्यत्व की वंश-परम्परा-सूचक ललाई अभी नहीं खोई, वैसे अस्त-व्यस्त बाल, हवा के झोंके से उड़ रहे । ज़िन्दगी की कितनी धूपछाँहों के चिन्ह लिए गोरा चेहरा । ललाट में कितनी सीधी रेखाएँ—गालों पर कितनी सिकुड़न । बे-तरतीब-सी मूँछें । दाढ़ी मानो कई दिनों से नाई की प्रतीक्षा में । शरीर में कमीज़—जिसके ऊपर के दो बटन खुले हुए । एक हाथ में छाता । एक हाथ से कभी वह उड़-उड़कर ललाट से छेड़खानी करनेवाले बालों को सम्हाले, या बिगडैल मूँछों को । साफ़-सी दिखने वाली धोती । साधारण-सा ही जूता ।

वह उत्सुक आँखों से एक ऐसे एक्के की तलाश में हैं जिसपर सवारी की एक ही जगह बची हो और जो छावनी की ओर जाता हो ।

जब भाई शिवपूजनजी ने बताया कि यही हैं हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी, तब मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ । क्योंकि तब मैंने साहित्य-क्षेत्र में तुरत-तुरत पैर रखा था और इसे सोने और शहद से भरा-पूरा समझ रखा था । उपन्यास-सम्राट् और इस सीधे-सादे वेष में ! यह तो अब समझ रहा हूँ कि लक्ष्मी और सरस्वती की सौतियाडाह वाली नानी की कहानी में कितना सत्य है ।

इसके बाद लगभग दो वर्षों तक, प्रेमचन्दजी से प्रायः भेंट होती । मैं 'बालक' के सम्पादन और छपाई के सिलसिले में ज़्यादातर काशी ही रहता और प्रेमचन्दजी वहीं अपना सरस्वती प्रेस चलाते । प्रेस की हालत अच्छी नहीं थी । प्रेमचन्दजी उसे ठिकाने पर लाने के लिए काफ़ी मिहनत करते । दस बजे दिन से शाम तक पिले-से रहते । उस समय मेरा सम्बन्ध एक बड़े पुस्तक-प्रकाशक से था । मैं उन्हें काफ़ी काम देता । हम दोनों में कुछ ऐसी घनिष्ठता हुई कि एक बार सरस्वती-प्रेस का प्रबन्ध-भार मुझ पर लादने को भी वह तैयार हो गये थे । अभी उस दिन श्रीयुत प्रवासीलाल वर्मा जी ने जब पटना में भेंट की और इस प्रसंग की चर्चा की, मैंने कम विकलता अनुभव नहीं की । आह, यदि प्रेमचन्दजी की सेवा के उपयुक्त अपने को पा सकता ! मेरा ख़याल है, किसी अच्छे सहकारी या सेवक के अभाव के कारण अत्यधिक मिहनत और चिन्ता करने से ही प्रेमचन्द पर

मृत्यु का वार इतना जल्दी हो सका। सचमुच जब कभी सोचता हूँ कि प्रेमचन्द ऐसे कलाकार को भी तंगदस्ती और झंझटों से इतनी लड़ाइयाँ करनी पड़ीं, तब अपने साहित्य के विकास की अवस्था का अन्दाज़ा लगा पाता हूँ। उफ़, अभी हमारे लिए दिल्ली बहुत दूर है!

उस पहली मुलाक़ात से, क़रीब-क़रीब उनकी मृत्यु के कुछ दिनों पहले तक, मेरी उनकी अच्छी जान पहचान रही। खत किताबत रही और जब-तब उनके दर्शन भी कर आता।

पहले मैंने घनिष्ठता की चर्चा की है, किन्तु मेरी घनिष्ठता सदा घनिष्ठता रही, जो किसी देवता और उसके पुजारी में होती है। मैं उन्हें हिन्दी की, जो अभी पूरी विकसित भी नहीं हो पाई, कला का साक्षात् अवतार मानता और उस कला के एक उपासक की तरह इस अवतार की मानसिक पूजा करता। यही कारण है कि मैं उनके मित्र की तरह उनके दिल में बैठकर उन बातों को नहीं ले पाया, जिनके आधार पर उनके मनस्तत्व की अच्छी-सी तस्वीर खींच सकूँ। उनके बारे में मैं ज़्यादा-से-ज़्यादा जो कह सकता हूँ, वह यही कि साधारण-सा देख पड़नेवाला यह आदमी, आदमी की हैसियत से भी, साधारण नहीं था। उसकी इस साधारण-सी सूरत-शकल के अन्दर एक महान् आत्मा छिपी थी। आप उसे गुदड़ी में लाल कहो, या मेरी भाषा में, राख से ढँकी चिनगारी कहो। सभी महान् पुरुषों की तरह वह सीधा-सादा था, इसीलिए वह इन झंझटों में रहा, लोगों ने उससे फ़ायदे उठाये, उसे धोखे तक दिये—वरना, वह भी एक ठाठ की ज़िन्दगी बसर करता, दुनियवी नज़रें उसकी चकाचौंध का लोहा मानतीं। किन्तु उसके इस सीधेपन में एक बाँकपन भी था—जो सभी असाधारण पुरुषों में पाया जाता है। इसी बाँकपन ने उसे समाज, सरकार और पूँजीवाद से दो-दो मोर्चे लेने को प्रेरित किया। उसके हाथ में क़लम थी, तो क्या हुआ? वह भोला था। जब उसने देखा, समाज उसके प्रेम-सम्बन्ध में बाधक हो रहा है, उसने उसे जम कर ठोकर लगाई। जब देखा, सरकार अनीति की राह पर धेधड़क बढ़ती जा रही है, उसने उससे सम्बंध-विच्छेद कर लिया। जब देखा, शुद्ध साहित्य के क्षेत्र में भी पूँजीवाद अपना विषैला प्रभाव जमाये जा रहा है, उसने उसके खिलाफ़ युद्ध किया। अपना प्रेस, अपना प्रकाशन। क्या वह इनसे पैसे बटोर कर मालामाल होना चाहता था? ग़लत बात। यदि यह कामना उसकी होती, तो आज 'सरस्वती-प्रेस' और 'हंस'-का कार्यालय किसी दूसरे ही रूप में होते। मैं वैसे लोगों को जानता हूँ, कि जो रद्दी चीजों का प्रकाशन करके लखपति बन गये। फिर प्रेमचन्द का क्या कहना? किन्तु यहाँ तो उसका बाँकपन था—टूट जाय, पर मुड़े नहीं—यह अड़, यह टेक!

× × ×

किन्तु, उसकी महानता, उसकी असाधारणता का सबसे बड़ा सूचक है उसकी कला। हिन्दी-साहित्य की विकास-धारा की दूरी जानने के लिए जो कुछेक 'मील के पत्थर' हमें गिनने पड़ते हैं। उनमें एक को, जो हमारे सबसे निकट का है, हम प्रेमचन्द के नाम से अभिहित करते हैं। हमारे हिन्दी के इतिहास-लेखकों ने हमारे साहित्य के काल-निर्देश में मनमाने ढंग से काम लिए हैं। उसकी कोई वैज्ञानिक भित्ति नहीं। साहित्य हमारे समाज का दर्पण है। सरह (हिन्दी के आदि-कवि) से लेकर आज तक का हमारा साहित्य इस दस-बारह सौ वर्षों के हमारे समाज की जीती-जागती तस्वीर है। समाज (इस महान् शब्द 'समाज' के अभ्यन्तर देश भी निहित है) जिस तरह सोया, जिस तरह करवटें बदलीं, कभी उठा, कभी फिर चादर तानकर सो गया। ठोकरों ने जिस तरह उसे फिर जगाया और आज वह जिस कशमकश में है, सबके अलग-अलग चित्र हमारे साहित्य में भरे पड़े हैं। सरह, चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण, हरिचन्द, प्रेमचन्द— जिस दिन आप अपने साहित्य का काल विभाग वैज्ञानिक भित्ति पर करेंगे, इन्हीं को आधार मानकर

आपको चलना पड़ेगा। सरह—हमारा समाज बौद्धधर्म से हटकर तंत्रवाद का पूजक है, दुनिया-रहस्यमय, सबसे रहस्यमयी नारी। चन्द—बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया रूप क्षात्रधर्म, किन्तु विलासिता साथ साथ। तुलसी—नश्वरता पर भक्ति का पुट। सूर—भक्ति में श्रृंगार का पुट। बिहारी—श्रृंगार ही श्रृंगार, यानी विलास का घोर दौरदौरा। भूषण—फिर एक जागरण, किन्तु क्षणिक, विलास बना रहा। हरिश्चन्द—एक नई शक्ति ने नई ठोकरें लगाईं, 'जागो जागो रे भाई' की पुकार! प्रेमचन्द—हमारे पीड़ित समाज में एक नये वर्ग की अगवानी की सूचना। और, चूँकि यह नया वर्ग एक बिल्कुल नये समाज के पुनर्गठन की सूचना देता है, अतः इनमें भी प्रेमचन्द की महत्ता कहीं अधिक व्यापक है। सरह से लेकर हरिश्चन्द्र तक यद्यपि कितने उत्थान-पतन हुए हैं किन्तु इनका नेतृत्व एक ही वर्ग के हाथ में रहा है। प्रेमचंद की रचनाएँ एक बिल्कुल नये वर्ग के नेतृत्व का आभास देती हैं। अतः यह भी सम्भव है कि जब कुछ शताब्दि बाद हिन्दी का इतिहास लिखा जाय तो हमारे साहित्य को दो ही भागों में बाँटा जाय, एक वह जिसका प्रारम्भ सरह से होता है और दूसरा वह जिसका प्रारम्भ प्रेमचंद से होता है।

मैं जानता हूँ, कुछ लोग मेरे इस काल-विभाग पर नाक-भौं सिकोड़ेंगे; कुछ लोग कहेंगे, प्रेमचन्दजी के बारे में यह अतिशयोक्ति मैं उनकी मृत्यु-जनित भावुकता के कारण कर रहा हूँ। मैं मानता हूँ, प्रेमचन्दजी के प्रति मेरी भक्ति भावुकता से ख़ाली नहीं है। भावुकता को मैं ऐसी बुरी चीज़ नहीं मानता कि अपने को इससे बचाऊँ। मैं यह भी मानता हूँ, उनकी मृत्यु ने मुझे बहुत ही मर्माहत किया। किन्तु यह निश्चय जानिये, मेरा उपर्युक्त कथन, भावुक भक्त की आवेश-वाणी मात्र नहीं, उसमें तथ्य है। हाँ, इस तथ्य को जानने के लिए आपको साहित्य, कला, नीति, आदि को एक नई नज़र से देखना—परखना होगा। पर, यह स्थान नहीं कि उस नुक़्ये नज़र के बारे में कुछ विस्तार से कह सकूँ।

संक्षेप में यों समझिये। हमारे हिन्दी-साहित्य का जन्म उस समय हुआ जब भारत सामन्त-शाही युग से गुज़र रहा था। संयोगवश देशी सामन्त-शाही बहुत बिखरी, ढीलीढाली थी। कुछ विदेशी कबीले इस पर टूटे। दोनों लड़े। विदेशियों की विजय हुई। किन्तु, जहाँ उनकी तलवार जीती, वहाँ हारे हुए लोगों की तहज़ीब ने उन पर विजय प्राप्त की। तहज़ीब—सामंत-शाही तहज़ीब। कुछ दिनों तक दोनों में खूब घुटा। पर फिर कशमकश शुरू हुई—इतने ही में एक तीसरा कूद पड़ा। वह इन दोनों से मज़बूत था, क्योंकि वह उनके युग से गुज़र कर आगे के युग में पैर रख चुका था—यानी, यह तीसरा, सामंतशाही के बाद के वर्ग (पूँजीशाही) का प्रतिनिधि था। पूँजीशाही जीती, सामंतशाही हारी। पूँजीशाही के दौरदौरे शुरू हुए। इसने सामन्तशाही की ठठरी कहीं कहीं भले ही रख छोड़ी हो—(जैसे बिहार, बंगाल, यू० पी० में) किन्तु उसने उसका सत्त ज़रा भी नहीं छोड़ा। यही नहीं, इस पूँजीशाही का पेट केवल इतने ही से नहीं भर सकता था—इसने आम शोषण शुरू किया। जिसका फल हुआ देश में ऐसे दो वर्ग का उदय, जो थे तो अनादि काल से ही किन्तु जिनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया था। पूँजीशाही जिस प्रकार सामन्तशाही की ही पितृ-भक्त औलाद है, उसी तरह यह मजूर-किसान वर्ग पूँजीशाही की पितृ-घाती सन्तान है।

अब अपने साहित्य को देखिये। वह आज तक सामन्तशाही को ही केन्द्र-बिन्दु मानकर अपना क्रीड़ा-कौतुक देखाता रहा। चाहे हम किसी दशरथ राजा के बेटे की गाथा गायें या किसी शाहाजी के पुत्र शिवाजी की, पृथ्वीराज हों या अकबर, थे तो एक ही वर्ग के। कामुक जयपुर नरेश हों या काशी के कोई महाराज, या न कोई मिला तो स्वयं बेचारे श्रीकृष्ण तो हैं ही, उन्हीं

के सिर पर खेल लीजिए। पर इन्हीं सब के बीच एक ही वर्ग का सिलसिला है, स्थान, काल, पात्र से थोड़े विभेद के अनुसार। किन्तु, इस युग का तो खात्मा हो गया। अब तो युग पूँजीशाही का है। पूँजीशाही का यश गाइये या उसकी विद्रोही सन्तान किसान-मजूर का। यदि आप प्रगतिशील हैं, तो आप किसान मजूर को ही अपना पात्र बनायेंगे। प्रेमचन्दजी ने यही किया। यही उनकी कला की सब से बड़ी खूबी है, जो उन्हें सदा के लिए अमर रखेगी। इस दृष्टि से देखिये, तभी आपको यथार्थ रूप में मालूम हो सकेगा, प्रेमचन्द कितने महान्, कितने असाधारण थे। आप उन्हें साहित्यिक नवयुग का अग्रदूत मज़े में कह सकते हैं।

× × ×

और, जब आप यह देखेंगे कि इस वर्ग के इस प्रथम कलाकार ने ही अपनी कला को कितनी मोहक, आकर्षक और रंगीन बना पाया, तब तो आपको और भी ताज्जुब होगा। जिन्हें हम गूँगा मूक समझते थे, उन्हें उसने ज़ुबान दी; जिन्हें हम अंधा सूर समझते थे, उसकी आँखों में उसने नूर बख्शी। झोंपड़ियों की कौन बात, खेत की मेंड़ पर बनी मड़ैयों तक को उसने बोलना, हँसना, प्यार करना, रोना सिखलाया। हमारे विविधता-पूर्ण समाज की इस निचली तह में भी विविधता की कमी नहीं, प्रेमचन्द की कला ने स्पष्ट कर दिया। उनकी कहानियाँ देखिये, पता चल जायगा। उनकी अन्तिम रचना 'गोदान' के एक-एक पात्र—स्त्री और पुरुष—इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ग़रीबों के भी दिल होते हैं, वे भी प्रेम करते हैं, प्रेम के लिए कुर्बानियाँ करते हैं; उनमें भी सहानुभूति और समवेदना होती है, जो धनियों की सहानुभूति और समवेदना की तरह उथली, केवल ज़ुबान की नहीं होती। उनमें भी मान और सम्मान का ख्याल होता है और उस पर आघात किया जाय, तो जान लड़ाकर भी उसकी रक्षा वे करेंगे। हाँ, जिन्हें हम नर-कंकाल समझते हैं, उनमें भी जोश है, गरम खून है, प्रतिरोध की भावना है, लड़ने की ताक़त है, बलिदान का माद्दा है—इत्यादि बातें आप प्रेमचन्दजी की कला में भरी पड़ी पायेंगे।

प्रेमचन्द उस युग में हुए, जब हमारा समाज, हमारा देश एक बड़े संक्रान्ति काल से गुज़र रहा है। बड़ी-छोटी शक्तियाँ आपस में टकरा रही हैं, जिनकी टक्कर वायुमण्डल को बेतरह विक्षुब्ध किये हुए है। कभी एक ख़ास जगह में, एक महाभारत हुआ। आज तो ऐसे महाभारत, संसार को छोड़िये, हमारे देश के कोने-कोने में हो रहे हैं। इन महाभारतों के सजीव चित्रण के लिए हमें एक वेदव्यास चाहिए था। प्रेमचन्द हमारे इस युग के वेदव्यास थे। 'सेवा-सदन' से 'गोदान' तक पढ़ जाना, हमारे इस युग के इतिहास को पढ़ जाना है। वैसा इतिहास, जो तारीखों और व्यक्तियों पर निर्भर न करके, उस अन्तर्धारा का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ़ है।

उस साधारण झुर्रीदार चेहरे के अन्दर, बेतरतीब मूँछ और कुछ उभड़ी-सी भवों के बीच, जो मामूली आँखें थीं, वे कितनी सूक्ष्मदर्शी, पारदर्शी थीं। इसका पता तब लगता है, जब हम उनके पात्रों पर विचार करते हैं। राजकुमार से लेकर भिखमंगों तक, खूंखार सरहदी से लेकर भोलेभाले यू० पी० के किसान तक, खानाबदोश जिप्सियों की शोख औरतों से लेकर शत-शत आँखों पर नृत्यशील नर्तकियों तक—अजी, केवल मानवों की क्या बात घोड़ों, बैलों तक को उसने अपनी रचनाओं के पात्र बनाया किन्तु उनका चरित्र-चित्रण कितना सच्चा, कितना स्वाभाविक, कितना योग्य हो गया है। पूँजीपति, जमींदार, किसान, मज़दूर, हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान; बूढ़ा, जवान, बच्चा; खोमचेवाला, कलन्दर, सँपेरा; दानी-सूम, राजा-रंक, गृहिणी-भिखमंगिन, ब्राह्मण-चमार; होली-ईद, अट्टालिका-झोपड़ी—जो जहाँ है, अपनी जगह पर है, अपनेपन के

साथ है। कहीं भी अस्वाभाविकता, बनावट का नाम नहीं। यदि इस दृष्टि से देखिये, तो वह संसार के कलाकारों में अपनी एक ख़ास जगह रखता है।

प्रेमचंद को, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल कलाकार का नहीं, एक योद्धा का जीवन भी व्यतीत करना पड़ा। उसका बहुत-सा समय इस युद्ध में ही बीता। जब मैं दस बजे से पाँच बजे तक उसे प्रूफ देखते, या प्रेस की दूसरी झंझटों को सुलझाते देखता, फिर उसकी रचनाओं को देखता, मुझे आश्चर्य होता, वह कब समय बचाता है जो इतना लिख पाता है। ज़िन्दगी में उसका ऐसा बहुत कम समय बीता जब एकमात्र साहित्य-निर्माण ही उसका पेशा हो। कभी स्कूल-मास्टरी, कभी प्रेस-मैनेजरी, कभी सम्पादकी, कभी पत्र-संचालन, कभी फिल्म-निर्माता, यों सदा किसी न किसी पेशे में वह जुता रहा। तोभी, यदि उसकी कृतियों को आप परिमाण (Quantity) के ख्याल से भी देखिए तो आश्चर्य होगा। मालूम होता है, उसके इस छोटे शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा साक्षात् प्रतिभा था। यों तो उसकी स्वतंत्र, मौलिक रचनाएँ भी आजकल के हमारे किसी साहित्यकार की कृतियों से, परिमाण के ख्याल से भी, बाज़ी मार सकती हैं, फिर यदि हम उसमें उसके द्वारा अनूदित और संकलित ग्रन्थों को भी जोड़ दें तो वह अनायास ही बेजोड़ बन जाता है।

प्रेमचंद अपने उपन्यासों और कहानियों के लिए मशहूर है। कुछ लोगों का कहना है, उपन्यासों की अपेक्षा वह कहानी लिखने में ज़्यादा सफल हुए। योंही कुछ लोग कहा करते हैं कि उनकी कुछ चीज़ें बहुत ही शिथिल और उनके नाम के अनुरूप नहीं। पहली बात का जवाब देना फ़िज़ूल है—यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई छोटी चीज़ें पसन्द करता है, किसी की तृप्ति बड़ी चीज़ों से ही होती है। हाँ, एक बात और भी है। प्रेमचंद के प्रायः सभी उपन्यास समस्या-मूलक हैं। हमारी समस्याओं को लेकर उन्हें उनके यथार्थ रूप में दिखाना, उन समस्याओं के चलते उत्पन्न हुई गुत्थियों को अलग-अलग करके समझाना और फिर उन गुत्थियों के सुलझाव का अपना एक तरीक़ा पेश करना—प्रेमचंद के प्रायः सभी उपन्यासों का यही मूल उद्देश्य है। दृष्टिकोण के भेद से समस्याओं के रूप, फल और सुलझाव के बारे में भिन्न-भिन्न रायें हो सकती हैं; उन रायों की विभिन्नता से उपन्यासकार के प्रतिपादन-प्रणाली पर हमें सहानुभूति या विरक्ति भी हो सकती है। फलतः उन उपन्यासों के बारे में रायें भी अलग-अलग हो सकती हैं। किन्तु उपन्यासकार की सफलता उसकी कृतियों के 'विषय' पर निर्भर नहीं माननी चाहिए, उसकी सफलता की मुख्य कसौटी है 'चरित्र-चित्रण।' 'सुमन' (सेवासदन), 'सूरदास' (रँगभूमि) या 'होरी' (गोदान) की ज़िन्दगी की फिलासफ़ी पर मत जाइए, देखिए, जहाँ जिस रूप में इनके कार्य हुए हैं, उनमें अस्वाभाविकता तो नहीं है। और, इसमें भी एक बात तो खयाल में रखिए ही कि प्रेमचंद 'कला कला के लिए' वाले बेसिर पैर के जीव नहीं थे, वे आदर्शवादी लेखक थे, अतः साधारण कमज़ोरियों से अपने पात्रों को ऊपर उठाए रखना उनका कर्तव्य था।

अब दूसरी बात पर आइये उनकी कुछ रचनाएँ मामूली हैं। मैं भी इस बात को मानता हूँ। कभी-कभी मुझे भी इस बात पर झिझक हुई है। किन्तु, इसमें एक बात याद रखनी है कि प्रेमचन्दजी को किस परिस्थिति में रह कर ये रचनाएँ रचनी पड़ीं। एक तरफ़ जीवन-युद्ध की वह झकझोर, दूसरी ओर आवश्यकताओं की चाबुकबाज़ी और तीसरी, मानो जले पर नमक, मेरे आपके ऐसे वे लोग जो अपनी पत्र-पत्रिकाओं के नाम और गरिमा को ऊपर उठाये रखने के लिए, उन्हें मुफ़्त लिखने को, तकाज़े के मारे नाकों दम किये रहते। यदि आप उच्च कोटि की चीज़ें ही चाहते हैं, तो पहले अपने कलाकारों की ज़िन्दगी को तो ऊँचा उठाइये, केवल थोथे आलोचक

बनने से क्या होगा ? प्रेमचन्द ही की क्या बात—आज हिन्दी जगत में दो चार को छोड़कर, अन्य कलाकारों की जो हालत है, यदि उस पर ध्यान दिया जाय, तो रोंगटे खड़े हो जायँ। धन्य मानिये जो इतने पर भी कुछ अच्छी चीज़ें आपको मिल जाती हैं !

प्रेमचन्द की कला, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, हमारे साहित्य के उस क्षेत्र में प्रवेश करने की सूचना है, जो अब तक अछूता रहा। यदि हम पारिभाषिक शब्दों की शरण लें, तो प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम जन-साहित्य-निर्माता थे। हमारा साहित्य आज तक जमातों (Classes) का चरण-चुम्बन करता रहा, अब वह जनता (Masses) को अपना जीवन-संगी बनाने जा रहा है। प्रेमचन्द हमारे साहित्य के इस महान् विच्छेद (Great departure) के स्तूप थे। इस बात ने जहाँ उन्हें साहित्यिक विकास के इतिहास में एक अनुपम स्थान दे रखा है, वहाँ, इसके चलते उनकी रचनाओं में एक गड़बड़झाला भी है, जिसे हम लोग, जो उनके साहित्यिक वंशधर हैं, नहीं भूलें। स्वभावतः और मुख्यतः प्रेमचन्दजी जन-साहित्य के निर्माता थे, किन्तु उनकी रचनाओं में हम सामन्तशाही युग की कुछ अस्फुट झलक भी पाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हमारी जनता में अब तक की चेतना उतनी प्रस्फुटित नहीं हुई और न हम जन-सेवियों का आदर्शवाद ही उतना निखर पाया है कि इसके पूर्व युग के अवशिष्टांश की कोई छाया हम पर न पड़े। अतः हमारी रचनाओं में कुछ ऐसा गड़बड़झाला होना कोई ग़ैरमामूली बात नहीं। मैंने स्वयं प्रेमचन्दजी से इसकी चर्चा की थी, उन्होंने अपनी नई रचना 'गोदान' तक प्रतीक्षा करने को मुझे आदेश दिया था। 'गोदान' निस्सन्देह ही, इस दृष्टि से, उनकी पूर्व रचनाओं पर तरजीह पाने योग्य है, किन्तु वहाँ भी वह 'निखार' नहीं। जो लोग जन-साहित्य के निर्णय में प्रेमचंद जी के पद-चिह्नों पर चलने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि अपने उस महान नेता के अधूरे काम को उसके अनिवार्य परिणाम तक पहुँचाएँ।

यहाँ एक बात की और चर्चा कर देना ज़रूरी है। वह है भाषा के बारे में। प्रेमचन्द ने हमें केवल जनता का साहित्य ही नहीं दिया, वरन् वह साहित्य कैसी भाषा में लिखा जाना चाहिए, उसका भी पथ-निर्देश किया है। जनता द्वारा बोले जाने वाले कितने ही शब्दों को, उनकी कुटिया-मड़ैया से घसीट कर वह सरस्वती-मन्दिर में लाये और योंही, कितने अनधिकारी शब्दों को, जो केवल बड़प्पन का बोझ लिए हमारे सिर पर सवार थे, इस मन्दिर से निकाल बाहर किया। हमें इस पथ पर भी आगे बढ़ना है।

× × ×

यों चाहे जिस दृष्टि से देखिये—साहित्य में नवयुग के निर्माता के रूप में, उत्कृष्ट कोटि के कलाकार के रूप में, साहित्य-भंडार को बड़े परिमाण में पुष्टिकारक के रूप में, प्रेमचन्द महान् थे, अति महान् थे। कोई भी साहित्य उनके ऐसे सुपूत को पाकर अपने को धन्य, कृतकृत्य मान सकता था और उसको अपनी हथेलियों पर लेकर इतराये फिर सकता था। किन्तु, खेद है, उन्होंने एक ऐसे साहित्य के लिए अपने को निछावर किया, जहाँ गुटबन्दों, मक्कारों और उजड्डों का बोल-बाला है, जिन्होंने उनको पूर्ण रूप से सम्मानित ही नहीं होने दिया, यही नहीं, वरन् उन्हें तग किया, चिढ़ाया, कुढ़ाया। प्रेमचंद ने हिन्दी के साथ उर्दू भी लिखा। जब उर्दू वालों से मिलनेवाले उनके सम्मान को देखते हैं, तब तो अपनी इस भाषा और इसके भाषियों पर कुढ़न और चिढ़ होने से अपने को हम रोक नहीं पाते। प्रगतिशील लेखक संघ का हिन्दुस्तानी-सम्मेलन प्रयाग में हुआ था, जिसका सभापतित्व करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मैं वहाँ देख सका कि हमारे मुसलमान दोस्त प्रेमचंद की मृत्यु पर कितने दुखी हैं और उनकी स्मृति-रक्षा के लिए कितने उत्सुक। प्रगति-

शील-लेखक-संघ की एक बैठक जो दिल्ली में हाल ही हुई थी, उसमें भी अपने मुसलमान-दोस्तों की छटपटाहट इस बारे में देखी। प्रेमचन्दजी के मुँह से ही, उनके जीवन-काल में, जान पाया था कि बड़े-से-बड़े मुसलमान नेता उनकी क़दर कितनी करते थे। स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली प्रेमचन्दजी के बड़े प्रशंसकों में थे और उनसे सदा ख़त-किताबत रखते थे।

किन्तु, अब ज़रा हिन्दी—अपनी इस 'राष्ट्रभाषा' की ओर आइये। हमारे साहित्य-क्षेत्र में सम्मान-प्रदर्शन के दो मौक़े हैं—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व और मंगला प्रसाद पारितोषिक। प्रेमचन्दजी इन दोनों से महरूम रखे गये—नाना तरह के प्रपंचों और बेइमानियों की शरण कुचक्रियों ने इसके लिए ली। राजनीति में जातपाँत का विष तो जर्जर और मुमूर्षु बना ही रहा है, साहित्य में भी इसका कितना कुप्रभाव है यह मैंने प्रेमचन्दजी के ही प्रसङ्ग में देखा। मेरे यू० पी० के दोस्त—खासकर प्रयाग के दोस्त माफ़ करें, उन्होंने जो इस सम्बन्ध में पाप किये हैं। उसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है। मेरे कानों में वह वाक्य गूँज रहा है, जो हिन्दी-सम्मेलन के एक बड़े अधिकारी ने, ब्राह्मण होते हुए, मुझसे कहा था—'बेनीपुरीजी, आप इन कायस्थों के चकमे में आते हैं, आप तो ब्राह्मण ठहरे !' उफ़, कहाँ सरस्वती का सात्विक मन्दिर और कहाँ यह ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि का भेद-भाव।

यों जिन्दगी भर तो उन्हें, 'भारतीय आत्मा' के शब्द में, 'उपेक्षित' रखा ही गया, उनकी मृत्यु के बाद भी उनकी स्मृति-रक्षा के लिए हमने क्या किया। देश पूज्य बाबू राजेन्द्र प्रसादजी की इच्छा रहते हुए भी उनके सभापतित्व काल में सम्मेलन अपने केचुल को नहीं छोड़ सका। आँसू पोछने के लिए प्रेमचन्द दिवस मनाया गया, किन्तु वह भी बिना किसी खास कार्यक्रम का, मानो बेगारी टाल दी गई।

किन्तु हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ही तो सब कुछ नहीं है। प्रेमचन्द के प्रशंसकों का कर्त्तव्य है, कि वे स्वतन्त्र रूप से कुछ करें। श्रीयुत जैनेन्द्र कुमारजी और 'आज'-सम्पादक पराड़करजी के संयुक्त मन्त्रित्व में एक ऐसी संस्था बनी थी। किन्तु, साफ़ कहने के लिए माफ़ किया जाय—जैनेन्द्रजी की स्वप्न-दर्शिता और पराड़करजी की सम्पादन-व्यस्तता के कारण यहाँ भी कुछ नहीं किया जा सका। यों तो प्रेमचन्दजी को जल्दी भूला नहीं जा सकता, किन्तु स्मृति-रक्षा के लिए मृत्यु के बाद ही सचेष्ट होने से कार्य-सम्पादन में सहूलियत होती है—भावावेश में लोग जी खोलकर सहायता करते हैं। हमने वह मौक़ा खो दिया, यह अफ़सोस की बात है।

पर देर होने पर भी यह काम तो हमें करना ही है। जैसा कि पहले कह चुका हूँ, प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक हाल ही में हुई थी। उसमें प्रेमचन्द-स्मृति-रक्षा के बारे में विस्तार से बातचीत हुई और अन्त में इसके लिए तीन आदमियों की एक समिति बनाई गई, जिसमें एक मुझे भी रखा गया है। मेरा ख्याल है कि प्रेमचन्दजी के प्रशंसकों एवं इस समिति में काफ़ी सहयोग होना चाहिए और मिलजुल कर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि जो देर हो चुकी सो हुई, अब तत्परता से कार्य शुरू हो।

स्मृति-रक्षा का क्या रूप हो ?

मैं सबसे पहले कह दूँ, जैनेन्द्रजी की जो स्कीम सर्वेंटस ऑफ इन्डिया या पीपुल सुसाइटी की तरह एक साहित्यिक संस्था प्रेमचंद जी की स्मृति में कायम करने की है, मैं उसका विरोधी हूँ। किन्तु, अपने विरोध के कारणों पर मैं ज़्यादा स्थान नष्ट नहीं करना चाहता। मैं अपनी योजना ही प्रेमचंद के प्रशंसकों और पूजकों के निकट रखता हूँ।

सबसे पहले तो प्रेमचंद की रचनाओं का जनता में अधिकाधिक प्रचार करने की कोशिश होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक यह है कि प्रेमचंद जी की कृतियों का सस्ता-से सस्ता संस्करण निकलना चाहिए। दूर की बात जाने दीजिए, बँगला में ऐसे प्रयत्न सफलता पूर्वक किए गए हैं, दो-ढाई रुपए में हम बँगला के उत्कृष्टतम लेखकों की पूरी कृतियाँ मज़े में प्राप्त कर ले सकते हैं। प्रेमचंद की कृतियाँ, परिमाण के ख़याल से भी, बहुत व्यापक हैं। अतः, हम सहूलियत के लिए उन्हें कई भागों में निकाल सकते हैं—एक भाग में उनके सभी उपन्यास; दूसरे भाग में उनकी सभी कहानियाँ, तीसरे भाग में उनके लेखों, व्याख्यानों आदि का संग्रह; चौथे भाग में उनके द्वारा अनूदित सभी चीज़ें। एक भाग ऐसा भी निकाला जाना चाहिए जिसमें प्रेमचंदजी की पूरी जीवनी, उनके प्रति लोगों की श्रद्धांजलि, उनकी कला की ख़ूबियों पर अच्छे-अच्छे लेख आदि हों। यदि हमने यह कर लिया, तो प्रेमचंदजी की स्मृति रक्षा का आधा काम कर लिया।

प्रगतिशील लेखक संघ ने एक बात और सोची थी। हम चाहते है कि 'प्रेमचंद-पुरस्कार' के नाम से एक ख़ासी रक़म का सालाना पुरस्कार देने की व्यवस्था हो। यह पुरस्कार भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित कहानियाँ या उपन्यास की सर्वोत्तम पुस्तक पर दिया जाय। इस पुरस्कार के द्वारा हम लेखकों को उत्साहित करने के साथ ही साथ प्रेमचंदजी की कीर्त्ति को भी भारत-व्यापी बना सकेंगे।

प्रेमचंदजी की कुछ चुनी हुई रचनाओं का भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराकर उसके प्रकाशित करने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। यदि कोशिश की जाय, तो यह काम बहुत ही आसान है। प्रेमचंदजी की चीज़ों के अनुवाद करनेवाले या प्रकाशित करने वाले, आर्थिक दृष्टि से भी घाटे में नहीं रहेंगे। हाँ, इसमें सबसे बड़ी शर्त यह है कि चीज़ों के चुनाव में सावधानी की जाय और अधिकारी से अनुवाद कराकर उसे सजधज कर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाय। प्रगतिशील लेखक संघ के सहयोग से यह काम मज़े में हो सकता है, क्योंकि भारत की प्रायः सभी भाषाओं में उसकी शाखाएं हैं ही।

फिर, प्रेमचन्दजी के 'हंस' को चिरस्थायी बनाने का सामान तो होना ही चाहिए। 'हंस' जन-साहित्य के सन्देश-वाहक के रूप में हिन्दी-जगत् के कोने-कोने को अपनी वाणी से मुखरित और गुंजारित करता रहे। यह प्रेमचन्द का सबसे बड़ा स्मारक होगा।

'प्रेमचंद-मन्दिर' के नाम से एक सुन्दर भवन बनाकर उसी में हंस, सरस्वती-प्रेस, प्रेमचंद-ग्रंथावली और प्रेमचंद-पुरस्कार के दफ़्तर रखे जायँ।

और मेरा यह ख्याल है, यदि दो-तीन योग्य व्यक्ति, कम-से-कम दो वर्षों तक, अपना पूरा समय प्रेमचंद-स्मारक के लिए दें, तो इस योजना के पूरा होने में कोई भी सन्देह नहीं रहे।

हम प्रेमचंद की क़ीमत अब भी जान सकें, उसकी क़दर करने का शऊर हम में अब भी आये, उसकी स्मृति को हम सदा तरोताज़ा रखें और उसका पदानुसरण करें, इसी की कामना करता हुआ, मैं अपना यह लेख समाप्त करता हूँ! पदानुसरण—किसी भी महापुरुष की स्मृति-रक्षा की सबसे ज़रूरी शर्त यही है। जन-साहित्य के निर्माण में अपने को बलिहार करते हुए, हम अपने इस स्वर्गीय नेता की पदपद पर जयध्वनि करें। प्रेमचंद मरकर भी अमर हैं, वह युग-युग अमर हैं, बोलिये—

प्रेमचंद ज़िन्दाबाद!

मेरा भी कुछ खो गया है !

[डाक्टर धनीराम प्रेम]

जब तक रुपया हमारी जेब में रहता है तब तक हम उसे अच्छी तरह जानने की कोशिश नहीं करते। जो चीज़ हमारे निकट है, जो हमारी है, भला उसे भी क्या जानना ? लेकिन जब वही रुपया खो जाता है तो हम उसकी एक-एक बात याद करने की कोशिश करते हैं। उसका सन कौन-सा था, उस पर छाप किसकी थी, आदि सारी बातों की ओर हमारा ध्यान जाता है। यही बात स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के विषय में हुई। हिन्दी-संसार ने—और विशेषकर हिन्दी-साहित्यिक संसार ने—उनके जीवन काल में उनका मूल्य न जान पाया ; उनका वह आदर न किया, जो उनके योग्य था और जिसके करने से उसके करने वालों का ही गौरव दीखता। मुझे यह देखकर बड़ा कौतूहल और दुःख होता है कि आज जो उनकी प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं और चन्दे एकत्र करने आदि की बातें खूब ज़ोरों से कर रहे हैं, उनमें से बहुतों ने उनके जीवन काल में उन पर नीच से भी नीच लांछन लगाये थे और उनकी टोपी उछालने की कोशिश की थी। खैर, मैं ईश्वर से यही मनाता हूँ कि उनके भावों का परिवर्तन सच्चा और स्थायी हो।

बाबूजी के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्य, व्यक्तित्व, शिक्षा, गृहस्थी आदि कोई ही ऐसा पहलू शायद बच रहा हो, जिस पर पूर्ण प्रकाश न डाला जा चुका हो। परन्तु उनकी स्मृति में जितनी ही श्रद्धांजलियाँ चढ़ाई जायँ, थोड़ी हैं। मुझे उनके साथ रहने और उन्हें समझने का कई बार अवसर मिल चुका है। सन् १६२० में असहयोग के समय तक मैं उनके सारे उपन्यास और कहानियाँ पढ़ चुका था और उन्हें पढ़कर यह इच्छा बलवती हो गई थी कि उनसे भेंट करके उन्हीं की तरह कुछ लिखूँ। अलीगढ़ में असहयोग-प्रचार का कार्य करने के बाद किसी राष्ट्रीय विद्यालय में फिर से शिक्षा प्राप्त करने का विचार पैदा हुआ। सुना, कानपुर में मारवाड़ी विद्यालय के हेडमास्टर श्री प्रेमचन्द ही हैं। बस, वहाँ जाने का निश्चय हो गया। मैं समझता था, प्रेमचन्दजी बहुत बड़े आदमी होंगे। भला एक साधारण विद्यार्थी के पत्रों का उत्तर क्यों देंगे। परन्तु साहस करके एक पत्र लिख ही तो दिया और साथ में रख दी, एक अपनी लिखी हुई छोटी-सी कहानी। चार दिन बाद ही उत्तर आ गया और संशोधन के साथ कहानी भी। उत्तर में लिखा था, 'प्रियवर, तुम्हारे पत्र का उत्तर देने में दो दिन की देरी हो गई। वह इसलिए कि गांधीजी मेरे स्कूल में आये थे। तुम कहानियाँ अच्छी लिख सकते हो। मेरी सलाह है कि कुछ अच्छी अंगरेज़ी की कहानियाँ और उपन्यास समय मिलने पर पढ़ते रहा करो।' मुझे अच्छी तरह

याद है कि किस प्रकार मैं उस पत्र को अपने मित्रों को दिखाकर प्रेमचन्दजी के विशाल-हृदय की सराहना करता फिरता था। उस पत्र ने उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ा दी और वह शीघ्र ही मुझे कानपुर खींच ले गई। कानपुर में, मेरे दुर्भाग्य से, उनका साथ मुझे अधिक दिनों तक न मिल सका, क्योंकि थोड़े दिन बाद ही वे कानपुर छोड़कर बनारस चले गये और मैं जेल चला गया।

उसके बाद कई वर्ष योंही बीत गए। जब सन् १६३१ में मैं विलायत से लौटकर आया और 'चाँद' के लिए कहानी भेजने को एक पत्र लिखा, तो उत्तर आया कि, 'अरे, मैं नहीं जानता था कि अपना धनीराम ही 'डा० धनीराम प्रेम, लन्दन' है। तुम्हारी कहानियाँ पढ़कर कुछ खिंचाव होता था, लेकिन यह नहीं समझा था कि इसका कारण यह है।' उसके बाद बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा। 'चांद' में थोड़े दिन रहकर ही जब मैं बम्बई आ गया तो मैंने उन्हें लिखा कि मैं साहित्य से अलग होना चाहता हूँ। उसके उत्तर में उनका पत्र पहुँचा 'अरे भाई, कहीं यह हो सकता है कि इतने खेल खेल कर तुम साहित्य से आसानी से नाता तोड़ दो। मैं इस बात का अनुरोध करता हूँ कि तुम कमसे कम दो घंटे रोज़ साहित्य के लिए अवश्य दो।' और यह उन्हीं का अनुरोध था कि मैं अन्य कार्यों में फँसे रहने पर भी हिन्दी में कुछ न कुछ लिखता रहा हूँ। नहीं तो शायद अब तक मेरा सम्बंध हिन्दी-साहित्य से कभी का टूट गया होता। जहाँ तक मेरा ख़याल है, इसी प्रकार प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में दर्जनों नवयुवकों का प्रवेश कराया और उन्हें वहाँ जमाया। यह भी हिन्दी के लिए उनकी एक बड़ी भारी सेवा थी।

जब से उन्होंने कानपुर का मारवाड़ी विद्यालय छोड़ा था, तबसे हम दोनों ने एक दूसरे को देखा नहीं था। इस बात को लगभग १० वर्ष हो गए थे। मैं सुन रहा था कि किसी फ़िल्म कम्पनी के लिए कहानी लिखने के लिए प्रेमचन्दजी बम्बई आने वाले हैं। इसकी कोई सूचना उन्होंने स्वयं नहीं भेजी थी। एक दिन बड़े तड़के एक महाशय मोटर लेकर मेरे घर आए और कहा कि 'प्रेमचन्दजी आपको बुला रहे हैं।' कुछ विस्मय, कुछ हर्ष और कुछ संकोच के साथ मैं होटल की ओर चल दिया, जहाँ वे ठहरे थे। यह स्पष्ट था कि गाड़ीसे उतरकर होटल में सामान रखा ही गया था कि उन्होंने सबसे पहले मुझे ही बुलाया।

दस वर्ष के बाद फिर उनके दर्शन हुए। मुझे उनमें ज़रा भी परिवर्तन दिखाई न दिया। वही सादगी, वही मुसकराता हुआ मुख-मडंल, वही अट्टहास। समय ने शरीर पर चिह्न अवश्य बना दिए थे। मैं समझता था कि वे मुझे न पहचान सकेंगे, क्योंकि दस वर्ष में मैं बालक से युवक हो गया था और रहन सहन आदि में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। परन्तु वे मुझे देखते ही पहचान गए। पाँच छः दिन उनका साथ रहा। मारवाड़ी सम्मेलन तथा कई अन्य संस्थाओं की ओर से उनका स्वागत हुआ। मुझे लगभग सभी सभाओं में शामिल होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और यह देखकर मुझे अभिमान होता था कि अन्य भाषाभाषियों के हृदयों में भी उनका कितना सम्मान था।

उन्होंने 'सेवासदन' का फ़िल्म-अधिकार महालक्ष्मी सीनेटोन को दिया था। मैंने जब उनसे इस विषय पर वार्तालाप किया तो मेरा कहना था, 'आप इस सीनेटोन कं० को अपने सब से अधिक लोकप्रिय उपन्यास का अधिकार न दें। क्योंकि मैं नानूभाई वकील आदि को अच्छी तरह जानता हूँ। ये लोग आपकी कृति का सत्यानाश कर डालेंगे।'

कुछ देर तक वे चुप रहे। फिर बड़े दुःख के साथ बोले—'भाई, तुम तो आर्थिक परिस्थितियों के थपेड़ों से वाक़िफ़ हो।'

मैं चुप हो गया। उनकी बात ठीक थी। साहित्यिक के रूप में उन्होंने क्या कमाया और लोगों ने उनकी क्या क़द्र की? संयुक्तप्रान्त और दिल्ली के धनकुबेरों ने अपने रुपयों से रद्दी-से-रद्दी फ़िल्म ख़रीदकर बम्बई की कम्पनियों को मालामाल कर दिया, परन्तु उनमें से किसी एक ने भी प्रेमचन्दजी की कहानियाँ ख़रीदकर फ़िल्म न बनाए। बम्बई में गुजराती और मराठी कम्पनियाँ बहुधा अपनी भाषा के लेखकों से कहानियाँ लिखवाकर हिन्दी में अनुवाद करा लेती हैं। लेकिन हिन्दी-भाषा-भाषियों में अपनी भाषा के लिए वह स्वाभिमान कहाँ?

लोगों ने प्रेमचन्दजी की कड़ी आलोचना की थीं, उस फ़िल्म के लिए, जिसमें उनका हाथ बहुत कम था। उन्होंने केवल अपने उपन्यास का अधिकार बेचा था। दुर्भाग्य से उन्हें ऐसा डाइरेक्टर और सीनेरियो लेखक मिला, जो साहित्य से बिल्कुल ही कोरा है। ऐसी हीरोइन मिली, जो सुमन का पार्ट करने के लिए नितान्त अयोग्य थी।

कुछ दिनों के बाद प्रेमचन्दजी अजण्टा कम्पनी में स्थायी रूप से आ गये और मेरे घर के पास ही रहने लगे। उस एक वर्ष में हम में बिल्कुल घर की-सी बात हो गई। इसके लिए, मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि, माता शिवरानी देवी का स्नेहमय व्यवहार ही अधिक स्पष्ट था। इन्हीं दिनों में साहित्य-संबन्धी अनेक विषयों पर हम में खूब खुलकर वार्तालाप हुआ, इन्हीं दिनों में हम लोगों ने भारत के प्रान्तीय साहित्य की एकता की स्कीम बनाई। उन्होंने 'हंस' को नया स्वरूप दिया और मैंने 'भारत का कहानी साहित्य' प्रकाशित किया।

बम्बई छोड़ने के बाद वे कुछ दिनों के लिए फिर यहाँ आये थे। वही हमारा अन्तिम मिलन था। सैकड़ों साहित्यिकों ने उनके साथ रहने, उनकी बातें सुनने और उनकी मैत्री प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया। मेरा उनसे झगड़ा भी हुआ। उनके प्रेस में छपने के लिए मैंने एक पुस्तक भेजी थी। दो महीने का वायदा था और छः महीने में भी वह पूरा न हुआ। काफ़ी पत्र-व्यवहार हुआ और कटु शब्दों का परिवर्तन। अन्त में मैंने वह अधूरी पुस्तक वापस मँगा ली। जब सारा झगड़ा समाप्त हो गया, तो उन्होंने मुझे एक व्यक्तिगत पत्र लिखा। वह उनका आखिरी लम्बा पत्र था। इसके बाद एक और पत्र मुझे मिला था, परन्तु उसमें थोड़ी-सी लाइनें ही थीं। उस पत्र में उन्होंने लिखा था, 'इस देरी में मेरा कोई अपराध नहीं था। बात यह है कि प्रबन्ध में मैं बहुत कच्चा हूँ और दुर्भाग्य से इस कारण मेरे अपनों को ही दुःख अधिक पहुँचा है, प्रेस में से लोग रुपया खा गये हैं। तुम यहाँ आकर अगर देख सको तो मेरी मुश्किलों को समझोगे। शायद हम लोगों की क़िस्मत में कटु शब्द बदलना लिखा था। ख़ैर, अब हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध और भी सुदृढ़ होगा। जब हम मिलेंगे, तो यह धब्बा मिट जायगा।'

धब्बा तो उनके पत्र से ही मिट गया था, परन्तु उनके दर्शन फिर न हो सके। मुझे इस बात की जीवन भर टीस रहेगी कि उस झगड़े के बाद हम एक बार भी न मिल सके। बम्बई के मारवाड़ी सम्मेलन ने प्रेमचन्द-दिवस के लिए जो सभा बुलाई थी, उसके सभापति के पद के आसन पर जब मैं बैठा तो मुझे दुःख से यह याद आ गई कि उसी सम्मेलन की सभा में उनका स्वागत हुआ था और फिर उसी सम्मेलन की सभा में उनको हम सदा के लिए बिदाई दे रहे हैं।

प्रेमचन्द सैकड़ों को स्नेह करते थे; उन्हें भी लाखों प्रेम करते थे। उनका बहुत कुछ खो गया है। जिस साहित्य को उन्होंने बनाया, उसका और माता शिवरानी का तो सर्वस्व ही खो गया है। परंतु मुझ जैसे व्यक्ति भी रोकर यह कह रहे हैं—'मेरा भी कुछ खो गया है!'

---

*

स्वर्गीय प्रेमचन्दजी

[श्री० भगवान दास हालना]

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी हिन्दी के एक सच्चे उन्नायक और उसका मुख उज्ज्वल करनेवालों में से थे। योग्य सपूत को पाकर हिन्दी वास्तव में गौरवान्वित और धन्य हुई थी। कुछ लोगों का यह कहना है कि जीते जी सम्मेलन के सभापति बना कर उनका यथार्थ आदर नहीं किया गया। मैं तो यही कहूँगा कि वास्तव में जो देश-रत्न और महान् पुरुष हैं, जिनमें ऊँचे से ऊँचे गुण हैं वे स्वयं आदर रूप हैं, उनका कोई क्या आदर करेगा? लोकमान्य तिलक कांग्रेस के सभापति नहीं बने पर क्या सारा देश अपनी श्रद्धांजलि से उनकी यथार्थ पूजा नहीं करता था? और अब भी नहीं करता है? इसी प्रकार यदि प्रेमचंद जी सम्मेलन के सभापति होते तो भी सम्मेलन ही का गौरव बढ़ता प्रेमचंदजी का विशेष क्या आदर होता? प्रेमचंदजी की मृत्यु पर उनके देशवासियों ने—विशेषतः हिन्दी और उर्दू के प्रेमियों ने जो सच्चा और हार्दिक शोक प्रगट किया वह वस्तुतः बहुत ही थोड़े साहित्य-सेवकों और देश-रत्न पुरुषों को नसीब होता है। इतना अधिक शोक-प्रकाश हिन्दी की सेवा करनेवालों में तो शायद बहुत ही कम लोगों के लिए हुआ हो।

प्रेमचंदजी से पहले बंकिमचंद्र के उपन्यासों से ही हिन्दी अपना मान समझती थी। किन्तु प्रेमचंदजी ने हिन्दी में ऊँचे से ऊँचे मौलिक उपन्यास लिख कर हिन्दी का सच्चा मान बढ़ाया। उनके उपन्यास और कहानियाँ बड़ी शिक्षाप्रद हैं, वे बे-जोड़ लेखक थे और ऐसी सरल सुंदर और मुहावरेदार भाषा लिखते थे कि देखते ही बनता है। उन्होंने हिन्दी की इतनी अधिक और सुंदर सेवा की है, इतनी अधिक पुस्तकें लिखी हैं कि उसकी प्रशंसा के लिए शब्द नहीं मिलते। वे महान् आत्मा थे, लोगों के हृदयों के मनोविकारों का बड़ा ही सुंदर चित्र चित्रित करते थे। वे अपनी पुस्तकों के पाठकों में ऊँचे से ऊँचे गुण उत्पन्न करना चाहते थे, वे देश के सच्चे सेवक थे, वे हृदय से चाहते थे कि लोग गन्दा और निकम्मा साहित्य न पढ़कर ऐसी उत्तम चीजें पढ़ें जिनसे लोग अपने दुर्गुण छोड़कर अच्छे अच्छे गुणों का ग्रहण करें। वे सदा ऊँचे विचार रखते थे और सादा जीवन व्यतीत करते थे। वे अपने 'हंस' से सच्चा प्रेम करते थे। लोगों ने समझाया था कि गवर्मेंट की जमानत से 'हंस' जीवित नहीं रहेगा। प्रेमचंद जी की यद्यपि आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी, पर उन्हें 'हंस' से इतना अधिक प्रेम था कि यत्न करके ज़मानत दे ही दी और स्वयं मरे पर 'हंस' को नहीं मरने दिया। कुछ काल से वे महात्मा गान्धी के संसर्ग में भी विशेष रूप से आये थे और 'अखिल भारतीय साहित्य परिषद' के वे सदस्य थे

और महात्मा जी सभापति। यदि प्रेमचंद जी कुछ काल और जीवित रहते तो भाषा और देश की उन्हें और भी गौरव-पूर्ण सेवा करने का अवसर मिलता, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है। अब लोगों का यही कर्तव्य है कि जो ऊँचा रास्ता उन्होंने दिखाया है उसका अनुकरण करें। वे बड़े ही मिलनसार, नम्र, मधुरभाषी, सच्चे और सरल पुरुष थे, जिनका अपने मित्रों और हिन्दी संसार पर बहुत अधिक प्रभाव था। प्रेमचन्द जैसे पुरुष-रत्न का, सच्चे साहित्य सेवक का उचित स्मारक बनना ही चाहिए। इस कार्य में देश के धनी पुरुषों से तो सहायता मिलेगी ही पर मेरी अल्प बुद्धि में हर हिन्दी लेखक और सेवक का यह धर्म होना चाहिए कि इस स्मारक में अपनी सामर्थ्य के अनुसार आर्थिक सहायता देकर प्रेमचंद जी के प्रति प्रेम और श्रद्धा-पूर्ण पुष्पांजलि देना न भूलें। यह संतोष की बात है कि उनकी योग्य धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवी जी उन्हीं के क़दमों पर चलकर व अन्य प्रकार से साहित्य की उचित सेवा कर रही हैं। अपनी लेखनी और मन को पवित्र करने के लिए ही मैंने यह छोटा सा लेख लिखा है।

स्वर्गीय आत्मा की स्मृति में

[श्री. का. श्री. श्रीनिवासाचार्य]

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) के चतुर्थ पदवीदान-समारंभ के शुभ अवसर पर उपन्यास-सम्राट् बाबू प्रेमचन्द जी और श्रीमती शिवरानी देवी जी के दर्शन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। प्रेमचन्द जी का स्मरण करते ही सरलता और सहृदयता की उस प्रतिमा और विलक्षण-शक्ति भरी पैनी दृष्टि की झाँकी हमें मिलती है।

'हंस' के पाठकों को प्रेमचन्द जी की बीमारी की खबर अगस्त १९३६ में ही मिली थी। पर किसे आशंका थी कि उनकी वह रुग्णता यह उग्र रूप धारण करेगी और उस भारतीय विभूति को हमसे इतनी जल्दी, असमय में ही, छीन लेगी।

बाबू प्रेमचंदजी की गणना भारत के उन महान् संयमशील ऋषियों में है जो अपनी तपस्या का फल जन-साधारण को दे जाते हैं।

दक्षिण भारतीयों पर उनकी कितनी श्रद्धा थी, यह उनके इन वाक्यों से स्पष्ट है—

'अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग़ हैं तो वह मुबालग़ा न होगा।......जिन दिमाग़ों ने अंग्रेज़ी राज्य की जड़ जमायी, अंग्रेज़ी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेज़ी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं, वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें तो क्या कुछ नहीं कर सकते? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमाग़ों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्रभाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नज़र आते हैं, और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेज़ी लिखने और बोलने में अंग्रेज़ों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये, अंग्रेज़ी पत्रों के संपादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दीवालों को भी मात कर सकते हैं।......'

लक्षण कहते हैं कि उनके इन वचनों को सफल सिद्ध करने में दक्षिण भारत प्रयत्न-शील है और होगा।

'राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में उनके विचार यों थे—'इसे हिन्दी कहिये, हिन्दुस्तानी कहिये या उर्दू कहिये, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं।...जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। 'शुद्ध हिन्दी' तो निरर्थक शब्द है। भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी

भाषा शुद्ध हिन्दी होती। यहाँ तो मुसलमान, ईसाई, फ़ारसी, अफ़ग़ानी सभी जातियाँ मौजूद हैं। हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी......भाषा-सुंदरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके स्वास्थ्य का मूल देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान् बनाइये कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए कि हमारी भाषा अधिक-से-अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे।......मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टेण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है जो क़ौमियत के मतवाले हैं।......

'यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र-भाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण बनावें जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं।......हमें राष्ट्र-भाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिए। वह संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायँगे तो उनका हौवापन जाता रहेगा। भाषा-विस्तार की यह क्रिया धीरे धीरे ही होगी। इसके साथ हमें ऐसे विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा जो राष्ट्रभाषा की ज़रूरत के क़ायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तमिल् आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज़ करने का काम उनको सौंपा जाय।.........'

हमारे आधुनिक विद्यालयों पर उनके उद्गार बड़े मार्के के थे—

'हमारे जितने विद्यालय हैं सभी ग़ुलामी के कारखाने हैं, जो लड़कों को स्वार्थ का, ज़रूरतों का, नुमायश का, अकर्मण्यता का ग़ुलाम बनाकर छोड़ देते हैं; और लुत्फ़ यह है कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है।...हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए, जहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा राष्ट्र-भाषा में, सुगमता से मिल सके। इस वक्त़ अगर ज़्यादा नहीं तो एक तो ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिए।'

वे उस दिन का स्वप्न देख रहे थे, जब राष्ट्र-भाषा पूर्ण रूप से अंग्रेज़ी का स्थान ले लेगी, जब हमारे विद्वान् राष्ट्र-भाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्र-भाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भूमण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव का स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार के साहित्य में प्रवेश करेंगे। हमें आशा है, प्रेमचन्द जी के स्मारक इस दिव्य स्वप्न को यथार्थ रूप में परिणित करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रेमचन्दजी उन इने-गिने लेखकों में से थे, जिनकी कृतियों का अनुवाद भारत की अन्य-अन्य भाषाओं में भी हो गया है। इधर 'मणिक्कोडि' आदि पत्रिकाओं में उनकी कई कहानियों का तमिल् अनुवाद निकल चुका है। प्रेमचन्द जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवा सदन' श्रीमती अम्बुजम्माल द्वारा अनुवादित होकर आजकल 'आनन्द-विकटन्' में प्रकाशित हो रहा है।

प्रेमचन्दजी की कृतियाँ यथार्थ और आदर्श चरित्रों के चित्रण से, मनोवैज्ञानिक सत्यों से और प्रेमानुभूति से पूर्ण हैं। एक आलोचक उन्हें यथार्थवादी साबित करते हैं तो दूसरे आलोचक का कहना है कि वे आदर्शवादी थे। बाबूजी ने स्वयं कहा था—

'मैं यथार्थवादी नहीं हूँ। कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाय तो वह जीवन-चरित्र हो जायगी। शिल्पकार की तरह साहित्यकार का यथार्थवादी होना आवश्यक नहीं, वह हो भी नहीं सकता। साहित्य की सृष्टि मानव-समुदाय को आगे बढ़ाने—उठाने के वास्ते ही होती है।... आदर्श अवश्य हो, पर यथार्थवाद और स्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो। उसी तरह अगर यथार्थवादी भी आदर्श को न भूले तो वह श्रेष्ठ है।........हमें तो सुन्दर आदर्श-भावनाओं को चित्रित करके मानव-हृदय को ऊपर की ओर उठाना है; नहीं तो साहित्य की महत्ता और आवश्यकता क्या रह जायगी?'

प्रान्तीय साहित्यों के राष्ट्रीकरण में वे उद्योगशील रहे और उच्चतम भारतीय साहित्य को विश्व-साहित्य के उच्चातिउच्च आसन पर बिठाना उनका लक्ष्य रहा। हिंदी-उर्दू की एकता पर वे हमेशा ज़ोर देते थे। और उनकी अमर कृतियाँ इसके स्थायी प्रमाण हैं।

हमें विश्वास है, 'हंस' उनके इन लक्ष्यों को पूर्ण करेगा।

दक्षिण भारत में प्रेमचन्द

[श्री ब्रजनन्दन शर्मा, हिन्दी प्रचारक, मद्रास]

'प्रेमचन्द जी के मरने से हिन्दी साहित्य रूपी आभूषण का जड़ाऊ हीरा गिर गया। आभूषण का सौन्दर्य जाता रहा।'—यह वाक्य है एक १५ वर्ष के तेलगू-भाषा-भाषी बालक का, जो उसने प्रेमचन्द जी के निधन पर अपने लेख में लिखा था। यद्यपि यह एक साधारण विद्यार्थी के 'कम्पोज़ीशन' का वाक्य है, तथापि इस वाक्य में सारे दक्षिण भारत की आवाज़ गूँज रही है।

प्रेमचन्द जी के निधन से उत्तर के लोगों के हृदय पर जैसा आघात लगा, उससे कम आघात का अनुभव दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों ने नहीं किया। सारे मद्रास प्रान्त में शोकसभाएं हुईं और लोगों ने दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। जिस दक्षिण भारतीय ने प्रेमचन्द की एक भी कहानी पढ़ी थी वह यह समाचार सुनकर अवाक् रह जाता था। उस समय मुझे मालूम पड़ा, प्रेमचन्द जी हिन्दी की ही नहीं, भारत की विभूति थे। पर उनकी जीवनावस्था में यह अनुभव नहीं हुआ।

आज उनके निधन से बहन शिवरानी देवी ही विधवा नहीं हुईं, वरन् राष्ट्रवाणी भी कुछ काल के लिए विधवा हो गई है। शिवरानी देवी तो अपने बच्चों का मुँह देखकर तथा मित्रों की सहानुभूति पर धीरज धर रही हैं पर, बेचारी हिन्दी को कौन धीरज धरावे? अब कौन प्रेमचंद बनने का हौसला करेगा? प्रेमचन्द जी के जीवन को देखते हुए कौन ऐसा साहस करेगा? प्रेमचन्द जी की एक चिट्ठी, जो कुछ मास पहले 'हंस' की आर्थिक दुरवस्था का ज़िक्र करते हुए आई थी, अब भी मेरे फ़ाइल में पड़ी हृदय में शूल भोंक रही है। वह पुकार-पुकार कर कह रही है कि प्रेमचन्दजी के अकाल-मरण की ज़िम्मेदारी मृत्यु पर ही नहीं वरन् हम पर भी है, और है उन प्रकाशकों और सम्पादकों पर जिन्होंने प्रेमचन्द जी का रक्त चूस कर अपना पेट बढ़ाया है। प्रेमचन्द जी का आखिरी नायक होरी मानो उनका अपना ही चित्र है। आमरण पूंजीपतियों के हाथ का शिकार बनकर, आमदनी का ज्यादा भाग साहित्य की सेवा में खर्च कर, अन्त में अपनी मनोकामना सिद्ध होने के पहले ही परिश्रम से चूर-चूर होकर अकाल-काल-कवलित हो जाना—प्रेमचन्द जी की संक्षिप्त जीवनी है, और वही होरी के चरित्र में दिखाया गया है। जिस तरह प्रेमचन्द जी के निधन पर हमारी आँखों में आँसू छलछला आये थे, ठीक उसी तरह होरी के मरण पर भी हम फूट-फूट कर रो उठते हैं। फिर प्रेमचन्द बनने की कौन हिम्मत करेगा? इतने पर ही हमने उन्हें नहीं छोड़ा। उनके वेदना-व्यथित हृदय की और कला की हमने धज्जियाँ उड़ाईं और मूछों पर ताव दिया। हायरे अभाग्य!

इसमें शक नहीं कि प्रेमचन्द जी हिन्दी-भाषी जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे। यही नहीं, वरन् वे हिन्दुस्तानी भाषा और सभ्यता के सच्चे उपासक और पोषक थे। उनकी कला, उनका आदर्शवाद, उनकी कल्पना, उनके चरित्र, उनकी सौन्दर्यानुभूति, उनका सब कुछ उत्तर भारत (हिन्दी प्रान्त) का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। प्रेमचंद जी उस जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे जो नित्य तुलसी रामायण का पाठ करती है। तुलसी के बाद मध्यवर्ग की जनता के महान, अमर साहित्यकार प्रेमचन्द ही हुए। उनमें भारतीय आत्मा बोलती है। अगर किसी श्रद्धालु का यह विश्वास इस अविश्वासी युग में मान्य हो कि, वाल्मीकि ही तुलसी हुए, तो मेरा यह कथन भी मान्य होना चाहिए कि तुलसी ही इस युग के प्रेमचन्द हुए। जिस तरह तुलसी शिवकेशव का समन्वय करके श्रेय के अधिकारी हुए हैं, उसी तरह प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू की समस्या को एक तरह से सुलझा गये हैं। राष्ट्र-भाषा की रूप-रेखा के नाम पर जो झगड़ा चल रहा है, हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का जो हो-हल्ला मच रहा है, उसका हल प्रेमचंद जी ने अपनी भाषा द्वारा कर दिया है। उनकी भाषा ही राष्ट्र-भाषा का सच्चा स्वरूप है। उनकी व्यंजनात्मक शैली से ही हिन्दुस्तानी या हिंदी अपनी पूरी अभिव्यक्ति कर सकेगी। सचमुच वैसी जानदार भाषा लिखनेवाला आज तक कोई माई का लाल पैदा नहीं हुआ।

खैर, आज न तो मैं प्रेमचन्द जी की जीवनी लिखने बैठा हूँ और न उनकी कला-समीक्षा ही। यह काम महान् साहित्य-समीक्षकों का है, क्योंकि प्रेमचन्द जी महान् थे। मैं तो अभी सिर्फ़ दक्षिण भारत की हिन्दी-प्रेमी जनता की ओर से प्रेमचन्द जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पण कर रहा हूँ।

मुझे वह दिन कभी नहीं भूल सकता। प्रेमचन्दजी नाथूरामजी प्रेमी के साथ 'दक्षिण भारत-हिंदी-प्रचार-सभा' के सालाना जलसे में पदवीदान-समारंभ का भाषण करने आये थे। हम प्रचारक लोग मधु-मक्खियों की तरह उन्हें घेरे रहते थे। बहुत से हिन्दी-प्रेमी और विद्यार्थी सिर्फ़ प्रेमचन्द जी का दर्शन करने के लिए ही दस-दस और पन्द्रह-पन्द्रह रुपये खर्च करके वहाँ पहुँचे थे। बहन शिवरानी देवी भी उनके साथ थीं। जब लोगों ने सुना कि प्रेमचन्द जी सारे दक्षिण-भारत में हिंदी-प्रचार के केन्द्रों का निरीक्षण करेंगे—तो द्रविड़ भाषा-भाषी सज्जनों के मुँह पर जो आनन्द की चमक मैंने देखी वह उत्तर भारत के किसी व्यक्ति के मुँह पर पाना असम्भव था। हिन्दी-प्रेमियों की दृष्टि में उनका किसी केन्द्र का निरीक्षण करना जवाहरलाल या राजेन्द्र प्रसाद के दौरे से कम महत्वपूर्ण न था। पर दुर्भाग्यवश, फिर कभी का वादा करके मैसूर और बंगलोर होते हुए वे बम्बई लौट गये। हमारी आशा, आशा ही रह गई। 'फिर कभी' फिर कभी न आया। आज भी प्रेमचंद जी की मृत्यु स्वप्नवत् मालूम पड़ती है। आज भी उनके अनुभवों की गहराई बतानेवाला झुर्रीदार चेहरा, करुणा से छल-छलाती आँखें, उनकी ज़िन्दादिली को व्यक्त करनेवाली मुस्कुराहट, साहित्य सेवा की चिंता में डूबा सिकुड़नवाला ललाट, दिमाग़ की उलझी हुई समस्याओं की तरह उलझी हुई मूछें, आर्थिक दुरवस्था की द्योतिका झुकी हुई कमर और पूँजीपतियों का शिकार होने की घोषणा करनेवाली रक्तहीनता और सफ़ेदी आँखों में घूम रही है।

प्रेमचन्दजी राष्ट्रभाषा के गौरव थे। जब कभी यहाँ किसी साहित्यिक मित्र के सामने हिन्दी-साहित्य के तेज और श्री की बात चलती है तो हम प्रेमचन्द जी के नाम पर ही उनसे बोलने का साहस करते हैं। हिन्दी-साहित्य की दरिद्रता को दरिद्र प्रेमचन्द ने ढँक दिया। आज हम प्राचीन साहित्य में गोस्वामी जी और नवीन-साहित्य में प्रेमचन्द जी की दुहाई देकर ही दक्षिण में सिर उठा कर जी रहे हैं। पाठकों को आश्चर्य और कुछ संकोच भी होगा यह सुनकर कि, प्रेमचन्द ज़ी

को उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ज़्यादा सम्मान और गौरव प्राप्त है, क्योंकि यहाँ के सिंह या शर्मा लोगों ने पार्टीबन्दी का रंगीन चश्मा लगाकर उन्हें नहीं देखा। उन्होंने प्रेमचंद को कलाकार और आदर्शवादी के रूप में ही देखा है। मद्रास प्रान्त का हिन्दी-विद्यार्थी समाज, जिसकी संख्या अब हज़ारों से आगे बढ़ गई है, प्रेमचन्द का नाम सुनकर उछल पड़ता है। बहुत से समझदार और बुद्धिमान लोग उन्हें टालस्टाय भी कह डालते हैं। मेरे एक आन्ध्र मित्र ने, जो अपने को साम्यवादी कहते हैं, कहा था कि प्रेमचन्द अगर गोदान के बाद लिखते तो वह उपन्यास 'माँ' की जोड़ का होता, और वे सोवियट-हिन्दुस्तान के गोर्की होते, पर हमारे दुर्भाग्य ने छींक दिया।

दक्षिण में तुलसीदास की अपेक्षा प्रेमचन्द के पाठक अधिक हैं। यहाँ उन्होंने साहित्य क्षेत्र में तुलसी से ज़्यादा ख्याति पाई है। यह लिखते डरता हूँ पर सत्य का अनुरोध बाध्य करता है। हिन्दी के किसी विद्यार्थी से, जो तुलसी और प्रेमचन्द की कृतियों से कुछ परिचित है, पूछिये कि तुम हिन्दी † कवियों में सब से बड़ा किसको मानते हो, तो वह फ़ौरन कह उठेगा—प्रेमचन्द। हो सकता है कि उसकी कसौटी ठीक न हो अथवा उसका हिन्दी-साहित्य का ज्ञान अपरिपक्व। परन्तु प्रेमचन्द ने यहाँ के विद्यार्थियों पर जो जादू डाला है वह और किसी कवि या लेखक ने नहीं। प्रेमचन्द जी के साहित्य की जितनी खपत दक्षिण में हुई है उस अनुपात में उत्तर में नहीं हुई। आप यहाँ के किसी देहाती गाँव में जाइये, यदि वहाँ एक भी हिन्दी प्रेमी हो तो आपको सेवा-सदन, सप्त सरोज और प्रेमचन्दजी अवश्य मिलेंगे। और किताबों की रूप-रेखा चाहे भले ही न दिखाई पड़े।

यहाँ की पत्रिकाओं में हर महीने प्रेमचन्द की एकाध कहानी का अनुवाद निकलता है। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, वरदान आदि का अनुवाद भी हो गया है। नवनिधि का एक बहुत पुराना अनुवाद तेलगू में 'मल्लिका गुच्छम' के नाम से मेरी नज़रों से गुज़रा है जो शायद प्रेमचन्द जी का हिन्दी में जन्म होने के पहले का है। प्रेमचन्दजी के साहित्य ने यहाँ काफ़ी प्रशंसा प्राप्त की है और प्रभाव भी डाला है। मेरे एक वकील मित्र हैं। उन्होंने प्रेमचन्द से प्रभावित होकर अपने पुत्र का नाम प्रेमचन्द रखा है।

मैं यह निस्संकोच होकर कह सकता हूँ कि प्रेमचंद जी का उपयोग दक्षिण में ज़्यादा हुआ है। पर हिंदी भाषी जनता ने अभी तक प्रेमचंद जी से पूरा लाभ नहीं उठाया है। मेरे एक मित्र ने उस दिन कहा कि क्यों साहब, देखिये शरत् बाबू के उपन्यासों के कैसे सुन्दर फ़िल्म तैयार किये गये हैं। 'रंगभूमि' का फ़िल्म तैयार किया जाय और 'के. सी. दे' महोदय को सूरदास का पार्ट दिया जाय, तो वह फ़िल्म सबको मात न कर जायगा? मैंने उन्हें जवाब तो नहीं दिया, पर मन में कहा कि अभी हिन्दीवालों को प्रेमचन्द के ऊपर कीचड़ उछालने से ही फ़ुर्सत नहीं मिली है, फ़िल्म कौन बनाये? और फिर शरत् बाबू का जो गौरव प्रत्येक बंगाली के हृदय में है वह हम हिन्दी-भाषियों के हृदय में हो तब न?

अन्त में मैं दक्षिण के हिन्दी-प्रेमियों की ओर से हिंदी-विद्वानों और प्रेमियों से विनती करता हूँ कि प्रेमचन्दजी को अब भी हम पहचानें, उनकी इज़्ज़त करें और उनकी स्मृति-रक्षा के उपाय करें, जिससे पुनः-पुनः प्रेमचन्द के पैदा होने की भूमि तैयार हो।

यदि प्रेमचंद के मकान को या उनके कमरे को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखा जाय, उसमें प्रेमचन्द जी की प्रिय वस्तुओं का संग्रह हो, उनके नित्य व्यवहार में आनेवाली चीज़ें रखी जायँ,

† यहाँ कवि में और लेखक में फ़र्क नहीं माना जाता। कवि से दोनों का बोध होता है।

तथा इस तरह उसे 'प्रेमचन्द म्यूज़ियम' बना दिया जाय तो वह हिंन्दी-प्रेमियों का एक तीर्थ-क्षेत्र हो जायगा। दक्षिण से काशी जानेवाले हिन्दी प्रेमी यात्री भी विश्वनाथ के दर्शन के साथ-साथ उसके भी दर्शन करेंगे। आशा है, उनकी स्मृति रक्षा के लिए जो सज्जन प्रयत्न करें वे इस बात पर भी ध्यान देंगे।

प्रेमचन्द जी ने देश का इतिहास अपने शरीर की आखिरी बूँद देकर लिखा है। क्या हम उनका इतिहास भी सुरक्षित न करेंगे?

प्रेमचंद, जैसा मैंने पाया ।

[श्री जनार्दन राय]

१६३३ का मध्य जुलाई महीना और मैं नया-नया बनारस में—उदयपुर से इतनी दूर पहली दफ़ा उत्तर भारत के इस प्राचीन-ख्यात नगर में। जलती हुई दोपहर ; पैदल मैं और एक मेरे ताज़े परिचित साथी चले जा रहे हैं—सरस्वती-प्रेस का पता पूछते-पाछते। कभी कबीर-चौरा, कभी दाल-मण्डी होते हुए चौक, यों हम प्रेमचंद जी से पहली मुलाक़ात के लिए विश्व-विद्यालय से चले जा रहे हैं। मन में एक आतुर उमंग भरा, पर शंकित द्वन्द्व मच रहा है—मिलेंगे तो ? पर किस तरह पेश आयेंगे ? —प्रभुसाहब की भाँति तो नहीं, एक सहमा देनेवाले रुआब में ; उदयपुर के बड़े आदमियों की भाँति तो नहीं—ऊपर से मीठे, मन में कड़ुवे ?

मेरे मन का वह द्वन्द्व स्वाभाविक था। एक बात और भी थी। १६२७ का (मैं स्मृति से लिख रहा हूँ) एक प्रातःकाल मुझे प्रेमचंद जी से मन में, विचार में सम्बद्ध कर गया। 'रंग-भूमि' पढ़कर मैंने अपने ममेरे भाई से सवा आने की कोई कॉपी माँग ली और एक उपन्यास प्रारंभ किया। वह प्रेरणा-स्रोत जैसे पाताल भेद कर आया था, जिसने मुझे मरु-भूमि में जीवित रखा। वह जैसे एक अद्वितीय चिनगारी थी, जो मेरे मन के अंधकार में जल उठी ; जिसने अब तक मुझे रोशन रखा है। १६३३ तक मुझ पर कई उल्कापात हुए। पहला उपन्यास जो मैंने प्रेमचंद जी को १६२८ में प्रकाशनार्थ भेजा था, एक सज्जन मेरे जाली हस्ताक्षर कर उड़ा ले गए और प्रेमचंदजी पुरस्कार भेजते-भेजते रह गए। उस समय भी वे अदालत में साक्षी देने के लिए तैयार हो गए थे; पर वहाँ तक जाना न पड़ा। जब मेवाड़-सत्ता ने उसी उपन्यास को भस्म कर दिया, मैंने सहर्ष वस्तुस्थिति का मुक़ाबिला किया।

कंधे पर कहानियों और एक उपन्यास से लदा झोला ; ललाट पर पसीने की बूँदें, धूल में झुलसे चप्पल, देह पर पसीना, और मन में उमंग की बिजली। यों मैं सरस्वती-प्रेस पहुँचा। मन में उल्लास तो था पर दहलीज पर पैर रखते ही संकोच, भय, सकपकाहट और सहमता आ गई। जैसे एक राजा पहली दफ़ा वायसरिगल-लॉज में पैर रखे, पहली दफ़ा कुलवधू ससुराल की दहलीज में घुसे, जैसे पहली दफ़ा जुगनू को चाँद का स्पर्श हो, लहर जैसे प्रथम बार अपने असीम वारि-वक्ष को निहारे, यों मैं पौर में घुसा। एक कंपोज़ीटर बग़ल रगड़-रगड़कर नहा रहा था ; मैंने पूछा—प्रेमचंद जी कहाँ विराजते हैं ? उसने योंहीं सहज इशारा किया—बग़ल के कमरे में। मैंने मुड़ कर उस कमरे में झाँका। दो तीन व्यक्तियों से घिरी, मेज़ पर झुकी-सी, काग़ज़-पत्रों के ढेर से

आच्छादित मैंने एक मूर्ति देखी। रेशमी तमखुई बिखरे बाल ; पतली तीनी भवों पर संकुचित पर प्रभविष्णु ललाट, अनुभव की रेखाओं से खुदा और सरल ; गहरी देखने वाली आखें। प्रेमचंद, वही ! वही, मछली के अगले पंजों जैसी ब्रुश-नुमा मूँछें और सारी मुद्रा पर स्वप्न-लीनता का अत्यन्त सूक्ष्म रौग़न ! यही प्रेमचंद हैं, अंतःकरण ने सौ ज़बान से कहा। वहीं, दरवाज़े में ही खड़े-खड़े मैंने प्रणाम किया।

एक बार साधारणतया मेरी ओर देख सिर हिलाकर मुझे अन्दर बुलाया और पुनः कार्य में मशग़ूल हो गये। मैंने पास ही अत्यन्त संकोच के साथ सिकुड़कर बैठते हुए कहा—मैं उदयपुर से आ रहा हूँ।

किसी पत्र को देखते हुए सिर हिलाकर आपने कहा—हुँ हुँ ! जनार्दन न ? फ़िफ्थ इयर में आये हो न ?

मैंने मन-ही-मन झेंपकर जवाब दिया—जी नहीं ; थर्ड इयर में आया हूँ। बीच में दो वर्ष पढ़ना छोड़ दिया था।

'अच्छा !' पत्र रखकर आपने मेरी ओर देखा।

मैंने अपना झोला खोला और उनके पत्र निकाले। बोला—लखनऊवाली घटना के बाद, मैं समझता हूँ, अपना प्रमाण मुझे देना चाहिए। ये रहे आपके पत्र।

पहली दफ़ा मैंने वह बाल-सुलभ सुन्दर आत्मा की मुक्त लहरि के समान मुखुर-मुखुर हास्य सुना और स्तब्ध रह गया।

आप बोले—तो ? ये पत्र भी तो उड़ाये जा सकते हैं ? हा, हा, हा ! मैं जान गया तुम्हीं जनार्दन हो। अच्छा हुआ, यहाँ आ गये। ठीक हुआ।

मैंने कहानियाँ निकालीं, उपन्यास का पोथा निकाला और प्रेमचन्द जी के आगे रख दिया और उन्होंने सब काम छोड़ वे कृतियाँ हाथ में लीं। शायद किसी की कृतियाँ हाथ में लेकर उसे जाँच-पड़ताल के बिना वे नीचे न रखते थे। उपन्यास के रजिस्टर को उलट-पुलट आपने कहा—छपने में शायद आठ सौ पेज तक जाये ! खूब है भई ! अच्छा इन सबको मैं देखूँगा। यहीं हो, अब तो ?

उस दिन तो परिचयात्मक बातें ही हुईं, पर मैं होस्टल जैसे बदलकर लौटा। मेरे ये भाव उस समय स्पष्ट न थे ; मेरा परिवर्तन-श्रीगणेश भी मुझे उतना प्रतीत न था। पर मैंने एक नये मार्ग पर पैर रखा था। पहली मुलाक़ात में प्रेमचन्द ने मुझमें अदृश्य पर अनुभव-महिम स्वप्न जगा दिये। और रात ? रात आह्लाद में रमी हुई थी। १६३० के बाद ऐसी पवित्र स्वतः मगन नींद उस दिन आई थी। यह महापुरुष इन ऐसे कतिपयों से कितना अलग पड़ता है, मैंने सोचा।

फिर तो प्रति मुलाक़ात दिन-ब-दिन मुझे उनके निकट, निकट से निकट लाती गई। मानो प्रेमचन्द एक प्राचीन मन्दिर थे, जिसके सभी पट खुले हुए थे। प्रकाश का एक झूमर जो चारों ओर से आलोकित होता है। दस बारह दिन बाद मैं बेनिया बाग़ में उनके निवास पर पहुँचा। मकान देखकर मन में संतोष हुआ ; चलो, घर का घर तो अच्छा है। प्रेस है ; यह घर है—हमारा यह युगस्रष्टा कलाकार अच्छी हालत में तो है और जब, भूकम्प ने इस मनचाही को तोड़ना चाहा तब मुझे सबसे पहले प्रेमचन्द जी के घर की चिन्ता हुई थी—कहीं उसमें कोई खराबी न आ गई हो। पर १६३४ में एक दिन बेनिया बाग़ वाले उसी मकान में एक पंजाबी ने हुक्का गुड़-गुड़ाकर मुझे टका-सा जवाब दिया—'पेमचन्द वेमचन्द यहाँ नई है !' तब कहीं मुझे मालूम हुआ, रंगभूमि और कायाकल्प के लेखक के अपना घर का घर भी नहीं है।

बेनिया बाग़ में शायद तीसरी बार मैं उनके यहाँ (पहली बार घर पर) पहुँचा। पुस्तकें अलमारियों से भरी, मेज़ पर अख़बार और नोट बुकें तथा बैठक के कमरे में गद्दी-तकिया—कुहनी मेज़। दीवार पर एक केलेण्डर। बस इतना ही। इस सादगी के वातावरण के पीछे जी मसोसनेवाला अभाव न था; क्योंकि उसका प्रदर्शन रंक होता है। प्रेमचंद की वह कुहनी के बल लेटी हुई मूर्ति रंक न थी; उसमें अपरिग्रह की भावना झलक रही थी। एक दम कमरे के वातावरण ने मुझे सुझाया, यह इनकी सुन्दरता है।

मैंने इधर-उधर की बातों के बाद कहानियों की बाबत पूछा—आपने मेरी कहानियाँ पढ़ीं होंगी।

'हाँ, अच्छी हैं।' यों कह कर आपने बंडल से एक कहानी—रचका (पीछे 'द्वन्द' नामसे 'हंस' में छपी)—निकाली और पढ़ गये। बोले, इसे अपने नाम से भेज दूँ तो २५ रुपये मिल जायँ! कहानी की सभी बातें यहाँ हैं।'

मेरा मन फूला, घमण्ड में नहीं—सच्चे प्रोत्साहन के धूप को पाकर जैसे एक डोड़ा विकच उठे, कुन्द-कली हँस उठे, वैसे जैसे प्रभात-वायु के झोंके से लहरियाँ जाग उठें!

आपने कुछ देर बाद पूछा—क्या चाहते हो?

मैंने कहा—आपकी इच्छा हो, वह कीजिये। मैं तो तुष्ट हो गया। ये मैंने आप ही के लिए लिखी थीं। आपको रुचीं, मैं सफल हुआ।

एक गहरी दृष्टि से उन्होंने मेरा अंतर टटोला। बोले—फिर भी?

मैंने जवाब दिया—यदि आप मुझे हिन्दी-सेवा के योग्य समझते हों, 'हंस' के उपयुक्त इन्हें समझते हों—मुझे प्रोत्साहन के योग्य मानते हों, तो इन्हें प्रकाशित करिये। अन्यथा आपके चरणों में ही इन जैसे-तैसे फूलों को रहने दीजिए। आप ही मेरे परीक्षक हैं।

और प्रेमचन्द जी ने मेरी परीक्षा लेनी शुरू की। पर ढंग स्नेह का था। एक के बाद एक, यों दो-तीन कहानियाँ प्रकाशित कीं, और मैं जैसे इस फल से उदासीन होता गया। लेखक और सम्पादक का बरताव, अपना मुँह लेकर बिदा हुआ, और वीरान होते-होते बच गया। आज हिन्दी का एक नवयुवक लेखक, जो इस महिमामय प्रगतिशील संसार में रचनाएँ लिए घूमता है, कितना अकेला होता है? सम्पादक इसलिए सम्मान करते हैं कि उन्हें मुफ़्त अच्छी रचनाएँ चाहिएँ और पाठक अपने अभाव की अनुभूति में भाव की पूजा भर कर लेता है। यश के अबरकी कपड़े पहन यह प्राणी यों घूमा करता है, मानो घरहीन, परिवारहीन एक अंधा भिखारी, कुछ गीत लिए, कुछ भाव लिए। लेकिन कलाकार का वह वरद प्रेम, जो काया पलट देता है, व्यक्तित्व की बीमारी शमा देता है, कितने अभागों को मिलता है? मैं सोचता हूँ, प्रेमचन्द जी का मुझे जाँचना ऐसे ही स्नेह का वर्षण था। मैं जब इस क्षितिज के पास पहुँचा, एक कुहरों में क्रान्त उभार- भरा बादल था; इस सुनहली रश्मि ने मुझ में प्राण भर दिया, बिजली भर दी।

यों प्रसंगोपात्त प्रेमचन्दजी मुझे एक प्रकार से संस्कृत करते रहे। मेरा मानसिक क्षितिज विकसित करते रहे—मुझे लेखक होने के लिए अधिकाधिक योग्य बनाते गये, और मैं उनको जैसे अधिक पास से देखता गया, वे मुझे अपने साहित्य से ऊपर प्रतीत होते गये। 'ऊपर' से मतलब यह नहीं है कि उनका साहित्य उनके जीवन से प्रसूत न हुआ हो। इसका अर्थ यही है कि वे अपने स्वप्नों से कहीं अधिक सुन्दर थे। एक दिन दोपहर को जैनेन्द्र जी तथा वे बैठे बातें कर रहे थे—मैं भी बैठा था। साहित्य के विभिन्न अंगों पर वार्तालाप हो रहा था। वार्तालाप जैसे समुद्र के किनारे बैठे हुए दो व्यक्ति कर रहे हों—समस्या के बाद समस्या, तरंग पर तरंग। भाषा, राष्ट्र-

भाषा, अनुभव, प्रतिभा आदि सभी विषयों पर चर्चा हो रही थी, और अनुभव की समस्या ने तो जैसे प्रेमचन्द जी की वाणी में ज़ोम भर दिया ; बोले—बिना अनुभव लिखना तो लग़ो है ! हमने मसूरी में ताँगे चलाये ! थी न हिमाक़त ?

फिर वह चमत्कृत करनेवाला सरल पर मुक्त हास्य ! मैं आज सोचता हूँ, प्रेमचन्द जी अपनी ग़लतियों को ऐसा पहचानते और हम अपनी ग़लतियों को आदर्श का रूप देते फिरते हैं। जैनेन्द्र जी ने बहस छेड़ दी ; पर मुझे वह उतना अपना न बना सकी। वह पहला दर्शन था प्रेम-चन्द जी के इस माननीय मित्र का। पर प्रेमचन्द में जो था, वह जैनेन्द्र में न मिला। आज भी नहीं। एक बार उन्होंने कहा—हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में मैं तो बालक हूँ। मैं हँसे बिना न रह सका। कितना गम्भीर-धीर यह बालक है, जिसने 'सूरे' की रचना की है।

ये संस्मरण अत्यंत व्यक्तिगत हो रहे हैं ; पर इसके लिए मुझे चिन्ता नहीं है। मैं तो प्रेमचन्द को जैसा मैंने पाया, वैसा यहाँ कुछ स्मृतियों में आहवाहित कर दे रहा हूँ। जनार्दन झा 'द्विज' जी की 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' नामक पुस्तक पर मेरे मुँह से निकल गया—आप पर तो सात सौ पृष्ठ का पोथा होना चाहिए।

आप कुछ किलककर बोले—तुम लिखना।

मैंने कहा, उत्साह के साथ कहा—यह एक तीव्र कामना है—

बीच ही में बात काटकर आपने कहा—अभी नहीं, मैं मर जाऊँ, उसके बाद !

और किसे पता था, १९३७ में मुझे ये काली पंक्तियाँ लिखनी पड़ेंगी ? जीवन-चरित्र में क्या लिखूँगा ? कितनी ऐसी बातें हैं, जिनका मेरे पास नोट नहीं है; पर प्रेमचंद धीरे-धीरे मेरे केन्द्र बन गए थे। खूब खुलकर मैं उनके साथ जीता था और आज उनके शरीर के बिना भी मैं इन कुछ स्मृतियों के बल जी रहा हूँ। एक दिन मैंने पूछा—साहित्य-सेवा किस प्रकार की जाय ? आपने सहजभाव से कहा—अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखकर। उसके लिए न सभा की ज़रूरत है, न समाज की। उसके लिए चरित्र की, हृदय की, तपस्या की ज़रूरत है। बस !

और मैं दिवसों अपने अतीत पर सोचता रहा। मुझे मालूम हुआ, अपने अंधकार से मैं किस प्रकाश की प्रशस्ति लिखूँगा ? क्या करूँ ? अपना गत चिट्ठा कह दूँ ? यहाँ एक आदर्श की लड़ाई मुझ में छिड़ पड़ी। और वर्ष भर बाद 'हंस' में उन्होंने मुझ पर कुछ पंक्तियाँ लिखीं। तारीफ़ करने की उनकी आदत ज़रा बहकी हुई थी। पर प्रेमचंदजी का मेरे विषय में विचार वह बता रही थीं। भर चौंक मैंने उस नोट को पढ़ा और धक् रह गया। एक करवत चल गई ; रात भर मैं सोचता रहा—लिख दूँ सब? पर कैसे लिखूँ ? एक बार मैं एक साथी खो चुका हूँ। यह गहरी हानि इस बुत के स्नेह के मरहम से शान्त हो रही है। पर क्या इस कृपा-सदन को धोखा दूँ ? और यहाँ मेरी अंतरात्मा क्रान्ति की अँगड़ाई में उठ बैठी। मैंने लिख दिया, मैं ऐसा रहा हूँ—वैसा रहा हूँ। यही कुछ बातें थीं जिन्हें खोल मैंने कष्ट उठाए थे, पर इस समय तो मैंने सब कुछ को दाव पर रख दिया था। मैंने वज़ीर खो दिया है, बादशाह अब खो दूँ। पर एक प्रकाशमय सवेरे प्रेमचंद ने शीतल क्षमा की, प्रेम की ज्योति की वर्षा की। जीवन के सभी घाव भर गए और मैं सबल हो गया—ताज़ा। उन्होंने लिखा—जितना पवित्र हमारा जीवन होगा, उतना ही शुद्ध हमारा साहित्य होगा। अमीरी प्रतिभा के लिए अनुकूल भूमि नहीं है। इसमें कुछ ऐसी बातें हैं, जो ग़रीबी ही में फल सकती हैं। फिर उन्होंने हिन्दी की तू तू मैं-मैं स्थिति पर दुःख प्रगट किया और मुझे आदेश दिया था कि मैं उससे दूर रहूँ। मैंने सोचा, जीवन के सौन्दर्य को कलाकार किस आँख से देखता है ? एक तो महाशय 'क' थे, जिन्होंने पाप को लेकर सदाशय को

ठुकरा दिया और एक यह हैं, जिन्होंने सदाशय को चूम कर पाप को ठोकर मार दी। क्या प्रेमचंद ने मुझे मनुष्य न बना दिया?

एक बार आपने कहा—मैं तुम्हें यों ही मुँह नहीं लगा रहा। तुममें मैंने प्रतिभा पाई है। अब मेरा धर्म है, उसे रास्ते पर लगा दूँ। सबसे पहली बात चरित्र चाहिए, एक पागल साधना-प्रेम चाहिए—उसका कुछ मैं तुम में देख सका हूँ। उस समय तो मैं ठंढी आँधी में रह रह कर काँप उठा था यह सुन कर। पर मैं समझ गया था, मुझे कहाँ तक अपना परिचय इनको देना है।

'कीचड़ का कमल' आपने पढ़ा? समय निकाल कर पढ़ा और एक दिन बोले—ढाई सौ पत्ते तो हम एक ही दफ़ा में पढ़ गये। मैं समझता हूँ, हिन्दी की टोन बढ़ रही है। पर भुवनेश्वरी के चरित्र से मैं सहमत नहीं होता। तुमने उसे खींचा तो ठीक है; पर पुलिस की रिपोर्ट तो कुछ नहीं है।

और उन्हों ने एक विवाद का जन्म दे दिया। मैं उनको सुन रहा था और सोच रहा था, यह व्यक्ति क्या मुझे इतना ज्योतित मानता है कि मैं यों रचना के आदर्श द्वारा समझाया जाऊँ। वे हुक्मिया यह कह सकते थे, कि तुम उसका चित्रण बदल दो वरना उपन्यास छप न सकेगा; अथवा उसके बिना कृति कुछ भी न रहेगी। प्रेमचंद मुझ पर दबाव डाल कर जो चाहते करवा सकते थे; पर उन्होंने यथार्थ और आदर्श की एक सहमत कर आलोचना ही छेड़ दी। कहाँ तो हमारे सम्पादक आठ-आठ महीनों तक नए लेखकों की कृतियाँ पढ़ते तक नहीं और कहाँ प्रेमचन्द जी ने पौने चार सौ घने लिखे गये फुलिस्केपों को पढ़ा और प्रत्येक चरित्र पर राय दी, उज्र पेश किये। मुझे समझाया, बुझाया—सहमत किया। उस समय मैं उनसे इतना प्रभावित था कि उनके कहने पर उपन्यास को फाड़ कर फेंक सकता था। पर बड़ी खूबी से उन्होंने मुझे समझाया—नग्न यथार्थ और नग्न आदर्श दोनों ही अतियाँ हैं। नग्न यथार्थ पुलिस का रिपोर्ट भर हो जाता है। नग्न आदर्श प्लेट फार्म का फ़तवा।

मैंने डरते-डरते भी उज्र-सा किया—पर लेखक यथार्थ के चित्रण में जीवन ही तो खींचता है। पुलिस की रिपोर्ट और लेखक का वह चित्रण तो दो वस्तुएँ हैं—

'पर यथार्थ के नाम में विकारों का चित्रण तो न होना चाहिए। जीवन का अन्धकार तो है; उसे हम क्यों अन्धकार ही चित्रित करें? कलुष तो है, उसे हम सौन्दर्य में क्यों न बदल दें? जीवन में होता भी यही है। दुनिया तो दुःखमय है; पर क्या दुःखमय जीवन में सुख की रचना हम नहीं करते।' उस समय तो मैं सहमत होने के लिए हो गया। नन्ही मछली मगर के सामने ठहर कैसे सकती? और मुझे हाँ नाँ कहने का अधिकार ही क्या था? किताबों में पढ़े गये यूरोपीय फ़तवे मेरे दिमाग़ में चक्कर काट रहे थे; मैं भी उस बीमारी से पीड़ित था, जिससे आज हमारे ढेरों लेखक पीड़ित हैं। यथार्थ की आँखें रंगीनी ही तो देखती हैं; वह मन विनोद खोजता है; बताशे चाहता है; वह भोग चाहता है; जो निर्माण नहीं करता, क्षय करता है; नाश करता है। जीवन के सतत भोग में हमें जीवित कौन रखता है, मैं सोचता हूँ। और आज एक प्रतिध्वनि उठती है, आदर्श की साधना। प्रेमचंद—प्रचारवाद के लिए बदनाम प्रेमचंद ने—मुझे खूबसूरती से यह दृष्टि प्रदान की और आये दिन मुझे एक प्रकाश मिला, मुझे जैसा दिखा, यथार्थ और आदर्श बुद्धि के झगड़े हैं। जीवन में ऐसी सीमाएँ, रेखाएँ नहीं। यह तो विविधता की एकात्मक साधना भर है। यहीं, यहीं समवेदनों की पाँच ज्वालाएँ मन की पकड़ में बँधतीं और जीवन की चेतना का प्रारम्भ होता है। यहीं बुधता की लौ जलती है,

यहीं सौंदर्य का जन्म होता है। यह बहुता का सर्वाङ्गीन एकता में बदलें जाना ही जीवन की धारा है। साहित्यिक रचना इस सत्य के विपरीत कैसे हो सकती है? इसलिए मैं आज आदर्श के साधनों ही को जीवन मानता हूँ। प्रेमचंद यही दूसरी तरह देख सके थे। उनकी शैली में इस ध्रुव सौन्दर्य को चालाकी के साथ, घुमा फिराकर व्यक्त करने का मायाजाल परिष्कृत न हुआ था। इसलिए उनमें कला कला के लिए की भ्रान्ति न मिली। पर क्या हमारी वे धारणाएँ आज बदल नहीं रहीं?

मोदी के कहने पर मैंने उसी उपन्यास को दुबारा लिखा और प्रेमचंदजी को अर्पा। समर्पण में मैंने लिखा था, आप मेरे प्रेरणा-गुरु हैं। आप ने पूछा—यह प्रेरणा-गुरु फिर क्या बात है? एक सुनहली हँसी निकलूँ-निकलूँ, हँसू-हँसू!

मैंने कहा—आपकी 'रंगभूमि' ने मुझे जो-प्रेरणा दी है, वही आज तक मेरे साथ है। अतः आप मेरे प्रेरणा-गुरू हुए।

उत्तर में वह चारित्रिक हास्य!

फिर तो मैं कोई कहानी लिखता, पहले कह आता। और हम दोनों प्रेस से घर तक बातें करते हुए चलते। ताँगा, मोटर, गाड़ी आप से आप बचाते हुए हम चले जाते। वे संध्याएँ कितनी सुन्दर थीं, आज मालूम हो रहा है। प्रेमचंदजी बातें करते हुए ठहर जाते और नारंगी, केले दातुन खरीदते। मैं देखता—अपने चरित्र ये कैसे ग्रहण करते हैं। क्या कुछ बातें करते हैं किसी खोमचेवाले के साथ; चाट खाते हैं क्या? मैंने उन्हें बाज़ार में तंबोली के यहाँ पान का बीड़ा ख़रीदते न पाया। तब वह कौन-सी मूक, छिपी-छिपी शक्ति है, जो ग़रीबों की विपन्न मूर्तियाँ आविर्भूत कर देती है? क्या वह उनके ही पूर्व-जन्मों का अज्ञात प्रकाशन है? नहीं तो इतनी अनुभूति, इतनी सजीवता कैसे आवे। मैं जानता हूँ, लेखक अपने चरित्रों में जीता है; पर इन सभी चरित्रों के पीछे कोई न कोई व्यक्ति रहता है। यही बात प्रेमचंदजी ने मुझसे पूछी थी। उपन्यास के एक एक पात्र को लेकर मुझसे पूछा था, यह तुम्हें कहाँ से मिला? और मैं अपने ध्यान की व्यक्तियाँ बताता गया था। अब मैं देखना चाहता था, कालूखाँ इन्हें कहाँ से कैसे मिला। पर मैं आज दिन तक यह समझ न पाया, प्रेमचंद अपने पात्र कैसे पकड़ते थे। तब क्या पतंग जलकर ही दीपक के सभी सपनों का मर्म जान जाता है? एक बार दिल्ली में उन्होंने मुझसे पूछा—कुतुब देख आये? मैंने उत्तर दिया, जी नहीं, क़िले में उसकी एक बड़ी तसवीर देख ली है। ठहाका मार कर आपने कहा था—हाँ जी, हम लोगों के पास कल्पना भी तो है; उससे चाहे वह देख लें! दुनियाँ में न हो, वह भी देख लें।

समझा, तब यह वह कल्पना थी, जो आँखें देखकर दिल का दरिया नाप लेती थी, रोयें छू कर जीवन की ज्वाला देख लेती थी, आँसू और हास्य को निहार कर सुख-दुःख का इतिहास ज़ान लेती थी। पर कितने महिमामय वे मन के नैना थे? हमारे शिव का वह तीसरा नयन आज बन्द हो गया क्या?

बनारस की उन सड़कों पर हम साहित्य, कला, दर्शन, धर्म, इतिहास, विज्ञान सभी विषयों पर बातें करते चले जाते। 'हम' का प्रयोग तो संख्या वाचक है। अतः मैं तो श्रोता ही था। उनका अध्ययन मेरी पाठशाला था। और उन्होंने मेरी चुप्पी का अर्थ भी समझ लिया। एक दिन शाम, हम 'आज' कार्यालय के पास होकर गुज़रे और प्रेमचंदजी ने कहा—मैं तो हिन्दी में योंही आ गया हूँ। मुझे साहित्य-सेवा का अधिकार ही नहीं। मैं तो अब चला; जिन्दगी ख़तम हुई। पर तुम्हारे सामने अभी जीवन का जीवन पड़ा है। तुम सच्चे साहित्य-सेवी बनो।

और वे रुके ; मेरे भाव, मेरी रुचि, मेरी एकाग्रता जैसे तौली। मैंने उदासीन—उदासीन सन्ध्या को बेनियाबाग़ की घटाओं पर जैसे मूक पाया। वे बोले—अपने मार्ग, अपने अध्ययन, अपनी फ़िलॉसोफ़ी के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं हो सकता। अपनी आँखों से जीवन देखो ; अपने अनुभव से उसे जाँचो। जैसा पाओ, वैसा लिखो।

यह गुरु मंत्र न था ; उनके अपने अभाव (!) का एक सहृदय उद्गार था। पर मेरे लिए यह मंत्र ही था ; एक मशाल, जिसे हाथ में लेकर मैं अपने स्वप्न-मार्ग प्रकाशित कर सकूँ। नए होनहारों के लिए प्रेमचन्द का यह कथन क्या मार्ग-दर्शक नहीं है ? मैंने कमरे में पहुँच कर उसे नोट कर लिया। तब से, अधकचरा ही सही, इस दिशि में मैंने प्रयत्न अवश्य किया है। और मुझे मालूम हुआ है, वाक़ई इस विशिष्टता के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं कहला सकता। जीवन की पूजा, जो सौन्दर्य के असीम आनंद की आराधना है, आत्मा की गूढ़ आँखों के नयन-जल के बिना नहीं होती। वह व्यक्ति होना चाहिए।

प्रेमचन्द का यह पूर्णिमा-दर्शन मुझे दिल्ली-सम्मेलन बाद बम्बई से पत्र द्वारा हुआ था। पर दिल्ली में हिन्दी संसार का यह किसान एक अजब बल का धनी मिला। 'जागरण' बन्द क्यों नहीं कर देते ? प्रश्न। उत्तर—'मोह बन्द करने नहीं देता।' मैंने उनकी पुतलियों में एक अथाह निराशा देखी। बोले—'और फिर काम न करूँ, तो बैठा बैठा क्या करूँ ? जीवन में काम तो करना पड़ता है।' उस मनन-लीन भाव भंगिमा की तह में मुझे वह वीतराग मिला, जहाँ से झनकार करते हुए कर्म की एक नृत्य गति प्रारम्भ होती है। जीवन का प्रेम, जो जीवन का सर्व-सांत पाकर अधिक जलता है—अधिक रंग पकड़ता है, मिला वह मूक-भूमि में सोते हुए योद्धा की मानो मूर्च्छा हो। प्रेमचन्द क्या चाहते थे ? प्रसंग छोड़कर मैं पूछता हूँ। लोग कहते हैं, वे धन चाहते थे; यश चाहते थे ; प्रमोद क्षेत्र चाहते थे। श्रीनाथसिंह और अन्य ऐसे आन्दोलनों की चिल्ल-पों बहुत से अपराध बना चुकी हैं ; पर ये उनमें हों भी तो ये जीवन के अपराध हैं। पर प्रेमचन्द न यश चाहते थे, न धन, न प्रमोद-क्षेत्र ही। वह एक ज्वाला थी जो अपने लिए तेल चाहती थी, शिखा चाहती थी। सम्मेलन में जाने के पहले मैंने पूछा—आप सभापति बनने पर राज़ी होंगे ? मुक्त हास्य के साथ आपने कहा—बना दें भी तो ! फिर मज़ाक़ छोड़कर बोले—हिन्दी में आज हमें न पैसे मिलते हैं, न यश मिलता है। दोनों ही नहीं। इस संसार में लेखक को चाहिए किसी की भी कामना करे बिना लिखता रहे। तुम्हें लिखना हो तो यह बात नोट कर लो। हिन्दी को तपस्वी चाहिए , यह था उनका मतलब। प्रेमचंद का तपस्वीपन एक युद्ध शुद्ध मनुष्यत्व था। दिल्ली-सम्मेलन के संस्मरण मैं कभी भी नहीं भूल सकता। वे छः दिन अजर दिवस हैं और उनका ध्यान एक अपूर्व कम्पन। हरिऔध जी, प्रेमचंद जी आदि के साथ रहने का वह प्रथम अवसर था और हमारी छाती गज गज उछल रही थी।

प्रदर्शिनी का उद्घाटन हो चुका था और प्रेमचंद जी एक झुण्ड में खड़े थे। बोले—कोई नाई तो खोज लाओ।

शायद किशोरी लाल वाजपेयी थे, बोले—अब तक आपकी हजामत नहीं हुई ? इशारा श्रीनाथ सिंह जी के आन्दोलन की ओर था। मैं जल गया ; मन में आया,...पर ऐसे प्रसंग विष पीने के प्रसंग हैं और ये ही घूँटें कालान्तर में हृदय का बल बनती हैं— जीवन। प्रेमचन्द तो माधव प्रसाद खन्ना के पास जा बैठे ; पर दिवस भर मुझ पर चिन्तित वातावरण छाया रहा ; एक विषाद, जो दुःख की तीव्रता से पैदा होता है। यह था सूरे, सोफ़िया, अमरनाथ, होरी और धनिया के लेखक के प्रति हमारा सम्मान-भाव—बरताव। जिसके वरद हाथों

ने भूतनाथ और चंद्रकान्ता-संतति का मार्ग एक राजमार्ग में बदल दिया, उस प्रणवीर के प्रति हमारा यह विवेक क्या हमारी योग्यता नहीं बताता ?

पर प्रेमचन्द ? प्रेमचन्द को मैंने एक नई सजधज में देखा। अब तक मैं उन्हें प्रेस में—घर में पिता, आचार्य, सम्पादक, मित्र की भाँति ही देखता आया था—अब उन्हें गतिमान समाज के एक व्यापक दायरे में स्थित देखा। मुझे वे मनुष्य, एक अधिक मज़बूत और धुन के अच्छे महामना व्यक्ति मिले। पंडाल के द्वार पर एक स्वयं सेवक ने उनको भूल से रोक दिया, आप दर्शकों में जा बैठे। मीटिंग खतम होने पर जब लोग 'ये प्रेमचन्द ! ये प्रेमचन्द !' कहकर आपस में अँगुलियाँ बताते, जैसे आप जन-हीन मार्गपर चले जा रहे हों। और जब उस अखिल भारतीय साहित्य के मंच पर उनको लेकर एक खासा वैयक्तिक विवाद चल पड़ा, यह व्यक्ति सुदूर कनकौओं की लड़ाई देखने में मगन था। एक उदासीनता, जो जीवन की सजीवता का उद्गम है, मैंने उनकी उस वृद्ध देह में प्रकाशित देखी। शेर की तरह झपट कर उन्हों ने मेरे हाथ से अपनी धोती ले ली, जब मैं अपनी भावना में विभोर उसे धोने लगा था। 'यह न चलेगा ! भविष्य में कभी यह न करना ; नहीं !' पर मैं क्या करता ? सेवा ही मेरे प्राण की अभिव्यक्ति है उसके प्रति, जिसे मैं श्रद्धा, प्रेम, स्नेह से अपना स्वीकार करता हूँ। प्रेमचन्द के प्रति मैं अपनी भक्ति, अपनी श्रद्धा कैसे प्रगट करता ? मैंने जवाब दिया—मेरी भी तो कुछ चलने दीजिये ! और वे चुप। ओह ! वह घटना कितनी रोमांचकारी है ? मेरी इस करतूत ने उनपर जो प्रभाव डाला और उससे 'हंस' में उन्होंने मेरा जो 'ज़िक्र' किया, वह मैं ऊपर लिख चुका हूँ।

पर इस आन्तरिक आनंदमय स्पर्श की अनुभूति पर व्यंग जैसे सघन बदली था। मैंने प्रेमचन्द जी की भवों में एक वेदना सोई पाई। वह जैसे समस्त जीवन का उपहास कर रही हो, ऐसा मुझे लगा। वे उस व्यंग को पचाने की कोशिश कर रहे थे। मुझे लगा, वे इतनी परवाह क्यों करते हैं ? और मन में आया, यह उनसे कह दूँ। लेकिन वाह रे मैं, कितना ग़लत मेरा वह अंदाज़ था ? रात को उस निर्जन सड़क पर प्रेमचन्द का वह तरंग-विनिंदित मुक्तहास आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है, ऐसा गुंजार रहा है वह कि ट्रेन की यह कर्ण-कटु आवाज़ भी उससे मात हो रही है। जैसे अंतरिक्ष में वह सुन्दर हँसी एक अमर थाती के समान विहँसोही-प्रकृति ने संग्रह कर रखी है ! हम लोग—मोदी, मैं और वे—एक बजे रात कवि-सम्मेलन के हुड़दंग की ठेल-मठेल देख लौट रहे थे, आवास पर। एक-एक तुक्काड़ के नाज़-नखरे ले-लेकर यह दुःखी, दुःखी प्रेमचन्द हँस रहा था। हँस रहा था, जैसे सारा जीवन एक मस्त हास्य हो, आनन्द की एक तरंग। विजन-विजन चाँद दूधिया आकाश में और एक कातर स्वप्न-स्मृति की भाँति क़िले की काली-काली दीवारें। हम हँसते जा रहे थे। पर यह तो देखो, प्रेमचन्द मारे हँसी के टेढ़े हो रहे हैं, लक्कड़ ! हँस तो हम भी रहे थे, पर हमारे मन मानो सीकचों में बन्द मुँह झलका रहे हों—और इस साहित्य के 'होरी' को तो देखो, जैसे प्रतिपल एक नई हँसी हो ! चाँदनी रात का वह हास्य आज मुझे पूछ रहा है, तब क्या प्रेमचन्द प्रेम और आनन्द की आँसुओं भरी हँसी थे ?

बिछौने में उठ बैठते ही मिलनेवालों का ताँता लगा रहता था और यह दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे तक खतम न होता। हमें सज्जनों से कहना पड़ता, मुंशी जी को हाथ-मुँह तो धोने दीजिए। यह काम मोदी ने अपना कर्तव्य बना रखा था। न मालूम वह क्या सोच था, वह कौन-सी विरक्ति थी, जो उन्हें कपड़ों से, खाने से, पीने से अलग-सा रखती थी ? तेल डालियेगा न ? 'तुम्हारी इच्छा !' कुर्ता बदल लीजिये। 'अच्छा !'—ये ठंडे उत्तर थे।

दिल्ली के संस्मरण अधिकतर कष्टप्रद ही हैं। पर इन्हीं संस्मरणों के बल तो प्रेमचन्द

मुझे अधिक गहरे दिखे। फिर तो वे साल भर तक बम्बई रहे। सिनेमा-संसार में घूमते हुए भी आपने केवल एक ही फ़िल्म देखा था ; और यह भी धनीराम जी कह सुनकर लिवा ले गये थे। संयम की यह सीमा नहीं तो क्या है ? यहाँ तो नया फ़िल्म आया कि उड़े ! चाहे फिर पैसे उधार लेना पड़े। आपकी तबियत बम्बई में कैसी रही ? ये बोले—अच्छी रही ; संयम से रहते हैं, तो अच्छी क्यों न रहेगी ? मैं चुप रह गया। मन में सोचा, यहाँ तो असंभव ही ,का बोल-बाला है। प्रत्येक कमज़ोरी को या तो हम आज फ़ैशन के नाम में, माननीयता के लग़ो ख़्याल के नाम पर हक़ूक़ माने बैठे हैं ! आवश्यकता इस सदी और सभ्यता का रहनुमा शब्द है। प्रेमचन्द मेरे लिए यहाँ भी एक सबल चुनौती थे, उपरोक्त इशारा, उपदेश।

बम्बई में वे कैसे रहते थे ? धन उन्हें मिल रहा था ; पर उनके पत्र बता रहे थे, वे वहाँ अधिक दुःखी रहते थे। उन्होंने एक पत्र में लिखा था—धन कमाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। कब 'मे' खतम हो और कब बनारस उड़ूँ ? यहाँ फिर मज़े में ग़प-शप होगी। सिनेमा की अन्दर की असलियत ने उन्हें निराश ही किया। आदर्श-चेता व्यक्ति के लिए धोखे और पतन का दूसरा स्थान शायद ही और कोई हो, यह उनकी टिप्पणी की ध्वनि थी। मैं तो वहाँ आदर्श के प्रचार के लिए गया था, पर डाइरेक्टर के राज में कुछ नहीं हो सकता। आदर्श के प्रचार की भूख उन्हें थी। पर उसके पीछे मानव-जाति के कल्याण की कितनी लगन उफन रही थी, यह मैं जानता हूँ। उनकी इस भूख ने ही उन्हें इतना साधना-प्रिय बना दिया था।

अब बीमारी। गए अगस्त में घर से लौटा, तो मालूम हुआ वे बीमार हैं। मन में अज्ञात शंका पैदा हो गई। तब से बराबर वह ज्वाला जलती ही गई। पर बीमारी में वे खूब खुले। इसके पहले भी मैं ईश्वर और आत्मा पर उनके विचार जानता था ; पर शनैः शनैः मृत्यु के मुख में जाते हुए भी वे जीवन के प्रति वैसे ही रहे। 'यह तो होता ही रहता है।' 'आज' के प्रतिनिधि से आपने कहा था—हाँ, जन्म-मरण का चक्र तो चलता ही रहता है ; पर सौन्दर्य के पुजारियों का अंत कितना दुःखद है, ईश्वर ! और उसमें भी जीवन की सुन्दरता के उपासकों का। प्रेमचंद किसी उदासीन शक्ति को मानते थे। बीमारी भर वे मुझे समझाते रहे, कि जीवन में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। सन्तोष के लिए, अभाव के शमन के लिए, आशा की उत्तेजना के लिए उसकी कल्पना कर लो ; पर यह है अपने ही अहम् का विस्तरण। वे मनुष्य के एक सर्व-स्पर्शी सौन्दर्य के प्रकाश में विश्वास करते थे, जो मंगल और कल्याण के रूप में व्यक्त होता है; जिसका मार्ग त्याग है, तपस्या है। वे चाहते थे, हमारी सभ्यता का रूप इसी उद्देश्य की अनंत साधना का हो और सदाशय उनका अशस्त्र था। जीवन को वे ऐसा प्यार करते थे, मानो चींटी गुड़ की डली को। डॉ० अत्रेय को आपने कहा था, जीवन योगवाशिष्ठ्य लिखना नहीं है। बुद्धि का आलोक विलास के अन्तिम रूप में यदि हमें मिले, तो उसका मूल्य ही कितना है ? पर जीवन का उनका प्रेम उनके अन्तिम दिवसों को सतत युद्ध का रूप दे गया। मैं जानता हूँ, किस ललक से वे अच्छा होना चाहते थे। महीनों हो गए, क़लम नहीं पकड़ा। जीवन भर जिसने लिखा हो, मज़दूरी ही जिसके जीवन का आदर्श हो, वह यों खटिया कैसे तोड़ता रहे ? जब तक कमज़ोरी घर न कर गई, प्रेमचंद नीरव रात को लिखते रहे। जलन और रोग का भार उनके लिखने में बाधक न हो सका। लेकिन दिन आया, वह पड़े रहने के सिवा कुछ न कर सकते थे। ओह, घुटना हिलाते-हिलाते वे कभी-कभी आकाश में देखा करते थे, क्या वे किसी चिन्ता में यों देखा करते थे, मैं सोचता हूँ। पर नहीं, वे आँखें चिन्ता से नहीं, गंभीर ध्यानस्थता से ही टक रहती थीं। तब क्या वे जीवन की अन्तिम एकरूपता का अनुभव कर रहे थे ? वे कभी-कभी फूलों को निरखा

करते थे, क्या वे उनका मूक सुख-दुःख पूछते थे। यह कवि क्या देखता था उन फूलों में ? और काम करते हुए मज़दूरों को जब वे देखते थे, तब क्या वे किसी युग की ज्योति निहारते थे ? ये प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मैं स्वयं ही दे सकता हूँ। बीमार शरीर, पर सच्चे प्रेमचंद का कार्य तो जारी था।

एक दिन घबराकर मैंने पूछा—यदि कहीं कुछ हो गया तो क्या होगा ?

सहज उत्तर मिला—क्या होगा, मर ही तो जाऊँगा। तुम लोग हो। और फिर कौन जाने मैं मरूँगा भी।

पर इस सन्देह के हृदय में मुझे जीवन का गहरा-घना मोह ही मिला—वह अनुराग जो बिन्दु से सागर, सागर से महासागर होता रहता है; जो स्वरूप से विरूप होने की चेष्टा में असीम है, अनन्त है। प्रेमचन्द की दार्शनिक भूमि घोर जड़वाद के निकट ही एक मानवीय प्रयत्न-वाद थी। वे मनुष्य की सभ्यता में उसके आन्तरिक मंगल का उत्तरोत्तर विकास चाहते थे। उनका आध्यात्म जीवन का खुलकर जीना था। अपने समय की मूल प्रवृत्तियों का उनमें एक क्रियात्मक केन्द्र था, जहाँ से उनके स्वप्न जो स्वस्थ, सप्रेम-मानव-समाज का दिवस देखने को लालायित रहते थे, फूटते रहते थे। और आज का मनुष्य उन्हें मोहे बिना कैसे रहता ? प्राचीनता के रूढ़, जर्जर और प्राणहीन स्वरूप का यह कट्टर विरोधी नवीनता के भयों को भी भलीभाँति जानता था। खास कर भारतीय दार्शनिक सम्पत्ति पर उनका रोष प्रबल था। अतः संघर्ष की तरंगों में क्रान्त मनुष्यों में बातूनी दार्शनिक उन्हें जला देता था। ईश्वर और धर्म मनुष्य के अहम् की चरम सीमा है, यह उनका प्रोफ़ेसर मेहता 'गोदान' में एक जगह कहता है। यह प्रेमचन्द की असहाय पुकार है।

मज़दूरी को वे अपना धर्म मानते थे, इतना कि विलास से उन्हें जघन्य घृणा थी। एक उदाहरण, जो दुःखद हास्य का प्रतीक है, उनके आत्मा की इस मज़बूत नींव को बता देगा। उनकी चारपाई घेरे हम सब बैठे थे और शिवरानी देवी उन्हें सन्तरे का रस पिला रही थीं। मैंने कहा—आजकल तो आपके चेहरे पर सुर्खी नज़र आती है। डाक्टर ने भी हामी भरी और जो वहाँ थे, सभी ने हाँ में हाँ मिलाई। प्रेमचन्द ने बड़ी रमुज के साथ उत्तर दिया—'हाँ जी, आजकल संतरे भी तो खूब खा गया हूँ!' एक क़हक़हा ! पर इस चुटकी में कितनी गहरी लड़ाई बोल रही है, ताल ठोंक रही है ! मज़दूर, ग़रीब—एक निराश्रित अपाहिज शोषण के सार्वभौम चक्र में पीसित प्रेमचन्द की प्रेरणा का सर्वदा झरित उद्गम था। इस दीन हीन अंधकार के प्राणी में वे प्रकाश की संगीत-पूर्ण पीढ़ियाँ मानो पा जाते थे। अतः प्रतिदिन लिखने का उन्होंने धर्म बना लिया था। 'मैं मज़दूर हूँ, जिस दिन न लिखूँ, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है।' उनके ये शब्द जीवन का वह वाक्य है जो जीवन ही से प्रगट हुआ है। इसीलिए वे जीवन की आग से लिखा करते थे; इसीलिए वे समाज के सड़े को दूर करने का जिहाद करते रहते थे; इसीलिए हमें उनका एक योगात्मक जीवनवाद साहित्य में मिलता है। उसने हमारे भूत की थोथी बहकों की परीक्षा की, उनकी चिल्लाहटों से बहरे हमारे जीवन को देखा और वर्तमान के संघर्ष की नस-नस पहचानी। वह नवयुग के प्रकाश को क्षितिज के पार देख चुका था, उन आँखों से जो कलाकार की होती हैं। मालती ! वहाँ चलो, जहाँ चाँदनी में सपने सो रहे हैं ! मैं पूछता हूँ, उनके वे स्वप्न क्या थे ? अवश्य वे प्रेम-पागल मानव-जाति की कामना के स्वप्न ही थे।

पर इतना होते हुए भी क्या वे निराश न थे ? घुटने हिलाते-हिलाते उन्होंने एक बार

मुझसे कहा था—ये लड़के जैसे यहाँ पैदा हुए हैं, कहीं और हो जाते ! जैसे हवा की आँधी लाखों मच्छड़ों को उड़ा ले जाती, बाट तबाह कर जाती है, हमारा जीवन भी उसी के समान है। और इसके परे शायद वे देखना न चाहते थे। मैं पूछता हूँ, क्या तब सौंदर्य का, मंगल का उनका स्वप्न इस निष्ठुर नींव पर रेंगता था ? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। मैं तो उनकी वह हँसी जानता हूँ, जहाँ जीवन की अँधेरी-उँजेरी एक विस्मृति में किलकती रहती थी।

इस युग का उनका सम्मान बहुत ऊँचा था। वे इस समय की जड़ताओं को जानते हुए भी मनुष्य-मनुष्य के प्रतिदिन बढ़ते जाते सम्पर्क के क़ायल थे। और यहीं उनकी लोक-संग्रह की भावनाओं का निवास-स्थान था। निश्चय ही सभ्यता के खेत में प्रेमचन्द एक विशिष्ट व्यक्ति थे, जो हमारी आज की सत्प्रेरणाओं के गत्यात्मक अभिव्यञ्जन करती है। पर वे विकार को आदर्श मानने को तयार नहीं थे। आदर्श सत्य का एक स्वप्न है, एक झाँकी है, एक स्वयं-स्फूर्त अनुभूति है—वे यह मानते थे।

पर अन्तिम दिवसों में वे कैसे तपे थे, गले थे, लड़े थे ! 'मैं एक बुढ़िया का हृदय चाहता हूँ, जनार्दन ! यों अब जीया नहीं जाता।' बुद्धि की ज्वालाओं में जल-जलकर जीवन का यह पतंग सिवा जलन के और कुछ न पा सका तब ? ओह, निश्चय, वैसा जीवन तो अखंड दीपक का जलना भर है। वे कलाकार थे, हृदय का दरिया न मालूम कितनी पूर्णिमाओं से जल रहित हुआ था ; पर अन्त में वे सहस्र शीर्षा रूप हो गये ! और मैंने उन पुतलियों में अन्तिम बार देखा, एक नीरव सुनसान मैंने पाया। कौन रहस्य यह जीवन है, मैं सोचता हूँ। पण्डित वे न थे, विचारक थे, द्रष्टा थे—पर उन्हें क्या मिला ? कौन जानता है यह ?

लेकिन क्या प्रेमचन्द सचमुच ही मर गये हैं ? पाठको, विश्वास है आपको कि यह जीवन की सड़क कूटनेवाला 'होरी' सदा के लिए नष्ट हो गया ? यह कैसे हो सकता है ? हाँ, उनकी रथी निकल गई ; मणिकर्णिका घाट के गंदे कोने में उनका पिण्ड भस्म हो गया। पर प्रेमचंद ? क्या वे भ्रान्ति थे, स्वप्न थे, एक खयाल थे ? ओह, क्या मैं आत्मा के अमर अस्तित्व में विश्वास कर लूँ ? प्रेमचंद, मर कर तुम मुझे आत्मा का स्पर्श बता गए। प्रेम की मेरी ये निराश तरंगें निर्जन तट को चूम लौट आती हैं और मैं कभी-कभी अकेला पाता हूँ अपने को। एक दिन मैंने उनसे कहा था, आप ही मेरे विश्वास के समस्त भवन हो गये हो। और 'लीलू अंगारिया' मैं आप ही के लिए लिखूँगा। आज यह विजन मैं क्या आपके बिना निराश हूँ ?

नहीं। मुझे उनके मृत्यु से दुःख नहीं है। पर मेरी चिन्ता और ही है। मैं पूछता हूँ, सौन्दर्य की यह लहर क्या कर गई इस शोषण और मरण की लीला-भूमि में ! हमारे युग की यह आवाज़ आज क्या सदा के लिए थम गई ? कदापि नहीं। जब उनके पात्र, उनकी वाणी हमारी जड़ रगों में जीवन भर रही हैं, भरेंगी, तब क्या उनका वह स्वप्न-वेत्ता ही क्षणभंगुर था ? यह तो जीवन का, समय का, समस्त का, दुःखांत व्यंग होगा। तब अमर प्रेमचंद में हमारा विश्वास हमारे उनके अभाव में, वियोग में, प्रेम में, ज्यों का त्यों है।

कितनी बार तब से मैंने उनकी कल्पना की है ! वे कहाँ होंगे ? क्या कहीं जन्म ले लिया होगा वा किसी गन्धर्व योनि में गए होंगे। किस लोक को वह ज्योतिर्मय हंस उड़ गया ?

पर ये प्रश्न ही प्रश्न हैं, जो प्रतिध्वनि के अपने ही तीर से मूक हो जाते हैं। और मुझे उन्हें पूछना ही न चाहिए। लेकिन इतना तो अवश्य है, प्रेमचंद की ऐसी स्मृति के होते हुए जीवन को दुःखद काला, निराशापूर्ण अभाव कैसे माना जाए !

केवल तीन ख़त

[भदन्त आनन्द कौसल्यायन]

विद्यार्थी जीवन में मुझे इस बात का अभिमान था कि मैं न कभी कोई उपन्यास पढ़ता हूँ न नाटक। अच्छे लड़कों को उपन्यास, नाटक पढ़ना न चाहिए। एक मित्र ने बड़ी कोशिश से मेरे गले यह बात उतारी कि सभी नाटक, सभी उपन्यास हेय नहीं हैं। उन्होंने कहा कि तुम प्रेमाश्रम और सेवा-सदन पढ़ कर देखो तो तुम्हारी सम्मति बदल जायगी। मैंने उन्हें पढ़ना शुरू किया ; मुझे अच्छे लगे। लेकिन चूंकि मैं इतनी जल्दी हारने, कम से कम, हार मानने के लिए तैयार न था, मैंने बिना समाप्त किये ही उन्हें रख दिया।

अब मैं इस बात पर अभिमान करने लगा कि मैं प्रेमाश्रम और सेवा-सदन जैसे उपन्यासों को बिना समाप्त किये छोड़ सका। पर जिसे मैं अपनी जीत घोषित करता था वह थी मेरी हार। प्रेमाश्रम और सेवा-सदन का जादू मुझ पर असर कर गया था।

कुछ ही दिन बीतने पाये थे ; न जाने कब और कैसे मैंने मन को समझा लिया। एक दिन मेरे हाथ चुपके से फिर प्रेमाश्रम और सेवा-सदन उठा लाये और मुझको होश तब आई जब मैंने दोनों को समाप्त कर दिया। 'कर्मभूमि', 'कर्बला' 'वरदान'—अब जो मिलता वह पढ़ता, और कहा करता कि जो बातें धर्मग्रन्थों में नहीं हैं वह प्रेमचन्द के उपन्यासों में हैं। धर्म-ग्रन्थ उपदेश देकर तबियत को चिढ़ाते हैं, प्रेमचन्द उपदेश न देकर उपदेश दे जाते हैं।

किसी समय उपन्यास नाटकों से नाक भौं सिकोंड़नेवाला विद्यार्थी अब प्रेमचन्द की भाषा और उनके भावों की प्रशंसा करते न अघाता था। वह उनके किसी भी ग्रन्थ को लेकर बैठता, काग़ज क़लम उसके हाथ में रहती—न जाने कहाँ कौन अनमोल रत्न मिल जाय ? रत्नों की उन चुस्त वाक्यावलियों में क्या कमी थी ?

× × ×

सन् १६२८ से '३५ तक के साल मेरे जीवन के जलावतनी के साल रहे हैं। इधर सिंहल, बर्मा, स्याम और यूरोप के एक-दो देशों में ऐसा भटकता रहा कि कभी-कभी किसी मासिक पत्र में प्रेमचन्द जी की कोई रचना पढ़ लेने के अतिरिक्त सिलसिले से कुछ न पढ़ सका। सन् १६३५ में जब कुछ स्थिरता के साथ सारनाथ में रहने लगा तब सुना कि हमारे महाबोधि विद्यालय में एक विद्यार्थी है जो प्रेमचन्द जी का सम्बन्धी है और जो उनका पत्र लेकर विद्यालय में भर्ती होने आया था। प्रेमचन्द जी का कोई अपना हमारे विद्यालय में पढ़ता है, सुन बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने चि०

कृष्णचन्द को बुलवा भेजा और उससे पता लगा कि सारनाथ से कुल डेढ़ दो कोस की दूरी पर लमही में प्रेमचन्द जी रहते हैं और आजकल घर पर ही हैं। मैंने धर्मदूत* के दो-तीन अंकों के साथ चि० कृष्णचन्द के हाथ पत्र भेजा। अगले दिन उत्तर मिला—

२५—८—३५

'प्रिय कौसल्यायन जी, वन्दे !

तीनों अंक मिले। अनेक धन्यवाद। मैं दिन भर घर पर रहता हूँ। इस मास के अंत तक बाहर जाने वाला हूँ। मकान ले रखा है। आप आने का कष्ट करें तो बड़ी कृपा हो।

भवदीय

प्रेमचन्द।'

पत्र पाकर हृदय में बड़ी गुदगुदी उठी। इतनी आसानी से इतने बड़े कलाकार के दर्शन करने को मिलेंगे। वह कैसे होंगे? किसी के लेख में पढ़ा था कि खद्दर का कुर्ता पहिने दिन भर काग़ज़ पर क़लम दौड़ाया करते हैं। उनका अमूल्य समय मैं लूँगा, क्यों लूँगा? तो न जाऊँ? लेकिन बिना जाये कैसे रह सकूँगा? यदि आज इस इच्छा को दबा लिया, तो यह कल फिर तंग करेगी। ऐसी हालत में अच्छा है कि आज इसे पूरा कर ही लिया जाय। लेकिन कुछ-न-कुछ बात जो करनी होगी। इच्छा तो केवल यह थी कि एक-आध घंटा मुझे चुपचाप उनके पास बैठे रहने भर की छुट्टी मिल जाय; लेकिन चुपचाप कौन किसे बैठने देता है—इस सभ्यता के युग में?

सोचा, तो कुछ प्रश्न ले चलूँ। लेकिन प्रश्न करने के लिए भी तो अक़ल चाहिए, ज्ञान चाहिए और ईंजानिब हैं 'साहित्य-संगीत-कला-विहीनः'। इस तरह के नाना विचार उठते रहे और स्कूल की छुट्टी हो गई। चि० कृष्णचन्द ने पूछा—'चलेगें?' मैंने कहा 'हाँ' और साथ हो लिया।

× × ×

खेतों की मेड़ों पर बड़ी सावधानी से चलते हुए, कहीं-कहीं बरसाती पानी के छोटे-छोटे गढ़ों को फादते-लाँघते मग़रिब में डूबते सुनहरी सूर्य की किरणों का आनंद लूटते उस समय घर पहुँचा जब सूर्य अस्त हो रहा था, हो चुका था। कृष्णचन्द ने जाकर खबर दी। अन्दर से कुण्डी खटकी और सामने की बैठक का दरवाज़ा ऐसे खुला जैसे कोई परदा हटा हो। उसके पीछे से एक हँसती हुई मूर्ति ने ऐसे अपनेपन से मेरा स्वागत किया कि मुझे अपनी बेवकूफ़ी पर हँसी आने लगी—ऐसी घरेलू तबियत के आदमी से मिलने के लिये इतनी उधेड़बुन! उन्होंने बात छेड़ी—शायद राहुल जी का हाल पूछा, मैंने उत्तर दिया। सिंहल साहित्य की बात चली और फिर तो प्याज़ के छिलकों की तरह एक बात में से दूसरी बात ऐसे निकलती गई कि कितना ही समय व्यतीत हो गया और पता ही नहीं लगा। एक बार ईश्वर की चर्चा भी चली। उन्होंने कहा 'जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वह भी किसी स्वजन के मरने पर रोते हैं; जो मानते हैं उनसे भी बिना रोये नहीं रहा जाता। ऐसी हालत में ईश्वर के मानने का फ़ायदा?' मुझे पता लगा कि हमारा कलाकार निरंतर विकसित हो रहा है। उस दिन लौटते समय अँधेरे और बरसात के कारण रास्ते में कुछ कष्ट हुआ, काफी कष्ट हुआ, लेकिन उससे तो तीर्थयात्रा का पुण्य भी बढ़ा।

× × ×

सिंहल-प्रवास के कारण मुझे वहाँ की भाषा और साहित्य का कुछ ऊपरी ज्ञान हो गया

* सारनाथ से 'धर्मदूत' नामक एक छोटा-सा पत्र निकलता है।

है। जिस समय भारतीय साहित्य-परिषद के मुख-पत्र के रूप में 'हंस' निकलना आरम्भ हुआ, मुझे ख्याल आया कि सिंहल साहित्य का भी उसमें कुछ स्थान रहना चाहिए। एकाध सिंहल कविताओं के अनुवाद 'हंस' में छपे। एक दिन मैंने श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का एक विचार-पूर्ण लेख पढ़ा, जिसका शीर्षक था 'बुद्धिवाद'। मुझे अच्छा लगा। उसमें बुद्ध-विचार के बारे में कुछ विचार थे। उनके विचारों के सम्बन्ध में एक छोटा-सा नोट लिखकर उस चर्चा को आगे बढ़ाने का अपना लोभ संवरण न कर सका। 'बुद्ध का बुद्धिवाद' शीर्षक से मैंने काँपते हाथों कुछ पंक्तिया लिखीं—किसी के विचारों की आलोचना करना और उसको भरसक कटु न होने देना कठिन अभ्यास-साध्य कार्य है। और उन्हें सम्पादक 'हंस' के पास भेज दिया। मैं उन दिनों सिंहल में था। लौटती डाक से प्रेमचन्दजी ने उत्साह बढ़ाया—

१४-२-३६

'प्रिय आनंद जी,

आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी ज़रुरत थी। छापूंगा।
हाँ, सिंहल साहित्य के विषय में अगर कोई लेख भेज सकें तो बड़ा अच्छा हो। इसे तो हम कुछ जानते ही नहीं। उसका कुछ आलोचनात्मक इतिहास ही हो तो कोई हर्ज नहीं।
अगर इंगलैण्ड जायें तो वहाँ से 'बौद्ध साहित्य' पर एक अच्छा-सा लेख लिखें, केवल उसके धर्म-सहित्य पर नहीं, बल्कि बौद्धकालीन साहित्य पर। ऐसे लेख की बड़ी ज़रूरत है।
आशा है आप प्रसन्न हैं।

आपका,
प्रेमचन्द।'

मैंने हिन्दी पत्रों में अधिक लेख नहीं लिखे; इसलिए अपने सम्पादक-प्रवरों से कोई विशेष पत्र-व्यवहार भी नहीं रहा। लेकिन जिन-जिन सम्पादकों ने कभी-कभी कुछ लिख कर मुझे उत्साहित किया है उनमें कभी किसी ने इतनी नपी तुली उत्साहवर्धक पंक्ति नहीं लिखी—'आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी ज़रूरत थी। छापूंगा।'

× × ×

दूसरी बार इगलैण्ड जाने का विचार छोड़ कर मैं सिंहल से वापस सारनाथ चला आया। एक दिन मुझे भारतीय साहित्य-परिषद के मंत्री की चिट्ठी मिली जिसका मतलब था कि यदि कोई आपत्ति न हो तो वह मुझे भा० सा० परिषद का सभासद बना लेना चाहते हैं। हिन्दी-भाषा-भाषियों में सिंहल साहित्य से कुछ परिचय रखने वाला—यही अपने राम की विशेषता समझी गई होगी। मैंने धन्यवाद पूर्वक प्रतिज्ञा-पत्र भर कर लौटा दिया। किसी भी संस्था का सभासद बनते समय एक भिक्षु के लिये जो बात विचार लेने की होती है, वह चन्दे की है। सो इसमें न था। भा० सा० परिषद के उद्देशों से मेरी सहानुभूति थी और है, तथा मैं श्रद्धा-पूर्वक कुछ सेवा करना चाहता था और चाहता हूँ। सभासद बनने के बाद मेरे पास भा० सा० परिषद के मंत्री के दस्ताक्षर से कभी-कभी पत्र आने आरम्भ हुए—लेकिन सभी अंग्रेज़ी में। सम्भव है कभी कोई हिन्दी में आया हो, लेकिन दिमाग़ पर ज़ोर डालने पर भी तो याद नहीं आ रहा है। मैं स्वयं अंग्रेज़ी में पत्र लिखता हूँ; कभी-कभी भारत में भी और वैसे भारत के बाहर।

जो दो चार भाषाएँ जानता हूँ, उन सब में समय-समय पर पत्र लिखते रहना चाहता हूँ—कम से कम इसी ख्याल से कि अभ्यास बना रहे। लेकिन भा० सा० परिषद के मंत्री तो बिल्कुल दूसरी चीज़ है। वह अपने व्यक्तिगत पत्र चाहे जिस भाषा में लिखे लेकिन भारतीय-साहित्य परिषद् के मंत्री के पत्र तो उसे हिन्दी में और केवल हिन्दी में ही लिखने या लिखवाने चाहिये। हिन्दी में न लिख कर यदि किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखे तो भी मुझे आपत्ति नहीं, लेकिन भा० सा० परिषद का मंत्री और पत्र लिखे एक अभारतीय भाषा में और ऐसी अभारतीय भाषा में, जिसकी मानसिक गुलामी से देश को मुक्त करना हमारी राष्ट्रीय समस्या है। कुछ इसी प्रकार के विचारों से क्षुब्ध होकर मैंने प्रेमचन्द जी को एक पत्र लिखा। उत्तर मिला—

'प्रिय आनंद जी,

क्या आप समझते हैं, अंग्रेज़ों की गुलामी से भारतीय परिषद् मुक्त है ? जब कांग्रेस की सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेज़ी में होती है, तो भारतीय परिषद् तो उसी का बच्चा है। मन्त्री जी हिन्दी नहीं जानते, मगर हिन्दी के भक्त अवश्य हैं। अगर आप ऐसे भक्तों को दबायेंगे तो वह भाग खड़े होंगे।

'हंस' सितम्बर से सस्ता साहित्य देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके सम्पादन से इस्तीफ़ा दे दिया है। मैं इधर एक महीने से बीमार हूँ।

अगर अच्छा हो गया तो यहाँ से अपना एक नया पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचार-धारा के अनुसार निकालूँगा।......'

मुझे आशा है, इस नई योजना में मैं आपकी मदद पर भरोसा कर सकूँगा।

प्रेमचन्द।'

इस पत्र को उद्धृत कर चुकने पर मन में इतने भाव उठ रहे हैं कि आगे कुछ लिखा नहीं जाता। उस दिन बीमारी की अवस्था में मैं कविवर मैथिलीशरण जी के साथ जो उनके दर्शन कर आया, बस वही अंतिम दर्शन रहे। 'अगर अच्छे हो जाते—' तो उनकी अंत के दिनों की इच्छा थी 'एक नया-पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचार-धारा के अनुसार निकालने की।' मुझे यह देखकर संतोष और हर्ष हो रहा है कि माता शिवरानी देवी 'हंस' को चलाये जा रही हैं। उसका यद्यपि नाम पुराना ही है, लेकिन है वह प्रेमचन्द जी का 'नया पत्र।'

मुझसे उसकी जो 'मदद' बन सकेगी, वह मेरा सौभाग्य होगा।

प्रेमचन्द

[श्री ऋषभचरण जैन]

मुझे प्रेमचन्द को पास से देखने और समझने का कुछ मौक़ा मिला था और मेरी राय है कि वह सचमुच बहुत बड़े आदमी थे। यों 'बड़ा आदमी' उसे भी कहा जाता है जिसके पास बहुत-सा रुपया हो, और उसे भी जो बहुत लिखा-पढ़ा हो या जिसने अपनी आत्मा को ऊपर उठा पाया हो। लेकिन इन सभी तरह के बड़े आदमियों के बड़प्पन का पता हमें उनकी बाहरी तड़क-भड़क देखकर या धुआँधार स्पीच या फिर आत्म-ज्ञान के लम्बे लेक्चर सुनकर ही होता है। प्रेमचन्द एक ऐसे आदमी थे जिनके पास रुपया ख़ुदा का नाम ही था, किसी ख़ास तरह की डिग्री भी नहीं थी, जिसके सहारे उनकी गिनती दुनिया के बड़े भारी पढ़े-लिखों में की जा सकती। फिर भी वह एक बहुत बड़े आदमी थे।

प्रेमचन्द का जीवन सख्तियों और मुसीबतों की एक किताब है। उन्हें न बचपन में गेंद-बल्ला खेलना नसीब हुआ, न जवानी में इश्क़बाज़ी का मौक़ा मिला; अधेड़ होने पर भी दिल, दिमाग़ और तन के लिए वह चीज़ें हासिल न हुईं, जिनके सहारे आज के साहूकार बुढ़ापे में जवान बने रहते हैं। उन्होंने हमेशा मोटा खाया और मोटा पहना। वह ग़रीब बाप के बेटे थे और ग़रीबी की डरावनी छाया में उन्होंने स्कूल और कॉलेज की सीढ़ियाँ पार कीं। जिस वक्त वह बी० ए० पास करके एक स्कूल के मास्टर हुए, तो उनके जीवन की ताज़गी जा चुकी थी, वह अब जवानी और बुढ़ापे की चौखट पर खड़े थे। उनके मिज़ाज़ का रंग फीका पड़ गया था, और दुनिया की तरफ़ उनकी तबीयत का रुख़ अजीब बन गया था। यही वह ज़माना था, जब हिन्दुस्तान में गाँधी की आँधी चल रही थी और लोग सूखे तिनकों की तरह उसमें उड़े जा रहे थे। लोग मुल्क पर क़ुर्बान हो जाने के लिए पागल हो रहे थे। तभी ही आँधी के एक झोंके ने प्रेमचन्द को भी हिला दिया और उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया।

फिर उनका कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में हेडमास्टर बनना, एक विधवा से विवाह करना, पहले नवाबराय और फिर प्रेमचन्द के नाम से उर्दू और हिन्दी में लिखना—यह ऐसी बातें हैं जिन्हें आप में से शायद सभी जानते होंगे या हाल ही में अखबारों में उनके बारे में निकले हुए लेखों में आपने पढ़ लिया होगा। मैं यहाँ ऐसी कुछ बातें बताना चाहता हूँ, जो बहुत ही कम लोगों को मालूम हैं और जिनसे उनके जीवन के इस-उस पहलू पर रोशनी पड़ती है।

प्रेमचन्द से मैं जब पहले-पहल मिला तो मैं थोड़ा-बहुत लिखना शुरू कर चुका था।

लेकिन यह वह स्टेज था, जब आदमी खुद यह नहीं जानता कि बड़े लोग उसकी चीज़ों के बारे में क्या सोचते हैं। मेरा एक नावल 'मास्टर साहब' तभी छप चुका था और उस वक्त मुझे उस पर कुछ इतना नाज़ था कि मैंने इस डर से प्रेमचंद के पास उसकी कापी न भेजी कि कहीं वह उस पर नापसन्दी की मुहर न लगा दें। इस वक्त वह 'माधुरी' में थे। मैं चाहता था, खुद मिलने पर अगर उनके साथ तबीयत की मीज़ान खा सकी तो 'मास्टर साहब' उन्हें दिखाऊँगा। लेकिन मेरे अचरज की हद न रही, जब उन्होंने खुद ही 'मास्टर साहब' का ज़िक्र छेड़ा और बताया कि उसे उन्होंने पढ़ा है और वह उन्हें पसन्द आया है।

तब तो उनसे बातचीत का लंबा सिलसिला छिड़ा। वह एक निहायत सीधी सादी बैठक में निवार के नंगे पलँग पर बैठे थे जहाँ न गद्दा था, न तकिये थे, न ग़ालीचों की बहार थी और न झाड़-फ़ानूस ही दिखाई देते थे। बदन पर शायद गाढ़े की एक घटिया सिलाई की क़मीज़ और धोती थी; और अधपके बाल और किसान जैसा चेहरा लिए उस हिन्दी के उपन्यास-सम्राट से ऐसी ऐसी बातें हुईं, जिन्हें सुनकर मुझे अनेक बार चमकना पड़ा।

तभी प्रेमचन्द के विचार जानने का वास्ता पड़ा।

वह पक्के 'आइडियलिस्ट' थे। अपने उपन्यास-कहानियों में उन्होंने शायद मोटेराम शास्त्री की 'सत्याग्रह' और कुछ दूसरी कहानियों को छोड़कर हमेशा 'आइडियलिज़्म' का पल्ला पकड़े रक्खा। मेरा उनसे इस मामले में विरोध था। मैं कहता था कि उपन्यास-कहानी के मामले में हमें सन्त, महन्त, लेक्चरर या धर्म-गुरु बनने की ज़रूरत नहीं; कहानियाँ ज़िन्दगी की तस्वीरें हैं और ज़िन्दगी कमज़ोरियों का मजमुआ है। उनका कहना था कि कहानी लिखी जाती है दिल-चस्पी के लिये और शिक्षा के लिए। मेरा कहना था, कहानी दिलचस्पी के लिए ज़रूर लिखी जाती है, लेकिन दिल की भूख मिटाना कहानी का सबसे पहला काम है। हो सकता है कि आपकी भूख सदाचार का लेक्चर देनेवाली कहानी से मिटती हो, लेकिन मेरी भूख, गी द मोपासाँ, एण्टन चेखव, वाशिङ्गटन इर्विंग और रवीन्द्र की कहानियों से मिटती है; या खुद अपनी कहानियों से भी मिटती है। लेकिन इन सब बातों के जवाब में उन्होंने एक मार्के की दलील दी थी जिसका मतलब था कि, हिन्दुस्तान को फ़िलहाल प्रेमचन्द की कहानियों की ज़रूरत है, गी द मोपासाँ और एण्टन चेखव की नहीं।

सच, हिन्दुस्तान को आज भी प्रेमचन्द की कहानियों की ही सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। क्या उनके 'सप्त-सरोज' की सातों कहानियाँ ऐसी चीज़ें नहीं, जिसे हज़ारों बरस तक एक ऋषि की वाणी समझकर 'हमारे बच्चे पढ़ें? क्या उनकी चार सौ के क़रीब कहानियों में जीवन का कोई ऐसा पहलू है, जो ज़ाहिर होने से रह गया हो? क्या उनकी कहानियाँ हमें हिन्दुस्तान के कल, आज और आनेवाले कल की चमका देनेवाली झाँकी नहीं देतीं? प्रेमचन्द की बहुत-सी कहानियाँ हमारी राय में धर्ममन्दिरों तक में पढ़ी जाने लायक़ हैं।

उसूल का मतभेद दूसरी बात है, लेकिन मैं सच्चे दिल से प्रेमचन्द को हिन्दुस्तान का प्रतिनिधि कहानीकार (Representative story-writer) मानता हूँ। खेत, किसान, गाँव, ढोर, खलिहान—हिन्दुस्तान की बपौती है और इन चीजों के इर्द-गिर्द घूमती हुई जितनी कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखी हैं, उतनी और किसी ने नहीं। इसीलिए मैंने प्रेमचन्द को हिन्दुस्तान का Representative story-writer कहा है और जहाँ तक मैं समझता हूँ—ठीक कहा है।

लेकिन जब एक बार मैंने उनसे पूछा कि हिन्दी में आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन-

सी है, तो उन्होंने सीधे-साधे ढँग से जवाब दिया कि उनकी सबसे अच्छी कहानी अभी छपी ही नहीं है। कितना अजीब जवाब था! सच तो यह है कि इसी जवाब में उनकी महानता का भेद छिपा हुआ था।

मैंने प्रेमचन्द का हरेक उपन्यास पढ़ा है। यों तो उनके सभी उपन्यास लोगों ने पसन्द किये हैं, लेकिन 'रंगभूमि' मेरी राय में उन्हीं का नहीं, हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा उपन्यास है। 'रंगभूमि' में कहानी है, काव्य (Poetry) है, फ़िलौसफ़ी है, मनोविज्ञान (Psychology) है और ढूँढने पर नीति, धर्म और सोशलिज़्म का भी बहुत-सा मसाला मिल जायगा। 'रंगभूमि' हमारी ज़िन्दगी जा खाका है, जिसके जोड़ की कल्पना थैकरे के 'वैनिटी-फेयर' में और मेरी कॉरिली के 'वेण्डेट्टा' में ज़रा-ज़रा मिल जाय तो मिल जाय, वरना दुनियाँ में और कहीं नहीं मिलेगी।

'रंगभूमि' में तो हमारी आत्मा की जीती-जागती तस्वीर खड़ी दिखाई देती है, जहाँ हम अपने घर का, अपनी सोसाइटी का, अपने देश का सीधा और सच्चा खाका देख पाते हैं।

'प्रेमाश्रम' और 'सेवा-सदन' भी प्रेमचन्द की जानी हुई चीज़ें हैं। लेकिन इन चीज़ों को सिर्फ़ उपन्यास कहना उनके साथ बेइन्साफ़ी करना है। मैं तो इन दोनों चीज़ों को बीसवीं सदी के 'रामायण', 'महाभारत' समझता हूँ, जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान की सोसाइटी के असल रूप की बढ़िया Allegory (अलंकृति—रूपक) की है।

प्रेमचन्द के दूसरे उपन्यास 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'ग़बन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' अपने-अपने ढँग की अच्छी चीज़ें हैं और, ऊपर लिखे तीनों उपन्यासों की लाइन में एक के बाद दूसरी का अपना-अपना अच्छा स्थान है।

प्रेमचन्द की आदत में 'प्रोपेगण्डा' की जगह न थी। उन्होंने इतनी किताबें लिखीं, लेकिन एक छोटी-सी कहानी 'समर-यात्रा' को छोड़कर कभी उनकी कोई चीज़ ज़ब्त न हुई। उनकी निगाह हर किसी की तरफ़ हमदर्दी से भरी थी। वह आदमी की कमज़ोरियों को भूल ही नहीं जाते थे, उनमें दिलचस्पी लेते, थे और उनकी इज़्ज़त करते थे। उनका भाव न सरकार के लिए नफ़रत-भरा था, न हिन्दू-मुसलमान, ईसाई के लिए उनके मन के विचारों में भेद था। वह आदमी थे और आदमियों के ही प्रतिनिधि (Representative) थे, और उन्होंने कभी अपने आपको विचलित न होने दिया।

प्रेमचन्द का स्वभाव बहुत ही हँसमुख और दिल्लगीबाज़ था। बात का जवाब ऐसा बावन तोले पाव रत्ती देते थे, कि सुननेवाले दङ्ग रह जावें। चीज़ों के बारे में उनका भाव बहुत ही आनन्द-भरा रहता था। उनकी क़लम में और सूरत में जो सिधाई हम देखते हैं, उनकी बातों से ऐसा न लगता था। वह एक मिठास-भरे आदमी थे, जिनके चेहरे-मोहरे पर चाहें वक़्त की सख़्ती असर कर गई हो, लेकिन दिल ज्यों-का-त्यों, कच्चे दूध की तरह मधुर और स्वच्छ था। पाँच बरस पहले जब वह दिल्ली आये थे, तो मैं, जैनेन्द्र और वह क़ुतब मीनार की सैर को गये। साथ में थोड़ी-सी पूड़ियाँ थीं। खाने बैठे तो सवाल हुआ कि पानी कौन लावे। मैंने कहा, जो जायेगा, वह घाटे में रहेगा; क्योंकि पूरियाँ कम हैं। जैनेन्द्र की राय थी कि मुझे ही यह ख़तरा लेना चाहिए। लेकिन प्रेमचन्द ने कहा—मैं बूढ़ा आदमी हूँ, मैं जाता हूँ, मुझ पर आप लोग ज़रूर ही रहम करेंगे। पानी तो उन्हें न लाने दिया गया, लेकिन उनकी बात ने हमें खूब हँसाया। जब मैंने उनसे कहा कि क़ुतुब की लाट पर चढ़ा जाये, तो हज़रत जवाब देते हैं कि नीचे खड़े हुए इस लाट का बड़प्पन हमारे दिलों पर है, ऊपर चढ़ने पर वह कम हो जायगा; इसलिए ऊपर चढ़ना

मुनासिब नहीं। इसी मौक़े पर हमने एक फ़ोटो खिंचवाया। जब इस फ़ोटो की कापी प्रेमचन्द को भेजी गयी, तो उन्होंने लिखा—'फ़ोटो मिला ; मेरा मुँह टेढ़ा आया है, क्या करें, नसीब ही टेढ़ा है।' इसी मरतबा एक और घटना भी हो गई थी। उस मौक़े पर दिल्ली की हिन्दी-प्रचारिणी-सभा ने उन्हें मान-पत्र देने का निश्चय किया। प्रेमचन्द शायद उसी रात को चले जानेवाले थे। लेकिन अकस्मात् एक पंजाबी सज्जन ने खड़े होकर कहा—'साहबो, मैं प्रेमचन्दजी को आज न जाने दूँगा। बरसों पहले की बात है ; मेरे बुरे दिन आ गये। मैं लाहौर का निवासी हूँ, लेकिन बुरे वक़्त में अपना शहर छोड़कर रोज़गार की तलाश में कलकत्ता पहुँचा। उस समय मेरी जेब में सिर्फ़ १) था। इत्तफ़ाक से स्टाल पर एक उर्दू का रिसाला बिक रहा था, जिसमें मुन्शी प्रेमचन्द की एक 'मन्त्र' नाम की कहानी छपी थी। साहबो, मैंने जेब के उस आखिरी रुपए का मोह छोड़कर रिसाला खरीद लिया और इस कहानी ने मेरे जीवन में ऐसा 'मन्त्र' फूँका कि आज मेरा जीवन एक दम बदल गया है।' यह महाशय अब दिल्ली में ठेकेदारी का व्यापार करते हैं और सम्पन्न हैं। उन्होंने प्रेमचन्द को जाने न दिया और दूसरे दिन सब लोगों को अपने यहाँ आमन्त्रित किया।

प्रेमचन्द चले गये हैं। लेकिन क्या इस तरह के छोटे-मोटे लेख में हम उनकी महानता का वर्णन कर सकते हैं? इसके लिए तो वक़्त चाहिए और क़ाबिल लिखनेवाले भी चाहिए। मैं तो फ़िलहाल इस तरफ़ लोगों का ध्यान बटाना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान के इतने बड़े आदमी के जीते जी हम उसके साथ-साथ इन्साफ़ न कर सके।

श्री प्रेमचन्दजी की याद में

[श्री महेशप्रसाद, मौलवी आलिम फ़ाज़िल]

सन् १९१२ ई० में श्री प्रेमचन्द जी हमीर ज़िला में शिक्षा विभाग के सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर थे। महोबा में रहते थे। मुझे ठीक याद नहीं कि मई का महीना था या जून का जब कि मुझे आर्य समाज के एक प्रचारक के रूप में महोबा जाना पड़ा था। उस समय मुझे उन्हीं के यहाँ ठहरना पड़ा था। यही पहला अवसर था कि मुझे केवल दर्शन का ही सौभाग्य प्राप्त न हुआ था बल्कि उनके यहाँ ठहरने और सात-आठ दिनों तक ठहरने के कारण उनके आचार-विचार से भी बहुत कुछ लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

मैं उस समय नवयुवक था। सांसारिक अनुभवों से बहुत कम परिचित था। वह मुझसे कहीं अधिक अनुभवी थे। अतः दोनों समय एक साथ भोजन करने, दिन-रात में कई बार बातचीत होने से निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में उनसे लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हुआ था—

(१) आर्यसमाज और उसके कार्य-सम्बन्धी बातों के विषय में।

(२) उनके द्वारा ही मुझे ईसाइयों के उस कार्य के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ था जो उस समय केवल महोबा में ही नहीं, बल्कि हमीरपुर ज़िले में भी हो रहा था। उन्होंने बताया था कि हमारी सामाजिक त्रुटियों का ही फल है कि महोबा अथवा बुन्देलखण्ड के स्थानों में हिन्दुओं के अनेक लड़की-लड़के ईसाइयों के घरों में पहुँच गये हैं।

(३) महोबा से सम्बन्ध रखनेवाली कई ऐतिहासिक बातें मुझे उनसे ही मालूम हुई थीं, और उन बातों के जानने के कारण महोबा को विशेषरूप से देख सका था।

(४) कुछ बातें लेखन-शैली विषयक थीं।

उस समय मेरे साथ दो महाशय और थे। हम तीनों का सत्कार उन्होंने निरन्तर सात-आठ रोज़ तक जिस प्रेम व नम्रता के साथ किया था उसको हम कभी भूल नहीं सकते। निदान आज, जब कि उन के व्यक्तित्व और उनके उस सद्व्यवहार, सरलता व उदारता का ध्यान दिल में आता है, तो प्रशंसा और श्रद्धा के भाव हृदय से निकले बिना नहीं रह सकते।

सन् १९१२ ई० के बाद उनसे पुनः मिलने का अवसर सन् १९२१ ई० में बनारस में मिला था। महोबा में मिलने व ठहरने का स्मरण दिलाते ही उनको पूर्व बातों का ख्याल आ गया। इसके पश्चात् कभी-कभी मिलना-जुलना बराबर हो ही जाता था परन्तु यह बात कहे बिना नहीं रह सकता कि सन् १९२१ ई० या उसके बाद में उनकी प्रतिष्ठा सन् १९१२ ई० से यद्यपि कहीं

अधिक हो गई थी तथापि उनमें नम्रता व सरलता आदि सद्भावों में कुछ कमी मुझे प्रतीत न हुई, बल्कि वह भी उन्नति के शिखर पर ही बैठी हुई प्रतीत हुई।

(२)

श्री प्रेमचन्द जी को जो अक्षय कीर्ति हिन्दी में प्राप्त है वह स्पष्ट ही है ; उर्दू में भी उनकी प्रतिष्ठा हिन्दी से कम नहीं है।

२४ और २५ अक्तूबर सन् १९३६ ई० को अलीगढ़ में उर्दू की एक विशेष सभा हुई थी। उसमें भारत के अनेक भागों के वह लोग सम्मिलित हुए थे जिनको उर्दू के प्रति प्रेम है। उस अवसर पर श्री प्रेमचन्द जी के बारे में मुझ से अनेक लोगों ने जो कुछ पूछा और उनकी मृत्यु पर अनेक उर्दू समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में जो कुछ छपा उससे मालूम हुआ कि मुसलमान उर्दू भक्त भी उनको उसी आदर की दृष्टि से देखते थे।

यह कहना भी अनुचित नहीं कि श्री प्रेमचन्द जी हिन्दी जगत् में प्रायः उपन्यास लेखक, कहानी लेखक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु 'जागरण' और 'हंस' के लेख व टिप्पणी आदि इस बात के साक्षी हैं कि वह कुछ और भी थे। इसके सिवा उर्दू के कुछ पत्र पत्रिकाओं में उनके जो लेख किसी किसी समय में अनेक विषयों पर निकल चुके हैं उनसे स्पष्ट है कि वह अच्छे टिप्पणी-कार, समालोचक, उच्च कोटि के विचारशील व्यक्ति थे। उनकी एक पुस्तक उर्दू में 'बा कमालों के दर्शन' के नाम से प्रकाशित है। इसमें अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं। यह चरित्र भाषा, विचार और शैली की दृष्टि से बड़े अच्छे हैं।

बहुत दिन हुए उन्होने अपना एक उर्दू लेख किसी पत्रिका में छपवाया था। वह भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला था। मुझे खेद है कि न तो इस समय उस पत्रिका का नाम याद आ रहा है और न उस लेख का ही।

(३)

'ज़माना' पत्रिका के सम्पादक मुशी दयानारायण निगम जी के साथ श्री प्रेमचन्द जी का घनिष्ट सम्बन्ध था। सन् १९२३ ई० में निगम जी को एक छोटे बच्चे की मृत्यु का दुःख सहना पड़ा था। इस अवसर पर निगम जी को आपने जो पत्र उर्दू में लिखा था उसका आशय यह था—

'भाई जान ! तस्लीम—

कल प्रातःकाल एक पत्र लिखा। सायंकाल आपका कार्ड मिला। पढ़कर दुःखी हुआ। बीमारियाँ और परेशानियाँ तो जीवन के तत्त्व हैं ; किंतु बच्चे की शोकजनक मृत्यु एक हृदय विदारक घटना है और उसे सहन करने का यदि कोई ढंग है तो यही है कि संसार को एक तमाशा का स्थान या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में वही व्यक्ति प्रशंसा का भागी होता है जो जीत से फूलता नहीं, हार से रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह उद्योग होता है कि लड़े नहीं। हार के बाद जीत की अभिलाषा होती है। हम सबके सब खिलाड़ी हैं, किन्तु खेलना नहीं जानते। एक बाज़ी जीती, एक गोल जीता, तो 'हिप हिप हुर्रे' की ध्वनि से आकाश मण्डल गूँज उठा, टोपियाँ आकाश में उछलने लगीं, भूल गये कि यह जीत सर्वदा के लिए विजय की गारण्टो नहीं है कि दूसरी बाज़ी में हार न हो। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट रहे कि यदि हारे तो उत्साहरहित हो गये, रोये, किसी को धक्के दिये, फ़ाउल खेला और ऐसे उत्साहहीन हो गये मानो फिर जीत के मुख देखने का सौभाग्य

प्राप्त न होगा। ऐसे ओछे, अधम व्यक्ति को खेल के विस्तृत मैदान में खड़े होने का कोई अधिकार नहीं। अँधेरी कोठरी और पेट की चिन्ता, केवल यही उसके जीवन की सृष्टि है।

हम क्यों खयाल करें कि हमें हमारे भाग्य ने धोखा दिया? ईश्वर को क्यों कोसें? हम इस विचार को सम्मुख रखकर क्यों दुखी हों कि जगत् हमारे सामने से हमारी भरी थाली खींच लेता है? क्यों इस चिन्ता से पीड़ित हों कि डाकू हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है? जीवन को इस दृष्टि से देखना अपने हृदय की शान्ति से हाथ धोना है। बात दोनों एक ही है। डाकू ने छापा मारा तो क्या, हार में घर की सारी पूंजी खो बैठे तो क्या? भेद केवल यह है कि एक बात मजबूरन होती है और दूसरी बात अपनी ओर से होती है। डाकू ज़बरदस्ती जान और माल पर हाथ बढ़ाता है, किन्तु हार ज़बरदस्ती नहीं आती। खेल में सम्मिलित होकर हम स्वयं हार और जीत को बुलाते हैं। डाकू के द्वारा लूटा जाना जीवन की साधारण बात नहीं, बल्कि यह तो एक असाधारण घटना है। खेल में हारना और जीतना साधारण बातें हैं। जो खेल में सम्मिलित होता है वह भलीभाँति जानता है कि हार और जीत दोनों सामने आयेगी। इस कारण उसे हार से निराशा नहीं होती, जीत से फूल नहीं जाता। हमारा काम तो केवल खेलना है—खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस प्रकार बचाना, मानो हम दोनों लोकों की सम्पत्ति खो बैठेंगे। किन्तु हारने के पश्चात, पटखनी खाने के बाद, धूल झाड़कर हमें खड़े हो जाना चाहिए और फिर ताल ठोंककर विरोधी से कहना चाहिए कि एक बार और!

खिलाड़ी बनकर वास्तव में आपको बहुत शान्ति प्राप्त होगी। मैं स्वयं नहीं कह सकता कि इस कसौटी पर मैं पूरा उतरूँगा या नहीं, पर अब मुझे किसी क्षति पर इतना खेद कदापि न होगा जितना आज से कुछ वर्षों पूर्व हो सकता था। मैं संभवतः अब यह न कहूँगा कि हाय, जीवन व्यर्थ हुआ! कुछ न किया!

जीवन खेलने के लिए मिला था। खेलने में कमी नहीं की। आप मुझसे अधिक खेले हैं। हार और जीत दोनों देख चुके हैं। आप जैसे खिलाड़ी के लिए भाग्य को कोसने की आवश्यकता नहीं। कोई गोल्फ़ और पोलो खेलता है, कोई कबड्डी खेलता है। बात एक ही है। हार और जीत दोनों ही मैदानों में हैं। कबड्डी खेलने वाले को जीत की प्रसन्नता कुछ कम नहीं होती। इस हार के लिए खेद न कीजिए। आपने स्वयं खेद न किया होगा। आप मुझसे अधिक अभ्यासी हैं।' इत्यादि......

मृत्यु से कुछ काल पहले मैं कई बार उनकी सेवा में पहुँचा था। वह जान गये थे कि अब बीमारी से छुटकारा पाना असंभव है; किन्तु उनके मुख या शब्दों से किसी प्रकार भी घबराहट या चिन्ता प्रतीत नहीं होती थी। निदान जो कुछ उन्होंने लिखा वह सर्वथा उन पर चरितार्थ हो रहा था। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे!

प्रेमचन्द

श्री गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

प्रेमचंद ! तुम छिपे, किन्तु यह नहीं समय था
प्रेमसूर्य का अभी कहाँ हा ! हुआ उदय था।
उपन्यास औ' कथा-जगत तमपूर्ण निरन्तर—
दीप्यमान था अभी तुम्हारा ही कर पाकर।

अस्त हुए तुम, त्वरित यहाँ छा गया अँधेरा ;
दिया भ्रांति ने डाल तिमिर में आकर डेरा।
उपन्यास है सिसक रहा, रो रही कहानी ;
देख रहे यह वदन मोड़ कैसे तुम मानी !

सोचो, उससे रूठ भागना कभी उचित है ?
जिसमें आत्मा, प्राण, देह—सर्वस्व निहित है !
क्या-क्या इसके हेतु नहीं तुमने हैं वारे ?
गल्प तुम्हारा और गल्प के थे तुम प्यारे !

हिंदी-उर्दू बहन-बहन को गले मिलाया ;
आपस के चिर बैर-भाव को मार भगाया।
रोती हिंदी इधर, उधर उर्दू बिलखाती ;
भला आज क्यों तुम्हें नहीं करुणा कुछ आती ?

छोड़ सभी को क्षीण-दीन तुम स्वर्ग सिधारे ;
रोक नहीं हा ! सके तुम्हें शुचि प्रेम हमारे।
आज नहीं तुम, किंतु तुम्हारी लिखी कहानी—
सदा रहेगी जगत-बीच बन अमिट निशानी।

मुन्शी प्रेमचन्द मरहूम

[मौ० मुहम्मद आक़िल एम० ए०, जामिया मिल्लिया, दिल्ली ।]

प्रेमचंद जी को कहानियों के एक मशहूर और कामयाब लेखक की हैसियत से तो मैं बहुत पहले से जानता था लेकिन उनसे मेरी ज़ाती वाक़फ़ियत दिसम्बर १९३५ में पहली बार बनारस में हुई। मैंने बनारस नहीं देखा था और मैं चाहता था कि हिंदू धर्म, सभ्यता और शिक्षा के इस केंद्र की यात्रा करूँ। यह वह ज़माना था जब भारतीय साहित्य-परिषद ने प्रेमचंद जी के रिसाला 'हंस' को अपना लिया था और कुछ दिनों तक मेरा नाम भी इसके सलाहकारी मण्डल में एक सदस्य की हैसियत से छपता रहा था। प्रेमचन्द जी इस रिसाले की जान थे। वही उसको पूरी तरह तरतीब देते थे, वही उसको अपने सरस्वती प्रेस में छापते थे; नाम को भारतीय साहित्य-परिषद् ने इसे अपनाया था वरना 'हंस' हर समय प्रेमचंद जी का ही था। बहरहाल सलाहकारी मण्डल में सदस्य बनने के बाद प्रेमचंद जी से जान पहिचान होना लाज़िमी बात थी। दूसरे, मैं जामिया मिल्लिया के रिसाला 'जामिया' की भी देख-भाल किया करता था। इसलिए अपने रिसाले के वास्ते कहानी या मज़मून लिखाने के लिए भी मुझे अक्सर प्रेमचंद जी के पास ख़त भेजना पड़ते थे। इस तरह बग़ैर एक दूसरे को देखे हुए हम दोनों एक दूसरे को जानने लगे थे। वह मुझे कम जानते थे, लेकिन मैं उनकी शोहरत की वजह से ज़्यादा जानता था।

बनारस जाने में, जहाँ बनारस की और चीज़ों को देखने की ख्वाहिश थी, वहाँ सब से ज़्यादा तमन्ना प्रेमचंद जी से मिलने की थी। इसलिए बनारस रवाना होने से पहले मैंने प्रेमचंद जी को, यह पता चलाने के लिए ख़त लिखा कि जब मैं वहाँ पहुँचूँगा, वह बनारस में मौजूद होंगे या नहीं। उन्होंने इसके जवाब में मुझे दावत दी कि मैं बनारस में उन्हीं के यहाँ आकर ठहरूँ। मैं बनारस में उनके यहाँ तो न ठहर सका। मेरे एक करमफ़र्मा मौलवी अब्दुलमजीद साहब मदनपुरा में रहते हैं। उनके वहाँ होते हुए और कहीं ठहरना तो मुमकिन न था, इसलिए ठहरा तो मैं उनके यहाँ; लेकिन उनके मकान पर सामान रखने के बाद पहली बात जो मैंने दर्याफ़्त की वह प्रेमचन्द जी का पता था, और पहला काम जो मैंने किया वह प्रेमचंद जी से मुलाक़ात था।

प्रेमचंद जी का मकान क्वींस कॉलेज के पीछे एक मुहल्ले में था। प्रेमचंद जी जिस मकान में रहते थे वह दोमंज़िला और ख़ासे पुख्ता क़िस्म का था। इसके गिर्द एक अहाता

नी था लेकिन बनारस के इस हिस्से की आबादी कुछ ज़्यादा गुंजान न थी और आस पास की फ़िज़ा और माहौल में भी कुछ क़स्बाती कैफ़ियत पाई जाती थी। प्रेमचंद जी के अहाते में सब्ज़ा, फ़ूल-फुलवारी कुछ न थी, मकान में कुछ ठाठ या शान नज़र न आती थी। प्रेमचन्द जी मकान के बालाई हिस्से में रहते थे। नीचे के हिस्से में प्रेस का काम होता था जिसके सबूत के लेए टाइप के हुरूफ़ इधर-उधर देखे जा सकते थे। नीचे के हिस्से में शायद किसी तरफ़ एक गाय रहती थी। मैंने दरवाज़े पर दस्तक दी। दो दफ़े कुंडी बजाने पर एक आदमी निकला जो मुझे ज़ीने के रास्ते से ऊपर प्रेमचंदजी के कमरे में ले गया। उनकी मुलाक़ात का ख़ास कमरा या दफ़्तर, जिसमें कुर्सियाँ और मेज़ लगी हुई थीं, इस वक़्त बन्द था। उस कमरे का पता मुझे दूसरे रोज़ लगा था जब मैं मिस क़िलबोर्न और डाक्टर अलीम के साथ दोबारा उनसे मिलने गया था। इस रोज़ जिस कमरे में मेरी उनसे मुलाक़ात हुई वह ख़ासा बड़ा, खुला हुआ, साफ़-और हवादार कमरा था। ज़मीन पर सफ़ेद चाँदनी का एक फ़र्श बिछा हुआ था। एक कोने में एक नेवाड़ी पलँग था जिसके क़रीब एक पीकदान रखा हुआ था। प्रेमचंद जी फ़र्श पर बैठे हुए थे और एक कापी पर हिन्दी में अपने किसी नाविल के ममविदे को, जिसको वह जल्द छपवाना चाहते थे, लिख रहे थे। प्रेमचंद जी के तआरुफ़ की कोई ज़रूरत ही न थी। उनकी तसवीरें मैं बाहर देख चुका था। मेरा तआरुफ़ अलबत्ता ज़रूरी था सो मैंने खुद ही कर दिया और उनसे गुफ़्तगू का सिलसिला शुरू हुआ।

ख़ास तौर पर बातचीत हिन्दू-मुसलमान के ताल्लुक़ात के बारे में थी। इसी ज़माने में 'हंस' में मैंने एक मज़मून, 'हिन्दू मुसलमान किधर जा रहे हैं?' के उनवान से लिखा था। पहले इसपर गुफ़्तगू होती रही, फिर भारतीय साहित्य-परिषद और 'हंस' की ज़बान के सख्त होने के बारे में। इसी ज़माने में बहुत सी तनक़ीदें उर्दू के मुख़्तलिफ़ अख़बारों और रिसालों में छपी थीं, ख़ासकर डाक्टर अशरफ़ की तनक़ीद जो अलीगढ़ के रिसाला 'सुहेल' में निकली थी, जिसमें प्रेमचंद जी से ख़ास तौर पर शिकायत की गई थी कि वह उर्दू के बेहतरीन अदीब होने के बावजूद भी बहुत कठिन हिंदी लिखते हैं। फिर सरहदी सूबे में हिंदी के बारे में जो सर्कुलर निकला था उसका भी तज़किरा हुआ। ग़रज़ यह कि और ऐसी ही बहुत-सी बातें मेरे और उनके सामने थीं। और एक ऐसी ज़बान के पैदा करने का सवाल भी था जो एक तरफ़ अरबी और फ़ारसी की ठूंस-ठाँस से आज़ाद हो और दूसरी तरफ़ संस्कृत और भाषा के अलफ़ाज इसमें बहुत ज़्यादा न हों। मेरा कहना था कि अगर आपस का इख़्तिलाफ़ और फ़र्क़ इस तरह बढ़ता गया, जैसा कि दोनों तरफ़ के इन्तिहा-पसंद कोशिश कर रहे हैं तो लाज़िमन् यह नतीजा निकलेगा कि हिंदुस्तान में एक तमद्दुन, तहज़ीब और ज़बान की जगह दो मुख्तलिफ़ तमद्दुन तहज़ीबें और ज़बानें पैदा हो जायँगी। एक शुमाली मग़रिबी इलाक़े का तमद्दुन और ज़बान और दूसरी वस्ती और जुनूबी का। संस्कृतियों का इख़्तिलाफ़ मुमकिन है बढ़कर क़ौमी तफ़रीक़ का बाइस बन जाय और हिंदुस्तान में एक हुकूमत और क़ौम की जगह दो मुख्तलिफ़ हुकूमतें और क़ौमें पैदा हो जायँ। एक उत्तरी पश्चिमीय हिस्से की क़ौम और हुकूमत और दूसरी मध्य और दक्षिणी प्रदेशों की। इस सिलसिले में मैंने अपने एक मज़मून का भी हवाला दिया था जो रिसाला 'जामिया' में 'हिंदू और मुसलिम क़ौमी तहरीकें और हिंदुस्तानी क़ौमियत की तहरीक' के उनवान से शाया हुआ था।

प्रेमचन्द जी मौजूदा हालत पर अफ़सोस कर रहे थे और इसकी ज़िम्मेदारी मज़हब की ग़लत ताबीर पर कर रहे थे। प्रेमचन्द जी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मज़हब पर कोई एतक़ाद नहीं है, पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबियत का यही रंग

है। बाज़ लोगों की तबियत तो मज़हबी होती है, बाज़ लोगों की ला-मज़हबी। मैं मज़हबी तबियत रखनेवालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबियत रस्मी मज़हब की पाबन्दी को बिल्कुल गवारा नहीं करती। उन्होंने कहा कि मेरी संस्कृति और तर्ज़े-माशरत भी मिलाजुला है, बल्कि मुझ पर मुसलमानों की तहज़ीब का हिन्दुओं की तहज़ीब से ज़्यादा असर पड़ा है। मैंने मकतब में मियाँ जी से फ़ारसी, उर्दू पढ़ी। हिन्दी से बहुत पहले मैंने उर्दू में लिखना शुरू किया, हिन्दी ज़बान मैंने बाद में सीखी। इस सिलसिले में देहली के रिसाले 'साक़ी' ने जो तनक़ीद की थी कि प्रेमचन्द जी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं उसके बारे में हँसकर कहने लगे कि 'साक़ी' के एडीटर को मैंने लिखा है कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ़ ज़िन्दा हूँ बल्कि ज़्यादा ज़ोरों से जी रहा हूँ। मेरे दो एक नावेलों को छोड़कर, जिनका मैं जल्द उर्दू एडीशन शाया करने वाला हूँ और मेरे तमाम नावेल और बेशतर कहानियाँ उर्दू और हिन्दी दोनों ज़बानों में शाया हो चुकी हैं। कभी मैं उर्दू में पहले लिखता हूँ, और उसका हिन्दी में अनुवाद करता हूँ, और कभी हिंदी में लिखता हूँ और बाद में उसका उर्दू तर्जुमा करके शाया कराता हूँ। उनका कहना था कि हिंदू-मुसलमानों के यह सब इख्तिलाफ़ात बनावटी और झूठे हैं, दरअसल दोनों एक हैं। इस ज़माने में ग़ालिबन् वह तरक्क़ीपसन्द मुसन्निफ़ों की अंजुमन के सदर बन चुके थे और मज़हब के बारे में उनके खयालात और भी आज़ाद-पसन्द हो गये थे। कहने लगे कि मैंने सज्जाद ज़हीर और उनके साथियों से कहा कि भाई, हम बुड्ढे हो गये, लेकिन दिल उन सब बातों को करना चाहता है जो तुम लोग कहते हो, इसलिए हम भी अपनी नाव तुम्हारे तूफ़ानी समुन्दर में डालते हैं। अब यह जिधर भी जाय, हमें इसकी फ़िक्र नहीं। वह निहायत दिलचस्प अंदाज़ में मज़े ले-लेकर बातें कर रहे थे। बीच-बीच में क़ह-क़हे लगाते जाते थे, मालूम होता था उमंग, जोश और ज़िन्दगी का सैलाब उनके अन्दर उबल रहा है। मैं उनके बाज़ू पर बैठा हुआ था। उनके सामने एक गोरी रंगत के नौ-जवान जो कॉलेज में पढ़ते थे, बैठे हुए थे। यह ग़ालिबन् उनके कोई क़रीबी अज़ीज़ मालूम होते थे, क्योंकि वह कभी-कभी उठकर घर के अंदर चले जाते थे। इसी गुफ़्तगू के दौरान में कुछ देर के लिए सम्पूर्णानन्दजी के छोटे भाई भी आकर बैठ गये थे। गुफ़्गू का सिलसिला अर्से तक जारी रहा। प्रेमचंद जी को उसीवक्त एक सभा के सालाना जलसे की सदारत के लिए भी जाना था। इस सभा का मक़सद यह था कि मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने के पहले जो हिंदी इस मुल्क में रायज थी उसे आम किया जाय और उसके लिए सभा ने तालीम का बंदोबस्त कर रखा था। प्रेमचंद जी इस सभा के बारे में मुझसे गुफ़्गू कर रहे थे कि मोटर आ गई और वह मुझे अपने साथ सभा के जलसे में ले गये।

× × ×

यह तो मेरी प्रेमचन्द जी से पहली मुलाक़ात थी। इसके बाद दूसरी मुलाक़ात सन् ३६ में देहली में हुई। प्रेमचंद जी हिंदू मुसलमानों के मेल के लिए कोई बड़ा और मुस्तक़िल काम करना चाहते थे, इसलिए वह जामिया मिल्लिया में आये और उन्होंने हम लोगों को एक जलसे का इंत-ज़ाम करने को आमादा किया। उन्होंने कहा कि देहली के उर्दू के अदीबों को जमा करने का आप लोग इन्तज़ाम कीजिए और हिंदी के अदीबों को मैं और जैनेन्द्रकुमार साहब यहाँ आने की दावत देंगे। चुनांचे चाय पर उर्दू और हिंदी अखबारनवीसों की एक खासी बड़ी तादाद इकट्ठी हो गई। शुरू में ग़ैररस्मी बात-चीत में प्रेमचंद जी ने उर्दू और हिंदी अदीबों के मिलने और तबादला खयाल करने की अहमियत पर ज़ोर दिया। चाय के खत्म होने पर बाक़ायदा जल्सा शुरू हुआ जिसमें प्रेमचंद जी ने एक निहायत पुरअसर तक़रीर में इस बात को खूबी के साथ समझाया कि जब तक उर्दू और हिन्दी के अखबारनवीस आपस में दोस्ताना ताल्लुक़ात पैदा करके एक दूसरे के खयालात

और नुक़्तयेनिगाह को हमदर्दी के साथ समझने की कोशिश न करेंगे, उस वक़्त तक इत्तफ़ाक़ और इत्तहाद की कोशिशें कभी कामयाब नहीं होंगी। और लोगों की तक़रीरें हुईं और नतीजा यह निकला कि 'हिन्दुस्तानी सभा' नाम की एक संस्था स्थापित कर दी गई। उसके जो मेम्बर थे वह और आगे बढ़े और उन्होंने एक मुश्तरका हिन्दुस्तानी ज़बान पैदा करने का भी इरादा कर लिया। उन्होंने कहा कि ऐसी ज़बान लिखनी चाहिए जिसमें न अरबी-फ़ारसी के अलफ़ाज़ ज़्यादा आएँ, न संस्कृत-भाषा के, बल्कि सीधी-सादी ठेठ हिन्दी हो। प्रेमचन्द जी को खुद इस बात पर ज़्यादा विश्वास न था। हिन्दी और उर्दू दोनों ज़बानों के एक निहायत अच्छे लेखक होने की वजह से वह इस बात को खूब जानते थे कि रोज़मर्रा की बात-चीत और मामूली बातों को इस तरह की ज़बान में बयान किया जा सकता है, लेकिन जब कभी ज़रा ऊँचा उठकर गहरी बात कहनी ही होगी तो उसके लिए संस्कृत, अरबी या फ़ारसी की मदद लेना ज़रूरी होगा। प्रेमचन्द जी जब कहानियाँ लिखते थे तो उसकी ज़बान तो बहुत सादा और आमफ़हम होती थी, और हिन्दी और उर्दू दोनों ज़बानों को जानने वाले उससे मज़ा ले सकते थे। लेकिन जब कोई इल्मी, तनक़ीदी या गहरी बात उन्हें लिखना होती थी तो उर्दू में खूब फ़ारसी अरबी के अलफ़ाज़ और हिन्दी में संस्कृत के शब्द इस्तेमाल करते थे। इससे उनके उर्दू जाननेवाले दोस्त जब उनकी हिन्दी को पढ़ते थे तो उन्हें बहुत गुस्सा आता था कि प्रेमचंद जी ने यह क्या ज़बान लिख दी और जब उनके हिन्दी जानने वाले मित्र उनकी उर्दू को पढ़ते थे तो उन्हें बहुत क्रोध होता था कि प्रेमचन्द जी कैसी कठिन फ़ारसी अरबी लिखते हैं। चुनांचे तरक़्क़ीपसन्द मुसन्निफ़ों की सभा में जो उन्होंने भाषण दिया था उस पर हिन्दी वालों ने बड़ी ले-दे की थी। इसलिए इन सब बातों को अच्छी तरह जानते हुए प्रेमचन्द जी तो आसानी से एक मुश्तरका हिन्दुस्तानी ज़बान के पैदा होने की आशा नहीं कर सकते थे। उनका मक़सद शुरू में 'हिन्दुस्तानी सभा' क़ायम करने से सिर्फ़ यह था कि हिन्दी और उर्दू लिखनेवाले एक जगह मिलकर बैठें, एक-दूसरे के खयालात मालूम करें, एक-दूसरे को समझें; और दोस्ती और मुहब्बत की वजह से एक-दूसरे के साथ मुरौवत और इज्ज़त से पेश आयें, और जब अपने अखबार, रिसाला या किताब में कोई बात लिखें तो इस बात को भी दिल में रखें कि उसका पढ़नेवाला हमारा उर्दू जाननेवाला मुसलमान मित्र या हिन्दी जाननेवाला हिन्दू दोस्त भी है, जो बात हम लिख रहे हैं कहीं उसे वह नागवार न हो। लेकिन जब 'हिन्दुस्तानी सभा' के दूसरे मेम्बरों ने कहा कि हम एक मुश्तरक हिन्दुस्तानी ज़बान भी बनाना चाहते हैं, तो उन्होंने उसकी मुखालफ़त नहीं की। यह प्रेमचन्द जी से मेरी दूसरी मुलाक़ात थी।

× × ×

प्रेमचन्द जी से मेरी तीसरी मुलाक़ात भारतीय साहित्य-परिषद के नागपुर वाले अधिवेशन में हुई। प्रेमचन्द जी और मैं एग्रीकलचरल कॉलिज के बोर्डिङ्गहाउस में बिल्कुल बराबर-बराबर कमरों में थे और दो-तीन दिन तक मेरा उनका रात-दिन का साथ रहा। उस मौक़े पर भारतीय साहित्य-परिषद् के खुले अधिवेशन में प्रेमचन्द जी ने बड़ी दिलेरी और हिम्मत का काम किया। वह रिसाला 'हंस' के एडीटर थे। रिसाला 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद् का ऑरगन था, भारतीय साहित्य-परिषद् के कर्त्ता-धर्ताओं में उनका शुमार होता था। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन वाले चाहते थे कि भारतीय साहित्य-परिषद् का सब काम हिन्दी द्वारा हुआ करे। महात्मा गांधी ने एक बीच का रास्ता निकाल कर कहा था कि उसका सब काम 'हिन्दी अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी' द्वारा हुआ करे। मौलवी अब्दुलहक़ और मैंने इसकी मुखालफ़त करते हुए कहा था कि हिंदुस्तानी का लफ़्ज़ एक दरमियानी लफ़्ज़ है जो न हिन्दीवालों को नागवार होना चाहिए न उर्दूवालों को। लेकिन

यह बात तसलीम नहीं की गई। उस मौक़े पर मामला कुछ ऐसा आ पड़ा था कि महात्मा जी की बात की मुख़ालफ़त करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई थी। लेकिन प्रेमचन्द जी खड़े हुए और उन्होंने हिन्दुस्तानी के द्वारा भारतीय साहित्य-परिषद् की काररवाई की जाने पर एक निहायत ज़ोरदार तक़रीर की। उर्दू के हलक़े में यह बात मशहूर है कि इसकी वजह से प्रेमचन्द जी हिन्दी लिखनेवालों में बहुत बदनाम भी हो गए। पता नहीं यह कहाँ तक सही है। लेकिन यह काम उन्होंने बहुत दिलेरी और हिम्मत का किया था जिससे उर्दूवाले उनसे बहुत ख़ुश थे।

× × ×

ग़रज़े कि यह तीन मुलाक़ातें मेरी प्रेमचन्द जी से हुई थीं और हर दफ़ा की मुलाक़ात ने मेरे दिल में प्रेमचन्द जी की इज्ज़त और मुहब्बत पहले से बहुत ज़्यादा बढ़ा दी थी। प्रेमचन्द जी अपनी ज़िन्दगी का एक नया वरक़ उलट रहे थे। उनकी ज़िन्दगी का यह दौर यक़ीनन् उनकी ज़िन्दगी के तमाम दूसरे दौरों से ज़्यादा शानदार और मुल्क व क़ौम के लिए निहायत फ़ायदारिसां साबित होता। लेकिन मौत के बेरहम हाथ ने उन्हें हमसे जुदा कर दिया। उनकी दिल की हसरतें दिल ही में रह गईं; और उनके दोस्त हैरतज़दा से होकर रह गये कि यह क्या हुआ। क्या जिस मिशन को पूरा करने का प्रेमचन्द जी ने बीड़ा उठाया था हिन्दू और मुसलमान उसको अंजाम तक पहुँचाने का इरादा करेंगे ? उनकी आख़िरी उम्मीद 'हिन्दुस्तानी सभा' और तरक़्क़ी पसन्द मुसन्निफ़ों की अंजुमन के साथ वाबिस्ता थी। प्रेमचन्द जी के जो लोग मद्दाह हैं उन्हें उन दोनों संस्थाओं को ज़िन्दा रखने और तरक़्क़ी करने की कोशिश करना चाहिए।

प्रेमचन्द-मेरी निगाहों में

[प्रो॰ अशफाक़ हुसैन बी॰ ए॰ (ऑक्सफोर्ड)]

हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द के लिए मुनासिब और मौज़ूँ जगह मुकर्रर करना शायद अभी ठीक न होगा, क्योंकि अभी उसका मौक़ा नहीं आया है। आज-कल के ज़माने पर उनका जो असर पड़ा है उसका इस वक्त अन्दाज़ा करना तो शायद और भी ज़्यादा मुश्किल है। न तो मैं साहित्य के बारे में ही और न उसकी आलोचना के बारे में ही कोई खास लियाक़त रखता हूँ। तो भी मौके मौके पर प्रेमचन्द जी के साथ जो मेरी मुलाकात होती रही है, उसका मेरे दिल पर जो असर पड़ा है, अगर उसका मैं यहाँ थोड़ा सा ज़िक्र कर दूँ तो मुमकिन है कि उसकी कुछ क़द्र हो सके या वह लोगों को दिलचस्प मालूम हो।

करीब करीब पूरे सात बरस हुए, एक बार यों ही सरसरी तौर पर प्रेमचन्द जी के साथ मेरी मुलाकात कराई गई थी। वह मुलाकात सचमुच इतने सरसरी तौर पर हुई थी कि जिस समय मैंने सुना कि ये प्रेमचन्द जी हैं, तब मुझे इस बात का भी ख़याल न हुआ कि ये वही प्रेमचन्द जी हैं जिनकी लिखी हुई 'चौगाने-हस्ती' है। उससे करीब एक ही साल पहले मेरे साहित्य-सेवी दोस्तों में प्रेमचन्द जी की लिखी 'चौगाने हस्ती' नामक उर्दू पुस्तक के सम्बन्ध में बहुत काफ़ी और बहुत बड़ा बहस-मुबाहसा हो चुका था। मुझे प्रेमचन्द जी बहुत ही लज्जाशील मालूल हुए और उनमें कोई खास ऐसी बात न मालूम हुई जो किसी का दिल अपनी तरफ़ खींच सकती। उनका रंग जर्द था, बड़ी बड़ी मूछें थीं, कमज़ोर आँखें थीं और करीब करीब बिल्कुल सूखा हुआ चेहरा था। अपने दुबले-पतले जिस्म पर वह खद्दर का कुरता और धोती पहने हुए थे। सिर पर खद्दर की टोपी और पैरों में चप्पल थी। बस इसके सिवा और कुछ भी नहीं। लेकिन ग़ौर से देखने पर मालूम होता था कि उनकी आँखों में झलकनेवाली कमज़ोरी सिर्फ़ ऊपरी और देखने की ही थी ; और जब वे बातें करते थे, तब उन आँखों में एक ऐसी खास चमक दिखाई देती थी जिससे ज़ाहिर होता था कि वह बहुत समझदार हैं और अपने इरादे के और खयालात के बहुत पक्के हैं। उनकी ये सब खूबियाँ पहले-पहल देखने पर इसलिए ज़ाहिर नहीं होती थीं कि वह उनकी लज्जाशीलता के परदे में छिपी होती थीं। लेकिन फिर भी मुझे दरअसल यह न मालूम हो सका कि ये कौन शख्स हैं, क्योंकि वह बहुत कम बातें करते थे और उनकी बातों से उनके बारे में कुछ भी पता नहीं चलता था। एक तो वह बातें ही बहुत कम करते थे, और दूसरे जब वह बोलते थे, तब उनकी बातों से न तो कोई खास लियाक़त ही ज़ाहिर होती थी और न उनमें कोई

खास दिलचस्पी ही थी। हाँ उनकी आँखों में ज़रूर कुछ खास बात थी। और नहीं तो इसके इलावा उनकी शक्ल से किसी के दिल पर कोई खास असर नहीं पैदा होता था।

लेकिन खुशक़िस्मती से कुछ ऐसी हालतें पैदा हो गईं जिनकी वजह से उस वक़्त हम लोगों में बहुत काफ़ी रब्त-जब्त पैदा हो गई। अगर यह बात न होती तो मैं बहुत सी ऐसी याद-गारों से महरूम रह जाता जिन्हें मैं अब सबसे ज़्यादा कीमती समझता हूँ। मुमकिन है कि किसी वजह से और लोगों को इसका बिल्कुल उलटा तजुरबा हुआ हो। लेकिन इतना ज़रूर जानता हूँ कि जब धीरे धीरे मुझे यह जानने का अवसर मिला कि इस परदे के अन्दर क्या है, तब मैंने देखा कि ऊपर से देखने में प्रेमचन्द जी जो कुछ मालूम होते थे उससे वह बिल्कुल अलग शख्स थे। असल में मामूली पत्थर के अन्दर एक ऐसा जवाहिर छिपा हुआ था जो बहुत कम देखने में आता है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह कोई बहुत ज़्यादा बातें करनेवाले आदमी नहीं थे। लेकिन जब एक बार वह खुले दिल से बातें करने लगते थे, तब वह सिर्फ़ बहुत ज़्यादा बातें ही नहीं करते थे, बल्कि बहुत बढ़िया बातें भी करते थे; और इससे भी बढ़कर बात यह है कि मालूम होता था कि उन्हें बात-चीत करने में बहुत ज्यादा मज़ा आता है। मुझे खास तौर पर दो मौक़े याद हैं। एक बार वह दिल्ली के सन् १९३४ वाले हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के जलसे से लौटकर आये थे और वहाँ का सब हाल सुना रहे थे। उन्होंने जो कुछ वर्णन किया था, वह इतना अच्छा था कि आज तक मैंने किसी जलसे का उतना अच्छा वर्णन कभी सुना ही नहीं। उनके उस ज़िक्र में हम-दर्दी भी थी और जोश भी था। जलसे की सभी बातों का उन्होंने ज़िक्र किया था और साथ-ही-साथ उसमें सब बातों की आलोचना भी होती चलती थी। और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी सभी बातों में एक बहुत बढ़िया और दिल में जगह करनेवाला मज़ाक़ भी रहता था। खासकर कवि सम्मेलन का उन्होंने जो हाल बतलाया था, उसमें तो बातों के अन्दर बहुत ही उम्दा मज़ाक भरा हुआ था। दूसरा मौक़ा वह था जब कि मेरे एक दोस्त ने उनकी ख़ातिर कुछ लोगों की दावत की थी और उन्हें अपने यहाँ खाने के लिए बुलाया था। मेरे उन दोस्त के घर के लोगों के खयाल ज़माने की हालत देखते हुए काफ़ी आगे बढ़े हुए थे, जिसका उन पर अच्छा असर पड़ा था। लेकिन मालूम होता था कि उन पर सबसे ज़्यादा असर इस बात का पड़ा था कि उनका मकान देखने में बहुत शानदार और बिल्कुल नये फ़ैशन का था। गम्भीर विषयों की बातें करना छोड़कर प्रेमचन्द जी बराबर बहुत-सी ऊपरी और फालतू बातों के बारे में ही बहुत कुछ कहते रहे। कहते थे कि मज़हब या धर्म को हम लोगों ने किस तरह मज़ाक बना रखा है, और इसके उदाहरण में वह यह भी बतलाते थे कि नाथद्वारे में और भिन्न-भिन्न दूसरे धर्मों के इसी प्रकार के मन्दिरों में ये-ये रस्में हैं, जिन्हें देखकर हँसी आती है; और इसी तरह की और भी बातें करते थे। लेकिन जब तक सब लोग खाना खाते रहे, तब तक अकेले प्रेमचन्द जी ही बातें करते रहे और सभी लोगों को बराबर खुश रखते और हँसाते रहे। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेहमानदारी का बदला वह इसी तरह चुकाना जानते थे, लेकिन फिर भी मैं बराबर बहुत ही तअज्जुब से उनकी तरफ़ देखता रहा। क्योंकि सोचता था कि क्या ये वही शख्स हैं जो पहली बार मुलाक़ात होने पर दो वाक्य भी नहीं कह सकते थे और अब ये ऐसी-ऐसी अच्छी बातें कर रहे हैं कि मानो बात-चीत करने की विद्या में पारंगत ही हैं। इससे पहले मैंने उन्हें केवल साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र के गम्भीर विषयों पर ही बातें करते हुए सुना था और इसलिए आज उन्हे इस तरह की मज़ेदार बातें करते हुए देखकर मुझे बहुत ही ज़्यादा ताज्जुब हो रहा था। मेरे लिए वह बिल्कुल एक नया तजुरबा था।

इस प्रकार मुझे प्रेमचन्द जी के जीवन का वह दूसरा अंग दिखाई दिया जिससे पता चलता था कि सचमुच वह बहुत ही ऊँचे ख़याल रखते हैं और बहुत सी बातों के बहुत अच्छे जानकार हैं। मामूली तौर पर उनके बारे में लोग यही जानते हैं कि वह छोटी-छोटी कहानियाँ और उपन्यास लिखते थे, और शायद कुछ लोग यह भी जानते होंगे कि राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ वह यथेष्ट परन्तु अस्पष्ट सहानुभूति रहते थे। लेकिन ज़्यादा जान-पहचान और रब्त-जब्त होने पर पता चलता था कि वह राजनीति और अर्थशास्त्र का भी बहुत अच्छा और राग-विराग आदि से रहित ज्ञान रखते थे। मामूली तौर पर उनकी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने वाले उनकी इन बातों की जानकारी के सम्बन्ध में जो कुछ समझते थे, उससे कहीं अधिक और विस्तृत अध्ययन उन्होंने इन सब विषयों का किया था।

प्रेमचन्द जी साम्यवादी तो थे, परन्तु उस तरह के कट्टर और उग्र साम्यवादी नहीं थे जो सारी वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का एक सिरे से नाश करके उसकी जगह तुरन्त ही चरम सीमा का साम्यवाद स्थापित करना चाहते हैं। हाँ वह भावतः साम्यवादी थे और साम्यवाद की बहुत सी बातों को अच्छा समझते थे। दीन-दुखियों और ग़रीबों के साथ उनकी हमेशा बहुत काफ़ी हमदर्दी रहती थी; और साथ ही इसलिए हम उन्हें बहुत ही समझदार साम्यवादी कह सकते हैं कि वह यह नहीं मानते थे कि साम्यवाद में जितनी बातें हैं, वह सब सिर्फ़ अच्छी ही अच्छी हैं और उसमें कुछ भी बुराई या दोष नहीं है; और न यही समझते थे कि साम्यवाद का प्रचार होते ही समाज के लिए बहिश्त का दरवाज़ा खुल जायगा। लेकिन हाँ वह इतना ज़रूर समझते थे कि आज कल समाज जिस बहुत बुरी हालत को पहुँच गया है, उसे देखते हुए अगर साम्यवाद का कोई बिगड़ा हुआ रूप भी चल पड़े तो उससे भी लोगों का बहुत कुछ फ़ायदा हो जायगा। और साथ ही वह यह भी समझते वह कि साम्यवाद का प्रचार बिना हुए रह ही नहीं सकता—उसका प्रचार लाजिमी है। उनका ख़याल था कि हमारे मुल्क के ज़मींदार और पूँजीदार अपनी ताक़त के झूठे ख़याल और बहुत ज़्यादा लालच की वजह से बिल्कुल अन्धे हो रहे हैं और इसीलिए किसी न किसी तरह का साम्यवाद ज़रूर ही यहाँ बहुत ज़ोर पकड़ेगा। ख़ुद साम्यवाद में तो इतनी बड़ी कोई ख़ूबी नहीं है कि वह लोगों के दिल पर उतना ज़्यादा असर कर सके, लेकिन हमारे मुल्क की हालत इतनी ज़्यादा ख़राब है कि यहाँ के लोगों के दिलोंपर उसका ज़रूर असर पड़ेगा, और अगर वह यहाँ चला तो ज़ोर भी काफ़ी पकड़ेगा। साथ ही उनका यह भी ख़याल था कि जिस समय यहाँ साम्यवादी क्रान्ति होगी, उस समय फजूल ही बहुत ज़्यादा ख़ून-ख़राबी होगी और लोगों के लिए वह बहुत मँहगी पड़ेगी। यों तो प्रेमचन्द जी हमेशा बहुत ही खुश रहा करते थे और कभी रंजीदा होना जानते ही नहीं थे। लेकिन सिर्फ़ एक मौका ऐसा होता था जब कि उनका दिल बहुत ही दुःखी होता था। जब वह अपने मुल्क की माली हालत का ख़याल करते थे और यह सोचते थे कि इसका अन्त क्या और कैसा होगा, तब उनकी सारी खुशी जाती रहती थी और वह बहुत ज़्यादा रंजीदा होते थे। इसके सिवा और कभी किसी मौके पर मैंने उन्हें रंजीदा या ग़मगीन नहीं देखा। लेकिन उस हालत में भी उन्हें उम्मीद की एक झलक दिखाई देती थी—आशा की एक किरण उनकी आँखों के सामने रहती थी। वह समझते थे कि क्रान्ति तो होगी और ज़रूर होगी, लेकिन कांग्रेस अपना एक ख़ास काम यह समझ लेगी कि समाज की आर्थिक अवस्था में पूरा-पूरा सुधार करना चाहिए और साम्यवाद की एक समझदारी की योजना अपने सामने रखकर उसके अनुसार काम करेगी, तो सारा काम बहुत आसानी से हो जायगा। उन्होंने जो आशा आज से छः बरस पहले प्रकट की थी वह आज पूरी होती हुई दिखाई देती है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस

समय जो अस्थायी मन्त्रिमंडल स्थापित हुए हैं, उन्होंने अपने जो कार्य-क्रम और जो योजनाएँ बतलाई हैं, अथवा कम से कम जो कुछ करने का वादा किया है, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि देश की आर्थिक अवस्था के सुधार की बहुत कुछ नींव पड़ सकेगी।

लेकिन सबसे बढ़कर बात यह है कि प्रेमचन्द जी देश-भक्त थे। वह सामाजिक और धार्मिक झगड़े-बखेड़ों और विभागों आदि से सदा बिल्कुल अलग रहते थे और आदि से अन्त तक भारतवासी ही भारतवासी थे। वह अपने आपको किसी एक धर्म, समाज या फ़िरक़े का आदमी नहीं समझते थे, बल्कि सिर्फ़ एक हिन्दुस्तानी समझते थे। कभी कभी कुछ लोग यह कहा करते थे कि प्रेमचन्द जी हिन्दुओं के पक्षपाती थे। लेकिन उनके ऐसे आलोचकों की इस तरह की बातों से यही पता चलता है कि उन आलोचकों के मन पर धार्मिक और सामाजिक झगड़ों के ज़हर ने कितना ज़्यादा असर कर रखा है। उनके एक आलोचक तो इतने बड़े नासमझ थे कि उन्होंने प्रेमचन्द जी के धार्मिक पक्षपात का सबूत देने के लिए 'चौगान दस्ती' के ताहिरअली के चरित्र की कुछ बातें उद्धृत कर दी थीं। उनका कहना था कि प्रेमचन्द जी को कोई हिन्दू पात्र नहीं मिल सकता था जिस पर वह ग़बन का इलज़ाम लगाते ? लेकिन मैं तो समझता हूँ कि यह सवाल ही अपना सबसे अच्छा जवाब है—जवाब खुद सवाल में ही निकल आता है। यह तो एक मामूली सी बात है कि उनके इस तरह के आलोचकों ने ताहिरअली का सीधा-सादा चरित्र ही पूरी तरह से नहीं समझा था और वह यह बात भूल गये थे कि उनके 'गोशए आफ़ियत' नामक उपन्यास में सबसे अधिक सुन्दर चरित्र क़ादिर बाबा का ही अंकित किया गया है। लेकिन अगर इन सब बातों को ताक़ पर रख दिया जाय, तो भी इस बात में कोई शक नहीं रह जाता कि जब प्रेमचन्द जी अपनी किसी कहानी या उपन्यास में अपने किसी पात्र का चरित्र अंकित करने लगते थे तब वह इस बात का कभी ज़रा भी ख़याल नहीं करते थे कि वह पात्र हिन्दू है या मुसलमान है या कनफ़ूची के धर्म को माननेवाला है उनमें इस तरह के धार्मिक पक्षपात का कोई भाव बिल्कुल था ही नहीं। धार्मिक झगड़ों के सम्बन्ध में उनके ख़याल बहुत ही समझदारी के थे और बहुत ही अच्छे थे। वह इस प्रकार के प्रश्नों की उपेक्षा करते थे। और मुनासिब यही था कि इस तरह के झगड़े की बातों में उनका नाम ही न लिया जाय।

इस मौक़े पर मुझे एक और बात का ज़िक्र कर देना भी ज़रूरी मालूम होता है। वह हिन्दी साहित्य-परिषद् (सम्मेलन ?) में शामिल हुए थे और इसीलिए कुछ मुसलमानों ने उनकी बहुत कुछ कड़ी आलोचना की थी। अलीगढ़ से 'सुहैल' नाम का एक उर्दू अख़बार निकलता है। उसमें छपने के लिए प्रेमचन्द जी ने अपनी दो रचनाएँ भेजी थीं, जिनमें से एक तो हिन्दी में थी और दूसरी उर्दू में। इसके लिए एक साहब ने प्रेमचन्द जी के बारे में बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें लिख डाली थीं। उनकी हिन्दीवाली रचना में तो संस्कृत के कई शब्द थे और उर्दूवाली रचना में उससे भी अधिक फ़ारसी के शब्द थे। इसकी आलोचना जिस तरह के लोगों को करनी चाहिए थी, उसी तरह के लोगों ने की थी और कहा था कि प्रेमचंद जी दो-रुखी चालें चलते हैं, दोनों तरफ़ मिले रहना चाहते हैं और दोनों तरफ़ से अच्छे बने रहना चाहते हैं। उनकी इस तरह की आलोचना सुनकर मुझे किसी क़दर रंज हुआ था। इसका जवाब बिल्कुल सीधा-सादा और साफ़ है। प्रेमचन्द जी ने अपनी वह दोनों रचनाएँ दो अलग-अलग तरह के लोगों के लिए लिखी थीं और इसीलिए उन्होंने उनमें अलग-अलग प्रकार की भाषा का प्रयोग किया था। मैं यह मानता हूँ कि अगर वह चाहते तो दोनों ही मौक़ों पर सीधी-सादी भाषा लिख सकते थे। लेकिन प्रेमचंद जी यद्यपि कभी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए—उन्होंने कभी अपना अख़्तियार किया हुआ

रास्ता नहीं छोड़ा, लेकिन फिर भी वह कभी ऐसे तरीक़े काम में नहीं लाते थे जिससे किसी का दिल दुखे! यह उनका स्वभाव था—उनकी आदत थी। अगर सच पूछिए तो वह दिल से यह चाहते थे कि एक ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा बने जिसे सब लोग आम तौर पर समझ सकें, और यह बात उनके दिल को जितनी लगी हुई थी उतनी शायद ही कोई और बात लगी हो। उन्होंने चार बरस पहले इस बारे में मुझसे बहुत-सी बातें की थीं। इस बारे में देश के बहुत से लोग अपने मन में कुछ-न-कुछ सोच समझ रहे हैं और उन्हीं लोगों की तरह मैं भी इस मामले पर ग़ौर करता रहा हूँ, और इसीलिए मैंने प्रेमचन्द जी से कहा था कि इस सम्बन्ध में सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि एक ऐसी सभा क़ायम की जाय जो एक ऐसी भाषा चलाने की कोशिश करे जिसे सब लोग आम तौर पर समझ सकें। उन्होंने काफ़ी जोश के साथ मेरे इस खयाल के मुताबिक काम करना मंज़ूर कर लिया था और हम लोगों ने इस बारे में बहुत काफ़ी बहस की थी। उनका क़ायदा था कि वह हर मामले में बहुत ही ठंडे दिल से और सब तरह का पक्षपात छोड़कर विचार करते थे और इसी तरह उन्होंने इस बारे में भी विचार किया था, और इसीलिए हम लोगों ने आपस में यह तै किया था कि इस तज़वीज के मुताबिक उसी हालत में काम शुरू किया जाना चाहिए जिस हालत में देश के बहुत से लोग इसे मंज़ूर कर लें, और खासकर वह लोग मंजूर कर लें जिन्हें आगे चल कर इस बारे में काम करना है। जब वह बम्बई पहुँचे तब वह श्री कन्हैयालाल मुन्शी तथा उन्हीं की तरह के कई ऐसे आदमियों से मिले जो पहले से इस सवाल पर ग़ौर कर रहे थे। यह बात दूसरी है कि वह लोग कुछ और ही तरीकों से यह सवाल हल करना चाहते थे। उन्होंने मुझे लिखा कि तुम अपनी तजवीज़ का एक मसौदा बना कर भेज दो। लेकिन उन्होंने देखा कि उस वक्त लोगों के दिलों पर हिन्दी साहित्य-परिषद का सिक्का अच्छी तरह जमा हुआ था; और हाल में अगर उसी के मुकाबले में एक नई तजवीज़ लोगों के सामने पेश की जाती तो उससे शायद और तो कोई मतलब न निकलता हाँ यही नतीजा होता कि लोग दो हिस्सों में बट जाते। इसलिए उन्होंने यही तै किया था कि हम हिन्दी साहित्य परिषद् के साथ ही मिलकर काम करेंगे और वहीं से अपना यह उद्देश्य भी सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। परमात्मा ने अब उन्हें हम लोगों में से हटा ही लिया है, इसलिए अब तो सिर्फ़ अन्दाज़ से ही यह कहा जा सकता है कि इस बारे में उन्हें कहाँ तक सफलता होती और कहाँ तक न होती।

प्रेमचन्द जी के मरने से मुझे बहुत रंज हुआ और मैं समझता हूँ कि मेरा एक ज़ाती नुक़सान हुआ। लेकिन अपने उस ज़ाती नुक़सान की वजह से मुझे जो कुछ रंज हुआ था वह उस बहुत बड़े रंज के सामने बिल्कुल दब गया जो इस बात का खयाल करके होता है कि उनके न रहने से हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक बहुत बड़ी कमी हो गई है—एक बहुत बड़ी जगह खाली हो गई है, अब इतिहास ही प्रेमचन्द जी के बारे में जैसा उचित समझेगा, वैसा निर्णय करेगा। लेकिन खुद मुझे तो इस बात में ज़रा भी शक नहीं है कि प्रेमचन्द जी के न रह जाने की वजह से सारे हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा नुकसान हुआ है। उनमें ऐसी खूबियाँ थीं जो बहुत ही कम आदमियों में होती हैं। साथ ही साथ उनमें वह सब गुण भी थे जो एक सच्चे कलाकार में उच्च कोटि का रचनात्मक कार्य करने के लिए होते हैं; और ऊँचे दरज़े के देश-हितैषी में जो नितान्त निस्वार्थ भक्ति और निष्ठा होती है, वह भी उनमें पूरी तरह से मौजूद थी।

प्रेमचन्द जी की कुछ संस्मृतियाँ

[श्री अहमद अली एम० ए०]

छः बरस पहले की बात है। सन् १६३१ में मैंने अपनी कालिज की पढ़ाई खतम की थी और यूनिवर्सिटी में पढ़ाना शुरू किया था। मैं एक ऐसे सज्जन को जानता था जिन्हें हम लोग मास्टर साहब कहते थे। वे किसी स्कूल में पढ़ाते थे। वे पहले मेरे कुछ दोस्तों को उनके घर भी पढ़ाया करते थे और अब भी अक्सर उनके यहाँ आया जाया करते थे। वहीं मेरी और उनकी मुलाक़ात हुई थी। वे पूरे दार्शनिक थे और बहस-मुबाहसा करने का उन्हें बहुत शौक़ था। वे मेरे यहाँ भी अक्सर आते थे। एक बार ऐसा हुआ कि एक मुद्दत तक वे नहीं आये। बहुत दिनों के बाद जब वे मुझसे मिलने के लिए आये, तब मैंने उनसे पूछा कि आप इतने दिनों तक कहाँ थे और क्यों नहीं आते थे। उन्होंने कहा कि मेरे एक दोस्त आ गये थे जो मेरे ही यहाँ ठहरे थे। उनके वह दोस्त मुन्शी प्रेमचन्द जी थे। मुझे इस बात का अफ़सोस हुआ कि मुन्शी जी यहाँ आकर चले भी गये और मुझे पता ही न लगा।

मैं मुन्शी जी को इसलिए जानता था कि मैंने 'प्रेम पचीसी' 'प्रेम बत्तीसी' और 'चौगाने हस्ती' नाम की उनकी किताबें पढ़ी थीं। मैं यह मानता हूँ कि मैंने उनकी सभी कहानियाँ नहीं पढ़ी थीं और न मैं उनका लम्बा उपन्यास ही खतम कर पाया था। लेकिन फिर भी जो कुछ मैंने पढ़ा था, उसका मुझ पर काफ़ी असर पड़ा था। हमारी ज़िन्दगी में जो बहुत सी भली और बुरी बातें हुआ करती हैं, उन सब का पता मुझे उनकी किताबों से लगा था। उनमें एक बहुत बड़ी खूबी यह थी कि वे कहानी ऐसे अच्छे ढंग से लिखते थे कि दिल पर उसका पूरा-पूरा असर हो जाता था। कहानियों में वे अपने मुल्क के ग़रीबों और सताये हुए लोगों की जिन तकलीफ़ों का बयान करते थे, वह बिना दिल पर असर किये रहता ही न था। जब मेरी उम्र बहुत ही कम थी, तब मैंने मुन्शी जी की किताबें पढ़ी थीं और मैं यही समझता था कि आज कल उर्दू में जो कुछ उपन्यास हैं, वे सब सिर्फ़ प्रेमचन्द जी के ही हैं।

इसी लिए जब मुझे यह मालूम हुआ कि मास्टर साहब ने मुझसे मुन्शी जी के यहाँ आने का पहले ज़िक्र नहीं किया, तब स्वभावतः मेरे मन में दुःख हुआ। लेकिन फिर भी उन्होंने यह वादा किया कि अगली बार जब मुन्शी जी यहाँ आवेंगे, तब मैं उनके साथ तुम्हारी मुलाक़ात कराऊँगा। लेकिन आखिर में पारसाल जाकर मेरी और उनकी मुलाक़ात हुई। लेकिन हाँ, उससे पहले मास्टर साहब मुझे मुन्शी जी के बारे में अक्सर बहुत सी बातें बतलाया करते थे। उनकी

बातों से मालूम होता था कि मुन्शी जी को देहाती जीवन के साथ बहुत प्रेम है। वे अक्सर देहातों में चले जाते हैं और वहाँ काफ़ी अरसे तक ठहरते हैं। वे वहाँ सब लोगों से मिलते हैं, उनका हाल-चाल जानते हैं, उनकी अवस्थाओं का अध्ययन करते हैं और उनके कष्टों और विपत्तियों आदि के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ लिखते हैं।

लेकिन इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। जब तक मामूली आदमियों के बारे में पूरी-पूरी जानकारी न हासिल कर ली जाय तब तक उनके बारे में इतनी ठीक और सच्ची बातें इतनी खूबसूरती के साथ लिखी ही कैसे जा सकती हैं? इसमें कुछ भी शक नहीं कि कभी-कभी उनकी कथावस्तु कुछ शिथिल हो जाती थी—कहानी गढ़ने में उनकी क़लम चूक जाया करती थी; वे आदर्श के फेर में पड़ जाते थे और नतीजे पर बहुत ज़ोर देते थे। लेकिन फिर भी उनके पात्र बिल्कुल निराले ही दिखाई देते हैं और उनकी सादगी हमारा दिल अपनी तरफ़ खींच लेती है। उनकी 'कफ़न' नाम की कहानी बहुत बड़ी और ऊँचे दरजे की कहानियों में से एक है और उर्दू भाषा में उस जोड़ की कहानियाँ बहुत ही कम हैं। उसमें जो चरित्र-चित्रण हुआ है, वह सबसे अच्छा है—उसमें उन्होंने कमाल कर दिखलाया है। और इस तरह की कहानी तब तक नहीं लिखी जा सकती, जब तक चरित्रों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन न किया जाय। वह कहानी क़रीब-क़रीब सभी दृष्टियों से बिल्कुल ठीक और पूरी उतरी है। क़रीब एक साल पहले जब मैंने उसे पढ़ा था, तब मुझे ऐसा मालूम हुआ था कि मानों उसमें करामात कर दिखलाई गई है और मुझे उस प्रतिभा ने चकित कर दिया था जो पात्रों के चरित्र ऐसे अच्छे ढंग से अंकित कर सकती थी कि मालूम होता था कि वे सब पात्र जीते-जागते हमारे सामने आकर मौजूद हो गये हैं। फटे-पुराने चीथड़े पहने हुए दो बहुत ही ग़रीब आदमी हैं जो संयोग से बहुत ही बुरी दशा में पहुँच गए हैं। खाने-पीने का कुछ भी ठिकाना नहीं है। ग़रीबी पूरी तरह से छाई हुई है। पास ही सौरी में एक औरत मर रही है। लेकिन उसकी तरफ़ उनका कोई खयाल नहीं है। ऊलाव के पास बैठे हुए हैं और इसलिए एक दूसरे को कड़ी निगाह से देख रहे हैं कि कहीं दूसरा मुझसे एक आलू ज़्यादा तो नहीं खा जाता है। और इसी लिए उनमें से कोई उठकर उस औरत को देखने के लिए अन्दर नहीं जा रहा है जो झोपड़ी में मर रही है। यह सारा चित्र मानो सचमुच ही हमारी आँखों के सामने आ जाता है। फिर वही दोनों आफ़त के मारे हुए आदमी—जो दरअसल आदमी नहीं हैं बल्कि सिर्फ़ प्राणी या जानदार हैं और जिन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि हम आदमी हैं—जो बिल्कुल पद-दलित और दुर्दशा-ग्रस्त हैं, जो ऐसे प्राणी हैं कि आज तक कभी मनुष्यत्व के पद पर पहुँच ही नहीं सके हैं, लेकिन फिर भी जो उसी पृथ्वी की तरह बिल्कुल सीधे-सादे और निष्कपट हैं जिसने उन्हें जन्म दिया था और जिस के कन्द-मूल पर वे निर्वाह करते थे, उस औरत के कौड़ी-कफ़न के लिए माँग-माँगकर पैसे इकट्ठे करते हैं। वे जहाँ जाते हैं, वहाँ झिड़कियाँ सुनते हैं और गालियाँ खाते हैं; लेकिन फिर भी जैसे-तैसे कुछ रुपये जमा कर ही लाते हैं। फिर वे रुपये अपनी जेब में रखकर वे श्मशान की ओर नहीं जाते, बल्कि कलवरिया में पहुँचते हैं। वहाँ वे उस मरी हुई औरत का गुण-गान करते हैं, उसकी आत्मा की सद्गति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, खूब मौज से खाते और शराब पीते हैं और आखिर में उसी शराब के नशे की हालत में दोनों एक दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था हो कर एक ढेर के रूप में ज़मीन पर गिर पड़ते हैं!

हमारे जीवन में जो अनेक दुःखपूर्ण बातें होती हैं और साथ ही जो अनेक मज़ेदार परन्तु कटु बातें होती हैं, उन्हीं के चित्र वे दोनों हमारे सामने उपस्थित करते हैं। वे यह बतलाते हैं कि परले सिरे की ग़रीबी की वजह से हमारी आत्माएँ मर गई हैं और हमारे जीवन निर्जीव हो

गये हैं। वे परम दुर्दशा-ग्रस्त मानवता के नमूने हैं—उन लाखों, करोड़ों आदमियों के नमूने हैं जो हमारा हिन्दोस्तान हैं—जिनसे हमारा देश भरा हुआ है। और प्रेमचन्द जी की क़लम में वह ताक़त थी जो इस तरह के आदमियों में भी जान डाल देती थी।

● ● ●

कई बरस बीत गये। प्रेमचन्द जी की किताबों का तो मुझ पर पहले ही असर पड़ चुका था। पर जब मैंने मास्टर साहब से प्रेमचंद जी के बारे में बहुत-सी बातें सुनीं, मुझे उनकी ज़िन्दगी के कुछ हाल मालूम हुए और यह भी मालूम हुआ कि वे किस तरह काम करते हैं, तब मुझ पर खुद प्रेमचन्द जी का भी उसी तरह असर पड़ा जिस तरह उनकी किताबों का पड़ा था। मैंने प्रेमचन्द जी के बारे में जो कुछ सुना था उससे मुझे उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी कुछ कुछ धारणा हो गई। मैं अपनी आँखों के सामने प्रेमचन्द जी की तसवीर खींचने लगा। मैं देखता था कि वे सफ़ेद खादी के कपड़े पहने हुए हैं, उनकी बड़ी बड़ी मूँछें हैं, हाथ में एक गोल कटोरा लिये हुए हैं (मुझे किसी तरह यह खयाल बँध गया था कि मास्टर साहब ने उनके बारे में मुझसे इसी तरह का ज़िक्र किया था) और वे एक गाँव में पेड़ के नीचे बैठे हैं। यह एक बहुत ही विलक्षण बात है कि हम जिस आदमी को बहुत अच्छा समझते हैं और उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं, उसके बारे में हम यह भी समझ लिया करते हैं कि उसका क़द बहुत बड़ा है। और इसी लिए मैंने भी यह समझ लिया था कि प्रेमचन्द जी खूब लम्बे-चौड़े और हट्टे-कट्टे आदमी होंगे और उनका बदन खूब गठीला होगा। मैंने अपने मन में प्रेमचन्द जी की जो तसवीर बनाई थी, वह शायद अपनी स्मरण-शक्ति के एक कौतुक के कारण ही बनाई थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि मैं उन कलाकार की मन ही मन जो प्रशंसा करता था उसी के कारण मेरे मन में उसका यह कल्पित चित्र बना था। लेकिन जब साल भर पहले मैं उन से मिला था, तब मैंने देखा कि मैंने अपने दिल में उनकी जो तसवीर बनाई थी उससे असल में वे बिल्कुल अलग तरह के आदमी थे।

उन दिनों मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ाया करता था। मेरा खयाल है कि उस दिन सन् १९३६ की १२ फ़रवरी थी जब कि मैं हिन्दुस्तानी एकेडेमी के सालाना जलसे में शरीक हुआ था। पुराने कवियों से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत लम्बे-चौड़े निबन्ध सुनते-सुनते हम लोग उकता गये थे और हममें से कुछ लोग अपनी टाँगें सीधी करने के लिए और थोड़ी सी ताज़ी हवा खाने के लिए उस पंडिताऊ वातावरण से निकलकर बाहर बरामदे में आ गये थे। मुझे याद आता है कि उस वक्त मेरे दोस्त मुन्शी रघुपति सहाय 'फ़िराक़' और मुन्शी दया-नारायण निगम भी वहाँ मौजूद थे। उस वक्त मुन्शी दयानारायण निगम के साथ मेरी पहले पहल मुलाक़ात हुई थी और हम लोग 'अंगारे' नाम की अपनी किताब के बारे में बातें कर रहे थे। शाम हो चली थी और म्योर सेन्ट्रल कॉलेज के इमली के दरख्तों में क़रीब-क़रीब आधा सूरज उतर आया था। उसकी पीली पड़ी हुई किरणें हम लोगों के पैरों पर नाच रही थीं और बढ़िया ठंढी हवा चल रही थी। उस वक्त अचानक बरामदे की मोड़ से एक ऐसे दुबले पतले सज्जन आते हुए दिखाई दिये जिनका क़द कुछ ज़्यादा लम्बा नहीं था। लेकिन फिर भी वे जितने लम्बे थे, उसके मुक़ाबिले में अपने दुबलेपन के कारण वे कुछ ज़्यादा लम्बे मालूम होते थे। उनके चेहरे से प्रसन्नता झलकती थी और आँखें करुणा-पूर्ण थीं और उनमें एक ऐसी कोमलता दिखाई देती थी जो जीवन की समस्याओं पर गम्भीर विचार करने और अनेक प्रकार के कष्ट सहने से उत्पन्न होती है। वे एक शेरवानी और चुस्त पाजामा पहिने हुए थे और उनकी

गान्धी टोपी में-से दोनों तरफ़ और पीछे गरदन पर निकले हुए कुछ लम्बे बाल दिखाई देते थे। उनकी घनी और बड़ी बड़ी मूछों में काले बालों की बनिस्बत सफ़ेद बाल ही ज़्यादा थे और उनका तौर-तरीक़ा बहुत ही भले आदमियों का सा था। मेरे दोस्त रघुपति सहाय जी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुन्शी प्रेमचन्द जी हैं। वे ख़ूब मज़े में और खुल कर बातें करते थे और सब लोग ख़ूब खुले दिल से खुश हो होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर-तरीक़ों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मज़ाक़-पसन्द आदमी थे और मौक़े पर फ़ौरन ही एक से एक बढ़कर मज़ेदार बात कहते थे। हम लोग इसी तरह खड़े-खड़े बातें करते थे और सिगरेट पीते थे। ढलते हुए सूरज की पीली किरणें हम लोगों के पैरों पर खेल रही थीं। उस वक्त मुझे ख्वाब में भी इस बात का खयाल नहीं होता था कि प्रेमचन्द जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है! बाहर बहुत बढ़िया हवा चल रही थी और पेड़ों में नाचती-गा रही थी।

दो दिन बाद वह चौदहवीं फ़रवरी आई जो इतिहास में लोगों को बहुत दिनों तक याद रहेगी। आगे चलकर जब कुछ बरसों के बाद हमारे साहित्य का इतिहास लिखा जायगा तब वह दिन एक विशेष महत्व का माना जायगा। उस दिन हम सब लोग अपने देश में प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन (Progressive Writers' Movement) का संघटन करने के लिए फिर सज्जाद ज़हीर साहब के मकान पर इकट्ठे हुए थे। वहाँ मुन्शी प्रेमचंद, मौलाना अब्दुल हक़ और मुं० दयानारायण निगम सरीखे ऐसे बड़े-बड़े लोग मौजूद थे जिन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किए थे और हममें से नई पीढ़ीवाले कुछ ऐसे लोग भी थे जिनके कन्धों पर नये और अधिक दृढ़ साहित्यिक आन्दोलन चलाने का भार आ पड़ा था; और ज्यों-ज्यों दिन बीतते जायँगे त्यों-त्यों जिनके कन्धों पर का यह भार बराबर बढ़ता जायगा। हम सब लोगों ने एक-मत हो कर 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' या 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित करना निश्चित किया। मुं० दयानारायण निगम को इस सम्बन्ध में कुछ निराशा और सन्देह-सा हो रहा था; लेकिन प्रेमचन्द जी ने उस समय एक बहुत मार्के की बात यह कही कि प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है और हम लोग एक बहुत ही उपयुक्त और शुभ अवसर पर इस एसोसिएशन का आरम्भ कर रहे हैं। एक साल के अन्दर ही हमारे इस आन्दोलन को जो खासी कामयाबी हासिल हुई है, उससे बिला शक यह बात बहुत अच्छी तरह साबित हो जाती है कि मुं० प्रेमचन्द जी ने जो कुछ कहा था वह बिल्कुल सच और ठीक था। और फिर प्रेमचन्द जी बहुत ही अच्छे और समझदार आलोचक थे। अब वह इस दुनिया में नहीं रह गये हैं और इसलिए खुद अपने बारे में मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी कहानियों वाली आख़िरी किताब 'शोले' के बारे में उन्होंने जो राय दी थी, उसका मुझे विशेष अभिमान है।

मरने से कुछ ही दिन पहले प्रेमचन्द जी में एक नया और बहुत बड़ा मानसिक परिवर्त्तन हो रहा था। उनकी सारी मानसिक क्रियाओं की प्रवृत्ति देश के परम दरिद्र निवासियों की ओर हो रही थी। वे ज़्यादातर ग़रीबों की दुर्दशा का ही चित्र अपने उपन्यास आदि में दिखलाने लगे थे। उन्होंने एक नई नीति के अनुसार फिर से 'हंस' चलाना आरम्भ किया था। और वे उसके द्वारा अपने देश के उन्नतिशील साहित्य की सेवा करना चाहते थे। उनकी मृत्यु के कारण हम लोगों की बहुत बड़ी हानि हुई है और ऐसी हानि हुई है जो जल्दी पूरी ही नहीं हो सकती। जिन दिनों वे बीमार थे, उन दिनों हम सभी लोगों को उनकी तन्दुरुस्ती की बहुत

ज़्यादा फ़िक्र हो रही थी। उनके बचने की कोई विशेष आशा न होने पर भी हम लोग बराबर यही आशा करते थे कि वे अच्छे हो जायँगे। लेकिन दैव हम लोगों के विपरीत था और इस समय हमें उनके उठ जाने के कारण ग़म मनाना पड़ता है। उनकी मृत्यु बहुत ही अ-समय में हुई और अगर वे और कुछ दिनों तक ज़िन्दा रहते, तो उनके नेतृत्व में उन्नतिशील लेखकों का आन्दोलन तो ज़ोर पकड़ता ही, क्योंकि वे हम लोगों के सबसे पहले सभापति थे और इस महत्वपूर्ण पद के लिए हमें उनसे अच्छा आदमी नहीं मिल सकता था और हम समझते हैं कि अभी कुछ वर्षों तक हमें वैसा योग्य आदमी नहीं मिलेगा। पर साथ ही अगर वे और कुछ दिनों तक ज़िन्दा रहते तो हमें 'कफ़न' के ढंग की कुछ और कहानियाँ आदि भी मिलतीं जिससे हमारा साहित्य और भी अधिक सम्पन्न होता। कारण यह है कि अब वे पहले से भी कहीं अधिक उत्तम और उच्च कोटि का साहित्य प्रस्तुत करने के योग्य हो गए थे। अब उन्होंने अपने देश के ग़रीब किसानों और मज़दूरों का पक्ष लेना आरम्भ किया था और वे उसी प्रकार उन ग़रीबों के प्रतिनिधि और उनके कष्ट सुनानेवाले बन जाते जिस प्रकार रूस में मैक्सिम गोर्की हैं। लेकिन फिर भी हम लोगों को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि उनका उदाहरण सदा हम लोगों के सामने रहेगा और उनकी स्मृति हम लोगों को अपनी भिन्न-भिन्न भाषाओं में और भी अधिक उन्नतिशील साहित्य तैयार करने की प्रेरणा करेगी और अब हम लोग ऐसा साहित्य तैयार करने की कोशिश करेंगे जो देश में फैली हुई ग़रीबी और दुर्दशा से सब लोगों को परिचित करावेगा। यह साहित्य हिन्दुस्तान के लाखों करोड़ों भूखों और नंगों की हालत पर ग़ौर करेगा और दुर्दशा-ग्रस्त मानव जाति के उद्धार के लिए लड़ेगा।

प्रेमचन्द जी : मनुष्य और लेखक के रूप में

[लेखक—प्रोफ़ेसर रघुपति सहाय, एम० ए०]

बीस साल से भी पहले की बात है। जब मैंने प्रेमचन्द जी को पहली बार देखा था, तब मैं म्योर सेण्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद में बी० ए० का विद्यार्थी था। सन् १६१६ ई० में गरमी के दिनों में एक दिन सन्ध्या को हमारी मुलाक़ात एक लम्बी चौड़ी इमारत के बरामदे में हुई थी जिसमें अब इम्पीरियल बैंक की गोरखपुर वाली शाखा का दफ़्तर है। मुझे उस समय दोहरी ख़ुशी हुई थी। पहली ख़ुशी तो इस बात की थी कि प्रेमचन्द जी से पहली बार मुलाक़ात हुई थी; तिस पर यह सुनकर और भी ज़्यादा ख़ुशी हुई थी कि अब वे स्थायी रूप से मेरे मकान के पास ही रहेंगे। उस दिन जिस परिचय का आरम्भ हुआ था, उसने शीघ्र ही गहरी दोस्ती का रूप धारण कर लिया, जिसका क्रम केवल उनकी असामयिक और दुःखपूर्ण मृत्यु के उपरान्त ही टूटा।

मुझे ख़ूब अच्छी तरह याद है कि पहले दिन ही उनसे मुलाक़ात होने पर मुझे ऐसा जान पड़ता था कि इतने दिनों तक उनसे परिचय न होने के कारण मेरी कोई बहुत बड़ी हानि हुई है। इसका कारण यह था कि इससे पाँच छः साल पहले से ही, जब कि मेरी अवस्था केवल दस बारह वर्ष की थी, मैं परोक्ष रूप से प्रेमचन्द जी के नाम के साथ प्रेम करने लग गया था। इसलिए अब जब उनके साथ मुलाक़ात की नौबत आई, तब मुझे इस बात का अफ़सोस हुआ कि मैं इतने दिनों तक बिना उनसे मुलाक़ात किये क्योंकर रहा। जब मैंने पहले-पहल उनकी एक कहानी 'ज़माना' में पढ़ी थी, तब मैं स्कूल में ही पढ़ता था। लेकिन फिर भी उस समय मुझ पर उसका जो प्रभाव पड़ा था, वह अभी तक दूर नहीं हुआ था। जीवन के दृश्यों और वर्णनात्मक गद्य की वह प्रभावशालिनी शक्ति, जिसके द्वारा जीवन की चिरपरिचित और सामान्य घटनाएँ जीता-जागता रूप धारण करके चलते-फिरते रूप में दिखाई देती थीं, मुझे उसी समय दिखाई दी थी और मेरे लिए वह बिल्कुल एक नया मानसिक अनुभव था। यद्यपि उस समय तक मैं वयस्क नहीं हुआ था और मुझे कोई ख़ास समझ नहीं थी, लेकिन फिर भी मुझ पर उस सीधी-सादी कहानी का बहुत ही विलक्षण, कोमल और सूक्ष्म प्रभाव पड़ा था।

प्रेमचन्द जी के यहाँ मेरा रोज़ का आना जाना शुरू हो गया। गरमी की छुट्टियों में नित्य मेरी सन्ध्या उन्हीं के साथ बीतने लगी। जो समय उनकी कृपा और संगति में बीतता था, वह बहुत ही शान्ति-दायक और आनन्दपूर्ण होता था और बहुत जल्दी बीत जाता था।

आज जब मैं उन दिनों का ध्यान करता हूँ तो कुछ विलक्षण ही अवस्था हो जाती है। उनके प्रेमपूर्ण मनुष्यत्व और उनके जीवन का सन्तोषजनक तथा शान्तिपूर्ण रूप और उनकी चरम सीमा की सत्यनिष्ठा की स्मृति अब तक मेरे मन में बनी हुई है। प्रेमचन्द जी की प्रकृति ही ऐसी थी कि वह सादगी बहुत ज़्यादा पसन्द करते थे। उनके मिजाज़ में नाम को भी बनावट नहीं थी। जब मैं अपनी मानसिक दृष्टि से उनकी बातों का सिंहावलोकन करता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं बिल्कुल अनजान में ही बहुत जल्द उनके साथ बहुत ज़्यादा हिल मिल गया था और मेरा विश्वास है कि जिस किसी का उनसे साधारण-सा भी परिचय होगा, वह भी अपने मन में यही अनुभव करता होगा।

आज मैं अपने एक ऐसे मित्र का सोग कर रहा हूँ जिनके व्यक्तित्व से स्वयं मित्रता को भी प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, उनसे पहली बार मिलने के बाद ही मुझे इस बात का अफ़सोस हुआ था कि मैं इससे पहले ही उनके साथ क्यों न मिल सका। आज मैं उनके पुराने दोस्तों में अपने आपको बिल्कुल अकेला पाता हूँ। 'ज़माना' के सुप्रसिद्ध सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम को मुझसे भी ज़्यादा दिनों से प्रेमचन्द को जानने का अभिमान है और उनकी हानि मेरी हानि से भी बढ़कर हुई है।

हम लोगों की बात-चीत प्रायः भिन्न-भिन्न विषयों पर हुआ करती थी और एक बार आरम्भ होने पर फिर समाप्त होना जानती ही न थी। प्रेमचन्द जी के मस्तिष्क में बहुत बड़ी जिज्ञासा थी और वे सभी बातें जानने के लिए बहुत उत्सुक रहा करते थे। लेकिन प्रायः हम लोगों की बात-चीत जीवन और साहित्य के भिन्न-भिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में ही हुआ करती थी। प्रेमचन्द जी में आत्मश्लाघा का भाव बिल्कुल नहीं था—वे स्वयं अपनी ओर और अपनी कृतियों की ओर देखना जानते ही नहीं थे। यहाँ तक कि जब उनकी रचनाओं की देश-व्यापी सर्वप्रियता और अवर्णनीय महत्व का उनके सामने ज़िक्र किया जाता था, तो वह घबरा से जाते थे। उन्हें अपने बारे में बात-चीत करने की आदत ही नहीं थी और न वह कभी बार-बार किसी से अपनी प्रशंसा सुनने के ही इच्छुक रहते थे, यद्यपि 'बहुत ऊँचा दिमाग़ रखनेवालों की यह आखिरी कमज़ोरी' अभी तक सुलेखकों और गुणियों में भी अदृश्य नहीं हुई है। लेकिन बात-चीत की रौ में कभी-कभी कुछ अज्ञात अन्तरों के उपरान्त और बिल्कुल अनभ्यस्त रूप से वह अपने जीवन की बिखरी हुई घटनाओं के कुछ संकेत कर जाया करते थे। वह अपने सम्बन्ध में कभी कठिनता से कुछ संक्षिप्त वाक्य ही कहते थे, लेकिन उन थोड़े से शब्दों में ही ईश्वर जाने वह कितनी बातें कह जाते थे। मैंने उन सब घटनाओं का कुछ क्रम लगाया था और अब मैं उन्हीं घटनाओं को यहाँ लिखने का प्रयत्न करूँगा।

मुन्शी प्रेमचन्द जी के पिता ने बनारस ज़िले के पांडेपुर मौजे में अपने बड़ों से उत्तराधिकार के रूप में थोड़ी-सी काश्तकारी पाई थी। वही उनकी पैत्रिक जन्मभूमि थी, जहाँ प्रेमचन्द जी ने एक छोटा-सा सुन्दर मकान बना लिया है। काश्तकारी की आमदनी प्रायः नहीं के समान थी। इसलिए उनके पिता ने डाकखाने में नौकरी कर ली थी, जहाँ तरक्क़ी करके कदाचित् वह किसी छोटे से डाकखाने के डाक मुन्शी हो गये थे। इस प्रकार उनके घर और खान्दान के संबंध की बातें मध्यम श्रेणी के लोगों की उसी तरह की बातों का नक़्शा पेश करती हैं जिस तरह की बातों को अंग्रेज़ी लेखक जार्ज गिस्सिंग ने (George Gissing) ने अपने पृष्ठों में अमर कर दिया है।

इस श्रेणी के दूसरे लड़कों की तरह प्रेमचन्द जी भी एक हाई स्कूल में भर्त्ती हो गये थे

और आरम्भिक कक्षाओं के उपरान्त उनकी शिक्षा गोरखपुर के एक स्कूल में आरम्भ हो गई, जहाँ उनके पिता नौकर थे। प्रेमचन्द जी ने मुझे बतलाया था कि लड़कपन में उनकी दोस्ती अपने दर्जे के एक ऐसे लड़के से हो गई थी जो एक तम्बाकू बेचनेवाले का बेटा था। नित्य वे अपने अल्प-वयस्क मित्र के साथ स्कूल के बाद उसके मकान पर जाते थे और वहाँ तम्बाकू के बड़े-बड़े काले पिंडों के पीछे वह और उनके मित्र बैठकर बराबर हुक्का पीते थे और 'तिलिस्म होशुरबा' पढ़ते थे। यह कभी न समाप्त होनेवाली बहुत लम्बी कहानी है जो अपनी विशालता, विशदता और बहुविध कथानकों के विचार से युरोप के मध्य युग की आध्यात्मिक कहानियों को बहुत पीछे छोड़ देती है। उसकी लम्बाई का यह हाल है कि यदि वे सब लिखी जायँ तो 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के बराबर हो जायगी। खैर, वहीं प्रेमचन्द जी अपने अल्पवयस्क मित्रों के साथ बैठकर तिलिस्म होशुरबा के किस्से सुनते थे। इसी में जब सन्ध्या हो जाती थी, तब वह अपने घर चले जाते थे। यह क्रम प्रायः एक वर्ष तक चलता रहा। लेकिन इसी बीच में प्रेमचन्द जी सदा के लिए कहानियों में डूब गये। वास्तव में वे कहानियाँ उन्हों ने जिस तरह मन लगाकर और शौक से सुनी थीं, उससे उनकी वर्णन-शक्ति में धारा-प्रवाहिकता और सरसता के गुण आकर सम्मिलित हो गये थे और उन मनोहर कहानियों की आत्मा उनमें प्रविष्ट हो गई थी। फिर कुछ दिनों के बाद यही शक्तियाँ और यही गुण प्रेमचन्द जी की रचनाओं में जिस सुन्दरता के साथ फूले फले उनका यहाँ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रेमचन्द जी के पिता का देहान्त उस समय हुआ था जब कि उनकी अवस्था कठिनता से चौदह वर्ष की रही होगी। उस समय वे बनारस के एक हाई स्कूल में आठवें या नवें दर्जे में पढ़ रहे थे। उनकी माता प्रायः आठ वर्ष पहले ही मर चुकी थीं। प्रेमचन्द जी अपनी सौतेली माता और सौतेले भाई के साथ इस संसार में अकेले रह गये और ये दोनों उनके बाद अब तक जीवित हैं। अब उन्हें जीवन की कठोरतम परीक्षा और हद से ज़्यादा तकलीफ़ देनेवाली आजमाइश में से गुज़रना पड़ा। प्रेमचन्द जी ने अपनी एक कहानी में बहुत ही प्रभावशाली और ज़हर में बुझे हुए नश्तर की तरह के शब्दों में अपने जीवन के उन दिनों की ओर संकेत किया है जो उन्होंने अपने पिता और सौतेली माता के साथ बिताये थे और जिस समय उनकी अवस्था पाँच या छः वर्ष से अधिक की नहीं थी। उस कहानी का शीर्षक 'सौतेली माँ' है। उसकी बारीकी और महत्व में निःशब्द परन्तु कटु भावनाएँ भी हैं। लेकिन फिर भी उसमें कहीं बे-मजा और ओछी भावनाओं का नाम भी नहीं है। लेकिन फिर भी उसे पढ़कर आप अपने आँसू नहीं रोक सकेंगे।

पिता जी के मरने के उपरान्त अपनी विद्यार्थी अवस्था में ही प्रेमचन्द जी को कुछ काम की तलाश हुई। कभी कभी ऐसा अलभ्य समय आया करता था जब कि वे मुझे अपने मन की भीतरी बातें बताने लगते थे। इसी प्रकार के एक अवसर पर उन्होंने बहुत ही करुणापूर्ण ढंग से, जिसमें एक सामान्य-सा कम्प भी सम्मिलित था, उन्होंने मुझे बतलाया था कि किस प्रकार वे अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए छः रुपये महीने के लिए रोज़ तीन मील पैदल जाया करते थे। यह मेरी स्मृति में एक बहुत ही स्पष्ट परन्तु बहुत ही करुणापूर्ण घटना है। कम से कम एक बार उनके आकस्मिक परन्तु गम्भीर वर्णन में कठोरता और कोमलता का एक में मिश्रण हो गया था। परन्तु यह कितनी निरीह और स्वाभाविक घटना थी। प्रेमचन्द जी की गिनती तन्दुरुस्त लड़कों में नहीं होती थी। इसलिए मेहनत करके और पेट काटकर उन्होंने हाई स्कूल का इम्तहान दूसरे दरजे में पास किया था।

अधिक दिन नहीं बीतने पाये थे कि वे स्कूलों के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर मुकर्रर हो गये। अब प्रेमचन्द सहज में अपनी सौतेली माता और सौतेले भाई का भार भी उठा सकते थे। उनका विवाह भी हो चुका था; परन्तु वह बहुत ही अनुपयुक्त और दुःखद सिद्ध हुआ। वह अपनी स्त्री से अलग रहकर कई बरसों तक अकेले ही अपने दिन बिताते रहे; लेकिन उसके मरने तक वह बराबर नियमित रूप से उसके पास खर्च के लिए रुपये भेजा करते थे। इसी बीच में उन्होंने एक विधवा भद्र महिला से, जिनका नाम शिवरानी देवी है, विवाह कर लिया। उनके जीवन की यह साहसपूर्ण और निष्ठ संगिनी उनके तीन लड़कों और तीन लड़कियों की माँ बनी। किन्तु वह और उनके दो लड़के और एक लड़की ही इस समय तक सकुशल वर्तमान हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की क़दर करनेवाले और उनके साथ प्रेम करनेवाले हज़ारों आदमियों की सहानुभूति इन लोगों के साथ है। पहली स्त्री के जीवन काल में ही जो एक विधवा स्त्री के साथ दूसरा विवाह किया गया था, वह अपने मन की अवस्थाओं की अच्छी तरह जाँच करने के बाद और बिल्कुल चुपचाप किया गया था। यह विवाह किसी विशेष मनोवेग का परिणाम नहीं था और न हम इसे प्रेमी और प्रेमिकावाला विवाह ही कह सकते हैं। बल्कि यह रिश्ता उनके लिए एक दिलेरी का क़दम था और उसमें किसी प्रकार का आवेश या मनोवेग सम्मिलित नहीं था।

जिन दिनों प्रेमचन्द जी स्कूलों के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर थे, उन्हीं दिनों वे कहानियाँ लिखने लग गये थे। उन्होंने पहले उर्दू में चार-पाँच कहानियाँ लिखी थीं जो प्रायः तीस वर्ष हुए, एक छोटी-सी पुस्तक के रूप में 'सोज़े वतन' के नाम से कानपुर के ज़माना प्रेस से प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द जी ने और उनके साथ के दूसरे कलाकारों ने उर्दू और हिन्दी भाषा में कहानी लिखने की कला को उस ऊँचे दरजे पर पहुँचा दिया है, जहाँ आज हम उसे देख रहे हैं। इस समय साहित्य में उससे बहुत अच्छी-अच्छी रचनाएँ हो चुकी हैं और इन अच्छी रचनाओं की चमक और प्रकाश उस पुस्तक के हलके और धीमे प्रकाश को छाया या अन्धकार में डाल देगी, लेकिन फिर भी गल्प-लेखन के इतिहास में वह एक बहुत सुन्दर चिह्न है। देश-प्रेम का शुभ भाव उन पृष्ठों में साँस ले रहा है। उन कहानियों में कोई बात आपत्ति-जनक नहीं है। वह बहुत निश्चिन्तता पूर्वक लड़कों और लड़कियों की पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित की जा सकती हैं। लेकिन फिर भी तीस बरस पहले की दुनियाँ ही कुछ और थी। सचेष्ट और सतर्क अधिकारियों ने उनसे कैफ़ियत तलब की। मेरी और उनकी मुलाकात हुए अभी अधिक दिन नहीं बीते थे जब कि उन्होंने अपने बे-तकल्लुफ़ और साफ़ ढंग से मुझसे कहा था कि स्कूलों के इन्सपेक्टर ने किस प्रकार उन्हें अपनी उस पुस्तक की पाँच सौ प्रतियों में आग लगा देने के लिए विवश किया था।

लेकिन फिर भी उनकी रचनाओं का क्रम आरम्भ हो गया था। और यदि मैं उन अवस्थाओं का वर्णन करूँ जिन अवस्थाओं में उनकी अधिकांश पुस्तकें लिखी गई थीं तो यह लेख अपनी सीमा से बहुत बढ़ जायगा। कुछ ऐसे उपन्यास, जो न बहुत बड़े थे और न बहुत छोटे, उनकी क़लम से निकले और इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुए। उन्हीं दिनों में उनकी संक्षिप्त कहानियों का क्रम भी आरम्भ हुआ और ये कहानियाँ उनकी मृत्यु के समय तक तीन सौ की असाधारण संख्या तक पहुँच गई थीं।

प्रेमचन्द जी की कहानियों के इस संग्रह के प्रकाशित होने से भारत के गल्प-लेखन के इतिहास में एक शान्त और मौन क्रान्ति हो गई, जिसकी पताका लेकर सबसे आगे चलनेवाले एक मात्र प्रेमचन्द जी ही थे और यह क्रान्ति केवल उनकी आवाज़ पर बराबर आगे बढ़ती चली

जा रही थी। आज-कल की शिक्षा-प्रणाली ने इतनी शान-शौकत और चमक-दमक होने पर भी हमें एक अशिक्षित जाति ही बना रखा है। कुछ लोग इस बात का मधुर स्वप्न बहुत दिनों से देखते चले आ रहे हैं कि भारतवर्ष किसी समय अङ्गरेज़ी शिक्षा प्राप्त लोगों का देश बन जायगा अथवा कम से कम उसका कोई छोटे से छोटा हिस्सा कभी अङ्गरेज़ी भाषा में कोई ऐसी चीज़ लिख सकेगा जिसकी अच्छी क़दर हो सकेगी अथवा अङ्गरेज़ी और दूसरी युरोपियन भाषाओं की क़दर-दानी और रसास्वादन कभी उसका राष्ट्रीय व्यसन बन सकेगा। परन्तु यह केवल स्वप्न ही स्वप्न है और यह विचार कभी कार्य में परिणत न हो सकेगा। इन्हीं सब बातों के झूठे धोखे और खयाल ने हम लोगों को अपनी भाषाओं में भी कोई अच्छी रचना करने या अपने साहित्य का आदर करने के योग्य भी नहीं रखा। तात्पर्य यह कि इन्हीं सब परिस्थितियों में प्रेमचन्द जी ने अपना कार्य आरम्भ किया था। वास्तव में वह उस समय दो दुनियाओं के बीच में थे, जिनमें एक तो मुरदा हो चुकी थी और दूसरी किसी तरह पैदा होने के लिए तैयार नहीं थी। बहुत दिनों तक प्रेमचन्द जी को वह सौजन्य-पूर्ण व्यवहार और सहानभूति भी प्राप्त न हुई जो हमारे अङ्गरेज़ी शिक्षाप्राप्त हिन्दुस्तानियों में से अग्रगण्य लोग आज-कल कभी कभी देशी भाषाओं के साहित्य-सेवियों के प्रति दिखलाते हैं। वह उस सौजन्य और सहानुभूति के भी पात्र नहीं समझे गये। वह इस योग्य भी न समझे गये कि हमारे उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित लोग उन्हें अपने ड्राइङ्ग रूम में मुलाक़ात करने के लिए बुलाते। सम्भव है कि उन्होंने कहीं से उनका नाम सुन लिया हो या, अधिक से अधिक, 'ज़माना' की लेख-सूची में उनके नाम पर उनकी दृष्टि पड़ गई हो। जो हो, अब इस विषय का विस्तार करना व्यर्थ है।

प्रेमचन्द जी बराबर लिखते रहे और साहित्य की परख रखनेवालों के एक छोटे से वर्ग में उनकी रचनाओं की प्रभावशालिनी शक्तियाँ और गुण स्वीकृत होने लगे। लेकिन इससे उन्हें कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ। हाँ, दस वर्षों में 'ज़माना' में प्रकाशित होनेवाली अपनी कहानियों की बदौलत उन्हें उर्दू गल्प-लेखकों में पूरे उस्ताद का दरजा हासिल हो गया।

जिस पहली मुलाक़ात के ज़िक्र से इस लेख का आरम्भ हुआ है वह उसी ज़माने में हुई थी। अब वह अपनी नौकरी के सिलसिले में गवर्नमेन्ट नार्मल स्कूल गोरखपुर में सेकेण्ड मास्टर की हैसियत से आये थे। इस बीच में इस देश के शिक्षित और विद्या-प्रेमी लोगों के वर्ग में भी और उसके अतिरिक्त बाहर भी अच्छी तरह उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी और उस प्रसिद्धि में नित्य-प्रति वृद्धि ही होती जाती थी। अब उन्होंने हिन्दी में भी कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया था। हिन्दी के गुणग्राहकों के विस्तृत क्षेत्र ने बहुत तपाक से उनका स्वागत किया। हिन्दी में वे गल्प-लेखन कला के पूर्ण पण्डित समझे गये। हिन्दी सामयिक-पत्रों और पुस्तक प्रकाशकों ने उनके लेखों और पुस्तकों का उपयुक्त और यथेष्ट पारिश्रमिक देना आरम्भ किया। उर्दू में उन्हें जो कुछ मिलता था, वह न मिलने के बराबर था। अब उनकी प्रसिद्धि भारतवर्ष के दूसरे भागों में भी हो गई थी। उनकी कहानियों के अनुवाद बँगला, मराठी, गुजराती और तमिल् तथा दूसरी दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित होने लगे। मुझे यह भी मालूम हुआ है कि जापान में भी कुछ हिन्दुस्तानी लेखकों ने उनकी कहानियों के अनुवाद जापानी भाषा में प्रकाशित कराये हैं। कुछ दिन हुए, यह भी सुनने में आया था कि मि० सी० एफ० एंडरूज प्रेमचन्द जी की कुछ कहानियों का अंग्रेज़ी अनुवाद दोहरा रहे हैं और कहानियों का वह अंग्रेजी अनुवाद इंगलैंड में प्रकाशित होने को था। मुझे कुछ मित्रों ने यह भी बतलाया है कि उनकी कुछ रचनाओं के अनुवाद युरोप की दूसरी भाषाओं में भी हुए हैं। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के प्रोफेसर मि० ड्यूहर्स्ट (Mr.

Dewhurst) ने एक बार प्रेमचन्द जी को लिखा था कि आपकी रचनाएँ बहुत उच्च कोटि की होती हैं और भारतीय साहित्य की प्रथम श्रेणी में स्थान पाने योग्य हैं। अनुभवी विद्वान् और साहित्य के दिग्गज पंडित मौलाना शिबली ने एक बार अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि सात करोड़ मुसलमानों में एक भी आदमी प्रेमचन्द की तरह सुन्दर कोमल और सँवारा हुआ गद्य नहीं लिखता। पंजाब में सभी तरह की औरतों में, चाहे वे किसी राजा के महल की हों, चाहे साहूकारों के यहाँ की हों, चाहे हाकिमों के घर की हों और चाहे व्यापारियों के घर की हों, प्रेमचन्द जी की रचनाएँ पढ़ने का एक खास शौक पैदा हो गया है। इससे यह बात तो अवश्य सिद्ध होती है कि कम-से-कम हमारी स्त्रियों की (जो अभी तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से अधिक लाभ नहीं उठा सकी हैं) मानसिक जिज्ञासा की धार अभी तक कुन्द नहीं हुई है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं और यह एक निश्चित बात है कि जहाँ कहीं हिन्दी या उर्दू पढ़ी जा सकती है, वहाँ जब खिदमतगार खानसामाँ, मामूली पढ़ी लिखी स्त्रियाँ, बच्चे, गाँवों के अध्यापक, जमींदार और काश्तकार प्रेमचन्द जी की कोई कहानी या उपन्यास पा जाते हैं, तब बहुत ही ध्यान लगाकर उसे पढ़ते और सुनते हैं और उसमें लीन हो जाते हैं।

अब प्रेमचन्द जी स्थायी रूप से उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त हो गये और करीब हर साल एक बहुमूल्य उपन्यास तैयार करके संसार के सामने रखने लगे। उनकी असामयिक मृत्यु के समय तक लगभग उनके बीस उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। मैं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में ज़रा आगे चलकर दो एक बातें बतलाऊँगा। जब मैं पहली बार उनसे मिला था, तब वह एक मुदर्रिस की हैसियत से प्राइवेट तौर पर इन्टरमीडिएट का इम्तहान दूसरे दरजे में पास कर चुके थे। और जब सन् १९१९ में वह अपना उत्साहपूर्ण प्रेमाश्रम (जिसका अनुवाद उर्दू में 'गोशए आफ़ियत' के नाम से प्रकाशित हुआ है) लिख रहे थे, तब वह स्कूल में पढ़ाते भी थे और बोर्डिंग हाउस के सुपरिन्टेन्डेन्ट का भी काम करते थे। फिर उसी रवारवी में उन्होंने बिना कोई विशेष परिश्रम किये दूसरे दरजे में बी० ए० की डिग्री भी हासिल कर ली थी, यद्यपि उन्होंने अपने सारे जीवन में कभी एक विद्यार्थी के रूप में किसी कॉलेज में पैर तक नहीं रखा था।

थोड़े दिनों बाद प्रेमचन्द जी ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यदि वह नौकरी करते रहते तो निश्चित है कि आज वह अपने महकमे में काफ़ी तरक्क़ी कर चुके होते और उनकी गिनती इस सूबे के शिक्षा विभाग के बड़े अफसरों में होती। लेकिन सन् १९१९ ई० के असहयोग आन्दोलन के समय, जब उनकी अवस्था तीस वर्ष से कुछ अधिक हो चुकी थी, मेरे यू० पी० सिविल सर्विस की नौकरी छोड़ने के कुछ ही हफ़्तों बाद, वह भी सरकारी नौकरी से अलग हो गये। उस समय उनके पास कुछ रुपये भी जमा हो गये थे, क्योंकि वह बहुत ही सादगी और किफ़ायत से रहते थे। वह अपने आरम्भिक जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ भोग चुके थे और जन्म भर बिना अनुभव किये ऐसा साधुओं का सा जीवन व्यतीत करते रहे जिसमें न तो खुश्की ही थी और न कष्ट का अनुभव ही, न तो आत्म-पोषकोंवाली पवित्रता ही थी और न हृदयहीन त्यागियों का कट्टरपन ही। यहाँ भी उनकी निरीहता और बाल्यावस्थावाली सादगी में धोखा नहीं हो सकता था। और उनकी इसी विशेषता ने चुम्बक पत्थरवाले आकर्षण की तरह बहुत ही शान्त और विश्वसनीय रूप से मुझे उनके बहुत ही पास पहुँचा दिया था। और वास्तविक बात तो यह है कि उनके मिलनेवालों में से कोई आदमी उनके इस आकर्षण से बच नहीं सकता था। उनके व्यक्तित्व में मन्द गति से बहनेवाली हवा की ताज़गी, कौमार और अछूतापन मौजूद था। वे सदा मनुष्यत्व के बहुत पास और आडम्बर से बहुत दूर रहते थे।

अभी उन्हें सोलह बरस और जिन्दा रहना था। बनारस में उन्होंने सरस्वती प्रेस स्थापित किया और अपने गाँव में अपने पुश्तैनी मकान की जगह एक पक्का मकान बनवा लिया था। वहीं रहकर वे अपने जीवन के बाक़ी दिन बिताना चाहते थे। लेकिन यह बात न हो सकी। वे वहाँ थोड़े ही दिनों तक रह सके। लेकिन उनके थोड़े ही दिनों के निवास के समय वह स्थान सारे भारत से उनके गुण-ग्राहकों और शिष्यों के आने-जाने के कारण एक प्रकार का पवित्र तीर्थ बन गया था। यदि यह बात वह स्वयं सुनते तो चकित और प्रसन्न होकर परेशान हो जाते। भारत वर्ष में लेखन के व्यवसाय से कोई स्थायी आय होना या ईमानदारी से अपनी ज़िन्दगी के लिए कुछ पैदा कर लेना असम्भव हो गया है। यहाँ के लोगों को किताबें पढ़ने का तो थोड़ा बहुत शौक़ ज़रूर है, लेकिन किताबें खरीदता कौन है?

असहयोग आन्दोलन के दिनों में जो थोड़े से राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये थे, उन्हीं में से काशी का एक विद्यापीठ भी है। प्रेमचन्द जी को भी इस विद्यापीठ में कुछ दिनों तक प्रिन्सिपल के रूप में सेवा करनी पड़ी थी। चार-पाँच वर्षों तक वह हिंदी के प्रसिद्ध मासिक-पत्र 'माधुरी' के प्रधान सम्पादक भी रहे। और एक साल से भी कुछ कम समय के लिए बम्बई की एक हिन्दुस्तानी फ़िल्म बनानेवाली कम्पनी के लिए नाटक लिखते रहे जिससे उन्हें एक हज़ार रुपये के लगभग प्रति मास मिलता रहा। ये सब बातें बिना किसी विशेष क्रम के होती रहीं। जब कोई नौकरी नहीं होती थी, तब वे अपना प्रेस चलाते थे जिसमें उनके कई उपन्यास और कहानियों के संग्रह प्रकाशित हुए थे। लेकिन प्रेस में उन्हें बहुत अधिक घाटा उठाना पड़ा। एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र के सिवा उन्होंने 'हंस' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला था जो अभी तक उसी दृढ़ निश्चय के साथ श्रीमती शिवरानी देवी के सम्पादकत्व में निकल रहा है। दो महीने की बहुत कड़ी और कष्टदायक बीमारी के बाद गत अक्तूबर मास में उनका देहान्त हो गया। मैंने दशहरे की छुट्टियों में अन्तिम बार उनके दर्शन करने का विचार किया था, लेकिन उनकी मृत्यु का समाचार छुट्टियाँ शुरू होने से पहले ही मिल गया।

देश के बहुत से प्रतिष्ठित लोगों ने, जिनमें उनके साहित्यकार मित्र और शिष्य भी थे, इस बीमारी के दिनों में उनके घर जाकर उन्हें देखा था, जहाँ उनकी धर्मपत्नी बहुत ही प्रशंसनीय साहस और प्रेम पूर्वक उनकी सेवा-शुश्रुषा किया करती थीं। उन सब लोगों ने प्रेमचन्द जी को उस बीमारी के ज़माने में भी वैसा ही सरल, निरीह और प्रसन्न-चित्त पाया था। उनके मरदाने चेहरे पर एक अच्छे कलाकार की सच्ची झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी। लेकिन उनकी तन्दुरुस्ती कुछ इस तरह उखड़ चुकी थी कि उनके बचने की कोई आशा बाक़ी नहीं रह गई थी। फिर भी वे ऊपर से देखने में अपने रोग की विकटता से अपरिचित रहना चाहते थे। उनके मस्तिक में उस समय भी यथेष्ट विचार-धारा प्रवाहित होती थी और वह लोगों से अपनी भावी रचनाओं की उपयोगी योजनाओं का ज़िक्र किया करते थे। उनकी बात-चीत उसी प्रकार स्वाभाविक और आवेशपूर्ण होती थी और उसमें बराबर सूक्ष्मदर्शिता, तत्परता, चिन्तन-सूक्ष्मता की झलक दिखाई देती थी। बातों बातों में वह ऐसे ठहाके लगाते थे जिन्हें सुननेवाले जल्दी भूल नहीं सकते। और उस बीमारी के दिनों में भी जब कोई हास्यास्पद बात उनके सामने आ जाती थी, तब उस पर वह उसी तरह मगर कमज़ोर ठहाके लगाया करते थे; लेकिन फिर भी अब वे ठहाके पहले से कम और कमज़ोर हो गये थे और ऐसा जान पड़ता था कि अब उनका शरीर मृत्यु के निस्तब्ध क्षेत्र की ओर जा रहा है। अब वह शरीर उन लड़कों के से ठहाकों के योग्य नहीं रह गया था, जो उनके मिलने वालों के लिए उनके व्यक्तित्व का एक अंग हो गये थे। वह

काम करते हुए ही जीये और काम करते हुए ही मरे। और जब उनका अन्त आया, तब वह इतनी निस्तब्धता और कोमलता के साथ आया जो उनकी कई कहानियों के अन्तिम अंशों में दिखाई देता है।

आज से प्रायः तीस वर्ष पहले जब पं० रतननाथ सरशार का देहान्त हुआ था तब, मुझे जहाँ तक स्मरण है, सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने बहुमूल्य और प्रभावशाली शोक-सूचक लेख के आरम्भिक वाक्य में (जो हिन्दुस्तान रिव्यू में प्रकाशित हुआ था) साहित्य-सेवियों के उस शिरोमणि के सम्बन्ध में लिखा था कि सरशार की जादू का सा काम करनेवाली क़लम अब सदा के लिए मौन हो गई। वास्तव में यह बात बिल्कुल ठीक थी। फ़िसाना आज़ाद की विस्तृत कहानी में जो घटनाएँ, कथोपकथन और परिहास आदि का क्रम लगभग चार हज़ार पृष्ठों पर फैला हुआ है, वह अवश्य ही बहुत अधिक प्रशंसनीय है। लेकिन उसमें बहुत सी अस्वाभाविक तिलिस्मी बातें भी ज़रूर हैं। कहते हैं कि सरशार ने सरवेन्टीज (Cervantes) का चरित्र डान क्विग्जोट (Don Quixote) के साँचे में ढाला है। लेकिन क्विग्जोट अपने हास्यस्पद अतिरेकों और ज्यादतियों के रहते हुए भी महत्व और वीरता की अमर आत्मा का सूचक है। और सरशार की रचना यद्यपि यह सूचित करती है कि उसका लेखक लेखन-कला का पूर्ण पण्डित था, लेकिन फिर भी वह रचना हमारे सामने एक ऐसी बात रखती है जिसमें प्रत्यक्ष अस्तित्व के विचार से कोई दृढ़ और स्थायी वास्तविकता नहीं है, बल्कि स्वप्न जगत् की एक स्पष्ट फ़िल्मी चित्रकारी है। फ़िसाना आज़ाद में लखनऊ के अवनतिशील और जल्दी मिटनेवाले शीया अमीरों और रईसों के जीवन के मनोविनोद की सामग्री का एक आकर्षक चित्र है। सरशार की वैभवशालिनी बुद्धिमत्ता ने सबसे बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने अपनी क़लम के बल से इस छाया-तुल्य अ-वास्तविक जगत् को अमर बना दिया है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के रईसों के जीवन में एक प्रकार के अ-वास्तविक तिलिस्म का आकर्षण अवश्य होता है। सरशार ने इसी तकल्लुफ़ और बनावट के जीवन के ऐसे चित्र फ़िसाना आज़ाद के पृष्ठों में अंकित किये हैं, जो देखनेवालों को मोहित कर लेते हैं और ये चित्र उन्होंने अपनी जादू भरी क़लम से कुछ इस प्रकार अंकित किये हैं कि उसका प्रत्येक पृष्ठ स्वप्न जगत् के एक जादू के महल की खिड़की की तरह मालूम होता है जो स्वप्न की ही अवस्था में खुलती है और अपने शोभापूर्ण दृश्य दिखलाती है।

यदि हम प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में भी यह कहें कि उनकी क़लम जादू का सा काम करती थी तो यह उनके सम्बन्ध में कोई बहुत बड़ी बात न होगी। उनके प्रत्येक पृष्ठ में सभ्यता के प्रवर्त्तकों के पहले क़दमों की चाप सुनाई देती है। उनकी किताबों के द्वारा सामूहिक जीवन के समस्त अमर, स्थायी और दृढ़ अङ्गों में फिर से नवीन जीवन का संचार हो गया था। भारत वर्ष की प्राचीन ऐतिहासिक सभ्यता उसकी तूफ़ान लानेवाली जाग्रति की पहली धीमी करवटें थीं जो उनकी क़लम से कहानियों के रूप में प्रकट हुई थीं। इस तरह की कोई चीज़ बंकिम-चन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय और दूसरे बंगाली लेखकों ने भी दुनिया के सामने पेश नहीं की। यद्यपि उक्त लेखकों के उपन्यासों और कहानियों में बहुत अधिक गम्भीरता और शक्ति है, लेकिन फिर भी अधिकतर वे मानसिक भावों की ही सूचक हैं और प्रायः अपनी आवश्यकता से अधिक सतर्कता के कारण वे गद्य कथानकों का सच्चा आदर्श नहीं हो सकतीं, और इसीलिए मेरी समझ में प्रेमचन्द जी की रचनाएँ भारत के उपन्यास-लेखन और गल्प-लेखन में एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन या क्रान्ति करनेवाली हैं। क्योंकि उनमें साहित्यिक विशेष

ताओं के साथ-ही-साथ सर्वव्यापकता, विस्तार, तथ्य, आवेश और दृढ़ता सभी कुछ वर्त्तमान है। वह मानसिक भावों को उपस्थित करते समय बाल की खाल नहीं निकालते थे लेकिन उनके गद्य में ज़िन्दगी की तड़प मौज़ूद है।

मैं फिर एक बार अपने विचारों को तीस बरस पीछे ले जा रहा हूँ, जब मैंने उनकी एक कहानी पढ़ी थी। उस समय मेरी अवस्था कठिनता से दस-बारह बरस की रही होगी। इस समय संसार में बालकों के लिए जो साहित्य वर्त्तमान है, मैं उसका विचार करता हूँ। ईसप की कहानियाँ (Æsop's Fables) उससे पहले का हितोपदेश, अलिफ़ लैला, ग्रिम और एंडरसन के परियों आदि के किस्से (Grimm & Anderson's Fairy Tales), जी० ए० हेन्टी (G.A.Henty) की रचनाएँ और दूसरी बहुत-सी पुस्तकें मेरी दृष्टि के सामने हैं। यद्यपि उनमें बहुत-सी रचनाएँ बहुमूल्य और बहु-मान्य हैं, लेकिन यह सोचकर मैं बहुत ही चकित हो जाता हूँ कि साहित्य की जो सूक्ष्म आत्मा और रंगीनी, वास्तविकता की झलक, सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और वह बसी हुई तासीर जो प्रेमचन्द जी में मिलती है, उक्त सब ग्रंथों में कहीं नाम को भी नहीं है। गद्य और पद्य के जो ग्रन्थ उच्च कोटि के शिक्षित और सभ्य लोगों के लिए लिखे जाते हैं, उनके सम्बन्ध में यही प्रत्याशा की जाती है कि उनमें साहित्य की कोमलता, सरसता वास्तविकता और अवास्तविकता का भेद अवश्य ही दर्शाया गया होगा। परन्तु बालकों के पढ़ने योग्य पुस्तकों में ये बातें कदाचित् ही कभी देखने में आती हैं। परन्तु प्रेमचन्द जी की प्रायः पचास ऐसी कहानियाँ हैं जिन्हें बच्चे बहुत दिलचस्पी के साथ पढ़ सकते हैं और उनकी सरसता तथा कोमलता बच्चों को बिना प्रभावित किये नहीं रह सकती। वे कहानियाँ बच्चों को भी चिन्तन और मनन की ओर प्रवृत्त करती हैं और उनके अर्द्धविकसित मस्तिष्क में विलक्षण मनोभावों का संचार करतीं और बीती हुई घटनाओं का स्मरण दिलाती हैं। संसार के साहित्य में इस तरह की कोई और चीज़ नहीं है। उनकी कहानियों की अच्छी खासी संख्या में एक प्रकार की अनुपम सरलता, प्रवाह और विचारों के सच्चे चित्र मिलते हैं। हज़ारों जगहों पर उनकी क़लम की एक हलकी-सी गति इतनी अधिक प्रभावशालिनी होती है कि वह वास्तविक साहित्य और भारत की विश्व-व्यापिनी आकर्षण शक्ति रखनेवाली सभ्यता का स्थायी चित्र बन जाती है। इसीमें उस मौन और गम्भीर प्रभाव का रहस्य छिपा हुआ है जो उनकी रचनाएँ हर पढ़नेवाले और हर भारतवासी पर डालती हैं (चाहे वह किसी उम्र का हो और मानसिक विकास के किसी सतह पर क्यों न पहुँचा हुआ हो।) उनकी रचनाओं में भारतवर्ष की अमृत में बसी हुई आत्मा है जिससे भारतीय जीवन की वृद्धि और विकास हुआ है और जिसके कारण स्वयं उनकी रचनाएँ फूलीं, फलीं, बढ़ीं और लहलहाई हैं।

उनकी सभी छोटी कहानियाँ समान रूप से सफल नहीं हुई हैं। उनमें से बहुत सी कहानियाँ बहुत ही जल्दी और रवारवी में लिखी गई हैं। कई कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें स्वयं लेखक को भी सफलता नहीं हुई है। लेकिन फिर भी उनकी अधिकांश कृतियाँ बहुत ही उच्च कोटि की हैं। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा को छोटी कहानियाँ लिखने की विशिष्ट कला से परिचित कराया है और उस अनुपम वर्णनात्मक लेख-शैली का उदाहरण उपस्थित किया है जो फ्रान्सीसी गद्य की ऊपरी तड़क-भड़क और आवश्यकता से अधिक जँचा-तुला-पन और जरमन गद्य की कृत्रिमता तथा उलझनवाली वर्णन-शैली से बिल्कुल रहित है। उनका गद्य कोमल, सरस, चलता हुआ और पुष्ट है। उनकी लेख-शैली भारतीय रहन-सहन के मान-दंड की दर्शक है। उनके संकेतों में भी यही सौन्दर्य और प्रभाव है जो उनकी लेख-शैली की जान है। उन्होंने हिन्दुस्तानी

भाषा को पहली बार ऐसे दार्शनिक वचनों और सिद्धान्तों से सम्पन्न कर दिया है जिनका संग्रह स्वयं ही एक बहुत बड़े ग्रन्थ का रूप धारण कर सकता है।

उनका महत्व उनके उपन्यासों के कुछ टुकड़ों में प्रकट होता है। जो उपन्यास सफल कहा जा सकता हो, उसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें कुछ औपन्यासिक पेंच हों, कुछ कला सम्बन्धी कठिनाइयाँ हों, और उनके भिन्न-भिन्न अंगों में एक केन्द्रीय एकता और सामंजस्य हो। परन्तु प्रेमचन्द जी की पूर्णता और पारंगतता का यह केन्द्र या आदर्श नहीं था। इतना सब कुछ होने पर भी वह हिन्दी और उर्दू के सबसे बड़े उपन्यास-लेखक थे और उनकी गणना भारत-वर्ष की दूसरी भाषाओं के दो चार बहुत ऊँचे दरजे के उपन्यास-लेखकों में थी। उनके छोटे और बड़े सभी प्रकार के उपन्यासों के कुछ विशिष्ट अंश, जिनकी संख्या बहुत अधिक है, इस बात के सूचक हैं कि उपन्यास-लेखन कला में प्रेमचन्द जी पूर्ण पंडित और पारगत थे। और उन्हीं अंशों के कारण वह अपनी अच्छी-अच्छी कहानियों से भी कहीं अधिक ऊँचे हो जाते हैं। ये अंश देव वाणी के ढँग से लिखे हुए मालूम होते हैं और अमर महत्व के पताका-वाहक हैं। उनमें से प्रत्येक अंश किसी बहुत प्रतिष्ठित और पूर्ण कलाकार के अधूरे कृत्य मालूम होते हैं। यहीं प्रेमचन्द जी आसमान के तारे तोड़ लाते हैं। रंगभूमि या चौगाने हस्ती के आरम्भिक पृष्ठों में बेतकल्लुफ़ी; ज़िन्दा-दिली, सादगी, प्रवाह, ओज और संकेतों के महत्व में अपना जवाब नहीं रखते। इस उपन्यास में भी और उनके दूसरे उपन्यासों में भी थोड़ी थोड़ी दूर पर ऐसे कई-कई पृष्ठ मिलते हैं जो केवल एक बहुत बड़े व्यक्ति की ही क़लम से निकल सकते हैं। वह अपने अधिकांश उपन्यास बहुत ही विचार और चिन्तन के उपरान्त और बहुत ज़ोर में शुरू करते थे। लेकिन कुछ दूर जाने पर उनका वह प्रकाश कुछ देर के लिए मन्द पड़ जाता था और कुछ देर बाद फिर शुरू होता है।

प्रेमचन्द जी के साथ मेरा जो व्यक्तिगत सम्बन्ध था, उसके विषय की एक बात विशेष रूप से उल्लेख करने के योग्य है, जिसे मैं केवल एक 'विलक्षण कठिनता' कह सकता हूँ। अपने देश के उन सभी लोगों की तरह, जिन्हें भारत वर्ष के वर्त्तमान साहित्य से कुछ भी प्रेम है, मेरी व्यक्तिगत प्रवृत्ति भी स्वभावतः काव्य और उसकी रचना तक ही परिमित थी। और आरम्भ से ही मुझे आशा थी कि प्रेमचन्द जी भी उर्दू काव्य के ऊँचे दरजे की चीज़ों के उसी प्रकार भक्त और अनुराग रखने वाले होंगे। यह बात तो नहीं है कि उच्च कोटि के काव्य का उन पर कोई आकर्षक प्रभाव नहीं होता था, लेकिन फिर भी वैसे काव्य सुनकर वे कभी आपे से बाहर नहीं हो जाते थे। मुझे इस बात से सदा एक प्रकार का आश्चर्य और उलझन हुआ करती थी। क्योंकि जब उनसे पहले-पहल भेंट हुई थी, तब दूसरे नवयुवकों की भाँति मेरा भी यही विश्वास था कि साहित्य में सबसे बड़ी चीज़ कविता ही है। गद्य और विशेषतः उपन्यासों तथा कहानियों-वाला गद्य मेरी समझ में एक निस्सार सा पदार्थ था। मेरे लिए प्रेमचन्द जी का कविता से स्थायी रूप से अप्रभावित रहना एक ऐसा रहस्य था जो मेरी समझ में ही नहीं आता था। मैं उन्हें साहित्य के काव्य सम्बन्धी सौन्दर्य की कोमलताओं का कुछ भी अनुरक्त और उपासक नहीं पाता था। परन्तु इस क्षेत्र में वे आरम्भ से ही मेरा प्रवेश देखकर मुझे आदर की दृष्टि से देखते थे जिससे मुझे एक प्रकार की हार्दिक प्रसन्नता होती थी। उन्हें नियमित रूप से कुछ अध्ययन करने का भी अभ्यास नहीं था। लेकिन यह ढंग केवल थोड़े से बड़े-बड़े लेखकों का ही रहा है। प्रेमचन्द जी किसी विशेष सिद्धान्त के वशवर्त्ती होकर भी कभी पुस्तकें नहीं पढ़ते थे। उन्हें अधिकतर वही पुस्तकें और उपन्याय आदि अच्छे लगते थे जिनमें रस्म-रवाज, अनुभूतियाँ, कथा-नक, ऐतिहासिक घटनाएँ और जीवन सम्बन्धी दूसरी बातें सादे और परिचित ढंग से लिखी हुई

होतीं थीं। इसमें भी वे अपनी उसी जिज्ञासा और साहित्य के शौक़ का परिचय देते थे। चाहे पुरानी बातों, अप्रिय घटनाओं, बीती हुई बातों और पुरानी लड़ाइयों का वर्णन हो (जैसे आल्हा, रानी सारन्धा और रूठी रानी आदि) और चाहे नित्य प्रति की बातों (यथा-हार्दिक दुःख, कष्ट या हानि) का वर्णन हो, जो संसार में पहले भी हो चुके हैं और आगे भी होते रहेंगे, प्रेमचन्द जी को पसन्द नहीं थे। ये सब बातें प्रेमचन्द जी के लिए बहुत ही विलक्षण और उन्हें चकित करने वाली होती थीं। लेकिन इस पर भी मैं मन ही मन में चकित होता था कि कविता उनकी आत्मा में क्यों गरमी नहीं पैदा करती ? कविता से वह क्यों प्रभावान्वित नहीं होते। इस समस्या का एक निराकरण सा उस समय मेरी समझ में आया, जब मैं उनकी मृत्यु के उपरान्त अपने एक मित्र और भारत वर्ष के एक मान्य सपूत के कम हो जाने पर विचार कर रहा था। उस समय मेरे ध्यान में यह बात आई कि जो लोग गद्य-लेखन कला के पूर्ण पंडित होते हैं, वे कदाचित् ही कभी काव्य के विशेष गुण-ग्राहक होते हैं। बेकन (Bacon), जानसन (Johnson), हेजलिट (Hazlit) कारलाइल (Carlyle) और रस्किन (Ruskin) को देखिये। ये लोग भी छन्दोबद्ध और रस से भरी हुई कविता के वश में नहीं थे। दुनिया के बड़े बड़े उपन्यास-लेखक, नाटककार और वर्णनात्मक गद्य-काव्य लिखनेवाले लेखक कभी भावुकतापूर्ण काव्य से प्रभावित नहीं होते थे। क्या वर्ड्स्वर्थ, जो एक बहुत बड़ा भावुक कवि था, शेली (Shelly) की कविता से और शेली वर्ड्स्वर्थ की कविता से नाक-भौंह नहीं सिकोड़ता था ? भावुक कवि शायद ही कभी एक प्रकार की दुष्ट आत्म-श्लाघा से बच सकता है। और प्रेमचन्द जी ऐसे आदमियों में नहीं थे जो केवल मनोविकारों के दास होते और अपने आपको सबसे बड़ा समझते हैं। प्रायः उनकी प्रत्येक रचना में एक बहुत सुन्दर आदर्श-वाद है जिसकी बदौलत वे अपनी कथावस्तु और पात्रों से निकल कर भारतीय इतिहास की पाँच हज़ार बरस पुरानी सभ्यता तक जा पहुँचते हैं। ऊपर से देखने में उनकी कहानियों की जो सीमाएँ होती हैं, वास्तव में वे कहानियाँ उन सीमाओं से कहीं बड़ी होती हैं। उनमें एक ऐतिहासिक सभ्यता का वर्णन और रंग होता है। उनकी पुस्तकें हमें उन काल-चक्रों से परिचित कराती हैं जो इतिहास के आरम्भिक काल से शुरू हुए थे और जिनमें अब भी यौवन-काल का ताज़ापन मौजूद है। जब कभी हम उनकी कोई कहानी पढ़ते हैं, तब हमें यही जान पड़ता है कि यह केवल भारतवर्ष के सम्बन्ध में ही नहीं है, बल्कि स्वयं भारतवर्ष ही है। न तो उनमें काल्पनिक और अवास्तविक आदर्शों का ही वर्णन होता है और न भारतीय सभ्यता की बिना समझी-बूझी प्रशंसा ही होती है। इसी सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में वह कभी कभी बहुत ही कटु बातें भी कह डालते हैं। अब उनकी रचनाएँ एक नये क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही थीं, क्योंकि उनकी अन्तिम कहानियों में अधिक गहराई और तीखापन दिखाई देता है। उनकी कला नवीन शक्ति सम्पादित कर रही थी ; पर इसी बीच में अचानक मृत्यु ने आकर उनका अन्त कर दिया। उनकी लेखनी से भारतीय साहित्य को बहुत बड़ा लाभ पहुँचा है। उनकी मृत्यु से देश की इतनी बड़ी हानि हुई है जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। जब भविष्य में उनका कोई उत्तराधिकारी आवेगा तब उसके मस्तक पर उस व्यक्ति के सिर का बेदाग और ताज़ा सेहरा आकर चढ़ेगा जिसने कभी कोई हेठी बात नहीं कही।

बिदा ! मुन्शी प्रेमचन्द, बिदा !

प्रेमचन्द : भारतीय कृषकों का कंठ स्वर

[लेखक—श्री० प्रियरंजन सेन]

यदि इस समय भारत के साहित्यिक इतिहास की जाँच की जाय तो पता चलता है कि इस देश के सभी प्रान्तों में एक ही साहित्यिक उद्देश्य काम कर रहा है, सब जगह एक ही प्रकार की संवेदनाएँ जाग्रत की जा रही हैं, सब जगह एक ही विषय का विवेचन हो रहा है और संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सब जगह एक ही प्रकार की मानसिक शक्ति काम कर रही है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि एक प्रान्त की भाषा में दूसरे प्रान्तों की भाषाओं से कुछ विशेष और बड़े अन्तर हैं। नौकरशाही के क्षेत्रों में जिस प्रकार भारतीय विचारों की (जिनमें साहित्यिक विचार भी सम्मिलित हैं) उपेक्षा की जाती है, उससे कम उन विचारों की उपेक्षा विद्या सम्बन्धी जगत् में नहीं की जाती। हाँ, भाषाओं के पारस्परिक अन्तरों पर ज़ोर दिया जाता है और आवश्यकता से कहीं अधिक ज़ोर दिया जाता है। भाषा-विद् विद्वान हमें यह बतलाते हैं कि भारतीय भाषाएँ भिन्न-भिन्न वंशों में उत्पन्न हुई हैं, और जो भाषाएँ एक ही वंश की हैं, वे भी भिन्न-भिन्न शाखाओं की हैं। और इसी लिए एक पंजाबी जो कुछ सोचता है, वह भाषा की दृष्टि से एक आसामी के विचारों से बहुत भिन्न होता है। यह बात ठीक है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में अभिव्यक्ति के प्रकार अलग-अलग हैं। और अलग-अलग प्रान्तों में भाषा-तत्व की दृष्टि से ऐसे सूक्ष्म भेद और विशेषताएँ हैं जिनका अनुभव बहुत सूक्ष्मता पूर्वक विचार करने से ही होता है। और ये भेद केवल प्रान्तों की भाषाओं में ही नहीं हैं, बल्कि ज़िलों और यहाँ तक कि व्यक्तियों की भाषाओं में भी पाये जाते हैं। परन्तु ये अन्तर और प्रभेद केवल भारतवासी ही अच्छी तरह से समझ सकते हैं; विदेशियों को उनका उतना अधिक पता नहीं चल सकता। यह तथ्य ज़ितना ही अधिक समझा जा सके, उतना ही वह भारतीय एकता के लिए हितकर है, क्योंकि भारतवासियों को इस बात का ज्ञान हो जाने का परिणाम यह होगा कि समस्त भारतवासियों में एकता का भाव उत्पन्न होगा और देश के भिन्न-भिन्न भागों में जो लोग बसते हैं, उनकी समझ में यह बात आ जायगी कि सारे भारत की संस्कृति बिल्कुल एक ही सी, बल्कि यों कहना चाहिए कि बिल्कुल एक ही है।

जब हम इस बात का विचार करने के लिए बैठते हैं कि प्रेमचन्द जी ने क्या-क्या किया और उनकी कृतियों से हमें क्या लाभ हुआ, तब स्वभावतः इसी प्रकार के विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं। हम उनकी बातों का विचार केवल इस दृष्टि से करेंगे कि भारतीय साहित्य में उन्होंने कौन सी वृद्धि की है। यदि कोई उपनाम ग्रहण कर लिया जाय तो सदा इसका यही आशय

नहीं होता कि उपनाम धारण करनेवाले व्यक्ति का स्वरूप ही परिवर्त्तित हो गया। कभी कभी तो इस प्रकार उपनाम धारण करना एक फ़ैशन-सा ही होता है। और विशेषतः हिन्दी लेखकों में तो उपनाम धारण करने की एक प्रथा-सी ही चल गई है। परन्तु कई वर्ष पहले जब धनपत राय जी ने अपना नया साहित्यिक नाम रखा, तब से मानो उनके एक नवीन अस्तित्व का ही आरम्भ हुआ। उन्होंने अपनी लेखनी को प्रेम की सेवा के लिए अर्पित कर दिया। वह प्रेम न तो मानवी ही था और न लोकोत्तरवाले अर्थ में ईश्वरीय ही था; बल्कि यह वह सच्चा प्रेम था जो मनुष्य की समस्त परिस्थितियों को ही बदल देता है और सदा मौन रहकर ही गुरुतर और परम उपयोगी क्रान्तियाँ उत्पन्न कर देता है। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने उर्दू भाषा के एक हिन्दू लेखक के रूप में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। उन दिनों उर्दू ही संस्कृति और विशिष्टतावाली भाषा समझी जाती थी। परन्तु जब उन्होंने समय की आवश्यकता का अनुभव किया, तब उन्होंने अपनी मातृ भाषा हिन्दी का अंगीकार किया और वे हिन्दी में ही छोटी-छोटी कहानियाँ और उपन्यास आदि लिखने लगे और शीघ्र ही हिन्दी साहित्य के जगत् में वे परम प्रवीण कलाकार मान लिये गये थे। उनकी छोटी-छोटी कहानियाँ स्कूलों में पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाने लगी हैं। विशेषतः उपन्यासों के क्षेत्र में और साधारणतः साहित्य क्षेत्र में वह 'सम्राट्' कहे जाने लगे थे। समाचार पत्रों तथा दूसरे सामयिक पत्रों में उनकी पुस्तकों की अधिक-से- अधिक जितनी प्रशंसा हो सकती थी, उतनी हुई है। अन्यान्य प्रान्तों के बहुत बड़े-बड़े साहित्य सेवी भी उनके गुणों की ओर से उदासीन नहीं थे—वे भी उनके गुणों की यथेष्ट प्रशंसा करते थे। आधुनिक बँगला साहित्य में शरत्चन्द चट्टोपाध्याय एक बहुत ही विशिष्ट व्यक्ति हैं और बँगला साहित्य-सेवियों में उनका बहुत ऊँचा स्थान है। वे यह तो अवश्य कहते थे कि छोटी कहानियों के सम्बन्ध में टैगौर के साथ प्रेमचन्द की तुलना करना मानो टैगोर के साथ गुस्ताखी करना है, लेकिन फिर भी वह यह मानते थे कि बँगला में जो दूसरे बहुत से गल्प-लेखक हैं, उनसे प्रेमचन्द जी कहीं अच्छे हैं। इस प्रकार जब तक प्रेमचन्द जी जीवित रहे, तब तक वह बराबर कीर्त्ति सम्पादित करने में सफलता प्राप्त करते रहे। और यह कोई छोटी या मामूली बात नहीं है, क्योंकि यदि कवि का विशिष्ट गुण दोष-प्रवणता है, तो हमारे यहाँ के विद्वानों और साहित्य-सेवियों में ईर्ष्या भी प्रायः उसी मात्रा में एक विशिष्ट गुण के रूप में पाई जाती है। प्रेमचन्द जी ने केवल अपनी उच्च-कोटि की लेखन-कला के कारण ही नहीं; बल्कि अपने प्रेम के कारण भी और उस प्रेम के कारण जो उनके हृदय में समस्त मानव जाति के प्रति था और जिसका परिचय हमें उनकी रचनाओं में जगह-जगह मिलता है, अपने सहयोगी लेखकों के हृदयों पर विजय प्राप्त की थी।

ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उनका प्रेम भी प्रबल होता गया। और उनके साहित्यिक कौशल की भी वृद्धि होती गई और उन्होंने अपना वह प्रेम और वह साहित्यिक कौशल अपनी उस संस्कृति की अभिव्यक्ति और व्याख्या के लिए अर्पित कर दिया था जो उन्होंने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की थी और पूर्ण मात्रा में प्राप्त की थी। अर्पण या समर्पण कोई ऐसा मामूली शब्द नहीं है जिसका जब और जैसा जी में आवे, तब और वैसा उपयोग किया जा सके, और यदि हम प्रेमचन्द जी का अन्तिम उपन्यास 'गोदान' देखें तो तुरन्त ही हमारी समझ में यह आ जायगा कि वह अर्पण या समर्पण का क्या मतलब समझते थे। उसमें हमें उन भारतीय कृषकों की हृदय-विदारक कहानी मिलती है जिनके सर्वस्व का अनेक प्रकार से अपहरण हो चुका है, जिनका लालन-पालन मिथ्या विश्वासों और धार्मिक विश्वासों के सम्मिश्रण में हुआ है और जिन्हें सदा ऐसी दरिद्रता और ॠण का मुक़ाबला करना पड़ता है जिससे

बचने की उनके लिए प्रायः कोई आशा ही नहीं है। इस उपन्यास में ग्राम्य जीवन की सभी बातें ब्योरेवार आ गई हैं। देहातों में जो कुछ गन्दगी या बुराई है और जो कुछ सौन्दर्य या भलाई है, जो कुछ सुख हैं और जो कुछ दुःख हैं, जो कुछ अद्भुत परिस्थितियाँ हैं और जो अनन्त सम्भावनाएँ हैं, उन सब का उसमें बहुत अच्छा दिग्दर्शन है। अब देहातों की परिस्थिति यह हो गई है कि वहाँ न तो रक्त ही बचा है और न मांस ; केवल हड्डी और चमड़ा बाक़ी रह गया है और कुछ बातों में कुछ सामाजिक प्रथाएँ बच रही हैं। इस छः सौ बारह पृष्ठों की पुस्तक में आदि से अन्त तक देहातों की इसी परम दीन अवस्था का चित्र अंकित है और उसकी चिरस्थायी जीर्णावस्था का चित्र क्षण भर के लिए भी आँखों से ओझल नहीं होता। एक ओर तो ब्राह्मण और महाजन मिलकर देहातों को खाते चले जाते हैं और दूसरी ओर सामाजिक प्रणाली और आर्थिक दुर्दशा उनके प्राण ले रही हैं। स्वयं देहाती भी एक प्रकार के धूर्त होते हैं और इसका कारण यही है कि उन्हें बहुत ही विकट अवस्थाओं और परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। लेकिन इस परिस्थिति की विकटताएँ भी न तो उन्हें धर्म से ही विमुख कर सकी हैं और न वे दूसरों का ध्यान रखना ही भूल गये हैं। प्रेमचन्द ने अपने वैभवपूर्ण ऐतिहासिक भूतकालवाले संसार की फिर से दृष्टि करने का प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि उनकी कहानी आजकल के दिनों से ही सम्बन्ध रखती है और उस समय की हैं जब कि असहयोग आन्दोलनवाली उत्तेजना शान्त हो गई थी। इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया इस उपन्यास की भूमिका में इस प्रकार दबे पैरों संचार करती है कि ऊपर से देखने में जल्दी उसका पता ही नहीं चलता। देश के नवयुवकों में फिर से नया जीवन आ रहा है और जो शक्तियाँ उन्हें फिर से जीवित करके आगे बढ़ा रही हैं उनसे बिल्कुल अनजान होते हुए भी वे बराबर बाहरी विशालतर जगत की ओर बढ़ रहे हैं। इस उपन्यास के नायक का पुत्र गोबर्धन भी इसी प्रकार के नवयुवकों में से एक है। लेकिन यह न समझना चाहिए कि प्रेमचन्द जी ने इस उपन्यास में नवयुवकों की मानसिक अवस्था या अंग्रेज़ी साँचे में ढले हुए पुरुषों और स्त्रियों के निषिद्ध और विनष्ट जीवन का चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है। गोबर्धन मानो चिल्ला कर कह रहा है कि हमारी परिस्थिति हद से ज़्यादा बिगड़ चुकी है और इसका किसी प्रकार सुधार होना चाहिए ; और उसकी यह पुकार अस्वाभाविक परिस्थितियों के विरुद्ध मानो एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। वह एक ऐसी परिस्थिति में से भाग निकलता है जिसमें उसका कष्ट दिन-पर-दिन बढ़ता ही जाता था। बेचारे ग़रीब भारतीय किसानों के चारों ओर जो वातावरण बना हुआ है, उसमें गोबर्धन एक दूसरी ओर अतिरिक्त मद है। जिन अङ्गों से देहातियों का दरिद्रतापूर्ण जीवन बना है, उसी के बहुत से अंशों में से वह भी एक सामान्य अंश है। कहानी का वास्तविक केन्द्र हरि में है। सारी घटनाएँ उसी पर बीतती हैं। यहाँ तक कि अन्त में भीषण गन्दगी और ऐसी दरिद्रता में, जिसका कभी अन्त ही नहीं हो सकता, वह लू लगने से मर जाता है। परन्तु उसकी स्त्री और जीवन संगिनी धनिया अन्त तक परम निष्ठापूर्वक उसकी सेवा करती रहती है। प्रेमचन्द जी की इस अन्तिम कृति के सम्बन्ध में सबसे बढ़कर और मार्के की बात यह है कि उन्होंने कृषकों के जीवन और उनके चारों ओर के वातावरण के मूल तत्वों तक पहुँचने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी हुई है। उन्होंने बहुत अच्छी तरह यह बतलाया है कि कृषकों के जीवन और परिस्थितियों का भौतिक और आध्यात्मिक आधार क्या है। और इस काम में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे पुस्तक से प्राप्त होने वाला आनन्द और भी बढ़ जाता है। पढ़नेवाले इस बात का अनुभव करते हैं कि यह प्रयत्न जान-बूझकर किया गया है, लेकिन फिर भी वह उससे घबराते या उकताते नहीं हैं।

भारतवर्ष के उस सेवक का, जो प्रेम के मन्दिर का पुजारी है, कम-से-कम यह ग्रन्थ उसी राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन के अनुरूप चलता है, जिसमें यह कहा जाता है कि सब लोग शहरों का बसना छोड़कर फिर से देहातों में रहना शुरू करें और चरखा काता करें।

एक ओर तो कायाकल्प और दूसरी ओर गो-दान को देखने से हमें इस बात का पता चलता है कि अपने उपन्यासों की विशिष्ट रचना में उनमें कितना अधिक सफल परिवर्त्तन, बल्कि यों कहना चाहिए कि क्रान्ति हुई थी ; और पूर्णता प्राप्त करने के प्रयत्न में लेखन-कौशल की दृष्टि से वह अपनी पुरानी कृतियों से कितना अधिक आगे बढ़ गये थे। कायाकल्प में मोटे हिसाब से बहुत सी अलौकिक बातें दी गई हैं और विकास-वाद के प्रचारक डारविन के विकास के रूप में तिब्बत के एक महात्मा का वर्णन है। परन्तु गोदान में योग अथवा और किसी प्रकार के चमत्कार की सहायता लेकर कहीं वास्तविकता की सीमा का उल्लंघन नहीं किया गया है, बल्कि उसमें लाखों-करोड़ों मूक और दीन भारतवासियों की अवस्था की तह तक पहुँचने का प्रयत्न किया गया है और अवनति तथा पतन के गड्ढे में डूबे हुए देहातियों को एक ऐसी वस्तु दी गई है जिसकी उन्हें नितान्त आवश्यकता है ; उन्हें अपना कण्ठ स्वर प्रदान किया गया है। और उनके साथ ऐसा सहानुभूतिपूर्ण तथा सम्मानपूर्ण व्यवहार किया गया है, जिसकी तुलना, कम-से-कम जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस समय के भारतीय साहित्य के और किसी ग्रन्थ से की ही नहीं जा सकती।

प्रेमचन्द जी ने एक और प्रकार से भी अपनी लेखनी के द्वारा अपने देश की सेवा की थी। इधर हाल में उन्होंने भारतवर्ष के समस्त साहित्यों का एक संघ या कुटुम्ब बनाने के लिए बहुत कठोर परिश्रम किया था। उन्होंने भारतीय साहित्य परिषद् और 'हंस' के द्वारा समस्त भारतीय साहित्यों को एक में मिलाने का प्रयत्न किया था। सर आशुतोष मुकर्जी ने अनेक अवसरों पर जो व्याख्यान दिए थे और जो 'जातीय साहित्य' के नाम से श्रीयुक्त रामप्रसाद मुकर्जी द्वारा प्रकाशित हुए हैं, उनमें उन्होंने इस प्रकार की एक परिषद् स्थापित करने के सम्बन्ध में अपनी योजना के सम्बन्ध में कुछ विस्तृत बातें बतलाई थीं। इस सबन्ध में प्रेमचन्द जी ने जो काम किया था, वह सभी लोग जानते हैं और इसलिए यहाँ उसका विशेष वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आशा की जाती है कि श्रीयुक्त काका कालेलकर के निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन में भारतीय साहित्य परिषद् यथेष्ट सफलता प्राप्त करेगी। 'हंस' का प्रकाशन भी इसी उद्देश्य की सिद्धि का मानो एक दूसरा मार्ग था। सौभाग्यवश इसी 'हंस' के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार के द्वारा मेरा प्रेमचन्द जी के साथ परिचय हुआ था। उन्होंने अपने एक पत्र में मुझे जो कुछ लिखा था, उसका कुछ अंश मैं यहाँ इसलिए उद्धृत कर देना चाहता हूँ जिसमें पाठकों को यह पता लग जाय कि इस सम्बन्ध में उनके विचार क्या थे। उन्होंने मुझे लिखा था—

'बँगला साहित्य अब केवल प्रान्तीय नहीं रह गया है। वह बहुत दिनों पहले ही प्रान्तीयतावाली अवस्था पार कर चुका है। परन्तु फिर भी उसके आधुनिक विकास से हम लोग भली भाँति परिचित नहीं हैं। हिन्दी साहित्य ज्यों ज्यों उन्नत होता जाता है, त्यों त्यों उसे थोड़ा बहुत अपने महत्व का परिचय होता जाता है, और अब पहले की तरह बँगला पुस्तकों के उतने अधिक हिन्दी अनुवाद नहीं होते। बंकिम, रमेश, डी० एल० राय, शरत् और गुरुदेव समस्तभारत के हैं। और इनमें से कुछ तो सारे संसार में प्रसिद्ध हो चुके हैं। लेकिन हम लोगों में एक दूसरे के साथ जो दिलचस्पी है, वह कम नहीं होनी चाहिए। बड़े बड़े लेखक किसी एक ही प्रान्त या देश

के नहीं होते। जब हम लोग एक राष्ट्र के रूप में हैं, तब हमें बंकिम का भी उतना ही अधिक अभिमान होना चाहिए जितना इक़बाल या जोशी का।'

प्रेमचन्द जी केवल साहित्यिक कलाकार ही नहीं थे। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उन्होंने अपने कौशल और मानव जाति सम्बन्धी ज्ञान का उपयोग देश-सेवा के काम में किया था। और इस सम्बन्ध में केवल प्रचार की दृष्टि से वे कभी फालतू विचार नहीं प्रकट करते थे, बल्कि महात्मा गान्धी के आदर्श पर उन्होंने कृषकों के हृदय के गम्भीरतल में निमग्न होना सीखा था और इस प्रकार वे उन कृषकों के मुँह से ऐसी बातें कहलाते थे जो अधिक से अधिक पूर्ण होतीथीं।

(पृष्ठ ७८३ के आगे)

परिस्थितियों ने उन पर कभी रहम नहीं किया। प्रेमचंद जी ने भी कभी उनसे रहम नहीं माँगा। वह जूझते ही रहे। सारी उम्र इसी में गुज़ारी फिर भी नई विपत्तियों का सामना करते उन्हें डर न होता था। वह बचते न थे, कर्तव्य से कतराते न थे। उन्हें पैसे का लोभ न था, हाँ घाटे का डर तो था ही। आमदनी चाहे कौड़ी न हो, पर ऊपर से घाटे का भूत तो मुँह फाड़कर खाने न दौड़े। इतना ही चाहिए। पर इतना भी नहीं हुआ। इस घाटे ने उनकी कमर तोड़ दी। 'हंस' चलाया, 'जागरण' चलाया। दोनों में भावना सेवा की भी थी। मैं कह सकता हूँ कि उनमें व्यवसाय की भावना नहीं के बराबर थी। पर दोनों उनका मन और तन तो लेते ही रहे, तिस पर उनसे धन भी माँगते रहे। धन उनके पास देने और देते रहने को कहाँ था। आखिर सिनेमा की ओर से आए निमंत्रण को उन्हें सुनना पड़ा। २०-४-३४ को उन्होंने पत्र लिखा—

'प्रिय जैनेद्र,

'तुम्हारा पत्र ऐन इंतज़ार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की ख़ास ज़रूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊँगा, जब आओगे, तभी उस विषय में बातें होंगी। मगर तुम्हें क्यों सस्पेंस की हालत में रखूँ ? बंबई की एक फ़िल्म कंपनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कन्ट्राक्ट की बात है। ८,०००) साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाज़ार में बेचूँ। मैं इस विषय में तुम्हारी राय ज़रूरी समझता हूँ। कंपनी वाले हाज़री की कोई क़ैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूँ, जहाँ चाहे लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सिनेरियो तैयार कर दूँ। मैं सोचता हूँ कि मैं एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कन्ट्राक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हज़ार रुपये मिल जाया करें। उससे जागरण-हंस दोनों मज़े में चलेंगे और पैसों का संकट कट जायगा। फिर हमारी दोनों की चीज़ें धड़ल्ले से निकलेंगी। लेकिन तुम यहाँ आ जाओगे तब क़तई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूँ।'

इसके कुछ ही दिन बाद दूसरा पत्र मिला—'भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से इतना तो कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियाँ फ़लाँ पते पर भेज देना। बस बोरिया बक़चा सँभाला और चल खड़े हुए। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिटेल्ड ख़त लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ़्तर में पड़ा होगा।...(मैंने शायद तुम्हें लिखा है, कि) मुझे बंबई कम्पनी बुला रही है। क्या सलाह है ? मुझे तो कोई हरज नहीं मालूम होता अगर वेतन ७, ८ सौ मिले। साल दो साल करके चला आऊँगा। मगर अभी मैंने जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके हैं। प्रसादजी की सलाह है, 'आप बंबई न जायँ।' तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरी जी कहते हैं, ज़रूर जाइये। और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है कि ज़रूर चलो। जीवन का यह भी एक अनुभव है।'

आख़िर वह फ़िल्मी लाइन में गए ही। लेकिन अनुभव ने बताया कि वहाँ के योग्य वह न थे। फ़िल्म और प्रेमचन्द, दोनों में पटना संभव न हुआ। वहाँ से उन्होंने लिखा—

'मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आए हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity को ये Entertainment Value कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नक़ली लड़ाई। बोसेबाज़ी। ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों

को संदेह होता है कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना है ही। क़र्ज़दार हो गया था, क़र्ज़ पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अंतिम पृष्ठ लिखने बाक़ी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।'

उनका एक फ़िल्म निकला था, 'मज़दूर'। उसका ज़िक्र करते हुए एक पत्र में लिखा—

'मज़दूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता हूँ। इसके बाद ही एक रोमाँस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मज़दूर' में भी मैं इतना ज़रा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फ़िल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक क़लम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरुचि को जानता हूँ, आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर ज़ोर से कहता है, 'मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है। और हम यहाँ जनता की इसलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी ग़रज़ है। जो चीज़ जनता माँगेगी वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है— 'अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूँ। मई के अन्त में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझ में नई कला न सीख सकने की भी सिफ़त है। फ़िल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। संतोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लॉट सोचता हूँ, उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें Entertainment Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिन्दी जानें न उर्दू। अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मज़े की है। जो चाहा लिखा।

'...मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद। स्टूडियो गये, घर आये। हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी कभी आ जाते हैं। बस।...'

इस भाँति फ़िल्म की लाइन से किनारा लेकर उन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद कुछ बहुत ज़्यादा दिन उन्हें इस दुनिया में रहने के लिए नहीं मिले।

(७)

मुझे याद है, मुल्तान जेल में उनका एक पत्र मिला था। लिखा था—'कभी-कभी यहाँ बहुत सूना मालूम होता है, जैनेन्द्र। जी होता है, तुम कुछ लोगों से गले मिल लूँ और फिर ज़िंदगी से रुखसत हो जाऊँ। तुम बाहर कब आओगे? तुम इतनी दूर पड़े हो कि मैं तड़फड़ा कर रह जाता हूँ।...'

उस पत्र को पढ़कर मुझे सुख नहीं हुआ था। मालूम हुआ था जैसे जीवन में रसानुभूति उन्हें स्वल्प रह गई है। धन की, प्रतिष्ठा की, पदमर्यादा की उन्हें लालसा न थी; फिर भी साहित्यिक दिशा में उनकी आकांक्षाएं उड़ती ही थीं। साहित्य को लेकर लोक-संग्रहात्मक कार्यों और योजनाओं की ओर रह-रह कर उनकी रुचि जाती थी। पर व्यवहार-दक्षता का उनमें अभाव था और वातावरण इतना जागृत न था कि उनका आवाहन करे, उनका उपयोग ले ले। अतः

इच्छाएँ उनमें उठतीं और वे फलवती न हो पातीं। परिणामतः एक व्यर्थता, निष्फलता, पराजय का भाव उनमें घर करता जाता था।

यह अनुभव करके उनको साहित्य के सार्वजनिक कार्यों की ओर खींच कर लाने की कुछ विधि की गई, पर वह प्रयोग भी विशेष सफल नहीं हुआ। इधर शरीर में रोग घर कर चला था। जीवन के इस ह्रास ने उसमें योग दिया। वह धीमे-धीमे जीवन के उस किनारे जा लगने लगे। न कह सकूंगा कि मन की साध उनमें बुझ गई थी। बुझी न थी, पर उस पर अविश्वास की, जैसे एक पराभव के भाव की राख छा गई थी। ज़िंदगी के हाथों कम थपेड़े उन्होंने नहीं खाए थे। वे सब उनके चेहरे पर, उनकी देह पर लिखे थे। वे चोटें जिस हद तक हो सकीं प्रेमचंद के मानस में से शुद्ध (Sublimate) होकर साहित्य के रूप में प्रस्फुट हुई थीं। पर तलछट भी अवशेष बचा ही था। उसी ने उनके मन को किसी क़दर खट्टा बना रखा था। अंत समय में भी वह खटास पूरी तरह उनको नहीं छोड़ सकी।

किंतु इस संबंध की चर्चा इस स्थल पर विशेष न हो सकेगी। यहाँ मैं उनके एक पत्र का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता जो उनके मन के उद्विग्न स्नेह को फ़व्वारे की भाँति ऊपर खिला देता है। वह माता जी के देहांत पर उन्होंने मुझे लिखा था। माता जी की मृत्यु पर तो शायद मैं नहीं भी रोया, पर इस पत्र पर आँखें भीग ही आईं—

'प्रिय जैनेन्द्र,

'कल तुम्हारा पत्र मिला। मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज़ में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा उठी कि दिल्ली आऊँ। लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आए हुए हैं और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हें समझाने की तो कोई बात है नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। हाँ, जब यह सोचता हूँ कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं, और तुम उनके काल में आज भी लड़के से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ। उनका वह स्नेह, वह तुम्हारे लिए जो कुछ थीं वह तो थी हीं, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे, आँख थे, सब कुछ थे। बिरले ही भागवानों को ऐसी माताएं मिलती हैं। मैं देख रहा हूँ, तुम दुःखी हो, तुम्हारा मुँह सूखा हुआ है, संसार सूना सूना-सा लग रहा है और चाहता हूँ यह दुःख आधा-आधा बाँट लूँ, अगर तुम दो। मगर तुम दोगे नहीं। उस देवी का इतना ही तो तुम्हारे पास है, मुझे देकर कहाँ जाओगे? इसे तो तुम सारे का सारा अपने सबसे निकट के स्थान में सुरक्षित रखोगे।

'काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो ज़रूर आ जाओ। मिले बहुत दिन हो गए। मन तो मेरा ही आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूँगा। तुम—मगर अब तो तुम भी मेरे जैसे हो, भाई। अब वह बेफ़िक्री के मज़े कहाँ!

'और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया। क्यों न ईर्ष्या करता। मैं सात वर्ष का था तब माता जी चली गईं। तुम सत्ताईस वर्ष के होकर मातावाले बने रहो, यह मुझसे कब देखा जाता। अब जैसे हम वैसे तुम। बल्कि मैं तुमसे अच्छा। मुझे माता की सूरत भी याद नहीं आती। तुम्हारी माता तुम्हारे सामने हैं और बोलती नहीं, मिलती नहीं!

'और तो सब ठीक है। चतुर्वेदी जी ने कलकत्ते बुलाया था कि नोगुची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ। यहाँ नोगुची हिंदू-युनिवर्सिटी आए, उनका व्याख्यान भी हो गया। मगर मैं न जा सका। अक़्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गई। ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।'

'बेचारी भगवती अकेली हो गई।

'सुनीता' जाने कहाँ रास्ते में रह गई। यहाँ कहीं बाज़ार में भी नहीं। चित्रपट के पुराने अंक उठा कर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले। तुमने बड़ा ज़बरदस्त Ideal रख दिया। महात्मा जी के एक साल में स्वराज्य पाने वाले आन्दोलन की तरह। मगर तलवार पर पाँव रखना है।

'तुम्हारा—धनपत राय'

[इस पत्र के अन्तिम पैरे के कारण यह कह देना आवश्यक है कि 'सुनीता' पूरी पढ़ने पर प्रेमचन्द जी उससे सहमत न हो सके थे।]

(८)

प्रेमचन्द जी के स्वभाव में बहिर्मुखता ज़रूरत से कम थी। उनके जीवन का सार्वजनिक-पक्ष इसलिए अन्त समय तक कुछ अक्षम ही बना रहा। अन्तर्मुखता भी धार्मिक प्रकार की न थी, उसके प्रकार को कुछ बौद्धिक कहना होगा। वह शंका से आरम्भ करते थे और इस भाँति एक समस्या खड़ी करके उसका समाधान पाने आगे बढ़ते थे। फिर भी लोक-जीवन में जिन मूलभूत नैतिक धारणाओं की स्वीकृति उन्होंने देखी, उन धारणाओं पर प्रेमचन्द जी अडिग विश्वास से डटे रहे।

बातचीत में उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठ बातों का प्रसंग भी अक्सर आ गया है। पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत वृत्तों को ऐसे समय उन्होंने निश्छल विश्वास के साथ खोलकर कह दिया है। उस सबके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उनका जीवन लगभग एक आदर्श सद्-गृहस्थ का जीवन था। बुद्धि द्वारा उन्होंने स्वतन्त्र और निर्बाध चिन्तन के जीवन-व्यवसाय को अपनाया सही, पर कर्म में वह अत्यन्त मर्यादाशील रहे। आर्टिस्ट के संकुचित-पच्छिमी अर्थों में उन्होंने आर्टिस्ट बनने की स्पर्द्धा नहीं की। यही मर्यादाशील प्रामाणिकता उनके साहित्य की धुरी है। उनके साहित्य में जीवन की आलोचना तीव्र है, चहुँमुखी है। किन्तु एक सर्वसम्मत आधार-शिला है जिसको उन्होंने मज़बूती से पकड़े रखा और जिस पर एक भी चोट उन्होंने नहीं लगने दी।

जीवन को, विशेष कर लोक-जीवन की समस्याओं को, सर्वथा बौद्धिक और नैतिक-मानसिक रूप देने का परिणाम ही यह हुआ कि जब कि वह जीवन के सफल चित्रकार, भाष्यकार, व्याख्याकार हो सके तब उस जीवन को आन्दोलित करके उसमें नवचेतन और निर्माण-प्रेरणा डालने में उतने सफल नहीं हो सके। वह जननायक, लोकसंयोजक नहीं हो सके। बात यह है कि उनके साहित्य में लोकपक्ष की जितनी प्रधानता मालूम होती है, ठीक उतनी ही गौणता उस पक्ष को उनके जीवन में प्राप्त थी। वह अन्त तक अपने आप में एक संस्था नहीं बने, उन्होंने कोई संस्था नहीं बनाई। उनके उपन्यासों में (गोदान को छोड़कर लगभग सब में) संस्थाएँ बनी हैं और उन संस्थाओं द्वारा लोक-जीवन के प्रश्नों का, उनके सुधार का, समाधान दिया गया है। पर प्रेमचन्द जी के जीवन के प्रकाश्य पक्ष में उसका अभाव नज़र आता है।

आगामी साहित्य-समीक्षक और इतिहास-विवेचक को भीतरी कारण के प्रकाश में इस गाँठ को समझना और खोलना होगा।

वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह थी कि भीड़ में पड़ कर वह उस भीड़ को समझते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। वे सभा और सम्मेलन उनको पाकर भी विशेष लाभान्वित

होते थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी पर ऐसा लगता था कि प्रेमचन्द जी उस सभा में भाग क्या ले रहे हैं, मानो उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।

दिल्ली में प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन किया और सभापति बनाया प्रेमचन्द जी को; पर वह आने को ही राज़ी न हों। चिट्ठी पर चिट्ठी दी, तार दिये। आखिर माने ही तो तार में लिखा—Well, I accept with protest.

सार्वजनिक सभाओं के प्रति जब यह रुख था तब उधर उलटा ही हाल था। इससे कुछ ज़्यादा रोज़ पहले की बात न थी। एक सवेरे गली में दीखता क्या है कि कन्धे पर कम्बल डाले, खरामा खरामा, चले आ रहे हैं प्रेमचन्द जी। महात्मा भगवान दीन जी और पण्डित सुन्दरलाल जी भी तब घर पर थे। सुन्दरलाल जी चबूतरे पर से दातन करते-करते बोले—देखना जैनेन्द्र, यह प्रेमचन्द जी तो नहीं आ रहे हैं।

मैंने कहा—वही तो हैं!

प्रेमचन्द जी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा—यह क्या क़िस्सा है? न तार न चिट्ठी, और आप करिश्मे की भाँति आविर्भूत हो पड़े!

बोले—तार की क्या ज़रूरत थी। बारह आने पैसे कोई फ़ालतू हैं। और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं!

बात यह थी कि मैंने एक कार्ड में लिखा था कि क्या आप आ सकेंगे? आएँ तो अच्छा रहे। सो प्रेमचन्द जी ने सुनाया कि—भई! तुम्हारी चिट्ठी प्रेस पहुँचने पर कोई दो बजे मिली। टाइमटेबिल देखा, ट्रेन पाँच बजे जाती थी। इससे पहिले और कोई गाड़ी थी नहीं। उसी से चला आ रहा हूँ।

मैंने कहा—यह क्या ग़ज़ब करते हैं। पहले से कुछ ख़बर तो दी होती। इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्क़त हुई होगी। ग़नीमत मानिए कि दिल्ली बम्बई नहीं है। और ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाक़िफ़ हैं?

बोले—नहीं जी, सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जायगा, सो बारह आने बचाओ क्यों ना। और मकान मिल गया कि नहीं। और दिल्ली—ज़िन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ।

ज़िन्दगी में पहली बार! मैंने अविश्वास के भाव से कहा—आप कहते क्या हैं! तिस पर आप हैं सम्राट्!

प्रेमचन्द जी क़हक़हा लगा उठे। यह बात सच थी। नौकरी के सिलसिले में वह अपने इर्द-गिर्द के ज़िलों में ही घूमे थे। दूर जाने का न कुछ काम पड़ा, न कुछ पड़ने दिया। सैर की धुन उनमें कभी थी नहीं। अपने सामने के ही कर्तव्य को वह महत्व देते रहे थे और उसी के पालन में अपनी सिद्धि मानते थे। यह बात मेरे लिए अभूतपूर्व और अत्यंत आश्चर्यकारक थी। इक्यावन-बावन वर्ष की अवस्था में प्रेमचंद जी जैसा सर्वविश्रुत व्यक्ति दिल्ली में आकर यह कहे कि वह पहली बार यहाँ आया है—यह अनहोनी बात नहीं तो और क्या है!

तब चार पाँच रोज़ प्रेमचन्दजी यहाँ रहे। उन दिनों लिखना-लिखाना तो होना क्या था। पंडित सुंदरलाल जी थे, महात्मा भगवानदीन जी थे। प्रेमचन्द जी को चाहनेवाले और माँगनेवाले उर्दू-हिन्दी के और लोगों की कमी न थी। चर्चाओं में और पार्टियों में वे दिन ऐसे बीते कि पता भी न लगा। उन्हीं दिनों की और यहाँ की ही तो बात है कि वह पंजाबी सज्जन

मिले जिन्होंने प्रेमचन्द जी को पाकर पकड़ ही तो लिया। उनकी कहानी दिलचस्प है और शिक्षाप्रद है।

स्थानीय हिंदी-सभा की ओर से प्रेमचन्द जी के सम्मान में सभा की जा रही थी। उन्हें अभिनन्दनपत्र भेंट होने वाला था। उस वक्त एक पंजाबी सज्जन बड़े परेशान मालूम होते थे। वह कभी सभा के मंत्री के पास जाते थे, कभी इनके या उनके पास जाते थे। प्रेमचन्द जी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचन्द जी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचन्द जी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाए। सभा की कार्यवाही समाप्तप्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़ कर बोले—मैं प्रेमचन्द जी को आज रात किसी हालत में नहीं जाने दूँगा। उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमंत्रित करना चाहता हूँ।

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी और प्रेमचन्द जी का इरादा निश्चित था। लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज़ न आए। वह बारबार हाथ जोड़ते थे और अपनी बात सुनाना चाहते थे। किन्तु सभा के लोग इस विघ्न पर कुछ अधीर थे और उन सज्जन के साथ शायद ही किसी को सहानुभूति थी। प्रेमचन्द जी भी इस भावुकता के प्रदर्शन से बहुत प्रभावित नहीं थे।

किन्तु उन सज्जन को कोई चीज़ न रोक सकी। उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा कि मेरी अरदास आप लोग सुन लीजे फिर जो चाहे आप कीनियेगा। जब से अखबार में प्रेमचन्द जी के यहाँ आने की खबर पड़ी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता रहा हूँ। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूँ। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शनों की इच्छा से लखनऊ दो बार गया। एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सके। कई बरस पहले की बात है। मैं कमाने के ख्याल से पूरब की तरफ़ गया था। पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो था सब खत्म हो गया। मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया। मुझे कुछ सूझता न था। आगे क्या होगा। सब अँधेरा मालूम होता था। जेब में दो रुपए और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचंद जी के अफ़सानों को मैं शौक से पढ़ा करता था। यूँ ही टहलता हुआ व्हीलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफ़े लौटने-पलटने लगा। उसमें प्रेमचंद जी का एक अफ़साना नज़र आया। मैंने रुपया फेंक रिसाला खरीद लिया और प्रेमचन्द जी की उस 'मन्त्र' कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौट कर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्की ही होती गई है और आज यहाँ आपकी खिदमत में हूँ। तभी से मैं उस 'मन्त्र' कहानी के मंत्रदाता प्रेमचन्द की तलाश में हूँ। अब यहाँ पा गया हूँ तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीवी बीमार हैं, वह उठ बैठ नहीं सकतीं, चल फिर नहीं सकतीं। वह कब से प्रेमचन्द जी के दर्शन की आस बाँधे बैठी हैं। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—अब फ़ैसला आप सब साहबान के हाथ है।

प्रेमचन्द जी की प्रवृत्ति रुकने की नहीं थी, लेकिन उनको रुकना पड़ा। यह घटना मेरे लिए तो आँख खोल देने वाली ही थी। यह और इस तरह की और-और बातों से प्रेमचन्द जी के दिल्ली-प्रवास के दिन सहज में बीत गये। प्रेमचन्द जी प्रसन्न मालूम होते थे। लेकिन एक बात जानकर मैं साश्चर्य असमंजस में पड़ गया। बातों-बातों में प्रगट हुआ कि इधर के बीस-तीस वर्ष में यह पहले सात दिन गये हैं, जब उन्होंने कुछ काम नहीं किया।

मैंने अत्यंत विस्मयापन्न भाव से पूछा—आप हर रोज़ बिना नाग़ा काम करते हैं?

बोले—हाँ, सबेरे के कुछ घंटों में तो करता ही हूँ।

तब मैं जान सका कि किस अक्षुण्ण साधना के बल पर यह व्यक्ति दुनिया के राग-रंगों के प्रति अलिप्त और उदासीन रह सकता था; और कि किस भाँति उसकी कीर्ति उसकी कठोर तपस्या के मोल उसको मिली थी। उस समय मुझे संदेह हो आया कि पार्टियों और दावतों का यह समारोह भी कहीं भीतर-भीतर उसकी आत्मग्लानि का कारण तो नहीं हो रहा है। जो औरों के लिए सम्मान था वह बड़ी आसानी से इस व्यक्ति के लिए बोझ भी हो सकता था। तब उनकी ऊपरी प्रसन्नता देखकर मेरा मन तनिक भी आश्वस्त नहीं हुआ कि पार्टियों और सम्मान भोजों के आधिक्य से सचमुच ही प्रेमचन्द के मन को पीड़ा नहीं हो रही है।

यहाँ एक पार्टी में हसन निज़ामी साहब ने प्रेमचन्द जी का अभिनंदन करते हुए कहा था कि—'शायद ही कोई प्रेमचन्द जी का अफ़साना, या मज़मून होगा जो उर्दू में निकला हो और मैंने न पढ़ा हो। मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर उनकी चीज़ पढ़ता हूँ। हालात में उतार चढ़ाव होते रहते हैं। दौर रंग बदलता है। ज़माना था कि लोगों की तबीयतें बदली हुई थीं। सब पर फ़िरक़ेवाराना रंग सवार था। कौन था जो न बहका हो। पर प्रेमचन्द तब साबित-क़दम रहे। उनकी निगाह वैसी ही सही और साफ़ रही। वह किसी झोंके से नहीं डिगे...'

हसन निज़ामी साहब की तरफ़ से आकर ये शब्द और भी मानी रखते हैं और इन शब्दों से प्रेमचन्द जी की अलक्ष्य और मूक सेवा का मुझे और भी सही अनुमान हुआ और मेरी श्रद्धा बढ़ गई।

लेकिन यह बात सच है कि बड़े शब्दों से कहीं अधिक उन्हें छोटी-सी सचाई छूती थी। जहाँ ज़िन्दगी थी, वहाँ प्रेमचन्द जी की निगाह थी। जहाँ दिखावा था, उसके लिए प्रेमचन्द के मन में उत्सुकता तक न थी। कुतुबमीनार, नई सेक्रेटरियट बिल्डिंग्ज़, कौंसिल-चेम्बर्स, यह अथवा वह महापुरुष—इसको देखने-जानने की लालसा उनकी प्रवृत्ति में न थी। यों हम-तुम हमाँ-शमाँ से वह बेरोक मिलने को उद्यत रहते थे।

पहली बात उनमें त्रुटि तक पहुँच गई थी। जब शांतिनिकेतन जाने की बात आई तो उनका मन उसे पूरी तरह ग्रहण न कर सका। मैंने कहा—चलना चाहिए।

बोले—मैं तो वहाँ उस स्वर्ग की सैर करूँ, यहाँ घर के लोग तकलीफ़ में दिन काटें, क्या यह मेरे लिए ठीक है? और सबको ले चलूँ, इतना पैसा कहाँ है। और जैनेन्द्र, महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहाँ भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहाँ मैं उन्हें अधिक पाऊँगा?

मैंने फिर भी कहा—शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे, आपने कर्म ऐसे किए हैं कि आप मशहूर हों। तब आप कर्मफल से बच नहीं सकते। चलिए न।

बोले—हाँ, जैनेन्द्र, यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहीं पड़ा हूँ, तुम जाओ।

मैंने कहा—हाँ, मैं तो जाऊँगा।

बोले—ज़रूर-ज़रूर जाओ। मैं तो खुद कहनेवाला था कि तुम्हें जाना चाहिए। जैनेन्द्र, जवान और बूढ़े में यही तो फ़र्क़ है!

इधर जीवन के अन्तिम पर्व की ओर उन्हें थोड़ा-बहुत साहित्यिक उद्देश्य के नाते से सभा समाजों में जाने को उकसाया जा सका था। यहाँ दिल्ली साहित्य-सम्मेलन के जलसे में वह आ गए थे। आ तो गए थे लेकिन अपने को पूरी तरह निरुपयोगी भी अनुभव कर रहे थे। बोले—जैनेन्द्र, सम्मेलन के जलसे में मैं आ गया। अब बताओ क्या करूँ। मैं उनको क्या कहता। चुप रह जाता था। क्या उनको मैं बताता कि उनका स्थान क्या है और कहाँ है, और लोगो की

क्या-क्या आशाएँ उनके साथ बँधी हैं ? लेकिन सच यह है, ऐसे मौक़ों पर अपनी उपस्थिति वह अयाचित अनुभव करते थे। जब लोग शब्दों को लेकर या पदों को लेकर आपस में बहस-तहस और छीन झपट करते थे तब उनका कहीं थोड़ी ठण्ढी हवा खाने का जी होता था। कहा करते थे कि इनको भी थोड़ी ठण्ढी हवा इस समय खा लेना चाहिए।

साहित्य के भविष्य के बारे में बातें हुआ करती थीं। सोचा, कुछ बौद्धिक आदान-प्रदान का, परस्पर के सहयोग-क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। प्रान्तीय मर्यादाएं ऐक्य-विकास पर बन्धन न होनी चाहिएँ। राष्ट्र एक है, उस ऐक्य को गहराई में अनुभूत करना होगा। इस ओर जो प्रयत्न हुए (यथा, भारतीय साहित्य-परिषद्) उनके समारंभ में प्रेमचन्द जी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। पर उसमें भी उन्हें रस कम हो गया। वह अपने सहयोगियों से आशाएँ ऊँचीं रखते थे। वह मानव प्रकृति का मूल्य यथार्थ से कुछ अधिक ऊँचा आँकते थे। परिणामतः जब-जब वह समाज में आए, तभी-तब विरक्ति की भावना लेकर उन्हें फिर अपने में ही लौट जाना पड़ा।

(६)

साधारणतया कोमलता की धारा उनमें अन्तःसलिला सरस्वती के समान अप्रकाश्य ही में बहती थी। वह रचनाओं में जिस स्पष्टता से दीखती थी, व्यवहार में उतनी ही अगोचर हो जाती थी। फिर भी हठात् वह फूटकर ऐसे प्रगट हो उठी है कि प्रेमचन्द जी को भी चकित रह जाना पड़ा है।

एक बार की बात है। दिन अधिक नहीं हुए। सन् '३४ का साल होगा। बनारस में बेनियापार्क वाले मकान में रहते थे। सबेरे का वक्त था। जाड़े ढल रहे थे। नीचे के कमरे में धूप की किरनें तिरछी पड़ रही थीं। मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पांडुलिपि देख रहा था। इतने ही में प्रेमचन्द जी ऊपर से आये। पूछा—तुम नहा चुके ?

मैंने कहा—नहा चुका।

मुझे आज देर हो गई।—कहते-कहते वह नीचे फ़र्श पर बैठ गए।

शाम को—रात तक—चर्चा चलती रही थी कि सत्य का स्वरूप कहाँ तक स्थिर मानना होगा और कहाँ तक निरन्तर परिवर्तनीय। उस थिरता और परिणमन में परस्पर क्या अपेक्षा है। लोकाचार विकासशील है या नहीं; अथवा उसकी निश्चित मर्यादा-रेखाएं और निश्चित आधार-तत्व हैं। वही चर्चा किसी न किसी रूप में अब भी उठ आई। बात-बात में प्रेमचंद जी बोले—भई जैनेन्द्र, वह किताब powerful (ज़बर्दस्त) है।

कुछ दिन हुए रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहाँ देखा था। उसी की ओर संकेत था। मैंने तब तक वह पढ़ा न था।

बोले—कहीं-कहीं तो जैनेन्द्र, मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेक़ाबू हो गया। एक जगह आँसू रुकना मुश्किल हुआ।...

देखता क्या हूँ कि जैसे वह प्रसंग अब भी उनके भीतर छिड़ गया है और उसी प्रकार आँसू रुकना किसी क़दर मुश्किल हो रहा है।

बोले—उस जगह मुझसे आगे पढ़ा ही न गया, जैनेन्द्र, किताब हाथ से छूट गई। और पुस्तक के उस प्रसंग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे।

मैं सुनता रहा।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी। उनके चेहरे पर सीधी तो नहीं पड़ रही थी फिर भी

वह चेहरा सामने पड़ता था और उजला दीखता था। मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आखों से देख रहा था। प्रसंग बेहद मार्मिक था। प्रेमचंद जी, मानो अवशभाव से, आपा खोए से, कहते जा रहे थे।

सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी काँप कर मूक हो गई है। आँख उठाकर देखा,—उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भाँति सफ़ेद हो आया है। क्षण भर में सन्नाटा हो गया। मुझे जाने क्या चीज़ छू गई। पल भर में मानो एक मूर्छा व्याप गई। और पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचंद का सौम्य मुख एकाएक बिगड़ उठा है। जैसे भीतर से कोई उसे मरोड़ रहा हो। जबड़े हिल आए, मानो कोई भूचाल उन्हें हिला गया। सारा चेहरा तुड़-मरुड़ कर जाने कैसा हो चला। और फिर, देखते-देखते उन आँखों से तार-तार आँसू झर उठे। उस समय चेहरा फिर शांत हो गया था और आँसू झर-झर झर रहे थे।

यह क्या कांड हो गया! मानो प्रेमचंद जी बहुत ही लज्जित थे। लड़खड़ाती वाणी में बोले—जैनेद्र...! आगे उनसे बोला न गया। मानो वह जैनेन्द्र से क्षमा माँगना चाहते थे। उनका अपने ऊपर से क़ाबू बिल्कुल टूट चुका था। आंसू रुकना न चाहते थे। ओह, कहीं हिचकी ही न बँध जाय!

किंतु मिनट दो मिनट में वह प्रकृतिस्थ हुए। गालों और मूछों पर से टपकते आसुओं को उन्होंने पोंछा नहीं। एक क्षीण लज्जित मुस्कान में मुस्काए। कठिनाई से बोले—मुझसे आगे नहीं पढ़ा गया, जैनेन्द्र!

यह व्यक्ति जो जाने किन-किन मुसीबतों में से हँसता हुआ निकल आया है, जो अपने ही दुख के प्रति इतना निर्मम रहा है, वह पुस्तक के कविकल्पित पात्र के दुख के प्रति इतना तादात्म्य अनुभव कर सकता है कि ऐसी अवशता से रो उठे! मेरे लिए यह अनुभव अनूठा था। इसके प्रकाश में मैं देख सका कि प्रेमचंद की अंतस्थ वृत्तियाँ कितनी सूक्ष्मस्पर्शी हैं। जो काल के दुर्द्धर्ष थपेड़ों से अचल रहेगा वही किसी की सच्ची वेदना, सच्चे त्याग पर एकाएक गलकर किस भाँति बह भी सकता है—मैंने तब जाना।

पुस्तक के उस प्रसंग की बात यहाँ न हो सकेगी। साधारणतया वह इतना वीभत्स, इतना अश्लील मालूम होता था! पर उस प्रकार की विषम स्थिति में घिरी हुई, ढँकी हुई वहाँ थी एक प्रकार की आध्यात्मिक सौन्दर्य की झलक। अन्धेरे में थी इसलिए मानो उसकी चमक और भी उज्वल थी। प्रेमचन्द जी की आँख उसी पर पहुँची और मुग्ध हो गई।

मानवी भावनाओं का, परनिमित्त स्नेह का, दैन्य प्रेमचन्द जी में न था। जिसको कलाकार समझा और जाना जाता है, उसमें इसकी सम्भावना रहती है। कलाकार इतना आत्म-ग्रस्त हो जाता है कि औरों के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर ले। प्रेमचन्द जी आत्मग्रस्त न थे। वह बल्कि परव्यस्त थे।

प्रेमचन्द जी ने एक बड़ी दिलचस्प आप बीती सुनाई। एक निरंकुश युवक ने किस प्रकार उन्हें ठगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई में आते रहे, इसका वृत्तान्त बहुत ही मनोहर है। पहले-पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता से जानने और दिखानेवाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है, वही कमज़ोर है। उसको छूकर आसानी से उन्हें ऐंठा जा सकता है।

उसी उनकी रग को पकड़ कर उस चालाक युवक ने प्रेमचन्द जी को ऐसा मूँड़ा कि कहने की बात नहीं। सीधे-सादे रहनेवाले प्रेमचन्द जी के पैसे के बल पर ऐन उन्हीं की आँखों के

नीचे उस जवान ने ऐसे ऐश किये कि प्रेमचन्द आँख खुलने पर स्वयं विश्वास न कर सकते थे। प्रेमचन्द जी से उसने अपना विवाह तक करवाया, बहू के लिए ज़ेवर बनवाये, और प्रेमचन्द जी सीधे तौर पर सब कुछ करते गये।

कहते थे—भई जैनेन्द्र, सर्राफ़ को अभी पैसे देने बाक़ी हैं। उससे जो सोने की चूड़ियाँ बहू के लिए दिलाई थीं, उनका पता तो मेरी धर्मपत्नी को भी नहीं है। अब पता देकर अपनी शामत ही बुलाना है। पर देखो न जैनेन्द्र, यह सब फ़रेब था। वह लड़का ठग निकला। अब ऊपर ही ऊपर जो दो-एक कहानियों के रुपये पाता हूँ उससे सर्राफ़ का देना चुकता करता जाता हूँ। देखना, कहीं घर में न कह देना। मुफ़्त की आफ़त मोल लेनी होगी। बेवक़ूफ़ बने, तो उस बेवक़ूफ़ी का दण्ड भी हमें भरना होगा।

उस चतुर युवक ने प्रेमचन्द जी की मनुष्यता को ऐसे फाँसे में पकड़ा और उसे ऐसा निचोड़ा कि और कोई होता तो उसका हृदय हमेशा के लिए हीन और कठिन और छूछा पड़ गया होता। पर प्रेमचन्द जी का हृदय इस धोखे के बाद भी मानो और धोखा खाने की क्षमता रखता था। उस हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास की इतनी अधिक मात्रा थी।

सन्देह नहीं कि कड़वे और तीखे अनुभव पर अनुभव पाते रहने के कारण स्वभाव में वह कुछ कठिन और अनुदार और शंकाशील भी हो चले थे। फिर भी मानो उनका सहज औदार्य अनायास उनके अनुभव-कठिन कलक्युलेशन पर विजय पा लेता था।

(१०)

यहाँ उनके साहित्य की विवेचना अभीष्ट नहीं है। उस साहित्य के स्रष्टा साहित्यकार को ही समझने की इच्छा है।

हरेक के लिए एक चीज़ ज़रूरी है—वह, असंलग्नता। काल का जो प्रवाह हमारे सामने होकर चीज़ों को अदलता-बदलता चला जा रहा है, मनुष्य उस प्रवाह का शिकार ही नहीं है, वह उसके प्रति यत्किंचित् असंलग्नता धारण करके कुछ निर्माण भी करता है, अर्थात् अपनी ओर से उस प्रवाह को कुछ दिशा प्रदान भी करता है। मनुष्य इसी शक्ति के कारण मनुष्य है। अन्यथा वह पूर्णतः पशु ही रहता।

तटस्थ होकर घटनाओं को और व्यक्तियों को और तत्वों को देखने की यह शक्ति प्रेमचंद में प्रचुर मात्रा में थी। उनके विश्वास नुकीले न थे। वह दूसरों पर अपना आरोप करके देखने के मोह में न थे। जो जहाँ था, उसको वहीं रहने देते थे। मानो उसको उसी की आँखों से देखना चाहते थे। कलाकार का यही इष्ट है। वह सबको उन्हीं के भीतर से देख सके, तो और क्या चाहिए। प्रेमचन्द जी इस इष्ट की साधना में असावधान न थे। इसी दृष्टि का विकास अध्यात्म की समत्व दृष्टि है।'......ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।'

काल में रहकर भी कालातीत स्थिति में अपने को अनुभव करने की यह साधना बहुत हितकारी है। मर्त्यलोक में भी यही साधना अमरता की ओर ले जाती है। प्रेमचन्द जी के साहित्य में पाई जानेवाली विविधता ; सब पात्रों के प्रति लगभग समान भाव से होनेवाला न्याय ; उसमें व्याप्त सहानुभूति ; उस साहित्य की प्रासादिकता और मनोरंजकता—सब इसी साधना के फल हैं। इस साधना के अभाव में स्वप्न निरा स्वप्न हो जाता है ; और यथार्थता के साथ उसका विरोध तीव्र से तीव्रतर होता चला जाता है। वैसी साधनाहीन कल्पना में से रोमांटिक (रंगीन) साहित्य का जन्म होता है। उसके मूल में यथार्थ की कठोरता, अप्रियता से हठात् बचने की प्रवृति है। वह दुर्बलता की द्योतक है। मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रेमचन्द पहले प्रणेता हैं:

जो यत्नपूर्वक यथार्थता के दबाव से बचने के लिए रोमांस की गली में भूलकर मौज करने नहीं गये। रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो भी नहीं। उस अर्थ में, रोमांस कभी छूटता है? कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है? कल्पना बिना लेखक क्या। लेकिन अपने हृद्गत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटाकर देखा और दिखाया। उन्होंने यथार्थ को ही आदर्श की ओर उभारने की कोशिश की। उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श अंतिम है, अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का असामंजस्य नहीं है। वह आदर्श स्वयं में कम ऊँचा है तो इसलिए भी कम ऊँचा है कि वह नीचे-वालों को ऊपर उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।

एक बात और याद रखने की है। प्रेमचन्द जब साहित्य में आये तो वह साहित्य, सर्वथा नहीं तो अधिकांश रूप में अवश्य, व्यक्ति के लिए एक शग़ल था, मनोविनोद का एक साधन और व्यवसाय था। प्रेमचन्द जी आरंभ में उसके प्रति इसी नाते की धारणा पर साहित्य में प्रविष्ट हुए, शनैः-शनैः ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव उत्तरोत्तर गंभीर और पवित्र होते गए। अपने साथ साथ वे हिन्दी पाठकों को भी उस प्रकार की मनोवृत्ति में उठाते चले गए। हमको यह याद रखना चाहिए कि 'चंद्रकांता-संतति' या 'नरेन्द्रमोहिनी' के पाठक से उन्होंने आरंभ किया था। उस पाठक के भरोसे वह लेखक बने, और उन्हें लेखक बने रहना था। पाठक वही था लेकिन उसे 'भूतनाथ' से 'गोदान' तक ले चलना था। प्रेमचन्द के इस ऐतिहासिक दायित्व को भूलने से न चलेगा। महावीर प्रसाद जी द्विवेदी को विवेचक पाठक से काम पड़ा। वह काम इतना गुरु-गंभीर न था। उसमें विवाद से और तर्क से और योग्यता से काम चल सकता था। अधिक से अधिक वह इस या उस तर्क-धारा, विचार-धारा को मोड़ने का काम था। पर प्रेमचंद के ज़िम्मे तो समूचे व्यक्तित्व को, समूचे हिन्दी वर्ग को, एक तल से उठाकर दूसरे संस्कारी तल तक ले चलने का काम आया। वह काम समूचे व्यक्तित्व, समूची आत्मा को माँगता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिंदी को एक विशेष tradition (परम्परा) प्रदान की। उसे रूढ़ शिथिलता से उबार कर भारतेन्दु ने हिन्दी को हवा लगने दी। पर उन traditions की अपर्याप्तता, अनुपयुक्तता इधर उधर प्रकट हो चली थी। भारतेन्दु के साहित्य में जीवन मानो नाटकीय रंगस्थली है। पर बीसवीं सदी का विज्ञान और वितर्क-संकुल जीवन उससे अधिक जटिल चीज़ हो चली। हिंदी को उस भारतेन्दु की साहित्य-परम्परा से आगे बढ़कर इस जीवन-जटिलता का और उसके वैविध्य-वैषम्य का आकलन करने के लिए समर्थ होना था। यह काम परम्परा को तोड़ने से नहीं होता। परम्परा टूटती नहीं है, टूट सकती ही नहीं है। उनको पचाकर आगे बढ़ा जाता है; उन्हीं को विस्मृत किया जाता है, उभारा जाता है। यह काम आलोचना-विलोचना के बस का नहीं है। यह काम स्रष्टा का है, उसके लिए है। साहित्यक परम्पराओं का निर्माण और संस्कार इतना अधिक विधायक कर्म है कि ध्वंसेच्छा अथवा सुधाराग्रह उसके लिए असंगत वृत्तियाँ हैं; उसके लिए तो अपने सम्पूर्ण जीवन का निवेदन ही चाहिए। इस युग में प्रेमचंद जी के ऊपर यह दायित्व पड़ा और उन्होंने निबाहा, ऐसा मेरा विश्वास है। मनोविनाद से उठते-उठते हम साहित्य के प्रति एक मिशन-भाव, एक पूजा-भाव तक आ गए हैं और प्रेमचंद जी ने हिंदी पाठक-लेखक के इस मानसिक विकास में महत्व-पूर्ण योग दिया है

उनकी रचनाओं को निर्माणकाल के अनुक्रम से देखने पर स्पष्टता से पता चलता है कि वह आगे बढ़ते हुए समय का साथ देने में अपने को लाँघने से भी नहीं चूके। कहीं वह राह में

ठहर नहीं गए, साथ देते ही गए। जो उनकी पहली कहानियाँ और पहले उपन्यास हैं, वह पिछली कहानियाँ और पिछले उपन्यास नहीं हैं—इसका कारण यही है कि वह प्रगति से पिछड़ने को तैयार न थे। जब कहानियों में मनोविज्ञान की धुन सवार हुई तब वह उस नई माँग और नए फ़ैशनके प्रति अवज्ञाशील नहीं हुए। जब और जिस तरह की नई जिज्ञासा, नई माँग पाठक में जगी तब प्रेमचन्द भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दीखे। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं। वह निरन्तर वर्द्धमान, निरन्तर परिणमनशील है। उन्होंने पाठक को बिछुड़ने नहीं दिया, उसको घेरे ही रखा। इसमें पाठक असन्तुष्ट भी हुआ तो हो, प्रेमचन्द जी उसके हित को अपने मन से भुलानेवाले न थे। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता (Complete causal wholeness) 'गोदान' में नहीं है। गोदान चित्र की भाँति असमाप्त और काल-प्रवाह के समान थोड़ा बहुत अनिर्दिष्ट है। पिछली रचनाएँ पहले की भाँति नैतिक उद्देश्य के ढँकने से ढँकी सुरक्षित और बन्द नहीं हैं, मानो कहीं अनढँकी और खुली रह गई हैं—इसका कारण यही है। पाठक आदेश नहीं चाहता निर्देश नहीं चाहता, विस्तृति और जागृति केवल चाहता है तो प्रेमचन्द जी भी पिछली रचनाओं में निर्देश नहीं देंगे, उन्मुक्त विस्मृति देंगे।

Subjective (आत्मापेक्षी) दृष्टि से प्रेमचन्द जी अपनी साहित्य-सृष्टि में निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं। अपने भीतर जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। Objective (पदार्थापेक्षी) दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी करना नहीं चाहता हूँ। इस लिहाज़ से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचन्द के साहित्य का विभाजन उपयोगिता पूर्वक किया जायगा, सही ; पर उस भाँति उस प्रेमचन्द-तत्व को पहुँचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य को एकता की सम्भावना देता है और जो उस सृष्टि का मूल है।

(११)

प्रेमचन्द जी भौतिकतावादी नहीं, बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक, अर्थात् विभेद-विज्ञान था। फिर भी आज के युग की पच्छिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में उस आशंका के लक्षण अति प्रगट हैं, और उसके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उद्दण्ड विभूति में नहीं, शान्त समर्पण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या करने में नहीं, वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। Social polity का समाधान शहर में नहीं, गाँव में है। बहुत कुछ चारों ओर बटोर कर संग्रह करने से जीवन का स्वास्थ्य बढ़ेगा नहीं, घटेगा ; उपयोगिता भी बढ़ेगी नहीं, घटेगी ; और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिर कर, घुटकर पीला और निष्प्राण हो ही जायगा।

(१२)

मुझे एक अफ़सोस है। वह अफ़सोस यह है कि मैं उन्हें पूरे अर्थों में शहीद क्यों नहीं कह पाता हूँ। मरते सभी हैं। यहाँ बचना किसको है। आगे-पीछे सबको जाना है। पर मौत शहीद की ही सार्थक है, क्योंकि वह जीवन के विजय को घोषित करती है। आज यही ग्लानि मन में घुट-घुट कर रह जाती है कि प्रेमचंद शहादत से क्यों वंचित रह गए। मैं मानता हूँ कि प्रेमचंद शहीद होने योग्य थे। उन्हें शहीद ही बनना था।

और यदि नहीं बन पाए हैं वह शहीद, तो मेरा मन तो इसका दोष हिंदी संसार को भी देता है।

मरने से एक सवा महीने पहले की बात है। प्रेमचंद खाट पर पड़े थे। रोग बढ़ गया

था, उठ चल न सकते थे। देह पीली, पेट बढ़ा था, पर चेहरे पर शांति थी।

मैं तब उनकी खाट के बराबर काफ़ी-काफ़ी देर बैठा रहा हूँ। उनके मन के भीतर कोई खीझ, कोई कड़वाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नहीं देखा। देखते तो उस समय वह अपने समस्त अतीत जीवन पर पीछे की ओर भी होंगे, और आगे अज्ञात में कुछ तो कल्पना बढ़ाकर देखते ही होंगे। लेकिन उन दोनों को देखते हुए वह संपूर्ण शांत भाव से खाट पर चुप-चाप पड़े थे। शारीरिक व्यथा थी, पर मन निर्विकार था।

ऐसी अवस्था में भी (बल्कि, ही) उन्होंने कहा—जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं, ईश्वर। मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की ज़रूरत नहीं मालूम हुई है।

शब्द हौले-हौले, थिरता से कहे गए थे और मैं इस अत्यंत शांत नास्तिक संत की शक्ति पर विस्मित था।

मौत से पहिली रात को मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सवेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आँख मीच लेनी थी। उसी सवेरे तीन बजे मुझसे बातें होती थीं। चारों ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अंधेरा था। सब सोये पड़े थे। शब्द उनके मुँह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ा था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले—दाब दो।

हाथ पीला क्या सफेद था और फूला हुआ था। मैं दाबने लगा।

वह बोले नहीं, आँख मींचे पड़े रहे। रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी। अपनी आशाएं, अपनी अभिलाषाएं, कुछ शब्दों से और अधिक आँखों से वह उस समय मुझ पर प्रगट कर चुके थे। 'हंस' की और साहित्य की चिंता उन्हें तब भी दबाए थी। अपने बच्चों का भविष्य भी उनकी चेतना पर दबाव डाले हुए था। मुझमें उन्हें कुछ ढारस था।

अब तीन बजे उनके फूले हाथ को अपने हाथ में लिए मैं सोच रहा था कि क्या मुझ पर उनका ढारस ठीक है? रात के बारह बजे मैंने उनसे कुछ तर्क करने की धृष्टता भी की थी। वह चुभन मुझे चुभ रही थी। मैं क्या कहूँ? क्या करूँ?

इतने में प्रेमचन्द जी बोले—जैनेन्द्र !

बोलकर, चुप, मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों से दबाया। उनको देखते हुए कहा—आप कुछ फ़िकर न कीजिए, बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।

वह मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले—आदर्श से काम नहीं चलेगा—

मैंने कहना चाहा—आदर्श......

बोले—बहस न करो— कहकर करवट लेकर आँखें मींच लीं।

उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख गया। प्रकार-प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्द जी के प्राणों पर बोझ डाल कर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बटा सकता था। चिन्ता का केंद्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा। नहीं चलेगा तो क्या होगा। 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में थी और 'हंस' न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी। पर हिन्दी संसार का अनुभव उन्हें आश्वस्त न करता था। 'हंस' के लिए जाने उस समय वह कितना न झुक-गिरने को तैयार थे।

मुझे योग्य जान पड़ा था कि कहूँ कि—'हंस' मरेगा नहीं। लेकिन वह बिना झुके भी क्यों न जिए? वह आपका अखबार है, तब वह बिना झुके ही जियेगा।

लेकिन मैं कुछ भी न कह सका और कोई आश्वासन उस साहित्य-सम्राट को आश्वस्त न कर सका।

थोड़ी देर में बोले—गर्मी बहुत है, पंखा करो।

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ़ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आँख खोल कर पड़े थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले—जैनेन्द्र, जाओ सोओ।

क्या पता था अब शेष घड़ियाँ गिनती की हैं। मैं जा सोया।

और सबेरा होते-होते ऐसी मूर्च्छा उन्हें आई कि फिर उससे जगना न हुआ।

× × ×

हिन्दी संसार उन्हें तब आश्वस्त कर सकता था, और तब नहीं तो अब भी आश्वस्त कर सकता है। मुझे प्रतीत होता है, प्रेमचन्द जी का इतना ऋण है कि हिन्दी संसार सोचे—कैसे वह आश्वासन उस स्वर्गीय आत्मा तक पहुँचाया जावे।

स्मृतियाँ

[लेखक—श्री सुदर्शन]

१६०६ या '१० की बात है। मैंने कानपुर के मशहूर उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' में प्रेमचन्द जी की पहली[1] कहानी 'ममता' पढ़ी और पढ़ कर उछल पड़ा। भाषा का इतना चमत्कार, भावों की ऐसी गहराई और कथानक का ऐसा स्वाभाविक विकास मैंने उससे पहले उर्दू में कभी न देखा था। अलिफ़-लैला, बाग़ोबहार और तलिस्मे-होशरुबा की अनदेखी और अनहोनी कहानियों से उकताया हुआ मन प्रेमचन्द की यह मानव-भावों से रँगी हुई कहानी पढ़कर मुग्ध हो गया। कई दिन तक इस कहानी को पढ़ता रहा और चटखारे लेता रहा। यहाँ तक कि लगभग सारी कहानी ज़बानी याद हो गई, और दूसरे महीने के 'ज़माना' में दूसरी कहानी निकल आई। अब इस कहानी का पाठ शुरू हुआ। इस तरह प्रेमचन्द की कहानियाँ पढ़ते हुए कई साल बीत गये। जी चाहता था ऐसे कलाकार से पत्रव्यवहार करूँ। मगर अपनी उम्र और योग्यता देख कर डर जाता था। सोचता था, जाने जवाब दें या न दें; इतने बड़े आदमी हैं, उनके पास हज़ारों पत्र आते होंगे। कई बार ऐसा हुआ कि पत्र लिखा और फाड़ डाला। मन में चाव था मगर हिम्मत न थी। उस ज़माने में मैंने भी क़लम चलाना शुरू कर दिया था, और लोग मेरी कहानियों को पसन्द करने लगे थे। यहाँ तक कि 'ज़माना' के सम्पादक मुन्शी दया नारायण निगम ने भी एक आध बार कहानी की फ़रमाइश की। मगर इस पर भी प्रेमचन्द जी को पत्र लिखते हुए डर लगता था।

• • •

आखिर १६२५ में जब मुझे सिवान आर्य समाज के वार्षिक उत्सव पर बुलाया गया तो मैंने फ़ैसला किया कि अबके प्रेमचन्द जी से भी मिलता आऊँगा। चुनांचे उत्सव की समाप्ति पर बनारस पहुँचा और वहाँ से प्रेमचन्द जी के गाँव की राह ली। उस समय मन में क्या-क्या विचार उठते थे, यह कहने की बातें नहीं; मगर वहाँ पहुँच कर सारा उत्साह बैठ गया—प्रेमचन्द जी घर पर न थे। एक चिट लिखी और निराश होकर लौट आया। दूसरे दिन गंगा से नहा कर होटल आया तो देखता क्या हूँ कि मेरे कमरे के दरवाज़े पर एक साहब बैठे किसी का इंतज़ार कर रहे हैं। मुझे देखते ही वे उठ बैठे और मुस्करा कर बोले—नमस्ते।

१—इससे पहले प्रेमचन्द जी धनपतराय और नवाबराय के नाम से लिखा करते थे। चुनांचे उनकी कहानियों का एक संग्रह 'सोज़ेवतन' नवाबराय के नाम ही से प्रकाशित हुआ था।

मैंने समझा उन्हें धोखा हुआ है, जवाब दिया—आप किससे मिलना चाहते हैं ?

'महाशय सुदर्शन से। मैं प्रेमचन्द हूँ।'

मैं फ़ौरन उनके पाँव की तरफ़ झुका, मगर उन्होंने मुझे गले से लगा लिया और बोले—मुझे अफ़सोस है कल आपको बेहद ज़हमत उठाना पड़ी। मगर भाईजान! आज मुझे भी सज़ा मिल गई। दो घंटे से बैठा हूँ।

इस भाईजान के लफ़्ज़ ने मेरा मन मोह लिया। दस पन्द्रह मिनटों में हम दोनों बेतकल्लुफ़ हो गये। ऐसे, जैसे हम अजनबी न थे; बरसों के दोस्त थे। शाम तक बातें होती रहीं। मैंने कुरेद-कुरेद कर सवाल किए और उन्होंने खुल-खुल कर जवाब दिये। इस पहली ही मुलाक़ात में मुझ पर ज़ाहिर हो गया कि जो इनके मनमें है वही मुँह पर है। वह कोई बात छिपा कर नहीं रखते। यह इनके स्वभाव में नहीं है।

मैंने पूछा—आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया ?

हँसकर बोले—नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ ?

'बे-मुल्क नवाब भी होते हैं।'

'यह कहानी का नाम हो जाय तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमंडपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला जिसमें ठण्ढक भी है, सन्तोष भी है।'

यह कह कर उन्होंने बड़े ज़ोर का क़हक़हा लगाया और बात उड़ा दी। उनका वह खुले दिल का क़हक़हा और घनी मूछों में से बाहर झाँकती हुई मुस्कराहट आज भी याद आती है तो कलेजे पर छुरियाँ सी चल जाती हैं, कि वह दिन कहाँ चला गया ?

× × ×

सन् १९२७।

मैंने लिखा—मेरी कहानियों का एक संग्रह 'बहारिस्तान' छपने वाला है। मेरी इच्छा है कि उसमें आपकी भूमिका रहे। मगर डरता हूँ कि कोई मसलेहत आपके क़लम को न पकड़ ले।

प्रेमचन्द जी ने जवाब दिया—आज़ाद-रौ आदमी हूँ, मसलेहतों का ग़ुलाम नहीं। आपकी कहानियों पर दीबाचा लिखने में मुझे क्या एतराज़ हो सकता है ? हम भी एक दूसरे के काम न आयेंगे तो और कौन आयेगा ?

इसके बाद उन्होंने मेरी किताब पर भूमिका लिखी और मेरी कहानियों की दिल खोल कर प्रशंसा की। इस घटना में उन साहित्यिकों के लिए एक शिक्षा है जो किसी दूसरे साहित्यसेवी की प्रशंसा में दो शब्द कहते हुए भी समझते हैं कि इसमें उनकी शान मैली हो जायगी। प्रेमचन्द जी में यह बात न थी। वह जिसको अच्छा समझते थे उसकी प्रशंसा करते थे। इतना ही नहीं, वे अपने लेखकों का उत्साह बढ़ाना भी अपना कर्तव्य समझते थे। चुनांचे कई लेखक जो आज हिन्दी में काफ़ी मशहूर हैं सबसे पहले प्रेमचन्द जी की उँगली पकड़ कर साहित्य-संसार में दाखिल हुए थे।

× × ×

सन् १९२८ में जब मैं कानपुर में नौकर हो गया और कहानियाँ लिखने में कम समय देने लगा तो उन्होंने लखनऊ से मुझे एक कड़ा पत्र लिखा। वह पत्र न था इबरत का ताज़याना था। शब्द ठीक ये न थे पर भाव कुछ इसी तरह का था—

'मैं तो समझता था आप फ़ारग़-उल-बाल होकर अदब की ज़्यादा ख़िदमत कर सकेंगे, मगर मेरा ख़याल ग़लत निकला। अब महीनों गुज़र जाते हैं और आपका कोई क़िस्सा किसी अख़बार में नज़र नहीं आता। चार नहीं दो सही, दो नहीं एक सही, लेकिन कुछ-न-कुछ तो हर महीने लिखते रहिए। इससे तो वह तङ्गदस्ती ही अच्छी थी जो आपसे कुछ न कुछ लिखवा लेती थी।'

मगर जब मैंने मिल कर अपनी हालत का बयान किया तो नरम पड़ गये। मैंने कहा—कहिये तो नौकरी छोड़ दूँ। फौरन बोले—यह हिमाक़त न कर बैठना वरना मुझे कोसोगे। हिन्दी प्रकाशकों में इतना दम कहाँ जो किसी लेखक को खाने पीने की तरफ़ से बेनयाज़ कर दें। उनकी बड़ी ख्वाहिश थी कि दो चार लेखक मिल कर प्रकाशन का काम साझे में करें। मगर मौत ने मुहलत न दी।

× × ×

उनसे अन्तिम भेंट मार्च १९३४ में हुई।

उस वक़्त मुझे वे कुछ दुबले से नज़र आए। मगर लिखने का काम करते जाते थे। मैं जब मिलने के लिए गया, उस वक़्त साँझ हो चुकी थी। वे जब भी लिख रहे थे। मैंने कहा—आप यह अपने ऊपर नहीं, हम लोगों पर ज़ुल्म कर रहे हैं।

हँस कर बोले—शुक्र है, हम भी किसी के ज़ालिम तो हैं!

मैंने कहा—आप कहीं हवा पानी बदलने के लिए बाहर क्यों नहीं चले जाते?

'बाहर जाने के लिए रुपया चाहिए।'

'अच्छा, ज़रा मेहनत कम किया करें।'

'मज़दूर मेहनत न करेगा तो खायगा कहाँ से?'

मगर प्रेमचन्द जी पैसे के लिए मेहनत करते थे यह कहना उनका अपमान करना है। उनके मन में मानव जाति के लिए जो संदेसा आता था वह उसे लोगों के सामने रखने के लिए लिखते थे। वरना रुपया कमाना चाहते तो इतना कमा सकते थे कि उन्हें किसी चीज़ की परवाह न रहती। लेकिन उन्होंने सदा सिद्धान्त और कला का ख़याल रखा है। रुपया उनके लिए गौण वस्तु रहा है। तकलीफ़ और संकट में रह कर भी उन्होंने सेवा के महान् आदर्श को आँखों से ओझल नहीं होने दिया, यह उनके महापुरुष होने का द्योतक है।

मैंने कहा—आप इन अख़बारों को बन्द क्यों नहीं कर देते, अभी तक घाटे में जा रहे हैं।

प्रेमचन्द जी ने जवाब दिया—आज आप कहते हैं अख़बार बन्द कर दो। कल कहेंगे किताबें लिखना छोड़ दो। मैं आपका कहा कहाँ तक मानूँ।

मुझे अपनी ज़बान बन्द होती मालूम होने लगी मगर मैं हिम्मत न हारा, कहा—आख़िर यह तपस्या आप ही क्यों करें?

प्रेमचन्द जी का मुस्कराता हुआ चेहरा और भी मुस्कराने लगा, बोले—आप जिसे तपस्या कहते हैं मैं उसे भोग समझता हूँ। तपस्या जब हो जब तकलीफ़ हो। मुझे तो इसमें बराबर मज़ा आता है और जिसमें आदमी को मज़ा मिले वह भोग है।

मेरी आँखों के सामने से परदा हट गया। प्रेमचन्द ऐसे बड़े, ऐसे ऊँचे, निःस्वार्थ मेरी आँखों में कभी न थे। मेरा जी चाहा उनके पैरों पर गिर पड़ूँ, मगर......

प्रेमचन्दजी ने फिर कहा—भाईजान! सिर्फ़ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं

है। मनुष्यत्व को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचा विचार पैदा करना भी उसका कर्तव्य है। अगर यह नहीं है तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं। और जिसके हाथ में भगवान ने क़लम और क़लम में तासीर दी है उसका कर्तव्य तो और भी बढ़ जाता है।

आज ये शब्द याद आते हैं तो दिल पर हथौड़ा-सा लगाता है कि हिन्दी साहित्य ने कितना ऊँचे दरजे का कलाकार खो दिया।

× × ×

लेकिन शोक इस बात का है कि हिन्दीवालों ने अभी तक अपने इतने महान् कलाकार को पूरे तौर पर नहीं पहचाना। वरना असंभव था कि आज प्रेमचन्द की किताबों की घर घर पूजा न होने लगती। प्रेमचन्द साधारण कलाकार न थे, भाव और भाषा के बादशाह थे। मुरदा से मुरदा विषय को भी लेते थे तो उसमें जान डाल देते थे। उनकी रचना पढ़ने के लिए हमको अपने ऊपर ज़ोर नहीं देना पड़ता। हम उसमें बहते चले जाते हैं। हर कहानी पढ़कर हमको मालूम होता है कि हमने जीवन का कोई नूतन चित्र देखा है। हमें अपने दिल की आँखें खुलती मालूम होती हैं। हमें मालूम होता है, किसी ने हमारे मन के तारों पर उँगली रख दी है, किसी ने हमारा दिल पकड़ लिया है, किसी ने हमें नया रास्ता दिखा दिया है। जो चित्र और चरित्र हम रोज़ देखते हैं और जिनमें हमें कोई विशेष बात नहीं नज़र आती, प्रेमचन्द जब उन पर से परदा उठा कर हमें भीतरी रहस्य दिखाते हैं तो वहाँ हमें ऐसी मोहिनी नज़र आती है कि मन नाचने लगता है। ग्राम-जीवन के जो जीते जागते और भावपूर्ण चित्र उन्होंने हमारे सामने रखे हैं उन्हें भारतवर्ष सदियों तक याद रखेगा और सिर धुनेगा।

× × ×

अभी प्रेमचन्द के मरने के दिन न थे। अभी वह बहुत कुछ कहना चाहते थे और हम बहुत कुछ सुनना चाहते थे। प्रेम, पवित्रता और प्रकाश की व्याख्या जो वे करना चाहते थे वह अभी तक पूरी न हुई थी। जीवन और जगत का जो संगीत उन्होंने शुरू किया था वह अभी अधूरा ही था कि मौत के निर्दयी हाथों ने उनका मुँह बन्द कर दिया।

बड़े शौक से सुन रहा था ज़माना।
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते कहते॥

नवीन भाव-धारा के प्रवर्तक

[लेखक—श्री दुर्गाप्रसाद पाण्डेय, शास्त्राचार्य]

एक दिन साहित्यिक विचार-विनिमय के सिलसिले में मेरे एक विदेशी साहित्यिक मित्र ने पूछा—प्रेमचन्द जी की हिन्दी-साहित्य को कौन-सी ऐसी देन है जिसने उसमें एक नयी धारा, नयी जागृति और नये जीवन को, जिसके अभाव में साहित्यिक प्रवाह शिथिल-सा हो रहा था, प्रेरित किया है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें एक बार उस समय की साहित्यिक परिस्थिति की ओर संकेत करना आवश्यक-सा जान पड़ता है, जब कि पहले-पहल श्री प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य की दुनिया में पदार्पण किया था। हिन्दी का साहित्य तब तक अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सका था। कहीं संस्कृत की मंडली में संस्कृत के लंबे-चौड़े समासबहुल वाक्यों का आश्रय लेकर चलता तो कहीं फ़ारसी और अरबी के लोचदार शब्दों का सहारा लेता। कथा-साहित्य की भी कुछ ऐसी ही हालत थी। तिलस्माती कहानियों, भूत-प्रेत के गप्पों, प्रेम-वियोग के आख्यानों और उपदेश-धर्म की कथाओं से भरा पड़ा था। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि उस समय का कथा-साहित्य-कला से शून्य था। मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ कलाकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलस्माती कहानियों में भी जीवन की सच्चाइयों का वर्णन और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है। उस समय की कहानियों में भी हमें इसके उदाहरण मिलते हैं; पर बहुत कम, दाल में नमक के बराबर। यदि सत्य पर पर्दा न डाला जाय तो यह तो निःसंकोच होकर कहा जा सकता है जीवन की आलोचना, जो साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा है, उसके लिए साहित्य का दरवाज़ा बन्द-सा ही था। हमारे कहानी लेखक बाह्य सत्य (Objective truth) को ही प्रधानता देते थे। 'हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सीढ़ी खड़ी कर उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फ़िसानए अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने खयाल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है यह कल्पनातीत था। कहानी, कहानी है ; जीवन, जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था, प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृङ्गारिक-भावों को प्रकट करने में कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नई शब्द-योजना, नई उपमा, उत्प्रेक्षा या कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफ़ी था, चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी

ही दूर क्यों न हो। आशियाना और क़फ़स, बर्क और खिरमन की कल्पनाएँ विरह दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ इस खूबी से दिखलाई जाती थीं कि सुनने वाले दिल थाम लेते थे। आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे सभी जानते हैं।'

किन्तु, श्री प्रेमचन्द उस धारा में नहीं बहे। उन्होंने बाह्य सत्य का बहिष्कार न करते हुए भी, आत्म-सत्य को ही अपनी कला का ध्येय बनाया। आज हिन्दी में इस तरह की साहित्य-सृष्टि की ओर जो झुकाव दीख पड़ता है उसका सारा श्रेय है श्रीयुत प्रेमचन्द जी को। उन्होंने 'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हम में शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हम में सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं'—को अपना ध्येय बना रखा था और उसी के अनुसार अपने साहित्य का निर्माण किया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने महलों के बनावटी सौंदर्य की उपेक्षा कर झोपड़ियों में सौन्दर्य को खोजा। उनकी रचनाओं के नायक-नायिकाएँ सरल हैं, सीधे हैं, सादे हैं; उनके चारो ओर ऐश्वर्य का जाल नहीं फैला है और न वे अपने रूप पर गर्व करने वाले या चोचलों पर सिर धुनने वाले ही हैं। उनमें आत्मिक सौन्दर्य है और जीवन-संग्राम में साहस और वीरता के साथ कठिनाइयों का सामना करने की अद्भुत क्षमता। इतना होने पर भी कलाकार ने कहीं उन्हें इस मिट्टी की दुनिया से ऊपर उठने नहीं दिया है। उन्हें देखकर आपको यह सोचने का मौक़ा नहीं है कि ये काल्पनिक दुनियाँ के जीव हैं, आदर्श को लेकर इनकी सृष्टि की गई है, हम से इनकी कोई तुलना नहीं। क्योंकि वे स्वयं कहते हैं—'कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है। उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है, या अपने पात्रों की ज़बान से वह खुद बोल रहा है। इसलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का जीवन-चरित्र कहा है। आज कल का कलाकार कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है, पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता हो; वह मानव प्रवृत्ति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और मौक़े पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त मांस का बना मनुष्य करता है।'

उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए पात्रों का चुनाव वहाँ से किया है जो सदा से उपेक्षित हैं, विपत्ति के मारे हुए हैं, जीवन-संग्राम में खटकर मरना ही मानो जिनके जीवन की एकमात्र उपयोगिता है; जिनकी उपेक्षा आज तक के साहित्यकारों ने की है और यदि कहीं उन्हें स्थान दिया भी है तो केवल मज़ाक़ उड़ाने के लिए। पर श्री प्रेमचन्द जी ने उन्हें ही अपनाया है और कूड़े पर से उठाकर देवता के आसन पर बिठा दिया है। मेरे विचार में इन साधारण कोटि के पात्रों का चित्रण करने के कारण ही उनकी रचनाओं में हृदय को छूने की शक्ति आ सकी है। क्योंकि जीवन का घात-प्रतिघात ही कहानी या उपन्यास का प्राण है, और यह घात-प्रतिघात जितना हमें इन उपेक्षित समुदायों में मिलता है उतना इन लक्ष्मी के लाड़लों के जीवन में नहीं। हाँ, वहाँ जहाँ कहीं कुछ घात-प्रतिघात है, वह है केवल नाज़नीनों के नयन-बाणों से विद्ध होकर छाती पर हाथ रख कर कराहना। इस कोटि के मानसिक विकारों के चित्रण से ही घासलेटी साहित्य की बाढ़-सी आ गई है। जहाँ देखिये वहीं असफल प्रेम, निराशा, रुदन और आत्महत्या। पर प्रेमचन्द जी की कहानियों का प्रेम-पात्र कहीं असफल नहीं होता, निराश प्रेम का रोना नहीं

रोता ; वह वियोग में तड़प-तड़पकर आँखों में रात को नहीं काट देता या, नदी में डूबकर, ज़हर खाकर या फाँसी लगाकर जीवन का अन्त नहीं कर देता ; बल्कि उस दशा में वह जीवन-संग्राम के लिए और भी सन्नद्ध तथा दृढ़ हो जाता है। इनकी प्रेम भावना मनुष्य को पवित्र और कर्मण्य बनाने वाली है।

प्रेमचन्द जी की रचनाओं में दूसरी अपनी अलग जो एक विशेषता है वह है ग्रामीण जीवन का सजीव चित्रण। इनकी रचनाएँ हमारे सामने ग्राम्य जीवन की सभी समस्याओं को उपस्थित कर देती हैं और उन्हें आसानी से सुलझाने के उपाय भी। ग्राम्य-सुधार के कार्य करने वाले यदि उन्हें ध्यान पूर्वक पढ़ें, मनन करें और उसके अनुसार कार्य करना आरम्भ करें तो उनके कार्य में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। प्रेमचन्द की रचनाओं से भविष्य का इतिहास लेखक वर्तमान ग्राम-जीवन पर लिखने की बहुत कुछ सामग्री पा सकता है। वह हमारे ग्रामीण जीवन के उज्ज्वल चित्र हैं, जिनमें सत्य समवेदना से मिलकर हृदय पर सीधा प्रभाव करने वाला हो गया है। यद्यपि यह नहीं है कि उनमें केवल अच्छाइयाँ ही दिखलाई गई हैं, बुराइयों पर पर्दा डाल दिया गया है। ईर्षा, द्वेष, कलह आदि का भी वर्णन है; पर उनका अन्त प्रेम, एकता और सहानुभूति में हुआ है। उन्होंने कहा है—'हम साहित्यकार से यह आशा रखते हैं कि अपनी बहुज्ञता, अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे। उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना में हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले। सुधार की जिस अवस्था में वह हो उससे अच्छी अवस्था में जाने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हम में जो कमज़ोरियाँ हैं वह किसी मर्ज़ की तरह हमसे चिपटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है, और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है उसी तरह हम भी इस फ़िक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमज़ोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए हम साधु फ़कीरों की खोज में रहते हैं, पूजा पाठ करते हैं, बड़े बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं। हमारी सारी कमज़ोरियों की ज़िम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम भाव से वंचित होना है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमज़ोरियाँ कहाँ रह सकती हैं ? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमज़ोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हम में सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है ?'

प्रेमचन्द जी की कृतियों के सर्वप्रिय होने का एक कारण उनकी भाषा की सरलता भी है। इसमें हिन्दी और उर्दू दोनों के ही शब्द मिले हुए हैं ; पर इस बारीकी से कि कहीं कृत्रिमता नहीं आ सकी है, भाषा के प्रवाह में कहीं नियन्त्रण नहीं हुआ है। इन्होंने ठीक उसी भाषा का प्रयोग किया है जो आमफ़हम भाषा है, जिसे सर्वसाधारण जनता व्यवहार करती है। किस अवसर पर किस तरह की भाषा का प्रयोग हृदय पर सीधा और गहरा प्रभाव कर सकता है, वैसी भाषा के प्रयोग करने में तो प्रेमचन्द जी बेजोड़ हैं। छोटे, सीधे और साफ़ एक वाक्य में ही वह ऐसी बात कह जाते हैं जिसके लिए दूसरे पन्ने के पन्ने काले कर डालते हैं, फिर भी स्पष्ट नहीं

कर पाते। इनकी संकेतात्मक शैली के भीतर जहाँ व्यंग्य और परिहास की बातें आ जाती हैं वहाँ भाषा तीर की तरह सीधी और चुभने वाली बन जाती है। जहाँ कहीं इन्होंने काव्यमयी शैली का अनुसरण किया है वहाँ इनकी भाषा हमारे गद्य-काव्य के गौरव की वस्तु बन गई है। सुन्दर सुन्दर मुहावरों तथा अनुभूतिमूलक अमर उक्तियों के बाहुल्य ने इनकी भाषा-शैली को जो वैभव, जो सौन्दर्य और जो गौरव प्रदान कर रखा है, वह इनके द्वारा प्रस्तुत किये साहित्य का सबसे बड़ा संरक्षक है। स्वर्गीय पं० श्री किशोरी लाल जी गोस्वामी आदि विद्वानों ने भी भाषा की संस्कृत बहुलता को कम करने की कोशिश की है; पर जहाँ कहीं वे मुसलमान पात्रों के मुख से कुछ कहलवाते हैं, वहाँ उनकी भाषा इतनी उर्दू-फ़ारसी के शब्दों से लद जाती है कि सर्वसाधारण उसे नहीं समझ सकते। पर हमने जैसा पहले कहा है, प्रेमचन्द ही इस दोष से बिल्कुल मुक्त हैं। इनकी भाषा में वे शब्द जो स्वाभाविकता के बाधक हैं केवल पाण्डित्य आस्फालन करने के लिए ज़बरदस्ती नहीं भर दिये गये हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, चरित्र-चित्रण की कला में भी इनका एक अपना स्थान है। इनके चित्र सजीव भी हैं और स्वाभाविक भी। इनके पात्रों को हम जानते हैं, पहचानते हैं, उनके साथ हिल-मिलकर जी खोलकर बातें कर सकते हैं; क्योंकि वे हमारे बीच के हैं, हमारी अनुभूतियों के साथ उनका गहरा सम्बन्ध है। यही कारण है कि जब वे रोते हैं तो हम रोने के लिए बाध्य होते हैं और जब हँसते हैं वहाँ हमारी प्रसन्नता भी नाच उठती है। जो ऊँचे आदर्शों के उपासक हैं वे भी मनुष्य हैं और जो कुत्सित भावनाओं एवं नीच मनोवृत्तियों द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले हैं, वे भी मनुष्य ही हैं—ठीक वैसे ही मनुष्य जैसे हम और आप। हाँ, इनमें दो एक ऐसे भी ज़रूर हैं जिन्हें हम दूसरी दुनिया के जीव कह सकते हैं; किन्तु उनकी अवतारणा रचना-कौशल की साधिका ही हैं बाधिका नहीं। सफल कलाकार जानता है कि कहाँ विच्छेद या अमानुषीय चरित्र की अवतारणा करने से रचना में प्रवाह एवं सौन्दर्य लाया जा सकता है।

श्री प्रेमचन्द जी कलाकार की दृष्टि से जैसे अद्वितीय थे वैसे ही सच्चे और खरे मनुष्य भी थे। उनका सारा जीवन कठिनाइयों एवं बाधाओं के साथ युद्ध करते हुए ही बीत गया; पर घबड़ाकर या हताश होकर कभी भी उन्होंने अपने आदर्शों को पिछड़ने नहीं दिया। उनकी लम्बी और झुकी हुई मूछों में छनकर फैलनेवाली ऊँची हँसी में सारी बाधाएँ बह जाती रहीं। उन्होंने स्वयं कहा है—'अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें। जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे, तो वर्तमान प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि हमारे पाँव चूमेंगीं। फिर मान प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये, और इनके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है। हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हविस क्यों हो? दूसरों से अधिक आराम के साथ रहने की इच्छा हमें क्यों सताये? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करावें? हम तो समाज का झंडा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारा लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता, उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखाव की आवश्यकता नहीं, उससे तो उसे घृणा होती है।'

प्रेमचन्द जी के खो जाने से भारतीय साहित्य की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति निकट भविष्य में तो नहीं दीखती, किन्तु यदि हम उनके पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए साहित्य सृजन में लग जाँय तो उनके प्रति अपनी श्रद्धा का प्रकाश और साहित्य का कल्याण कर सकेंगे। प्रेमचंद जी ने साहित्य में जिस भाव-धारा, विचार-प्रौढ़ता और भाषा-सौन्दर्य की सृष्टि की है उसमें ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा त्यों त्यों अधिकाधिक कमनीयता आती जायगी। आज भी हिन्दी साहित्य उनका ऋणी है और भविष्य में भी रहेगा। प्रेमचन्द जी को हमने केवल साहित्यकार के रूप में ही नहीं पाया था, वह हमारे पथ प्रदर्शक भी रहे। देश की स्वतन्त्रता की सबसे बड़ी बाधा हिन्दू मुसलिम वैमनस्य मिटाने के लिए अपनी रचनाओं के द्वारा वह सदा प्रयत्न करते रहे। हिन्दी और उर्दू दो सहेली भाषाओं को मिलाने में उनकी रचनाएँ सेतु की तरह हैं। प्रेमचन्द के ऊपर जितना गर्व हिन्दुओं को है उससे कम मुसलमानों को नहीं।

प्रेम-स्मृति

[लेखक—श्री बन्देअली फ़ातमी]

जो प्रेमाकाश का चन्द्र था ; जो चाँदी-सोने के टुकड़ों से निर्मित धन का पति नहीं, वरन् अपार्थिव अक्षय धन-पति था ; जो 'रंगभूमि' में रँगीला वीर, 'प्रेमाश्रम' में भावुक प्रेमी, और 'सेवा-सदन' में अथक सेवी था ; जो कवि न होते हुए भी कवि था ; जो रहस्यवादी न होते हुए भी रहस्यात्मिकता से अवंचित था ; जो बूढ़ा होते हुए भी, बुड्ढापन का दुश्मन और तरुण न होते हुए भी तरुणाई का शैदा था ; जो अपुष्ट किसान और जर्जर मज़दूरों को 'गोदान' करनेवाला था, ताकि वे उसका पौष्टिक दुग्ध-पान कर अपनी धमनियों में क्रान्ति का रक्त-प्रवाह करें ; वह कौन था ? वह था प्रकृति का पुजारी, प्रतिभा का उपासक, साम्राज्य-विरोधी होते हुए भी औपन्यासिक-सम्राट, देहाती प्रेमचन्द !

संस्मरण

[लेखक—श्री भँवरमल सिंघी, साहित्यरत्न]

कुछ अजीब सी बात है कि जिन साहित्यिक व्यक्तियों के विषय में मेरी कल्पना उनके साहित्य और अखबारी टीपटाप पर से स्नेह और श्रद्धा की हो जाती है, उनको जब प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य (या ?) मिलता है तो कई बार मुझे अपनी कल्पना की तथ्य-विरूपता पर कुछ ग्लानि सी होती है। इसका कारण इतना ही है कि आज हमारे साहित्यिकों में जीवन और साहित्य का अलगाव-सा रहता है।

पूज्यवर स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की कहानियाँ और दो-चार उपन्यास छोटी उमर में ही पढ़े थे। मैं कला पारखी नहीं था और अब भी नहीं हूँ; पर उनका नाम मुझे याद था। बाद में मुझे लिखने का शौक हुआ और मेरी कुछ रचनाएँ 'जागरण' में प्रकाशित होने लगी थीं—और तत्पश्चात् 'हंस' में। इंटर पास कर मैं काशी विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये बनारस गया था। काशी भी हिन्दी साहित्य के तीर्थधामों में से है। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, प्रसिद्ध नाटककार 'प्रसाद', कविवर 'हरिऔध' और विचक्षण समालोचक शुक्ल जी की चौकड़ी से उस समय बनारस जगमगा रहा था। कालगति ने महान् औपन्यासिक को उठा लिया और आज बनारस में केवल त्रि-मूर्ति रह गई!

काशी में पूज्यवर स्व० प्रेमचन्द जी से साक्षात्कार हुआ था, (मामूली तौर से, जैसा मैं कह चुका हूँ, कई साहित्यिक महारथियों से मेरा साक्षात्कार अश्रद्धा का कारण हो चुका था) जिससे मुझे यह समझने में देरी न हुई कि हिन्दी के उस औपन्यासिक सम्राट का जीवन अपने साहित्यिक आदर्शों से बहुत ऊपर उठा हुआ था। जीवन की तल्लीन वेदना उनके साहित्य में साहस और साधन का उपक्रम प्रेरित करती थी। उनके जीवन में नवयुवक लेखकों के लिए कितनी ही सीखने की बातें थीं, जिनके संस्मरण, मैं चाहता हूँ, कि उनके सम्पर्क में आने वाले सभी विद्वान् लिखें। पूज्या शिवरानी देवी जी ने 'हंस' का 'प्रेमचन्द अंक' निकाल कर पाठकों को उस महान् साहित्यिक के संस्मरणों का संग्रह देने की जो कृपा की है, उसके लिए हिन्दी-संसार उनका चिर कृतज्ञ रहेगा।

इस अंक में बहुत से संस्मरण लिखे जायँगे, पर मुझे तो केवल एक ही दिन के संस्मरण लिखने हैं। यह उन दिनों की बात है जब लखनऊ में प्रगतिशील लेखक-संघ का जलसा होने वाला था और पूज्य स्व० प्रेमचन्द जी उसके सभापति मनोनीत किये गये थे। यूनीवर्सिटी

बन्द होने वाली थी, इसलिए मैं उनसे मिलने गया था और वही शायद उनसे अन्तिम भेंट थी। बिखरी हुई किताबों और अखबारों के ढेर के बीच में डेस्क सामने रख कर गद्दी पर बैठे लखनऊ के जलसे के लिए भाषण तैयार कर रहे थे और साथ-साथ डाक्टर इक़बाल की शायरी भी पढ़ते जाते थे। प्रेमचन्द जी की सादगी और उदारता प्रसिद्ध थी ही। उस समय उनके रोम रोम में इक़बाल की कविता का जोश भर रहा था। इस समय उनके पास आये हुए को जल-पान कराने की वही सामग्री थी। उन्होंने पूछा—उर्दू तो समझ लेते हो न?

मैं, उर्दू? हाँ—नहीं, हूँ! और इसलिए इक़बाल की कविता को समझ लेना मेरे लिए कठिन था। मैंने अपनी लाचारी ज़ाहिर कर दी। वह इक़बाल की कविता से इतने प्रभावित हो चुके थे कि वह पहले कविता बोलते और फिर हिन्दी में उसका अर्थ समझाकर मुझे उसका रहस्य ग्रहण कराते। उसकी तुलना में वह हिन्दी कविता की जो समीक्षा करते जाते थे, उसे तो मैं कभी नहीं भूलूँगा। इक़बाल का निम्न शेर पढ़कर तो वह फूले न समाये थे—

रमज़े हयात जोई जुजदर तपिश नयाबी,
दरकुल जुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।

कुछ इस प्रकार उन्होंने अर्थ बताया था कि जीवन की चरम-साधना जीवन-संघर्ष से बाहर कहीं अन्यत्र नहीं मिलती। सब को मालूम है कि समुद्र में जाकर सरिता यदि आराम करना चाहे तो वह नदी के लिए लज्जा की बात है। इस सिलसिले में उन्होंने हमारे आधुनिक जीवन पर जो विचार प्रकट किये थे, वे इस प्रकार मेरी डायरी में लिखे हैं—'इस युग में हमें वे आँखें बन्द कर देनी चाहिए जिन्हें जीवन में नश्वरता के सिवा और कुछ नहीं दिखाई देता; केवल वे आँखें चाहिये जिनमें वेदनामय जीवन-संघर्ष को सराहने की शक्ति हो। हिन्दी कविता में तो आज संघर्ष से अलग 'हे सखी, हे सजनि' के स्त्रैण भाव फैल रहे हैं। परमात्मा जानें कि कविता को इन लोगों ने क्या समझ रखा है।'

लखनऊ के जलसे में मैं उपस्थित नहीं था, पर पत्रों में देखा था कि उन्होंने अपने भाषण में इसी पर ज़ोर दिया था। उस समय उन्होंने कहा था—'साहित्य बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'

इन लघु संस्मरणों से, आशा है, पाठकों को पूज्यवर स्व० प्रेमचन्द जी के साहित्य का जीवन-मर्म उद्घोषित करने में सहायता मिलेगी।

प्रणाम

[लेखक—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी]

'भव भूतल को भेद, गगन में—
उठनेवाले शाल ! प्रणाम।

× × ×

'छाया देकर पथिकों का श्रम—
हरनेवाले तुम्हें प्रणाम ॥'

पार्थिव दुःख-द्वन्द्वों को पराजित कर, एक अत्यन्त साधारण परिस्थिति से ऊपर उठ ;र, जीवन के उज्ज्वल आकाश में अपने मस्तक को उन्नत करनेवाले अमर कलाकार प्रेमचन्द वर प्रणम्य हैं।

वे ग़रीबी की गोद में पले हुए माता हिन्दी के धूल भरे हीरे थे। उनका स्थान सम्राटों ; ताज में नहीं था, किसी के वैभव को प्रकाशित करने के लिए वह नहीं उत्पन्न हुए थे। वह तो ;ठोर परिस्थितियों के खरल में कुट-पिसकर पीड़ित मनुष्यता के उपचार बन गये, इससे बढ़ ;र उनका सौभाग्य और क्या हो सकता था?

वह उस फूल की तरह थे जो, जिस पृथ्वी से जीवन का रस ग्रहण करता है, अन्ततः ;सी पृथ्वी को यथासंभव सरस और सुगन्धित कर जाता है।

वह कोटि-कोटि दरिद्रनारायणों के कलाकार थे। उनकी लेखनी किसानों के हल की ाँति पृथ्वी को उर्व्वर बनानेवाली थी; उनकी लेखनी मज़दूरों के फावड़े की तरह धरातल की ेषमताओं को तोड़-फोड़कर मानव-समाज को समतल बनाने वाली थी; उनकी लेखनी अकु- ंठत थी। उनकी लेखनी में एक धार थी। तलवार की तीक्ष्ण धार नहीं, बल्कि पयस्विनी सुन्धरा के प्रेमल दूध की कोमल धार।

वह हमारे साहित्य के गोर्की दादा थे। गोर्की की भाँति ही उन्होंने छुटपन से ही कठिन- ;म दुःखों की कड़वी घूँट पी थी। उनका दुःख ही उनके लिए अमृत बन गया। उसी अमृत से ानुप्राणित होकर गोर्की ने अपने साहित्य-द्वारा लेनिन-युग को अग्रसर किया था, प्रेमचन्द ने ान्धी-युग को। संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—एक तो वे जो दुःख सहते-सहते पाषाण ी भाँति कठोर, निर्म्मम एवं हृदय-हीन हो जाते हैं, दूसरे वे जो सजल-कोमल होकर भी विपत्तियों ी चट्टानों का अतिक्रम कर सरिता की भाँति सन्तप्त पृथ्वी को शीतल कर जाते हैं। गोर्की और

प्रेमचन्द मानव-जाति के ऐसे ही सहृदय कलाकार के। दोनों ने कथा-साहित्य द्वारा अपने युग को अग्रसर किया है और वह युग मनुष्यता की पुकार का युग है। उनकी लेखनी की स्याही में अत्याचारियों की कालिमा और बिलखते हुए प्राणियों के आँसू हैं। गोर्की और प्रेमचन्द दोनों अपनी आवाज़ को बुलन्द रखने के लिए साहित्य में अपने कितने ही युवक प्रतिनिधियों को छोड़ गये हैं। उन सबमें गोर्की और प्रेमचन्द जीवित हैं और तबतक जीवित रहेंगे जबतक मनुष्यता दानवता को पराजित करती रहेगी।

प्रेमचन्द साहित्यिक शिव थे। उन्होंने भवसागर के विष को पीकर अपने ललाट पर प्रेम का चाँद और अपने मस्तक पर देशभक्ति की गंगा को धारण किया था। मुसलमानों का चाँद और हिन्दुओं की गंगा उनके-जैसे एकतावादी कलाकार को ही सोहती थी। सच तो यह है कि वह पूर्ण मनुष्य थे। किसी युग में जो कुछ देवत्व था, वही आज के दुर्द्धर्ष युग में मनुष्यत्व बन गया है। ज्यों ज्यों यह दुर्द्धर्षता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों एक दिन मनुष्यत्व ही ईश्वरत्व बन जायगा। उसी दिन मनुष्य अपनी मिथ्या प्रवञ्चनाओं को छोड़ कर एकमात्र मनुष्यत्व पर ही अपने जीवन को केन्द्रित करेगा।

प्रेमचन्द की मनुष्यता स्पृहणीय वस्तु है। मनुष्यता की दृष्टि से कितने ही सम्पन्न व्यक्ति उनकी तुलना में अभागे और निर्धन जान पड़ते हैं।

मेरे मन पर मनुष्य की विद्वत्ता का, मनुष्य की शक्तिशीलता का, मनुष्य की धनाढ्यता का कोई असर नहीं पड़ता, इसके लिए मैं बिल्कुल जड़ हूँ—जैसे कि ये विशेषताएँ मेरे लिए जड़ हैं। जिस प्रकार हृदय-हीन धनवान् हो सकता है, उसी प्रकार हृदय-हीन विद्वान भी हो सकता है। मनुष्य की मनुष्यता तो सोलहो आना सहृदयता की वस्तु है। उसमें दम्भ नहीं, आत्मविस्मृति रहती है। द्वारिकाधीश की महिमा इसलिए नहीं है कि वे द्वारिकाधीश हैं, बल्कि इसलिए कि वे सुदामा को गले लगा सकते हैं, विदुर का साग खा सकते हैं, राजसूय-यज्ञ में पद-प्रक्षालनकर स्वयंसेवक बन सकते हैं और पशुबल के विरोध में मानव-बल को सम्बल दे सकते हैं। यह ईश्वरत्व नहीं, मनुष्यत्व है। इसे ईश्वरत्व कह कर दूर से हाथ जोड़ना, मनुष्य की चारित्रिक बहानेबाज़ी है, ईश्वर को भोला समझकर उसे निर्लज्जता-पूर्वक ठगना है। यह तो मनुष्य के सम्मुख दानव का छल-कौशल है। यही छल-कौशल आज संसार में भद्रता के नाम पर चल रहा है, इसीलिए विश्व का जीवन इतना महँगा हो गया है। इस छल-प्रपंचपूर्ण संसार में प्रेमचन्द सीधे-सादे मुसाफ़िर के रूप में आये थे। वह किसी को ठग नहीं सकते थे, इसीलिए स्वयं बहुत बार ठगा गये। किन्तु प्रेमचन्द जी की मनुष्यता को कौन ठग सकता था? उन्हें पार्थिव हानि भले ही हुई हो, किन्तु उनकी मनुष्यता कभी क्षति-पूर्ण नहीं हुई। अपनी अक्षुण्ण मनुष्यता के कारण ही वह इस नश्वर संसार की स्वर्गीय आत्मा बन गये हैं। आज हम कलाकार प्रेमचन्द का सम्मान इसलिए करते हैं कि उसमें मनुष्य प्रेमचन्द का निवास है। प्रेमचंद का जो मनुष्य उन्हें कलाकार बना सका है, वह उनके कलाकार से भी अधिक श्रेष्ठ है। उनका कलाकार तो उनके मनुष्य की एक छायामात्र है।

उस आडम्बर-रहित और अपनी महिमा से अनजान महापुरुष के चरणों में मेरा शत शत प्रणाम!

प्रेमचन्द्‌जी की सर्वोत्तम कहानियाँ

[लेखक—श्री आनन्दराव जोशी]

यों तो स्व० प्रेमचन्द जी के शुभ नाम से तथा उनके कथा-साहित्य से मैं बहुत वर्षों से परिचित था किन्तु उनसे पत्रव्यवहार करने का सुअवसर मुझे सन् १९२८ ई० में मिला। उस वर्ष मैंने उन्हें पत्र लिखकर उनकी सर्वोत्तम हिन्दी कहानियों का मराठी में अनुवाद करने की आज्ञा माँगी और उन्होंने भी सहर्ष दी। उस समय से उनकी मृत्यु तक हमारा परस्पर पत्र-व्यवहार बराबर जारी रहा। उनकी मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व—ता० १३ सितम्बर १९३६ ई० को—उन्होंने मुझे पत्र लिख कर मुझसे मराठी की तीन सर्वोत्तम हास्यरस की कहानियों के नाम माँगे थे, और उन कहानियों का हिन्दी में अनुवाद करने का काम भी वह मुझपर सौंपनेवाले थे।

इस प्रकार सन् १९२८ ई० में अनुवाद करने की आज्ञा प्राप्त होने पर मैंने स्व० प्रेमचन्द जी से उनकी प्रसिद्ध एवं लोक-प्रिय कहानियों के कुछ नाम भेजने के लिए तथा (अनुवाद के लिए) कहानियों के चुनाव के सम्बन्ध में अपनी सलाह देने की प्रार्थना की थी। इस विषय में आगे उनसे बहुत-कुछ पत्रव्यवहार होता रहा। यथासमय मैंने अनुवाद का कार्य पूरा किया। सन् १९२९ ई० के जून में इन अनुवादित कहानियों की पुस्तक 'प्रेमचन्दाच्या गोष्टी' (भाग—१) के नाम से पूना के सुप्रसिद्ध चित्रशाला प्रेस से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में प्रेमचन्द जी की निम्न १४ कहानियों का संग्रह किया गया है—

(१) राजा हरदौल, (२) रानी सारन्धा, (३) मन्दिर और मसजिद, (४) एक्ट्रेस, (५) अग्नि-समाधि, (६) विनोद, (७) आत्माराम, (८) सुजान भगत, (९) बूढ़ी काकी, (१०) दुर्गा का मन्दिर, (११) शतरंज के खिलाड़ी, (१२) पंच परमेश्वर, (१३) बड़े घर की बेटी और (१४) विध्वंस।

प्रेमचन्द जी ने अपने पत्रों में जिन कहानियों के नाम लिख भेजे थे उनमें से कुछ कहानियाँ मुझे यथासमय न मिल सकने के कारण मैं उनका उपयोग न कर सका।

स्व० प्रेमचन्द जी के पत्रों से कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण यहाँ दे रहा हूँ। इन उद्धरणों से प्रेमचन्द जी को अपनी कौन-सी कहानियाँ विशेष प्रिय थीं और वह अपनी कौन-सी कहानियाँ सर्वोत्तम मानते थे, इसकी पाठकों को कुछ कल्पना अवश्य हो जायगी।

पत्र संख्या १

Madhuri office,
N. K. Book Depot,
Lucknow.
11—1—1928.

......you may take up some 12 selected stories from all of my stories. I would advise you to take

(१) आत्माराम, (२) बूढ़ी काकी, (३) पंच परमेश्वर, (४) सुजान भगत, (५) शतरंज के खिलाड़ी, (६) मन्दिर और मसजिद, (७) रानी सारंधा, (८) विक्रमादित्य की कटार, (६) कामना तरु, (१०) डिग्री के रुपये, (११) बड़े घर की बेटी, (१२) दुर्गा का मन्दिर।

You will find these stories dispersed in all collections, namely प्रेमप्रसून, प्रेमपचीसी, प्रेमपूर्णिमा, सप्तसरोज, नवनिधि and the file of *Madhuri*. I am sure this collection will be welcome to the Marathi reading public.

पत्र संख्या २

'माधुरी' कार्यालय,
नवलकिशोर प्रेस,
लखनऊ।
16—2—1928.

...yes, you may translate the stories. I hope you will get a sufficient number of them in *Madhuri*. You may select some 12 of them and try..........If you can get hold of my collections in any library, select पंच परमेश्वर, हरदौल, दुर्गा का मन्दिर, मन्दिर और मस्जिद, कामना तरु, सुजान भगत, सती, लैली (Saraswati), बड़े घर की बेटी etc.

Please let me know whether you have selected and commenced work.

पत्र संख्या ३

Madhuri office,
N. K. Press Book Depot,
Lucknow.
4—4—1928.

...you may translate *Agni samadhi*, *Mantra* or other stories appearing in contemporary periodicals. You have asked me to name 12 of my best stories. Here is a bit—

(१) राजा हरदौल, (२) रानी सारंधा, (३) सौत, (४) पंच परमेश्वर, (५) आत्माराम, (६) मन्दिर और मसजिद, (७) दुर्गा का मन्दिर, (८) ईश्वरीय न्याय, (६) नमक का दारोगा, (१०) सती, (११) कामना तरु, (१२) लांछन, (१३) मन्त्र।

In my opinion these are the 12 best of my stories. But of course the selection is not final. It is only off-hand.

पत्र संख्या ४

'माधुरी' कार्यालय,
नवलकिशोर प्रेस,
लखनऊ।
12—6—1928

......I am glad you are proceeding with my stories. You will be glad to see 'Actress' translated in the '*Modern Review*' of this month. Some of the stories have been translated in Japanese language.

पत्र संख्या ५

Aminuddoula Park,
Lucknow.
2-5-1930.

......yes, you may now take up the 2nd. part. Do you receive *Madhuri* every month ? I think 'घर जमाई', 'घासवाली', 'लुचड़' etc. are decent stories. Which collections of mine are with you ? I have recently brought out 'पाँच फूल', 5 of my stories. Another collection is *Premkunj*. *Hans* had my 'जुलूस' which was very much liked here. 'माँ' appeared in *Madhuri* and was much liked. Is there any library containing all my works ? If so, the work of selection would be facilitated. First you may take these *Madhuri* ones.

पत्र संख्या ६

Aminuddoula Park
Lucknow
21—5—1930.

'घासवाली' was appreciated generally. You include it. One or two other stories too have been much liked these days. But the collections I have mentioned and which will reach you, contain enough material for you. *Hans* is being appreciated but the number of subscribers is not rising as expected. We are not disheartened, however.

× × ×

आशा है, उपर्युक्त उद्धरण पाठकों को—विशेषकर स्व० प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य के प्रेमियों को—मनोरंजक, उद्बोधक एवं कुतूहलवर्द्धक प्रतीत होंगे।

श्री प्रेमचन्द जी का कला के प्रति दृष्टिकोण

[लेखक—श्री देवीशंकर वाजपेयी]

श्रद्धेय प्रेमचन्द जी से मेरा व्यक्तिगत परिचय न था—यद्यपि स्वयं कष्ट सहकर की हुई उनकी समाज-सेवाओं से सभी परिचित हैं। भारत के लेखकों ने उन्हें गोर्की तथा हार्डी माना है; मैं इसे साहित्य का अपमान समझता हूँ। हाँ, यदि मुझे गोर्की पर कुछ लिखना होता तो मैं उन्हें प्रेमचन्द बनाता। मेरे लिए उपमान प्रेमचन्द हैं, उपमेय गोर्की या हार्डी, अतः मैं न तो व्यक्तिगत रूप से कुछ श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकता हूँ, और न यही चाहता हूँ कि तुलनात्मक दृष्टि से उनका मूल्य आँकूँ। साहित्य-प्रेमियों की उन पर 'ममता' थी। हमें तो अपनी ही वस्तु स्वभावतः सर्वश्रेष्ठ लगती है, वहाँ तुलना का स्थान कहाँ! पर कला के प्रति उस कलाकार के क्या सिद्धान्त थे, यही दिखाना यहाँ अभीप्सित है।

किसी भी कला का अध्ययन हम उसके विषय, बाह्यरूप, तथा उसके निर्माता के दृष्टिकोण की ओर दृष्टि रखते हुए कर सकते हैं। वैसे तो कला जीवन की अवहेलना करके भी अपना अस्तित्व किसी-न-किसी प्रकार बनाये रख सकती है, पर यदि उसके द्वारा कलाकार को अमर होना है तो उसका विषय जीवन तथा समाज से दूर नहीं जा सकता। श्री प्रेमचन्द जी का महत्व हम यहीं से देखने लगते हैं जब कि आदर्शोन्मुखी चित्तवृत्ति से प्रभावित होकर उन्होंने इस बात का सदैव ध्यान रखा कि उनकी कला समाज के लिए सदैव 'शिवं' के रूप में रहे। कला के कतिपय समालोचक तथा कलाकार शीघ्र ही बोल उठेंगे कि, पर शिवता को व्यक्त करने का उचित माध्यम कला नहीं। कलाकार शिक्षक नहीं हो सकता। उसे अधिकार है कोई भी विषय चुनने का, दूषित अथवा कल्याणप्रद, यथार्थ अथवा आदर्श। कला को आनन्दोत्पादक होना चाहिए, बस। हाँ, पर दूषित वातावरण में प्रसन्न होना रुग्ण अन्तःकरण का परिचायक है। वैसी कला अधिक-से-अधिक कर्मेन्द्रियों में क्षणिक कम्पन उत्पन्न कर सकती है पर हम उसे आनन्द नहीं कह सकते। इतिहास इसका साक्षी है। महान् कुत्सित-जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य में भी जीवन-सन्ध्या की ओर सद्भावों का उदय होता हुआ पाया गया है। एक में नहीं, सहस्रों में। तात्पर्य्य यह कि मानव-जीवन की अमर थाती कलुषित भाव नहीं, वरन् सद्भाव है। जीवन की यथार्थता इसी आदर्शता में है। अतः श्री प्रेमचन्द जी का आदर्शवाद को अपना ध्येय बनाना जीवन के मूल तक पहुँचकर जीवन की वास्तविकता को पाना था। हमारी वास्तविक मनोवृत्ति का वह अध्ययन कर सके थे; हमारा अमर आदर्श ही

उनकी कला का यथार्थवाद था और इसीलिए हमारे लिए वह आज अमर हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हमारी दृष्टि में अथवा कलाकार की दृष्टि में कलुष तथा बुराइयों का जीवन में कोई स्थान नहीं। श्री प्रेमचन्द जी ने प्रत्येक को स्थान दिया। यह सब कलाकार कर सकते हैं; पर उन्होंने वह किया जो बहुत कम कलाकार कर सकते हैं, अर्थात् उन्होंने सबको स्थान दिया पर सबका स्थान उचित था। यदि उन्होंने कुरुचिपूर्ण बातों का समावेश कला में किया तो उनमें इतनी प्रतिभा थी कि वह हमें उसकी ओर लालसा भरी दृष्टि से नहीं वरन् घृणा की दृष्टि से देखने के लिए बाध्य करते हुए जीवन को परिष्कृत बना सके; यदि उन्होंने अन्याय को स्थान दिया तो उसका पक्ष कभी नहीं लिया; क्रूरता की विजय कराकर उन्होंने हमें हताश नहीं किया। उनकी 'सुमन' कुलीन स्त्री को वेश्या नहीं बना सकती, वेश्या अवश्य उसकी दशा पढ़कर पवित्र जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करेगी। संसार का कल्याण या तो हम आदर्शों की सृष्टि करके कर सकते हैं या बुराइयों की ओर संकेत करके। प्रेमचन्द जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी पर वे हमें सबसे अधिक प्रिय इसलिए हैं कि हमारी बुराइयों की ओर संकेत करके हमारा उपहास करना उनका उद्देश्य न था। चाहे उन्होंने बुराई का चित्रण किया अथवा अच्छाई का, उनकी समाज के प्रति उपकार की भावना की ओर कोई भी सन्देहभरी दृष्टि से नहीं देख सकता। इसीलिए तो उनकी कला आनन्ददायक भी है और कल्याणकारी भी। किसी समालोचक ने एक लेखक के विषय में कहा है—'मुझे इस बात पर आक्षेप नहीं है कि उसने कुत्सित चरित्रों का चित्र खींचा, मुझे आक्षेप इस पर है कि उसने उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखा।' श्री प्रेमचन्द जी पर ऐसा कोई दोष नहीं लगाया जा सकता।

बाह्यरूप के अन्तर्गत शैली इत्यादि का प्रश्न आता है। श्री प्रेमचन्द की शैली का विस्तृत विवेचन करना यहाँ ध्येय नहीं अतः संक्षेप में उनके विषय में वही कहा जा सकता है जो किसी लेखक ने श्रेष्ठ गद्य-लेखक की विशेषताओं को बताते हुए लिखा है—

'लेखक का अभीष्ट हृदयंगत भावों का प्रकटीकरण होता है। अपने इस ध्येय-प्राप्ति की आकांक्षा के कारण उसमें प्रसाद गुण का बाहुल्य रहता है जिससे उसके भाव अस्पष्ट न रह जायँ......इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रचना में अलंकार अथवा भावावेश को स्थान न मिलना चाहिए। जब लेखक अधिक प्रभावित होता है तो उसकी भाषा में कवित्व की एक छटा तथा एक शक्ति आ जाती है, जब उसका निरीक्षण विस्तृत तथा सूक्ष्म होता है तब उसकी भाषा में चमक तथा स्पष्टता आ जाती है, जब उसकी कल्पना-शक्ति जागृत होती है तब बहुत ही स्वाभाविक रीति से अलंकृत भाषा उसके मुँह से निकल पड़ती है।' श्री प्रेमचन्द की मिश्रित भाषा ऐसे ही अभिप्रायों की पूर्ति करती है। उक्त दृष्टिकोण मानो उन्हीं का दृष्टिकोण था।

व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत बातों में महान् अन्तर है। कला में, जो केवल अपने ही लिए न हो, हम व्यक्तित्व की सत्ता मानते हैं, व्यक्तिगत जीनव की सत्ता नहीं। हममें से प्रत्येक को जीवन में कुछ सुखद तथा कुछ दुःखद अनुभव होते हैं। व्यक्तिगत भावों तथा विचारों के बिना मनुष्य एक चलती-फिरती प्रस्तर-मूर्ति के समान है; पर हमारी इस व्यक्तिगत जीवनचर्य्या को कला में सीधा स्थान न मिलना चाहिए। वास्तविकता यह है कि व्यक्तिगत आशा या निराशा जन्य भाव हमारे व्यक्तित्व पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं,—यहाँ तक कि हम अपना एक विशेष व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेते हैं। श्रद्धेय प्रेमचन्द की अपनी कठिनाइयों से हम अपरिचित नहीं हैं; उन्हें जीवन में एक नहीं अनेकों दुःख उठाने पड़े थे, पर—और यहीं पर हमें सजल नेत्र होना पड़ता है—उन्होंने कला को अपनी दुःख-कहानी कहने का आधार कभी नहीं बनाया। उन्होंने

लिखा सबसे अधिक पर उनकी रचनाओं से हम सीधे-सीधे उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाएँ बहुत कम जान पाते हैं। दूसरी ओर उनके अपने अनुभवों ने उन्हें संसार के दुःखों की ओर सहानुभूति प्रगट करने के लिए कहा। उसमें उन्होंने अपने को 'खो' दिया—सोना अग्नि से निकला और भी दीप्त होकर। उनकी कला द्वारा हम लोगों ने उनका व्यक्तित्व ही देखा, उनका व्यक्तिगत जीवन नहीं। कला की इससे बड़ी सफलता और कोई नहीं हो सकती। वर्तमान गद्य तथा पद्य के बहुत से भाग के जीवित रहने के विषय में जब हम निराशासूचक भाव प्रकट करते हैं तो उसका यही कारण है कि प्रायः लेखक अपना ही रोना रोने में लगे दिखाई पड़ते हैं। श्री प्रेमचन्द जी की रचनाओं के अमर होने के विषय में दो सम्मतियाँ हो ही नहीं सकतीं। रचनाएँ उन्होंने कीं पर वास्तव में हैं वे समाज की, मानो समाज ने ही अपने हृदय तथा मस्तिष्क की साकार मूर्ति बनाकर उसे 'प्रेमचन्द' का नाम दे दिया हो।

प्रेमचन्द जी को जैसा हमने देखा

[लेखक—श्री बैजनाथ केडिया]

बहुत दिनों की बात है, उस समय की, जब कि आज के स्वर्गीय प्रेमचन्द जी उर्दू दुनिया में अपनी लेखनी के चमत्कार दिखाकर पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे पर हिन्दी संसार में जो सम्मान उन्हें मिलनेवाला था वह अभी भविष्य के गहरे अन्धकार में ही छिपा हुआ था।

यह बात ठीक है कि हिन्दी मासिक पत्रों में आपकी कहानियाँ प्रकाशित होने लगी थीं और हिन्दी पाठक भी इस प्रतिभाशाली लेखक की ओर टकटकी लगाये निहारने लगे थे। पर तब तक श्री प्रेमचन्द जी अद्वितीय कहानी लेखक ही माने जाते थे और सो भी समाचार-पत्र-संसार में ही।

ऐसे ही समय में भाई महावीरप्रसाद जी पोद्दार के द्वारा हिन्दी पुस्तक एजेंसी का जन्म हुआ और सबसे पहले वे श्री प्रेमचन्द जी की सात अनोखी कहानियों का एक संग्रह 'सप्त सरोज' के नाम से लेकर हिन्दी जनता के सामने आये।

हो सकता है, उनकी किसी रचना का अन्य किसी स्थान से भी इसके पूर्व प्रकाशन हुआ हो पर एजेंसी के द्वारा निकली हुई इस पुस्तक को लोगों ने खूब पसन्द किया और श्री प्रेमचन्द जी की लेखनी का उन्होंने पूरा महत्व समझा। इसके बाद उनका कहानी लिखना बराबर जारी रहा। जैसे जैसे हिन्दी संसार को उनका परिचय होता गया वैसे वैसे उनकी कहानियों की माँग बढ़ती चली गई।

कुछ दिन बाद भारत का वह वर-पुत्र अपना पहला उपन्यास 'सेवासदन' लेकर हिन्दी माता के मन्दिर के द्वार पर उपस्थित हुआ। माता ने उनकी इस अनुपम भेंट को सादर ग्रहण करके उन्हें इस पहली रचना पर ही उपन्यास-सम्राट की उपाधि से विभूषित करके गुण-ग्राहकता का परिचय दिया। सौभाग्यवश एजेंसी को ही मातृ-मन्दिर के दूत की तरह इस भेंट को उन तक पहुँचाने का अवसर प्राप्त हुआ था।

'सेवा सदन' के प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार में एक हलचल-सी मच गई। बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा इसकी आलोचना प्रति-आलोचना हुई। कोई उनके पक्ष में था और कोई विपक्ष में, परन्तु अन्त में गहरी कसौटियों पर कसे जाकर भी वह खरा उतरा। माता के आदेशानुसार हिन्दी संसार ने इस एक रचना के आधार पर ही उन्हें उपन्यास-सम्राट् मान लिया। फिर तो

उनकी दूसरी रचना 'प्रेमाश्रम' के प्रकाशित होते ही मौलिक रचनाओं में उनका स्थान अन्य भाषाओं के अच्छे-से-अच्छे विद्वानों के समकक्ष रखा जाने लगा।

इतना मान मिला, पर जिसको मान मिला उसको इसकी कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। श्री प्रेमचन्द जी को देखकर, उनके सम्पर्क में आकर, कोई भी इस बात का सहज में विश्वास नहीं कर सकता था कि यह सीधे-सादे आदमी इतनी ऊँची रचना कर सकते हैं।

इसके बाद की बात है। एक बार काशी जाने का मौका मिला। शायद उस समय तक एजेंसी की शाखा वहाँ स्थापित नहीं हुई थी। श्री प्रेमचन्द जी एक भाड़े का मकान लेकर उस समय काशी में ही रहते थे। मैं उन्हीं के पास ठहरा था। पहले दिन जब मैं वहाँ गया, मैंने देखा, जिस व्यक्ति की इतनी ख्याति हो रही है, वह कमरे के बाहर बरामदे में एक चटाई पर बैठे कुछ लिख रहे हैं।

उस समय की उनकी वह सादगी मुझे बहुत ही भाई। जिस मनुष्य में इतनी अधिक सरलता और सीधापन हो यदि उसकी लेखनी से ऐसी ऊँची रचना निकल पड़े तो इसमें आश्चर्य की क्या बात हो सकती है?

मैं भी उनके पास ही वहाँ उसी चटाई पर बैठ गया। बातों-ही-बातों में नई रचना के विषय में बात चल गई। मैंने पूछा—आज कल क्या लिख रहे हैं? उन्होंने अपने उसी सीधे स्वभाव से उत्तर दिया—यह तीसरा उपन्यास चल रहा है, इसके लिए मैं श्रीदुलारेलालजी को बात दे चुका हूँ। मेरी तो ऐसी इच्छा नहीं थी कि एजेंसी के सिवा किसी दूसरी जगह दूँ, पर बातों ही बातों में मैंने ज़बान दे दी।

मैं सच कहता हूँ उनकी इस तरह की विवशता देखकर मेरा और कुछ कहने का भी साहस नहीं हुआ। उनकी रचना थी, वह चाहे जिसे देते; तो भी जिस भाषा और शब्दों का उस समय उन्होंने उपयोग किया उसे सुनकर मुझे दुःख के बदले सुख ही अधिक हुआ।

इसके बाद उनकी एक से एक बढ़कर रचनाएँ निकलीं। लोगों ने समझा था, इस अनमोल खान में रत्नों की कमी नहीं है पर भगवान् को इस अद्भुत खान की समय से बहुत पहले ही आवश्यकता आ पड़ी। उन्होंने हिन्दी संसार की यह अमूल्य वस्तु छीन ली।

उनके स्वर्गवास के कुछ दिन पहले ही फिर उनसे मिलने का अवसर मिला। वे अपने पुराने निवास-स्थान को छोड़कर रामकटोरा के पास एक दूसरे स्थान पर चले गये थे। दोपहर का समय था। कई साल बाद मिलने का मौका मिला। पर आज जो उनकी शारीरिक अवस्था देखी, देखकर मन बहुत दुःखी हुआ।

जिन प्रेमचन्द जी के नाम से हिरण खोड़े होते हैं, वह अपनी आयु के अन्तिम दिन इस तरह निराशा में बिता रहे हैं यह बात हिन्दी संसार के लिए शोभा नहीं देती। पर वह मनीषी आत्मा तो उस समय भी अपनी उसी पुरानी मुद्रा में वर्तमान थी।

प्रेमचन्द जी चले गये। और भी दो दिन आगे पीछे सबको जाना है। पर हिन्दी भाषियों को जो कुछ वह दे गये हैं वह अमूल्य वस्तु है, और जब तक यह संसार में मौजूद रहेगी प्रेमचन्द जी यहीं हमारे बीच में ही विराजमान दिखाई देंगे।

प्रेमचन्द जी

[लेखक—श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, एम॰ ए॰]

स्मृति से विस्मृति कम उपयोगी नहीं। विश्व की सब चीज़ों की तरह स्मृति के भी दो पक्ष हैं।—एक पक्ष की उग्रता कभी-कभी दूसरे पक्ष की मृदुता से कहीं वेगवती होती है। ऐसी दशा में विस्मृति का स्पर्श साम्य स्थापित कर सकता है। यदि भुलावा हमारी सहायता न करे तो प्रेमचन्द ऐसे महान् व्यक्ति का विछोह सचमुच हृदय विदीर्ण कर दे।

प्रेमचन्द ऊँचे कलाकार ही न थे, ऊँचे मनुष्य थे। उनके निकट बैठने में अपूर्व स्वच्छ वायु आत्मा तक पहुँचती थी। उनकी सादगी में सरल चढ़ाव था। उनके मन और हृदय की सब कोठरियाँ खुली रहतो थीं। उनमें झाँकने की आवश्यकता न पड़ती थी; वह स्वयं सबको झाँकती थी। बातें करते-करते उनके नेत्र खिंच जाते थे। वे किसी अमूर्त अस्पष्ट चिन्तना को आकार देने लगते थे। अथवा हृदय के भाव-विभोरता की सहसा उड़ान को ऊपर देखने लगते थे। परन्तु कभी बात करनेवाले के साथ अशिष्ट नहीं होते थे। उपेक्षा का तनिक भी आभास न मिलता था। उनकी उस मुद्रा को देखकर कभी-कभी संदेह होने लगता था कि कोई पहुँचा हुआ संत बैठा है।

मैंने जब पहिले-पहल उन्हें देखा तो वे कानपुर मारवाड़ी विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। उनकी उस समय की वेशभूषा में और अंतिम समय की वेशभूषा में थोड़ा अंतर था। मैं बी॰ ए॰ का विद्यार्थी था और 'प्रताप' में स्वर्गीय गणेशशंकर जी का सहकारी सम्पादक। गणेश जी ने ही मेरा परिचय उनसे कराया था। गणेश जी में और प्रेमचन्द जी में कई अंशो में साम्य था। दोनों का एक ढाँचे का एक ही लम्बान-चौड़ान का दुबला शरीर था। दोनों विभूतियों के नेत्रों में ज्योति थी। दोनों के शिरों के केश बिखरे हुए सूखे दिखाई देते थे। प्रेमचन्द जी गोरे और गणेश जी साँवले थे। एक बात में और बड़ा साम्य था। मार्ग में दोनों व्यक्ति बड़े ज़ोर से चलने के अभ्यासी थे। गणेश जी के साथ तो चलने का बहुत बार अवकाश मिला, एक बार मुझे प्रेमचन्द जी के साथ भी चलने का अवसर मिला है। बनारस सेन्ट्रल जेल में मैं अपने छोटे भाई से मिलने जाया करता था। प्रेमचन्द जी का कांग्रेसी कैदियों से बड़ा स्नेह था। जितनी बार मैं काशी गया उनके आग्रह के अनुसार उनसे मिला। एक बार घर से अपने कार्यालय वह मेरे साथ पैदल गये। मुझे उनके साथ चलने में बड़ी कठिनाई हुई।

मेरा और प्रेमचन्द जी का अधिक परिचय हम लोगों के मित्र बाबू रघुपतिसहाय के

यहाँ हुआ। वैसे हम एक-दूसरे को पत्र द्वारा काफ़ी जानते थे। एक-दूसरे के साहित्यिक जीवन से परिचित थे। परन्तु इस बार एक साथ तीन दिन तक रहने का अवकाश मिला। हम दोनों संयुक्त-प्रान्तीय हिन्दुस्तानी एकेडमी के सदस्य थे और उसी के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रयाग गये हुए थे। उनके साथ के ये दिन मेरी याद के पृष्ठों में उनके बड़प्पन का अमिट इतिहास लिख गये हैं। प्रेमचन्द के जीवन के सब स्वरूपों को ध्यानपूर्वक देखने का अवकाश मुझे मिला। रघुपतिसहाय के एक-एक चुटकुले पर प्रेमचन्द जी के क़हक़हे के बादल फूट पड़ते थे, और वह एक बार नहीं हंसते थे, एक ही बात पर बार-बार हँसते थे। उनके क़हक़हे के घोष में सारी क्लान्ति डूब जाती थी।

हम लोगों ने केवल विनोद ही नहीं किया। कला और साहित्य पर काफ़ी विचार-विनिमय हुआ। मुझे उस दिन ज्ञात हुआ कि प्रेमचन्द कला-निर्माणक ही नहीं, कला-समीक्षक भी अच्छे हैं। समीक्षा के प्रत्येक स्वरूप के लिए उन्होंने सिद्धान्त स्थिर कर रखे थे। सम्भव है, उन्होंने पश्चिम के विद्वानों की कला और समीक्षा की नई पुस्तकों को न देखा हो, परन्तु जो कुछ भी वे कहते थे उसमें निजीपन और मौलिकता थी।

सबसे विशेष बात जो प्रेमचन्द जी में देखने में आई वह उनकी आत्म-नकार की वृत्ति थी। कभी कहीं भूल से भी उनके मुँह से एक वाक्य नहीं निकला जिसमें थोड़ी भी आत्म-प्रदर्शन की बात हो। आत्म-विज्ञापन और आत्मश्लाघा तो बहुत दूर की वस्तुएँ हैं। उनके पास बैठकर बड़प्पन-जनित दूरत्व का आभास तक न होता था। वह हम सबसे घुल मिले और हम सबके समान ही दिखाई देते थे, और फिर भी बहुत ऊँचे थे।

प्रेमचन्द जी अपने विचारों में बड़े तार्किक और चिन्तना में बड़े हेतुवादी थे। पुरानी रूढ़ियों की बहुत मखौल उड़ाते थे। उनमें बड़ा अध्यवसाय था। चिन्तना का उनमें व्यसन था।

मानव-जीवन में उनकी गहरी पैठ थी। एक सहारे से वह बहुत समझ लेते थे। एक बात को वह खूब सुन लेते थे। उनकी सजगता का प्रवाह उबल कर विश्व के कोने-कोने में छलक चुका था। उनकी राग-वृत्ति न जाने कितने स्वरूपों और कितनी घटनाओं में आबद्ध थी। उन्होंने जो कुछ भी देखा, अच्छी तरह देखा। उन्होंने जो कुछ भी सुना, भलीभाँति सुना। उनकी ज्ञान-इन्द्रियों की परख में जो कुछ भी आया उसके सार तक वह पहुँच गये और उसे जैसे का तैसा खोल कर रख दिया। उनकी प्रतिबिम्बन-शक्ति वैसी ही निर्मल थी जैसी उनकी प्रक्षिपण-शक्ति।

हमें यहाँ उनकी कला की समीक्षा करना इष्ट नहीं। वह फ़ुरसत की बात है। हमें तो उनका रूप अब भी दीख जाता है। उनका अट्टहास कानों में गूँज जाता है। उन्होंने सारे झटकों को सुख के मुस्कान में झेला है। सम्भव है कि कहानी और उपन्यास लेखकों में हमें प्रेमचन्द और भी आगे मिल जायँ, उनसे भी अच्छे कलाकार मिलें। परन्तु हमें प्रेमचन्द नहीं मिल सकते। कला किसी व्यक्ति में जन्म ले सकती है पर कला व्यक्ति को जन्म नहीं दे सकती।

प्रेमचन्द की कहानी-कला

[लेखक—श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त]

कहानी का जन्म पूर्व में हुआ। आजकल भी सिन्दबाद और अलादीन अथवा हितोपदेश की कहानियों से हमारा मनोरंजन होता है। परन्तु आधुनिक साहित्यिक-गल्प कई शताब्दियों तक पश्चिम की यात्रा कर अब पूर्व को लौटी है। सेंट्सबेरी के कथनानुसार कहानी के चार अंश होते हैं। कथानक (plot), चरित्र-चित्रण (character), वार्ता (dialogue) और वर्णन अथवा वातावरण (description)। पश्चिम के, विशेषकर इङ्गलैण्ड के, कहानीकारों का कथानक फूहड़ होता है। चरित्र-चित्रण ही उनका सफल होता है। टैगोर अथवा शरत्चन्द्र के उपन्यासों में जो रस मिलता है, वह कभी पश्चिम के बड़े कलाकारों में भी नहीं।

यह स्वाभाविक-सी बात मालूम होती है कि पूर्व में फिर उत्कृष्ट कहानी-लेखकों का जन्म हो, क्योंकि इस कला में हमारे पूर्वज सदा से निपुण रहे हैं। केवल कहानी का रूप कुछ बदल गया है।

प्रेमचन्द ने 'मानसरोवर' के 'प्राक्कथन' में लिखा है—'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' 'प्रेम-द्वादशी' की भूमिका में आपने लिखा है—'वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।' प्रेमचन्द का विशेष महत्व यह है कि अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने भारत की आत्मा को सुरक्षित रखा है।

उनकी रचनाओं का स्मरण करते ही भारत के ग्राम, यहाँ का कृषक-वर्ग, उच्च-कुल की ललनाएँ, आम और करौंदे के पेड़, यहाँ के पशु-पक्षी स्मृति-पट पर घूम जाते हैं। आपकी रचनाएँ पढ़ कर देश के मनुष्य और पुराने आदर्श हमारी दृष्टि में ऊपर उठ जाते हैं।

प्रेमचन्द और सुदर्शन दोनों ही पहले उर्दू में लिखते थे। 'सप्त-सरोज' और 'सेवासदन' का उपहार देकर प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया। इन रचनाओं में जो रस, अनुभूति और प्रतिभा है, उसके आगे प्रेमचन्द कभी न बढ़ सके।

उपन्यास और गल्प-भिन्न कला हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प-लेखक भी हो। उपन्यास में जीवन का दिग्दर्शन होता है, गल्प में केवल झाँकी मात्र होती है। मानव-चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है। जीवन के सभी अंगों पर या मानव-चरित्र की सभी

जटिलताओं पर कहानी प्रकाश नहीं डाल सकती। प्रेमचन्द लिखते हैं—'कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।'

प्रेमचन्द सफल उपन्यासकार और गल्प-लेखक थे। इस लेख में हम उनकी कहानी-कला पर कुछ विचार करेंगे।

(२)

'सप्त-सरोज' प्रेमचन्द का पहला कहानी-संग्रह है। इसके विषय में शरच्चन्द्र ने यह सम्मति दी थी—'गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भावपूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है। पर और कोई भी बँगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता है या नहीं, इसमें सन्देह है।'

रवि बाबू की भाषा में जो माधुरी और रस है, उनकी रचना में जो अनुभूति और पीड़ा है, उसकी समता प्रेमचन्द नहीं कर पाते। रवि बाबू विश्वसाहित्य के महारथी हैं। यदि उनकी तुलना में प्रेमचन्द बराबर नहीं उतरते, तो हिन्दी के लिए कोई अपमान की बात नहीं।

परन्तु प्रेमचन्द की रचना में अपने अनेक गुण हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। ग्रामीण कृषकों का हृदय कौन इतनी अच्छी तरह जानता है? गाँधी के अतिरिक्त और किसने इतनी तपस्या से ग्राम्य-जग को पहचाना है? 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के ऐक्य का ऐसा चित्रण और कहाँ मिलेगा?

ग्राम्य-जग का चित्र खींचते हुए आप कहते हैं—'वहाँ आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज दाँते थे, और जब चाहते भूसे में मुँह डालकर अनाज का एक गाल खा लेते थे। गाँव के बढ़ई और चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजा बजाकर अपने कर्तब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमङ्ग पर थी।'

—'उपदेश', 'सप्त सरोज।'

इस संग्रह में दो कहानियाँ तो बड़ी ही उच्च कोटि की हैं: 'बड़े घर की बेटी' और 'पंच परमेश्वर'। किसी भी साहित्य को ऐसी रचनाओं पर गर्व हो सकता है।

'बड़े घर की बेटी' छोटे से गाँव में आई, जहाँ न वह रेशमी स्लीपर पहन सकती थी, जहाँ नाम के लिए कोई सवारी भी न थी। न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवारों पर चित्र। फिर भी उसने यहाँ की गृहस्थी सम्हाल ली। एक बार खाना बनाते समय देवर से कहा-सुनी हो गई और उसने आनन्दी को खड़ाऊँ खींच मारा। वह बहुत रोई। उसके पति भी झल्लाये। घर से अलग होने की नौबत आ गई। अब उसका देवर भी पछता रहा था और आँसू बहा रहा था। आनन्दी पिघली। उसने बीच-बचाव कर शान्ति करवा दी।

मानव स्वभाव का बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्र है। प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़ कर मनुष्य पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है। वास्तविकता और आदर्शवाद का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। हम यह कभी नहीं सोचते कि यह चरित्र कल्पना-जग के हैं। उनके वर्णन में वास्तविकता होती है; कहानी का बाह्य रूप जीते-जागते संसार-सा; आत्मा आदर्शपूर्ण।

जो कथा-शैली प्रेमचन्द ने यहाँ अपनाई उसको अन्त तक निभाया। 'बड़े घर की बेटी' एक हद तक कठोर होती चली जाती है, फिर अत्यन्त नम्र हो जाती है। जैसे कोंपे की पची

जितने ज़ोर से खींची जायगी, उतनी ही वह उचटेगी। या धनुष की प्रत्यञ्चा जितनी ही खींची जायगी उतनी ही दूर वह बाण को फेंकेगी। उनकी इस शैली को गणित की रेखाओं से समझ सकते हैं। एक हद तक कथा का चढ़ाव होता है; फिर वह पीछे हट जाती है।

इसी प्रकार 'पंच-परमेश्वर' भी एक हद तक गिरते हैं, फिर सँभल जाते हैं। अभी पिछले पाँच-छः वर्षों में लिखी हुई कहानियों के संग्रह 'मान-सरोवर' में भी इसी शैली की अनेक गल्पें मिलती हैं।

प्रेमचन्द में सच्चे साहित्यकार की सब अनुभूतियाँ थीं। मनुष्य-स्वभाव पर उन्हें श्रद्धा थी। कसौटी पर चढ़ कर मनुष्य सच्चा ही उतरता है। उदाहरणार्थ, कुछ बाद की लिखी कहानी, 'ईश्वरी न्याय।'

उनकी भाषा ग्रामीण-जीवन-सी ही सीधी-सादी है। उनकी उपमाएँ दैनिक जीवन से ली गई हैं। 'जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा सी बात पर तिनक उठता है।' (बड़े घर की बेटी) 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर भी कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है।' (सौत)

भाषा मुहाविरेदार काफ़ी है। 'पहले घर में दिया जलाते हैं, फिर मस्जिद में।' कहीं-कहीं पर बड़ा कोमल व्यंग है : 'इञ्जिनियरों का ठेकेदारों से कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मधुमक्खियों का फूलों से। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। कमीशन और रिश्वत में बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों ही का सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय......।'. (सज्जनता का दण्ड)

'सप्त-सरोज' में प्रेमचन्द की कहानी-कला का जो रूप बना वह अन्त तक बना रहा। इधर कुछ उनमें परिवर्त्तन होने लगा था, किन्तु अनेक वर्षों तक उनकी कथा के पात्र ऐसे ही वातावरण में ऐसे ही स्वरूप से भ्रमण करते रहे।

(३)

'नव-निधि' में बहुत करके ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। कहानियाँ सभी मनोरंजक हैं। किन्तु प्रेमचन्द की गल्प-कला इन कहानियों में उतनी उच्च-कोटि की नहीं। कथानक के उतार-चढ़ाव में और चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना को उतनी स्वतंत्रता नहीं। प्रेमचन्द की कहानी-कला का एक विशेष गुण कथानक-गुंफन है। क़सीदे के समान घटना का जाल उसकी कल्पना बनाती है। किन्तु यहाँ कल्पना बँध-सी गई है।

ऐतिहासिक कहानी की नस्ल खच्चर के समान है। न वह इतिहास ही, न सफल कहानी ही। Leslie Stephen ने उसे hybrid (मिश्रित रक्त की) बताया है। ऐतिहासिक कहानी तब सफल होती है, जब ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना के चरित्र विचरें। ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानी-कार अपनी सब स्वतन्त्रता खो देता है। 'नव-निधि' में धोखा नाम की कहानी सुन्दर है। शायद इसके पात्र और इसका कथानक कल्पित हैं।

'नव-निधि' की पिछली तीन गल्पें 'अमावस्या की रात्रि' 'ममता' और 'पछतावा' प्रतिभा-पूर्ण हैं इनमें प्रेमचन्द की स्वाभाविक कहानी-कला का चमत्कार है। जो शैली उन्होंने 'सप्त-सरोज' में अपनाई थी उसी को सफलतापूर्वक निबाहा है। इनमें मनुष्य के हृदय की, उसके भावों की अच्छी सूझ है।

ऐतिहासिक कहानियाँ अधिकतर मुग़ल साम्राज्य के मध्याह्न-काल की हैं। पहली दो कहानियाँ 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा' बुन्देलों की वीरता और आन से ओत-प्रोत हैं। इन कहानियों को पढ़कर मन में राजपूताने की वीर-कथाएँ हरी हो जाती हैं।

'प्रेम-पूर्णिमा' में प्रेमचन्द की कहानी-कला में कुछ विकास न हुआ। अधिकतर कहानी सुगठित हैं और 'सप्त-सरोज' के पथ पर चली हैं। 'ईश्वरी न्याय', 'शंखनाद', 'दुर्गा का मन्दिर' 'बेटी का धन', आदि कहानी 'पंच-परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी उत्कृष्ट कहानियों से टक्कर लेती हैं। 'शंखनाद' और 'दुर्गा का मन्दिर' तो प्रेमचन्द जी ने अपने 'प्रेम-द्वादशी' नामक बारह सर्वोत्तम कहानियों के संग्रह में भी रखा है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'सप्त-सरोज' और 'प्रेम-पूर्णिमा' के बीच उनकी कला का कुछ ह्रास ही हुआ। अधिकतर कहानियाँ पुरानी लिखी हुई जान पड़ीं। अथवा यह हो सकता है कि उनकी कला एक परिपाटी का शिकार होकर उन्नति नहीं कर सकी। जीवित कला सदा प्रगतिशील होती है।

प्रेमचन्द का विशेष गुण उनका मनोविज्ञान है। हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव समझने में वे निपुण हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि गल्पें इसी सूझ के कारण सफल हैं।

जहाँ ग्राम्य-जग की ओर प्रेमचन्द ने मुख मोड़ा है, वहाँ उन्होंने आशातीत सफलता पाई है। 'शंखनाद' नाम की कहानी में ग्राम्य-जीवन का विशद वर्णन है। पात्रों के नाम तक में ग्रामीणता भरी है। उनके नामों से हमें काफ़ी सन्तोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के वितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचने वाला गुरदीन ; गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फँसाना, दंगल में भाग लेना। इस ग्राम्य-जीवन के चितेरे में अवश्य ही दैवी शक्ति है।

किन्तु बार-बार हमारे मन में उठता है कि प्रेमचन्द मध्य-वर्ग के मनुष्यों को नहीं पहचानते, विशेषकर नगर के मध्य-वर्ग को। न इनसे प्रेमचन्द को कुछ सहानुभूति ही है। जिस प्रकार ग्राम में इतनी पीड़ा होते हुए भी ग्रामीण के हृदय में उदारता है, उसी तरह अनेक नागरिक भी हृदय की काव्य-तरंगें छिपाए पड़े हैं। रवि बाबू इन्हें खूब पहचानते हैं।

प्रेमचन्द की विशेष अ-कृपा उन व्यक्तिओं पर है जो पश्चिम की संस्कृति के दास हो चुके हैं। उन्हें नीति और धर्म का ज्ञान नहीं। 'धर्म-संकट' नाम की कहानी में कामनी को अच्छी-भली अ-सती बना दिया है। जब देश में ऐसी जाग्रति हो रही है और अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति हमारा अनुराग बढ़ रहा है, तब ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक भी है।

परन्तु कलाकार पर एक विशेष उत्तरदायित्व होता है। कला, धर्म और नीति से भी परे है। 'प्रेम-पूर्णिमा' की कुछ कहानियों से हमें ऐसा भासित हुआ कि यदा-कदा उनकी कला धर्म आदि के आडम्बर से दब गई है। 'सेवा-मार्ग', 'शिकारी राजकुमार' और 'ज्वालामुखी' कुछ इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

कहानी के इतिहास में नैतिक कथा का स्थान बहुत नीचा है। 'हितोपदेश' और 'ईसॉप' की कथाएँ बच्चे ही अधिक चाव से पढ़ते हैं। इसी प्रकार टॉल्सटॉय ने अपनी कला को हानि पहुँचाई थी।

कभी-कभी तो ईसॉप की कथाओं के नैतिक विचार की भाँति प्रेमचन्द भी अपनी कहानियों का अन्त भाग मोटे अक्षरों में छापते हैं। 'यही ईश्वरी न्याय है' ; 'यह सच्चाई का उपहार है' ; 'यही महातीर्थ है' आदि।

हिन्दी के सौभाग्य से प्रेमचन्द की कला का यह रूप अस्थिर था। काल की गति के साथ वह भी गया। धर्म और नीति समय के अनुसार रूप बदल लेते हैं। कला का रूप इन सब से परे विश्व-व्यापी है।

'प्रेम-पचीसी' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द की कला में कुछ नए अणु दीखे। इन कहानियों के लिखने के समय सत्याग्रह का बवंडर चल रहा होगा। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का एक मनोहर अंश उनकी गान्धी-भक्ति है। अपनी कला से जो कुछ देश की सेवा वह कर सके उन्होंने की। 'सुहाग की साड़ी', 'दुस्साहस' आदि राजनीतिक रंग लिए कहानियाँ हैं। 'आदर्श-विरोध' और 'पशु से मनुष्य' भी इसी गहन समस्या पर विचार हैं। गान्धी आन्दोलन का सुन्दर रूप कला में कनु देसाई ने दिखाया। प्रेमचन्द की कला को भी हम इस देश-व्यापी संग्राम की प्रतिध्वनि से अलग नहीं कर सकते।

'मूढ़' और 'नाग-पूजा' में ऐसा लगता है कि शायद प्रेमचन्द जादू आदि पर विश्वास करते हों। जीवन में इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि मनुष्य की ज्ञान-बुद्धि चकरा जाती है।

प्रेमचन्द पशु-जीवन से भी भली-भाँति परिचित हैं। 'स्वत्व-रक्षा' एक घोड़े के चरित्र का दर्शन है। 'पूर्व-संस्कार' में जवाहर नाम के बैल का अच्छा वर्णन है। उनकी कहानियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

'दफ़्तरी', 'बौड़म', 'विध्वंस', आदि सूक्ष्म चरित्र-चित्र हैं। इस कला में प्रेमचन्द खूब दक्ष हैं। यदि ऐसे चित्र एकत्रित किए जायँ तो शायद ही जीवन का कोई अंग इनसे अछूता पाया जाय। 'प्रेम-पचीसी' की सर्वोत्तम कहानियों में 'बूढ़ी काकी' अवश्य गिनी जायगी। यह कहानी बड़ी सच्ची और मर्मभेदी है। 'लोकमत का सम्मान' उनकी अच्छी कहानियों से टक्कर ले सकती है।

किन्तु प्रेमचन्द को शायद 'आत्माराम' अधिक भाती थी। इसे उन्होंने 'प्रेम-द्वादशी' में भी स्थान दिया है। कहानी मनोरंजक है। किन्तु इसकी विशेषता घटना-प्राधान्य है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द का अपनी कला पर पूर्ण अधिकार है। कहानियों में एक प्रकार की सरलता-सी है। किन्तु जिस आशा को लेकर हम 'सप्त-सरोज' छोड़कर उठे थे, वह अभी पूर्ण नहीं हुई। कलाकार किसी एक लकीर का ही फ़कीर नहीं होता।

'प्रेम-प्रतिमा' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द ने उस आशा को पूरा किया।

(४)

'प्रेम-प्रतिमा' की कहानियाँ हिन्दी के उस जागृति-काल की हैं जब 'माधुरी' के प्रकाशन ने हिन्दी में नव-जीवन-संचार किया था। इन कहानियों में प्रौढ़ता, रस, विनोद सभी हैं।

'मुक्ति-धन', 'डिग्री के रुपए', 'दीक्षा', 'शतरंज के खिलाड़ी, आदि कहानियाँ उनकी कला के सर्वोच्च शिखर पर हैं। इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह प्रेमचन्द के जीवन का मधु-मास था। इन कहानियों में विचित्र स्फूर्ति और हृदय की उमंग है।

'बूढ़ी काकी' में विनोद की झलक है; हृदय की व्यथा भी है। इस संग्रह में अनेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें निरा विनोद-भाव है।

'मनुष्य का परम धर्म', 'गुरु-मन्त्र', 'सत्याग्रह' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इनमें हिन्दुओं के पूज्य पण्डों का अच्छा खाका खींचा है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द की भाषा भी खूब निखर गई है। मदिरा का वर्णन देखिए, 'सफ़ेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ़ और सोडावाटर से अलंकृत अरुण-मुखी कामिनी शोभायमान

थी।' (दीक्षा) और देखिए—'उषा की लालिमा में, ज्योत्सना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-विन्दु में भी वह सुषमा और शोभा न थी, श्वेत-हिम-मुकुटधारी पर्वतों में भी वह प्राण-प्रद शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् बिंध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।' (भूत) भाषा का प्रवाह काव्यमय हो गया है।

इस संग्रह की अनेक कहानियाँ मुस्लिम संस्कृति में रंगी हैं—'क्षमा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात' 'लैला'। प्रेमचन्द की शैली इस विषय के सर्वथा अनुकूल है। कुछ उर्दू साहित्य के बन्धन से, कुछ गान्धी के हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के पाठ से प्रेमचन्द मुसलिम संस्कृति को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' बड़े ऊँचे दर्जे की कहानी है। इसमें लखनऊ के नवाबी राज्य का सन्ध्या-काल दिखाया है। लेखनी में वही ओज और मार्मिकता है जो हम हसन निज़ामी की पुस्तक 'मुग़लों के अन्तिम दिन' में देखते हैं—"वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था तो कोई अफ़ीम की पीनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कला-बत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिसरी और उपटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़कीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है। विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं।"

'बाबा जी का भोग', 'मनुष्य का परम धर्म' और 'गुरु मन्त्र' प्रेमचन्द की शैली में भारी परिवर्तन की द्योतक हैं।। इनमें भावों के उतार-चढ़ाव, घटना-चक्र-व्यूह, मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ आदि कुछ नहा। यह जीवन की केवल झाँकी मात्र हैं। कहानी-कला का इनसे निकट सम्बन्ध है। इन्हे अंग्रेज़ी में Slices from life कहते हैं। जैनेन्द्र जी ने इसी कला को अपनाया है। कभी-कभी तो यह कहानी निबन्ध-मात्र होती हैं। इनका न कुछ आदि है, न अन्त है। केवल वास्तविक जीवन का एक टुकड़ा काट कर आपके सामने रख दिया गया है।

कला के सिद्धान्त छोड़ कर जो रस 'बड़े घर की बेटी' अथवा टैगोर की 'समाप्ति' जैसी कहानियों में है वह जीवन के इन अपूर्ण अवयवों में नहीं।

'मानसरोवर' में इस नवीन शैली की कहानियाँ यथेष्ट संख्या में हैं; 'मुफ़्त का यश', 'बड़े भाई साहब', 'गृह-नीति', 'ठाकुर का कुआँ', 'झाँकी', 'आखिरी हीला', 'गिला' इत्यादि। इन कहानियों का अन्त बड़ा स्वाभाविक है। जीवन में मृत्यु, आत्म-हत्या आदि ही नाटक का-सा अन्त नहीं होते। पहली कहानियों में प्रेमचन्द ऐसा अन्त बहुधा पसन्द करते थे।

'मानसरोवर' के प्राक्कथन में प्रेमचन्द ने कहा है, अब हिन्दी गल्प-लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन से बहुत निकट आ

गई है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए अब स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव, स्पर्शी चित्रण है।......'

इस शैली की कहानियों में 'गिला' बड़ी सुन्दर है। यह चरित्र-झाँकी है। भाषा प्रवाहमय है।

यह स्पष्ट है कि 'मानसरोवर' की रचना के काल में प्रेमचन्द अपनी कला के एक-छत्र अधिपति थे। 'गो-दान' से यह भावना और भी दृढ़ हो जाती है। 'अलग्योझा', 'ईदगाह' आदि कहानी उनकी रचना के शिखर पर हैं। यह लगभग उसी कोटि की हैं जिसमें शरत् बाबू की कहानी 'बिन्दो का लड़का'। वही स्वाभाविकता, वही सरलता, कथा में वही धारा-प्रवाह।

हिन्दी के दुर्भाग्य से जब प्रेमचन्द की कला इतनी परिपक्व, उनकी शैली इतनी प्रौढ़ और उनकी भाषा इतनी रसमय हो गई थी, उनका निधन हो गया।

(५)

कलाकार अपने स्वतन्त्र जग की सृष्टि करता है। एक क्षण के लिए प्रेमचन्द के सृजित संसार को देखिए।

'यहाँ कृषक-वृन्द ऋण और कष्ट से मुक्त, सुखी और स्वतन्त्र हैं। पूस की रात में वह आग के सामने तापते हुए पूर्वजन्म की कथा कहते हैं और सुख के गाने गाते हैं। ज़मींदारों का और सरकारी कर्मचारियों का मान-मर्दन हो चुका। वह किसी अतीतकाल की कथा के समान मिथ्या और दूर हैं। यह राम-राज्य का पुनरागमन है।

'मध्य वर्ग उदार, दयापूर्ण और सुसंस्कृत है। इनके जीवन पर भारत की प्राचीन संस्कृति की छाप है। यहाँ भारत की आत्मा भारतीय कलेवर में दीखेगी। पश्चिम के भौतिक रंग का यहाँ नाम-निशान भी नहीं।

'यदि इस संसार में कोई रईस हैं, तो वह बिड़ला-बन्धुओं की भाँति दानी और दयालु हैं।

'इस जग में कोई झगड़ा, कलह और अशान्ति नहीं। यहाँ हिन्दू और मुस्लिम एक दूसरे की संस्कृति को स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

यहाँ आपको सब प्रकार के जीव मिलेंगे। दफ़्तरी, धोबी, बौड़म, ओझे, किसान, कहार चमार ; किन्तु सब नीयत के साफ़ और हृदय के उदार।

मुस्लिम संस्कृति के यहाँ आपको बड़े उच्च आदर्श दीखेंगे। किस प्रकार दाऊद ने अपने पुत्र की हत्या करनेवाले को क्षमा कर दिया, तैमूर का पाषाण-हृदय कैसे हमीदा के विचारों से पिघला, लैला के संगीत से किस प्रकार फ़ारस का राजकुमार विमूढ़ होकर फ़कीर हो गया।

क्या यह जग केवल कल्पना-मात्र है? साम्यवाद के भक्त इस जग में विश्वास नहीं करते। यह गान्धीवाद है। केवल एक आदर्श है। किन्तु कलाकार तो मीठे स्वप्न ही देखा करता है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने प्रेमचन्द को मूक-जनता का प्रतिनिधि कहा है। रवि बाबू और शरद् बाबू से तुलना करने में यदि प्रेमचन्द कुछ हल्के उतरते हैं तो यह प्रेमचन्द अथवा हिन्दी की कोई मानहानि नहीं। प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्रामीण जग और किसानों का हृदय है। यहाँ वे

अद्वितीय हैं। किन्तु भावों की जिस गहराई में रवि बाबू अथवा शरद् बाबू पैठते हैं, वह अभी प्रेमचन्द की सीमा से बाहर थी।

मनुष्य में प्रेमचन्द का अटल विश्वास है। अपने संसार में अनेक उदार-चित्त मनुष्यों को उन्होंने बसाया है। अवसर पड़ने पर यह सब बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'पंच-परमेश्वर' अवसर पर कोई नीचा नहीं रहता।

इस प्रकार के चित्रण के लिए स्वयं अपने पास विशाल हृदय होना चाहिए। यही प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विभूति है।

प्रेमचंद का रचना-रहस्य

[लेखक—श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम. ए.]

प्रत्येक साहित्य में समय-समय पर ऐसे लेखक और कवि हो गए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तिओं, राष्ट्रीय भावनाओं एवं सदाचार का व्यापक चित्रण किया है। समाज के विभिन्न अवयवों की कालविशेष में कैसी परिस्थिति थी, राजनीतिक क्षेत्र में किस प्रकार अनेक मानसिक विचारों के घात-प्रतिघात चल रहे थे और शासक-शासित का कैसा सम्बन्ध था, और उस समय के व्यष्टि तथा समष्टि के धार्मिक आचरण में किन बाह्य आभ्यन्तरिक प्रवृत्तियों का कैसा प्रभाव पड़ रहा था—इनका विस्तृत परिचय उनकी कृतियों से प्राप्त होता है।

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्दजी भी इसी प्रकार के विशिष्ट लेखकों की कोटि में थे। उन्होंने अपने रचना-विस्तार में एकरस हो कर सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। वे वर्तमान काल के सच्चे और सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। कालान्तर में यदि इस समय का इतिहास लुप्त हो जाय और इनकी रचनाएँ बची रह सकें तो इन्हीं के आधार पर विचार-शील निर्णायक देश की सामाजिक जाग्रति का व्यापक और स्पष्ट आभास प्राप्त कर सकता है। प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों और कहानियों के कथा-प्रवाह में समयानुसार स्थान-स्थान पर भारतीय समाज के मानसिक चिंतन तथा व्यावहारिक क्रिया-कलाप का यथार्थ चित्रण किया है। इन चित्रों के प्रमाण का योग लेकर कोई भी उनके व्यापक अनुभव और परिपक्व बुद्धि-बल का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रवाह और परिवर्तन के मूल में किस समय कैसी भावना काम करती है और उसका परिणाम तत्कालीन व्यवस्था पर कैसा पड़ता है, इसका ज्ञान प्रेमचंदजी को पूरा-पूरा था।

आज भारतवर्ष में शासक-शासित की स्वच्छन्द प्रवृत्ति अविश्वासपूर्ण एवं कलुषित दिखाई पड़ती है। राजा और प्रजा के बीच व्यापक आन्दोलन हो रहे हैं और राष्ट्रीय जाग्रति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। ज़मीन्दारों और धनिकों में अपने अन्यायपूर्ण पक्ष के प्रति आशंका उत्पन्न होने लगी है। वे समझते हैं कि अर्थ-शोषण की पक्षपात-पूर्ण नीति भविष्य में भयंकर उपद्रव और विरोध खड़ा करेगी। कृषकों और दुर्बल धन-हीनों के संगठन का महत्व वे समझने लगे हैं। इधर असहाय-पक्ष भी यह समझने लगा है कि हमने बहुत सहन किया है अब विरोध और संगठन की परमावश्यकता है। दूसरी ओर मिल मालिकों और मज़दूरों का संघर्ष नित्य वृद्धि पाता जा रहा है। परस्पर अविश्वास की मात्रा निरन्तर बढ़ रही है। इस प्रकार धनिक,

श्रमिक, राजा-प्रजा एवं भूपति, कृषक—सभी वर्गों में असन्तोष, अविश्वास और स्वार्थ बढ़ने के कारण राष्ट्र में व्यापक आन्दोलन हो रहे हैं ; धन-जन की क्षति बढ़ रही है और सर्वत्र अशान्ति दिखाई पड़ती है । राजनीतिक-क्षेत्र की भयावह परिस्थिति का ज्ञान प्रेमचन्द जी को पूर्ण रूप से था । 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गो-दान' प्रभृति उपन्यासों में उन्होंने इसके सुन्दर, प्रभावशाली और सर्वथा यथार्थ चित्र खींचे हैं । अन्याय और अत्याचार के विरोध की भावना धीरे-धीरे जनसाधारण में बढ़ रही है । अब शासित पक्ष किस प्रकार भय और शक्ति प्रदर्शन से निर्भय होता जा रहा है और शासक वर्ग भी शासित के संगठन को देखकर भीतर-भीतर सशंक रहता है, इसका चित्रण भी उन्होंने अनेक प्रकार से किया है । इसी प्रकार प्रेमचन्द जी में समयानुसार पुलिस की दुर्बलताओं और उसके निरर्थक कठोर व्यवहार, घूसखोरी, उत्पीड़न-प्रवृत्ति, फ़ौजी सिपाहियों की दुर्बुद्धिपूर्ण उद्दण्डता आदि अनेक विषयों के अनुभवपूर्ण विवरण स्थान-स्थान पर मिलते हैं ।

कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा विचार प्रवृत्तियों का निदर्शन भी प्रेमचन्द जी ने प्रकृतरूप में किया है । 'सेवा-सदन,' 'ग़बन,' 'गो-दान' इत्यादि उपन्यासों और अनेक कहानियों में उन्होंने वर्तमान हिन्दू-समाज के यथार्थ, अनुभूतिपूर्ण और निर्मल चित्र खींचे हैं । नाना विषम परिस्थितियों से आपूर्ण हमारा कौटुम्बिक जीवन कितना कष्टमय है, किस प्रकार मान-मर्यादा के परिपालन में हम अपने धन-धान्य तथा जीवन तक निछावर कर देते हैं, दान-दहेज और वर्तमान वैवाहिक कुरीतियों के कारण हमारे जीवन में कितनी विषमताएँ उपस्थित हो जाती हैं, विधवाओं की हिन्दू-समाज में कितनी दुर्दशा तथा अवमानना है, हमारे घरों में नवीनता और प्राचीनता का कैसा निरंतर द्वंद्व चला करता है, अपनी सामाजिक रूढ़ियों के खण्डन-मण्डन में हम कैसे व्यस्त हैं, समाज में आत्म-प्रवंचना का विस्तार कितनी शीघ्रता से बढ़ रहा है—इत्यादि विषयों का विवरण सभी स्थानों पर मिलता है । समाजिक संस्थाओं का नेतृत्व और नियंत्रण कुरुचिपूर्ण, उत्साहहीन, समाज भीरू, स्वार्थी और प्रवंचकों के द्वारा होता है । कहीं-कहीं, सौ में एक, चरित्रवान् व्यक्ति भी मिल जाते हैं । प्रायः म्यूनिसिपैलिटी और अनाथालयों ऐसी सामाजिक संस्थाओं में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है । प्रेमचन्द जी ने हमारे समाज के वाग्वीरों पर अच्छे पर सच्चे आक्षेप किए हैं । उन्होंने स्थान-स्थान पर समाज के दुर्बल पक्ष की तीव्र आलोचना भी की है, उसकी समस्याओं की विषमता का चित्रण भी किया है तथा सुधार के आधारों का अनुमान भी लगाया है ।

प्रेमचन्दजी की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है-- भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन । इसके साथ ही वे मर्यादा और आदर्शवाद की स्थापना में भी दत्तचित्त थे, क्योंकि उनका अटल विश्वास था कि किसी समाज और राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब वह अपनी संस्कृति, सदाचार एवं आदर्श को अपनाने की सदैव चेष्टा करता रहे । इस विषय में—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' ही उनका मूल मंत्र था । इसी का विस्तारपूर्वक चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों तथा अपने उपन्यासों में किया है । वर्तमान भारतवर्ष में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा है । इस संघर्ष में हम बारबार, बाह्य प्रलोभनों की तड़क-भड़क से आपूर्ण पश्चिमी-सभ्यता की ओर लालायित होकर बढ़ते हैं, परंतु उसकी अनुपयुक्तता और खोखलापन देखकर संकुचित हो जाते हैं । उसके असत् आडम्बर हमें खींचते हैं और हम अपनापन त्याग कर उनके आकर्षण में पड़ जाते हैं । इसका प्रधान कारण यह है कि हम अपने को हेय समझते हैं और अपनी संस्कृति, अपने आचार-विचार, अपनी रीति-नीति, अपने खान-पान, रहन-सहन, धर्म-आदर्श इत्यादि पर विचार करने के पूर्व ही उसे समय के प्रतिकूल और अमंगलकारी मान लेते हैं ।

प्रेमचंद का यह विश्वास था कि हमारी अवनति का प्रधान हेतु यही है कि हम अपनेपन का सम्मान करना नहीं जानते, अपनी विभूतियों और महानता की उपेक्षा करते हैं, और दूसरों के काँच के टुकड़े को देखकर अपने हीरे फेंक बैठते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—'यूरोप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अन्तर है। यूरोप की दृष्टि सुंदर पर पड़ती है; भारत की सत्य पर। सम्पन्न यूरोप मनोरंजन के लिए गल्प लिखे; लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं; लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कहीं ऊँची है। यथार्थ पर निगाह रखने वाला यूरोप, हम आदर्शवादियों से जीवन-संग्राम में बाज़ी भले ही क्यों न ले जाय, पर हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर यूरोप से लिया है लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।' 'इतना मैं कह सकता हूँ कि मैंने नवीन कलेवर में भारतीय-आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।' यही प्रेमचंद जी की रचनाओं का मूलमंत्र है और इसी विचार के आधार पर उनकी कहानियों और उपन्यासों का आकार-प्रकार खड़ा है। किसी-किसी कहानी में तो उन्होंने केवल यही व्यंजित किया है कि अपनी संस्कृति ही कल्याणकारिणी हो सकती है; जैसे—'शान्ति,' 'दो सखियाँ' और 'सोहाग का शव'। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त उन्होंने अनेक उपन्यासों और कहानियों के विभिन्न चरित्रों का चित्रण किया है। यही उनकी सम्पूर्ण रचना का रहस्य है।

सन्तोष जीवन का सब से बड़ा धन

[लेखक—श्री केशरीकिशोर शरण, एम० ए०]

१९३१, नवम्बर की २१ वीं तारीख। शाम का वक्त, साढ़े छः बजे पश्चिम से आनेवाली एक्सप्रेस पटना जंक्शन पर अभी लगी हुई थी। प्रेमचन्दजी आज पटना आनेवाले थे और उन्हीं के स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पहुँचे हुए थे; परन्तु हम में से किसी ने उन्हें देखा न था, इसलिए बड़ी चिन्ता थी, उन्हें कैसे पहचाना जायगा। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का प्रथम संस्करण हाल में ही निकला था। उसमें प्रेमचन्दजी की एक तस्वीर थी। चौड़ा, गोल मुँह; उभरा हुआ ललाट; बड़ी-बड़ी, धनुषाकार घनी मूँछें। पोशाक भी सोफ़ियाना थी। फ़्लैनेल का पैंट, मफ़लर और कोट। इसी तस्वीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आये थे। प्रेमचन्दजी जैसे महान् कलाकार की रूप-रेखा हमारे मन में इससे कहीं अधिक भड़कदार और रोबीली थी।

रेलगाड़ी आई और सेकेंड क्लास, इंटर, फ़र्स्ट क्लास के सभी डब्बे हम लोगों ने देख लिए पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नज़र नहीं आया। तब थर्ड क्लास की बारी आई। गाड़ी का डब्बा-डब्बा हम लोगों ने छान डाला; पर मुसाफ़िरों में कोई हिंदी का औपन्यासिक सम्राट् न निकला। रेलवे-मेल-सर्विस के आफ़िस के पास अचानक उसी शक्ल और पोशाक का एक मुसाफ़िर दीख पड़ा। हम लोग दौड़कर उसके पास जा पहुँचे। 'क्यों जनाब आप लखनऊ से आ रहे हैं?'

'नहीं तो?'

हमारे बेतुके प्रश्न पर वह कुछ झुँझला से पड़े और हम लोग अपनी झेंप मिटाने के लिए मुसाफ़िरों की जमात में फुर्ती से मिल गए।

और वह सज्जन प्लैटफ़ॉर्म पार कर रेलवे लाइन की बग़ल-बग़ल सीधे जाने लगे। थोड़ा-सा सफ़री सामान था जो एक कुली के सिर पर था।

गाड़ी जब चली गई तो हम लोगों ने सोचा, उनसे यह तो पूछा ही न गया कि आप प्रेमचन्द हैं? मुमकिन है, प्रेमचन्द जी लखनऊ से न होकर बनारस से आ रहे हों।

हम लोग फिर दौड़ पड़े और गुमटी के पास जाकर उन्हें रोका—क्यों जनाब, आप बनारस से आ रहे हैं?

अबके वह हँस पड़े। उन्होंने पूछा—आखिर बात क्या है?

'प्रेमचन्दजी इसी गाड़ी से आने वाले थे और उनका चेहरा आपसे मिलता-जुलता-सा है। क्षमा कीजिएगा।'

'मैं प्रेमचन्द नहीं हूँ।'

और वह चल पड़े।

× × ×

दो घंटे के बाद पंजाब मेल आई। इस बार भी हम लोगों ने बड़ी तत्परता के साथ खोज की। तीन-चार साहब उतरे, दो एक हिन्दुस्तानी भी—मतलब, हिंदुस्तानी लिबास वाले, पर उनमें से कोई हमारी कल्पना का, हमारी किताब की तस्वीर का प्रेमचन्द न निकला।

सभी मित्र हताश और निरुत्साह घर लौट चले। मेरी आँखोंतले अँधेरा छा गया। पटना हिन्दी-साहित्य-परिषद् का मंत्री मैं था, मेरे ही निमंत्रण पर प्रेमचन्दजी आनेवाले थे। शहर में इसकी बड़ी धूम थी। विज्ञापन भी खूब किया गया था। अब अगर वह नहीं आये तो जनता को मैं कैसे मुँह दिखलाऊँगा। एक तो पटना जैसी मनहूस जगह पर साहित्यिकों की अकृपा बराबर रहती है, कभी कोई साहित्यिक यहाँ नहीं आता, फिर प्रेमचन्द जैसे व्यक्ति का आना तो बिल्कुल असंभव था। उन्हें पटने के निवासियों ने कई बार बुलाया था, पर वह बराबर अस्वीकार कर देते थे, फिर भी, मेरी मेहनत पर लोगों को भरोसा था, और इसीलिए लोगों को विश्वास था कि प्रेमचन्द अवश्य आयेंगे। आज यह विश्वास भी जाता रहा। मैं इसी उधेड़-बुन में रात भर बेचैन रहा। तबियत रह-रहकर झुँझला उठती थी। प्रेमचन्द जैसे सहृदय, ग़रीबों के सहायक, निरीहों के हमदर्द कलाकार मेरी बेबसी और बदनामी की कल्पना नहीं कर सके। अफ़सोस!

रविवार की शाम को बैठक थी और सबेरे ६ बजे के करीब एक एक्सप्रेस आती थी। बस यही आखिरी आसरा था। स्टेशन पर ठीक वक्त पर जा पहुँचा। श्री कृष्णगोपाल अवस्थी भी आ गये थे।

ट्रेन आई, लगी और चली गई। सैकड़ों आदमी उतरे और चढ़े पर प्रेमचन्द नहीं आये, नहीं आये। हम दोनों मुसाफ़िरखाने की तरफ़ बढ़े। देखा, सीढ़ी के पास एक अधवयस सज्जन जिनके बाल कुछ सुफ़ैद हो चले थे और सफ़र की थकावट से जी कुछ खिन्न-से हो रहे थे, गुम-सुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तरा हाथ में लिए पूछ रहा है—बाबू, कहाँ चलें?

इस मुसाफ़िर को कल रात ही को पंजाब मेल से उतरते देखा था, नज़दीक जाकर पूछा—क्यों जनाब, आप लखनऊ से आ रहे हैं?

'हाँ भाई, लखनऊ से ही आ रहा हूँ।'

'आप प्रेमचन्दजी हैं?'

'हाँ, प्रेमचन्द हूँ।'

स्वर उनका कुछ कठोर हो पड़ा था। मैंने प्रणाम करते हुए उनके हाथ से मैले खद्दर के रूमाल में बँधे पीतल के लोटे को ले लिया और अत्यन्त ग्लानि के साथ कहा—मैं केशरीकिशोर हूँ।

उनके चेहरे पर किंचित क्रोध, किंचित संतोष और प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पड़ी। पर कोई शब्द उनके मुँह से न निकला। तब तक फ़िटन आ लगी। और हम तीनों उस पर चढ़ बैठे। कुली को पैसे देकर मेरे मित्र ने बिदा कर दिया और फ़िटन चल पड़ी।

मेरा मन गर्व से, खुशी से, संकोच और ग्लानि से ऐसा भर गया था कि मैं यह भी न पूछ सका—रास्ते में कोई तकलीफ़ तो न हुई?

तबतक वह भी कुछ स्थिर और संतुष्ट-से दीख पड़े।

हिम्मत बढ़ी। पूछा—रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई ?

'तकलीफ़ ? मैं तो रात भर इसी पशोपेश में पड़ा रहा कि रहूँ या लौट जाऊँ। रात पंजाब मेल से उतरा। आप लोगों के दर्शन नहीं हुए तो मुसाफ़िरखाने में जाकर पड़ रहा। तबियत बहुत झुँझला रही थी। जब यहाँ कोई पूछनेवाला नहीं तो किसलिए ठहरूँ ? २।। बजे रात की गाड़ी से लौट चलने की इच्छा हुई। रिटर्न टिकट था ही। प्लैटफ़ार्म पर गया, गाड़ी आ लगी। पर चढ़ नहीं सका। सोचा, तुम्हें दुःख होगा......'

उनके इस स्नेह को पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे मुँह से अचानक निकल पड़ा—'आप पंजाब मेल से उतरे लेकिन मैं पहचान नहीं सका।'

'वही तो मैं कहता हूँ'—उनकी आवाज़ कुछ तीव्र हो पड़ी—'जब तुम मुझे नहीं पहचानते थे और न मैं तुम्हें, तो प्रेमचन्द कहकर पुकारते। इससे मेरी इज्ज़त थोड़े कम हो जाती।'

मैं क्या जवाब देता। चुप हो रहा।

प्रेमचंद जी मेरे आमंत्रित थे। मैं उन्हें अपने यहाँ ठहराना चाहता था और पटने के कई बड़े-बड़े लोगों का आग्रह था, मैं उन्हें उनके यहाँ ठहराऊँ। इच्छा तो मेरी नहीं थी फिर भी उनके मन की थाह लेने की ग़रज़ से मैंने पूछा—आप डा० हरिचंद शास्त्री के यहाँ ठहरेंगे या मेरी सेवा स्वीकार करेंगे ? (डाक्टर साहब पटना कॉलेज हिन्दी-साहित्य-परिषद् के सभापति थे।)

'मुझे डाक्टर के साथ क्या करना है ?' उन्होंने तुरंत जवाब दिया—'मैं तुम्हारे बुलाने से आया हूँ और तुम्हारे ही यहाँ ठहरूँगा।'

मुझे मुँहमाँगी मुराद मिल गई।

× × ×

घर पहुँचे। थोड़ी देर आराम करने के बाद वह मेरी पढ़ने की पुस्तकें देखने लगे। मैं तो जानता ही था। कुछ तो सचमुच मेरी पढ़नेवाली किताबें थीं और कुछ उन पर रोब ग़ालिब करने के लिए दूसरों से माँग कर सजा रखी थीं।

देश विदेश के कुछ चुने हुए उपन्यास थे और आलोचना की पुस्तकें थीं। उन्हें देख कर बहुत प्रसन्न हुए। बोले—खूब पढ़ा करो। तुम्हारी आलोचनाओं को बड़े ध्यान से पढ़ता हूँ.........

"लेकिन आप तो आलोचनाओं को पसंद नहीं करते। आप तो कहते हैं—'असफल लेखक समालोचक बन बैठा।" (यह वाक्य उनके 'सेवासदन' का था। उसी पर मेरा संकेत था।)

वह हँस पड़े।

'इसीलिए न कहता हूँ, खूब पढ़ा करो। हिंदीवालों में यही मर्ज़ है कि वह अध्ययन बिल्कुल नहीं करते।'

और तब शेल्फ में से एक किताब निकाल कर पढ़ने लगे—Forester की Aspects of the Novel। और मैं सभा का प्रबंध करने के लिए कॉलेज चला गया। डेढ़ घंटे बाद लौटकर आया तो देखा, ढाइ सौ पृष्ठ की पुस्तक समाप्त कर वह मुझसे उसपर 'डिस्कशन' (विवाद) के लिए तैयार बैठे हैं।

मैं बग़लें झाँकने लगा। एक तो मेरा अध्ययन उतना गहरा नहीं, दस-बीस किताबें पढ़ ही लेने से मैं कोई विद्वान तो नहीं हो गया; फिर उपन्यास-कला पर बहस करूँ उनसे जिनकी रचनाओं के आधार पर ही उपन्यास-कला की इमारत खड़ी होती है।

मैंने पिंड छुड़ाना चाहा। कहा—चलिए ड्रॉइङ्गरूम में बैठा जाय। यहाँ कुछ सर्दी-सी लग रही है।

वे ड्राइंग रूम में चले आए। पर रेशम की गद्देदार कुर्सियों को देखकर अनायास बोल पड़े—यह सब सिर्फ़ हाय-हाय है।

मैंने पूछा—क्यों?

'रहे तब भी हिफ़ाज़त की चिंता, नष्ट हो जाय तब भी चिंता। मनुष्य को इस चिंता से बचना चाहिए। ज़िन्दगी में अपना ही दुःख कौन कम है कि नई बला मोल लें।...'

इसी समय मेरे भाई साहब आ गये। आप पटना विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र और राजनीति के प्रोफ़ेसर हैं। विलायत के पढ़े हुए। उनसे राजनीति पर बहस छिड़ गई। मुझे खुशी हुई, उपन्यास कला की विवेचना से तो नजात मिली। चुपके से खिसक गया। प्रेमचंदजी कोरे उपन्यास लेखक न थे। वह पॉलिटिक्स भी अच्छी जानते थे। इस विषय में उनकी पहुँच देखकर मेरे भाई ने मुझसे कहा—Premchand seems to be an all-round scholar.

• • •

दोपहर को पटना म्यूज़ियम देखने के लिए हम लोग चल पड़े। मौर्य-काल और गुप्त-काल के शिलालेख, मूर्तियाँ, बर्तन, सिक्के वगैरह सब दिखलाए। वह बच्चों की तरह उन चीज़ों को देखते जा रहे थे। कौतूहल उन्हें कुछ होता था; पर कोई खास दिलचस्पी उन्होंने नहीं दिखलाई। हाँ, जब स्वास्थ्य विभाग की ओर गए और बिहार के गाँवों का मिट्टी का बनाया हुआ स्केच देखा तो रम गए। कोल-भीलों की पारिवारिक मूर्तियों को भी बड़े ग़ौर से देखने लगे और बोले—हमें इन समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिए। इन जंगली लोगों को सभ्य बनाना चाहिए। हज़ार वर्ष पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीज़ों से हमें क्या लाभ? हमें तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए।

• • •

जब हम वहाँ से वापस होने लगे तो वह बोले—आज तुम्हारे कॉलेज के कुछ लड़के आए थे, सन्देश के लिए। मैंने बतलाया—सन्तोष ही जीवन का सब से बड़ा धन है।

'क्यों, नहीं?' उन्होंने मेरी अविश्वास जैसी मुद्रा को देखकर पूछा—कभी इस पर तुमने ग़ौर किया है? बात छोटी-सी मालूम होती है लेकिन बड़े होकर जानोगे, यह कितना बड़ा सत्य है।

मैं कैसे नाहीं करता; पर मुँह से निकल ही गया—सन्तोष से तो जीवन की क्रिया-शक्ति ही नष्ट हो जायगी। मेरी समझ में तो यह अभाव है, आकांक्षा और असन्तोष की आग है जिससे क्रान्ति होती है, आन्दोलन होते हैं। सन्तोष से जीवन निश्चेष्ट हो जायगा। और निश्चेष्ट जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर है?

वह गम्भीर हो गए। कुछ देर तक मेरी बात पर ग़ौर करते रहे और बोले—सामूहिक रूप से असन्तोष अच्छा है; पर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में असन्तोष का फल अच्छा नहीं होता। आन्दोलन के नेताओं को ही देखो—वह निस्पृह रूप से काम करते हैं। वह जानते हैं, उनके छोटे जीवन में उनका आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, फिर भी उन्हें सन्तोष है, वह अपना काम तो कर रहे हैं। जननी जन्मभूमि की रक्षा में अपनी जान तो दे रहे हैं। यही सन्तोष उनका सबसे बड़ा बल है।

• • •

प्रेमचन्द जी का शुभागमन एक अपूर्व घटना थी। पटने के लिए वह दिन सोने के अक्षरों में लिखा जाने लायक़ था। जनता की अपार भीड़, उत्सुकता, श्रद्धा और भक्ति देखकर प्रेमचन्द जी भी विह्वल हो गए थे। उन्होंने कहा—बिहारियों का हृदय सचमुच महान् है। उनकी जैसी दरियादिली मुझे कहीं न मिली। यू॰ पी॰ में भी मीटिंग होती हैं। बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। पर उपस्थिति सौ-दो सौ से अधिक नहीं होती। हाँ, तमाशे की बात मैं नहीं कहता।

• • •

प्रेमचन्द पटने से प्रसन्न बिदा हुए, और मुझे सर्वदा के लिए आत्मीयता के पाश में बाँध गए। तब से गत छः वर्ष का हमारा सम्बन्ध संस्मरण की चीज़ नहीं, मेरे जीवन का इतिहास है। हर साल पूजा की छुट्टियों में मैं बनारस जाया करता था और उनसे बराबर मिलता। एक बार उन्होंने अगस्त में लिखा था—'पूजा की छुट्टियाँ तो अभी बहुत दूर हैं, लेकिन अभी से तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ।'

• • •

कहानी लेखक प्रेमचन्द से भी बढ़कर प्रिय मनुष्य प्रेमचन्द थे। उनके जैसा निस्पृह, उदार, सद्भावना और संवेदना से पूर्ण मनुष्य मुझे नहीं मिला। बड़े लोगों में एक ज़बर्दस्त ऐब होता है। दूर से उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है। परन्तु उनके समीप आते ही उनका भीतरी राज़ खुलने लगता है और उनके 'अहम्' को देखकर श्रद्धा के बदले घृणा उत्पन्न हो जाती है। प्रेमचन्द जी का बाहर-भीतर एक समान था। उनसे घनिष्टता बढ़ने पर, उनके हृदय की गहराई के खुलने पर, प्रशंसा, श्रद्धा और भक्ति से मस्तक अनायास झुक जाता था। बाह्य से भी सरल, सचाई से भरी हुई, आडम्बर-शून्य उनकी आत्मा थी।

प्रेमचंद के निधन से सारा राष्ट्र संतप्त है। उनके बिना हिंदी अकिंचन सामर्थ्य-विहीन और श्रीहीन है। पर उससे भी अधिक अकिंचन, निरीह और निरुपाय मैं अपने को पा रहा हूँ। उन्हीं की वरद-छाया में मुझे फूलने-फलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अब वह नहीं रहे तो मैं कहीं का न रहा। लेकिन अपनी बदनसीबी पर बैठकर मैं आँसू बहाऊँ ?

अभाव, उपेक्षा और असहिष्णुता का ठुकराया हुआ वह प्राणी मरते दम तक सन्तोष का संदेश सुनाता गया।

आओ, उसके शोकाकुल स्वजनों के साथ अपने प्राणों का क्रंदन मिलाकर अपनी आँखों के उमड़ते हुए अश्रुप्रवाह को रोककर रुँधी हुई आवाज़ से उसी के स्वर में कहें—

'संतोष जीवन का सबसे बड़ा धन है।'

मानव-हृदय के कवि

(लेखक—श्री वीरेश्वरसिंह, एम. ए, एल. एल. बी.)

उस अनोखे चाँद के सामने आज राहु-सा यह 'स्वर्गीय' लगाते हुए लेखनी विलप उठती है। विश्वास जड़ हो गया है, सारी भावनाएँ, सारे विचार आहत और स्तम्भित हैं। यह सब क्या है ?—यह सब जो हमारे चारो ओर फैला हुआ है, यह जो बोल रहा है, और यह जो इस मिट्टी के ऊपर अंधकार और असहायता-सा छाया हुआ है ? मेरे भाई, मैं तुमसे पूछता हूँ कि जिसके संसार-व्यथित मस्तिष्क को उसने यों सहलाया और हँसाया, जिसके हारते हुए हृदय को उसने साहस और शक्ति दी ; मेरी बहिन, तुम्हीं बताओ कि जिसकी मूक-व्यथाओं को उसने ज़बान दी, जिसकी रोती आँखों को अपने प्रेम-भरे फटे दामन से पोछ कर, पद-दलित गौरव को उसने फिर से उठाने का प्रयत्न किया ; मेरे किसान, तुम्हीं कह दो कि जिसकी तरस की उसने तस्वीर खींच दी, पसीने की बूँदों को मोतियों-सा पिरोया, और ज़िन्दगी के ख़ून से सींचे हुए उन खेतों के दानों को दुनिया की अन्धी आँखों के सामने सोने-सा तौलकर बता दिया—तुम्हीं बताओ कि अब हम क्या मानें, और किसे मानें, और क्या न मानें ? —इस दग़ाबाज़ जीवन को, उस बेरहम मौत को या उसको कि जिसके बाणों ने रावण को मारा पर हमारे दुःख को न मार सका ? इन ग़रीब आँखों के सहारे खोखले आसमान से टँगे हुए मानव-जीवन की अकथ दैन्यता की कहानी कौन कह सकता है ? केवल एक वस्तु इस जीवन में सत्य है—आँसू ; केवल एक वस्तु इस सृष्टि में अमर है—मृत्यु ; केवल एक वस्तु झूठी है—दुनिया !—बाक़ी सब एक तूफ़ान है, परेशानी है, ख्वाब है !

फिर भी क्या हमें रोना चाहिए—उसके लिए जो अग्नि-सा तपा, सोने-सा निखरा, और हमें उठा कर उठ गया ? शक्तिमान् हिन्दी के उज्वल, बढ़ते हुए, और अमर प्रवाह में वह केवल गति बनकर मिल गया। उसके गर्वीले रव को सुनो और समझो। नहीं, वह मरा नहीं है—इन आँखों से नहीं, उसे उन आँखो से देखो जिससे वह देखने की निधि थी। वह जीवित है, क्योंकि हमारी हिन्दी जीवित है।

मैं नहीं रोता—इन कच्चे मोतियों से उस कोहिनूर की क्या स्मृति-पूजा हो सकती है ? मैं जानता हूँ कि इन आँसुओं से यदि भरेगा तो केवल उसी का ख़ज़ाना जो हमें लूटता है—सिंचेगा तो केवल उसी निर्दय का बाग़ जो हमें उजाड़ देता है......।

× × ×

क़रीब एक साल से मुझसे और प्रेमचन्दजी से कोई पत्र-व्यवहार न हुआ था—यानी

इसकी कोई आवश्यकता ही न पड़ी थी। लेकिन दूसरी सितम्बर को सुबह की डाक से एक लिफ़ाफ़ा मिला। उत्सुकता के साथ खोलकर पढ़ा—

'प्रिय वीरेश्वर,

भाई, मैं तो बुरा पड़ गया। इधर दो महीने से ज़्यादा हो गये चारपाई पर पड़ा हुआ हूँ। इस समय तो दो-तीन मर्ज़ों से मुबतिला हूँ। लीवर अलग ख़राब है, पेचिश हो रही है। तथा पेट में भी कुछ पानी आ गया है........

आज 'भारत' में तुम्हारा लेख पढ़वाकर सुना। बड़ी तक़लीफ़ में था, लेकिन फिर भी कुछ आराम ही मिला। बड़ा अच्छा लेख है।........

'हंस'........अब मैं ज़मानत देकर निकाल रहा हूँ। सितम्बर का अंक प्रेस में है। अब यदि तुम अपनी कोई छोटी-सी भी चीज़ भेज दोगे तो बड़ा अच्छा होगा। इस अंक में मैटर की बड़ी कमी पड़ रही है। यदि जल्दी ही भेजोगे तभी उसका कुछ फ़ायदा होगा। वैसे तो कभी भी तुम्हारी चीज़ के लिए स्थान है। जैनेन्द्र को मैंने साथ ले लिया है, तथा वे ही सब कुछ करेंगे, क्योंकि मैं तो अभी कुछ करने-धरने लायक़ हूँ नहीं × × × × ×

शुभाकांक्षी,

प्रेमचन्द'

—फिर तारीख़ १८ सितम्बर को एक और छोटा-सा ख़त मिला—

'प्रिय वीरेश्वर,

तुम्हारी कहानी 'काजल' और पत्र कुछ समय पहले मिले थे। × × × × ×

मैं तो अब बेहद कमज़ोर हो गया हूँ। उठ-बैठ भी नहीं सकता। लेकिन मर्ज़ घट रहा है। डाक्टर का कहना है कि १५ दिन में मर्ज़ बिल्कुल घट जायगा। फिर भी अच्छा होने में बड़ा समय लगेगा। × × × × ×

आशीर्वाद।

शुभाकांक्षी,

प्रेमचन्द'

यह 'आशीर्वाद' कैसा? इससे पहले के पत्र में ऐसी समाप्ति न थी, और न मुझे याद पड़ता है कि मेरे और किसी पत्र में उन्होंने ऐसा अचानक, एकाकी, ढुलक पड़े हुए एक अश्रु-सा 'आशीर्वाद' लिखा हो। उनके स्नेहपूर्ण पत्र स्वयं ही उनका हृदय व्यक्त कर देते थे......लेकिन यह 'आशीर्वाद'! आज सोचता हूँ तो मालूम पड़ता है कि उस अगम अगोचर ने हाथ पकड़कर उनसे यह 'आशीर्वाद' लिखवा दिया था। यह उनका अन्तिम पत्र था।

यह १६ सितम्बर सन् '३६ का पत्र था। मैंने उत्तर दिया कि ईश्वर करे आप शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करें........लेकिन ईश्वर कहाँ? ईश्वर तो इसी कातर मन का भूत है! मौत सामने खड़ी हो तो फिर कौन बैठा रह सकता है?......मैं प्रतीक्षा ही कर रहा था कि अब ख़बर आती होगी......ख़बर आई भी तो अख़बार के काले पृष्ठ पर।

• • •

श्री प्रेमचन्दजी का जीवन सेवा तथा प्रेम का महान् स्तोत्र था। अपनी रजत-अस्थियों से उन्होंने हिन्दी के सूने प्रदेश में भव्य-आख्यायिका-मन्दिर का निर्माण किया, और उसमें त्याग तथा राष्ट्र-प्रेम का दीपक जलाया। इस गुदड़ी के लाल ने अपने ख़ून से हिन्दी-माँ के पवित्र मस्तक पर विजय-तिलक दिया।

शायद मैं ग़लती कर रहा हूँ, लेकिन मेरे विचार में तो महात्मा गान्धी के चर्खे की—

कृषक-भारत के उस निस्तारक चक्र की यदि कोई सच्ची संगिनी थी तो वह श्री प्रेमचन्दजी की लेखनी थी। लक्ष्मी-पुत्र भारतेन्दुजी के बाद ऐतिहासिक उदय ग़रीबों के भाई श्री प्रेमचन्द का हुआ। भारतेन्दुजी ने हमें गौरवशाली अतीत की याद दिलाई, भव्य हिमालय के मुकुट और मन्दाकिनी की हीरक-लहरों के दर्शन कराये, और प्रेमचन्दजी ने जीवित और त्रस्त वर्तमान की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। एक सजीले मेघ की तरह झूमता, गरजता, और बरसता हुआ आया और अपने को लुटा दिया कि हमारा खाली भण्डार भरे। उसमें भी तड़प थी सावन की; विरह और पुकार थी पपीहे की, स्मृति थी अतीत वसन्त की। वह तो हरसिंगार-सा फूला, महँका और फिर अन्तर्धान हो गया। हाँ, बेजोड़ था वह इन्द्रधनुष अपने रँगीले-पन, अपनी अलौकिक भंगिमा और सूचक महत्व के लिए। फिर भी प्रेमचन्दजी का अपना प्यारा-पन भी कम अनोखा न था। वह एक कसक-सी उठे, ग्राम्य-भारत के हृदय में सहानुभूति-से फैले और एक विवश किन्तु अविजित आँसू से ढुलक रहे। मेरे ऐसे मूर्ख लिखते हैं दिमाग़ी ऐय्याशी के लिए, विक्षिप्त मनोविज्ञान की छीछालेदर करते हैं और समझते हैं कि यही कमाल है, भूखी और रोती हुई आँखों के सामने आँखें बन्द करके विदेशी तारों-से भरे अकाश में विचरण करते हैं और गर्व से अनुभव करते हैं कि हम साहित्य और राष्ट्र-सेवा के पुष्पक पर भारत का झंडा लिये फिर रहे हैं। पर प्रेमचन्दजी ने अपनी लेखनी को कभी रँगीली-रँगरेजिन न होने दिया। वह निश्चित-लक्ष्य और पवित्र-व्रत के मनुष्य थे। उनके उपन्यास हमारे गाँवों के जीवित और हृदय-बेधक चित्र हैं; उनकी कहानियाँ भारतीय-कुटुम्ब और मानव-हृदय की बोलती हुई मैना। भारत के शुष्क धूल की उन्होंने प्यास और तरस दिखलाई, और कहा कि ख़यालों के ताजमहल में रहनेवालो, हिन्दुस्तान की सच्ची चीज़—इस देश की असालियत यही है। इसको ग़ौर करो, इसे अपनाओ, इसकी कहानी कहो। इस भिखारी देश के निस्सहाय, सन्तप्त बहते हुए पमाने में झलकते हुए खून को देखो। मेंहदी लगा कर शहीद बनाना सच्चे साहित्यिकों का काम नहीं है। प्रेमचन्दजी एक सैनिक-साहित्यिक थे। समाज की कुरीतियों से और दुनिया की जहालत से उन्होंने आजन्म धर्म्म-युद्ध किया। जन-मत के ज़ुल्म की ताक़त समझते हुए भी उन्हें मालूम था कि मानव हृदय के सत्य आदर्शों की दृढ़ता क्या चीज़ है।

उनकी साहित्यिक-सेवा में एक आदर्श था, इससे कौन इनकार कर सकता है? 'हंस' उनके उसी लोभ-रहित साहित्यादर्श का देव-दूत है। एक बार मैंने उनसे कहा—'आप 'हंस' के लिए विज्ञापन Procure करने के लिए कोई Campaign क्यों नहीं करते, आप तो जानते ही हैं, पत्रों के पाँव यही विज्ञापन हैं। इसमें तो मुझे कोई हर्ज नहीं दिखाई देता। क्या अंग्रेज़ी, क्या हिन्दी—सभी अखबार और मैगज़ीन यह करते हैं...'। उन्होंने जो उत्तर दिया उससे मेरा सांसारिक हृदय केवल खीझा, सन्तुष्ट न हुआ। लेकिन मुझे कुछ अप्रतिभ होकर चुप होना ही पड़ा। वह बोले—'भई, हंस साहित्यिक-पत्र है। मैं विज्ञापनों की क़ीमत जानता हूँ, लेकिन आदर्श तो लाभ के भरोसे नहीं जीते। हमारा एक ध्येय है और हम उसी ध्येय पर चल रहे हैं। एक ख़ास तरह के (यानी साहित्य-सम्बन्धी) विज्ञापनों के सिवा हम और तरह के विज्ञापन नहीं छाप सकते। हाँ, जो पत्र बाज़ारू व्यापार के इरादे से निकले हैं उनकी बात दूसरी है। यह तो अपने अपने उद्देश्य की बात है'।

प्रेमचन्दजी अखंड और अडिग चट्टान पर स्थित, इस अनिश्चित और विक्षिप्त साहित्य सागर में (Light-House) प्रकाश-स्तम्भ की तरह थे। वे हमारी शान थे, हमारे मार्ग-निर्देशक तथा मित्र थे।

सदियों बाद उन्होंने फिर वही बाँसुरी बजाई जिससे जगकर हमने अपने ग्राम, गो और गोपालकों की ओर नज़र उठाई, अपनी माँ और बहिनों की तरफ़ इज्ज़त और सहानुभूति से देखा, और अपने हृदय से गलबहियाँ डालकर बातें करना सीखा।

उन्होंने अपनी मनमोहक कहानियों से हमारे मन को जीत हमें संसार में विजयी बनाया...........

× × ×

यह समीक्षा का समय नहीं है—और न मेरी यह इच्छा ही है। हम तो अपनी दोनों सजल आँखों से ढूँढ़ते हैं कि वह कहाँ हैं ? और अपने भाग्य से पूछते हैं कि उसके बाद अब और कौन आवेगा ?

इसका उत्तर कुछ नहीं है। इसका उत्तर केवल धैर्य्य और निश्चल परिश्रम है।

परिश्रम और प्रतीक्षा के सिवा हमारा वश ही क्या है ?

● ● ●

प्रेमचन्द जी मानव हृदय के महान् कवि थे, वर्तमान के देवदूत थे और ग्राम्य-भारत के चित्रकार, सेवक और मित्र थे। जब तक हमारे हृदय में धड़कन है, जब तक हमारे खेत और खलिहान हैं, जब तक हमारे गाँव और हमारे किसान हैं, और जब तक हमारी हिन्दी है—तब तक उनकी कीर्ति और स्मृति अमर और अक्षय रहेगी।

कृषक-बन्धु प्रेमचन्द

[लेखक—श्री 'करुण']

पहले मैं श्री प्रेमचन्दजी को केवल महान् कलाकार तथा कहानी साहित्य का व्यास समझता था। उनका प्रशंसक था। बाद को मुझे उनसे परिचित होने तथा उनका स्नेह पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परिचित होने पर प्रशंसा, श्रद्धा एवं भक्ति में परिणत हो गई। उनका देश-प्रेम, उनकी लगन, परिश्रम, त्याग और सरलता देख मैं उन्हें महापुरुष तथा देश की विभूति समझने लगा।

वह अभागे देश में पैदा हुए थे। अभाग्यवश ही हम उनका मूल्य नहीं पहचानते थे। यदि प्रेमचन्द पश्चिम में पैदा हुए होते तो...! मुझे जैसे सदा दुःख रहा कि वह इस अभागे देश में क्यों पैदा हुए, जहाँ उनका यथोचित आदर सत्कार न हो सका, यद्यपि वह आदर-सत्कार के भूखे न थे। वह तो अपना मिशन पूरा करने आये थे। निर्लिप्त भाव से पूरा कर चले गये, शहीद हो गये।

हाँ, शहीद हो गये। जो मनुष्य देश, साहित्य और परिवार की चिन्ताओं का पहाड़ सर पर लिए हुए सूखी 'रोटी-दाल और तोला भर घी' पर जीवन बसर करेगा, वह कब तक चलेगा। यदि वह चाहते तो सारे 'झगड़े' छोड़ सुमगतापूर्वक यथेष्ट पैदा करते और आराम की ज़िन्दगी बसर करते, मगर वह त्याग-वीर थे। ग़रीबी उन्हें प्रिय थी। जब कि देश भूख से हाहाकार कर रहा हो, आराम की ज़िन्दगी बसर करने के लिए उनकी आत्मा गवाही नहीं देती थी। ग़रीबी का सारा जीवन व्यतीत करते हुए वह दस-दस घंटे परिश्रम करते थे। चार घंटे की दिमाग़ी मिहनत मनुष्य को उतना ही थका डालती है जितना दस घंटे की शारीरिक मिहनत। वह तो दस-दस घण्टे काम करते थे।

मगर शहीदों का खून रंग लाता है। उनका देहान्त हमारा ज्ञानोदय हुआ। आज हमारी आँखों पर से पर्दा उठ गया है और हमने उन्हें पहचान लिया है, वह क्या थे।

+ + +

प्रेमचन्द उन महान् आत्माओं में थे जिनका जन्म स्वदेश के कल्याण के लिए होता है, जिनके रग-रग में स्वदेश-प्रेम की लहर दौड़ा करती है, जिनके हृदय की प्रत्येक धड़कन में देश-कल्याण की चिन्ता व्याप्त रहती है।

प्रेमचन्द देहात—भारत के देहात में जन्मे थे। देहात ही में पले थे। देहात की ग़रीबी का उनको निजी अनुभव था। और कैसी ग़रीबी, इसका हाल उनकी जीवनी पढ़ने से मालूम होगा। दो रुपये महीने पर भी उन्हें कभी जीवन बसर करना पड़ा था। क्या आश्चर्य कि

देश की दुर्दशा, देश के प्राण किसानों की भयंकर दशा देख उनकी आत्मा द्रवीभूत हो उठी।

वह कर्मण्य थे। देशोद्धार के लिए—पीड़ित किसानों का दुःख दूर करने के लिए—क्रमशः कर्मरत हो गये। भगवान् हर एक को एक विशेष शक्ति देता है जिसका उपयोग मनुष्य अपने विचारों को कार्यरूप देने में करता है। भगवान् ने प्रेमचन्द को लेखन-शक्ति दी थी। उसे माध्यम बना वह अपनी संकल्प-पूर्ति में लग गये।

अपनी जादू भरी लेखनी द्वारा वह जनता को देश की—देहातों की—दरिद्रता से परिचित कराते थे। बताते थे कि किसान जो देश के लिए अन्न उत्पन्न करते हैं, स्वयं मुट्ठी भर अन्न के लिए तरसते हैं, भूखों मरते हैं। विधाता के इस क्रूर व्यंग का वह सत्य एवं सजीव चित्र खींचते थे।

उनका कृषक-साहित्य पढ़ समवेदना से हमारा हृदय विकल हो जाता है। हम करुणार्द्र और सहानुभूतिपूर्ण हो जाते हैं और हृदय में किसानोद्धार के लिए प्रेरणा जाग उठती है। वह हमारे दिल को छू देते हैं।

—और यहीं कृषक-बन्धु प्रेमचन्द का मिशन पूरा होता है। वह सफल होते हैं।

आज भले ही हृदय की उस उठती हुई प्रेरणा को हमें कुचल देना पड़े, अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हम कार्य-रत न हो सकें, परन्तु हम प्रेरणा तो पाते हैं।

अधिकारियों से मेरा निवेदन है कि वह प्रेमचन्द के कृषक साहित्य का संकलन कर एक सस्ता एडीशन निकालें जिससे सर्वसाधारण उसे खरीद और पढ़ सकें।

+ + +

देश के लिए उसकी इति-श्री उनके इस कार्य से ही नहीं होती। उसका पूरा वर्णन करने से तो लेख पुस्तक का रूप ले लेगा। परन्तु उनके निम्नलिखित कार्य का उल्लेख किये बिना लेख समाप्त भी नहीं किया जाता।

देश तभी स्वतंत्र होगा जब हम में राष्ट्रभावना जाग्रत होगी, जब हम एक होंगे। उस भावना को जगाने के लिए देशवासियों में प्रेम-भाव से ऐक्य उत्पन्न करने के लिए राष्ट्र की एक भाषा आवश्यक ही नहीं, नितान्त आवश्यक है। राष्ट्र-भाषा के बिना राष्ट्र-भावना जाग्रत नहीं हो सकती। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसमें कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन कर देने से वह राष्ट्र-भाषा हो सकती है।—यह उनके विचार थे। अपने इस विचार की पूर्ति के लिए उन्होंने क्या किया उसका अन्दाज़ा श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद जी के एक भाषण के, जो उन्होंने प्रेमचन्द दिवस के अवसर पर दिया था, निम्नलिखित अंश से मालूम हो जायगा—

'हमारी समझ में उनका (प्रेमचन्द का) सर्वोत्तम स्मारक यही होगा कि जो कार्य वह अधूरा छोड़ गये हैं, उसे हम पूरा करें। × × मेरी समझ में स्मारक की एक शक्ल यह भी हो सकती है कि हम लोग इस हिन्दी-उर्दू के मसले को हल करने की कोशिश करें। × × हमें दोनों ज़बानों को मिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस वक्त लिपि का सवाल उठाना ठीक न होगा। इस समय इतना ही काफ़ी है कि हम दोनों (हिन्दी-उर्दू) को मिलाकर एक भाषा का निर्माण करें और हिन्दुस्तान भर में उसका प्रचार करें। जिस तरह हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कबीर को अपना समझते थे, उसी तरह उनका कर्तव्य है कि वे प्रेमचन्दजी को भी समझें और एक मुस्तरका ज़बान बनाने की कोशिश करें। प्रेमचन्दजी के जीवन का यही मिशन था, जिसे वह अधूरा छोड़ गये। उसे पूरा करना हम लोगों का फ़र्ज़ है।'

क्या हम अपने इस फ़र्ज़ को अदा न करेंगे?

हिन्दी-साहित्य के अभिमान प्रेमचन्द

[लेखक—श्री अनुसूयाप्रसाद पाठक]

'जो महान् होते हैं, उनकी आत्मा और हृदय भी महान् होता है। उनका प्रेम सबके प्रति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सा होता है।'

मैंने ऊपर की पंक्तियों को कई बार सुना और पढ़ा भी था। लेकिन यह कहाँ, किस के पास है यह अनुसंधान करके बाहर करना और पहिचानना मेरी शक्ति के बाहर की बात थी। इस खुशामदपसन्द दुनिया—हिन्द में और फिर राजनैतिक जमाने में, जहाँ का सारा काम, बात, व्यवहार, दाव-पेचों से भरा रहता है शुद्ध प्रेम, भ्रातृभाव, वात्सल्य, और अपने से ऊँचे उठाने का भाव बहुत कम व्यक्तियों में होता है। किसी के हृदय की थाह लगाना मेरे लिए सम्भव नहीं था।

प्रेमचन्दजी को मैं जानता था उनकी पुस्तकों से। नाम सुना था, अच्छे और सुन्दर लेखक हैं। 'सेवासदन' सब पुस्तकों से प्रथम पढ़ा था। पर बस, पुस्तक पढ़ गया था, लेकिन प्रेमचन्दजी हिन्द के, हिन्दी के, कौन हैं यह जाना नहीं था। और न उस समय यह सूझ थी, न लियाक़त।

सन् १९३२ ई० की बात है। जेलें तीर्थ बनी थीं। क्या बूढ़े, क्या युवक-युवती, क्या बालक सभी जेलों में थे। बिहार के पटना कैम्प जेल में स्वराजी क़ैदियों की संख्या पैंतीस सौ थी—एक छोटा नगर-सा था। आवश्यकता की सभी चीज़ें मिलती थीं, चाहे चोरी से हो, या सचाई से। मैं भी वहीं जेल में था। उसमें क़रीब सात सौ उत्कली भी थे। एक दिन मैंने एक क़ैदी के हाथ में 'प्रेमाश्रम' नाम की एक मोटी पुस्तक देखी। नाम सुना था, मन खिंच गया। ज़रा ग़ौर से देखा, पुस्तक के एक कोने में प्रेमचन्द लिखा था। मैं इस नाम से परिचित था। कुछ कहानियाँ और 'सेवासदन' आगे भी देख चुका था। अस्तु, दोस्ती गाँठने में देर न लगी। पुस्तक मुझे मिली, पढ़ गया। साथ के मित्रों को भी पढ़ने के लिए उत्साहित किया। वे उड़िये थे। प्रेमचंद का नाम मात्र सुना था। ग्रंथों से भेंट नहीं थी। पुस्तक उन्हें बहुत ही पसन्द आई। जो पढ़ते, तारीफ़ करते थे, पुस्तक के पात्रों पर प्रकाश डालते थे। एक दिन उन्होंने मुझे पढ़कर सुनाया—'मानव चरित्र न बिल्कुल श्यामल होता है, न बिल्कुल श्वेत। उसमें दोनों ही रंगों का विचित्र सम्मिश्रण होता है; किन्तु स्थिति अनुकूल हुई तो वह ऋषि तुल्य हो जाता है, प्रतिकूल हुई तो नराधम। वह अपनी परिस्थितियों का खिलौना मात्र है।'

हृदय का क्या ही सुन्दर फ़ोटो प्रेमचन्दजी ने खींचा है ! इस पुस्तक के पढ़ने के बाद प्रेमचन्दजी की पुस्तकों की खोज में रहने लगा। भावना शुद्ध थी। उत्कट आकांक्षा थी। 'रंगभूमि' भी पढ़ने को मिली। ऊपर जिन मित्र का मैंने उल्लेख किया है उनका नाम गोरचन्द रावत है। उत्कल साहित्य के लेखक हैं। लेखों पर पुरस्कार पाया है। उन्होंने 'रंगभूमि' पढ़ने के बाद कहा था—'प्रेमचन्दजी टाल्सटॉय, गोर्की और तुर्गनेव से कम नहीं।'

अब यहाँ से मैंने प्रेमचन्दजी को ज़्यादा चाहना और उनके ग्रंथों पर सोचना शुरू किया। मैं ही क्यों, उत्कल के कई आदमियों ने प्रेमचन्दजी की रचना पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी है और जब कहीं कोई यह कहता कि 'हिन्दी में क्या है ?' तब पढ़ने वाले कहते—यहाँ के प्रेमचन्दजी की पुस्तकें पढ़ो !

'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' दो-दो बार पढ़ीं। उस जेल में वही साथी थीं। पात्रों के चरित्र वहाँ बलदाता थे। कर्म में साहस और स्फूर्तिदायक थे। उस समय प्रेमचन्दजी दूर नहीं, बल्कि पास उपदेशदाता के रूप में वर्तमान-से मालूम होते थे।

अब मुझे मालूम हुआ, महानता कैसे और कहाँ किसके पास है। हिन्दी के अभिमान की तारीफ़ सुनकर छाती फूली न समाती थी।

'रंगभूमि' में छपे एक चित्र में ही मैंने उनका दर्शन किया था। उनकी पुस्तकों में वही उनका एक चित्र छपा था। प्रेमचन्दजी का नाम दिनोंदिन आकर्षित करने लगा। प्रेमचन्द नाम सुनते ही अथवा कहीं काग़ज़ के पृष्ठों में 'प्रेम' शब्द मिलता तो मन पहिले 'हंस' वाले प्रेमचन्द के पास जा पहुँचता।

मैं उपन्यासों का भक्त नहीं। यदि किसी से किसी पुस्तक की तारीफ़ सुनी तो पढ़ी लेकिन पूरी नहीं। पढ़ते विरक्ति-सी लगती है ; लेकिन प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम', 'सेवा-सदन', 'रंगभूमि', 'ग़बन', और 'कायाकल्प' मैंने पढ़ा है ये। पुस्तकें अभी तक मेरे सामने हैं और 'गोदान' पर नज़र है। कहानियाँ तो मैंने कई पढ़ी हैं। फिर भी तृप्ति नहीं हुई। बंगाल के बंकिम बाबू और शरद् बाबू की पूरी और आधी पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं। मेरी समझ में नहीं आया कि प्रेमचन्दजी इन दोनों से किस चीज़ में कम हैं—जैसा कि कुछ कुछ का ख़याल है। इस सम्बन्ध में मुझे तो 'प्रेमाश्रम' के भूमिका-लेखक हिन्दी के सुपरिचित श्री रामदास गौड़ की सम्मति शिरोधार्य है। उन्होंने लिखा है कि......'प्रसिद्ध उपन्यासकार शरद् बाबू ने अपनी मातृभाषा की गौरव रक्षा का पूरा विचार रखते हुए दबती ज़ुबान से कहानियाँ लिखने में, स्वभाव-चित्रण करने में रवीन्द्र ठाकुर से हमारे प्रेमचन्द की तुलना कर डाली है।' आगे चलकर लिखा है।...'बंकिम बाबू के उपन्यास जिन्होंने बँगला में पढ़े हैं, इस बात में मुक्तकण्ठ से हमारा समर्थन करेंगे कि 'प्रेमाश्रम' में अनेक स्थलों में मानसिक विचारों की तसवीर खींचने में प्रेमचन्दजी बंकिम बाबू से कहीं बढ़ गये हैं, साथ ही जहाँ बंकिम बाबू की शैली बँगला में शब्दबाहुल्य से भरी है वहाँ प्रेमचन्दजी ने अपने 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे' लिखने का मार्ग बहुत ही प्रशस्त कर डाला है।' हम गौड़ महाशय के शब्दों की पुनरावृति करते हैं कि...'भावी इतिहास-लेखक जब भारतीय उपन्यासों की चर्चा करेगा उसे किसानों के जीवन की सच्ची फ़ोटो खींचने का श्रेय प्रेमचन्दजी को देना पड़ेगा। प्रेमचन्दजी यद्यपि असहयोगी थे तथापि उन्होंने विपक्ष के भावों को दरसाने में पक्षपात से काम नहीं लिया है। प्रेमचन्दजी मनोविकारों के सच्चे इतिहासकार हैं !' (अब थे।)

× × ×

किसी कवि ने सच कहा है—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पल में परलय होयगो, बहुरि करैगो कब ॥

प्रेमचन्दजी का दर्शन मैंने नहीं किया था, दो वर्ष से मैं सोच रहा था, एक बार प्रेमचन्दजी को उत्कल बुलाया जाय ; फिर मन में आता, इस प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सम्मेलन के लिए कैसे बुलावें ? एक तो स्वीकार न करेंगे, यदि स्वीकार कर भी लिया तो दिखलायेंगे क्या ? इस विचार में एक साल बीत गया । अब दूसरा साल शुरू हुआ । 'हंस' का रुख बदल गया था । सब भाषाओं के लेख 'हंस' में आने लगे । मैंने भी उत्कल साहित्य के बारे में लिखा । प्रेमचन्दजी ने उसे स्थान दिया । दूसरा लेख मैंने 'वाङ्मयी मीरा' भेजा । उस पर प्रेमचन्दजी ने लिखा—'तुम्हारा मीरावाला लेख मिला । इसी अंक में प्रकाशित हो रहा है । एक लेख तुम उत्कल का साहित्य और उसकी वर्तमान प्रगति के बारे में लिखो या किसी उत्कल साहित्यिक से लिखा कर भेज दो तो मैं बहुत धयन्वाद दूँगा ।' आज्ञा का पालन जैसे-तैसे किया । लेकिन मेरे हृदय को उक्त पत्र की पंक्तियों ने पिघला दिया । न मालूम उनका कितना उदार और गम्भीर हृदय है, हर एक भाषा के साहित्य के जानने की कितनी उत्कट इच्छा है । इस महत् आकांक्षा की सीमा नहीं है । जहाँ भारत के दूसरे प्रान्त हिन्दी से मुँह बनाते हैं वहाँ हिन्दी के प्राण उनका उदारभाव से स्वागत करते हैं ।

आपने मेरे पत्र के उत्तर में उत्कल के युवक लेखक श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही के बारे में लिखने को कहा । श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राहीजी के विचारों से मैं भी मुग्ध हूँ । मैंने समझा, एक महान् कलाकार वही है जो एक कलाकार की इज़्ज़त करे ।

अब इस पत्र-व्यवहार से मन का भय दूर होने लगा था । पक्का विचार था कि वह एक बार उत्कल लाये जायँ । उत्कल के ऐतिहासिक स्थानों में भी घुमाये जाँय, और अपने हिन्दी प्रचार का लाभ भी उनसे उठाया जाय । पर सो न हुआ । हिन्दी संसार को शून्य कर प्रेमचन्दजी चले गये ।

मेरी पक्की धारणा थी—और मैंने कइयों से कहा भी था कि हमारे हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल रत्न जैसे ज्ञान के धनी हैं, सरस्वती का वास है उसी तरह लक्ष्मी का वास भी होगा । यह धारणा ग़लत निकली । पंडित बनारसीदासजी, सम्पादक 'विशाल भारत' ने प्रेमचन्दजी के बारे में जो लेख नवम्बर में लिखा था, उसे पढ़कर मन को बड़ी व्यथा हुई है । यों तो प्रेमचन्दजी समुद्र के समान गम्भीर और कर्म पर अचल हैं । सम्पादक 'विशाल भारत' ने उनके जो पत्र प्रकाशित किये हैं, वह यों है...'जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान् पुरुष होने की मैं कल्पना नहीं कर सकता । जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है । मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है । इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता । बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो । बैंक में अपने नाम में मोटी रक़म जमा देखकर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता ; लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और क़िस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है । इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है ।' ये हैं एक महान् पुरुष

के महान् विचार । वह अपनी ग़रीबी की हालत में कितने खुश हैं। कितने धीर हैं। यह विचार सभी के लिए शान्तिदायक है।

प्रेमचन्दजी हिन्दी साहित्य में क्रान्तिकारी लेखक हैं। सब जगह उनकी अपनी निजी चिन्ता है, अपना व्यक्तित्व है। भारती-साहित्य में वह एकमात्र लेखक थे जो ग़रीबों के बारे में सोचते थे। हम वर्तमान दुनिया के परिवर्तनशील वातावरण में जिधर देखते हैं, वहीं प्रेमचन्दजी को पाते हैं—

१—प्रेमचन्दजी को साम्यवाद की निगाहों से देखने से वह साम्यवादी दिखलाई देते थे।

२—ग्राम-सेवक के रूप में वह पक्का संगठन करते थे।

३—समाज सुधार में सबसे प्रथम सुधारक थे।

४—नारी स्वाधीनता के बारे में वह पथिक थे, रहनुमा थे।

५—प्राणीमात्र के चरित्र-चित्रण में वह वैज्ञानिक शिल्पी थे।

६—साहित्य में अनुपम साहित्यिक थे, रसालंकार के विवेचक थे।

७—उपन्यासकारों में वह वैज्ञानिक औपन्यासिक थे।

८—प्रेम की बारीकी, शुद्धता के वह पारखी थे।

९—त्याग में उज्वल संन्यासी थे।

१०—हिन्दू-मुसलमान को मिलाने में वह एक रस्सी-से थे।

११—वह ज्ञान में सागर, कर्म में युवक और प्रेम में अति कोमल थे।

हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश अभी कल की बात है। किन्तु प्रेमचन्दजी ने मन्दिर-प्रवेश के बारे में कैसा सत्याग्रह, कैसा साहस दिखाया जिसका नेता गांधीजी नहीं—'कर्मभूमि' की एक महिला सुखदा थी। प्रेमचन्दजी ने यहाँ महिला जाग्रति का कैसा अनुपम चित्र खींचा है! देखें—
'......धर्मवीर ही ईश्वर को पाते हैं। भागने वालों की कभी विजय नहीं होती।

'भागने वालों के पाँव सँभल गये। एक महिला को गोलियों के सामने खड़े देखकर कायरता भी लज्जित हो गई। एक बुढ़िया ने आकर कहा—बेटी ऐसा न हो, तुम्हें गोली लग जाय।

'सुखदा ने निश्चल भाव से कहा—जहाँ इतने आदमी मर गये, वहाँ मेरे मर जाने से कोई हानि न होगी। भाइयो, बहनो! भागो मत। तुम्हारे प्राणों का बलिदान पाकर ही ठाकुरजी तुमसे प्रसन्न होंगे।' यह सत्याग्रह और फिर महिला के नेतृत्व में प्रेमचन्दजी ने बड़ी ही खूबी के साथ सम्पन्न कराया है। पंक्तियों से पता चलता है कि नारी स्वाधीनता के वह कितने पक्षपाती थे।

× × ×

प्रेमचन्दजी के बारे में लिखते समय मेरी एक लोभी आदमी जैसी अवस्था है। जैसे एक लोभी कहीं क़ीमती वस्तुओं को पाकर इसे भी ले जाना चाहता है और उसे भी, लेकिन सफलता नहीं मिलती, ठीक वही हालत मेरी है। प्रेमचन्दजी के अमूल्य कथानक को सामने पेश करना चाहता हूँ, पर किसे छोड़ूँ और किसे लूँ, निश्चय नहीं कर पाता।

प्रेमचन्दजी की पुस्तकों के पात्र, एक से एक त्यागी और कर्मनिष्ठ होते हैं। उनके पात्र कोई भी अधःपतन के कुएँ में नहीं गये। जो गये वे भी कुएँ की जगत पर से लौटते नज़र आते हैं। बने सो बने ही रहे, पर जो खराब थे वे भी सुधर गये। प्रेमचन्दजी के उपन्यास जीवन-संघटन के लिए मार्ग-प्रदर्शक हैं। उनके पात्रों में प्रेम देखिये और कर्म देखिये। लेकिन कर्म से प्रेम तुच्छ रहा है। 'रंगभूमि' के पात्र विनय और ईसाई की लड़की सोफ़िया के बारे में

सभी परिचित हैं। दोनों परस्पर प्रेमिक हैं। पर कर्तव्य दोनों का प्रधान है। उनके सम्बन्ध की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।—

'विनय ने विचलित होकर कहा—सोफ़ी, अम्माजी के पास एक बार मुझे जाने दो। मैं वादा करता हूँ कि जब तक वह फिर स्पष्ट रूप से न कहेंगी...

'सोफ़िया ने विनय की गरदन में बाहें डालकर कहा—नहीं नहीं, मुझे तुम्हारे ऊपर भरोसा नहीं, तुम अकेले अपनी रक्षा नहीं कर सकते। तुम में साहस है, आत्माभिमान है, शील है, सब कुछ है, पर धैर्य नहीं है। पहले मैं अपने लिए तुम्हें आवश्यक समझती थी, अब तुम्हारे लिए अपने को आवश्यक समझती हूँ। विनय, ज़मीन की तरफ़ क्यों ताकते हो? मेरी ओर देखो। मैंने तुम्हें जो कटु वाक्य कहे, उन पर लज्जित हूँ। ईश्वर साक्षी है, सच्चे दिल से पश्चात्ताप करती हूँ। उन बातों को भूल जाओ। प्रेम जितना ही आदर्शवादी होता है, उतना क्षमाशील भी। बोलो, वादा करो, अगर तुम मुझसे गला छुड़ाकर चले जाओगे, तो फिर...... तुम्हें सोफ़ी फिर न मिलेगी।

'विनय ने प्रेम-पुलकित होकर कहा—तुम्हारी इच्छा है, तो न जाऊँगा।' 'रंगभूमि', पृष्ठ ६८६।

पाठक वृन्द ज़रा आगे की इन पंक्तियों को देखें। क्या कमाल किया है! मानो प्रेमचन्दजी स्वयं यह घटना देख रहे हों, ऐसी बारीकी से अंकित किया है—

'अँधेरी रात में गाड़ी शैल और शिविर को चीरती चली जाती थी। बाहर दौड़ती हुई पर्वत-मालाओं के सिवा और कुछ न दिखाई देता था। विनय तारों की दौड़ देख रहे थे, सोफ़िया देख रही थी कि आस-पास कोई गाँव है या नहीं।

'इतने में स्टेशन नज़र आया। सोफ़ी ने गाड़ी का द्वार खोल दिया, और दोनों चुपके से उतर पड़े, जैसे चिड़ियों का जोड़ा घोंसले से दाने की खोज में उड़ जाय। उन्हें इसकी चिन्ता नहीं कि आगे व्याध भी हैं, हिंसक पक्षी भी हैं, किसान की गुलेल भी है। इस समय तो दोनों अपने विचारों में मस्त हैं, दाने से लहराते हुए खेतों की बहार देख रहे हैं। पर वहाँ तक पहुँचना भी उनके भाग्य में है, यह कोई नहीं जानता।' 'रंगभूमि', पृष्ठ ६८७।

प्रेमचन्दजी उपरोक्त पंक्तियाँ लिखते समय कितने गम्भीर विषय की तह में थे, चिन्तनीय है, भावनाधीन है। अब आप ज़रा आगे बढ़ें। प्रेमचन्दजी की प्राकृतिक-सौन्दर्य उपासना देखें। गांधीजी के १९३५ का ग्रामवास और प्रेमचन्दजी के प्रिय पात्र विनय और सोफ़ी का १९८१ का ग्राम-वास देखें—

'सोफ़िया और विनय रात-भर स्टेशन पर पड़े रहे। सवेरे समीप के गाँव में गये, जो भीलों की एक छोटी-सी बस्ती थी। सोफ़िया को यह स्थान बहुत पसन्द आया। बस्ती के सिर पर पहाड़ का साया था, पैरों के नीचे एक पहाड़ी नाला मीठा राग गाता हुआ बहता था। भीलों के छोटे-छोटे झोंपड़े, जिन पर बेलें फैली हुई थीं, अप्सराओं के खिलौनों की भाँति सुन्दर लगते थे। जब तक कुछ निश्चय न हो जाय कि क्या करना है, कहाँ जाना है, कहाँ रहना है, तब तक उन्होंने उसी गाँव में निवास करने का इरादा किया। एक झोंपड़े की जगह आसानी से मिल गई। भीलों का आतिथ्य प्रसिद्ध है और ये दोनों प्राणी भूख-प्यास, गरमी-सरदी सहने के अभ्यस्त थे। जो मोटा-झोटा मयस्सर हुआ खा लिया, चाय और मक्खन, मुरब्बे और मेवों का चस्का न था। सरल और सात्विक जीवन उनका आदर्श था।' 'रंगभूमि', पृष्ठ ७२१

सारी पुस्तक में नाना प्रकार के उतार चढ़ाव नज़र आयेंगे। प्रेमचन्दजी हिन्दी संसार के एकमात्र लेखक हैं जिन्होंने ग़रीबों के विषय में क़लम चलाई है।

'रंगभूमि' में अनेक प्रकार के पात्र हैं। पूजीपति हैं, मध्यम श्रेणी के शिक्षित हैं, देश-सेवक भी हैं, मजूर किसान भी हैं। लेकिन एक अन्धा चमार जो सूरदास के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका भीख माँगना पेशा था, वही सारी सफलता का नायक है। इससे हमारे उपन्यास सम्राट् के अन्तर की मनोवृति का पता लगता है। लेकिन जिस देश के लिए, जिस भाषा-भाषी और उनकी भावी सन्तान के लिए प्रेमचन्दजी इतना छोड़ गये हैं, उसके लिए वे क्या करते हैं?

प्रेमचन्दजी बड़े खुशदिल थे। पाठकवृन्द 'रंगभूमि' के शुरू में सूरदास को देखते हैं। वह एक सड़क के किनारे बैठा है। शाम का समय है। पथिक भी आ-आकर अपने-अपने भोजनादि का प्रबन्ध करते हैं। उन्हीं में से एक पथिक ने हँसकर पूछा—सूरे, शादी करोगे? सूरदास कहते हैं—अपने पेट का इन्तज़ाम नहीं है, दूसरे की कौन पूछे? इस वार्तालाप में प्रेमचन्द यों कहते हैं—

'गनेस—लाख रुपये की मेहरिया न पा जाओगे? रात को तुम्हारे पैर दबा देगी, सिर में तेल डालेगी तो एक बार फिर जवान हो जाओगे। ये हड्डियाँ न दिखाई देंगी।

सूरदास—तो रोटियों का सहारा भी जाता रहेगा। ये हड्डियाँ देखकर ही तो लोगों को दया आती है। मोटे आदमियों को भीख कौन देगा? उल्टे ताने मिलेंगे।'

कैसा मधुर मज़ाक है!

प्रेमचन्दजी हिन्दी संसार के मनबहलावे के लिए अनेक पुस्तकें छोड़ गये हैं। दस वर्ष और रहते तो और भी अनेक बातें, सामग्री हमें दे जाते। लेकिन पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के शब्दों में हमें कहना पड़ता है कि 'जिस महात्मा ने हमारे लिए इतना किया, उस कलाकार की इज्ज़त हम कुछ भी न कर सके।'

प्रेमचन्दजी प्रेम के धनी थे। हृदय के धनी थे। वे जब तक जिये दूसरों के लिए। 'हंस' के सम्पादन में न जाने कितने नवयुवकों को लेखक बना गये। अपने जीवन भर अध्यापक का काम किया। हिन्दीवालों का दुर्भाग्य है कि वे अपने प्रेमी, अपने श्रेष्ठ कलाकार की पूजा करना नहीं सीखे। प्रेमचन्दजी दूसरी भाषा के लेखक होते तो उनका उचित सम्मान होता, हिन्दी-वाले उनके अनुवाद से अपने को गौरवान्वित समझ पूजा में सम्मिलित होते। दूर का ढोल सुहावना हुआ ही करता है।

श्री प्रेमचन्दजी

[लेखिका—श्रीमती उषादेवी मित्रा]

यह स्मृति की श्रद्धा अर्पण है उनके लिए जिनकी स्मृति, जिनका आदर, स्नेहस्पर्श से धनी से लेकर निर्धन की पर्ण-कुटीर तक ओतप्रोत है। यह है स्मृति अंक। स्मृति अंक और भी न जाने कितने ही निकलते हैं, निकले होंगे, निकला करेंगे, परन्तु बड़ी बात तो इसमें यह है कि घर घर है इस अंक के लिए श्रद्धा और स्नेह का अर्घ्य और है अपने घर के व्यक्ति की एक अमिट स्मृति।

इस स्मृति अंक को हम मधुर और उज्ज्वल कर भविष्य के लिए रख जाना चाहते हैं और अपने इस परिचय को भी उसके साथ रखना चाहेंगे कि प्रेमचन्दजी से केवल उनकी कृति के द्वारा ही परिचित नहीं हैं, वरन् उन्हें आँखों देखा है, निकट बैठने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह जानकर उस दिन भविष्य भी शायद हमें नमस्कार करे। कौन जाने।

दान कई प्रकार के होते हैं। थोड़े दान या सीमित दान की तालिका हम अनायास ही दे सकते हैं, किन्तु अपने को लुटाकर दान कर देने की तालिका दे सकना एक प्रकार से असम्भव है। हिन्दी जगत् को यदि श्री प्रेमचन्दजी का दान असीम नहीं है, तो वह दान कसौटी पर भी तो नहीं चढ़ सकता।

मैं बंगाली स्त्री हूँ, इसलिए नहीं, वरन् इसलिए कि हिन्दी साहित्य से मैं भलीभाँति परिचित नहीं हूँ ; श्री प्रेमचन्दजी के सब कार्य, जीवन और उनकी सब पुस्तकों से अच्छी तरह परिचय का सुअवसर अभी तक आया नहीं ; फिर भी जो कुछ पढ़ने का, जानने का अवसर मिला है—उसी जानकारी से खेद के साथ कहना पड़ता है—केवल हिन्दी जगत् को ही नहीं, वरन् संसार को एक अमूल्य रत्न खोना पड़ा है।

श्री प्रेमचन्दजी की कला किसी भी देश के अमर कलाकार की कला से समानता कर सकती है, इतना तो निर्विवाद ही है। और उस कलाकार का, उस अस्तंगत प्रतिभा का जन्म हुआ था भारत ही के एक धनी नहीं, किन्तु गृहस्थ के घर में, यह बात भी वास्तविक है। उस अखण्ड प्रतिभा, हृदयपूर्ण अनुराग और शिक्षा का उपहार लेकर प्रेमचन्दजी ने संकुचित हिन्दी भाषा के चरणों में उडेल दिया। इस तरह एक अपरिचित, अपरिसर पद में अपने नवीन जीवन की सारी आशा, उद्यम, क्षमता को लगा देना कैसा साहस और विश्वास का काम है इस बात को विचार कर हमें विस्मित होना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं वरन् हम देखते हैं कि सब आकांक्षा,

आशा, प्रेम, सौन्दर्य, महत्व, भक्ति, स्वदेशानुराग शिक्षित—परिणत ज्ञान की चिन्ता आदि अर्जित रत्नों को वह किस अकुण्ठित भाव से हिन्दी भाषा के हाथ में उठा देते थे।

लेखक का निर्मल चरित्र हम उन्हीं की कला में परिस्फुट पाते हैं—शान्त किन्तु गम्भीर, स्थिर किन्तु सदय, उदार किन्तु विश्वासी और स्नेही के रूप में। सबसे बड़ी बात है—'श्री प्रेमचन्दजी का व्यक्तित्व। शिशु-वृद्ध, धनी-निर्द्धन, नर-नारी के निकट वह जल-से स्वच्छ थे और वैसे ही सुलभ। हिन्दू-धर्म-विश्वासी प्रेमचन्द्रजी की निरहंकारिता, एकनिष्ठसाधना केवल देखने ही की नहीं वरन सीखने की, अपनाने की वस्तु थी। प्रत्येक स्थिति में हम उन्हें अपने-आप में पूर्ण, सन्तुष्ट पाते थे। मनुष्य अपने को पूर्ण और सन्तुष्ट तभी पाता है जब कि वह विश्व को अपने आप से पृथक नहीं देख सकता। कदाचित् इसी लिए हम प्रेमचन्द जी को सुख-दुःख में, हर एक स्थिति में तुष्ट, समाहित-से पाते थे।

जब हम उन्हें लेखक के विचार से देखते हैं तो कथाकार के विजयमुकुट—'साहित्य सम्राट' पर हमारी दृष्टि पड़ जाती है, और तब उस मुकुट में अंकित समाजसुधार की वाणी—सन्देश को हम अनायास ही पढ़ लेते हैं और दीन-दुखियों के लिए अन्तर्भेदी व्यथा, सहानुभूति ही केवल नहीं वरन् उनके अभाव को दूर करने की अमोघ चेष्टा, द्वन्द्व के विरामहीन भेरी-निनाद को सुनकर हम रोमाञ्चित, चकित हो जाते हैं। उन्हीं सरल किन्तु भावपूर्ण, मार्मिक लेखों के बल पर ही भारत का एक शिशु भी श्री प्रेमचन्दजी को जानता है, पहचानता है। वह दान केवल राजप्रासाद के स्वर्ण द्वार ही के भीतर आबद्ध नहीं है, वरन् कृषक के खेतों में, मिल के मजदूरों में तथा अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध, और जनसेवा, स्वराज्य के प्रांगण में वह दान फैला पड़ा है।

प्रेमचन्दजी को लिखने की ईश्वरदत्त क्षमता थी। उनकी लेखनी को एक ऐसी अद्भुत शक्ति मिली थी कि कहीं अटकने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी।

वह आदर्शवादी तो अवश्य ही थे, किन्तु साथ ही साथ हमें उनके लेखों से सन्देश और गम्भीर भावुकता, सहृदयता, मिलती है और बड़ी चीज़ मिलती है अत्याचार, जोर-ज़बर्दस्ती, निर्दयता के विरुद्ध एक ज़बर्दस्त युद्ध घोषणा।

एक प्रकार के लेख वे होते हैं, जिन्हें हम पढ़ने के बाद भूल जाते हैं और दूसरे वह होते हैं—जिनका प्रभाव हमारे मन पर पड़ जाता है, जिसके चित्र हमारे हृदय में अंकित हो जाते हैं ; लेखक की भावना और विचारधारा पाठक के मनमें व्याप-सी जाती है, प्रेमचन्दजी की रचना इसी दूसरे प्रकार की है। उनके चरित्र सृजन में जैसी सरल-सहृदयता और जीवन की हरियाली है वैसे ही मनपर अँक जाने की क्षमता भी है। उनकी चरित्र-सृष्टि को हम पाते हैं अपने परम आत्मीय के रूप में। लगता है—अरे यह तो हमारे ही घर की बात है! लेखक की सफलता और असाधारणता तो वहीं पर प्रमाणित हो जाती है जहाँ एक महापापी चरित्र के लिए भी पाठक की सहानुभूति अपने-आप खिंच आवे, एक वेश्या की आत्मा के लिऐ भी वह शुभ कामना करे।

एक रचना वह होती है जिसमें हम मृत्यु की बिभीषिका ही देखते हैं, एक वह भी होती है जिसमें हम जीवित रहने का महामन्त्र पा जाते हैं और उसे जपने की रीति भी, जो हमें प्रेमचन्दजी की रचना में अनायास मिलती है।

इनकी श्रेणी उन्हीं अमर कलाकारों में है, जो अपने ही अनजान में एक पाठशाला की सृष्टि कर देते हैं और उनके छात्र अनेक हो जाते हैं।

किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति का हमें बहुत-कुछ पता चल जाता है उसी देश के साहित्य से। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य भी आज कह सकता है—वह देश असभ्य नहीं है,

जहाँ ऐसे रत्नों का जन्म हुआ करता है और उन सुसंस्कृत साहित्यों में हिन्दी आज अनायास ही अपना स्थान बना लेती है।

वह भी कह सकता है मध्ययुग के इंगलिश साहित्य में यदि शेक्सपियर, मिल्टन, कीट्स शॉ, वर्ड्सवर्थ, शेली, टेनिसन, बायरन, ब्राउनी, स्काट, जॉन्सन आदि रत्नों का जन्म हुआ है, और बँगला में यदि साहित्य-गुरु बंकिमचन्द्र, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ, साहित्य-सम्राट शरद्चन्द्र, कविश्रेष्ठ हेमचन्द्र, अमर नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल, मधुसूदन, अमर कवि महेन्द्रनाथ आदि का जन्म हुआ है, एवं फ्रेञ्च साहित्य में यदि आनातोले फ्रांस, विक्टर ह्यूगो, रोमॉरोलाँ आदि रत्नों का जन्म हुआ है तो हिन्दी साहित्य भी कह सकता है कि वह भी अनुर्वर नहीं है, वन्ध्या नहीं है; उसने भी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त आदि जैसे रत्नों को गोद में धारण किया है; वह भी कह सकता है, वह असभ्य नहीं, सभ्य और सुसंस्कृत है।

आज हमारे विलाप, रोदन के बाहर प्रेमचन्दजी चले गये हैं, सो ठीक है और हमारी भक्ति, आदर-उपहार लेने के लिए वह सौम्य मूर्ति यहाँ उपस्थित नहीं है, यह भी ठीक है; किन्तु फिर भी उनके दान के अणु-परमाणु में लिपटी प्रेमचन्द-स्मृति विनाशहीन है। हमारे सामने है आज वही ध्रुव सत्य के रूप में, साहित्य प्रांगण में प्रेमचन्दजी एक उज्ज्वल आदर्श की प्रतिष्ठा कर गये हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि उस आदर्श की ज्योति कभी म्लान होने न पावे।

क्षमा-याचना

जैसे-तैसे स्मृति अंक प्रकाशित हो गया। मैं बीमार अस्पताल में पड़ा था जब जैनेन्द्र-कुमारजी ने आकर कहा कि—'हंस' का प्रेमचन्द स्मृति-अंक आपको निकालना होगा। समय नहीं था, शक्ति भी नहीं थी पर अनुरोध टाल न सका। स्वीकार कर लिया। पर जो शंका थी वही हुआ। छः महीने से विघ्न-परम्परा घेरे है। अभी तक छुट्टी नहीं पाई है। इसी अवकाश में जैसे बन आया अंक तो निकाल दिया, पर सबसे अधिक खेद की बात यह है कि प्रेमचन्दजी की उज्ज्वल कीर्ति की तुलना में यह अंक किसी काम का नहीं हुआ। विशेषकर इसके निकलने में जो इतना अधिक विलम्ब हुआ उसके लिए केवल सम्पादक ही दायी है और इसके लिए 'हंस' के पाठकों से नम्रतापूर्वक क्षमा चाहता है। आशा यही है कि सम्पादक के दोषों का विचार न कर स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द के नाते इसे हिन्दी-प्रेमी अपनायेंगे।

बा० वि० पराड़कर

प्रेमचन्द की कृति

[लेखक—श्री बा० वि० पराड़कर]

हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्दजी का स्थान निर्द्धारित करना भावी पीढ़ियों का काम है। आज हम उनके इतने निकट हैं कि उन्हें अच्छी तरह देख नहीं सकते। उनके व्यक्तित्व की छाप हमारे हृदय पर ऐसी लगी है कि केवल साहित्य की दृष्टि से उन्हें देखना सम्भव नहीं हो रहा है। वह व्यक्तित्व सहसा हमारे सामने से ग़ायब हो गया है और हम उसकी स्मृति से प्रभावित हो रहे हैं। यह अवस्था साहित्यिक पर्यालोचन के लिए अनुकूल नहीं। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व से सर्वथा अपरिचित साहित्यिक ही हिन्दी वाङ्मय में उनका स्थान निर्द्धारित कर सकेंगे। आज हमारी प्रवृत्ति आलोचन की नहीं बल्कि गुणग्रहण की है। उनके स्वर्गारोहण के बाद आज हम उनके गुण ही गुण देख रहे हैं और पश्चात्ताप करते हैं कि उनके जीवन-काल में हम उनका महत्व न समझ सके और कदर न कर सके। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है पर साहित्यिक गुण-दोष-विवेचन में बाधक है। यही कारण है कि हिन्दी में प्रेमचन्द का स्थान निर्द्धारित करने में प्रेमचन्द के समकालीन साहित्यिक समर्थ नहीं हो सकते। एक कारण और भी है। जो प्रवाह में बहता जाता है वह उसकी गति का निरीक्षक नहीं हो सकता। यह तो तटस्थ ही कर सकता है। यद्यपि साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान हम निर्द्धारित नहीं कर सकते पर रग-रग में अनुभव करते हैं कि उनके प्रवाह में हम बहे चले जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्यिक हिन्दी का नामकरण किया और प्रेमचन्द ने उसको मूर्त किया—रूप प्रदान किया। इन दो महानुभावों की प्रतिभा से हिन्दी को नाम और रूप प्राप्त हो गया है। हरिश्चन्द्र के प्रयत्न से हिन्दी वह हिन्दी हुई जिसे आज हम हिन्दी समझते हैं और आदर करते हैं। पर हरिचन्द्र उसे वह रूप न दे सके जिसे हिन्दी की समकालीन भाषाओं के अभिमानी भी देख सकते। यह काम प्रेमचन्द ने किया। वह स्थायी है अथवा अस्थायी, दिन प्रतिदिन अधिकतर स्पष्ट होने-वाला है अथवा किसी अन्य लेखनी से अन्य रूपको जन्म देकर स्वयं अस्पष्ट हो जानेवाला है, इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का नामकरण किया, उत्तर भारत के हिन्दू में उसके प्रति अभिमान उत्पन्न किया, पर उनके बाद उनका पदानुसरण करनेवालों को भाषा का आदर्श अन्यत्र ढूँढ़ना पड़ता था। हरिश्चन्द्र के समकालीन और परवर्ती लेखक ब्रज-साहित्य और राम-चरितमानस से प्रभावित थे, कुछ पर संस्कृत साहित्य का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। स्वर्गीय

गुरुवर्य पंडित गोविन्दनारायण मिश्र की रचनाओं में बाणभट्ट की शैली प्रतिबिम्बित हो रही है। वही ओज, वही ध्वनि, वही रचनाकौशल। कादंबरी के ढंग पर आप हिन्दी में भी एक प्रबन्ध की रचना कर रहे थे, कुछ अंश लिखा भी जा चुका था पर उपन्यास पूरा न हो सका। पूरा इस लिए न हो सका कि गोविन्दनारायण जी जीवन के अन्य झगड़ों में व्यस्त रहा करते थे और उनके साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। राजा लक्ष्मण सिंह, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित अम्बिकादत्त व्यास आदि, हरिश्चन्द्र के बाद के, पर हमारे लिए अब प्राचीन, सब साहित्यिकों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है उनका जीवन कुछ और साहित्य कुछ और था। प्राचीन पद्धतियों का अनुसरण और प्राचीन समयों का रक्षण, यही उनके लिए साहित्य था। उस साहित्य का समाज से या जीवन से कोई सम्बन्ध न था। अतः हिन्दी के साधारण लेखकों को जीवन-साहित्य का आदर्श पड़ोसी बंगला साहित्य में ढूँढ़ना पड़ता था, जो दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा था। जीवन के प्रश्नों का, सामाजिक समस्याओं का, राजनीतिक कठिनाइयों का हल उस समय के लेखक बँगला साहित्य में ढूँढ़ा करते थे। विशेष कर हिन्दी के समाचार-पत्र तो अधिकतर बंगला समाचार-पत्रों की ही नक़ल हुआ करते थे—अधिकांश में केवल अनुवाद। परिणाम यह हुआ कि हरिश्चन्द्र के बाद की हिन्दी बँगला हिन्दी हो गई। उसे पुनश्च हिन्दी बनाने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है।

प्रेमचन्द की हिन्दी हिन्द की अपनी चीज़ है। उसपर उर्दू की छाया ज़रूर पड़ी है पर उर्दू भी तो हिन्द की ही भाषा है, किसी अन्य देश से यहाँ नहीं आई है। उर्दू लेखकों में अच्छा स्थान प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमचन्द का हिन्दी को अपने विचार प्रकट करने का माध्यम बनाना उस सत्साहस का काम था जिसका उनके जीवन में पद पद पर परिचय मिलता है। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हिन्दी भाषा अप्रौढ़ और शिथिल अवश्य थी पर शीघ्र ही उसमें वह तेजस्विता और सरलता, वह भावव्यंजकता और माधुरी आ गई जो हिन्दी साहित्य में एक नई बात थी। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द प्रकृति के पुत्र थे, उनकी प्रतिभा नैसर्गिक थी, साहित्य का आदर्श उन्हें निर्माण करना था, न कि अन्य आदर्श को सम्मुख रखकर उसका अनुकरण करना था। प्रेमचन्द के पात्र अपने थे, भाषा अपनी थी, कल्पना अपनी थी। विचार और सहानुभूति संसार के उन्नतिशील साहित्य के अध्ययन का फल था। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, मौलिक लिखा और उसकी प्रेरणा उन्हें समाज से हुई—विशेष कर ग्रामीण समाज से। इस सम्बन्ध में हम प्रेमचन्द की तुलना इंग्लैण्ड के चार्ल्स डिकिन्स से कर सकते हैं। डिकिन्स और प्रेमचन्द दोनों ही जनता के आदमी थे। समाज के निम्नस्तरकी भीषणता में रह चुके थे, उससे परिचित हो चुके थे, उसके साथ उनकी सहानुभूति थी, उसीसे उन्होंने अपने पात्र लिये और उसी के सुधारने का यत्न किया। दोनों ही संकुचित अर्थ में 'अशिक्षित' थे अर्थात् प्राचीन साहित्य की और उसके नियमों की शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। दोनों की प्रतिभा स्वाभाविक थी, दोनों ही जनता के आदमी थे। मध्यम और उच्चवर्ग के पात्र का चित्रण न डिकिन्स कर सके और न प्रेमचन्द ही कर सके। यत्न दोनों ने ही किये हैं पर विफल। ग़रीब पात्र दोनों के सजीव हैं; वे आपसे बोलते हैं, आपके साथ हँसते और आपके साथ रोते हैं। ओलिवर ट्विस्ट से बिदा लेते समय जो एक मधुर वेदना होती है, होरी से बिदा लेते वक्त हमें उसी का अनुभव हुआ। डिकिन्स और प्रेमचन्द का साम्य यहीं समाप्त हो जाता है। इसके बाद दोनों के मार्ग दो भिन्न दिशाओं को जाते हैं। एक आशावादी है; दूसरा दुःख में है, दुःख देखता है और उसे दूर करने का उपाय ढूँढता है, कहीं कुछ बता भी जाता है, कहीं केवल

समस्या उपस्थित करके अपनी कहानी के धागे आप ही तोड़कर मानो अपनी जान छुड़ा लेता है।

यह प्रेमचन्द का दोष नहीं बल्कि गुण है। समय का प्रतिबिम्ब उनके हृदय पर स्पष्ट हो रहा है। मूक जनता की आह वह सुनते हैं और सुना जाते हैं। पर इसकी दवा नहीं बताते—शायद नहीं जानते। कौन जानता है? सब अपनी-अपनी कह रहे हैं पर भविष्य के परदे के उस पार क्या है, यह बतानेवाला ऋषि कौन है? एक महात्मा गांधी दिखाई देते हैं और स्वभावतः प्रेमचन्द उनकी ओर आकृष्ट हो गये। ग़रीबों के प्रति सहानुभूति और भारतीय संस्कृति का अभिमान, ये दो विशेषताएँ प्रेमचन्द में बहुत अधिक मात्रा में मिलती हैं, और यह भी समय का प्रभाव है। प्रेमचन्द समय से प्रभावित हुए हैं। साहित्यकार की यह विशेषता है। समय को प्रभावित करनेवाला ऋषि, अवतार या पैगम्बर कहलाता है। प्रेमचन्द के लिए इसका दावा उनका अन्धभक्त भी नहीं कर सकता। प्रेमचन्द साहित्यिक थे और ऊँचे दर्जे के साहित्यिक थे। जीवन से उन्होंने मसाला लिया और वह मूर्तियाँ तैयार करके हमारे सामने रख दीं जो जीवन के अंगों की प्रतीक हैं। उन मूर्तियों में हम समाज को देखते हैं, उसकी आकांक्षाओं की कल्पना करते हैं; उसके दोषों पर हँसते हैं, उसकी त्रुटियों की ओर भी लाचार खिंच जाते हैं। यही प्रेमचन्द की कला है। वह हमें अपनी बुराइयों को दिखाती है पर चिढ़ाती नहीं। हँसाकर, खिलाकर और रुलाकर भी आत्म-सुधार की आवश्यकता बताती है। ग़रीबों के मित्र प्रेमचन्द ने धनी निकम्मों की निन्दा की है पर ऐसे शब्दों में और इस ढंग से की है कि उसे पढ़कर धनी भी क्रुद्ध नहीं हो सकता लज्जित होता है। इसका एक कारण है। प्रेमचन्द के पात्र व्यक्ति नहीं होते, वे वर्गों के प्रतीक होते हैं। कोई व्यक्ति हो तो उससे प्रेम भी किया जा सकता है, ईर्षा भी की जा सकती है, घृणा भी और क्रोध भी। पर वर्ग के प्रतीक के सामने ये भावनाएँ कुंठित हो जाती हैं। हम उसे पड़ोसी में देखते हैं, अपने चारो ओर देखते हैं पर अपने आपमें नहीं देखते। अतः वह हमारा आदर पाता है, हमें अचम्भे में डालता है, रुलाता है, हँसाता है। बुरा होने पर भी हम उसे छोड़ना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि प्रेमचन्द के पात्र व्यक्ति नहीं, वर्ग हैं। वर्ग के दोष गुण उनमें पाये जाते हैं, अतएव हमारा व्यक्तित्व उनसे अपने आपको अलग समझता है। उन पात्रों से हमारी सहानुभूति होती है, समवेदना होती है पर एकत्व की प्रतीति नहीं होती। उनके दोष हम समाज में देखते हैं पर स्वयम् उनसे उसी प्रकार अलिप्त रह जाते हैं जैसे समाज का होकर भी एक सुधारक अपने आपको उससे अलग समझकर उसका टीकाकार—आलोचक बन जाता है। अनेक आलोचकों का यह अभियोग है कि प्रेमचन्द के पात्रों का व्यक्तित्व अच्छी तरह परिस्फुट नहीं होता, वह अधखिला फूल-सा रह जाता है। इसका उत्तर यही है कि उनके पात्र व्यक्ति होते ही नहीं, वर्ग के प्रतीक होते हैं। वर्ग के दोषगुण उनमें भली भाँति दिखाई देते हैं और किसी भी प्रसंग पर वे वर्ग-मनोवृत्ति से ही काम करते हैं। उनमें विशेष व्यक्तित्व को ढूँढ़ना व्यर्थ है। प्रेमचन्द की इस विशेषता का कारण यह है कि वह पहले सुधारक और बाद कलाकार हैं। प्रेमचन्द ने कला के लिए पात्र-सृजन नहीं किया है; कला की खूँटी पर अपने सुधारक विचारों को टाँग दिया है। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में इसका अच्छा परिचय मिलता है। 'गोदान' प्रेमचन्द का अन्तिम गोदान है—उनके अपने व्यक्तित्व का, अभिलाषाओं और विचारों का आदर्श है।

'गोदान' का होरी ग़रीब स्थिति के किसान का प्रतीक है। उसका व्यक्तित्व उस वर्ग का व्यक्तित्व है। परिश्रमी है, कुटुम्बवत्सल है और धर्मभीरु भी है। लाठी लेकर बाप का

सामना कर सकता है पर लाल पगड़ी देखते ही उसका सारा पुरुषत्व हवा हो जाता है। पराधीनता में अच्छे-अच्छे पुरुषों की जो स्थिति होती है वही होरी की भी है। वह धर्मभीरु है सामाजिक दृष्टि से, पर नर को नारायण बनानेवाला धर्म उसमें नहीं। अपने सगे भाई के हिस्से के दो-चार रुपए दबा जाने के लिए वह तीसरे को अधिक लाभ दे सकता है पर उसी भाई के घर की तलाशी पुलीस ले यह बात उसे असह्य हो जाती है, क्योंकि इसमें कुल का अपमान है। इस अपमान से, इस कलंक से कुल को बचाने के लिए वह स्वयम् महाजन से क़र्ज़ ले सकता है। वही भाई जब उसकी गाय की हत्या करके भाग जाता है तो वह अपनी खेती की उपेक्षा करके उसकी खेती कर देता है जिसमें लोग यह न कहें कि अनाथा भावज की सहायता उसने नहीं की एक ओर भाई और भावज के लिए इतना त्याग और दूसरी ओर उसी भाई को दो-चार रुपए के लिए ठगने की तैयारी! आज कल के समाज का कैसा यथार्थ चित्र है! यह चित्र ही होरी है। होरी वर्ग है, व्यक्ति नहीं। आज भारतीय समाज में झूठ बोलना, फ़रेब करना, ठगना, बुरा नहीं समझा जाता। होरी भी नहीं समझता। भाई-भाई में भयंकर झगड़ा हो, कोई चिन्ता नहीं। भाई का खून भी भाई कर सकता है। उसकी सम्पत्ति भी हज़म कर सकता है पर जब तक वह बालक है तब तक उसका पालन करना ही होगा, नहीं तो समाज निन्दा करेगा। सामाजिक व्यवहार धूम-धाम से होना ही चाहिए। इसीमें कुल की मर्यादा है। व्यक्तिगत आचरण कैसा ही घृणित क्यों न हो, बुरा या पाप नहीं समझा जाता। पैतृक परिवार की कल्पना अब भी काम कर रही है, व्यक्तिगत सद्गुणों का लोप हो गया है। सामाजिक सदाचार विकृत रूप में जीवित है, व्यक्तिगत सदाचार का बिल्कुल लोप हो गया है। होरी में इसका चित्र खींचा गया है। शायद प्रेमचन्द का यह उद्देश्य न हो पर वह तो वर्ग को ही देखते थे और समझते थे। होरी ऐसा ही एक पात्र है। उसमें और भी विशेषताएँ हैं पर वे भी उसका व्यक्तित्व परिस्फुट नहीं करतीं। होरी व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, वह वर्ग उपस्थित होता है जिसके होरी, हीरा और भोला प्रतीक हैं। होरी का लड़का गोबर, शुरू शुरू में एक व्यक्ति-सा मालूम होता है सही पर अन्त में वह भी वर्ग में लुप्त हो जाता है। पाठक उसमें ग़रीब और अजान, शोषित और अभिमानी वर्ग को देखते हैं और उसके लिए समवेदना का अनुभव भी करते हैं।

जिस विकृत धर्म का ऊपर उल्लेख किया गया है उसका एक जगह 'गोदान' में प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में परिचय दिया है। मातादीन ब्राह्मण-पुत्र है। उसकी आशनाई एक चमारिन से हो गई है। यह बात सारा गाँव जानता है, पर मातादीन के पास पैसा है, वह सवेरे स्नान-संध्या और पूजा करता है। चमारिन को अपने घर में नहीं, अन्यत्र रखता है। उसके हाथ का खाता भी नहीं। अतः वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। क्यों?—सुनिये प्रेमचन्दजी के ही शब्दों में—'हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।' स्थिति का कैसा सच्चा वर्णन है? पर इसमें एक त्रुटि है। रोटियों की इस ढाल की आवश्यकता भी ग्रामों में ही होती है। शहरों में इसकी भी ज़रूरत नहीं। सब अपराध माफ़ हैं बशर्ते कि आप ब्याह शादी में समाज की रीतियों का पालन करते रहें और सुधारकों को गालियाँ दें। चमारिन से आशनाई कीजिये या घर की ही किसी विधवा का सर्वनाश करके उसे घर से निकाल दीजिये, आप धर्मात्मा ही समझे जायँगे। ऐसे धर्म के मूल में कुठाराघात करके सदाचारमूलक धर्म की पुनः स्थापना करना प्रेमचन्द-साहित्य का लक्ष्य है। अपना यह अभिप्राय वह कहीं स्पष्ट शब्दों में पर सर्वत्र व्यंजना से वा ध्वनि से व्यक्त करते पाये जाते हैं। प्रेमचन्द

सुधारक अवश्य हैं पर उसके साथ-साथ भारतीय संस्कृति के पूर्ण भक्त भी हैं। उनके सुधार का अर्थ पश्चिम का अन्ध अनुकरण नहीं है। 'गोदान' उनकी अन्तिम कृति है। यह उपन्यास लिखते समय आप पाश्चात्य साम्यवाद का भी अध्ययन कर चुके हैं जिसकी झलक इस ग्रंथ में सर्वत्र दिखाई देती है। फिर भी आप उसका अनुकरण नहीं कर रहे हैं। कहीं अपने पात्रों के मुँह से उस पर टीका भी कराते हैं। यही बात स्त्री शिक्षा और पारिवारिक—वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी है। सर्वत्र उनका आदर्श भारतीय संस्कृति है, पश्चिम का अनुकरण नहीं। स्त्रियों के पुरुषों के समान अधिकार पाने के दावे का उत्तर प्रेमचन्द ने दर्शनाचार्य मि० मेहता के मुँह से दिलाया है। स्त्रियों के साथ पुरुषों ने अन्याय किया है, इस बात को स्वीकार करके मि० मेहता कहते हैं कि—'अन्याय को मिटाइये पर अपने को मिटाकर नहीं।' और भी—'संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको (स्त्रियों को) मिले हुए हैं। × × × मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वछन्द होना चाहती है इसलिए कि वह अधिक-से-अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीज़ें अच्छी हैं वह लीजिये। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है। लेकिन अंधी नक़ल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृङ्खल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं वहाँ की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाहों का, या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ, तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है?'

'गोदान' में प्रेमचन्द के विचार परिपक्व हुए दिखाई देते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गांधी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुए भी प्रेमचन्द सर्वत्र सेवा और त्यागपर ज़ोर देते दिखाई दे रहे हैं। इसे आप भारतीय संस्कृति समझते हैं। चित्त की उच्च नीच वृत्तियों को बे-नकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छन्द विचरण करने देना आप नारीत्व और नरत्व के पूर्णविकास में बाधक समझ रहे हैं। 'युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।' इस पूर्वपक्ष का खण्डन आप मि० मेहता से इस प्रकार कराते हैं—'जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का कत्रिकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त विलास में बिल्कुल नहीं है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेण्ट है जो दम्पती को जीवनपर्यंत स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। आप के (स्त्रियों के) ऊपर पुरुष-जीवन की नौका का कर्णधार होने के कारण ज़िम्मेदारी ज़्यादा है। आप चाहें तो नौका को आँधी और तूफ़ान में भी पार लगा सकती हैं, और आपने असावधानी की तो नौका डूब जायगी, और उसके

साथ आप भी डूब जायँगी।' यही मेहता एक जगह और कहते हैं—'मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमज़ोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है; सरल, स्वच्छन्द; जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। वर्तमान ही मेरे लिए सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है! × × × हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं। × × × जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी, सहयोग में, भाईचारे में, वह पुरानी अदावत का बदला लेने और बाप दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है। और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इसपर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है, और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओठोंपर मुसकिराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।'

यह जीवन की फ़िलासफ़ी है जिसे प्रेमचन्द ने पाठकों के सामने रखा है। प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग, प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अन्ध-विश्वास और मानवत्व में ईश्वरत्वको प्राप्त करने की लालसा, त्यागमय पारिवारिक जीवन और बापदादों के ऋण को अस्वीकार करने की कामना, इन विचारों का संमिश्रण 'गोदान' में जगह-जगह दिखाई देता है। प्राच्य-पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र 'गोदान' में क्रमशः विकसित हो रहा है पर, दुर्भाग्यवश, पूर्ण विकास नहीं होने पाता और प्रेमचन्द जी हमें मझधार में छोड़ कर सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं। इस समय हिन्दी साहित्य की नौका कर्णधारहीन प्रवाह में बहती चली जा रही है। भगवान् जाने उसे फिर दूसरा कर्णधार कब मिलेगा। फिर भी हमारा साहित्य प्रेमचन्द का सदैव कृतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अन्धकार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से अपच खाद्य लेकर उदर-पूर्ति कर रहा था। रसना विकृत हो रही थी। प्रेमचन्द ने उसे अपना घर दिखाया—जीवन से उसका सम्बन्ध कर दिया। हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी। वह अपने बच्चों के मुँह से निकलने लगी। हिन्दी हिन्द की हुई। यह प्रेमचन्द की हिन्दी को देन है। उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया। उसके निर्मल जीवन में जनवर्ग के प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगे हैं। प्रेमचन्द के पात्र जनवर्ग के प्रतिबिम्ब हैं, प्रेमचन्द के विचार वर्गों को उठाने और मिलाने के भगीरथ प्रयत्न के द्योतक हैं। स्वयं प्रेमचन्द जनता के प्रतीक हैं। उनका स्थूल देह अदृश्य हो गया है पर उनका यह उज्वल प्रतीक तबतक रहेगा जबतक हिन्दी रहेगी और उसके बोलनेवाले रहेंगे।

सम्पादकीय निवेदन

स्मृति-अंक तो निकल गया और जैसा निकला वह पाठकों के सम्मुख है। अब आवश्यकता इस बात की है कि प्रेमचन्दजी का, उनकी कीर्ति के अनुरूप, जीवन-चरित्र यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित किया जाय। प्रेमचन्दजी के भक्तों को यह जानकर निश्चय ही प्रसन्नता होगी कि यह प्रेम-परिश्रम श्रीयुत पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी करनेवाले हैं। इस कार्य के लिए आप से बढ़कर उपयुक्त पुरुष मिलना कठिन है। पर जीवन-चरित्र की सफलता केवल लेखक की विद्वत्ता पर निर्भर नहीं है। ऐसा हो तो बनारसीदासजी का कार्यभार ग्रहण करना ही अलम् था। आवश्यकता हिन्दी के उन सब लेखकों और प्रेमचन्दजी के मित्रों के सहयोग की है। जिनके पास प्रेमचन्दजी का कोई पत्र हो उनसे प्रार्थना है कि उसे रजिस्टरी करके 'हंस' कार्यालय में श्रीमती शिवरानी देवी अथवा श्री श्रीपतरायजी के नाम भेज देने की कृपा करें। यदि वे पत्रों को कुछ समय के लिए भी अपने से जुदा न कर सकते हों तो उनकी प्रतिलिपि ही, मय तारीख और स्थान के नाम के, भेज दें। पत्रों के सम्बन्ध में यह विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि वे महत्व के हैं अथवा नहीं। इसका विचार सम्पादक ही कर सकता है। जीवनी के धागे मिलाने में पत्र लिखने के स्थान और मिती से भी बड़ी मदद मिलती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

खेदकी बात है कि स्मृति अंक की तरह प्रेमचन्द स्मारक का प्रश्न भी बहुत पीछे पड़ गया है और इसका प्रधान कारण यह है कि इस सम्बन्ध में जो योजना बनाई गई है वह बहुत बड़ी है और उसके लिए जिन महानुभावों के सहयोग की आवश्यकता है उन्हें एक जगह एकत्र करके कार्यारम्भ कर देने का अवसर अभी तक नहीं मिल पाया है। देर से ही क्यों न हो पर स्मारक बनना चाहिए और वह प्रेमचन्दजी के योग्य बनना चाहिए। साहित्य को सजीव, निर्मल और उन्नतिशील बनाना जिस जीवन का आदर्श था उसका उपयुक्त स्मारक वही हो सकता है जो उसे अमर बना दे—जो कार्य प्रेमचन्दजी ने प्रारम्भ कर दिया वह उनके नाम पर और उस नाम के पुण्य-प्रभाव से सदैव चलता रहे। यदि स्मारक ऐसा न हुआ तो जो कुछ होगा हमारी—हिन्दीभाषी जनता की भक्ति का द्योतक भले ही हो जाय प्रेमचन्दजी के उपयुक्त न होगा।

प्रेमचन्दजी का स्थूल शरीर आज हमारे सामने नहीं है पर उनकी आत्मा हम सब में है और हिन्दी साहित्य को वह सदैव प्रभावित करती रहेगी। सम्भव है, और हम इसके लिए परमात्मा से प्रार्थना भी करते हैं, कि हिन्दी साहित्य को प्रेमचन्दजी से भी अधिक प्रतिभाशाली लेखक शीघ्र मिल जाय, क्योंकि उसके लिए उपयुक्त भूमि प्रेमचन्दजी ने तैयार कर दी है। जो भूमि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तैयार कर दी उसपर प्रेमचन्दजी विहार कर गये, मैथिलीशरण जी आज भी कर रहे हैं—अभी और बहुत-बहुत दिनतक करें, यही हम सबकी कामना है—अब जो प्रेमचन्दजी भूमिका तैयार कर गये हैं वह अनुर्वरा कभी न रहेगी। यह आशा ही उस साहित्य-गुरु के चरणों में हमारी श्रद्धाञ्जलि है।

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस, बनारस।

प्रेमचन्द मेरी निगाहों में—[प्रो० अशफ़ाक हुसन] ८७३
प्रेमचन्दजी की कुछ संस्मृतियाँ—[श्री अहमद अली, एम० ए०] ... ८७८
प्रेमचन्दजी मनुष्य और लेखक के रूप में—[प्रोफ़ेसर रघुपति सहाय, एम० ए०] ८८३
प्रेमचन्द : भारतीय कृषकों का कण्ठ स्वर—[श्री प्रियरंजन सेन] ... ८९४
स्मृतियाँ—[श्री सुदर्शन] ९१३
नवीन भाव-धारा के प्रवर्तक—[श्री दुर्गाप्रसाद पाण्डेय, शास्त्राचार्य] ... ९१७
प्रेम-स्मृति—[श्री बन्देअली फ़ातमी] ९२२
संस्मरण—[श्री भँवरलाल सिंघी, साहित्य रत्न] ९२३
प्रणाम—[श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी] ९२५
प्रेमचन्दजी की सर्वोत्तम कहानियाँ—[श्री आनन्दराव जोशी] ... ९२७
श्री प्रेमचन्दजी का कला के प्रति दृष्टिकोण—[श्री देवीशंकर वाजपेयी] ... ९३०
प्रेमचन्दजी को जैसा हमने देखा—[श्री बैजनाथ केडिया] ... ९३३
प्रेमचन्दजी—[श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०] ९३५
प्रेमचन्द की कहानी-कला—[श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त] ९३७
प्रेमचन्द का रचना-रहस्य—[श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम० ए०] ... ९४५
संतोष जीवन का सबसे बड़ा धन—[श्री केशरी किशोरशरण, एम० ए०] ९४८
मानव हृदय के कवि—[श्री वीरेश्वर सिंह, एम० ए०, एल० एल० बी०] ... ९५३
कृषक-बन्धु प्रेमचन्द—[श्री 'करुण'] ९५७
हिन्दी-साहित्य के अभिमान प्रेमचन्द—[श्री अनसूयाप्रसाद पाठक] ... ९५९
श्री प्रेमचन्दजी—[श्रीमती उषादेवी मित्रा] ९६५
हंस-वाणी—[सम्पादकीय] ९६८

प्रेमचन्द का स्मारक
हंस
जून १९३७
सहशिक्षा— गिजुभाई बधेका
गतिशील चिंतन— हजारीप्रसाद द्विवेदी
दर्पहरण— रवीन्द्रनाथ ठाकुर
काल्पनिक और वास्तविक— जनार्दनराय
एक पहेली— 'पहाड़ी'
एक भाषण— जैनेन्द्रकुमार
मुक्ता-मंजूषा, नीर-क्षीर, सामयिक, इत्यादि इत्यादि...
सम्पादिका
शिवरानी देवी

लेख-सूची

१. गीत (कविता)—[तारा पाण्डे] ९७५
२. सहशिक्षा—[गिजुभाई बधेका] ९७६
३. काल्पनिक और वास्तविक (कहानी)—[जनार्दन राय] ९८५
४. कहानी की करामात (कहानी)—[लक्ष्मीधर नायक] १०००
५. भिखारी बालक (कहानी)—[मार्सेल प्रूस्त १००७
६. प्रेयसी (कविता)—[आरसीप्रसादसिंह] ... १०१०
७. खेत (गद्य-गीत)—[देवीलाल सामर] १०१३
८. गतिशील चिन्तन—[हजारीप्रसाद द्विवेदी] .. . १०१५
९. आँसू (कविता)—[मंगलामोहन] १०२०
१०. एक पहेली (कहानी)—['पहाड़ी'] १०२१
११. वर्तमान सभ्यता और उसका भविष्य (निबन्ध)—[कामेश्वर शर्मा] ... १०३०
१२. चित्रकार (कहानी)—[विश्वात्मा १०३५
१३. दर्पहरण (कहानी)—[रवीन्द्रनाथ ठाकुर]... .. ... १०३७
१४. वात्सल्य (कहानी)—[करुण] १०४५
१५. एक भाषण—[जैनेन्द्र कुमार] १०४८
१६. मुक्तामंजूषा (विविध) १०५२
१७. नीर-क्षीर —(समालोचना)—[विविध १०७४
१८. सामयिक—(टिप्पणियाँ) १०८१
१९. हंसवाणी—(सम्पादकीय) १०८५

'कोई-न-कोई पुस्तक पढ़ते रहने से बुद्धि की वृद्धि होती है।'

—महात्मा गांधी

नए-प्रकाशन

१
बरगद
०-१२-०

२
आधी रात
[यंत्रस्थ]
२-०-०

३
अहंकार
[द्वितीयावृत्ति]
१-०-०

४
कफ़न
२-०-०

५
कुत्ते की कहानी
०-१२-०

सरस्वती-प्रेस,
बनारस।

बरगद—गुजराती का एक अमूल्य रत्न। आचार्य काका साहब कालेलकर की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना सहित। आकर्षक छपाई और पक्की जिल्द।

आधी रात—श्री जनार्दन राय नागर लिखित मानव हृदय के संघर्षों का चित्रण। यह नाटक हिन्दी में अनोखा ही होगा। पहले से ऑर्डर दीजिए। सजिल्द।

अहंकार—अनाटोले फ्रान्स का अमर उपन्यास। हिन्दी रूपान्तरकार, प्रेमचन्द। नया संस्करण, सुन्दर छपाई।

कफ़न—छप गया है। प्रेमचन्द की असंग्रहीत कहानियाँ। ऑर्डर दीजिए।

कुत्ते की कहानी—(बालोपयोगी) एक कुत्ते की अति रोचक आत्म कहानी।

— सब प्रकार की पुस्तकों का प्राप्ति स्थान

हंस

जून १९३७ वर्ष—७ : अंक—९ ज्येष्ठ १९९४

गीत

[तारा पाण्डे]

मिला है जन्म का वरदान!
मुझको जन्म का वरदान!

बालपन के प्रात में मैंने सजनि, जब आँख खोली,
पूर्व नभ में दीखती थी बाल-रवि की लाल रोली—
उसी लाली से लिखा है सुभग मेरा गान!
लाली से भरा यह गान!

दूर होकर इस जगत से मैं बसाती स्वप्न का पुर,
कौन जाने किस स्मृति से भर गया मेरा मृदुल उर—
उन उमंगों में छिपे थे प्राण के अरमान!
भोले प्रेम के अरमान!

कली ही मुरझा गई, मैं फूल-सी खिलने न पाई,
दूर प्रिय परदेश में थे, कोकिला मुझ को न भाई—
'पिउ कहाँ?' की मधुर ध्वनि से भर गए थे प्राण!
पीड़ा से व्यथित ये प्राण!

रात के सूने स्वरों में थिरकते तारे गगन के,
झर रहे थे बकुल-से होकर शिथिल आँसू नयन के—
इन्हीं बूँदों को लिये मैं कर रही आह्वान!
प्रिय का कर रही आह्वान!

सहशिक्षा

[गिजुभाई बधेका]

सहशिक्षा का प्रश्न जितना गम्भीर है उतना ही जटिल और कठिन भी है। यह प्रश्न आज का कोई नया प्रश्न नहीं है। हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि पौराणिक काल में भी सहशिक्षा की संस्थायें थीं। मध्ययुग भी इन संस्थाओं से वंचित न था। कच और देवयानी एक ही गुरु के आश्रम में पढ़े थे। आर्यमैत्रेयी ने भी ऐसे ही एक प्राचीन पुण्य आश्रम की छाया तले रहकर अध्ययन किया था। गुजरात के प्रेमी युगल 'सदेवंत और सावलिंगा' न प्राचीन काल के कहे जा सकते हैं, और न आधुनिक काल के। पर इन दोनों प्रेमियों ने एक ही शिक्षक की पाठशाला में साथ-साथ अभ्यास किया था। वहीं ये एक दूसरे के प्रति आकर्षित हुए और वहीं इन्होंने शुद्ध प्रेम की दीक्षा ली। सहशिक्षा की बुराइयाँ दिखाते और उसका विरोध करते समय आज बहुधा हम भ्रमवश इनका उदाहरण देते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि भूतकाल में सहशिक्षा सफल नहीं हुई थी। भूतकाल की नींव पर भविष्य का निर्माण करने की वृत्ति और श्रद्धा वाले लोग इस तर्क को सुनकर खुश होते हैं। इसका उदाहरण देकर वे भविष्य की आँखों पर पर्दा डालते हैं। किन्तु ऐसे लोगों को याद रखना चाहिए कि जनता जिस चीज़ को आत्मसात् कर लेती है या जो वस्तु जनता के जीवन में होती ही नहीं, उसका उल्लेख न इतिहास के पृष्ठों पर होता है, न स्मृतिकारों के स्मृति लेखों में। कवि की काव्यकृति में, साहित्य की सपाटी पर, और कलाधर की कल्पना में भी उसका कोई स्थान नहीं होता। इतिहास, काव्य, कला या साहित्य में जो अवतरित होती है, वे या तो लोक-जीवन की न्यूनतायें हैं, या स्खलनों के कीर्तिस्तंभ हैं या आदर्शों के उल्लेख हैं। जो वस्तु लोकजीवन में ओतप्रोत हो चुकी है, जो प्रश्नरूप में जनता के सामने खड़ी हो चुकी है और जनता जिसका निर्णय कर चुकी है, उसका कहीं उल्लेख करने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इतिहास और समाजशास्त्र के ज्ञाता निर्णीत प्रश्नों का उल्लेख तभी करते हैं जब उस सम्बन्ध का कोई अपवाद उपस्थित होता है। ऐसा करके वे उस वस्तु के अस्तित्व की, और उसके सफल निर्णय की, सूचना देते हैं, और विश्वास दिलाते हैं कि इन अपवादों को छोड़ कर सामान्यतया इस सम्बन्ध में निश्चिन्त रहना ही उचित है—या यह चेतावनी देते हैं कि अपवाद में सूचित परिणाम भी अपेक्ष है, अतः उनके सम्बन्ध में जाग्रत रहने की आवश्यकता है।

इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन और मध्ययुग में सहशिक्षा की क्या स्थिति होगी? इस प्रश्न के फिर से समाज के सामने उपस्थित होने की अब बहुत ही कम सम्भावना है।

रही होगी। लेकिन हम भूतकाल से बँधे हुए नहीं हैं। प्राचीन काल में सहशिक्षा नाम की वस्तु रही हो, या न रही हो, आज सहशिक्षा का विचार करने से हिचकिचाना हमारे लिए उचित न होगा। इसी तरह यदि भूतकाल पुकार-पुकार कर यह कहता हो कि सहशिक्षा निष्फल रही है, असफल हुई है, तो भी आनेवाली पीढ़ी के हित का विचार करते समय, इस पुकार के कारण, सहशिक्षा से भड़कना हमारे लिए उचित न होगा। हाँ, हम चाहें तो इस पुकार को एक 'कॉशन सिगनल' या लाल रोशनी मानकर आगे बढ़ सकते हैं। वर्तमान को भूतकाल के अनुभव से लाभ उठाना है, और अपनी तरफ़ एवं विशेषकर भविष्य की तरफ़ दृष्टि रखकर कर्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करना है। सहशिक्षा के प्रश्न का विचार करते समय यह वृत्ति ही हमारा ध्यान-मात्र होना चाहिए।

आज हम इस बात को बिलकुल भूल गए हैं कि एक ज़माना था जब हमारे बालक साथ-साथ पढ़ते थे। किन्तु राज-सत्ता के परिवर्तन के साथ शिक्षा के आदर्शों में, शिक्षालयों में और शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन होते रहे हैं। आज नालंदा विश्वविद्यालय के बदले शान्तिनिकेतन में 'विश्व-भारती' की कल्पना आविर्भूत हो रही है—क्षितिज पर उसकी लालिमा छा चुकी है। हमारी चटसालों, मकतबों और मदरसों का स्थान सरकारी पाठशालाएँ बहुत पहले ले चुकी हैं। और इन पाठशालाओं और चटसालों के बीच बड़े-बड़े बुर्जों-जैसे महाविद्यालय और विश्वविद्यालय बरसों हुए, खड़े हो चुके हैं। वह ज़माना लद चुका कि जब अकेले ब्राह्मण ही विद्याध्ययन करते थे, और दूसरे वर्णों के लोग स्वधर्म में रहकर स्वकर्त्तव्य का पालन करने की शक्ति का उपार्जन करते और ब्रह्मविद्या से वंचित रहते थे। आज वह अनुदार और पाप-प्रवण वृत्ति तो लुप्तप्राय हो गई है, जिसके कारण विद्या को कुछ वर्गों से नितान्त अस्पृश्य रहना और एक वर्ग-विशेष की दासता करनी पड़ती थी। पाश्चात्य संस्कृति और रहन-सहन के संसर्ग से और विशिष्ट राजनीतिक स्थिति के कारण, आज देश में वर्ण धर्मों का तो प्रायः उच्छेद ही हो चुका है। और इस उच्छेद के साथ आज समाज के अन्दर ज्ञान की एक भूख, एक अदम्य सी लालसा उत्पन्न हो गई है। साथ ही आज की शिक्षा-संस्थाएँ सारे समाज को न्योता दे रही हैं कि वह अपने वास्तविक अधिकारों से लाभ उठावे। आज प्रजा को शिक्षित बनाना राज्य का कर्तव्य हो गया है, और आम तौर पर यह माना जाने लगा है कि हर आदमी को पढ़ने का, विद्याभ्यास करने का हक़ है। स्त्रियों की और दलित वर्ग की शिक्षा के सम्बन्ध में आज हमारा समाज अपना विचार बदल चुका है—वह तो अब यहाँ तक मानने लगा है कि स्त्रियों और दलितों को विद्याभ्यास का अवसर अवश्य मिलना चाहिए, क्योंकि यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है, और इस अधिकार में किसी को हक़ नहीं कि वह बाधा डाले। जिस प्रकार विद्याभ्यास ने एक सार्वजनिक आवश्यकता का रूप ले लिया है, उसी प्रकार विद्याभ्यास का प्रबन्ध करना भी सामाजिक कर्त्तव्य माना जाने लगा है। इसका मूल कारण युग का आवश्यकता है—ज्ञान की बढ़ती हुई भूख और उसकी अनिवार्यता है। स्त्री-शिक्षा और दलित-शिक्षा के प्रश्नों का उद्गम समाज की इस गहरी अनुभूति में से है कि जब तक उसका एक भी अंग शिक्षा से वंचित रहेगा, तब तक वह पंगु ही बना रहेगा। बिलकुल ही अस्पृश्य न होने के कारण, अथवा अस्पृश्यों से कुछ सन्निकट होने के कारण, स्त्री-शिक्षा का प्रश्न कुछ जल्दी हाथ में लिया गया। फिर भी अभी तो उसका आरम्भ ही हुआ है। अपने विशेष स्वार्थ के कारण भी हमने स्त्रियों की शिक्षा को अन्त्यजों की अपेक्षा पहले अपनाया है। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि इस नव युग में स्त्री शिक्षा का अपना स्थान बन चुका है, उसकी जड़ जम चुकी है। स्त्रियाँ शिक्षित हों या न

किन्तु जहाँ अछूतों को पढ़ाने-लिखाने की आवश्यकता को मानते हुए भी, उन पर दया करके आज हम उनकी शिक्षा का अलग प्रबन्ध करने के हिमायती हैं, अपने और उनके कल्याण के नाम पर उन्हें अपनी पाठशालाओं से दूर रखते हैं, और ऐलान यह करते हैं कि इसी में दोनों के स्वधर्म की रक्षा है, तहाँ स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता को स्वीकार कर चुकने पर भी हम उन्हें लड़कों की और पुरुषों की पाठशाला से दूर रखा चाहते हैं और उनके लिए अलग पाठ्य-क्रम बनाते हैं। अछूत-पाठशालाओं और कन्या-पाठशालाओं का पृथक् अस्तित्व ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। लेकिन आज समाज में एक दल ऐसा पैदा हो गया है जिसे अछूतों और स्त्रियों की यह अस्पृश्यता बुरी तरह खटकती है। उसके विचार में तो समाज के माथे में लगी हुई ये दो कलंक-कालिमाएँ हैं। यह दल अछूतों से अपवित्र हो जाने वाले ब्राह्मण की शुचिता और समाज के ब्रह्मत्व को एवं स्त्रियों से अस्पृश्य रहनेवाले विद्यालय की पवित्रता को सशंक दृष्टि से देखता है। जिस परिस्थिति के कारण अछूतों की पाठशालाओं में सवर्णों के बालक पढ़ नहीं सकते और जिसके कारण कन्या-शालाओं के द्वार बालकों के लिए बन्द रखे जाते हैं, वह परिस्थिति इस दल के विचार में एक चौंकानेवाली परिस्थिति है। यह दल अपनी ही आँखों देख रहा है कि समाज अछूत-पाठशाला के द्वार पर खड़ा होकर लोगों को अन्दर जाने से रोक रहा है, और कन्याशाला या स्त्री-शिक्षा की किसी भी संस्था के द्वार पर बैठा हुआ दरबान पुरुषों को अन्दर जाने से मना करता है। यह एक भयंकर स्थिति है। इस स्थिति के प्रतिकार के लिए ही नहीं, किन्तु अन्य अनेक कारणों के विचार से भी आज सहशिक्षा का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो चुका है। प्रश्न उपस्थित इसलिए हुआ है कि सहशिक्षा को अभी तक हमने सिद्धान्त के रूप में स्वीकार ही नहीं किया है। जहाँ-जहाँ उच्च शिक्षा के लिए स्त्रियों को पुरुषों के साथ पढ़ना पड़ता है, वहाँ-वहाँ हमने यही मानकर संतोष किया है कि जब स्त्रियों के लिए दूसरी कोई सुविधा नहीं है तब क्या किया जाय? आजकल के कन्याविद्यालय, महिला विद्यापीठ, और इस दिशा में होनेवाले दूसरे आन्दोलन हमारी इस बात के समर्थक हैं। सहशिक्षा के हिमायती मानते हैं कि जीवन में स्त्री और पुरुष के कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी वे उनके समान अधिकारों में विश्वास रखते हैं, और इन अधिकारों की रक्षा के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि स्त्री-पुरुष दोनों को अपने-अपने जीवन के कर्तव्यों का समुचित पालन करने के लिए एक साथ विद्याभ्यास करना चाहिए। एक दल इस विचार का भी है कि और चाहे कोई कारण हो या न हो, केवल इसलिए कि स्त्री भी पुरुष की तरह मानव है उसे पुरुष के समान शिक्षा मिलनी चाहिए; यही नहीं, बल्कि पुरुष से अलग रखकर पढ़ाने की प्रथा स्त्री के लिए अपमानजनक समझी जानी चाहिए। कुछ ही क्यों न हो, जब सहशिक्षा का प्रश्न हमारे सामने है, तो इन सभी दृष्टिकोणों से उसकी छानबीन करके अपने निर्णय से पाठकों को सूचित करना एक कर्तव्य है, जिसका आज हमें पालन करना पड़ रहा है।

आज जहाँ-जहाँ सहशिक्षा द्वारा उच्चशिक्षा प्रचलित है, वहाँ-वहाँ इस प्रथा में पले हुए मनुष्यों में एक दल ऐसे विचारों का भी है, जो कहता है, सहशिक्षा पूरी तरह सफल नहीं हुई। जब कि ठीक इसके विपरीत, एक ज़ोरदार मत यह भी है कि सहशिक्षा से विद्यार्थियों की कोई हानि नहीं हुई है, उल्टे लाभ ही हुआ है। यह तो स्पष्ट ही है कि वे दोनों विचार विभिन्न अनुभवों के परिणाम हैं। इनमें जो अन्तर है, उसके कारणों का विचार हम आगे चलकर करेंगे। जब सहशिक्षा का यह प्रश्न समाज के सम्मुख उपस्थित होता है, तो उसके अन्दर एक घबराहट-सी फैल जाती है। बहुतेरे लोग सहशिक्षा की योजना को सामाजिक जीवन की पवित्रता के लिए एक महान् आपत्ति समझते हैं—सहशिक्षा का नाम लेते ही उन पर वज्रपात-सा होता है। सभी

माता-पिता अपनी सन्तान को पवित्र, सदाचारी और नीतिमान् समझते हैं, अतः उन्हें इस बात की बड़ी आशंका रहती है कि कहीं सहशिक्षा के कारण उनकी पवित्रता, सदाचार और नीतिमत्ता को धक्का न पहुँचे। संस्थाओं के संचालक सहशिक्षा का प्रयोग करते हुए इसलिए काँपते हैं कि कहीं उनके माथे कलंक का टीका न लग जाय! शिक्षकों को भी सदा यह भय बना रहता है कि विद्यार्थियों को पढ़ाते समय, पता नहीं हमारी मानसिक स्थिति कैसी रहे? कहीं ऐसा न हो कि हम खुद ही फिसल पड़ें? समाज की और माता-पिताओं की यह कमज़ोरी उनकी सन्तान में आये बिना रह जाय, यह भला कैसे हो सकता है? जब विद्यार्थियों के सामने सहशिक्षा का प्रश्न आता है तो वे भी समाज की आशंका को दुहराने लगते हैं। आखिर, हैं तो वे भी समाज ही के प्रतिबिम्ब न? माता पिता को कदाचित यह पता नहीं होता कि उनकी सन्तान में क्या-क्या कमज़ोरियाँ हैं; पर सन्तान तो स्वयं अपने गुण-दोषों को भलीभाँति समझती ही है; अतः इस प्रश्न के खड़े होते ही विद्यार्थी पुकार उठते हैं—बाबा, हमें सहशिक्षा से बचाओ। हम लड़कियों के साथ भला क्योंकर पढ़ सकते हैं? हमारे पतन-शील स्वभाव को उनका यह सहवास अधिक पतनोन्मुख बना देगा; हमारी निर्बलता में इससे वृद्धि होगी!

संक्षेप में, सहशिक्षा के पक्ष और विपक्ष में इस प्रकार की मोर्चाबन्दी हो चुकी है। ऐसे समय इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम उनकी दृष्टियों से इस प्रश्न की छानबीन करें।

× × ×

पहले हम सहशिक्षा के स्वरूप को देख लें। सहशिक्षा की एक कल्पना तो यह है कि विद्यार्थी और विद्यार्थिनियाँ एक साथ पढ़ें। उनका पाठ्यक्रम भी एक ही हो, या उसमें थोड़ा बहुत फ़र्क भी रहे; वे एक-दूसरे की समझ में आवें; परस्पर एक-दूसरे के सहायक और मित्र बनें; और जिस प्रकार पुरुष-पुरुष विद्यार्थी और स्त्री-स्त्री विद्यार्थिनियाँ परस्पर खेलती हैं, हँसी-मज़ाक़ करती हैं, वाद-विवाद और तर्क-वितर्क करती हैं, और जीवन के आदर्शों और स्वप्नों का निर्माण करती हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष विद्यार्थी भी मिलकर करें। दूसरी कल्पना ऐसी है कि स्त्री और पुरुष एक साथ पढ़ें-लिखें, और एक ही प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करें, लेकिन इसके सिवा उनमें परस्पर और कोई सम्बन्ध न हो। तीसरी कल्पना यह है कि विद्यार्थी और विद्यार्थिनियाँ भले एक ही प्रकार की या भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा एक ही स्थान में साथ बैठ कर ग्रहण करें; लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ ख़ास अवसरों पर, गुरुजनों या शिक्षकों की सीधी देखरेख में, किसी न किसी कारण से मर्यादापूर्वक वे एक दूसरे के सम्पर्क में भी आवें। अब हमें निश्चय करना है कि इनमें से किस प्रकार की सहशिक्षा व्यवहार्य और स्वीकार्य हो सकती है।

सहशिक्षा में जैसे एक ओर शिक्षा का सवाल है, वैसे दूसरी ओर जीवन का सवाल भी है। यदि सहशिक्षा के मूल में केवल आर्थिक प्रश्न हो, तो उस प्रश्न को हल करते समय हमें अपने देश की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना होगा। यदि इस प्रश्न को केवल बौद्धिक दृष्टि से हल करना हो, तो हमें यह सोचना पड़ेगा कि किस प्रकार के पाठ्यक्रम से हमें क्या तो लाभ होंगे और क्या हानियाँ होंगी। और यदि इस प्रश्न की छानबीन हमें मनुष्य के शरीर और उसकी मानवता के विकास की दृष्टि से करनी है, तो हमें शरीर-विकास और मानव-विकास के नियमों की जाँच-पड़ताल करनी होगी और इन दोनों का परस्पर एक दूसरे पर जो प्रभाव पड़ता है उसे देख-कर किसी निर्णय पर पहुँचना पड़ेगा। और यदि हमें नैतिक दृष्टि से इसका ऊहापोह करना है, तो पहले हमें अपनी नीति-विषयक कल्पना को स्थिर करना होगा। और विद्यार्थियों के नैतिक जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है, इसका विचार करना होगा।

साधारणतया आज तो हम इस प्रश्न का विचार आर्थिक दृष्टि से करते ही नहीं हैं, और अगर करते भी हों, तो उत्तर यही है कि लड़कों और लड़कियों को एक ही साथ पढ़ाना चाहिए। आज हमारे सामने यह प्रश्न अपने उग्र रूप में इसलिए नहीं है कि अभी तक हमारे समाज में स्त्री-शिक्षा का महत्व अपनी पराकाष्ठा को नहीं पहुँचा है। किन्तु यदि पुरुषों के जितनी ही स्त्रियाँ भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए निकल पड़ें, तो संभव है कि आर्थिक कारणों से सहशिक्षा के विरोधियों को भी उसका जूआ अपने कन्धों पर रख लेना पड़े। यदि आज हम शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बनाते हैं, तो शिक्षा की मद में इतनी अधिक रक़म खर्च हो जाने का भय रहता है, जिससे संभव है कि सहशिक्षा को अवसर मिल जाय। कुछ ऐसे ही कारणों से आज भी कई स्थानों की प्राथमिक पाठशालाओं में कुमार और कुमारिकायें एक साथ पढ़ती हैं। लेकिन दूसरे प्रश्नों की तुलना में आर्थिक प्रश्न उतने महत्व का नहीं माना जा सकता; अतः हम इसे यहीं छोड़ सकते हैं—यद्यपि पश्चिम के धनाढ्य देशों में तो सहशिक्षा के विचार से आर्थिक प्रश्न भी एक महत्व का प्रश्न बन गया है। यदि हमारे सामने छात्रों और छात्राओं के एक मात्र बुद्धि-विकास का ही प्रश्न हो, तो उसे भी हम हल कर सकते हैं; यद्यपि वह उतना सरल नहीं है। हमें देखना होगा कि स्त्री के बौद्धिक विकास के लिए कितना और किस प्रकार का पाठ्यक्रम बनाने की आवश्यकता है, और यह कि वैसा पाठ्यक्रम सहशिक्षा से मेल खा सकता है या नहीं। पाठ्यक्रम कैसा ही क्यों न बने, इस बात का प्रबन्ध किया जा सकता है कि वह सहशिक्षा की योजना के लिए घातक न बने। जैसे-जैसे विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों के बीच की बुद्धिशक्ति का अन्तर प्रकट होता जाता है, वैसे-वैसे आज के विद्यार्थियों को सफल शिक्षा देने के लिए शिक्षा का प्रवाह सामूहिक शिक्षा की ओर से मुड़कर वेगपूर्वक व्यक्तिगत शिक्षा की ओर से बहता जा रहा है। इसी प्रकार विषयों के प्रति की रुचि-अरुचि के कारण आज हम कई विषयों को ऐहिक बना डालने के पक्ष में होते जा रहे हैं। साथ ही, हम यह मानने लगे हैं कि आजकल की पाठशालाएँ अपूर्ण शालाएँ हैं। ये शालाएँ शिक्षा का काम करने के बदले शिक्षा के विनाश का काम कर रही हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि पाठशालाओं या विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा जीवन की शिक्षा को तो स्पर्श भी नहीं करती हैं। इसी कारण आनेवाली शालाओं का रुख़ शाला या विद्यालय को जीवन की शिक्षा देने वाला बनाने की ओर है, और आजकल के कुछ इने-गिने विषयों की मर्यादा को तोड़ कर ऐसी शिक्षा देने की ओर है जो जीवन भर के लिए मार्गदर्शक हो। और यदि ऐसा ही हो तो स्त्रियों को, जो बहुत देर बाद इस क्षेत्र में आ रही हैं, शिक्षा-विषयक नए से नए विचारों का लाभ मिल सकता है। यदि हम मान लें कि विद्यार्थियों की और विद्यार्थिनियों की मनःशक्ति और बुद्धिशक्ति में अन्तर हो सकता है, स्त्रियों को कुछ ख़ास विषय सीखने की अधिक आवश्यकता हो सकती है, और पुरुषों को कोई ख़ास विषय सीखने की उतनी आवश्यकता नहीं भी हो सकती है, तो जहाँ शिक्षा का प्रबन्ध विशाल, व्यक्तिगत और ऐच्छिक होगा, वहाँ यह प्रश्न सहशिक्षा के मार्ग में बाधक हो ही न सकेगा। लेकिन कुछ लोग यह प्रश्न खड़ा करके कि जहाँ शिक्षा का प्रबन्ध विशाल नहीं है, जहाँ सामूहिक शिक्षा ही दी जाती है, जहाँ पाठ्यक्रम लड़कों की दृष्टि से ही बनाया जाता है, और जहाँ सामाजिक स्थिति ऐसी है कि लड़की को एक ख़ास उमर के बाद 'गृहस्थी में' प्रवेश करना ही पड़ता है, वहाँ लड़कों की पाठशालाओं में प्रचलित पाठ्यक्रम से लड़कियों के बुद्धि-विकास में न्यूनता रह सकती है; और इसलिए वे कहते हैं कि सहशिक्षा न होनी चाहिए। अगर हम मान लें कि साधारणतः लड़कों का जो पाठ्यक्रम होता है, वह उनकी बुद्धि के हिसाब से ठीक होता है, तो लड़कियों

के लिए उससे अधिक पाठ्यक्रम रख कर, उन्हें स्वतन्त्र पाठशालाओं में पढ़ाना उन्हीं के लिए कठिन होगा ; उनका सच्चा बुद्धि-विकास न हो सकेगा और यदि कोई चीज़ उन्हें मिलेगी, तो वह असमय की कच्ची जानकारी होगी ; क्योंकि जब हम यह मानते हैं कि लड़कों और लड़कियों की बुद्धि समान हो सकती है, तब हमारे लिए यह ज़रूरी नहीं रहता कि सहशिक्षा के लिए हम उनका पाठ्यक्रम अलग रखें ; लेकिन यदि स्वतंत्र स्कूलों में हम लड़कियों का अलग पाठ्यक्रम इस दृष्टि से रखते हैं कि उन्हें जल्दी ही गृहस्थी में प्रवेश करना पड़ता है तो हम यह मानने की भूल करते हैं कि लड़कियाँ लड़कों से अधिक बुद्धिमत्ती होती हैं, और यह एक ऐसी बात है जिसे हम अभी तक सिद्ध नहीं कर सके हैं। शिक्षा-शास्त्र आज इस बात को सुनने को तैयार नहीं है कि चूँकि ब्याह जल्दी करना है, इसलिए जल्दी ही पढ़ लेना चाहिए और ख़ूब पढ़ लेना चाहिए। समाज की रूढ़ियाँ अन्धी हैं और स्त्री पराधीन है, लेकिन इसीलिए हम शिक्षा को अन्धी और पराधीन नहीं बना सकते। शिक्षा को तो स्त्री और रूढ़ियों की मुक्ति के लिए यत्न करना है, इसलिए उसे तो स्वतंत्र ही रहना चाहिए। अतएव स्त्री को झटपट पढ़ा-लिखा देने की लालच से शिक्षा की स्वाभाविकता को नष्ट करना ठीक न होगा। यह एक ग़लत तरीक़ा होगा। और सहशिक्षा के क्षेत्र में तो इसका प्रयोग हो ही नहीं सकता। इससे स्त्री-शिक्षा की जो समस्या है उसका कोई उत्तर हमें नहीं मिलता और सहशिक्षा की चर्चा करते हुए उसका कोई उत्तर मिल भी नहीं सकता। फिर भी प्रश्न हो सकता है कि सहशिक्षा की योजना में स्त्री के लिए एक सुयोग्य स्त्री बनने की शिक्षा का प्रबन्ध हो सकती है या नहीं? इस पर यहाँ विचार किया जा सकता है। अगर हम बुद्धि-विकास के प्रश्न को लें तो स्त्री और पुरुष के लिए एक ख़ास प्रकार की शिक्षा तो एक सी ही होनी चाहिए—हो सकती है। भाषा, गणित, इतिहास आदि विषयों से पुरुषों की जितनी बुद्धि बढ़ सकती है, उतनी ही स्त्रियों की भी बढ़ सकती है। साथ ही हमें यहाँ नम्रता पूर्वक इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए कि अपने किस अधिकार से हम यह कहना चाहते हैं कि एक मनुष्य के नाते स्त्री की बुद्धिमत्ता पुरुष की बुद्धिमत्ता से भिन्न होनी चाहिए! स्त्री को स्त्री के नाते योग्यता प्राप्त करनी है, पुरुष को पुरुष के नाते सुयोग्य बनना है। स्त्री और पुरुष की बुद्धिमत्ता का विकास उनकी पारस्परिक योग्यता का और उनकी अपनी निजी योग्यता का पोषक है। यही नहीं, बल्कि वह आवश्यक भी है। स्त्री के जो कर्तव्य पुरुष से भिन्न हैं, स्त्री को अपने अन्दर उनका विकास करना है और पुरुष का कर्तव्य है कि वह उन्हें समझे और उनकी क़द्र करे। यही बात पुरुषों के कर्तव्य के विषय में भी कही जा सकती है। स्त्रियों के ये जो आवश्यक कर्तव्य हैं, सहशिक्षा के विद्यालय इनके लिए हो सकते हैं। जब तक इन विद्यालयों में स्त्रियों के इन आवश्यक कर्तव्यों की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं होता है, तब तक सहशिक्षा का अर्थ संकुचित ही रहेगा। मैं मानता हूँ कि 'सहशिक्षा' का अर्थ केवल एक साथ पढ़ना नहीं है, किन्तु एक साथ अनेक प्रकार का जीवन बिताना है। इसी कारण यदि स्त्री केवल इतिहास, भूगोल, गणित या अर्थशास्त्र पढ़कर ही गृहस्थी में पदार्पण करती है, तो उसमें अनेक अपूर्णतायें रह सकती हैं। लेकिन इस डर से कि ऐसा होगा, सहशिक्षा से होनेवाले लाभों को छोड़ देना उचित नहीं। ऊपर सहशिक्षा की जिस अपूर्ण और संक्षिप्त योजना का उल्लेख किया गया है, उसकी पूर्ति के रूप में स्त्री को दूसरी शिक्षा दी जा सकती है, और इसके लिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि स्त्रियों के वास्ते कुछ ख़ास वर्गों का प्रबन्ध किया जाय। सहशिक्षा के आदर्श विद्यालय में तो प्रत्येक विषय के अलग-अलग ज्ञान का प्रबंध रहेगा, अतएव सहशिक्षा की दृष्टि से उसके पाठ्य-क्रम का विचार करना आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि वह तो फिर एक तफ़सील का प्रश्न रह जाता है।

हम देख चुके हैं कि ऐसी कोई बात नहीं है जिससे स्त्री बुद्धि में पुरुष से सदा कम रहती हो; यही नहीं, बल्कि जहाँ-जहाँ स्त्रियों ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया है, वहाँ-वहाँ वे पीछे नहीं हटी हैं, उलटे बहुधा अपना स्वास्थ्य खोकर भी उन्होंने परीक्षा वग़ैरह में अपनी बुद्धि-शक्ति का प्रभाव दिखाया है। बिल्कुल संभव है कि हम वस्तुस्थिति का विरोध न करें या इसे ग़लत साबित न कर सकें ; फिर भी हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम स्त्री और सहशिक्षा की शारीरिक विषय की दृष्टि से भी छान-बीन कर लें। इसमें दो बातें मुख्य हैं—एक; अगर सहशिक्षा में लड़कियों को उसी पाठ्यक्रम का अनुसरण करना पड़ा जो लड़कों के लिए उनकी दृष्टि से बनाया गया है, उन्हीं के जीवन की तैयारी का जिसमें विचार किया गया है, और जो आमतौर पर लम्बा होता है, तो लड़कियों को इस पाठ्यक्रम की तैयारी में अपनी बहुत कुछ शारीरिक शक्ति ख़र्च कर डालनी पड़ेगी, जिससे बुद्धि-विकास का लाभ उठाने के लिए उन्हें अपने शरीर-विकास में इतनी हानि उठानी पड़ेगी कि पढ़ाई के व्यापार का दिवाला ही पिट जायगा। दूसरे, यह कहा जाता है कि शरीर और मन की रचना में और इन दोनों के धर्मों में स्त्री पुरुष से इतनी भिन्न है कि उसके शरीर और मन के विकास को सब प्रकार की बाधाओं से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शिक्षा का अलग प्रबन्ध किया जाय। कहने का आशय यह है कि सहशिक्षा के कारण स्त्रियाँ और पुरुष अपनी-अपनी स्वाभाविक शारीरिक शक्ति से हाथ धो बैठते हैं और स्त्रियाँ स्त्रीत्व खोकर मर्दानी बन जाती हैं और पुरुष पुरुषत्व भूलकर स्त्रीत्व के शिकार बन जाते हैं। अब हम एक-एक करके इन विचारों की छान-बीन करेंगे। हम यह तो मानते हैं कि सहशिक्षा में जहाँ तक हो सके पाठ्यक्रम की रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे जो कुछ पढ़ा या सीखा जाय ; वह दोनों के लिए हितकारक और विचार-प्रेरक बन सके। लेकिन यदि यह संभव न हो, तो हम यह भी कह चुके हैं कि स्त्रियों के लिए जो शिक्षा आवश्यक है, उसका एक हद तक स्वतंत्र प्रबन्ध भी कर लेना चाहिए। तब प्रश्न यह उठता है कि दीर्घकालीन पढ़ाई के परिणाम-स्वरूप शरीर को जो हानि पहुँचती है, और शरीर के स्वाभाविक विकास में जो बाधा पड़ती है, उसका क्या हो ? इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि ऐसी हानि केवल स्त्रियों को ही होती है, और पुरुषों को नहीं, इसका कोई सबूत है ? इसका निर्णय तो शरीर-शास्त्री कर सकते हैं ; क्योंकि यह उनका विषय है और उन्हें एक वाक्य बहुत प्रिय है—किसी को साधारण-सा व्याकरणाचार्य बनाने के लिए उत्कृष्ट मातृत्व की बलि क्यों दी जाय ? यह तो स्पष्ट ही है कि इस वाक्य से केवल आधा सत्य प्रकट होता है। डॉक्टरों का कहना है कि युवावस्था में जैसे असाधारण परिवर्त्तन स्त्री के शरीर में होते हैं, वैसे पुरुष के शरीर में नहीं होते। इस अवस्था में स्त्री को सन्तान-वृद्धि के अपने पवित्र कार्य के लिए शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य अनेक शक्तियों और योग्यताओं का भण्डार भर लेना पड़ता है, पूँजी एकत्र कर लेनी पड़ती है। अतः यह तो इष्ट ही है कि इस सारे समय में स्त्री गृह-कार्यों के बोझ से मुक्त रहे, मातृपद धारण न करे, और अपने शरीर और अपनी बुद्धि के विकास में लगी रहे। तो सवाल यह उठता है कि जिस देश में बाल-विवाह की और बचपन में गृहस्थ बनने की प्रथा है, उस देश में ऊपर कही गई शक्ति के संयम की दृष्टि से भी, उक्त शारीरिक और मानसिक विकास के लिए क्या यह आवश्यक है कि स्त्रियों को पुरुषों से अलग शिक्षा दी जाय ? स्त्रियों की शिक्षा का स्वतंत्र प्रबन्ध करके उनकी शारीरिक शक्ति के ह्रास को रोकने की अपेक्षा यह अधिक व्यावहारिक और बुद्धिमत्तापूर्ण मालूम होता है कि ऐसा मज़बूत प्रबन्ध किया जाय जिससे बुद्धि-विकास करते हुए स्त्रियों के शरीर क्षीण न हो सकें। शारीरिक शक्ति के विकास का यदि अधिक-से-अधिक ध्यान रखा जाय, तो डॉक्टरों की यह चिन्ता अवश्य

कम हो सकती है। डॉक्टरों का ऐसा तो कोई मन्तव्य नहीं है कि मातृत्व के साथ स्वास्थ्य और बौद्धिक विकास का समन्वय ही नहीं हो सकता, या कि ये दोनों परस्पर विरोधी तत्व हैं। वे तो यह कहते हैं कि यदि हम शिक्षा के विषय में विपरीत मार्ग ग्रहण करते हैं, तो हमारा बहुत बड़ा नुक़सान होता है। यदि सभी स्त्रियाँ श्रेष्ठ गणितज्ञ ही बन जायँ और पुरुष सभी पहले दर्जे के पहलवान बन जायँ, तो संसार में दुर्बल माताओं की और मूर्ख पुरुषों की संख्या में कल्पनातीत वृद्धि हो जाय! डॉक्टरों के कथन का सार केवल इतना ही है कि जब हम सहशिक्षा के विचारों में बहने लगें, तो इस बात को भूल न जायँ कि स्त्री स्त्री है और पुरुष पुरुष है; बल्कि ऐसा प्रबन्ध करें, जिससे दोनों को एक साथ पढ़ानेवाली संस्था में पढ़ाई का ऐसा निश्चित प्रबन्ध और क्रम हो, जिससे दोनों का स्वतंत्र और सम्पूर्ण शारीरिक विकास हो सके। यह प्रबन्ध हो नहीं रहा है, और अब तक हुआ नहीं है, इसी कारण डॉक्टरों को ऊपर की चेतावनी देनी पड़ती है।

अब हम उन लोगों की इस दलील का विचार करें, जो कहते हैं कि स्त्री और पुरुष शरीर और मन से इतने भिन्न हैं कि उनका विकास अलग-अलग ही होना चाहिए। पुरुष और प्रकृति का भेद अनादि काल से चला आया है। पुरुष बलवान है, स्त्री सुकुमार है; पुरुष प्रचण्ड है, स्त्री सौम्य है। इस तथ्य का हम कितना ही विरोध क्यों न करें, तथ्य तो तथ्य ही रहेगा। और यह तथ्य अकेले मनुष्य-जाति पर ही लागू नहीं होता, प्राणि-मात्र में यह भेद स्वभावतः मौजूद है। और इस भेद के कारणों का पता हम लगा सकते हैं। प्रकृति ने स्त्री को गर्भ धारण करने का, सन्तान को जन्म देने का और उसके लालन-पालन का जो सुख सौंपा है उसके साथ ही उसे स्नेह, मृदुता और सुकुमारता भी दी है; और पुरुष को स्त्री की और बाल-बच्चों की रक्षा करने के लिए, उनका भरण-पोषण करने के लिए, और स्त्री के सन्तानोत्पत्ति के कार्य को निर्मल और निरापद बनाने के लिए बल, शौर्य और निर्भयता दी है। स्त्री ने स्नेह द्वारा कवित्व का विकास किया, मृदुता और सुकुमारता द्वारा कला और लालित्य को बढ़ाया—संवर्धित किया; और अपनी सन्तान के लिए तथा गृहस्वामी के लिए घर को विश्राम-स्थल बनाकर स्वयं गृहस्वामिनी का पद स्वीकार किया। पुरुष ने जंगल छान डाले, खेत जोते, और इस दुनिया को स्त्री-बच्चों के लिए रहने योग्य बनाकर उन्हें निर्भय किया। उसने परिवार के पोषण का भार अपने ऊपर लिया और इस प्रकार वह गृहस्वामी बना। उसके बाद पुरुष जंगल से लौटा, उसने अपने हथियार और औज़ार एक ओर रख दिये और घर में बैठकर स्त्री का स्नेह-संगीत सुना और स्त्री की आत्मा के उल्लास से अपनी आत्मा को भी उल्लासमय बनाया। स्त्री ने निर्भय होकर, अनामय होकर, प्रेमगीत गाये और पुरुष के चरणों में अपनी कला-कृतियाँ रखकर उसमें जीवन का आनन्द माना। उसने पुरुष को ऐसा बालक भेंट किया, जो भय से सुरक्षित और पोषण पाकर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था। पुरुष ने उस बालक द्वारा स्नेह, मिठास और मृदुता का आकण्ठ पान किया और इस प्रकार वह अपनी स्त्री को अधिक समझ सका, उसके महत्व का भली भाँति आकलन कर सका। दोनों ने बालक को प्रजावृद्धि का यज्ञ समझा और इस यज्ञ की आहुति के रूप में अपनी-अपनी सभी अन्तर-बाह्य प्रवृत्तियों को होम कर अपने को कृतकृत्य माना। इस यज्ञ के गर्भ से ही गार्हस्थ्य का महान् धर्म पैदा हुआ। इस प्रकार प्रकृति में स्त्री-पुरुष का (प्रकृति-पुरुष का) निर्माण हुआ। स्त्री और पुरुष के बीच का भेद स्पष्ट है। फिर भी ऊपर के वर्णन से हम समझ सकते हैं कि उनका यह भेद ही उनके पारस्परिक विकास का कारण है। इसलिए भी हम तो सहशिक्षा का ही अधिक पक्ष करेंगे। घर को जीवन की स्थिरता का केन्द्र बनाकर ही अब तक स्त्री ने और पुरुष ने एक

दूसरे की मदद से अपना-अपना विकास किया है। इसी प्रकार विद्यालय या पाठशाला भी कुछ अंशों में घर का ही दूसरा स्वरूप है। घर वह जगह है, जहाँ कुछ ख़ास स्त्री-पुरुषों का कुछ ख़ास सम्बन्ध हो गया है, और वे पति-पत्नी के निश्चित सम्बन्ध से जुड़ गये हैं; जब कि विद्यालय वह जगह है, जहाँ स्त्री-पुरुषों का साधारण सम्बन्ध है, जहाँ वे भावी पति-पत्नी के या स्त्री-मित्र अथवा पुरुष-मित्र के सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। आज विद्यालयों को यह स्थान प्राप्त है, कल सामाजिक उत्सव के स्थानों और धर्म-भूमियों को यह स्थान प्राप्त था, और संभव है कि भविष्य में आज के विद्यालयों का स्थान कोई दूसरा ले ले। जब-जब विद्यालयों में या समाज की अन्य संस्थाओं में सहशिक्षा और सहजीवन का स्रोत सूखने लगता है, तब-तब समाज निर्दय और कठोर बनता है। जैसे-जैसे मनुष्य सहजीवन से बिछुड़ कर दूर चला जाता है, वैसे-वैसे उसके जीवन से स्नेह के सम्बन्ध भी क्षीण होते जाते हैं। यही नहीं, बल्कि उसमें परस्पर एक दूसरे का भय और अविश्वास भी बढ़ता जाता है।

हमारे समाज में स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक संबंधों की आज जो भयंकर स्थिति है, उसका कारण यही है कि हमारे अन्दर सहजीवन का जो निर्मल स्रोत बहा करता था वह इधर बराबर सूखने लगा है। स्त्री और पुरुष के शारीरिक और मानसिक विकास के नियम भले भिन्न-भिन्न हों और भले एक-दूसरे के कार्यक्षेत्र जुदा हों, फिर भी हमारे सामने उदार जीवन का जो आदर्श है, वह दोनों के उत्तम विकास के सुयोग का है; और इस आदर्श की सम्पूर्ण प्राप्ति के लिए स्त्री के साथ स्त्री की मित्रता अधूरी है। पुरुष-पुरुष की मैत्री भी अपूर्ण है; और स्त्री-पुरुष की मैत्री भी अपूर्ण ही है। स्त्री-पुरुष की परम सुन्दर मित्रता के साथ संतान-यज्ञ के हेतु की सफलता को स्वीकार करके समाज ने जो तत्व हमारे सम्मुख रखा है, वह विवाह का तत्व है। इसी कारण 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' जैसे स्मृति-वाक्य महत्वपूर्ण माने जाते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों के मानसिक और शारीरिक भेदों का प्रकृति ने और समाज ने यह जो निराकरण किया है, उससे सहशिक्षा के तत्व का कितना प्रबल समर्थन होता है, यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। जब हमारे दैनिक व्यवहार में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध इतना निकटवर्ती है, तो सवाल उठता है कि क्यों न ठेठ बचपन से ही इस सम्बन्ध को विकसित किया जाय? इस सवाल का सच्चा जवाब सहजीवन और सहशिक्षा है। अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृति के कारण ही स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के पूरक बनने के अधिक योग्य हैं। सच्ची एकता की नींव इसी में है कि मित्रता में एकरसता और विविधता में एकरूपता हो। वैज्ञानिक दुनिया में विद्युत् या बिजली इसका उदाहरण है। कोई एकाकी मठधारिणी और आजीवन ब्रह्मचारिणी या कोई एकान्तवासी, गुफानिवासी ब्रह्मचारी जीवन के विकास की अन्तिम सीढ़ी तक नहीं पहुँचा है—उसका विकास अब भी अपूर्ण है। उनके जीवन के किसी एक ही पहलू का दर्शन हमें भव्य और मोहक लग सकता है; किन्तु यदि वही दर्शन उनके समग्र रूप का हो तो वह नितान्त दिव्य होगा। किन्तु इस दिव्यता के दर्शन तो कुछ बिरले ही लोग कर सकते हैं, जो प्रजा-यज्ञ रूपी सत्य के सात्विक उपासक हैं।

[अगले अंक में समाप्य]

काल्पनिक और वास्तविक

[जनार्दन राय]

और उमेश ने इस तरह लिखना आरम्भ किया, मानो नींद में सपने जगा रहा हो—आप मुझसे लेख माँगते हैं ; पर मैं पूछता हूँ, मैं क्या लिखूँ ? मुझे तो यह विविध जीवन एक प्रदर्शिनी मालूम होती है, एक सदा निराश करनेवाली स्वप्न-भूमि—चित्रशाला। आप शायद मेरे विचारों से सहमत न हों, पर आप ही कहिये, इन सुन्दर-सुनहले फूलों का मर्म मैं क्या समझूँ ? इस हवा को मैं यों पगलों की तरह वस्तु-वस्तु को चूमते, छूते, टटोलते—कुछ पूछते पाता हूँ तो सोचता हूँ कौन दर्द है इस बहन को ? और यही भाव मुझे पशुओं, वृक्षों और सितारों की ओर कठोरतापूर्वक देखने नहीं देता। रमेश कबूतर लाया है। यह ठाठ, दरबा छोड़ अब घूमता रहता है; पर मैं उसके कबूतरों को देख सोचता हूँ, ये कबूतर कबूतर क्यों और रमेश मनुष्य क्यों ? अब मुझे राग अपहृतचित्त नहीं करते, मैं व्योम की इस संगीत-भावना में मुग्ध हो जाता हूँ ; अब मुझे कपड़े नहीं मोहते, मुझे उनके मर्म का रहस्य बेसुध कर देता है। इस विषमता, ऊँच-नीच और परिवर्तन की उदासीन शृंखला के जीवन पर मैं क्या लिखूँ, कहिये ? और जब तक मैं इस जीवन का 'क्यों ?' न समझ लूँ, तब तक जीऊँ क्यों, क्यों ? ये आज दिन तक के सिद्धान्त समय की प्रशस्ति भर थे और हैं। मुझे जीवन के किसी कहे जाने वाले सत्य में जैसे विश्वास ही नहीं—समय के आँचल से हर एक सूरत का मुँह यहाँ ढका हुआ है, कहो, मित्र ! मैं स्वप्न में रहूँ या जागृति में—कहो, तो !......

मन में मानो वेदना केन्द्रित हो उठी ; हृदय में मानो सोई हुई आग जल उठी, एक रिक्तता जाग उठी। ओह ! उसने क़लम रखकर बालों में अँगुलियाँ भरीं और गरदन झुका, असीम आकाश में देखा।

इतःस्ततः बिखरे तारों के झुण्ड और एक अपूर्व नीलिमा—अथाह, निर्जीव, निर्वचन, निश्चेष्ट ! वह यों देखता रहा। विचारों का सजीव प्रवाह मानो उसी में लीन हो रहा हो ; इस वारापार में अदृश्य हो रहा हो।

दीवार-घड़ी ने मानो सुनसान का लाभ लेकर टन, टन, टन, यों ग्यारह के घण्टे बजाये और शीला ने चद्दर फेंककर उठ बैठना ही अच्छा समझा। उठी, आँचल ठीक किया और चुपके, पर लपक कर उसके पीछे जा खड़ी हुई—लिख रहे हो न अपनी उसी को ? और उसने भेद भरी निगाह से सारा का सारा पत्र पढ़ डालना चाहा।

पर उमेश की विचार-मूढ़ता में स्पन्दन न हुआ। खुली हुई खिड़की से सदावियोगिनी वा का एक झोंका आया। और लैम्प की बत्ती को नींद में चौंका गया। मन्द विलमाई हुई प्रकाश-ाशि में मानो आकाश की अथाहता का उसे ज्ञान हो जायगा।

शीला ने पुनः कहा—मुझसे बोलने में भी अब आपको दाम देने पड़ते हैं, न?

उमेश की स्थिर दृष्टि तारों से उतर आई और लैम्प पर जम गई।

शीला ने आव देखा न ताव और बग़ल से लेकर अधलिखा पत्र छीन लिया। ता है क्या बजा है महाशय?—वह बोली और जैसे पत्र निगल जायेगी।

उमेश ने सहसा ठहाका मार कर कहा—ओहो, आप हैं! मैं समझा, मैं सपने में किसी को—

'हाँ, मैं भी तो यही कह रही हूँ, सपने में उसी की—' शीला ने आधे वाक्य में ही ूरा कह दिया। पर फिर भी उमेश ने पूछा—किसको?

शीला ने पत्र पुनः रख दिया। एक बार पत्र पढ़ना चाहा; पर न पढ़ा। यों का यों खने का नाटक कर उसने पत्र यथाविधि रख दिया। बोली—और किसको? मेरी सौत को!

शीला!—उमेश ने मानो उचक कर कहा—मानो हठात् उसे एक फ़िल्म याद आ ई, एक स्मृति-माला नज़र आ गई; एक गुप्त धन मिल गया हो यों उसने पूछा—सुनो तो!...

पर शीला झूमर-सी खाकर पुनः अपने बिस्तर पर हो रही। चद्दर से नख से शिख तक क-ढँकाकर वह सो गई। और उमेश यों का यों कुर्सी पर उसे एकटक देखता बैठा रहा। रात की ंजनता में समय की उदासीनता मानो घुल गई। वह उठा और शीला के सिरहाने जा बैठा—ुनती हो?

शीला अचल, जैसे बेसुध हो। उमेश ने उस अचलता की तह में एक गतिमान लड़ाई नेरख ली; दो पतली बादल की रेखाओं का आलिंगन देखा; दो विद्युतों का मेल पाया। बोला—ुनो! यों समझदार होकर तुम यह क्या करने लगीं? आज तुम्हें हो क्या गया यह, हूँ?

शीला ने उपालम्भ को, रोष को—दुनिया भर के रोष को—मसोस कर अधरों में बा दिया।

उमेश ने निश्वास रखा और शीला की अलकों को छुआ। उस अत्यन्त स्वमग्न ुनहली में नारंगी मुखड़े पर ये अलकें कैसी हैं, उसने सोचा। ये सम-पतली भवें और यह सुन्दर समथल ललाट! और, और ये बन्द प्रवाल, हल्के प्रवाल-सी आँखें? निसास के साथ उसने ोचा, यह क्या है? ये सुन्दरता के आकर्षण क्या उसे आजीवन रत रख सकेंगे? शीला के कंधे को साभार छूते हुए वह बोला—सुनो तो!

शीला ने करवट बदलते हुए कहा—जाकर जो करना हो, उसे क्यों नहीं कहते?

उमेश ने लैम्प की बत्ती की ओर देखा, और मानो उस बिन्दी-से प्रकाश में उसने अपने सजीव होते हुए, जलते हुए अतीत को यों आलोकित पाया। वह क्या कहने जा रहा था शीला से? क्या? यही न कि वह दिव्येश को भूल गया है और अब वही वह है उसके परिवर्तित जीवन में! कि वह स्त्री के एक और पहलू को देख पाया है; समझ पाया है कि वह जीवन में अब नया है; प्रफुल्ल है; पुनः पीयूषपूर्ण है! वह यही तो क़समिया कहना चाहता है कि शीला, तुमने मुझे जीवन के दलदल से निकाल बाहर किया है। प्रेम की, सुख की एक ताज़ी बयार उसे पुनः रोमाञ्चित कर रही है; यही न?

यही। स्थिर जड़ दीवारों ने मूक ही मूक कहा और मेज़ पर की पुस्तकें मानो हामी

भर उठीं। उस अखंड-सी नीरवता में एक सबल और जागृत वाणी, एक संगीतमय भाषण मानो उसमें उदित हो गया। और उसने शीला को अपनी ओर मुखवत करते हुए कहा—सुनो शीला, लोगों ने तुम्हें बहका दिया है। सुनती हो?

शीला जैसे काठ की बनी हो, यों हिलकर पुनः स्थिर हो गई।

पर उमेश ने कहना शुरू किया—तुम कहो उसकी सौगन्ध खा जाऊँ, पर मुझमें विश्वास करो। मैं उस दुष्टा को सर्वदा के लिए भूल गया। जीवन में स्त्री ही स्त्री तो सब कुछ नहीं है—और भी तो काम हैं, धन्धे हैं। सुना तुमने?

शीला का रोष मानो संताप के ठंडे किनारे से टकरा कर बेदम लौटने लगा। वह कुछ हिली।

और उमेश ने आकाश में ध्रुव को खोजने की लालसा से मानो देखते हुए आवेश में कहना चालू रखा—तुम्हीं यों मुझसे बात-बात पर रूठा करोगी, तो मैं कहाँ जाऊँगा? आख़िर आदमी से ग़लती नहीं होती? मैं तो सच पूछो तो भ्रान्तियों में पड़ना ही नहीं चाहता। भ्रान्ति ही तो! मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है, कालान्तर में हमारे सुन्दर से सुन्दर सपने सूख जाते हैं; मर जाते हैं! कैसे बेवक़ूफ़ हम हैं, कि सपने से प्रेम किया करते हैं? है न?

शीला ने धीरे से आँखें खोलकर उसकी मुद्रा को घूर कर देखा। एक बादल, वर्षा के बाद की तरी, और सूखी धरणी से उठती हुई भीगी हुई ज्वाला को मानो वह ताड़ पाई। 'सोना है कि यों ही रात बिता देनी है?'—उसने पूछा।

उमेश खोया-खोया वहीं सीधा लेट गया और उसके बाहु को अपनी छाती में भर लेता हुआ बोला—मैं अब कर्तव्य ही को जीवन मानता हूँ। वह तो निरा भोग था। भोग शरीर का आस्वादन भर है; कर्तव्य अजर की रचना—अमृत की प्राप्ति, तुम समझती हो मुझे?

और उसने अपनी पढ़ी-लिखी पत्नी की आँखों में देखा। शीला एक नहीं, दस उत्तरों को मन के भण्डार में भरे जा रही थी। बोली, मैंने तेल तो सर में मला ही नहीं आज! बिल्कुल भूल गई।

उठी, तेल की प्याली ला उसके सिरहाने जा बैठी और उसके सिर को अंक में ले तेल लगाना प्रारंभ किया। 'सो जाओ; सवेरे गाँव के चौधरी जो सर खाने आएंगे।'

उमेश ने मानो शांति का निसास रखा और उसके अंक में मुँह भर सोने लगा। बन्द नयनों के अंधकार में अंतःकरण की चीख़ साफ़ सुनाई दी। अतीत अधिक उज्जवल, अधिक सजीव दिखाई दिया। और मानो रोम-रोम से एक प्रश्न-ध्वनि गूंजी—यह कब तक? उमेश, यह कब तक??

दीवार-घड़ी अपनी उसी जड़ टिक, टिक से समय के उदासीन प्रवाह का लेखा लगाती रही और शीला अब आँसुओं को हृदय के किनारे पर ही रोकने में दत्त-चित्त हो गई। मशीन की तरह हाथ काम कर रहा था और पुतली की तरह वह बैठी थी। हवा का कुछ तीव्र झोंका आया और मानो सुनहली अधिक सुनहली और अन्धकार अधिक गहरा हो उठा।

अपने अंतःकरण की कचोट खा-खाकर उमेश तंद्रा में, और शीला मानो जागृति को आँखों में भरे अँधेरी के बने वृक्षों को देखती रही। फिर वह सहसा उठी और अधूरे लिखे हुए उस पत्र को पढ़ने लगी।

फिर उमेश की ओर उसने एकटक देखा और पत्र वापस रख दिया। उसे मालूम हुआ, रात अधिक घनीभूत और संसार अधिक स्वप्नों में लीन होता जा रहा है। तब? विध्येश, तुम इनके मन में विराग का यह छद्म विष भर रही हो? अच्छा—

× × ×

केलुओं पर उषा की सुषमा और वृक्षों में कलरवों की तुमुलता के पूर्व ही शीला उठ बैठी। उमेश ने पड़े रहकर कहा—अभी तो केलू सोने के नहीं हुए।

शीला ने बाल ठीक किये, और नाक की कील छूते हुए कहा—शास्त्रों में लिखा है, ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिए।

उमेश ने कुछ विचारों को टालते हुए रमुज में कहा—और ठंडे पानी से स्नान भी करना चाहिए।

'जी हाँ! तथा किसी का ध्यान भी करना चाहिए!'—वह खड़ी हो गई।

उमेश ने आँखें खोल दीं और स-प्रश्न पूछा—किसका?

शीला ने कुछ उत्तर न दिया और वह दरवाज़े तक हो ली। उमेश ने उसका आँचल पकड़ लिया और खींचता हुआ बोला—किसका ध्यान?

'जिसका कर रहे थे!' और वह झटके के साथ आँचल छुड़ाकर ज़ीने पर धड़धड़ाती हुई नीचे हो रही।

और उमेश मानो चपत खाकर मूढ़-सा पड़ा रहा। तब क्या शीला उसे यों ही जीवन भर व्यंगों से दाग़ती रहेगी, छिजाती, काटती, टूक-टूक करती रहेगी? क्या व्यंग मारने का कोई समय होता ही नहीं? आज वर्ष होने आया, कितने वाण यह मार चुकी है? शंका और अविश्वास ही मानो मैं उसकी दृष्टि में रह गया हूँ—यही इसका प्रेम है, यही? यही उसका पत्नीत्व है क्या? घायल, पर वेदना को पी जाने का प्रयत्न करते हुए उसने अपने अंतर में देखने की चेष्टा की।

आख़िर ये व्यंग उसे मिल क्यों रहे हैं? जीवन में जो लुट जाता है, जो प्राप्त होता है वह अकस्मात् नहीं, विश्रृङ्खल नहीं—मनमाना नहीं। ये दुःखद तीर इस छाती में तब क्या उसी के कमाये हुए हैं, उसने सोचा।

और उसे मालूम हुआ, पतझर की एक ढेरी मन के खलिहान में जमी हुई है। कुछ पपीहरे मरे, कुछ कोकिल मूर्च्छित, कुछ जुगनू निस्पंद; कुछ सितारे वैसे ही; और किसी व्यतीत वसंत की संगीत-सन-सन नस-नस में। दिव्येश! तुम, अब भी तुम मेरे हृदय में हो? ओह, तब क्या शीला के वाण तुम्हारी ओर लक्षित हैं? वह जग गया; बिल्कुल जग गया।

उसका ज्ञान, सत्य का चिन्तन, जीवन के प्रति दार्शनिकता—यह सब क्या इसी स्मृति की भट्ठी में तपी हुई सुराहियाँ हैं, जिसमें वह कामना का—अतृप्त वासना का शराब भरे लिए घूमा करता है! ओह, वह काँप उठा, सिहर उठा—तब शीला ने उसके पाखण्ड को भाँप लिया?

मुक्त यौवन की रंजना लिए अरुण-किरणें वृक्षों के मुखों पर कुछ बादलों का सुनहला, नवरंगा आलोक कर रही थीं। और उसका असत्य, नहीं उसका नग्न स्वरूप रात की तरह इस समय चित्रित हो रहा था। वह इतना धोखेबाज़ है, छद्मवेशी है, घाती है, वह इस सवेरे जान गया था!

और वह अपनी ही निगाह में गिरा-सा उठ बैठा। टेबल पर जा पुस्तकें इधर-उधर कीं; डिग्रियों की तसवीरों पर निगाह की और बैठकर लिखने लगा—'असत्य से यह जीवन बना है मेरा; विकार अभाव में तप सोने के बन जाते हैं, पर अपनी प्यास नहीं बुझती। अभाव से क्या भाव पैदा होगा? अंधकार से क्या ज्योति उत्पन्न होगी? नहीं—

'कामना से प्यासे सपने पैदा होंगे, सुख-दुःख की ज्वाला लिए; अग्नि से शीतलता कैसे उत्पन्न होगी? नहीं, वह इस दंभ को, पाजीपन को, नीचता के नाटक को इसी दम बन्द कर देगा। खोद फेंकेगा स्मृतियों की इन लाशों को! अवश्य।'

अनुभव ही यदि अन्तिम तथ्य है, तो वह अपने अनुभवों की आग में जला करेगा। प्यास ही यदि आत्मा का रूप है, तो वह प्यासा ही मरेगा ; पर यह लीपापोती उससे न होगी ! नहीं। अन्तःकरण की ऋतुओं में पनपे बिना मैं जी नहीं सका ; तर्क—बुद्धि की बेड़ियों में यह पौधा कुम्हला भर जाएगा। उसे चन्द्र की अमृत ज्योति चाहिए ; पानी चाहिए, धूप चाहिए। और सुख-दुःख के सिवाय जीवन में ज्ञान कहाँ से आयेगा ? झड़े बिना पतझर वसन्त कैसे पायेगा और वसन्त को पतझर के बिना जीवन का सौन्दर्य कैसे मालूम होगा ! मैं यदि दिव्येश को प्यार करता हूँ, तो स्वीकार क्यों न कर लूँ ? शीला को धोखा देता हूँ, तो क्यों न मान लूँ ? मेरा यही सत्य है, तो उसे पहचानने में शर्म क्यों ? पर ज्ञान के घमण्ड ने उसे यह मक्र सिखाया ; यह धूर्तता।

फिर तो उसने धड़ाधड़, फड़ाफड़ अलमारी से पोथी-पुस्तक निकाल-निकालकर फेंकना शुरू किया। मानो कोई उलझा हुआ वाचस्पति पागल हो गया हो।

हाथ में 'ट्रे' लिये शीला यह देखती रही। फिर जब उसने देखा कि अब हस्तलिखितों की बारी आई, तो बोले बिना न रहा गया—इसे क्या कहा जाय ? पुस्तकों ने क्या बिगाड़ा है आपका ?

कुछ नहीं बिगाड़ा शीला ? उसने पूछा—पर मैं इन्हें क़ैंची से कतर फेंकूँगा, चूल्हे में जला दूँगा। कुछ नहीं बिगाड़ा ? मेरे अन्तःकरण में इन पर्दों ने अँधेरा कर रखा था।

'अब क्या यों बचपन करने से उजेला हो गया ?' आगे बढ़ते हुए उसने 'ट्रे' तिपाई पर रखी और पूछा।

बिना देखे ही उसने लेख के टुकड़े-टुकड़े किये और बोला—जीवन का सत्य पाखण्ड की आँखों से नहीं दिखता। हृदय में कुछ और मस्तिष्क में कुछ और। इसे मैं आत्म-प्रवंचना कहता हूँ। यह साधना नहीं, विचारों का व्यभिचार है। जैसा जीवन मुझे चाहिए, वैसा ही मुझे स्वीकार करना है—यही, शीला !

और उसने घूम कर देखा। बाल-रवि की गुलाबी धूप में यह युवती मानो नारंगी हीरे की मूर्ति के समान उसके सामने खड़ी थी। निखरी हुई ; सुघर-स्वस्थ ; सभी रस-राची ; सभी मदमाती। और वह कहाँ था आज तक ? वह उसके पास खिंच आया।

शीला का आँचल अदबदा कर सुगन्ध-उन्मद वायु में रम रहा था। घुँघराली अलकें बोलम की हो रही थीं और नयनों में चमकीली सुधा मानो व्याप गई थी। उन काली काली पुतलियों में उसने इस समय यथार्थ का मधुर सौन्दर्य देखा। बोला—शीला !

शीला ने चाय का प्याला तैयार करते हुए पलकें उठा कर उसे देखा भर।

अब उसके गदकोरे कपोलों पर गुलाबी माणिक की रेखायें मँढ़ीं और अधरों पर व्यंग की मुसकान। पर, पर—उसने तैयार प्याला उसकी ओर किया, बोली—मंजन-वंजन तो कर लिया न ?

और लपक कर उसने टूथ-पेस्ट का कलेजा मीसा, 'पेस्ट' को दाँतों से रगड़ा ; कुल्ला किया और तौलिये से मुँह पोंछते हुए बोला—तुम्हारे तीर ने सोते हुए पल्लव हिला दिये, शीला !

शीला एक-एक कर पुस्तकें पुनः अलमारी में रख रही थी ; उस पिरोजी महीन साड़ी में लम्बी वेणी उसे गुलाबी बरफ़ में ढँकी सापिन दिखी और उन कन्धों की सुडौलता, कमर की सुघराई उसे अमहतचित्त कर गई। कुहनी से उसके पार्श्व छूते हुए वह बोला—मैं इस घड़ी तक ग़लती कर रहा था। मैं बादलों में मोती खोज रहा था जब सागर का सागर मेरे सामने है। इस रूप को मैंने कितना तुच्छ समझा ?

शीला ने अपनी लड़खड़ाहट को थकान के भाव में परिवर्तित कर दिया। एक, दो, तीन, वह प्याला ख़ाली कर गया, बोला—मैं देखता हूँ, जीवन विचारों में स्पष्ट भर होता है, जैसे दीपक से कमरा। पर विचार जीवन नहीं है। वह तो हृदय की रसमय धारा है, जिसका वहन सुख की मौज है। मैं विचारों के चने चबाने में अपने दाँत खो बैठा, नहीं ?

शीला ने पूछा—'बोसांके' मेज़ पर रखूँ न ?

मैं जीना चाहता हूँ। सचमुच शीला, मनुष्य मूर्ख है। वह सहज में मिली विभूति को ठुकराने में ही मगन रहता है।—वह उसकी पिन को ठीक खोंसते हुए बोला—मैं सौभाग्यशाली हूँ, जो यह रूप तुमने पाया है। यार जले जले फिरते हैं; मित्र कटे-कटे फिरते हैं। पर हनुमान को पूँछ जलने से मुझे क्या ? देख लें देखनेवाले कि मुझे तुम्हें पाकर किसी उर्वशी की परवाह नहीं ! है न ?......

शीला ने अलग हटते हुए कहा—पता है न, चौधरी आने वाले हैं ?

उसके बाहु को अपने बाहु में भरते हुए वह बोला— जाता हूँ, पर मैं कर ही क्या सकता हूँ। भूकम्प और बाढ़ को मैं बुलाने थोड़े ही गया था !

बाहर रमेश की आवाज़ आई—भाभी ! चाय-वाय बनी कि नहीं ?

अन्दर आ न जाओ ; यहीं पी लो !—उमेश ने बुलाया।

शीला ने रमेश के लिए प्याला तैयार करते हुए कहा—मतलब उन्हें निराश लौटना पड़ेगा।

लौट जायँ ; मैंने उन्हें यहाँ आमंत्रित नहीं किया था। ख़ुद ही आ रहे हैं, शीला ! इस विषम आर्थिक संकट के समय वे चाहते हैं वर्ष भर की लगान न दें। यह हो नहीं सकता।—उसने पान लगाते हुए कहा।

रमेश आकर पास ही के मोढ़े पर एकदम बैठ गया।

शीला ने उसे प्याला दिया और कहा—रात को आप बड़ा गहरा रंग जमा रहे थे ? बिचारे जीवन के बाल की खाल निकाल डाली थी !

उमेश ने घूर कर शीला की आँखों, अधरों पर घृणापूर्ण व्यंग-हास देखा। जैसे जग गया हो, यों बोला—जी, पर पैसे-पैसे को दाँतों से न पकड़ता तो यह सवा सौ की साड़ी धारण नहीं होती। बड़ी चली हो ग़रीबों का पक्ष करने। अपने शौक़ों को देखो न, फिर मुझसे कुछ कहना।

रमेश ने कनखियों में हँसते हुए कहा—और वह भी शुद्ध विलायती !

शीला ने एक बार उमेश की ओर, दूसरी बार रमेश की ओर देखा।

उमेश ने रमेश से कहा—उपदेश देना, और स्वयं भक्त बनना दो बातें हैं। अमीर जब ग़रीब की तरफ़दारी करता है, तो मैं हँसता भर हूँ।

और रमेश ने उठकर बाहर जाते हुए उत्तर दिया—मैं तो उसे अमीर की सभ्य बदमाशी कहता हूँ।

शीला जैसे मशीन की बनी हो ; 'ट्रे' में जूठे बरतन भर, वह यों चली गई, जैसे पत्ती हवा में उड़ी जा रही हो।

किशनी बरामदे में मिली। मालकिन को आज 'ट्रे' उठाये आते देखा तो सहम गई। पर उसकी यह सहम पहले कुतूहल और फिर ख़ुशी में बदल गई। उसने सोचा, आज कुछ-न-कुछ जम गई दिखती है, बोली—मेरा लड़का आज वापस भाग गया, सरकार ! नहीं मुँहजोई मैं आ मरती ! यों आपको हाथ सेंकने न पड़ते !

शीला ने कहा—स्त्री काम करने के लिए ही पैदा हुई है।

किशनी ने आकाश में देखा, आज सूरजनारायण पश्चिम में तो उदित नहीं हुए? बोली—वह तो है ही। और 'ट्रे' थाम ली।

शीला सीधे कमरे में गई। चूड़ियाँ उतार कर क़लमदान में रख दीं। हार उतार फेंका और साड़ी उतार सादी धोती पहन ली। सूटकेसों को खोलकर उसने क़ीमती पोशाकों को बे-मुरव्वत फेंकना प्रारम्भ किया। तुम्हारे पैसे पर शौक़ क्यों पालूँगी? इतना बड़ा व्यंग दे गये तुम? अपने लिए सजती हूँ क्या, जो न बोलना चाहिए था वह बोल गये, न कहना चाहिए था कह गये! स्त्री क्या अपने लिए सजती है? इन साड़ियों को अब पहनूँ, तो मैं शीला नहीं! उसे मालूम हुआ, उसके रूप का, उसके यौवन का आज यों उपहास हुआ है। मैं क्या नहीं समझती तुम्हारे हृदय को? मेरा हाड़-मांस इतने सुन्दर चमड़े से मढ़ा न होता, तो मैं देखती, ये सौ-सौ की साड़ियाँ तुम मुझे ला देते!

एक तीव्र आवेश में उसने कान के कुण्डल और नाक की कील तक उतार डाली। बाहर निकल आई; जैसे विराग हो गया हो, जैसे जीने के लिए जीना हो, जैसे उसे न प्रकाश की परवाह है, न अन्धकार की! किशनी के हाथ से झाड़ू छीन कर बोली—मुझे दे!

पतलून की जेब में हाथ डाले उमेश ने यह सुना, यह देखा। मतलब मुझे नीचा दिखाने के लिए यह उपक्रम किया जा रहा है। इस नौकरानी के सामने मुझे ज़लील किया जा रहा है। आगे बढ़ आया, बोला—तुम्हें झाड़ू लगाने को किसने कहा था?

शीला चुप।

उमेश गरजा—सुना नहीं तुमने? मैं क्या कह रहा हूँ?

शीला बचाकर सामने दूसरे कोने के साथ जा भिड़ी। उमेश ने किशनी को देख गर्जना की—देखती क्या है, ले ले बुहारी सूअर!

किशनी ने जाकर बुहारी लेने का प्रयत्न किया, तो शीला बुहारी छोड़ मटकियों से जा उलझी। रेशमी ब्लाउज़ अभी पहने ही थी। पहला मटका के पानी के उछाल से उसका आँचल भीग गया; पर वह जैसे बिना साफ़ किये न मानेगी।

उमेश ने दाँत पीस कर कहा—चौधरियों को क्या जवाब दूँ?

शीला ने मटकी के पेंदे में हाथ मारा—घुमुर-घुमुर पानी ने चक्कर खाकर इस गर्दिश से बचने की कोशिश में बाहर उछाल मारी।

उमेश ने कहा—क्यों ब्लाउज़ की मिट्टी पलीद कर रही हो!

पर शीला ने एक मटका का पानी दूसरी में और दूसरी का तीसरी में यों मटकियाँ पानी से धोकर, अब चौका साफ़ करने के लिए क़दम बढ़ाया। वह आज संसार को जैसे अपना एक गुप्त पहलू बता देना चाहती थी। मिनिस्टर हरनारायण की पुत्री आज बता देना चाहती थी कि वनारी वह पहले है; वह नारी जो घर ही की व्यवस्था है; बुद्धि है। शौक़ और विलास-वह अपने लिए न करेगी, नहीं।

उमेश चुपचाप खड़ा यह सब देखता रहा। कुछ क्षण बाद फिर बोला—चौधरियों को क्या जवाब दूँ, कहतीं क्यों नहीं? पक्ष तो ले-लेकर उलटी हो गई थीं?

शीला ने ऊबकर कहा—जो इच्छा हो, वह कह दीजिये। घर के मालिक आप हैं।

'और आप साहिबा?' उमेश ने पूछा। उसके अधर रोष से काँप रहे थे।

'मैं?' आँसुओं को पलकों में ही बाँध कर वह बोली—मैं कुछ नहीं हूँ!

उमेश मूढ़े पर बैठ गया। कुछ नरम होते हुए बोला—क्यों कुछ नहीं हो? मुफ़्त में बात बढ़ाने से फ़ायदा?

शीला ने संयत होते हुए उत्तर दिया—जब से स्त्री पैदा हुई तभी से वह कुछ नहीं ही पैदा हुई समाज में हमारा स्थान भोग्या का है; हम वे समिधा हैं जो पुरुष के जीवन-यज्ञ में जल जाती हैं! हमारी प्रतिष्ठा कभी हुई नहीं; न होगी। भ्रान्ति अमर नहीं हो सकती। मैं इस घर की एक रजिस्टर्ड बाँदी हूँ; बस। काम करूँगी, रोटी खाऊँगी।

उमेश का रोष, क्रोध इस मार से हहर गया; मानो जर्जर मचान आँधी के झपाटे में चरी गया हो। उठा, बोला—तुमसे बहस कौन करे! पर शीला, यह अच्छा नहीं है. मैं कहे देता हूँ।

और वह दीवानख़ाने में पहुँचा, हाथ हिला-हिलाकर, गरज-गरजकर बोला—आप लोग जाइये; मैं कुछ नहीं सुन सकता। आप लोगों को मुझे लगान देना है, मुझे सरकार को। न मैं बच सकता हूँ; न आप। और याद रखिए, यह एक दूसरे का क़र्ज़ा है, जो ख़ून बेचकर भी चुकाना होगा। मैं कुछ नहीं जानता। मैं कर ही क्या सकता हूँ? समय की आज्ञा ही आज ईश्वर की आज्ञा है। और अभी समय के परिवर्तन की कोई उम्मीद नहीं।

शीला का हाथ मानो बग़ल से ढीला होने लगा।

उमेश की गर्जना बढ़ती गई—बाढ़ आई तो मैं क्या करूँ, भूकम्प आया तो मेरा गुनाह? ओले पड़े. दाड़ जला गई, टिड्डे आ पड़े तो मेरा दोष? उस अपने ख़ुदा के पास क्यों नहीं जाते, करीमबख़्श? क्या मैं उसका एजेंट हूँ, वायसराय, जो लपक कर मेरे पास दौड़े आये?

शीला के हाथ से बुहारी मानो फिसल पड़ेगी।

करीमबख़्श ही का वह स्वर था शायद—पर हुज़ूर भी तो मालिक हैं। भाग के मारे हैं, यहीं सुनाई न होगी तो कहाँ होगी?

कलक्टर साहब कहाँ चले गये हैं, जी? वह बोला—बड़े चले थे, मुझ पर उस दिन रोब ग़ालिब करने! जाओ न, अपनी अम्मा उस काँग्रेस के पास जो पुचकार कर लड्डू दे देगी! ग़रज़ पड़ती है, तब मुझे हुज़ूर कहते हो, शर्म नहीं आती? जाओ दो न अपने प्रभु नारायण को वोट, जाओ—

शीला के तलवों में मानो बिच्छू ने काट खाया और वह पनिहारे से कूद आई। झट-झट साड़ी बदली, सूरत ठीक की और दीवानख़ाने की ओर चली।

करीम ने आजिज़ी की—सरकार तो दयालु हैं, ग़रीबपरवर, थोड़ी तकलीफ़ ही उठा लें। यहाँ रहने को झोपड़ी तक बना नहीं सके हैं, लगान कहाँ से देंगे? सूखे शरीर को भट्ठी में झोंक दोगे, राख मिलेगी हुज़ूर!

उमेश ने मन ही मन सहम, पर ऊपर से वैसे ही कहा—मुझे उपदेश देना चाहते हो? मैं तो सुन लूँगा, पर अपनी मालकिन से पूछा है? तुम्हारे सुख की फ़िक्र करूँ कि उसके गहनों-कपड़ों की?

करीम ने शीला को द्वार में पाषाण की मूर्ति की भाँति खड़े देखा और उसकी देखा-देखी, सभी सकपका गये।

उमेश ने घूमकर शीला की ओर देखा और तीर साधकर बोला—हरनारायण तो इस प्रान्त के मिनिस्टर हैं; यह स्टेट उनकी कमाई है उन्हीं की देन है। जाओ कहो उनसे। मैं तो नाम का बदनाम हूँ। खाता हूँ, और कुछ किताबों का प्रेमी हूँ। मुझे कुछ न चाहिए विशेष! इस-लिए मैं तुम्हारे सुख-दुःख के लिए जवाबदेह नहीं हूँ।......

पर शीला ने बीच ही में कहा—कितना रुपया देना है तुम सब को ?

दो तीन बोले—सब का ? कोई पाँच छः हजार, सरकार ।

'अच्छा तो तुम लोग अब जाओ, कल रुपया जमा कर दिया जाएगा । तुममें से एक मुझे फ़ेहरिस्त दे जाओ । अब जाओ ।'

आश्चर्य में अनचहे मिले सुख के उन्माद में एक ने दूसरे को देखा और कुछ कातर स्वर चीख़े—रानी साहिबा की जय !

रमेश स्थिर होकर शीला की ओर देख रहा था ।

दिन भर उमेश गुमसुम अपनी 'स्टडी' में बन्द पड़ा रहा । शीला के वे शब्द उसके कानों में गूँजते रहे—'यदि ईश्वर, सरकार और तुम इनकी न सुनो, तो क्या मैं भी न सुनूँ ?' आख़िर यह विलास की पुतली यह करिश्मा कर कैसे गई ? मैं भी देखता हूँ, कैसे पाँच हज़ार रुपये दिये जाते हैं । कहीं गड़े पड़े हैं जो निकाल लायेगी ? 'पर उमेश !' उसकी मनसा ने कहा—अत्यन्त धीमे स्वर में कानाफूसी की—आज तुम्हारा पौरुष आबरू, कर्मण्यता, अजी तुम्हारा मनुष्यत्व क्या हुआ ? जो साड़ियों के ढेर में बैठ स्वर्ग का सुख उठाती थी, गहनों पर ऐसी टूटती थी मानो बच्चा मिठाई पर टूट रहा हो, वही आज यह तमाचा तुम्हारे गाल पर मार गई !

और वृथा रोष की एक हिलोर उसके कलेजे में इधर-उधर हो उठी । पढ़ने में मन न लगा ; लिखने में जी न रमा, न सोने में ही शान्ति मिली । जैसे वह अपनी वेदना से पागल हो जायगा । आख़िर इसका मतलब तो यही है कि तुम कहीं जाकर भीख माँगोगी, क़र्ज़ लोगी—मेरी जूतियाँ मेरे ही सिर मारोगी ! मैं भी देखता हूँ कौन तुम्हें धेला भी दे देता है । देखता हूँ, मेरे विरुद्ध कौन उठता है । मैं इस उच्छृङ्खलता को रत्ती भर भी पसन्द नहीं करता । मेरी आबरू पर पानी फेरते तुम्हें शर्म न आई, शाला !

वह रोष, ग्लानि और सताप से घूमा किया, आज जैसे उसका समस्त पाण्डित्य तोप के गोले की तरह ठण्डा हो गया । विचार जड़, कल्पनायें उड़ी-उड़ी ।

शीला ने द्वार ठेल कर अन्दर प्रवेश किया ।

'यह चाय ।'

उमेश ने एक बार घूरकर तीव्र रोष में उसकी ओर ताका और पुनः घूमने लग गया ।

'यह चाय ठण्डी हो रही है ।'

उसने मन-ही-मन एक मूक चीत्कार की, चाय ! चाय !! मुझे कुछ न चाहिए !

शीला चुपचाप 'कप' से उठती हुई भाप को देखती खड़ी रही । उमेश एक बार, दो बार, तीन बार उसके पास आया—क्रोध उसको हिला रहा था । उसकी घायल प्रतिष्ठा अब शेरनी की भाँति ललकार रही थी—ले आई रुपया !

शीला ने न उसकी ओर देखा, न कुछ जवाब ही दिया । चाय की दुली बूँद लेकर वह अंगुली से आकृति बनाती-बिगाड़ती रही ।

वह अब उखड़ा—सब चेक-बुकें ताले में हैं न ? लो मैं खोले देता हूँ । क्यों ? क्या कहा मिनिस्टर साहब ने ? दे दी ताली तिजोरी की ?

शीला ने चाहा, एक स्थिर पैनी दृष्टि से उमेश का मुँह सी दे ।

पर उमेश ने गर्जना की—सरकार, ज़मींदार सबों के उपरान्त अब तुम पैदा हुई हो, तुम ! जिसे पापड़ सेंकने तक का शऊर नहीं ! तुम करोगी देश की सेवा, ग़रीबों का उद्धार !

हाँ, उमेश को एक क्षण में पता पड़ गया, वह बात क्या है। और उसने चुम्बनातुर अधर वापस कर लिये। 'नहीं !' एक जागृत वाणी चीख़ उठी—नहीं, प्रेम के बिना तुम्हें किसी भी वस्तु के आनन्द का अधिकार नहीं। उसे याद आया, एक पत्र में उसने दिव्येश को बहुत पहले लिखा था—'वासना का जीवन मृत्यु की सुहागरात है। प्रेम नहीं, तो आनंद-लाभ नहीं और तब सत्य नहीं, ज्ञान नहीं—कुछ नहीं।' अँधेरे कमरे में यह तो शराब पीना है, उमेश !

शीला ने पुनः कहा—आप नराज़ तो न होंगे, यदि पूछूँ ?

उमेश ने मानो सातवें पाताल में लेटे-लेटे यह मानवी-पुकार सुनी। ओह नहीं, यह बेईमानी है; नीचता है; कुटिलता है—पाप है, हिंसा ! अवश्य, मैं शीला से प्रेम नहीं करता, तो न करूँ, पर उसे यों बेमौत तो न मारूँ। बोला—शीला !

शीला उठ बैठी और उसकी कमर के बल इठला कर बोली—एक बार आपने मुझे लिखा था, कि जीवन में अब आपको रस नहीं आता।

उमेश ने उसकी रूप-उज्ज्वल अधरावली को दोनों कपोलों के बीच धनुष की रेखा के समान पाया और अपने आपसे पूछा—क्या यह छवि सर्वदा रहेगी ?

शीला का सिरांचल खसका और ज़री की किनार कन्धे पर आ पड़ी। बड़ी बड़ी आँखों में एक नवीन राग नई-नई मधुर तानों की पहली कूक मानों साकार हुई। उसने देखा, उन सघन उरोजों में यौवन का टीसों भरा उभार मानो कुछ स्पन्दित हुआ।

शीला ! तुम आज इतनी प्रिय क्यों लग रही हो ? क्या पता था, कलह के बाद तुम इतनी सुन्दर लगोगी !—वह बोला।

हमें सौन्दर्य न मिलता, तो पुरुष त्याग के अवतार हो जाते।—वह बोली।

और उमेश के दिल में ठोकर लगी। नहीं, सँभल ! अपने वासना के भूसे में यह आग न लगा। नहीं, यह सब वंचना है; क्षणिक है।

पर शीला ने अँगड़ाई ली और बोली—जवाब दोगे न ?

शीला उसके कलेजे पर लेट गई; बोली—इस चाँद में और मुझमें कौन अधिक सुन्दर है ?

उमेश ने चाहा कह दे, कोई नहीं। पर उस शुष्क विचारों के दार्शनिक के अंधकारमय हृदय में वसन्त-समीर की आँधी आई, जिसमें रजनीगंधा का सौरभ था; जिसमें यमुना-पुलिनों की मीठी किंवदन्तियाँ थीं। उसकी रग-रग में ऊना मधु-कादम्ब बह उठा और एक तल्लीन सौरभ ने उसके अधरों को कुनमुना दिया—तुम !

सच ? वह उसके ललाट को निरखती बोली—तब तुम किसे अधिक चाहोगे ? हूँ, हूँ हूँ ! वह हँसा और तपाक से उसे चूम कर बोला—तुम्हें !

मुझे ? सच ?—उसने फिर पूछा।

हाँ, हाँ, तुम्हें प्रिये ! इस समय मुझे तुम समस्त सुख और ऐश्वर्य की निधि मालूम होती हो। कौन जाने ख़ाँ में क्या जादू है !—वह बोला।

शीला, ने उसके बाहुओं के अधीन अपने को कर दिया, बोली—उमेश सुनते हो ?

और उमेश ने जवाब न दिया।

उमेश ? सुनो तो, एक दिन मैं मर जाऊँगी न ?—वह सहसा बोली।

'हूँ ?'

'अतः सच बोलो, तुम दिव्येश को प्रेम करते हो कि मुझे ?'—मानों लव ने राम को बाण मारा हो।

एक करका मानों रंग-महल पर गिरी और वह जाग गया। खोया-खोया वह उसकी ओर देखता रहा। उत्तर खोजा, जैसे चिता की ढेरी में आँखें खोज रहा हो। रात घनीभूत होती गई; चाँद ढलता गया। हवा उनींदी होती गई। आकाश की विजनता का, शून्यता का थाह न पा रजनी-पक्षी लौट रहे थे।

फिर उसकी हिम्मत न पड़ी कि शीला की आँखों में जमकर देख ले; साहस के साथ, बल के साथ उसके सामने जाए, उठे-बैठे; यानी जाये। अपनी आँखों में वह इतना गिर गया; ऐसा गिर गया कि एक चींटी भी उसे अपने से अधिक अच्छा मालूम हुई। एक ही आँधी में उसके तम्बू चले गये; स्वप्नों के सभी पक्षी एक ही आवाज़ से फुर्र हो गये। सचमुच वह तुच्छ है; तब उसने वासना की तुष्टि ही के लिए विवाह किया है; ओह, यह कैसा दारुण सत्य है! यह जीवन यों विरोधों का संघर्ष बन गया। ओह, ईश्वर, मेरे जीवन में यह व्यंग क्यों?

और सवेरे-सवेरे आज पहली दफ़ा उसकी पुतलियाँ भाग उठीं।

रैकेट उठाया और सोचा खेलने चलो; दोस्तों को रास्ते में जुटा लूँगा। बल्ला घुमाता हुआ वह पोर्टिको में पहुँचा ही था कि एक लैंडो बग्गी अन्दर आ रुकी। वह कौन आया? वह ठहर गया।

मन में एक अनजान आतुरता जाग उठी। सवेरे-सवेरे यों आज कौन आया है?

और उसने देखा, वह दिव्येश ही है। एक लहमे में वह सीढ़ियों पर आ पहुँची और रुककर उसकी ओर देखा।

उस समय सुन्दर रस भरे सुमनों पर भौंरे लहू-लहू नाच रहे थे; ख़ूब ताज़े और हरे पल्लव सुनहरा अमृत रोम-रोम से पी रहे थे। दो-एक विलमाये बादल पृथ्वी का वसन्त निरखने क्षितिज पर मन्द-मन्द डोल रहे थे और सारे उद्यान में एक नीरवता थी। दिव्येश! तुम!—वह बोला—इस समय, यों, अब?

उसे मालूम हुआ, संध्या ने चाँदनी की साड़ी पहिन ली है; रजनी ने तारों की प्यालियाँ मधु से भर दी हैं। सागर ने अपने संगात मुक्त कर दिये हैं और यह धरणी शाश्वतता पा गई है। आज उसके घर पर दिव्येश? यों—और दिव्येश ने मुस्कुराकर कहा—नमस्ते।

एक प्राचीन, पर मानो अमर स्मृति स्वतः ही आगे उठ आई और उसके मुँह से बोली—नमस्ते!

दिव्येश ने क़हक़हा मारा, बोली—सपना तो नहीं देख रहे? मुझसे लीजिये, आप सच यों जागृत हैं। और मैं स्वप्न की परी नहीं हूँ!

उमेश के मन ने विभोर होकर मानो कहा—तुम, तुम न मालूम क्या हो? बोला—क्या तुमने सन्यास ले लिया, दीबू?

अन्दर चलियेगा कि यहीं शाम कर दीजियेगा? वह आगे बढ़ती हुई बोली—चलिये, मैं सदा आपके आगे रही हूँ; आज आपके घर में भी आपके आगे क्यों न रहूँ? और वह ड्राइंग रूम की ओर मुड़ी।

उसने कहा—आपको सुखी देखकर मैं अपने को सुखी क्यों न समझूँ? अच्छा, मैं एक काम से आई हूँ। आप जो इस प्रान्त के दानवीर जमींदार ठहरे, जिसके देश-पूज्य श्वसुर इस प्रान्त के महामंत्री हैं, तो मैंने सोचा अपने परिव्राजक अस्पताल के लिए कुछ माँग क्यों न लाऊँ? है न? कुछ दीजियेगा न? कि नई शादी की माँगों ने दान की हथेली में घाव कर दिये हैं।

और वह सामने लगी हुई तसवीर के सम्मुख जा खड़ी हुई। यह किस स्टार की तसवीर है—यह शौक़ कब से पाला?

पर्दे के पीछे साँस बाँधकर खड़ी हुई शीला से अपना अपमान न सहा गया। यह कलूटी सभी सुन्दरियों को वारांगना समझती है, तब!

उमेश ने गिलास रखा।

दिव्येश बोली—निकालिये चेक-बुक। मैं यहाँ काम पर आई हूँ।

उमेश उठा, दराज़ से चेक-बुक निकाली और बैठ लिखता हुआ बोला—कितना लिखूँ?

दिव्येश ने कहा—पहले ? लिखिये, फिर इच्छा हो उतने शून्य आगे लगा दीजिये।

उमेश ने लिखते हुए कहा—मैं सोचता हूँ, जीवन क्या से क्या हो जाता है।

बस ? तीन ही शून्य ? समझो, मुझे दे रहे हो—हंसकर वह बोली।

उमेश ने तीन शून्यों के आगे एक बिन्दी और बढ़ा दी—बस ?

बस! चेक लेते हुए वह बोली—सेवा ही वह चौराहा है, जहाँ हम अब मिल सकते हैं। और तो न कोई किसी का यहाँ हुआ, और न हो सकेगा। हमारे स्वार्थ ही हमारे त्याग हैं। मैं तो अब न मित्र में विश्वास करती हूँ, न प्रिय में। मेरे लिए तो जीवन एक विजन यात्रा भर है। अच्छा चलूँ; चाय-वाय न पिलाओगे क्या ? बरसों बाद एक बटोही आया, प्यासा ही टाल दोगे ?

दिव्येश ने चेक लेकर चाहा पाकिट में रख दे कि उसके कन्धे पर एक स्थिर हथेली आ जमी। चेक इधर लाइये!—शीला ने कहा।

उमेश ने चौंककर देखा; दिव्येश ने स-प्रश्न आतुरता से।

और शीला ने गंभीरतापूर्वक माँग पेश की—मुझे दीजिये यह चेक।

उमेश ने अवाक्-सा कहा—शीला!

शीला ने उसकी ओर बिना देखे ही कहा—आप जाइये, चाय-वाय का इंतज़ाम कीजिये; मैं इनके अस्पताल की फ़िक्र करती हूँ। 'हाँ, लाइये इधर चेक।'

और दिव्येश ने उमेश की ओर देखा, बोली—यही श्रीमती शीला देवी हैं, महाशय जी?

'हाँ, मैं ही वह हूँ। इस दम-पट्टी में मैं नहीं फँस सकती। पुरुष प्रेम के चश्मों में अंधा हो जाता है; स्त्री नहीं। मुझे बातें बनाने की फ़ुर्सत नहीं है। चेक मेरे हवाले करो, और निकल जाओ इस बँगले से! नहीं, याद करवा दूँगी!'

वह थर-थर काँप रही थी। उमेश ने उठना चाहा; पर दिव्येश ने दृष्टि के बल उसे बिठा दिया। बोली—समझी; यह कष्ट दस हज़ार की हानि का नहीं है, समझी। हा-हा-हा! पगली, मैं तेरे इस ज़मींदार उमेश को लेकर क्या करूँगी। नाहक़ शंका किस काम की। है न? इस सुन्दरता के पीछे यह ईर्षा ? मानो दिवस के दिल में अँधेरी! है न उमेश बाबू?

'मेरे घर में मेरा ही अपमान करते तुम्हें शर्म नहीं आती?'—शीला गरजी।

दिव्येश बोली—एक काम करो, शीला! मैं तुम्हें पिस्तौल देती हूँ। यों मुझे घर से निकाल देने से कुछ न होगा।

और उसने अपने थैले में-से टटोलकर एक पिस्तौल निकाल उसकी ओर फेंकी—कर दो मेरा काम तमाम! देखती क्या हो मेरी ओर? डरने की, सहमने की बात ही क्या है! आख़िर तुम इतना ज़ोर किस पर दिखाती हो ? पत्नी होने भर से कुछ नई बात नहीं हो जाती।

शीला ने आव देखा न ताव, पिस्तौल उठा ली। उमेश कूद कर खड़ा हो गया—शीला, शीला!!

पर जैसे किसी अदृश्य धक्के ने उसे वहीं गाड़ दिया। दिव्येश उठ खड़ी हुई और हाथ से उमेश को रोकती हुई बोली—ईर्षा की आग में प्रेम की हाँड़ी न चढ़ेगी ; प्रेम का फूल कहीं इस मट्टी में खिलता है ? देखती क्या हो, दबा दो घोड़ा ? मैं तुम्हारे उमेश को छीनना नहीं चाहती।

शीला ने आग्नेय नयनों से पिस्तौल को मानो देखा, बोली—तुमने मेरे संसार को अन्दर ही अन्दर से कुरेच दिया। आज उसमें मेरे लिए यह आग ही बाक़ी बची है !

उमेश मानो स्वप्न देख रहा हो—विचित्र और विषम।

दिव्येश ने उत्ताल स्वर में कहा—तो देर-दार क्या है ? दबाओ घोड़ा !

और शीला ने घोड़े को घूर-घूरकर देखा।

'मैं मरने से नहीं डरती। मुझे मृत्यु में सुख की भ्रांति हो गई है ; वह तुम्हारे हाथों पूरी हो जाय। यह पल बीत जायगा शीला ! अपनी आग आज मेरे रुधिर से शान्त कर लो। कर लो ; इसमें इतना सोच क्यों ?'

शीला की मुट्ठी मज़बूत हुई। उसने उमेश के नयनों में देखा।

वहाँ क्या था ? उस विचारों के विरागी के नयनों में प्रकाश ही प्रकाश था ; उल्लास था ; विश्वास था। एक वैसी जीवनी थी, जो आज उसे पहली बार दिखी। धरणी और क्षितिज उस मोह में गूँथे पड़े थे, और अधरों पर एक गौरव-भाव था। ओह !

उसने छाती तानकर खड़ी हुई दिव्येश की ओर देखा।

वहाँ क्या था ? क्या एक अचूक व्यंग ? नग्न सत्य-कथन ? समाज और धर्म के परे वहाँ एक बन्धन दिखा। उस मोटे मर्य्यादा के पर्दे के पीछे उसे एक संगीत-मग्न जोड़ी दिखी। ठीक तो !

और उसने एक बार और पिस्तौल को तौला।

उमेश !—उसकी मनसा ने मूक पूछा—मन-ही-मन प्रश्न गूँजा—उमेश ! बोलो, सच बोलो, मैं जीऊँ या मरूँ, बोलो ! पर एक अँधेरे बादल ने उसके नयन बन्द कर दिये। चीत्कार ने उसके कान मानो बहरे कर दिये।

पिस्तौल की नली को शीला ने अपनी छाती पर रख लिया।

उमेश लपका—लपका पर दिव्येश ने उसे दोनों हाथों से थाम लिया, बोली—नहीं। फ़िकर न करो, ईर्षालु आत्महत्या नहीं करते !

और शीला का रोम-रोम मानो जल उठा ; उन बाहुओं में आज कितनी ताक़त है, उसने देखा। कितनी ? कितनी, कितनी ?? कि उमेश वहीं रुक गया। न चाहते हुए भी, न जाने क्यों ? शीला ! अन्तर ने कहा—शीला, अपने अभाग को सजीव देख लो !

पिस्तौल की नली उन मदभरे उरोजों के बीच गड़ गई। उसने आँखें बन्द कर लीं। और अन्धकार में उसे दिखा, वह अकेली है।

अँगुली हिली, कठोर हुई और घोड़े पर जा जमी। मर जा ! समाज के बल पर बैठे-बैठे तू कितनी रातें बिताएगी ? कितने दिवस ? यों प्यासी इस वीरान में कहाँ डोलती फिरेगी !

और घोड़ा जैसे हिला। कि आँधी की भाँति रमेश ने कमरे में प्रवेश किया और उसकी कलाई मरोड़, पिस्तौल छीन ली—भाभी ! मेरी मज़दूर-सभा की पहली मीटिंग शोक-सभा होगी क्या ?

और शीला मूर्च्छित-सी ढल पड़ी कि उमेश ने थाम लिया।

कहानी की करामात

[लक्ष्मीधर नायक]

मुझे थोड़ा-सा पाठ पढ़ाने ही से क्या होगा। पिता जी एक पुराने ख़्याल के आदमी थे। पुत्रियों को शिक्षा देने के ख़िलाफ़ वे सदा आवाज़ उठाते रहते थे। वे कहा करते थे—विधाता ने नारी की सृष्टि घर की लक्ष्मी बनने के लिए की है। उनको शिक्षा देने से क्या लाभ? शिक्षा पा चुकने के बाद जब वे घर से अलग जीवन के रास्ते पर अकेले चलेंगी, सभा-सोसाइटियों में भाषण देंगी, तब पारिवारिक जीवन में सुख और शान्ति कहाँ से आएगी। अपने इस मत को अक्षुण्ण रखने के लिए जब मैंने सुना कि उन्होंने मेरा विवाह एक अशिक्षित ग्रामीण बालिका के साथ तै किया है तो मुझे बड़ा क्रोध आया। उस दिन वास्तव में इतना क्रोध आया कि घर-द्वार छोड़कर कहीं चला जाऊँ। इस भय से मेरी माँ काँपने लगीं। उन्होंने मुझे अनेक प्रकार से समझाया। बोलीं—तू इतना नाराज़ क्यों होता है? चिंतामणि बाबू ने अपनी कन्या को केवल लिखाया-पढ़ाया ही नहीं है। निरुति को मैंने स्वयं देखा है। वह सचमुच सुन्दरी है। वह ठीक लक्ष्मी की प्रतिमा की तरह है। तुझे यदि विश्वास नहीं आता तो स्वयं जाकर देख आ। तेरे पिता से स्वयं चिंतामणि बाबू ने कहा है कि सुकांत को आप भेज दें। उसकी यदि इच्छा हो तो निरुति से वह बातचीत करे। निरुति तो उसकी छोटी बहन के समान है। देखने सुनने में दोष ही क्या है? माँ की यह बात सुनकर मैं तनिक आश्वस्त हुआ। सोचा—हाँ, जाकर देख आना ही ठीक है। उसके साथ विवाह करना न करना मेरी मरज़ी पर निर्भर है। किन्तु माँ की लक्ष्मी की प्रतिमा को एक बार देख लेने में भी कम लाभ नहीं है। थोड़ी देर चारपाई पर गुम-सुम बैठा रहा। फिर उठकर मामूली एक धोती पहिनी। यदि भावी पत्नी निरुति एक शिक्षित और आधुनिक रमणी होती तो सिर में दस बार कंघी करता फिर अच्छी सिल्क की कमीज़ पहनता, ढाके की सुन्दर किनारदार धोती पहनता; कपड़े पहनने में भी दो घण्टे का समय खर्च करता। पर पहले से ही निरुति को अशिक्षित जानकर मन का उत्साह तो एक दम जैसे मर गया। एक साधारण ग्रामीण अशिक्षित कन्या को मैं देखने जा रहा हूँ, इस धारणा ने मन को मलिन कर दिया था। इसलिए मैं अतीव साधारण वेश में ही निकल पड़ा। जाते समय माँ से कहा, डाकख़ाने जाता हूँ, सम्भव है मेरी कोई चिट्ठी आई हो।

उनके और हमारे गाँव के बीच केवल दो खेतों का अन्तर है। उस तपती हुई दोपहरी में उनके द्वार पर आ रुका। चिंतामणि बाबू मुझे देखकर हतस्ततः हो पड़े। बड़ी आवभगत के

बाद मुझे घर के अन्दर ले गए। मैंने कहा—मेरे लिए आप परीशान न हों। मैं एक घण्टे के बाद चला जाऊँगा। वे सब समझ गए। मेरे आने का उद्देश्य वे समझ गए। अपनी स्त्री से अन्दर जाकर उन्होंने क्या कहा, यह तो नहीं मा'लूम लेकिन थोड़ी देर में आकर मेरा हाथ पकड़कर वे हवेली के अन्दर ले गए। घर के बारे में दो-चार बातें पूछकर उन्होंने ऊँचे स्वर से पुकारा—निरू, अपने भाई को पान दे जा।

गाँव की लड़की इतनी जल्दी एक अपरिचित के सामने आएगी, इसकी मैंने कल्पना तक न की थी। हो सकता है, चिंतामणि बाबू ने एक वकील जामाता पाने के लोभ से कन्या को पहले से ही सिखा-पढ़ा रखा हो। जो हो, निरुति पास के दरवाज़े मे मंथर गति से चलकर मुझ से थोड़ी दूर पर अपनी सुन्दर गर्दन उठाकर खड़ी हो गई। देखा, वर्ण श्याम न था, वह तो सोने की भाँति दमक रहा था। मुँह का जितना हिस्सा दिखाई दिया उससे यही नतीजा निकाला कि उसका चरित्र निष्कलंक है। यह भी सोचा कि माता पिता की रुचि के अनुकूल वह लक्ष्मी-वधू बन सकेगी। लेकिन एक ऐसे निरीह जीव को लेकर मेरा संसार तो नहीं चल सकेगा। मेरी शिक्षित तरुण आत्मा के लिए खुराक की व्यवस्था करने की योग्यता तो इसमें है नहीं। देख-सुनकर क्या केवल इसके रूप के लिए इसके साथ विवाह करूँगा? न, असम्भव।

घर लौटकर माँ को साफ़ तौर पर बता दिया कि निरुति से मैं विवाह न कर सकूँगा। इसको सुनकर पिता जी ने एक लम्बी साँस छोड़ी। बोले—इतनी ख़ूबसूरत वधू जब सुकान्त को न भाई तो मैं और कहाँ ढूँढूँगा।

भाग्य अच्छा था। दूसरे दिन बालेश्वर से मेरे एक रिश्तेदार ने आकर बताया कि सबडिप्टी हृषीकेश बाबू की एक मात्र प्यारी कन्या सुनीति पट्टनायक केवल शिक्षता और रुचि-सम्पन्ना ही नहीं है वरन् साहित्य प्रेमी और बिलकुल आधुनिक है। भीतर ही भीतर मैं उसके प्रति अनजाने में ही आकृष्ट हो गया। पिता जी ने स्वयं जाकर प्रयत्न किया। कठिनाइयाँ ज़्यादा न आईं। एक अच्छे वकील जामाता को हृषीकेश बाबू भी ढूँढ़ते थे। विवाह सम्पन्न हो गया। सुनीति को प्रथम मिलन की रात्रि में जब मैंने देखा, आश्चर्य हुए बिना न रहा। कलिंग देश में ऐसी सुन्दरी, गुणवती बालिका भी रह सकेगी, इसकी मैंने कल्पना भी न की थी।

ब्याह के क़रीब पन्द्रह दिन बाद जब एक दिन मैं सो रहा था तो सुनीति एक मृदु हास्य बिखेरती मेरे सामने आ उपस्थित हुई। मैंने पूछा—कैसे आई; हाथ में वह कौन-सी पुस्तक है?

पास में बैठकर मेरी ओर पुस्तक बढ़ाकर वह बोली—इस गाँव में मैं शायद अब एक दिन भी नहीं बच सकूँगी। सदा घर के कोने में बैठे बैठे जैसे मेरा दम घुट जायगा।

मेरी छाती फड़क उठी—ओहो! क्या कहती हो! ऐसी बात क्या कोई कहता है?

श्रीमती जी हँसीं, बोलीं—कटक कब जाओगे? मैंने कहा—कब क्या जाऊँगा? साथ ही साथ चलेंगे। कल चलो। आज ही बाबूजी से कहता हूँ—बहुत से मुक़द्दमे इसको-उसको देकर चला आया हूँ। शीघ्र न जाने से व्यवसाय में बाधा पड़ेगी।

बाबूजी ने किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं की। हम लोग कटक आ गए। कचहरी में साथियों के बिना पूछे ही छाती फुलाकर मैंने कहा—उपयुक्त जीवन-संगिनी पाकर जन्म सार्थक हुआ है। कल शाम को आप लोगों का निमंत्रण है। सबों ने आनन्दित होकर मुझसे हाथ मिलाया।

यह बात आकर मैंने सुनीति से कही। उसके आनन्द का वारापार न रहा। मैंने देखा,

नहीं कर सकती। क्रोध से पागल वह घर के अन्दर चली गई। मैं बत्ती बुझाकर अपनी चारपाई पर आकर सो रहा। मन-ही-मन मैंने इस लड़ाई में अपनी पराजय देखी। कितनी ही ओर से न मालूम कितनी भावनाएँ आकर मेरे मस्तिष्क में भर गईं। सुनीति के साथ विवाह करके मेरा संसार चौपट हो गया। इस दुश्चिन्ता से मुझे रात को नींद नहीं आई। मैंने सोचा कि सचमुच मैंने पिता जी की बात पर ध्यान न देकर एक भारी भूल की। जिस शान्ति को पाने के लिए इस आधुनिक रमणी से विवाह किया, वह सुख शान्ति कहाँ? उसके बदले में चार महीने के भीतर जीवन विष-तुल्य हो गया है।

हृदय से एक क्षुब्ध दीर्घ-श्वास निकल आई। नींद तो लगी ही न थी। अचानक क्या मन में आया कि लालटेन जलाकर मैं एक कहानी लिखने बैठ गया। शीर्षक था 'भूल की व्यथा।' उसमें मैंने यही दिखाया कि ग्रामीण निरुति के साथ विवाह न कर आधुनिका सुनीति से विवाह करके मैंने कितनी बड़ी भूल की है। भावों के आवेश में मैं कितना लिख गया, कह नहीं सकता। जीवन में यह पहली गल्प लिखी थी। उसे समाप्त करके उसे एक बार पढ़ा। न मालूम क्यों वह बहुत अच्छी लगी। दूसरे ही दिन उसे 'दीप्ति' के संपादक के पास भेजकर उसी महीने के अंक की प्रतीक्षा तृषित नेत्रों से करता रहा। 'दीप्ति' आई; किन्तु बड़ी उत्सुकता से लेख-सूची देखने से पता चला कि मेरी कहानी नहीं छपी। मैंने प्रण किया कि अब जीवन में फिर कभी 'दीप्ति' के पन्ने नहीं उलटूँगा। उन पन्नों के साथ मेरी कुछ भी सहानुभूति नहीं।

जो हो, उस दिन मैंने सुनीति के साथ एक सुख-संसार के विचार को ख़त्म कर दिया। उसके साथ बातचीत भी नहीं करना चाहता था। बाहर और भीतर के समस्त संपर्क छोड़कर केवल धन कमाने की फ़िक्र में ही शान्ति पाने का प्रयास करने लगा।

रात में एक ही कमरे में रहना तो उसी दिन से बन्द हो गया। खाना खाने के बाद सिरहाने लालटेन रखकर घण्टा दो घण्टा गल्पें पढ़ने की आदत सुनीति को थी। लेकिन उजाला रहने से मेरे सोने में बाधा पड़ती थी इसलिए सुनीति के पढ़ने में बाधा न डालने के लिए मैंने अपना बिछौना एक दूसरे कमरे में बिछवा लिया। दिन में हम एक ही कमरे में रहते। लेकिन इससे क्या, हम में से कोई दूसरे की ओर देखता न था। उसकी काजर-काली चिकुर-राशि की युथिका-गंध मुझे लगती, मेरे रूमाल की अगुरु-सुगन्ध उसके अन्तर तक पहुँच जाती। किन्तु बोलता कोई न था। मन को हमने संयम में रखा था। चंचल होने का मौक़ा उसे कोई देता ही न था। एक-दो महीने नहीं, आठ लम्बे महीनों तक यही दशा रही। मालूम नहीं, यह और कितने दिनों तक चलता यदि एक अलौकिक और अप्रत्याशित घटना न आ उपस्थित होती।

पहले ही कह चुका हूँ कि लड़ाई होने के बाद से मैं अलग घर में सोने लग गया था। उस दिन भी रात को नौ बजे खाना खाकर सोने के लिए गया। बिछौने पर पड़ते ही ऐसी गाढ़ी नींद में सो गया था कि पता नहीं कहाँ चला गया हूँ। द्वार पर ठक्-ठक् की आवाज़ सुनकर मेरी नींद टूट गई। मैंने सोचा आख़िर यह क्या है। ऐसा तो और कभी हुआ नहीं। आधी रात के समय कौन आकर दरवाज़ा खटखटा रहा है। हठात उठकर खोलने का साहस नहीं कर सका। पुरुष हूँ तो भी क्या; मुझे भूत का भय अभी भी है। उसी डर से मेरी छाती धड़कने लगी। इसीलिए पहले कान लगाकर सुना। उस ठक्-ठक् शब्द के साथ ही साथ प्रतीत हुआ कि कोई सिसक-सिसककर रो रहा है। कुछ निश्चय न कर सका। मैं भी बढ़ने लगा। दबी हुई आवाज़ से पुकारा, कौन है? दीना? उत्तर मिला, नहीं। शरीर के नसों में ख़ून का प्रवाह बढ़ गया। बिछौने के ऊपर से धीरे से उठकर बैठ गया। दियासलाई ढूँढ़ा। हृदय की अस्थिरता से

ह याद न आ रहा था कि उसे मैंने कहाँ रखा था। इसके बाद साहस करके भय से काँपते दबे ाँव जाकर जैसे ही दरवाज़ा खोला वैसे ही मालूम हुआ जैसे कोई दरवाज़े सहित मेरे ऊपर पछाड़ ाकर गिर पड़ा है। एक भीषण चीत्कार मैं कर उठा। लेकिन जो उसे स्पर्श किया तो पता चला क वह तो सुनीति है! फिर भी भय-विह्वल स्वर से पुकारा—सुनीति...सुनीति! आख़िर बात या है? बोलो भी तो सही! रोती क्यों हो? उस घर में डर गई क्या? आवाज़ सुनकर नीचे दीना लालटेन लेकर दौड़ आया। किन्तु सुनीति को मेरी छाती पर गिरी हुई देखकर वह वहाँ हर न सका। चुपके से लालटेन को वहाँ रखकर अपने सोने के कमरे को वापस चला गया। ड़ी मुश्किलों से मैंने सुनीति को ज़मीन से उठाकर चारपाई पर लिटाया। मेरे गले में अपनी ांसल बाहुओं को डालकर वह मेरी छाती पर पड़ी फूट-फूटकर रो रही थी। अनेक प्रकार से उसे ांत्वनाएँ दीं लेकिन उसके मुँह से एक बात भी न निकली। इन लम्बे आठ नौ महीनों का संचित ्रोध और अभिमान जैसे उसकी आँखों की राह पानी पानी होकर बह गया। स्थिति को मैंने हुत ही भयानक समझा क्योंकि सुनीति जैसी आधुनिक शिक्षित रमणी का विवश होकर यों आत्म-समर्पण करना तथा मेरी छाती पर फूट-फूटकर रोना कोई आसान बात नहीं। तब आख़िर ह विपदा क्या है? इस बात की चिन्ता से मैं अस्थिर हो उठा। उससे बड़ी मीठी मीठी बातें कीं। प्रायः डेढ़ घण्टे के बाद उसका सिसकना तनिक थमा। मैंने सोचा, रोना तनिक थम गया है, से सो लेने दूँ। कल सवेरे सब बातें साफ़ साफ़ पूछ लूँगा। बोला—सुनीति, तुम अभी यहीं ो जाओ। सवेरा होने पर अपनी बातें कहना।

क्रन्दन-मिश्रित स्वर से उसने कहा—तुम्हारे मन में जब इतनी बातें थीं तो तुमने मुझसे ववाह क्यों किया?

इस बात का तात्पर्य बिल्कुल समझ में नहीं आया। सोचा—हमेशा पढ़ते रहने से या सुनीति का दिमाग़ तो नहीं ख़राब हो गया? बोला—यह सब क्या कहती हो, सुनीति! ैंने तो कुछ नहीं समझा! सुनीति और भी ज़ोर ज़ोर से सिसकियाँ लेती हुई बोली— तने दिनों तुम मुझे क्षमा करते आये हो। क्या मेरे ऊपर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है? मैं ूल से किस समय क्या कह गई क्या इसीसे इतने दिन तक चुप रहकर तुमने मुझे सज़ा दी? क्या भी तक तुम्हारे मन का अभिमान नहीं गया? और वह और भी ज़ोर ज़ोर से सिसकने लगी।

मैं आश्चर्य से पत्थर हो गया। यह अजीब मुश्किल है! आख़िर यह बात क्या है? ौर इस आधीरात में इस बात का ध्यान करके रोना, यह भी क्या बात! पूछा—सुनीति, तुम केले उस कमरे में डरीं तो नहीं? उसने कहा—नहीं। मैं कुछ आश्वस्त हुआ। तब और कुछ ात है। बोला—खोलकर कहो, आख़िर बात क्या है?

मेरे गले को ख़ूब ज़ोर से पकड़कर वह बोली—तुम्हारी वह निरू कौन है?

निरू? आश्चर्य हुआ। 'कौन निरू सुनीति? निरू नाम से तो मेरी कोई जान हचान नहीं।'

'नहीं? तो उस कहानी में किसकी बात लिखी है?'

'कहानी? कैसी कहानी! कहाँ?'

सुनीति मेरी छाती से मुँह निकालकर गिरती हुई 'दीप्ति' मासिक पत्रिका को उठाकर समें 'भूल की व्यथा' शीर्षक कहानी दिखाकर बोली—इसमें जो कुछ भी लिखा है—मेरी और ुम्हारी लड़ाई की बात—सब सच है। तब निरू की बात क्यों झूठ होने लगी? यह कह कर मेरे ाथ में उसने एक पोस्टकार्ड भी दिया। संपादकने लिखा था—'आपकी कहानी भूल से अभी तक

न दी जा सकी। बड़ी अच्छी बनी है।......और कोई दूसरी कहानी लिखकर शीघ्र ही भेजिए
पढ़ चुकने पर मैंने सुनीति की आँखों में देखा। उनमें अभी भी आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें च
रही थीं। हँसते हँसते बोला—निरुति के साथ मेरी कोई खास जान पहचान न थी। जिस
लड़ाई हुई थी उस दिन दुःखी मन से केवल एक कहानी मैंने लिख दी थी। सुनीति इस
विश्वास न कर सकी। बोली—नहीं, कल मैं जाकर उसे अवश्य देखूँगी। तुमने लिखा है कि
बड़ी ख़ूबसूरत है।

लालटेन बुझा कर मैं सो गया। बोला—उस कमरे में जाओगी या यहीं......मेरे
पर अपने कुसुम-कोमल हाथों को रखकर वह मेरे ऊपर ढल पड़ी। मैंने हँसते हुए कहा—व
कहानी की करामात!

सुनीति ने ज़ोर से चिकोटी काटी। *

---

* उड़िया मासिक 'नवभारत' से। मूल उड़िया से नित्यानंद महान्ती द्वारा अनूदित।

भिखारी बालक*

[मासल प्रूस्त]

यह एक छोटी-सी कहानी है—बहुत तनिक-सी, और अत्यन्त मधुर। वास्तव में यह इतनी तनिक-सी और मधुर है कि मुझे भय है कि इसे काग़ज़ पर और शब्दों में रखने की क्रिया इसकी चारुता और मन्द सुरभि को नष्ट न कर दे। फिर भी कौन-सी ऐसी बात है जिसके कारण, जब यह एक आधुनिक ठाठ-बाट के भोज के अवसर पर उस सुन्दरी द्वारा कही गई जो कि इसकी नायिका है—तो इसने हम सब पर एक स्थायी प्रभाव डाला। यहाँ तक कि पेरिस के संसार के उस केन्द्र में यह सर्वत्र इस प्रकार प्रचलित हुई कि इसका संकेत मात्र समझ लिया जाता और सुखकर प्रतीत होता। कदाचित् इसका कारण यह है कि इसने हमारी चपलता और लघुता पर क्षण भर के लिए प्रकाश की किरण डाली; कदाचित् यह कारण है कि जिस प्रकार एक गति, एक मुद्रा, सम्पूर्ण शरीर की सुघरता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त होती है, उसी प्रकार कुछ ही सरल शब्द एक सम्पूर्ण विमल हृदय का निदर्शन करा देते हैं।

हम उन रहस्यमयी प्रवृत्तियों की चर्चा कर रहे थे, जिनका विज्ञान ने वर्गीकरण और नामकरण कर डाला है। यह रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ किसी को इस बात के लिए विवश करती हैं कि वह दीवार पर चिपके हुए काग़ज़ के फूल गिने, या आलमारी की पुस्तकें, या जो वस्तु भी वह ऐसी देखता है जो गिनी जा सके। यही दूसरे को इस बात के लिए प्रेरित करती हैं कि जब वह सड़क पर चल रहा हो तो पीछे से आनेवाली सवारी के उस तक पहुँचने के पूर्व, या यदि घड़ी के घण्टे बज रहे हों, तो अन्तिम घण्टे के बजने के पूर्व एक नियत लैंप के खम्भे तक पहुँच जाय। यही प्रवृत्तियाँ तीसरे व्यक्ति को किसी अन्य धंधे में लगायेंगी, जैसे सोने के पूर्व किन्हीं विशेष वस्तुओं का निरीक्षण करना, उन्हें सजाना या विशेष चित्रों या पेटियों की जाँच कर लेना। यह हमारे आधुनिक मस्तिष्क की हलकी बीमारियाँ हैं, एक विषयोन्माद या पागलपन के अंकुर है, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलते रहते हैं, यहाँ तक कि वह अन्त में मनुष्य-प्रकृति का एक अंग बन जाते हैं।

हम लोग सभी अपनी-अपनी कमज़ोरियों का बयान कर रहे थे, अपने बेतुके अंधविश्वासों को प्रकट कर रहे थे। दूसरे भी अपने अंधविश्वासों अथवा कमज़ोरियों को स्वीकार करते; उससे हमें प्रोत्साहन मिलता अथवा संतोष होता कि दूसरे भी हमारी ही भाँति हैं अथवा हम से भी गये-बीते हैं। परन्तु एक युवती ने कुछ भी न कहा। वह हमारी बातें सुनती रही, और उसके काले बालों से घिरे हुए सुन्दर मुखड़े पर मुसकान खेलती रही। किसी ने उससे पूछा—

---

* फ्रान्सीसी कहानी। अंग्रेज़ी से, रामचंद्र टण्डन द्वारा अनूदित।

और आप, श्रीमती जी, क्या आप हमारे आधुनिक विभ्रमों से मुक्त हैं? क्या आपको अपनी कोई छोटी-सी विशेषता नहीं प्रकट करनी है?

वह जैसे अपनी स्मृति को उद्योग के साथ टटोल रही थी।

नहीं।—यह कहकर उसने अपना सिर हिलाया और दूसरी बार भी कहा, नहीं!

और हम लोगों ने इस बात का अनुभव किया कि वह सच बोल रही है। क्योंकि जो कुछ हम उसके संबन्ध में जानते थे या देख रहे थे—उसकी कोमल मुद्रा, उसका निष्कलुष नाम—वह सभी बातें उसे उन अलौकिक पुतलियों से, जिन्होंने अपनी कमज़ोरियों की चर्चा की थी, भिन्न वर्ग में रखती थीं। परन्तु स्पष्टतः उसकी विनम्रता, उसके इस प्रकार दुर्बलताओं से मुक्त होने के दावे से भयभीत हुई, विशेषकर उस समय जब कि उसके पास के सभी लोग अपनी-अपनी दुर्बलताओं को अंगीकार कर रहे थे। उसने अपना विचार पलटा। वह बोली—

वास्तव में, मैं यह तो नहीं कह सकती कि मुझे गाड़ियों के गिनने, या प्रत्येक रात्रि में सोने से पूर्व अपनी पेटियों के निरीक्षण की आदत है। फिर भी, अभी उस दिन मुझे एक ऐसा अनुभव हुआ, जो कि मुझे वैसा ही जान पड़ता है, जैसा कि आप लोगों ने बताया है, (यदि आप लोगों की बातें मैं ठीक समझ सकी हूँ) अर्थात् एक प्रकार की आंतरिक प्रेरणा, एक ऐसी शक्ति जिसने मुझे एकदम किसी छोटे-से कार्य के करने की आज्ञा दी हो, मानो वह कोई जीवन और मृत्यु का प्रश्न हो।

हम लोगों ने कहानी सुननी चाही और उसने वह कह सुनाई; परन्तु इस संकोच में मानो एक तुच्छ अनुभव पर सब का ध्यान आकृष्ट करने के लिए वह क्षमा चाहती हो।

"संक्षेप में, घटना इस प्रकार है। पाँच या छः दिन हुए मैं अपनी नन्हीं बेटी सूज़ाँ को साथ लेकर निकली थी। आप लोग जानते ही हैं, वह आठ वर्ष की है। मैं उसे पाठशाला में ले जा रही थी क्योंकि बालिका पाठशाले में जाने लगी है। दिन बड़ा रमणीक था और हमने निश्चित किया कि शॉम्प इलासी और दुराहे से होकर पैदल ही हम अपने निर्दिष्ट स्थान—रूलाफ्राइन में एक मकान तक जायेंगे। हम लोग प्रसन्नता पूर्वक बातें करते चले जा रहे थे, इस बीच एक लूला बालक घिसटता हुआ हमारे सामने आ गया और उसने बिना कुछ कहे हुए हमारे सामने हाथ फैला दिया। मैं एक हाथ में छतरी लिए हुए थी और दूसरे हाथ से अपना गाउन पकड़े हुए थी, और रुक कर अपने बटुए को टटोलने का कष्ट नहीं उठाना चाहती थी। इसलिए मैं भिखारी को बिना कुछ दिये हुए चली गई।

"हम लोग—सूज़ाँ और मैं—शाँम्प इलासी से नीचे पैदल चलते रहे। नन्हीं बालिका अचानक चुप हो गई थी और मैं भी बिना स्पष्टतः जाने हुए कि कारण क्या है, चुप थी, जैसे कोई बात ही करने को न हो। हम दोनों प्लास देला कांकार्द तक पहुँच गये और भिखारी के मिलने के बाद से अब तक आपस में एक शब्द भी न बोले। धीरे धीरे मैंने अपने हृदय में एक विकलता उपजती हुई अनुभव किया। ऐसा भाव उत्पन्न हुआ कि जैसे मैंने कोई ऐसा अपराध किया है जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती और उसके कारण भविष्य में किसी अस्पष्ट संकट का भय होने लगा। मैं अपने किए हुए कार्यों के विषय में सतर्क रहती हूँ, अतएव मैं चलती जाती थी और साथ ही अपने अन्तःकरण को टटोल रही थी।

"मैंने अपने मन में कहा—इस भिखारी बालक को कुछ न देकर मैंने दान-सम्बन्धी कोई बड़ा अपराध नहीं किया। न मैंने प्रत्येक भिखारी को दान देने का दावा किया है। अबकी जो भिखारी मिलेगा उसे कुछ अधिक दे दूँगी, बस ठीक हो जायगा।

"परन्तु मेरे सभी तर्क मुझे संतुष्ट करने में असफल हुए और मेरा कष्ट बढ़ता गया, एक प्रकार की वेदना बन गया। कई बार जी में आया कि लौट कर वहाँ चलूँ जहाँ वह बालक मिला था। एक प्रकार का झूठा मान मुझे अपनी पुत्री के सामने ऐसा करने से रोकता रहा। जब हम उचित कार्य करने में इस कारण संकोच करने लगें कि दूसरे इसे क्या समझेंगे, तो हम अवश्य बहुत गिर गए हैं!

"हम लोग अपने निर्दिष्ट स्थान के बहुत निकट पहुँच चुके थे और रूलाफ़ाइत के कोने से मुड़ चुके थे, जब सूज़ाँ ने मेरा ध्यान आकृष्ट करने के लिए मेरे हाथ को धीमे से स्पर्श किया।

"बोली—मम्मा!

"क्या है, बेटी?'

"उसने अपनी बड़ी नीली आँखें उठाकर मेरे मुँह की ओर देखा और गंभीरता से कहा—मम्मा, तुम ने शाँम्प इलासी में उस ग़रीब भिखारी को कुछ दिया क्यों नहीं?

"मेरे ही भाँति, उस भिखारी के मिलने के समय से उस लड़की ने भी इसे छोड़कर कुछ न सोचा था, उसका हृदय मेरे ही हृदय की भाँति दुःखी था। केवल इस कारण कि वह अपनी माँ से बहुत अच्छी और सरल थी, उसने अपने दुःख को बड़े भोलेपन से बता दिया।

"मैंने तनिक भी संकोच न किया। मैंने कहा—बेटी, तेरा विचार ठीक है।

"अपने-अपने विचारों में संलग्न रहने के कारण हम अधिक तेज़ी से चले थे, इसलिए व्याख्यान के लिए अभी भी बीस मिनट का समय था। मैंने एक सवारी की और सूज़ाँ के साथ बैठकर चली। गाड़ीवाले को इनाम देने को कहा, इसलिए उसने गाड़ी ख़ूब तेज़ी से चलाई। सूज़ाँ और मैं एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए थीं, और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि हम लोग अब भी विचलित थे। अगर लूला भिखारी बालक कहीं और चला गया हो? अगर वह फिर न मिले तो?

"उस कोने पर पहुँच कर जहाँ वह बालक मिला था, हम लोग गाड़ी पर से कूद पड़े। और सड़क के इधर-उधर देखने लगे। ग़रीब का कहीं पता न था। हमने पास की एक स्त्री से पूछा जो कुर्सियाँ किराये पर देती थी। उसे बालक को देखने की तो याद थी। परन्तु उसने बताया कि वहाँ पर साधारणतः जो भिखारी बैठते हैं उनमें का वह बालक न था। हमारे पास समय कम था, और हम लोग हताश होकर लौटने वाले थे कि सूज़ाँ ने लूले को एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ घुटनों के बीच अपनी टोपी लिये हुये और निद्रा में निमग्न देखा। सूज़ाँ चुपके से तलवों के बल उसके पास गई और उसकी ख़ाली टोपी में एक छोटा-सा सोने का सिक्का डाल आई। इसके बाद हम रूलाफ़ाइत को लौटे। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह एक बेतुकी बात थी, परन्तु इसके बाद हम एक दूसरे से चिपट गये, मानो एक महान् संकट से बच गये हों।"

यह कह कर युवती चुप हो गई। अपनी बात सब लोगों को इतनी देर तक सुनाने के कारण मानो वह लज्जा से लाल हो रही थी। और हम लोगों ने, जो उसकी बातों को श्रद्धा से सुन रहे थे, ऐसा जाना कि मानो हमने शुद्ध वायु का सेवन किया है और किसी मीठे जल की स्वच्छ धारा के उद्गम से जल पिया है।

---

*

प्रेयसी

[आरसी प्रसाद सिंह]

(१)

कहता जग मैं इन फूलों को
क्यों करता हूँ इतना प्यार ?
सदा किये रहता क्यों धारण
उर पर इन फूलों का हार ?

फूल नहीं थे खिले, तुम्हारी
छवि के मूर्तिमान इतिहास ;
वृन्त - वृन्त पर जिनके कोमल
नृत्यशील उर का उल्लास !

छाया अन्तर में पराग बन,
प्रिये, तुम्हारा ही अनुराग ;
परिमल के सौरभ में पाता
तव मुख का सुरभित निःश्वास !

अधर माधुरी से कर देतीं,
तुम फूलों में रस - संचार !
इसीलिए तो इन फूलों को,
करता अलि, मैं इतना प्यार !

(२)

कहता जग मैं नव-पल्लव को
क्यों करता हूँ इतना प्यार ?
सदा बनाये रखता क्यों निज
हृदय-द्वार का वन्दनवार ?

पल्लव नहीं, तुम्हारे मानस-
सागर के ये विपुल प्रवाल ;
रश्मि-जाल से जिनके लगती
लाल-लाल-सी तरु की डाल !
मेरे प्रेम-पथिक को देता
पत्र-पत्र जिसका संकेत,
प्रेयसि, वह अज्ञात तुम्हारी
इच्छाओं के बाल मराल !

मिलता उसमें मुझे तुम्हारे
कर का मृदुल स्पर्श सुकुमार;
इसीलिए, तो मैं करता अलि,
इन फूलों को इतना प्यार !

(३)

कहता जग मैं मलयानिल को
करता हूँ क्यों इतना प्यार ?
रहता क्यों उसके प्रति मेरा,
नित कोमल—मंजुल व्यवहार ?

मलयानिल यह नहीं, तुम्हारे
प्राणों का व्याकुल सन्देश;
देश-देश कर पार पहुँचता
जो मेरे उर में अवशेष !

प्रति आश्लेष सुवासित जिसका
तव श्रमकण से गन्ध-विभोर;
खुल पड़ते मृदु पद्म-पाश-से
मुक्त कभी जिसमें घन-केश ?

छूकर तुम्हें, तुम्हारे तनु से
बहकर आता बारम्बार;
इसीलिए तो मैं करता अलि,
मलयानिल को इतना प्यार !

(४)

कहता जग मैं उषा-सुन्दरी को
करता क्यों इतना प्यार?
बज उठते क्यों उसे देखते
ही मेरे अन्तर के तार?

उषा नहीं यह मृदुल तुम्हारे
अधरों की मादक मुसकान;
अन्तरिक्ष में जो खिलती नित
कनक-वल्लरी-सी रुचिमान!

वह सौन्दर्य तुम्हारे चरणों
का जिससे आरक्त दिगन्त;
फूट पड़े शत-शत छन्दों में
तरुओं पर विहगों के गान?

देखा उसमें प्रिये, तुम्हारे
आनन का उज्ज्वल आकार;
इसीलिए, तो, उषा-सुन्दरी
को करता मैं इतना प्यार!

(५)

कहता जग मैं निखिल जगत को
करता हूँ क्यों इतना प्यार?
कण-कण को अपने ही कर से
क्यों करता वेणी शृङ्गार?

निखिल जगत आधार तुम्हारा;
निखिल जगत की तुम आधार!
यह संसार तुम्हारी महिमा
का केवल असीम विस्तार!

सृष्टि-सृष्टि के हृदय-मुकुर में
प्रिये, तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब;
तुम जग का आनन्द-निकेतन;
जगत तुम्हारा स्नेहागार!

निखिल जगत से तुम करती हो
निशि-वासर लीला-अभिसार;
इसीलिए तो निखिल जगत को
करता अलि, मैं इतना प्यार!

खेल

[देवीलाल सामर]

मेरे हाथ पाँव सब मिट्टी में भरे हुए थे और मैं धूल में खेल रहा था उस समय तुमने आकर मुझे गोद में उठा लिया। मैंने अनायास ही तुम्हारे पास आना नहीं चाहा क्योंकि मैं अपने खिलौनों का मोह नहीं त्याग सका।

तुम मेरी इस धृष्टता पर कुछ कुण्ठित हुए और बिना अपना परिचय दिये ही उधर चले गये जिधर समस्त मानव अपने भविष्य का पथ निर्धारित करता है।

धीरे धीरे मुझे खिलौनों से विरक्ति हुई और मैंने तुम्हारे मिलन की बात को भुला दिया।

मेरा शरीर आज आदरण से सुन्दर और सजा हुआ है, धूल का एक कण भी उस पर नहीं; पर मेरे कंधों पर जीवन का असह्य बोझा है, अन्तर में अतिशय चिन्ता है और मुख पर पीड़ाओं की छाया है। जीवन के इस अनंत खेल में जितने फ़ौलादी खिलौने बनाता हूँ वे मिट्टी के खिलौनों से भी कच्चे हैं। मैं बनाता हूँ और वे टूट टूट जाते हैं।

आज कई युग बीत गये, शरीर की गरिमाएँ नष्ट हुईं, आवरण की आभा बिगड़ गई और खेलों की बेला चूक गई।

अब तुम मेरे हाथों से खिलौने छुड़ाने आये हो; पर तुम्हारे मुख पर वात्सल्य नहीं। तुम स्वयं मुझसे दूर खड़े हो, मुझे प्यार से गोद में उठाने से हिचकते हो, मेरे टूटे खिलौनों के ढेर को ध्यान से देखते हो और फिर न जाने किधर अन्तर्द्धान हो जाते हो।

मैं पुनः खिलौने बनाने लगता हूँ। पर इस बार पुराने अनुभवों से खूब सचेत हो गया हूँ। मेरा एक क्षण भी निरर्थक नहीं जाता। अब मैं ऐसे खिलौने नहीं बनाता हूँ जो बार-बार टूट जाते हैं और मुझे फिर से बनाने पड़ते हैं; पर इस बार ऐसे खिलौने बनाता हूँ कि एक ही बार बनाने से उनका सब मोह छूट जाता है और मैं सदा के लिए तुम्हारा प्रेम-पात्र बन जाता हूँ।

गतिशील चिन्तन

[हजारी प्रसाद द्विवेदी]

स्टेशन की सीमा से बाहर निकलते ही एकाश्ववाही रथों के अनेक चाबुकधारी सारथी धावा बोल बैठे। एक भले आदमी ने चाबुकाग्र को बग़ल में दबाते हुए हाथ का सूटकेस खींच लिया। मैं अभी कुछ कहने जा ही रहा था कि एक दूसरे भीमकाय पुरुष-पुंगव ने ललकारते हुए उसे एक धक्का लगाया। 'ख़बरदार! मेरी सवारी है', इस हुंकार के साथ उसने पूर्वतन दस्यु को 'युद्धं देहि' की चुनौती दी। फिर मेरी ओर घूमकर बोला—बाबू जी सलाम! इस बार तो बहुत दिन पर दरसन भया सरकार! मैंने देखा, मेरा पुराना परिचित एक्केवान है। बोला—हाँ भाई, तीन वर्ष पर लौट रहा हूँ। कुसल-छेम है न?

एक्केवान ने कहा—मेहरबानी है हजूर, आपकी दया से सब आनन्द मंगल है।

पूर्वतन दस्यु पहले तो कुछ गुर्राया, बाद को रंग-ढंग देखकर एकाध परुष वाक्य-बाण के निक्षेप के बाद वह युद्ध से निरस्त हो गया। मेरा सारथी आगे-आगे चला, मैं पीछे हो लिया। एकाश्व-रथ सुसज्जित तैयार था। उसके छत्र और दण्ड यथेष्ट जीर्ण थे, पर पिछले दस वर्ष से वे मेरे परिचित हो गये थे। मैं रथी रूप में आसीन हुआ, सारथी ने अश्व के साथ अपना पिता-पुत्र सम्बन्ध स्मरण करते हुए चाबुक सँभाला।

नगर की सीमा पार करने के बाद मेरे रथ ने ग्राम-सीमा में प्रवेश किया। मुझे हज़ार-डेढ़-हज़ार वर्ष पहले की अवस्था याद आ गई। समुद्रगुप्त एक दिन इसी प्रकार रथ पर चढ़कर नगर से बाहर निकले होंगे। पौर-युवतियाँ गवाक्ष खोलकर अतृप्त नयनों से उन्हें देखती रह गई होंगी; नागरिक कन्यायें क़तार बाँधकर मार्ग के दोनों ओर खड़ी हो रही होंगी; आचार-लाजों और वेदाध्यायी ब्राह्मणों के उच्छ्विसित मांगल्य से राजमार्ग भर गया होगा—मेरे लिए यह सब कुछ भी नहीं हुआ। समुद्रगुप्त के रथ में शायद चार घोड़े होंगे, उसके छत्र-दण्ड में सुवर्ण और रत्नों का आधिक्य रहा होगा और उनका सारथी कुछ संस्कृत-प्राकृत जानता रहा होगा। मेरे रथ से उसका अन्तर इतना ही भर रहा होगा। आज हज़ारों वर्ष बाद समुद्रगुप्त के देश का ही एक और आदमी रथस्थ होकर बाहर निकला है। समुद्रगुप्त सम्राट् थे, मैं साम्राज्य का घोर शत्रु। फिर भी मैं वह आदमी था जो अदना होकर भी सारे जगत के राजनीति-विशारदों को चैलेंज करने की हिम्मत रखता था। समुद्रगुप्त जब रथस्थ होकर बाहर निकले होंगे, तो दृप्त हृदय से और कल्पमान मस्तिष्क से छोटे-मोटे राज्यों का उच्छेद करने की बात सोचते जा रहे होंगे, मैं दृप्त मस्तिष्क से संसार के सब

से बड़े साम्राज्य को ध्वंस करने की बात सोच रहा था और कम्पमान हृदय से भूख से तड़पती हुई असंख्य जनता के दुःख और दारिद्र्य का उन्मूलन करना चाहता था। फिर भी समुद्रगुप्त भारतवर्ष के अतीत सम्राट् थे, मैं साम्राज्य विरोधी भावी सेना का अदना सिपाही। कवि एक दिन शायद इस अज्ञातनामा युवक के कीर्तिकलाप का भी चित्रण करेगा, उस दिन यह जवाहर कवच, यह गान्धी मुकुट, यह अक्षय-तूणीर झोला, यह एकाश्वरथ, यह चाबुक-वाही सारथी ; यह पौर-युवतियों के लीला-कटाक्ष से अवहेलित रथ-घर्घर, यह आचार-लाज-विरहित राज मार्ग, सब कुछ उसके कल्पना-नेत्रों के सामने खिच जायँगे। मैं समाजवाद के अग्निगर्भ-संदेश का वाहक महारथी उसके सहानुभूति-शिशिर नयन बाष्प से स्नात होकर अत्यन्त उज्ज्वल वेश में अंकित हो जाऊँगा।

मैं सोचता जाता था, मेरा रथ आगे बढ़ता जा रहा था। आखिर समाजवाद इतना प्रिय और आकर्षक सिद्धान्त क्यों है ? साथ ही मेरे मन में सवाल उठता, पेटेन्ट दवाइयाँ इतनी लोकप्रिय क्यों हैं ? क्या इन दोनों में कोई समानता है ? किसी अखबार को खोलिये, उसके अधिकांश पन्ने दो ही प्रकार के सम्वादों से भरे मिलेंगे। कहीं पर समाजवाद के और कहीं पर पेटेन्ट दवाइयों के। साधारण जनता उलझनों में पड़ना नहीं चाहती, वह सस्ता और सहज मार्ग खोजती है। समाजवाद शायद ऐसा ही मत हो, पेटेन्ट दवाइयाँ भी शायद ऐसी ही दवाइयाँ हों। एक दिन जब भारतवर्ष में समाजवादी सरकार स्थापित हो जायगी उस दिन शायद यह एकाश्व-रथ न रहेगा, यह पाताल-पाती राजमार्ग शायद कुछ सुधर गया रहेगा, उस दूर की झोपड़ी में शायद विद्युद्वर्तिका का प्रकाश रहेगा ! पर वह चीज़ क्या मिलेगी जिसे सुख कहते हैं ? कोई गारन्टी नहीं ? और फिर जिस दिन समुद्रगुप्त जानपद-बन्धुओं के 'भ्रूविलासानभिज्ञ कटाक्षों' को धन्य करते हुए, ग्राम-वृद्धों को कुशल-प्रश्न से और घोष-वृद्धों के निकटवर्ती तरुगुल्मों का नाम पूछकर कृत-कृत्य करते हुए चले होंगे उस दिन भी वह चीज़ क्या सुलभ थी ? कुछ ठीक पता नहीं ! कौन जानता है क्या था और क्या होनेवाला है ! आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न समाजवाद का रामराज्य। आज है इस निरुपाय निरन्न निर्वाक् मूढ़ जनता की बेतुकी भीड़—जो जीते हैं इसलिए कि मौत नहीं आ जाती और मरते हैं इसलिए कि जीने का कोई रास्ता नहीं।

अचानक एक धक्का लगा ; मेरी चिन्ता और शरीर दोनों में ही, पर रोमांच कहीं नहीं हुआ। सारथी ने कहा—सड़क बड़ी ख़राब है हजूर ! मैं हँसकर रह गया। साफ़ मालूम हुआ गुप्तकाल और अँग्रेजकाल में बड़ा अन्तर है। ईजा, वल्गा, छत्र, दण्ड, चक्र और रथ-घर्घर में परिवर्तन क्षम्य है पर धक्के में तो परिवर्तन असह्य है। हिमालय के उस विषम पार्वत्य-पथ पर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हाँक रहा था और यह मेरा सारथी भी एक अभ्रचुम्बी और पाताल-पाती राजमार्ग पर अपना रथ हाँक रहा है। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उस पर बैठी थीं, एकाध और सुंदरियाँ भी रही होंगी, धक्का उस दिन भी लगा था पर वहाँ शरीर और चिन्ता दोनों ही सिहर उठे थे, रोमांच, स्वेद और हृत्कम्प का एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय ! कौन जाने मेरे चरित्र-काव्य के भावी कालिदास को यह धक्का याद भी आयगा या नहीं। अगर आये तो समाजवाद के इस अग्रदूत का यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उसे अपने अग्निगर्भ-असन्तोष उद्गिरण करने वाले महाकाव्य में इस भयानक अनर्थ का चित्रण ज़रूर करना होगा। साम्राज्यवाद और 'बुर्जुआ' मनोभाव पर भी इसी बहाने उसे एक ठोकर ज़रूर मार जाना पड़ेगा।

आज का कोई युवक यह नहीं कहता कि केवल वही सत्य बात कह रहा है, बाक़ी लोग

या तो सारे संसार को या अपने आपको धोखा दे रहे हैं। पर सबके कहने का सारांश यही होता है। मैं भी इस बात को या इसी प्रकार की एक बात को कहने का अभ्यस्त रहा हूँगा। इसीलिए उस दिन मैंने एक बार लिखा था कि उस आर्ट का मूल्य ही क्या हो सकता है जिसे समझने के लिए बीस वर्ष तक लगातार शिक्षा की आवश्यकता हो? ऐसी कला से उन कोटि-कोटि निरन्न निर्वस्त्र जनता का क्या फ़ायदा है जिनके रक्त चूस कर ही ये कलाकार और ये कला-कोविद मोटे हो रहे हैं! जिस नृत्यभंगी को समझने के लिए भरत और नंदिकेश्वर का अध्ययन करना पड़े उसमें वास्तव में जीव नहीं है, वह प्रगति-विरोधी है, वह बुर्जुआ मनोभाव को प्रश्रय देती है। कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी उसी निष्प्राण और बुर्जुआ मनोभाव के पोषक काव्य-कला के कलाकार हैं! आज इस एकाश्ववाही रथ पर बैठने से मेरे मन में कुछ-कुछ सम्राट का आवेश संचरित हुआ होगा। शायद मेरे अवचेतन (Subconcious) मन के समुद्रगुप्त ने आज मेरे चेतन मन को अभिभूत कर लिया होगा। आज मैं सोचता जा रहा था, क्या सचमुच कला भी ग़रीबों के लिए हो सकती है? समाजवाद ग़रीबों के लिए है, या ग़रीबों के ध्वंस के लिए? वह जो चिथड़ों में लिपटी हुई ज्वराक्रान्त बुढ़िया कराहती हुई हाथ में तैल-किट्ट-कलुष-शीशी लिये नगरी के चिकित्सालय की ओर भागी जा रही है, कला का निर्माण क्या उसी के लिए होगा? या मारिये गोली कला को। रामराज्य की भारी-भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुर्दे कन्धों पर स्थापित होगी? हरगिज़ नहीं। समाजवाद इन मूढ़, निर्वाक्, दलित, अपमानित, हीन-निर्वीर्य, और तेजोहीन पुरुष और स्त्रियों को ध्वंस कर देगा—अवश्य विशेषण को, विशिष्यमाण को नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जनसमूह से तेजोदृप्त जनसमूह का अवतार होगा। पहले राम का अवतार फिर रामराज्य की स्थापना!

'अब की बार तो सरकार को आप लोगों ने हरा दिया न हजूर?'

दीर्घकाल के मौन को तोड़ने की इच्छा ही शायद मेरे एकाश्ववाही-रथ के सारथी के इस प्रश्न का कारण थी। पिछले निर्वाचन में कांग्रेस ने इस प्रान्त में सचमुच गर्व-योग्य विजय प्राप्त की थी। मैं बंगाल से आ रहा था। वहाँ के किसी मज़दूर ने ऐसा प्रश्न नहीं किया था। इसलिए नहीं कि बंगाल का मज़दूर कुछ ज़्यादा बुद्धिमान होता है और वह ठीक जानता है कि निर्वाचन में जीतने या हारने से सरकार का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, बल्कि इसलिए कि बंगाल में कांग्रेस की ऐसी जीत हुई ही नहीं थी, और इसलिए जनसाधारण में कांग्रेस-वादियों ने बहुत अधिक विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। शायद इसका कारण यह भी रहा हो कि मैं बंगाल के जिस कोने से आ रहा था वह राजनीतिक केन्द्र की अपेक्षा साहित्यिक केन्द्र अधिक था। वर्तमान राजनीति का हो-हल्ला वहाँ कम सुनाई देता है।

टालने के लिए मैंने संक्षेप में जवाब दिया—देखते चलो भाई, अभी देर है! मगर यह ग़रीब देखेगा क्या? इसे तात्कालिक राजनीति का कुछ भी तो पता नहीं, मेरे ही जैसे गान्धी मुकुट-धारी किसी समाजवादी अदना सम्राट् (!) ने उसे निर्वाचन के पहले समझाया होगा कि अब मज़दूरों का राज्य होने वाला है बस इसमें किसी कांग्रेस मनोनीत सदस्य को वोट देने भर की देर है! लेकिन मैं सोचता रहा—इस प्रचार का परिणाम भयंकर भी तो हो सकता है। कुसंस्कारों से आपादमस्तक लदी हुई, इस अशिक्षित जनता को समझाया भी क्या जा सकता है? कहते हैं, ज़माना बदल गया है, आज का मज़दूर और किसान कुछ तार्किक हो गया है, वह अपने पूर्वजों की तरह प्राचीन परम्परा को अपरिवर्तनीय विधान मानने को तैयार नहीं है। लेकिन कहाँ! तीन वर्ष के प्रवास के बाद आज लौट रहा हूँ, देखता हूँ अब भी हिस्टीरिया की दवा ओझे

का डंडा है, मलेरिया के लिये अभी भी लोहबान और लाल मिर्च का धुआँ उपादेय समझा जाता है, गण्डे तावीज़ की अमोघता में कोई भी अन्तर नहीं आया—सारी रेलगाड़ी तो इस बात का ही सबूत थी ! और यह एक्कावान पूछता है कि सरकार की हार हुई या नहीं। सोलह वर्ष पहले इन्हीं गाँवों में यह समाचार बड़ी तेज़ी से फैल गया था कि गांधी जी को अहमदाबाद में तोप से उड़ा दिया गया है और वे दिल्ली में लाट साहब के घर के सामने चर्खा कातते पाये गये हैं ! आज भी इस प्रकार का समाचार उसी आसानी से फैलाया जा सकता है ! आज जब मेरे सारथी ने सरकार की हार को विश्वास के साथ मान लिया है तो मैं सोच रहा हूँ, तोप वाली बात में और मज़दूरों के राज वाली बात में क्या कोई समानता नहीं है ? दोनों ही आकाश कुसुम हैं !

लेकिन यह ठीक है कि यह राज्य-व्यवस्था, यह समाज-व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं टिकेगी। मज़दूरों में बल संचय होगा। वे अपना अधिकार पावेंगे। हे मेरे अभागे देश ! तुमने जिन कोटि-कोटि नर-नारियों का अपमान किया है, अधिक नहीं तो, चिताभस्म के ऊपर एक दिन तुम्हें उन सबके समान होना ही पड़ेगा। तुमने मनुष्य-देवता का अपमान किया है, वे तुमसे रूठ गये हैं। शत शत शताब्दियों से पददलित यह असंख्य जन समुदाय तुम्हें आगे नहीं बढ़ने देगा। जो नीचे पड़े हैं वे पैर पकड़ कर तुम्हारा चलना दूभर कर देंगे। अपमानित, अवहेलित, दलित और निष्पेषित के समान अगर तुम भी नहीं हो जाते तो तुम्हारा नाश अवश्यंभावी है। मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि मैं एक वज्रकपाट-पिहित अन्धकाराच्छन्न कठोर क़िले में घुस रहा हूँ। इसका भेद करना आसान नहीं। भावावेश में मैं मन-ही-मन रवीन्द्रनाथ का एक गान गाने लगा जिसमें बताया गया है कि 'ऐ अभागे, तेरी पुकार सुन कर अगर तेरा साथ देने कोई न आये तो अकेला ही चल ; अगर सामने घोर अन्धकार दिख पड़े तो वक्षस्थल की हड्डी खींचकर मशाल जला ले और अकेला ही चल पड़ !' मैं अपने को छिन्न कार्मुक योद्धा की भाँति दिग्मूढ़ नहीं पा रहा था ; बल्कि अधिज्यधन्वा धनुर्धर की भाँति निर्भीक आगे बढ़ रहा था। ऐ मेरे भावी कालिदास, भूल न जाना !

फिर एक धक्का; मेरे सारथी ने कहा—बाबूजी, गंगा मैया ने रास्ता तोड़ दिया, थोड़ी दूर पैदल ही चलना होगा। 'बहुत अच्छा'—कह कर मैंने अनुरोध-पालन किया। मेरी दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहले इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आस पास के गाँवों के धनी दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रान्त भाव से बह रही थीं। मैंने उनके अनजान में ही एक बार प्रणाम कर लिया। मेरे मन में उस समय एक अटूट निरवच्छिन्न परम्परा के प्रति एक कोमल भाव रहा होगा। उस समय मैं एक बार याद करता था उन लाख-लाख अनुद्गत यौवना कुमारी ललनाओं को जिन्होंने अनादि काल से अभिलषित वर की कामना से गंगा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख मांगल्य-दीप बहा दिये होंगे। फिर याद आई मुक्तिकाम महात्माओं की जिनके तपःपूत ललाट का असंख्य प्रणिपात गंगा की प्रत्येक तरंग ढोती जा रही थी। और अन्त में याद आईं गुप्तकाल की ललनाएँ जिनके वदन-चंद्र के लोध्ररेणु से नित्य गंगा का जल पांडुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चञ्चल लीला-विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा, गज-शावक उत्सुकता के साथ करेणुका को पंकज रेणु-गंधि गण्डूषजल पिला दिया करता होगा, अर्द्धोपभुक्त मृणाल-खण्ड से ही चक्रवाक-युवा प्रिया को सम्भावित करने लग जाता होगा, क्षण भर के लिए सैकत-चारी हंसमिथुन पीछे फिर कर स्तब्ध हो रहते होंगे। गुप्तकाल के वसन्त काल में और आज के वसन्त काल में कितना अन्तर है ! वह जो सामने अशोक नामधारी वृक्ष धूलिधूसर होकर ज़िन्दगी

के दिन काट रहा है, उन दिनों, आसिञ्जित-नूपुर चरणों के आघात की भी इन्तज़ारी नहीं करता था, वसन्त देवता के आते ही कन्धे पर से ही फूट उठता था ; पर आज ! आज की बात मत पूछिये । मुझे साफ़ मालूम हो रहा था कि गंगा के प्रत्येक बूँद के अन्तस्तल में गुप्तकाल के आसिञ्जित-नूपुर की झनकार अनुरणित हो रही है । अब भी इसीलिए गंगा की तरंगे मस्त हैं, लापरवाह हैं, सतेज हैं । उस नशे की खुमारी अब भी दूर नहीं हुई है । और हम मनुष्य कहलाने वाले जीव इतने गये-बीते हैं कि कुछ पूछो ही नहीं ।

डिफीटेड मेन्टैलिटी—पराजित मनोभाव ! सामने दुर्भेद्य अज्ञान दुर्ग है ; बाहर का शोषण और भीतर की लूट जारी है ; और तुम गुप्तकाल के स्वप्न देख रहे हो । इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं । आज का हरेक कवि, हरेक लेखक इसी पराजित मनोभाव का शिकार है । अंग्रेजकाल गुप्तकाल नहीं है ; वर्तमान अतीत जैसा मोहक नहीं है । उज्जयिनी की अभिसारिकाएँ न जाने कौन-सी गुदगुदी पैदा करके और न जाने कौन-सा वैराग्य उद्रिक्त करके अस्त हो गईं । आज बड़े बड़े नगरों के वेश्यालय देश की समस्त नैतिकता, समग्र काव्य-कला,समग्र आचार परम्परा पर मानो बड़े प्रश्नवाचक चिह्न हैं । वर्तमान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्याओं द्वारा कलंकित है । इस असौन्दर्य के ढूह में काव्यकला टिक नहीं सकती । साफ़ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्ज्जना को, इस अन्धकार को ।

फिर मैं सोचने लगा—अतीत क्या चला ही गया ? अपने पीछे क्या हम एक विशाल शून्य मरुभूमि छोड़ते जा रहे हैं । आज जो कुछ हम कर रहे हैं, कल क्या वह सब लोप हो जायगा ? कहाँ जायगा यह ? मैं किसी तरह विश्वास नहीं कर सका कि अतीत एकदम उठ गया है । मुझे साफ़ दिख रहा है, इसी गंगा की तरह मस्त भाव से बहती हुई सिप्रा की लोल तरंगों पर बैठे हुए कवि कालिदास उज्जयिनी के सौध-निहित वातायनों की ओर देख रहे हैं । हाय, कहीं मैं भी उनके साथ होता ! सिप्रा की प्रत्येक ऊर्मियाँ अप्सराओं के रूप में मुहूर्त भर को लीलायित करके लुप्त होती जा रही हैं । कवि के नयनों के सामने शत-शत विकच कमल किन्नरों के रूप में विकसित होते जा रहे हैं । तटभूमि पर कहीं अलकार्पित कर्णिकार, कहीं आगण्ड-विलंबि-केसर शिरीष, कहीं विस्रस्त-वेणीच्युता अशोक मञ्जरी, कहीं त्वरा-परित्यक्त लीला कमल अम्ज़ान भाव से बिखरे पड़े हैं । मैं स्पष्ट देखता हूँ अतीत कहीं गया नहीं है । वह मेरे रग-रग में सुप्त है । ना, अतीत एक विशाल मरु-भूमि कभी नहीं है !

सत्य क्या है ? वे जो दो ग्वाल-बाल नग्नप्राय अवस्था में खड़े हैं, शरीर उनका अस्थि-पञ्जर-मात्र अवशिष्ट है, चेहरा उनका भारतवर्ष का नक़शा है—(दोनों गाल दोनों समुद्र और चिबुक कुमारिका अन्तरीप !) पेट उनका सारे जगत् का अनुकारी विशाल ग्लोब है—यही क्या भारतवर्ष है ? यही क्या सत्य है ? हे उच्छिन्न-वीर्य कंकाल-शेष भारतवर्ष, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, लेकिन मेरा मन यह नहीं मानना चाहता कि इन चर्म-चक्षुओं के सामने जो कुछ हिल-डोल रहा है वही सत्य है—'जाहा घटे ताहा सब सत्य नहे !'

भारतवर्ष !—उपयुक्त रास्ते पर सारथी के अनुरोध पर फिर रथारूढ़ होते हुए मैंने सोचा—हज़ार-हज़ार जाति और उपजातियों में विभक्त, शत-शत साधु सम्प्रादयों द्वारा जर्जरीकृत, विविध आचार परम्परा का शतच्छिद्र कलश, भारतवर्ष !! यही क्या सत्य है ? या विराट् मानव महासमुद्र भारतवर्ष, जहाँ आर्य और अनार्य, शक और हूण, चैनिक और तुरुष्क, मुग़ल और पठान एक दिन दृप्तवीर्य होकर आये और सब भूलकर एक हो रहे !! 'हे मेरे चित्त, भारत रूप इस

महा-मानव-समुद्र के पुण्य तट पर स्थिर भाव से जगा रह।' कौन जाने किस विधाता ने किन महा-रत्नों को मथ निकालने के लिए यहाँ उत्कट देवासुर युद्ध का विधान किया है? भारतवर्ष का अतीत उसके साथ है, वर्तमान उसके आगे है और वह जो सुदूर उदयाचल के पास सुवर्ण-ज्योति झिलमिला रही है, वही उसके तेजोमय भविष्य की निशानी है। इसका प्रथम प्रकाश मेरे इस दुग्ध-धवल गान्धी-किरीट पर ही पड़ रहा है।

मेरा रथ अब गंतव्य स्थान पर आ गया!

आँसू

['मंगलामोहन']

आज यह किस युग का मृदु-भार,
दलित रे किस जीवन का प्यार
बह चला बह आँखों की राह ?
रात सो रही है, दीवानों की दुनिया जागी है,
किसे पता किस हतभागे ने क्यों निद्रा त्यागी है ?
कौन यक्ष का मेघदूत है बरस रहा पथ भूला ?
किस रघुपति की खोई सीता दृग में झूली झूला ?
किस वनवासी लक्ष्मण की उर्मिला विरह की मारी,
निज मर्यादा में सीमित झरती रुक रुक सुकुमारी ?
किस द्वारिका प्रवासी मनमोहन की राधा रानी
योग सँदेशा सुन-सुन, गल-गल हुई जा रही पानी ?
विस्मृत शकुन्तला को किस आर्द्र-स्मृति ने पहचानी,
और हो गया पानी-पानी पुरुष-हृदय अभिमानी ?
किस त्यक्ता गोपा के गौतम की वर्ग-ध्वनि पहचानी,
नयनों से झर-झर कर कहती-सी है करुण कहानी ?
स्मृति किस लैला की किस मजनूँ के दिल की रानी की ?
कौन कोहकन की आहों पर शीरीं दीवानी की ?
किस यूसुफ़ की अमर ज़ुलेखा के ये बिखरे कुन्तल,
भीग-भीग लहरा-लहरा छहरे पड़ते हैं छल-छल ?
नरगिस से इन ओस कणों का गिरना, फिर भर आना,
किस अनार की क़ब्र धो रहा है सलीम दीवाना ?
कौन शिशिर के श्यामा को करुणा धीरे झरती है ?
कौन चातकी आग-भरे उर को पानी करती है ?
किस सूखी सरिता में उमड़ी यह सजला अभिलाषा ?
झलक रही है इन बूँदों में किसकी तृषित पिपासा ?
आज यह कौन मूक-मनुहार
कौन यह अस्वीकृत उपहार,
झर रहा, झर नयनों की राह ?

एक पहेली

['पहाड़ी']

नलिनी उलझी थी। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। पिछले चार दिनों वह अनमनी रही। आज भी अपने को समझ नहीं पा रही थी। एक चुहल, नई बात...के दायरे से बाहर वह रह जाना चाहती थी। उसे एक अभाव सता रहा था। उसका मन उमड़ रहा था। वह आँसू बहा अपने को हलका कर लेना चाहती थी। यहाँ तक कि शादी की रात को जब उसका हाथ एक पुरुष को सौंपा गया—नहीं पति को—तब वह मन-ही-मन बोली थी—शादी ? नहीं-नहीं, वह शादी नहीं करेगी। चार आँसू की बूँदें भी टपकी थीं। वह कुछ भी देखना न चाहती थी। उसे बड़ा डर लग रहा था। वह काँप रही थी। फिर—फिर उसने सुना—नलिनी मैं जा रहा हूँ। सच, जा ही रहा हूँ। तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा मुझे जाना है। तू रोना मत। दुःख न मानना। यही होनहार था—सच भी। अब तू समझदार हो गई है। कभी-कभी याद कर लेना। नहीं भूल जाना......

नलिनी कुछ नहीं बोली थी। वह कुछ कहने की चाह रखकर भी मूक थी। वह असमर्थ थी। क्या-क्या सोच कर वह आई थी। सारी भावुकता खो गई थी। अपने से बाहर वह क्या कहती, क्या न कहती ?

फिर विनोद बोला था नलिनी प्रेम-कहानी का प्लॉट सरोजने की चीज़ है। जीवन में रगड़ा-झगड़ा, खिचाव, खेल, दुःख-पीड़ा; क्या-क्या नहीं पाना पड़ता ? प्रेम की कोई व्याख्या नहीं। हाँ, हमें अपने समीप कुछ रखने की चाह रहती है। हम कुत्ते का बच्चा पालते हैं, बिल्ली का, घर के पींजड़े में बन्द पक्षी भी जब उड़ जाता है, तब उसकी स्वतंत्रता को न सोच हम उसके उड़ जाने का ही दुःख करते हैं।

नलिनी फिर भी कुछ नहीं बोली थी। और विनोद ने बात पलटने के विचार से कहा था, तुम्हारा रिज़ल्ट कब आवेगा। आजकल तो ख़्वाब में भी वही सोचती होगी। मैंने भी एक ऐसा ज़माना काटा है......

नलिनी ने मन-ही-मन कलस कर सोचा था, ख़्वाब में वह कुछ और ही सोचती है, देखती है......

फिर भी नलिनी अपने हाथ को शादी की रात अलग न हटा सकी। वह उसे हटा, यह कहना चाहती थी—'क्यों मुझ असहाय को इस ग्रन्थि में जोड़ रहे हो। मेरे पास कुछ नहीं।'

पर वह शादी के बाद बिदा हुई। उसका स्वामी प्रोफ़ेसर है और बिदा होते-होते नलिनी ख़ूब रोई। उसे लगा था कि वह जा रही है—जा रही है और साथ ही अपनी कई प्यारी स्मृतियों को छोड़ रही है। उनमें विनोद की मलिन हँसी सुन चौंककर वह हट गई थी। वह हारी, ठगी, होश-हवास खो दालान पार कर, बाग़ का दरवाज़ा खोल, बाग़ के चबूतरे के पास जब पहुँची, तो संध्या बिदा हो रही थी, हलकी धुँधली रात पड़ गई थी। उसे लगा कि कोई उसका पीछा कर रहा है। वह सहमी पीछे देखती खड़ी रह गई।

अब वह ज़रा आगे बढ़ी। लगा विनोद कहता-सा—नलिनी तू शादी करना। समाज में एक अच्छे गृहस्थ के लिए तुमको तय्यार होना है। वही तुम निभाना। राष्ट्र की एक बड़ी ज़िम्मेदारी हमारी नारियों पर है। तुम्हारा वही स्थान है। तुम पर एक पुरुष टिकेगा, उसे तुम मार्ग दिखलाना। यही तुम्हारी शिक्षा की क़ीमत होगी। अपनी ख़ुशी-ग़मी, दुःख-वेदना के आगे समाज की रक्षा एक ज़रूरत है।

ज़रा वह और आगे बढ़ी थी। सामने उसने देखा था—पीले-पीले चूने से पुती कोठी और वह रुक गई थी। उसे लगा था, कि वहीं से एक दुबला-पतला सुन्दर युवक, चश्मा लगाये, लम्बे-लम्बे उलझे बालों में, लापरवाही से पहने नीले-नीले सूट में, काग़ज़ का बण्डल हाथ में लिए उधर ही बढ़ रहा है।

'विनोद !'—वह चिल्लाई थी। और वह एक भ्रम था। विनोद के हाथ में उसके नये उपन्यास का Manuscript (पांडुलिपि) था।

नलिनी ने उसके पूरे पत्रों को साफ़-साफ़ उतारा था। कई बार उसने सुबह जाकर देखा था कि विनोद रातभर नहीं सोया। वह लिखता ही रहा था। बिजली की बत्ती बुझाने का भी ध्यान उसे नहीं रहा था। मेज़ पर लिखे काग़ज़ बिखरे थे और इधर-उधर फटे काग़ज़ों के टुकड़े फैले थे......।

नलिनी की आहट से चौंक वह बोला था—नलिनी तुम आ गईं, अभी-अभी दसवाँ चेप्टर मैंने ख़तम किया है। अब आलस्य आने लगा। अच्छा हुआ कि तुम आ गईं। इनको नम्बरवार लगा देना, ज़रा मैं आराम कर लूँ। बड़ी थकान लग रही है। और विनोद 'इज़ी चेयर' में लेट गया था। नलिनी पत्रों को सँवारती रही थी। जब सँवार चुकी तो बोली थी, चाय बना दूँ ?

विनोद ने हामी भरी थी और वह चुपचाप स्टोव जला, चाय बनाने लगी थी।

तब नलिनी अपने को नहीं समझती थी। विनोद को समझने का भी उसे कभी ध्यान नहीं रहा था। उसमें एक कुतूहल था। उसी में वह अपने को पाती रही थी।

चाय पीकर वह विनोद को चेप्टर सुनाती-सुनाती कभी कभी ज़रा सोचती थी—वह क्या लिखता है ? कैसे...और सुना कर जब चली जाती तब भी सोचती—विनोद कुछ ज़रूर है !

रात हो आई थी, पीली-पीली कोठी अन्धकार में विलीन हो गई। विनोद के साथ जिस पीली कोठी में पाँच साल तक वह हँसी-खेली, रूठी, उसी में कोई नए किरायेदार अब रहते थे। विनोद वहाँ... ...।

और वह चुपचाप लौट आई थी।—'चाय पी लीलिए !'

अब नलिनी ज़रा चेती, देखा—पास ही बर्थ पर रिफ्रेशमेन्ट रूम का नौकर टी-सेट लगा गया है और नमकीन, मिठाई, फल भी तश्तरी में सँवारे धरे हैं। उसके स्वामी खड़े थे।

सेकिंड क्लास के डिब्बे में बैठी वह अपने स्वामी के साथ शादी के बाद जा रही है।

वह चाय पीना नहीं चाहती थी। उसका मन उदास था। न जाने अपने को भारी

क्यों पा रही थी। एक-एक मिनट सियापा बना उसे अपने में निगलता लगा। और अपने को अलग रखना चाहकर भी वह कुछ पकड़ न पाती थी। अब वह पति को दे रही है—उसने सोचा, धोखा देना ही उसने सीखा है। यह उसकी अपनी बात रही। विनोद को उसने धोखा दिया। उसने विनोद से एक दिन कहा था—विनोद, मैं तुम्हारी हूँ। हमारा सम्बन्ध अटल है, हम संसार में एक दूसरे से प्रेम करने ही के लिए पैदा हुए हैं।

और विनोद कुछ नहीं बोला था। वह कहती रही थी—हमारी ज़िन्दगी कितनी सीधी है, सुन्दर भी। हमें आख़ीर तक अपनी बात रखनी चाहिए।

कि, उसने देखा उसका स्वामी खड़ा का खड़ा है। उसे वह किस बात की सज़ा दे रही है। अपना जाल वह बुने। आप उसमें खो जावे। लेकिन, स्वामी, उससे परे-परे ही क्यों न रहे। वह चुपचाप चाय बनाने लगी। पहिला प्याला बनाकर अलग रख दिया—स्वामी की ओर। दूसरा अपने लिए बनाया। देखा, स्वामी चाय पीने लगे हैं। वह चुप रही कि उसका स्वामी बोला—आप भी पीजिए।

और उसने चाय का प्याला उठाया। ज़रा मुँह के समीप लाई थी कि उठती भाप में देखा—विनोद मुसकुराता कह रहा है, 'नलिनी, यह उपन्यास न जाने कब पूरा होगा। सच कह रहा हूँ बड़ी थकान है। जब तुम पास चली आती हो, तो फिर मैं पूर्ण स्वस्थ हो जाता हूँ; और मैंने निश्चय किया है कि मैं इस उपन्यास को तुम्हें समर्पित करूँगा।'

उसने चाय की प्याली नीचे रख दी। कुछ देर ठगो-सी रह गई। फिर अपने स्वामी की ओर देखा। एक बार फिर स्वामी की ओर देखा; चाहा कि समूचे स्वामी की प्रतिमा को हृदय में रख ले। लेकिन वह असमर्थ रही। उसमें इतनी सामर्थ्य न थी। विनोद की रूप-रेखा उसके हृदय पर पूर्ण खिंची थी—गहरी-गहरी, नीली-नीली लाइनों में। फिर ज़रा सँभलकर उसने सोचा कि विनोद से हारा दिल क्या वह अपने स्वामी को सौंपेगी? क्या यही उसके स्वामी को पाना था?

उसने देखा कि वह अपने कर्तव्य को पूरा नहीं निभा रही है। मन मार कर चुपचाप नारंगी छील खाने लगी, फिर नमकीन भी उसने खाया और अपने स्वामी के लिए दूसरी प्याली चाय बनाई। अपना कार्य तत्परता से वह निभा गई। यही वह कर सकती थी। अपने मन को हल्का कर लेने का और कोई उपाय उसके पास नहीं था।

गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर खड़ी हुई। नौकर सब सामान ले गया, और फिर एक पारसी सज्जन अन्दर आये। नलिनी को मन-ही-मन खुशी हुई। वह अब निश्चिंत हो गई कि स्वामी की बातों के भार से वह बाहर हो गई है। अब ख़ुद उसे अपने को समझने का भी मौक़ा मिलेगा।

उसके स्वामी पारसी सज्जन से बातें करने में मशगूल हो गये। 'बिज़िनेस', देश, कांग्रेस, दुनिया भर की राजनीति पर बातें चलीं और उसने पाया कि उसके स्वामी का तर्क कितना अच्छा है। बातों का जवाब कितना तौलकर समझाता है। उसे अपने स्वामी में पूर्ण श्रद्धा हो आई। उसने सोचा कि वह योग्य पति की आदर्श पत्नी बनेगी। यही अब उसे निभाना है।

फिर से उसने देखा—दूर—बड़ी दूर—विनोद मुसकुराता-सा कह रहा था—'वहीं तुम रहना नलिनी......।'

विनोद—वही विनोद जिसे वह ख़ूब समझती है। वही जिसकी एक-एक बात जानती है। वही विनोद जिसकी एक-एक ज़रूरत उसने रट ली थी। और वही विनोद, जो उसका पति होनेवाला था। पति, हाँ—उसी के साथ ज़िन्दगी चला लेने को उसे 'वास्ता' पड़ेगा—यही सब कहते

ो। समाज के लोग यह जान गये थे कि नलिनी विनोद की पत्नी होगी। यही एक दिन विनोद और उसके घरवालों ने भी ऐलान किया था। तब ही वह विनोद को ख़ूब बारीकी से समझ लेना चाहती थी। वह विनोद की ज़रा-ज़रा बात पढ़कर उसके लायक़ अपने को बना लेना चाहती थी। विनोद को जो चीज़ें पसन्द थीं अपनी आदतों में उसने वह भी शुमार कर ली थीं। साथ ही उसने एक दिन कहा था—नलिनी, अकेला काम मुझसे अब नहीं होता, मुझे ऐसी पत्नी चाहिए जो 'प्राइवेट सिक्रेटरी' का काम भी कर सके और मेरे ऊपर शासन भी। मैं बिल्कुल निकम्मा हूँ। यहाँ तक कि पुरुष के जो कार्य होते हैं, वह भी बहुत-से उसे निभाने पड़ेंगे। मुझे कभी याद नहीं रहता कि किस चीज़ की ज़रूरत मुझे कब पड़ेगी। और वक़्त पर जब वह नहीं मिलती, तो अपने पर बड़ा गुस्सा आता है। कभी-कभी सौदा-पत्ता लेने भी उसे बाज़ार का रास्ता नापना पड़ेगा........

और नलिनी ने सारी बातें जमा कर ली थीं। वह सोचती थी कि वह विनोद के साथ निभ सकेगी। वह उसे पूरा बना लेगी। वह विनोद के 'मूड' और 'सेन्टिमेन्टस' को ख़ूब पकड़ेगी। लेकिन एक बात, विनोद तो कहता था—उसके कान भी कभी कभी उमेठने पड़ेंगे। तब वह विनोद से ख़ूब चुटकी लेगी।

जिस दिन मुहल्ले में लोगों ने जाना कि नलिनी की शादी विनोद से होगी उस दिन नलिनी घर से बाहर नहीं निकली। चुपचाप अपने कमरे में ही कुछ सोचती रह गई थी। और साँझ को बाग़ में घूमने निकली थी कि देखा—विनोद अस्तव्यस्त-सा भागा चला आ रहा है; उसके पाँव नंगे थे, कोट-पेंट जल्दी-जल्दी में डाले था। नलिनी को देखकर बोला था—'नलिनी, तुम तो दिन भर नहीं आईं। आज मैंने अपने उपन्यास का टाइटिल पेज बनाया है। तुम भी देख लो' कहते-कहते सुफ़ेद काग़ज़ का ताव नलिनी के हाथ पर दे दिया था। नलिनी ने देखा था—एक युवती बाल फैलाए खड़ी है; ख़ूब बिखरे घने घने बाल हैं। और युवती हाथ में कंघा लिए है। वह कंघे पर लटके एक लम्बे बाल को ग़ौर से देख रही है।

नलिनी काग़ज़ को देखकर और दिनों की तरह उछल न पड़ी थी। अब वह अपना स्थान समझ गई थी। ज़रा असावधानी होने पर बात पूरी नहीं रह सकती। और उसे तो सारा जीवन ही इसी प्रकार काटना है। सब समझ वह चुप थी कि विनोद ने पूछा था, कैसा है?

'अच्छा' वह ज़रा दबकर बोली थी मानो आगे और कुछ कहना नहीं था।

विनोद ने कहा था—नलिनी, बहुत दिनों से यह बात मन में विद्रोह मचार ही थी। आख़िर कल रात इसे पूरा कर सका हूँ। मुझे यह चित्र ख़ूब पसन्द है। ज़रा-ज़रा बातों पर हम अटक कर चल सके तो हमें ज़िन्दगी पूरी लगेगी। जल्दबाज़ी हमेशा अधूरी रहेगी।

अब नलिनी कुछ ज़्यादह कहना नहीं चाहती थी। इतना वह जान गई थी कि विनोद ने अनजाने जिस रमणी का चित्र खींचा था, वह वही थी। विनोद इसे नहीं समझा। अपने भावों में उसे यही सूझा। और उस युवती के मुख पर अपनी छाप पा नलिनी ख़ुश हुई थी, और अपनी उस प्रसन्नता को वह ख़ुद पी गई, और दिनों की बात होती तो वह ज़रूर चुटकियाँ लेती। लेकिन वह तब नपी-तुली बातें ही उससे करना चाहती थी। बिल्कुल भावुक न रह गम्भीरता अपने में लाना चाहती थी......।

विनोद नलिनी को चुप देख बोला था, हमारी ज़िन्दगी में कई बातें छोटी-छोटी होने पर भी महत्व की होती हैं, नलिनी। हम उनको भुला नहीं सकते।

नलिनी ने चित्र एक बार फिर देखकर विनोद को लौटाते समय साहस बटोर कर कहा था,

इसे किसी को न दिखलाना। जब पुस्तक छपे तब ही लोग इसे देखें। सब दंग रह जायँगे।

और विनोद ने हामी भर दी थी। फिर कहा था—ग्यारहवाँ चेप्टर भी ख़तम हो गया है। उसे तुम उतार कर ठीक कर देना। चलो।

नलिनी ने सोचा था कि वह नहीं जायगी। लोग क्या कहेंगे! दुनिया का डर उसे ज़रूर उस दिन हो आया था और लगा था कि अब वह कुछ और है, इस प्रकार विनोद के साथ रहना अब ठीक नहीं।

फिर विनोद ने नलिनी का हाथ पकड़ कर कहा था, चलो!

और नलिनी मन्त्रमुग्धा सी चुपचाप उसके साथ बढ़ गई थी।

कमरे में पहुँचकर उसने देखा था कि वह ख़ूब सजा था। सामने मेज़ पर चाय का पूरा सामान लगा था। विनोद ने कहा था—नलिनी खाओ आज तक तुमने मुझे खिलाया, अब तुम खाओ। कल रात चित्र पूरा करते-करते मैंने सोचा था कि तुम्हारी पूजा करूँगा।...

नलिनी चुप रह गई थी और विनोद के साथ चाय पीने बैठी थी। फिर कुछ सोचती बोली थी—वह चित्र किसी को न दिखलाना, भैया को भी नहीं। सुधा (विनोद की बहन) को भी नहीं।

विनोद ने ज़रा आँखें उठाकर पूछा था, क्यों?

और नलिनी बोली थी, वह युवती कोई नहीं; अनजाने में तुम मेरा चित्र बना बैठे हो।

'तुम्हारा?......'

'हाँ, क्या तुमको यह बात नहीं लगी?'

'यह बात नहीं—हाँ, इतनी बात ज़रूर हुई कि जब मैं उस युवती का चित्र बना रहा था, तब मैंने सोचा था कि विश्व की एक मात्र नारी का चित्रण ही मैं करूँगा। लेकिन पेन्सिल चली नहीं। चाह कर भी कुछ बना नहीं सका। फिर एकाएक मुझे तुम्हारा ध्यान आया। आगे मैं फिर खो गया। न जाने कब तक पेन्सिल चलती रही और मैं सो गया। सुबह मेरी नींद टूटी, देखा—चित्र बन गया था। फिर मेरा जी किया कि दौड़कर तुमको चित्र दिखा दूँ। लेकिन, अधूरा चेप्टर भी ख़तम करना ज़रूरी था......'

नलिनी समोसा मुँह में रख चबाती-चबाती बोली थी—कुछ हो, इसे किसी को न दिखाना हाँ...फिर चाय की प्याली उठा, एक घूँट पी, मुँह बिचकाकर बोली थी—ख़ूब, चीनी भी इसमें नहीं। अच्छी रही।

'चीनी...मैं भूल ही गया था'—कहते-कहते विनोद ने दो चिम्मच चीनी प्याली में डाल दी थी।

चाय पी लेने पर नलिनी ने मुसकुराते कहा था—थेंक्स!

और विनोद अनायास ही उठा था, उठकर नलिनी के समीप आया था, उसका हाथ अपने हाथ से हलके पकड़ बोला था—नलिनी!

'हाँ!'

'यह झूठ है। तुम चित्र में नहीं। मेरी आँखें देख रही हैं—तुम कुछ और हो। पेन्सिल से खिंची रेखाओं के जाल में तुम नहीं। तुम आगे हो। वह नारी एक भावना है, एक ख़्याल है, एक ख़्वाब है। दिमाग़ी एक क़िस्सा भी है। लेकिन तुम वह नहीं। तुम चित्रवाली नारी से ज़्यादा

उभरी, सँभली और मुझसे लगी हो। मेरे समीप हो, मेरे पास हो। तुम वह नहीं हो—नहीं हो। यह सच है। बोलो तुम क्या कहती हो?

नलिनी चुप रही थी। इस प्रश्न का उत्तर उसके पास नहीं था। यह प्रश्न बिल्कुल नया उसे लगा था। यह निरी भावुकता उसने नहीं समझी, यह पहेली उसे अच्छी न लगी थी।

विनोद कह रहा था, 'देखो, हमारे दिल में एक पीड़ा होती है—हम लिखते हैं। उस पीड़ा को जो जितना समझा, उतना ही सफल रहा। जो उस भूलभुलैया में निपट खो गया, वही दार्शनिक हमें लगा। तब ही यह बात होती है, जब कि लोगों को वह कुछ धोखा दे सके। लेकिन मेरे पास कुछ नहीं। अपनी एक पीड़ा है—वह क़लम से परे की चीज़ है। दूर की ही। कोई भले ही कहे लिखो; फिर भी सन्तोष नहीं होता। अपनी एक पूर्णता नहीं लगती।'

नलिनी कुछ समझी नहीं थी। विनोद की वह अजीब सनक उसे लगी थी, जिसे पाकर वह सँवार कर रखना चाहती थी। उसे कुछ नई बातें भी उस दिन विनोद में लगी थीं। विनोद आज तक कभी भी इतना साफ़-साफ़ नहीं बोला था। आज की बात में नई सूझ भी थी......।

विनोद कह ही रहा था, 'नलिनी, दुनिया की पीड़ा ही हम बाँट सकते तो धन्य हो जाते। लेकिन हम उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। यह हमें ज़रूरी नहीं लगता कि कुछ अपने पास रख लें; हम उससे भाग जाना ही चाहते हैं। दूर—दूर—दूर ही चले जाना चाहते हैं। वहाँ जाना चाहते हैं, जहाँ कि उसका आदान-प्रदान न हो। वहीं हमारा सुख है, हमारी ख़ुशी है, हमारा ऐश्वर्य भी। पर वह श्रद्धा की चीज़ नहीं।'

फिर एकाएक विनोद बोला था, 'सदा मैं तुमसे हारा, आज जीतना चाहता हूँ। हमें समीप ही अब रहना है। हमारा यह निपटारा भी शीघ्र हो जावेगा'—कह विनोद ने नलिनी को अपने समीप खींच लिया था। नलिनी चुपचाप उससे लगी रह गई थी। वह कुछ बोली नहीं, समझी नहीं; न वह कुछ समझना ही चाहती थी, न बूझना ही। पास उससे लगकर खड़ी हो गई। और विनोद ने नलिनी की टोढ़ी उठाकर उसे चूम लिया था और बोला था—'नलिनी, नारी-चुम्बन में एक आकर्षण होता है—वह मैंने पाया। यह एक ग़लती नहीं होगी। सुबह चित्रवाली नारी को मैं चूम लेना चाहता था; पर फिर सोचा कि वह भूल होगी—रुक गया था। उस काग़ज़ी नारी से मैं श्रद्धा बाँट लेना नहीं चाहता था। तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। तुम्हारे आगे अपने को छिपाऊँगा भी नहीं। अपनी बात मैंने रख ली। जो पाना था, पाया। अब मेरे मन में कहीं भी ज़रा सिकुड़न नहीं। मुझे लगता है, मैं पूरा हूँ, रहूँगा। यही मुझे चाहिए था।

नलिनी ने ज़रा सँभलकर कहा था, 'वह 'चेप्टर' अभी पूरा उतारना होगा क्या? मुझे देरी हो रही है। घर के लोग आज सिनेमा का 'प्रोग्राम' बना चुके हैं।'

विनोद बोला था, 'तुम जाओ। हाँ, वह चेप्टर साथ लेती जाओ। कल सुबह साफ़-साफ़ उतार देना। 'टाइटिल पेज' भी लेती जाओ। अब वह तुम्हारा ही है।' वह काग़ज़ की 'फ़ाइल' उसके हाथ में दे दी थी।

और नलिनी घर से बाहर निकली थी—सहमी, डरी। उसका दिल कह रहा था, 'विनोद क्या पहेली है।' फिर वह सोचती थी, नहीं, वह उससे दूर नहीं और पत्नीत्व के भार से दबी वह अपने को पा रही थी........

कि, उसने देखा गाड़ी दूसरे जंक्शन पर ठहर गई है। पारसी सज्जन गाड़ी से उतर पड़े हैं। चार बूँद जमा आँसू टपके। फिर सँभलकर वह अपने स्वामी से बातें कर लेने का साहस जमा करने लगी। वह इसके लिए तैयार हुई। दिन ढल चुका था। रात हो आई थी। स्टेशन की झिलमिली भी पीछे छूट गई थी।

उसका पति पास ही बैठा अख़बार पढ़ रहा था। नलिनी ख़ूब समझ रही थी कि उसका पति चाहता है वह उससे बातें कर ले। और वह चुप थी। आख़िर प्रोफेसर ने अख़बार हटा कर कहा—खाने का वक्त हो चला है.........

नलिनी को अब अपने उत्तरदायित्व की याद आई। वह मशीन की तरह उठी, सामने से 'टिफ़िन-केरियर' उठाया और चुपचाप खाने का सामान लगा, बोली, आप खावें। फिर सुराही से एक गिलास पानी भर लिया और एक ओर रख बोली—आप खावें, मुझे भूख नहीं है, सफ़र में मेरा जी खाने को नहीं करता।

उसके पति ने एक बार उसे देखा और रुककर कहा—कुछ खा लीजिए। भूख न सही, ज़रा ही............

नलिनी अपने पति के इस निमंत्रण को ठुकरा नहीं सकी, साथ-साथ खाने लगी।

पति ने बातें शुरू कीं—'आपने B. A. में कौन-कौन से Subject लिए हैं?'

'हिस्ट्री और हिन्दी।'

पति फिर चुप रहे। खाना खाते रहे। लगता था कि कुछ पूछना चाहते हैं; पर क्या पूछें यह समस्या है। फिर भी पूछा—शेली की कविता तो आपके 'कोर्स' में है?

'जी............'

'कौन-सी.........?'

'Skylark'

'शेली को तो पाश्चात्य-साहित्य में बड़ा महत्व दिया गया है। आपकी उसके बारे में क्या राय है?'

नलिनी परीक्षा देने के लिए तय्यार न थी, कहा—अभी मैंने उसे पढ़ा नहीं है।

प्रोफ़ेसर साहब पति का पूरा फ़र्ज़ अदाकर चुप हो गए। खाना खा-पीकर प्रोफ़ेसर एक ओर सो गया; पर नलिनी की आँखें हड़ताल ठाने थीं। वह कुछ सोचना चाहती थी, सोचती भी थी। विचार आगे बढ़ कर एक सीमा पर अटक जाते थे। वह कुछ पाती नहीं थी। घबराई कभी ज़रा खिड़की से बाहर देखती थी, तो भी कुछ हाथ न लगता था। गाड़ी अपनी ही गति से भागी चली जा रही थी और नलिनी के विचार चूक रहे थे। वह अभी भी अपने को सँभाल नहीं पा रही थी। रात की शून्यता में वह अपने फैलाए जाल में ख़ूब फँसी थी। उसने देखा कि सामाजिक 'खिलौना' पति—पत्नी पाकर चुपचाप सोया था। और वह.........!

पति—वह सोचने लगी, और विनोद? पति और विनोद क्या दो अलग-अलग शब्द हैं? पति और विनोद आज एक नहीं। पति पास है और विनोद? विनोद—दूर-दूर, अलग-अलग। विनोद को क्या वह पति न माने और उसका विवाह हुआ है? वह अपने पति के साथ जा रही है। सहेलियों ने ख़ुशी-ख़ुशी उसे बिदा किया था। और वह विनोद को धोखा देकर चली आई है।

धोखा...? वह अटक गई। उसे लगा विनोद पलंग पर लेटा कराह रहा है, चिल्ला रहा है—धोखा-धोखा! विनोद पीला-पीला पड़ा है, सुस्त, कमज़ोर। विनोद की माँ-बहनें रो रही थीं। और वह तो अब भी चिल्लाता मालूम हुआ—धोखा? धोखा??

नलिनी सहम गई। सोचा वह ठीक कहता है—'धोखा!' उसने झूठ कभी नहीं कहा। आज भी वह अब झूठ नहीं कह सकता।

एक दिन अकेले में बोला था, 'नलिनी हमारी गृहस्थी झूठी थी, ख़याली बात......।'

मँगनी होने के एक साल बाद की यह बात थी। बैशाख में शादी तय हो चुकी थी; पर विनोद बीमार पड़ गया था।

विनोद बोला था, 'उपन्यास भी पूरा नहीं हो सका, नलिनी। तुम अब इस योग्य हो गई हो कि उसे पूरा कर सको। तुम पर मेरा पूर्ण विश्वास है, और वह चित्र......।'

विनोद ज़रा अटक गया था, 'हाँ, चाहो तो उसे आवरण-पृष्ठ पर दे देना। यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। यह अधिकार भी तुमको सौंपे जाता हूँ। उचित न लगे तो टायटिल पेज कोरा ही नीले-नाले मोटे काग़ज़ का जाने देना। और मुझे कुछ कहना नहीं है।'

नलिनी अवाक्-सी उसे देखती रह गई थी। वह समझ गया था कि वह कुछ और जानना चाहती है, कहने लगा था, 'सुनो, मुझे कुछ दिन ही और रहना है। उसमें गिना समय ही हमें बातें करने को मिलेगा। उपन्यास के अगले चेप्टरों के बारे में भी मुझे कुछ कहना नहीं है। न तुम उसके बारे में कुछ पूछना ही। तुम समझदार हो। हाँ एक बात मुझे ज़रूर कहनी है। तुम हमेशा पूछती थीं, इसका अन्त क्या होगा? मेरा जवाब होता—'ट्रेजडी'। तब मेरा ट्रेजडी पर विश्वास था। यह बात तुम मन में न रहने देना। वह अन्त अब ज़रूरी नहीं। हमें दुनिया को दुःखी करने का कोई अधिकार नहीं है। और सच पूछो तो मैं कभी भी आगे के बारे में सोचता नहीं था कि क्या लिखूँगा।'—कहकर विनोद ने उपन्यास का Manuscript उसे सौंप दिया था। सौंपते हुए कहा था, 'तुम दुःख न मानना। यह तुम्हारी और मेरी दोनों की सम्पत्ति रही इसे अपने पास रखना।'

नलिनी के आँसू बहे और विनोद ने टोका था। 'नलिनी, मेरा आख़िरी अनुरोध है—आँसू से डबडबाई आँखें लेकर यहाँ न आया करो। ख़ुशी-ख़ुशी आया करो बस......'

और नलिनी ने बात मान ली थी।

एक दिन नलिनी ने सुना कि वि-नो-द...?

और दूसरे दिन नलिनी के माता-पिता उसका जी बहलाने, उसे मसूरी ले गये थे।

उसका पति विनोद और वह—उसने सोचा। विनोद की आख़िरी बात मानकर उसका मन रखना सोच ही, उसने अपने माता-पिता का मान रख, एक साल बाद विवाह किया। अब वह पति के साथ जा रही है। विनोद से वह अलग हो गई। और अब......?

फिर उसने पति की ओर देखा। वह चुपचाप सो रहा था। नलिनी ने उसे ख़ूब देखा। उसका मन विद्रोह कर रहा था। फिर कुछ सोच कर वह उठी। बड़ी देर तक खड़ी की खड़ी रह गई। और ज़रा आगे बढ़ पति के पास पहुँची। गाड़ी अपनी गति से चली जा रही थी। पास पहुँचकर उसने अपने पति को हिलाया। पति आँख मलता उठ बैठा। वह बोली—सुनो, मैं जा रही हूँ, मैं तुम्हारे योग्य नहीं। तुमको अब धोखा नहीं दूँगी। मैं तुम्हारी गृहस्थी के योग्य भी अब नहीं। मैं तुमसे प्रेम नहीं करती। मुझे तुम पर श्रद्धा भी नहीं। मुझे लगता है कि धर्म और समाज की आड़ में तुमने मुझ अबला को ठग लिया। तुम पति कहलाना चाहते हो। मैं कहती हूँ—तुम मेरे पति नहीं, विवाह की गाँठ जोड़ एक सजीव रुपक रच लेना ही सब कुछ नहीं है!

उसका पति अचकचाया, फिर ज़रा सँभल कर कहा—नलिनी! नलिनी, तुम रहो। जाना क्यों चाहती हो? अपने को समझो, मेरे आगे तुम मुक्त हो, फिर भी रहो। तुम अपने आदर्श को पूजो, मैं ना नहीं करता......

नहीं, नलिनी बोली, मुझे जाना है। फिर कुछ सोचकर अपना सूटकेस खोला, पति

का दिया उपहार लौटाते कहा, तुम गृहस्थ बनना ; हमारी यह भूल थी। तुम शादी करना...। फिर अपना बिस्तर 'होलडाल' में बाँधा, और ज़रूरी सामान सब सँभाल लिया।

गाड़ी सन्नाटे से चली जा रही थी। ज़रा धीमी पड़ी। नलिनी ने खिड़की से बाहर देखा—दूर अँधियारी रात्रि में सिगनल की हरी-हरी रोशनी। वह पति के पास आई बोली, मुझे जाना ही है!

पति फिर बोला—नलिनी, तुम रहो। देखो, कहाँ जा रही हो। अपने को समझो। मैं अपना कोई अधिकार रखकर तुमको रोकना नहीं चाहता। तुम अपने को समझ लो ; फिर जो चाहना करना। विनोद के अस्तित्व में तुम रहो। मैं इनकार नहीं करता...।

नलिनी ने प्रोफ़ेसर को देखा। कुछ समझ नहीं सकी। फिर बोली, यह नहीं हो सकता। मैं तुमको धोखा देना नहीं चाहती। मैंने यह नहीं सीखा।

गाड़ी दूसरे जंक्शन पर रुक गई थी। नलिनी ने कुली को पुकार अपना सामान उतार लिया था। प्रोफ़ेसर को कुछ नहीं सूझा। वह चुप सब-कुछ देख रहा था। नलिनी गाड़ी से उतर पड़ी। गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी।

वर्तमान सभ्यता और उसका भविष्य

[कामेश्वर शर्मा]

महान् पुरुष मानव-इतिहास के अभिनय के प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं। कई शताब्दियों तक एशिया महाद्वीप महान्-पुरुषों की रचनात्मक कार्यों की रंगस्थली रहा, जिससे यह भूमिखंड नाना प्रकार के सभ्यता-रूपी धनों से भरापूरा था। आज यह सब चमत्कार संसार के पश्चिमी महाद्वीपों को जाज्वल्यमान कर रहे हैं। बहुधा हम लोग पाश्चात्य राष्ट्र को पदार्थ-वादी कहकर उसकी प्रतिष्ठा को महत्वहीन बनाने की कोशिश करते हैं। परन्तु अनाध्यात्मिकता-रूपी रेत की नींव में खड़ी होकर कोई भी जाति महत्ता की चोटी पर कदापि नहीं पहुँच सकती। जो लोग दृढ़ विश्वास के साथ वैज्ञानिक सत्यों की क़द्र करेंगे, वे ही वैज्ञानिक सत्यों को प्राप्त कर सकेंगे। यह विश्वास सत्य के प्रति अविचल आध्यात्मिक भक्ति का है। पाश्चात्य राष्ट्रों ने उस आध्यात्मिक चेष्टा से सत्य को प्राप्त किया है, जो हमारे मन को माया-जनित विभ्रम से मुक्त करती है। इसी भक्ति-शक्ति के कारण वे आज भी संसार में अपनी विजय वैजयन्ती क़ायम रखे हुए हैं।

पार्थिव शरीर की शक्ति क्षीण होने पर वह यन्त्र जैसा हो जाता है। इसीसे हमारे यहाँ के जीवन की चेष्टाओं और आकांक्षाओं का स्रोत बन्द हो जाने पर उसका रचनात्मक जीवन शिथिल हो गया। मरे हुए रीति-रस्मों ने हमारे दैनिक अस्तित्व पर आक्रमण किया। धर्म और कला अपरिवर्तनीय रीति-रस्म हो गये और उन्होंने इस तरह से हमारे स्वातन्त्र्य की गति ही रोक डाली। विवेक तथा सत्य के बिना मनुष्य संसार में दास-गति को प्राप्त करता है—इसमें किंचित भी विवाद नहीं।

उधर पाश्चात्य सभ्यता में ख़तरे के जो लक्षण परिलक्षित हो रहे हैं इसका भी कारण यही है। विज्ञान के ज्ञान और शक्ति ने प्रभुत्वशाली, और सत्य की कई बातों ने उसे उन्नत बनाया है। पर आज यूरोप ने विज्ञान को अपनी व्यसन-पूर्ति का साधन बना कर विज्ञान के भाव का ही दमन किया है; क्योंकि विज्ञान निःस्वार्थ पदार्थ है—उसमें अपनी इच्छा-पूर्ति की व्यर्थ बात घुसेड़ना उचित नहीं। मनुष्य के स्वभाव में जब किसी चीज़ के लिए अति प्रबल प्रेरणा होती है तब विवेक को ताक पर रखकर वह उसके पीछे मशीन की तरह अन्धा होकर पड़ जाता है। ऐसी प्रेरणा के अदम्य प्रवाह में वह जो लोभ या क्रोध, ईर्षा या सन्देह से युक्त और हीन कर्म करता है वह यथार्थ में पदार्थवाद के अन्तर्गत है चाहे वह कितने ही बुद्धिमत्ता-पूर्ण तरीक़े पर किया गया हो। इस पतन का कारण विज्ञान का विकास नहीं; प्रत्युत आध्यात्मिकता का अभाव है। अपने

इस कथन की पुष्टि में मैं कवीन्द्र रवीन्द्र की एक पुस्तक का वह अंश उद्धृत करता हूँ, जो उन्होंने यूरोप-भ्रमण के उपरान्त लिखा था—

'युवावस्था में मैं पाश्चात्य देश के साहित्य को बहुत पढ़ता था, जिससे पाश्चात्य साहित्य के हिमायतियों के प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा हो गई। आज संसार में विज्ञान-विषयक सत्य का जो अनुसन्धान हो रहा है, उससे 'अनन्त पुरुष' की शक्ति का पता चलता है। इसी सदा जाग्रत तथा अनन्त-गतिशील महापुरुष की मानवता के ज्ञानार्थ मैंने सन् १९१२ में सुदूर यूरोप की यात्रा की थी। वह यात्रा शुभ हुई। हम एशियावासी हैं; हमारे रक्त में ही यूरोप का विरोध प्रवाहित होता है। यूरोपियन जातियों के समुद्री डाकुओं ने १७ वीं शताब्दी में कमज़ोर देशों का दोहन शुरू किया था, तब से ही उनकी प्रतिष्ठा की हानि हुई; पर यूरोप आने पर मुझे मालूम हुआ कि जनता की साधारण मनुष्यता कुछ और वस्तु है और राष्ट्रों की संगठित मानवता कुछ और बला है। दोनों एक नहीं है। मैंने देखा कि स्वाभाविक मनुष्य को अपना लेने में कोई दिक़्क़त, कोई अड़चन नहीं है। उसमें जो मनुष्यता व्यञ्जित होती है वह आकर्षक है और साथ ही आदरणीय भी। मैंने उसे प्यार किया, आदर किया और प्रतिदान में उसने भी कोई कसर नहीं रखी। विजातीय देश में—अपरिचित जन-समाज के बीच 'अज्ञात पुरुष' को पाने में समर्थ होना दुर्लभ सौभाग्य है। इसी से मेरे हृदय में उथल-पुथल की धूम थी। मुझे स्पष्टतया मालूम हो गया कि पश्चिम के लोगों का चरित्र पूर्व-निश्चित राजनीतिक मतमतान्तरों तथा पड़ोसियों के साथ भीषण कूटनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के मुताबिक ढलता है। और उनके आर्थिक संसार में ही नहीं, उनके भीतरी स्वभाव में भी मशीन की-सी अवस्था बढ़ती जा रही है। नैतिक अनुतापों को वे मूर्खता-पूर्ण बताते हैं। पश्चिम का यही भाव एशियावालों पर इस तरह फलित हुआ, जिससे उसके पदार्थवाद तथा घृणित दोहन-प्रवृत्ति का पता पद-पद पर हमें मिलता है। ईराक् में एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा था—'अँगरेज़ों के सम्बन्ध में आपका क्या ख़याल है?' मैं बोला—'उनमें जो सर्वश्रेष्ठ हैं, वे मनुष्य-समाज के प्रमुख व्यक्तियों में हैं।' वह बोला—'उनके बाद और अँगरेज़?' इस पर मैंने उत्तर नहीं दिया क्योंकि ऐसे अँगरेज़ों से रात-दिन पाला पड़ता ही रहता है। वे अपने स्वार्थ के लिए जीते हैं। हमारी तो क्या, अपनी जाति की चिन्ता को भी वे छोड़ते जा रहे हैं। यूरोप-यात्रा से लौटकर जब मैं घर पहुँचा, तब महासमर छिड़ गया। फिर तो यह पता लग ही गया कि अपने विज्ञान का उपयोग यूरोपवाले संसार को उजाड़ डालने के लिए कर रहे हैं। महायुद्ध की ज्वाला शान्त हो गई, पर उसकी गर्मी अभी भी नहीं गई। मनुष्य जाति के इतिहास में इतना भीषण दिल दहलानेवाला काण्ड नहीं सुना गया था; इसीलिए इसे मैं पार्थिववाद कहता हूँ, जिसके वशीभूत होकर ख़तरे को जानते हुए भी मनुष्य की बुद्धि और शक्ति कुण्ठित हो गई।'

ऐसा विचार केवल एक कवीन्द्र का ही हो, सो नहीं। संसार के प्रायः सभी विचारक पाश्चात्य-सभ्यता की निस्सारता सिद्ध कर रहे हैं। अधिकांश विद्वानों की यही धारणा है कि पार्थिववाद के फेर में पड़कर यूरोप ने जो सन्देश दिया है, वह महाध्वन्सकारी है। भौतिक प्रभुता के लिए भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में जो यह खींचातानी चल रही है, उसका परिणाम युद्ध—भयंकर युद्ध है। कुछ लोगों का ख़्याल है कि प्रचुर यन्त्रों के आविष्कार और प्रचलन से संसार में सुख और शान्ति की स्थापना हो सकेगी। पर ऐसा सोचना सर्वथा अज्ञान-पूर्ण है। इसी सम्बन्ध में अमेरिका के एक विद्वान् की सम्मति लीजिए—

'पिछले समय की घटनाओं से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो गई है कि एकमात्र

यन्त्रों के आविष्कार से संसार की रक्षा नहीं की जा सकती। प्रकृति को अपने अधिकार में कर लेने से मनुष्य में अधिक मनुष्यत्व नहीं आ जाता। वरन् इस शक्ति वृद्धि से वह अधिक नृशंस हो जाता है। कहा जा सकता है कि हमें पहले से ही प्रकृति की अत्यन्त अधिक छिपी शक्तियों का ज्ञान था; परन्तु आदम की सन्तान के हाथ में विज्ञान एक अत्यन्त ही भयंकर अस्त्र है। यदि हम अधिक यान्त्रिक आविष्कार में अपनी शक्ति लगाते हैं, तब कहना नहीं होगा कि हम अपने ही हाथ अपने डूब मरने के लिए कुआँ खोद रहे हैं। पिछले युद्ध में संसार को सर्वनाश से जिस वस्तु ने बचाया था, मेरी समझ में वह वस्तु अज्ञान थी। यदि विज्ञान (Science) और आविष्कार का प्रचार पचास वर्ष पहले हुआ होता, तो युद्ध-लिप्त राष्ट्रों के हौसले भली-भाँति देखने में आते। उनकी गति कहानी के उन्हीं दो कुत्तों की तरह होती जिन्होंने लड़ते-लड़ते एक दूसरे को इस प्रकार चोंथ मारा था कि उनकी दुम को छोड़कर उनके शरीर का और कोई भी अंश शेष नहीं रह गया था।

'उस समय सौभाग्य से युद्ध-लिप्त राष्ट्रों की शक्ति उतनी प्रचण्ड नहीं थी कि वे इस प्रकार का परिणाम अपने कृत्य से संघटित करते। परन्तु अब जैसे समाचार सुनाई पड़ रहे हैं वे यदि सत्य हों तो इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि उन्होंने यह निश्चय कर लिया है कि भविष्य में इस प्रकार की असफलता की आवृत्ति अब नहीं होगी। ऐसे हवाई जहाजों की सृष्टि की बात सुनी गई है जिन पर विस्फोटक पदार्थ लादे जा सकेंगे और शत्रुओं पर उनका प्रयोग बे तार के यन्त्रों द्वारा किया जायगा। यद्यपि हम अभी इसके लिए एकदम तैयार नहीं हैं तथापि यह सत्य है कि प्रकृति को कुछ ही और क़ाबू में कर लेने के पश्चात् हमारी सभ्यता उस स्थिति को प्राप्त कर लेगी, जिससे हम अत्यन्त विस्तृत रूप तथा प्रभाव के साथ आत्म-हनन में समर्थ हो जायँगे और वह इतिहास में अभूत पूर्व होगा।'

सचमुच यदि मनुष्य अपने यान्त्रिक आविष्कारों की इस लोलुपता को संवरण नहीं करेगा तो एक दिन उसका विनाश अवश्यम्भावी है, क्योंकि समाजमें व्यक्तिगत विद्वेष का भी कुछ कम अभाव नहीं है। इसके सिवा व्यक्तिगत स्वाधीनता का सामञ्जस्य समाज के अधिकार के साथ नहीं स्थापित किया जा सका है। इसी से सर्वत्र अशान्ति है, कोलाहल है और है अतृप्त इच्छाओं का नग्न नर्तन। अतः जबतक विभिन्न राष्ट्र अन्य राष्ट्रों पर से अपनी प्रभुता की चिन्ता नहीं छोड़ देंगे, एक दूसरे की कल्याण-कामना में संलग्न नहीं होंगे, तबतक कदापि संसार को सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होगी। आज से कई वर्ष पूर्व, इसी सभ्यता के सम्बन्ध में विचार करने-वाले प्रसिद्ध विद्वान, आदर्श कलाकार महर्षि टॉल्स्टाय ने लिखा था—

'यूरोप ने अभी जिस सभ्यता को जन्म दिया है, वह किसी महान् विप्लव का सूचक है। बिना कोई महान् परिवर्तन हुए यूरोप में आदर्श का प्रादुर्भाव नहीं होगा। देश के श्रेष्ठ आदर्श की रक्षा करने का भार धर्म पर है। देश की समस्त शक्तियाँ उसी में केन्द्रीभूत होकर वृहद् रूप से पूर्ण होने की चेष्टा करती हैं। पर यूरोप के इतिहास में अभी तक कोई ऐसा अवसर नहीं आया है। मध्ययुग में राष्ट्र और धर्म में पार्थक्य हो गया, उनमें एक प्रकार से पारस्परिक स्पर्धा हो गई और अन्त में राष्ट्र की विजय हुई। उसीने धर्म को आपन्न कर लिया। इसी कारण यूरोप में राष्ट्र-सूत्र से तो मनुष्यों में कुछ ऐक्य है परन्तु धर्म-बन्धन से बिलकुल नहीं।

'प्रत्येक धर्म के कितने ही बाह्य अनुष्ठान होते हैं पर वे सभी धर्म नहीं हैं और न धर्म के आवश्यक अंग ही। जिन नियमों से मनुष्य का शाश्वत कल्याण हो सकता है, वही धर्म है। ईसाई धर्म में और इसके पूर्व भी धर्म का यही लक्षण था। मनुष्य का कल्याण किसी ख़ास वस्तु

या पदार्थ में आबद्ध नहीं है। वह विश्व के मङ्गल में सन्निहित है। यह बात बुद्ध, कनफ्युशियस आदि महापुरुषों ने स्वीकार की है। पर शासन-व्यवस्था के लिए शासन-पद्धति को ही लोगों ने श्रेयस्कर समझ लिया है। नीच को नीचता से और आघात को प्रत्याघात से निरस्त करने की युक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

'किन्तु कोई भी धर्म इस नीति का समर्थन करता नहीं दीखता। भगवान् ईसा के अनुसार बुद्धि से क्षमा बड़ी वस्तु है। शासन के द्वारा पाप दूर नहीं हो सकता। अतः यह कब तक सम्भव है कि यूरोप ईसाई धर्म को तो स्वीकार करे, पर उसके आदेश का खण्डन करे। यदि अन्तर्गत धारणा के विरुद्ध कहीं भी कोई कृत्य दृग्गोचर हो, तो समझ लेना चाहिए कि विप्लव आवश्यक है।

'जो एक के लिए कल्याणप्रद है और दूसरे के लिए नहीं, जो एक देश के लिए श्रेयस्कर है और दूसरे देश के लिए नहीं वह यथार्थ में कल्याणकर नहीं है—अनिष्टकर है। उसमें विनाश का बीज छिपा है। विश्व के मंगल में ही प्रत्येक का मंगल है। यदि राष्ट्रीयता अथवा गवर्नमेंट में मनुष्य का कल्याण रखा जाय, तो कहना पड़ेगा कि वह मंगल अमंगल है। क्योंकि उसने मनुष्य को विश्व से भिन्न कर दिया है। वोट द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का शासन स्वराज्य है, यह समझना भ्रम है। स्वराज्य शब्द श्रुति-सुखद अवश्य है, पर उसके भीतर भयानक दासत्व छिपा हुआ है। सत्य तो यह है कि सब लोग शासन नहीं करते और शासित और शासित का स्वार्थ एक नहीं है। समाज में इस श्रेणी-भेद से अन्याय होता ही। आजकल यूरोप में सबसे विवादास्पद विषय यही है। एक ओर ज़मीन्दार और व्यवसायी हैं और दूसरी ओर किसान और मज़दूर। व्यक्तिगत स्वाधीनता को नष्ट कर, सामाजिक दासत्व स्वीकार कर लेने में कोई त्याग नहीं है। यदि इससे धन-सम्बन्धी असमानता दूर हो सकती है तो उससे भी बढ़कर एक दूसरी असमानता समाज में प्रतिष्ठित हो जाती है।

'अपने कितने ही कुसंस्कारों के कारण मनुष्य ने बलिदान किया है। राष्ट्र के लिए भी अपना सुख, स्वास्थ्य और स्वाधीनता की बलि वह दे रहा है। जिस दिन राष्ट्रीय स्वार्थ प्रकृत मनुष्यत्व के पथ का अवरोधक होगा उस दिन अपने ठहरने के लिए कोई आश्रय ढूँढ निकालना मनुष्य के लिए दुस्कर होगा। हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि आधुनिक युग में जो राज्य-क्रान्ति होगी, उसमें रक्तपात से सहायता नहीं ली जायगी। वह सब सहेगी; पर सबको अस्वीकार करेगी। वह प्रत्याघात से आघात को दूर करने की चेष्टा कदापि न करेगी; क्योंकि ऐसा करने से, मनुष्य की पूर्ण स्वाधीनता के कारण, वह जो संकल्प कर रही है उसमें बाधा पड़ेगी। वह विश्व-जनीन मंगल की शक्ति से समस्त अमंगलकारी शक्तियों को पराभूत कर देगी।

'श्रेय की भित्ति पर मनुष्य का सामाजिक और पारिवारिक जीवन निर्मित हुआ है। उसी के आधार पर मनुष्य-गति का समानता भी निर्मित होगी। प्रतियोगिता के भावसे कोई किसी पर आघात नहीं करेगा। समानता के कारण प्रत्येक की क्षुद्र चेष्टा वृहद् रूप धारण कर बृहद् कल्याण-क्षेत्र की सृष्टि कर डालेगा। कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि व्यवसाय मंगलमय अनुष्ठानों में परिगणित होंगे।

'नागरिक को कृषक-समाज में परिणत करने के प्रस्ताव पर सभ्य-समाज शायद चकित हो जायगा। पर सभ्यता है क्या? क्या वह श्रेय नहीं है? क्या वह आनन्द, धर्म और स्वास्थ्य नहीं? क्या वह सामग्री मात्र है? थियेटर, रेल, मोटर आदि भोग-विलास के आयोजन मात्र हैं? इसी भोग-विलास-पूर्ण-सभ्यता का पोषण करने के लिए जो नरमेध-यज्ञ हो रहा है, उसका

भी हिसाब क्या कोई रखता है ? कहा जाता है, मिश्र देश में पिरामिड बनाने के लिए हज़ारों को प्राण-बलि करनी पड़ी। इसे ही हम असभ्यता कहा करते हैं। परन्तु वर्तमान समय में आकाश को मलिन कर, वायुको रोक कर, पृथ्वी को घेर कर, सभ्यता के नाम पर पाप और दारिद्र्य की भित्ति पर श्रीमानों का जो अभ्रभेदी प्रासाद निर्मित होता है, वह क्या बर्बरता नहीं है ? वर्तमान सभ्यता का रूप सुरक्षित रखने के लिए कितने ग़रीबों का बलिदान होता है, उसकी भी गणना कभी की जाती है ? एक ओर मोटर, रेल, पार्क और म्युज़ियम तो दूसरी ओर दारिद्र्य के भीषण रोमांचकर दृश्य !—हम किस ओर देखें ?

'अब समय आ गया है कि हम वोट द्वारा स्वाधीनता या अन्नकपट द्वारा संहार करने की स्वाधीनता को छोड़कर यथार्थ मंगल-मूलक आभ्यान्तरिक स्वाधीनता की प्रतिष्ठा करें। भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न मनुष्यों के स्वार्थों को मिलाने की चेष्टा में राष्ट्र-रक्षा का भार लेने के कारण शासन अब व्यक्ति की स्वाधीनता और मंगल-भावना की ओर ध्यान नहीं देता। अब हमें विश्व-मंगल की भावना को जाग्रत करना पड़ेगा। यही वर्तमान युग का कार्य है।'

टॉलस्टाय के उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए भविष्य में कृषि के ऊपर रहकर हमें अन्य सभी विषयों को उसी में समाविष्ट करना होगा और इसका नेतृत्व करेगा हमारा राम, कृष्ण और बुद्ध का यही भारत। कहना नहीं होगा कि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है और आदान-प्रदान एवं भ्रातृत्व का भाव कृषि-प्रधान समाज में ही सम्भव है। कारख़ानों की धूमिल सभ्यता से यह भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। कृषक गृहस्थ होता है, यदि वह गृह त्याग कर मनुष्य के मंगलमय सम्बन्ध को न मानकर केवल प्रतियोगिता के भाव से काम करना चाहे, तो उसका निर्वाह नहीं हो सकता। इसीलिए यदि उसके साथ किसी का मिलन होगा, तो वह शान्तिमय और मंगल-मण्डित होगा। महात्मा गांधी आदि महापुरुष भी आज मनुष्य-जाति की दृष्टि को भारतीय सभ्यता की इसी विशेषता की ओर बारम्बार आकृष्ट कर रहे हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम अन्धे के समान अपनी पुरानी रूढ़ियों से भी चिपटे रहें। वह तो मृत्यु का मार्ग है। अपनी सभ्यता की विशेषताओं में से ही अपने उत्कर्ष का पथ हमें चुन लेना होगा। यूरोप के विज्ञान को आंशिक रूप में ग्रहण कर लेने से उस विशेषता की हानि नहीं होगी—प्रत्युत वह और महान ऐश्वर्य-शालिनी ही होगी।

चित्रकार

[विश्वात्मा]

चित्रकार ! तुम जीवन में सफल रहे। आज इस समाधि में सोये हुए हो। मुझे बहुत समय से एक चित्र चाहिए था—वह अब भी चाहिए। क्या बना सकोगे ?

सदियों से होती अनहोनी न होने देना। मेरे चित्र में वह होगा जो होना रहा। वह न चाहूँगी जो अब तक चाहती रही। फिर हे चित्रकार ! इस तरह मुँह छिपा यहाँ क्यों सोये हो ? मेरी अर्चना पर तुम्हारा ध्यान क्यों नहीं जाता ? मुझे अपना एक ही तो चित्र चाहिए। क्या बना सकोगे ?

यहाँ तक आने में मेरे वस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये हैं इसका ध्यान न करना। कौन जाने यह वस्त्र अपना चित्र न चाहते हों। पर, चित्रकार ! मुझे तो अपना चित्र चाहिए। क्या बना सकोगे ?

यह मेरे सुन्दर कपोलों पर रक्त की धारा बह रही है। नहीं जानते चित्रकार ! किस लम्बे, पथरीले और काँटेदार रास्ते को पीछे छोड़, गिरती-पड़ती मैं यहाँ तक आ पाई हूँ। क्या अब भी इनकार कर दोगे ? चित्रकार ! मुझे अपना एक चित्र चाहिए। क्या न बना सकोगे ?

बचपन से तुम मेरे मकान के पास रहे थे। एक दिन था। मैंने कहा—अरविन्द ! मुझे एक चित्र चाहिए। बना दोगे ?

'तुम चित्र को क्या समझ सकोगी ?'—यह कहकर तुमने मुझे टाल दिया था। पर, हे चित्रकार ! अब समझो कि मैं चित्र को सही समझ आई हूँ। क्या अब भी न बनाओगे ? इनकार कर दोगे ?

मैं अपनी सुन्दर आकृति खींचने की हठ तुमसे न कर बैठूँगी। न मेरे चेहरे पर कोमलता के भाव लाने की ही ज़रूरत अब रहेगी। वह बचपन था। चित्रकार ! देखते हो ? अब मैं युवा हो गई हूँ। इस समय के चित्र में कुछ और ही होगा। क्या उसे न बना सकोगे ?

मेरे इस शरीर को न देखना। वह मिट्टी का ढाँचा भर है। बैशाखी के वृक्ष की तरह सूख सूखकर काँटा हो गया है और आज के दिन मिटने यहाँ भी चला आया है। मैं जो थी—अब तक भटकती रही, अब राह पा गई हूँ। क्यों भला, चित्रकार ! क्या अब भी चित्र तैयार न कर सकोगे ?

यहाँ तूलिका नहीं है तो रहने दो। मेरी हड्डियों को अपनी तूलिका बना लेना। बालों

का प्रयोग होता हो तो कर लेना ! मेरे ही रक्त से मुझे रँग कर अपनी तूलिका को रँगना। अपनी समाधि की इस सफ़ेद शिला पर उस चित्र को तैयार करना। शरीर की कौन जाने—यह अपना चित्र न चाहता हो। पर, मुझे तो अपना चित्र चाहिए। क्या न बना सकोगे?

मेरे भीतर के मानस को चित्रित कर देना। तुम्हारी इस कला का कवि गुणगान करेंगे, पर तुम इसके भूखे न होना। अपने को मिटाकर क्या इतना भी न कर सकोगे? आज के दिन अपनी असफलता प्रगट होने दोगे?

उस समय छोटी समझ तुमने मुझे इनकार कर दिया था। अब न कर सकोगे।

संसार-सागर की लहरों से टक्करें खा-खाकर अब मैं युवा हो गई हूँ। तब तुम और मैं काल के घेरे में घिरे थे। अब हम दोनों उससे परे हैं। मेरी एक ही तो अर्चना है, चित्रकार! क्या यह स्वीकार न कर सकोगे?

मेरे मानस को इस तरह चित्रित करना कि आनेवाली सन्तान उसमें मीरा की वेदना को पा सके, पद्मिनी के त्याग के दर्शन कर सके; जिसे देख उसे अपने स्वयं के जलते जीवन की धू धू करती लपटें स्पष्ट दिखाई दे सकें। 'नारी' अपने को समझ सके, पुरुष नारी को। जिसे पा वह भटके नहीं। पुरुष नारी को कुछ समझे। तुम सुन्दर रमणियों के चित्र तैयार करने में सफल हुए। अब मुझ-सी एक का चित्र भी तो बना दो। दृश्य को सब चित्रित करते हैं। हे सफल चित्रकार! तुम अदृश्य को कर सकोगे? मैं कहती हूँ—वह अधिक सुन्दर हो सकेगा। क्या न कर सकोगे?

अपने ऐसे चित्र को मैं एक क्षण रुक कर देखने को उत्सुक बनी हूँ। बाद में भले ही तुम मुझको अपनी इस समाधि में लीन कर लेना। उस समय हम तुम दोनों एक पथ के पथिक बनेंगे। इस चित्र को मौजूदा दुनिया देखे। उसका भावी सन्तान देखे। हम विमुख होंगे। न जाने किस मंज़िल पर हम होंगे और शून्य दिगम्बर के नीचे पलनेवाले प्राणी हमें अपने सामने पायेंगे। उस समय इस शिला के चारों ओर एक मेला-सा लग जायगा। तुम इसे न सह सकोगे? फिर भला, चित्रकार! क्या इतना भी न कर सकोगे?

मुझे अपना एक चित्र चाहिए। क्या बना सकोगे?

दर्पहरण *

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर]

कहानी किस तरह लिखी जाती है यह मैंने सीख लिया। इसके लिए बंकिमबाबू और सर वाल्टर स्कॉट पढ़ने से कुछ फल नहीं निकला। फल कहाँ से किस प्रकार मिला, अपनी इस पहली कहानी में मैं वही बात लिखने बैठा हूँ।

मेरे पिता जी के अनेक भाँति के मतामत थे किन्तु बाल-विवाह के विरुद्ध उन्होंने कोई भी मत किसी किताब या स्वाधीन-बुद्धि से गढ़ कर नहीं बनाया था। जब मेरा विवाह हुआ, मैंने सत्रह पार कर अठारहवें में पैर रखा था। उस समय मैं कॉलेज के थर्डइयर में पढ़ा करता था और इसके अतिरिक्त मेरे चित्त-क्षेत्र में यौवन की पहली दक्षिणी हवा बहनी आरम्भ होकर न जाने कितनी अलक्ष्य दिशाओं से होकर कितने अनिर्वचनीय गीत और गन्धों, कम्पन और मर्मरों से उसने मेरे तरुण जीवन को उत्सुक कर दिया था; उसे याद कर आज भी छाती के भीतर दीर्घनिश्वास भर उठता है।

तब मेरी माँ नहीं थी। हम लोगों के पुण्य संसार के बीच लक्ष्मी का स्थापन करने के लिए पिता जी मेरा पढ़ना-लिखना शेष होने की ज़रा भी अपेक्षा न करके एक बारह वर्ष की बालिका निर्भरिनी को हमारे घर में ले आये।

पाठकों के निकट हठात् यह निर्भरिनी नाम का प्रचार करते हुए संकोच महसूस कर रहा हूँ। कारण यह है कि उन लोगों की उम्र काफ़ी हो चुकी है—अनेक लोग स्कूलमास्टरी, मुन्सफ़ी या कोई-कोई सज्जन सम्पादकी भी करते होंगे; वे हमारे ससुर जी के नाम-निर्वाचन-रुचि के अतिशय लालित्य और नूतनत्व पर हँसेंगे; लेकिन उस समय तो मैं बिल्कुल अर्वाचीन था, विचार-शक्ति का कोई उपद्रव नहीं, इसी कारण विवाह के समय जैसे ही यह नाम कानों में पड़ा, कि—

'कानेर भीतर दिया मरमे पशिल गो—
आकुल करील मोर प्राण!' ※

अब अवस्था काफ़ी हो चुकी है, वकालत को छोड़ कर मुन्सफ़ी के लोभ में व्यग्र भी

---

* मूल बँगला से राधाकृष्ण द्वारा अनूदित।

※ अर्थात् कानों से होकर हृदय को स्पर्श किया और मेरे प्राणों को पागल कर डाला।

हो उठा हूँ, लेकिन तो भी हृदय में यह नाम पुराने बेला की आवाज़ की तरह और भी अधिक कोमल होकर बज रहा है।

पहली उमर का पहला प्रेम अनेकों छोटी-मोटी बाधाओं के कारण मधुर था। लज्जा की बाधा, घर के आदमियों की बाधा, अनभिज्ञता की बाधा—इन्हीं सब के अन्तराल से होकर प्रथम परिचय का जो आभास मिलता है, वह भोर के प्रकाश की भाँति रंगीन है—मध्याह्न के समान सुस्पष्ट, अनावृत और वर्णच्छटाविहीन नहीं है।

हम लोगों के उसी परिचय के बीचोबीच मेरे पिताजी महाराज एकाएक उठकर खड़े हो गये। उन्होंने मुझे सीधे होस्टल रवाना किया और अपनी पतोहू को बँगला सिखलाने में प्रवृत्त हो गये। मेरी यह कहानी यहीं से शुरू होती है।

ससुर महाशय केवल अपनी लड़की का नामकरण करके ही निश्चेष्ट नहीं हो गये थे; बल्कि उन्होंने उसकी शिक्षा के लिए भी ख़ूब आयोजन किया था। इतना ही नहीं, सारी उपक्रमणिका उसे कण्ठस्थ थी। मेघनाद-वध काव्य पढ़ते समय उसे हेमबाबू की टीका की ज़रूरत भी नहीं पड़ती थी। इसका पता मुझे होस्टल में लगा था। वहाँ रहकर अनेकों तरकीब भिड़ाकर, पिताजी के अनजानते, नव-विरह-ताप से महा-उत्तप्त हो दो-एक चिट्ठी उसके पास भेजना मैंने आरंभ कर दिया था। उसमें 'कोटेशन मार्क' न देकर नवीन कवियों के काव्य से खींच-खाँचकर अनेको कवितायें ढाल डाली थीं। सोचता था कि प्रणयिनी को आकर्षित करने के लिए केवल प्रेम ही बस नहीं है, उसके लिए श्रद्धा भी चाहिए। और इस श्रद्धा को पाने के लिए बँगला में जिस तरह की रचना-प्रणाली का आश्रय लेना चाहिए, वह मुझे आता नहीं था, इसी कारण—

'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रसेवास्ति मे गतिः'

यानी दूसरे जौहरियों ने जिन मणियों को छेद कर रखा था, मेरी चिट्ठी उसे माला की तरह गूँथकर पहुँचाती थी। मगर, इसकी मणियाँ दूसरों की हैं, मात्र केवल धागा ही मेरा है, यह इतना विनय बिल्कुल स्पष्ट करके प्रचारित करना मैं वैसा ठीक नहीं समझता था। मैं ही क्यों, कालिदास भी नहीं समझते, अगर वास्तव में उनकी मणियाँ चोरी का माल होतीं।

जब पत्र का उत्तर मिला, तब से मैंने यथास्थान कोटेशन मार्क देने में कोई कंजूसी नहीं की। यह बात साफ़ समझ में आ गई कि नववधू बँगला भाषा अच्छी तरह जानती है। उसकी चिट्ठी में व्याकरण की भूलें थीं या नहीं, इसका उपयुक्त विचारक मैं नहीं हो सकता; मगर साहित्य और भाषा का ज्ञान नहीं होने पर ऐसी चिट्ठियाँ लिखी भी नहीं जा सकतीं, इतना मैं अच्छी तरह अन्दाज़ लगा सकता हूँ।

स्त्री की विद्या देखकर सुस्वामी को जितना गर्व और आनन्द होना चाहिए उतना मुझे नहीं हुआ, ऐसी बात कहने पर मुझे अन्याय का अपवाद दिया जा सकता है; लेकिन उसके साथ-साथ एक दूसरा भाव भी था। वह भाव ऊँचे दर का नहीं हो सकता लेकिन मुश्किल तो यह थी कि जिन उपायों से मैं अपनी विद्या का परिचय दे सकता था वह उस बालिका के लिए दुर्गम था। जितनी वह अंगरेज़ी जानती थी उससे बर्क और मेकाले के ढंग की चिट्ठी उसके पास भेजना बिल्कुल मच्छर पर तोप दागना था। मच्छर का तो कुछ होता नहीं, बस धुआँ और आवाज़ भर बच रहती।

मेरे जो तीन परम मित्र थे उन्हें अपनी स्त्री की चिट्ठी दिखलाये बिना मैं नहीं रह सका। वे लोग चकित होकर बोले—यह अपना सौभाग्य समझो कि तुम ऐसी पत्नी पा सके!

अर्थात्, अगर इसे भाषान्तर में कहा जाय, तो कहा जायगा कि ऐसी स्त्री का मैं उपयुक्त पति नहीं।

निर्झरिनी के पत्रोत्तर पाने के पूर्व ही मैंने जो कई चिट्ठियाँ लिख मारी थीं, उनमें हृदयोच्छ्वास तो यथेष्ट था, मगर व्याकरण की अशुद्धियाँ भी कुछ कम नहीं थीं। सतर्क होकर लिखने की ज़रूरत भी पड़ेगी इस पर मैंने कोई ध्यान नहीं दिया था। सतर्क होकर लिखने से व्याकरण की अशुद्धियाँ कुछ कम हो सकती थीं लेकिन हृदयोच्छ्वास का भी तो बंटाढार हो जाता।

ऐसी अवस्था में चिट्ठी-पत्री का सहारा लेने की अपेक्षा आमने-सामने का प्रेमालाप ही निरापद है। सुतराम् पितृदेव के दफ़्तर जाते ही मुझे भी कॉलेज से फिरंट होना पड़ता था। इससे हम दोनों मूर्तियों की पाठ-चर्चा की जो क्षति होती थी, आलाप-चर्चा में उसे सूद समेत चुका दिया जाता था। दुनिया में कोई भी चीज़ बिल्कुल नष्ट नहीं हो सकती। एक आकार में जिसकी क्षति है, दूसरे आकार में वही लाभ है। विज्ञान के इस तत्व के विषय में प्रेम की रीशाशाला में बार-बार माँग-जाँचकर निःसंशय हो चुका हूँ।

इसी समय मेरी स्त्री की चचेरी बहन के विवाह का समय उपस्थित हो गया। हम लोग तो 'आइबुड़ोभात'* देकर ही छुट्टी पा गये लेकिन मेरी स्त्री स्नेह के आवेग के कारण एक कविता बनाकर, उसे लाल कागज पर लाल स्याही से लिखकर बिना अपनी बहन के पास भेजे रह न सकी। वही रचना किसी तरह पिता जी के हाथ लग गई। वह अपनी पतोहू की कविता में रचना नैपुण्य, सद्भाव-सौन्दर्य, प्रसाद गुण, प्राञ्जलता इत्यादि शास्त्र-सम्मत अनेक गुणों का समावेश देखकर अभिभूत हो उठे। अपने वृद्ध बन्धुओं को दिखलाया। वे भी हुक्के का कश खींचकर बोले—वाहवा, क्या खासा कविता हुई है! नववधू में रचना शक्ति है यह किसी से छिपा नहीं रहा। इस भाँति एकाएक प्रसिद्धि के प्रताप से रचयित्री के कान और गाल लाल-लाल होने लगे थे। अभ्यास-क्रम से पीछे वे विलुप्त हो गये। पहले ही कह चुका हूँ, कोई भी चीज़ बिल्कुल विलुप्त नहीं होती, कदाचित इसी कारण लज्जा की उस आभा ने उसके कोमल कपोलों को छोड़कर मेरे हृदय के प्रच्छन्न कोने में आश्रय ले लिया होगा।

किन्तु यही सोचकर मैंने पति के कर्तव्य के विषय में कोई शिथिलता नहीं की। बिल्कुल पक्षपात से हीन समालोचना के द्वारा स्त्री की रचना के दोषों के संशोधन में मैंने कभी आलस्य नहीं किया। पिताजी ने उसे बिना विचारे ही जितना उत्साह दे डाला था, मैंने सतर्कता के सहित त्रुटियाँ दिखलाकर उसे उतना ही संयत कर दिया। मैंने उसे अंगरेज़ी के बड़े-बड़े लेखकों की रचनाएँ दिखलाकर अभिभूत किये बिना नहीं छोड़ा। उसने कोयल के विषय में कुछ लिखा था, मैंने शेली का 'स्काईलार्क' और कीट्स का 'नाइटइंगेल' सुनाकर उसे एकदम नीरव ही बना डाला। उस समय विद्या के जोश में मैं भी शेली और कीट्स के गौरव का भागी हो जाता था। मेरी स्त्री अंगरेज़ी साहित्य की अच्छी-अच्छी चीज़ों का तर्जुमा करके सुनाने के लिए मुझे तंग करती थी और मैं गर्व के साथ उसके अनुरोध की रक्षा करता था। तब क्या मैंने अंगरेज़ी साहित्य की महिमा से उज्ज्वल होकर अपनी स्त्री की प्रतिभा को म्लान नहीं किया? स्त्रियों की कमनीयता के लिए कुछ छाया के आच्छादन की ज़रूरत है, पिताजी और बन्धु-बान्धव इसे समझते नहीं थे, फलतः इस कठोर कर्तव्य का भार मुझे ही लेना पड़ता था। रात के चाँद को मध्याह्न के सूर्य की तरह प्रचण्ड हो जाने पर दो घड़ी तो ख़ूब वाहवाही दी जा सकती है, मगर उसके बाद फिर सोचना पड़ता है कि इसे किस उपाय से ढँक दिया जाय!

---

* बंगालियों की एक वैवाहिक प्रथा।

पिताजी तथा दूसरे लोग मेरी स्त्री की रचनाओं को छपा डालने को उद्यत हो गये। इससे निर्झरिनी लजाती थी और मैं उसकी लाज बचाता था। पत्रों में छपाने तो नहीं दिया, लेकिन बन्धु-बान्धवों के बीच का प्रचार बन्द नहीं किया जा सका।

इसका कुफल कितनी दूर तक हो सकता है इसका परिचय मुझे कुछ दिनों के बाद मिला। एक वसीयतनामे के मुक़दमे को लेकर विरुद्ध पक्ष के साथ ख़ूब घनघोर लड़ाई लड़ रहा था। वसीयतनामा लिखा था बँगला में। हमारे पक्ष में उसका अर्थ कितना स्पष्ट है, यह रीतिपूर्वक प्रमाणित कर रहा था, इसी समय विरोधी पक्ष के वकील साहब उठकर बोल उठे—हमारे विद्वान् मित्र यदि अपनी विदुषी स्त्री से वसीयतनामे का अर्थ पूछ आते तो वैसी हालत में इस भाँति की अद्भुत व्याख्या के द्वारा मातृभाषा को व्यथित न कर सकते।

चूल्हे में आग सुलगाने के लिए फूँकते-फूँकते आँख और नाक से पानी चलने लगता है, लेकिन अगर आग घर में लगे तो उसे बुझाना ही उचित है। अच्छी बात दबी रहती है और अनिष्टकर बात इस कान से उस कान में हू-हू शब्द के साथ व्याप्त हो जाती है। यह गप्प भी सब जगह चल गई। डर लगता था कहीं मेरी स्त्री न सुन ले। सौभाग्य से वह सुन न सकी, इस विषय की कोई भी आलोचना उसके आगे न मैंने नहीं सुनी।

एक दिन एक अपरिचित भले आदमी से परिचय होते ही वह पूछ बैठे—क्या आप ही श्रीमती निर्झरिनी देवी के स्वामी हैं? मैंने कहा—मैं उनका स्वामी हूँ या नहीं इसका जवाब देना नहीं चाहता, लेकिन हाँ, वही मेरी स्त्री हैं!—बाहरी आदमियों के सामने स्त्री का स्वामी कहला कर ख्याति-लाभ करना मुझे कोई गौरव का विषय नहीं मालूम होता था।

यह गौरव की बात नहीं है इसका ज्ञान एक दूसरे सज्जन ने मुझे अनावश्यक और स्पष्ट भाषा में करा दिया था। पाठकों को ख़बर लग चुकी है कि मेरी स्त्री की चचेरी बहन का विवाह हुआ है। उसका स्वामी बिल्कुल बर्बर और दुर्वृत्त था। स्त्री के प्रति उसके अत्याचार असह्य होते थे। मैंने इसी पाखंडी के निर्दयाचरण को लेकर आत्मीयसमाज में आलोचना की थी—यह बात बेतरह बढ़ी होकर उसके कानों में पड़ी। उसने इसके बाद मुझे लक्ष्य करके सबसे कहना शुरू किया कि अपने नाम से लेकर ससुर के नामपर्यन्त उत्तम, मध्यम, अधम अनेक भाँति की ख्याति का वर्णन शास्त्रों में लिखा हुआ है, किन्तु स्त्री की ख्याति से यशस्वी होने की कल्पना कवि की बुद्धि में भी नहीं आई होगी।

इस तरह की सारी बातें आदमियों के बीच जब चलनी आरम्भ हुईं तो स्त्री के मन में तो दम्भ होना ही चाहिए। ख़ास करके पिताजी की एक बुरी आदत थी कि निर्झरिनी के सामने ही वे हम दोनों के बँगला भाषा-ज्ञान को लेकर कौतुक किया करते थे। एक दिन उन्होंने कहा—हरीश जो बँगला में चिट्ठी-पत्री लिखा करता है उसकी अशुद्धियाँ तुम सुधार क्यों नहीं लिया करतीं? उसने मेरे पास एक चिट्ठी लिखी है उसमें जगविन्द्र लिखने में सीधे दीर्घ ई बिठा दिया है। यह सुन कर तो पिता की पतोहू मुसकराई, मैंने भी बात को मज़ाक उड़ा कर टाला; लेकिन ऐसी दिल्लगी नहीं चाहिए।

स्त्री के दम्भ का परिचय पाते मुझे देर न लगी। गाँव के लड़कों का एक क्लब है, वहीं एक दिन उन लोगों ने एक सुप्रसिद्ध बँगला लेखक को वक्तृता देने के लिए राज़ी किया। उन्होंने वक्तृता देने के एक दिन पूर्व ही रात को अस्वस्थता प्रकट कर छुट्टी पा ली; अब लड़कों ने कोई दूसरा उपाय न देखकर मुझे धर घसीटा। अपने प्रति लड़कों की ऐसी अहेतु की श्रद्धा पाकर मैं कुछ-कुछ प्रफुल्ल हो उठा। बोला—अच्छा तो, मगर यह तो बतलाना कि विषय क्या है? उन

लोगों ने कहा—प्राचीन और आधुनिक बंग-साहित्य। मैंने कहा—बस तब तो बहुत ही अच्छा है; मैं दोनों को बिल्कुल बराबर जानता हूँ!

दूसरे दिन सभा में जाने के पूर्व जलपान और कपड़े-लत्ते के लिए स्त्री को तंग करने लगा। निर्झरिनी ने कहा—आज इतने व्यस्त क्यों हो; क्या फिर पत्नी-निर्वाचन के लिए देखने जा रहे हो?

मैंने कहा—एक ही बार देखकर नाक-कान कटा चुका हूँ। अब नहीं।

'तब आज इतनी तैयारी किस लिए?'

मैंने गर्व के साथ उसे सारी बातें समझा दीं। सुनने के बाद उसने तनिक भी उल्लास प्रकट न करके कहा—तुम पागल हो गये हो क्या? नहीं-नहीं, तुम वहाँ नहीं जा सकोगे!

मैंने कहा—राजपूत नारियाँ अपने पति को युद्ध-साज पहिना कर युद्धक्षेत्र में भेजा करती थीं और बंगाली की लड़की क्या अपने पति को वक्तृना-सभा में भी नहीं भेज सकती?

निर्झरिनी बोली—अंगरेज़ी की वक्तृता होने से मैं ज़रा भी नहीं डरती; किन्तु...... यहीं रह जाओ, बहुत से लोग आवेंगे, तुम्हें अभ्यास नहीं...अन्त में...

'अन्त में...' की बात क्या बीच-बीच में मैंने भी नहीं सोचा था। राममोहन राय का गीत मन में आता था—

'मने कर शेषेर से दिन भयंकर
अन्ये वाक्य क'ब किन्तु तूमि र'बे निरुत्तर!' *

वक्ता की वक्तृता के अन्त में उठकर खड़े होने के समय अगर सभापति महोदय सहसा 'दृष्टिहीन नाड़ी क्षीण हिमकलेवर' की हालत में बिल्कुल निरुत्तर हो उठें, तो क्या गति होगी! इन्हीं बातों की चिन्ता करके पहले के भागे हुए सभापति महोदय की अपेक्षा मेरा स्वास्थ्य किसी भी अंश में अच्छा था, ऐसी बात मैं नहीं बतला सकता।

छाती फुलाकर मैंने अपनी स्त्री से कहा—निर्झर, तुम क्या सोचती हो......

स्त्री ने कहा—मैं कुछ नहीं सोचती लेकिन आज मेरे सिर में बड़े ज़ोरों का दर्द है, मालूम होता है ज्वर भी आवेगा......तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते।

मैंने कहा—यह बात अलग है। तुम्हारा चेहरा भी कुछ-कुछ लाल मालूम हो रहा है।

वह लाली सभा में मेरी दुरवस्था की कल्पना करके भी या आसन्न ज्वर के आवेश से, इस बात की कोई निःसंशय पर्यालोचना न करके ही मैंने क्लब-सेक्रेटरी को अपनी बीमारी की बात बता कर छुट्टी पा ली।

कहना फिजूल है कि मेरी स्त्री का वह ज्वर-भाव तुरत चला गया। मेरी अन्तरात्मा कहने लगी, और सब कुछ अच्छा हुआ लेकिन तुम्हारी बँगला विद्या के सम्बन्ध में तुम्हारी स्त्री की ऐसी धारणा है, यही अच्छा नहीं। उन्होंने अपने को परम विदुषी समझ लिया है; किसी दिन मसहरी के भीतर नाइट स्कूल खोलकर तुम्हें बँगला पढ़ाने की चेष्टा भी करेंगी।

मैंने कहा—सच्ची बात है; अगर अभी भी दर्पचूर्ण नहीं किया जायगा, तो फिर उससे निजात नहीं।

उसी रात को उसके साथ कुछ तनातनी हो गई। अल्प शिक्षा कैसी भयंकर वस्तु है, मैंने पोप के काव्य से इसका उदाहरण देकर समझा दिया। यह भी समझा दिया कि किसी तरह

* अन्त के उस भयंकर दिन को याद करो, जब दूसरे लोग तुमसे बात करेंगे और तुम्हें निरुत्तर रहना पड़ेगा।

अशुद्धि या व्याकरण से बच कर लिखने पर ही लेख पूर्ण हो गया, ऐसी बात नहीं, असली चीज़ है 'आइडिया' (विचार); खाँस कर कहा—यह उपक्रमणिका में नहीं पाया जाता। इसके लिए दिमाग़ चाहिए।

वह दिमाग़ कहाँ है यह मैंने स्पष्ट करके नहीं कहा तो भी मालूम होता है कि बात अस्पष्ट नहीं रही। मैंने कहा—लिखने योग्य कोई भी लेख किसी भी देश की किसी भी स्त्री ने नहीं लिखा है।

यह सुनकर निर्झरिनी पर औरतों की तार्किकता आ गई। बोली—स्त्रियाँ क्यों नहीं लिख सकतीं? स्त्रियाँ क्या इतनी तुच्छ हैं?

मैंने कहा—क्रोध करने से क्या होता है, कोई दृष्टान्त भी दिखलाओ।

निर्झरिनी बोली—यदि तुम्हारी तरह मैं भी इतिहास पढ़ी होती, तो निश्चय ही अनेकों उदाहरण दिखला सकती।

यह सुनकर मेरा दिल ज़रा नर्म हो गया, किन्तु तर्क यहीं पर मिटा नहीं। इसका शेष कहाँ पर हुआ उसका वर्णन पीछे किया जायगा।

'उद्दीपना' नामक मासिक ने श्रेष्ठ गल्प लिखने के लिए पचास रुपये के एक पुरस्कार की घोषणा की थी। स्थिर यही हुआ कि हम दोनों प्राणी उस पत्र में अपनी-अपनी गल्प लिखकर भेजें, देखें किस की तक़दीर से पुरस्कार जुटता है।

रात की घटना तो यह रही; लेकिन जब सुबह की सुफ़ेदी में बुद्धि निर्मल हो गई, तो मन में दुविधा होने लगी। प्रतिज्ञा की है; यह मौक़ा चूकने का नहीं। चाहे जैसे हो, बाज़ी जीतनी ही पड़ेगी। अभी भी इसके लिए दो महीनों का समय था।

'प्रकृतिवाद अभिधान' खरीदा, बँकिम बाबू की पुस्तकों का संग्रह किया; किन्तु बंकिम बाबू की रचना मुझसे अधिक मेरे अन्तःपुर से परिचित थी, इस कारण इस महत् आश्रय का परित्याग करना पड़ा। अंग्रेज़ी कहानियों की किताब पढ़ने लगा। बहुतेरी कहानियों को तोड़-मरोड़कर और चोरी करके एक अच्छा-सा प्लॉट तैयार कर डाला। बड़ा ही चमत्कारपूर्ण प्लॉट तैयार हुआ था, मगर मुश्किल तो यह थी कि बंगालियों के समाज में ऐसी घटनायें किसी भी अवस्था में नहीं घट सकती थीं। अत्यन्त प्राचीन काल के पंजाब के सीमाप्रान्त की दीवार उठाई—वहाँ सम्भव और असम्भव के समस्त विचार निराकृत होने के कारण लेखनी को तनिक भी बाधा न रही। उद्दाम प्रणय, अजगैबी वीरत्व, निदारुण परिणाम सर्कस के घोड़ों की तरह मेरी कहानी को घेर चारों ओर घूम-घूमकर दौड़ने लगे।

रात को नींद नहीं आती थी, दिन के समय भात की थाली छोड़ मछली के शोरबा वाली कटोरी में दाल डाल देता। मेरी अवस्था देखकर निर्झरिनी अनुनय करके कहने लगी—तुम्हें मेरे सिर की सौंह, अब कहानी न लिखो, मैं हार मान लेती हूँ।

मैंने उत्तेजित होकर कहा—तुम क्या सोचती हो कि मैं केवल कहानी ही कहानी सोच कर मरा जा रहा हूँ? अजी बिल्कुल नहीं! मुझे मुवक्किलों की बात सोचनी पड़ती है। तुम्हारी तरह गल्प और कविता की चिन्ता करने की फ़ुरसत रहती तो क्या बात थी!

जो हो, अंग्रेज़ी प्लॉट और संस्कृत अभिधान मिलाकर एक कहानी गढ़ ही डाली। मन के कोने में धर्मबुद्धि के कारण कुछ पीड़ा का बोध होने लगा; सोचा, बेचारी निर्झरिनी तो अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ी नहीं, उसका भाव-संग्रह करने का क्षेत्र संकीर्ण ठहरा—मेरी और उसकी लड़ाई बिल्कुल बेमेल है।

उपसंहार

कहानी भेज चुका। वैशाख के अंक में पुरस्कार के योग्य कहानियाँ छपेंगी। यद्यपि मेरे मन में कोई आशंका नहीं थी, फिर भी समय जितना ही निकट आता था, मेरा मन उतना ही चंचल होता जाता था।

वैशाख का महीना भी आया। एक दिन कचहरी से जल्दी ही लौट कर सुना, वैशाख की 'उद्दीपना' भी आ गई। मेरी स्त्री उसे पा चुकी है।

चुपके-चुपके अन्दर गया। सोने के कमरे में झाँक कर देखा, निर्झरिनी आग सुलगा कर एक पुस्तक जला रही है। दीवार के आइने में उसकी जो परछाई पड़ रही थी उससे साफ़ मालूम हो रहा था कि कुछ समय पहले वह आँसू बहा चुकी है।

मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। साथ ही कुछ दया भी आई कि बेचारी की कहानी 'उद्दीपना' में निकली तक नहीं। इसी तुच्छ बात पर इतना दुःख! स्त्रियों के अहंकार पर तनिक में ही चोट लगती है।

फिर मैं निःशब्द लौट गया। मेरी कहानी छपी है या नहीं यह देखने के लिए 'उद्दीपना' कार्यालय से नक़द मूल्य देकर एक प्रति ख़रीद लाया। खोलकर देखा। लेख-सूची में पाया, पुरस्कार योग्य गल्प का नाम 'विक्रमनारायण' नहीं, उसका नाम है 'ननदिनी'......और उसके लेखक का नाम......यह क्या?......अरे यह निर्झरिनी देवी!

बंगालदेश में क्या मेरी स्त्री को छोड़कर और भी किसी का नाम निर्झरिनी है क्या? कहानी खोलकर पढ़ी। देखा निर्झरिनी की उसी हतभागिनी चचेरी बहन का वृत्तान्त है। बिल्कुल घर की बात है, भाषा सीधी-सादी; किन्तु सारी तस्वीर आँखों के सामने चली आती है और उनमें जल भर आता है। यह निर्झरिनी मेरी 'निर्झर' ही है इसमें कोई सन्देह नहीं।

उस समय शयनगृह का वही दाह-दृश्य और व्यथित रमणी का वही म्लान मुखड़े की बात बड़ी देर तक चुपचाप बैठा-बैठा सोचता रहा।

रात को सोने के समय स्त्री से कहा—निर्झर, जिस कॉपी में तुम्हारी रचनाएँ हैं वह कहाँ है?

निर्झरिनी ने कहा—क्यों, उसे लेकर तुम क्या करोगे?

मैंने कहा—छपने के लिए दूँगा।

निर्झरिनी—अब और दिल्लगी न करो।

मैं—नहीं, मैं दिल्लगी नहीं करता; सचमुच छपने के लिए दूँगा।

निर्झरिनी—मुझे मालूम नहीं कि कॉपी कहाँ है।

मैंने तनिक ज़िद के साथ कहा—नहीं निर्झर, यह नहीं होगा। बोलो, वह कहाँ है?

निर्झरिणी बोली—सचमुच वह नहीं है।

मैं—क्यों, क्या हुआ?

निर्झरिनी—मैंने उसे जला दिया।

मैंने चौंककर कहा—ऐं! सो क्यों! कब जलाई?

'आज ही! क्या मैं नहीं जानती कि मेरे लेख ख़ाक-पत्थर कुछ नहीं? स्त्री की रचना कह कर लोग झूठ-मूठ प्रशंसा किया करते हैं।'

इसके बाद आज तक अनेक चेष्टा करने पर भी निर्झर से कुछ भी नहीं लिखवा सका। इति।

—श्रीहरिश्चन्द्र हाजरा।

नोट—ऊपर जो कहानी लिखी गई है उसमें पंद्रह आना गप्प है। मेरे पति बँगला कितनी कम जानते हैं यह बात उनके इस उपन्यास को पढ़ने पर किसी की समझ में आने में कोई दिक़्क़त नहीं रहेगी। छी-छी, अपनी स्त्री को लेकर इस भला तरह कहानी बनाई जाती है! इति।

—श्रीमती निर्झरिनी देवी।

स्त्रियों के चातुर्य के विषय में देशी-विदेशी शास्त्रों और अशास्त्रों में अनेक बातें हैं, इसे स्मरण कर पाठकगण धोखा न खाँय। मेरी अशुद्धियों का संशोधन किसने कर दिया है यह बात मैं नहीं बतलाऊँगा—न बतलाने पर भी विज्ञ पाठक स्वयं अनुमान कर सकेंगे। मेरी स्त्री ने जो पँक्तियाँ लिखी हैं उसकी अशुद्धियों को देखते ही पाठक समझ जायँगे कि यह इच्छा-कृत है। उनके स्वामी बँगला भाषा के परम पंडित हैं और कहानी एकदम उत्कृष्ट है, इसी को प्रमाणित करने का बिल्कुल सहज उपाय उन्होंने ढूँढ़ निकाला है। इसी से कालिदास ने लिखा है—'स्त्रीनामशिक्षितपटुत्वम्।' वे स्त्रियों के चरित्र को समझते थे। मैंने भी अब आँखें फूट जाने पर थोड़ा-थोड़ा समझना आरम्भ किया है। मैं अपने साथ कालिदास का एक और भी सादृश्य देख रहा हूँ। सुनने में आया है कि कविवर ने नव-विवाह के पश्चात् अपनी विदुषी को जिस श्लोक की रचना सुनाई थी उसमें से उष्ट्र में से 'र' का लोप कर दिया था। शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध में ऐसी दुर्घटना वर्तमान लेखक के द्वारा भी अनेकों घट चुकी हैं। अतएव, सब की गम्भीर पर्यालोचना करके आशा की जाती है कि जैसा फल कालिदास को मिला था वह मेरे लिए भी असम्भव नहीं है। इति।

—श्रीहरिश्चन्द्र हालदार।

अगर यह कहानी छपाई गई तो मैं नैहर चली जाऊँगी।

—श्रीमती निर्झरिनी देवी।

तो मैं भी तुरत ससुराल की यात्रा करूँगा।

—श्रीहरिश्चन्द्र हालदार।

वात्सल्य

['करुण']

आज जब ऑफ़िस से लौटा तो फाटक पर माली कुछ उदास और चिन्तामग्न खड़ा था। फूल-पेड़ की दो-चार बातें करने के बाद जैसे ही मैं अन्दर जाने को बढ़ा, उसने दुःखित स्वर में कहा—आज तोड़ नाइस......

'क्या ?'

माली वाक्य-चतुर नहीं है। बातें करता है तो कुछ झिझकता, कुछ उखड़ता हुआ। ख़ैर, जो कुछ उसने कहा—उसका सार था—फाटकवाली लतर में गिल्लो ने जो घोंसला बनाया था उसे उजाड़ कर नेवले ने उसके बच्चों को खा डाला। गिल्लो आहत और मूर्च्छित हो ज़मीन पर गिर पड़ी। बड़ी देर तक पड़ी रही। होश आने पर उस तरफ़ लड़खड़ाती हुई भाग गई।

यह सुनकर मेरे हृदय में एक आघात-सा लगा। हाय! बेचारी गिल्लो और उसके बच्चे !! मेरा दिल भर आया।

वह अपने नवजात शिशुओं को सीने से लगाए अपने घोंसले में लेटी रही होगी। शायद दूध पिलाती रही हो, शायद वात्सल्य से ओत-प्रोत उन्हें प्यार करती रही हो, दुलारती रही हो; उन्हें अपनी नन्हीं-सी जीभ से चाट कर साफ़ करती रही हो। कितनी तृप्त, कितनी सुखी, कितनी मग्न रही होगी वह !

और अचानक काल-सदृश वह नेवला टूट पड़ा, उसके देखते-देखते, उसकी आँखों के सामने उसके दिल के टुकड़ों को...हाय! उस असहाय माता के नन्हें से हृदय की क्या दशा हुई होगी ?

माली कहता है, वह नारंगियाँ तोड़ रहा था इतने में गिल्लो ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने लगी। वह दौड़ा, देखा तो नेवला मुँह में कुछ दबाए, चहारदीवारी पर कूद कर बाहर की ओर भाग गया। इधर गिल्लो गिरी।

मैंने देखा जिस जगह वह गिरी थी ज़रा-सा ख़ून गिरा है। ज़रा-सा—मेरे लिए ज़रा-सा था परन्तु बालिश्त-भर की गिल्लो के लिए वह बहुत था, उसने अपने बच्चों की रक्षा के लिए प्राण-पण से चेष्टा की होगी, परन्तु कहाँ वह नन्ही-सी कोमल गिलहरी और कहाँ वह ख़ूँख़्वार नेवला, एक ही झटके में अपने आरी जैसे दाँतों से झँझोड़कर उसने फेंक दिया होगा गिल्लो को, और उसके नवजात, कोमल-प्राण बच्चों को—

आह! वह कैसी ख़ुशी के साथ घोंसला बना रही थी। वह माता होने जा रही थी,

नारी का उच्चतम पद प्राप्त करने। उसका नन्हा-सा हृदय आनन्द से छलका पड़ता था। कैसी आनन्द-मग्न और व्यस्त रहती थी वह, उन दिनों।

शीला तक से खेल कूद बंद कर रखा था। वह गिल्लो ! गिल्लो !! पुकारती रहती और गिल्लो सुनती ही नहीं थी। मुस्कराती आँखों से देखती हुई भाग जाती थी, अपने काम से। बहुत हुआ तो क्षण भर रुककर, अपनी मुलायम दुम को फुला कर हिलाती हुई, दो-चार बार किड़-किड़ कर भाग जाती थी। शायद कहती थी—'ऊँह, तुम अभी बच्ची हो। तुम्हें खेलने ही की पड़ी है। मुझे फ़ुर्सत कहाँ? शीघ्र ही घोंसला तैय्यार करना है, माता होने जा रही हूँ न !' मैं प्रायः नित्य बरामदे में बैठा बैठा देखा करता था उसकी दौड़ धूप। देखता हूँ कहीं से घोंसले का कुछ सामान मुँह में दाबे हुए तेज़ी से आई और लतर पर चढ़ ग़ायब हो गई। कुछ देर बाद लतर से निकल चहारदीवारी पर उतरी, क्षण भर को रुकी, दो-चार बार इधर उधर देखा, दुम फुला किड़-किड़ किया और फुर्ती से कूद, जाने कहाँ भाग गई। थोड़ी देर में देखता हूँ फिर चली आ रही है, मुँह में कुछ दाबे हुए। (समझ गया वह घोंसला बना रही है।) एक दिन वह लतर के ऊपर बैठ बड़ी देर तक हर्ष-ध्वनि करती रही। आनन्द-गान गा रही थी। शायद उस दिन उसका घोंसला तैय्यार हो गया था।

फिर, गिल्लो ने बच्चे दिए।

जब दो दिन हो गये और शीला को गिल्लो न दिखाई पड़ी तो वह विकल हो पूछने लगी, 'गिल्लो कहाँ गई?' और जब उसे बताया गया कि गिल्लो ने बच्चे दिए हैं और वह अपने बच्चों के पास बैठी रहती है तो वह बड़ी ख़ुश हुई और प्रश्नों की झड़ी लगा दी। कितने बड़े बच्चे होंगे? क्या खाते होंगे? दूध पीते हैं? अरे! बड़े सुन्दर होंगे, इत्यादि। जब उसे मालूम हुआ कि गिल्लो के बच्चे उसके अंगूठे के बराबर होंगे तो वह हर्ष से नाच उठी। बाबूजी, हम लेंगे, हम पालेंगे। कैसी छोटी-सी दुम होगी उनकी। ए बाबूजी, हम—बड़ी मुश्किल से उसे धैर्य हुआ।

गिल्लो को चूरमा बहुत पसंद था। शीला उसके लिए चूरमा और उसके बच्चों के लिए दूध लेकर जाती और कितना बुलाती परन्तु वह नहीं आती थी। लतर के अन्दर ही से किड़-किड़ कर शायद कह देती थी, 'बच्चों को छोड़कर कैसे आऊँ शीला !'

एक दिन वह दिखाई पड़ी। चहारदीवारी पर आ उसने शीला का रखा हुआ चूरमा भी दो-चार कण खाया। अब, शीला के बुलाने पर वह नीचे आती है, परन्तु शीघ्र ही दो-चार कण खा, शीला से मुस्कराती हुई कुछ कहकर भाग जाती है। मानो अपने बच्चों को वह क्षण भर भी बिलग नहीं कर सकती। प्रेम और आशंका से माता क्षण भर भी अपने नवजात बच्चों को आँखों की ओट नहीं कर सकती।

और कहाँ उसकी आँखों के सामने ही उसके बच्चे काल के ग्रास बन गये और वह निर्बल, असहाय—गिरने के बाद जब उसकी मूर्छा टूटी होगी, क्या बीती होगी उसके दिल पर ! काश उसकी मूर्छा कभी न टूटती !

कल वह इस समय अपने बच्चों को छाती से लगाये, अपनी दुम में समेटे हुए तृप्त-मग्न लेटी रही होगी और आज—आज न घोंसला है और न उसके बच्चे।

इस समय वह अंग-अंग में पीड़ा और नन्हें से दिल में असीम वेदना लिए हुए कहाँ पड़ी होगी, कौन कह सकता है? कौन कह सकता है कि उसके नन्हें प्राण, मूक वेदना से व्याकुल हो, अपने बच्चों के पास न चले गये होंगे?

भगवान् ! उसने कौन से खोटे कर्म किये थे उस या इस जीवन में ? और कौन-सा पाप किया था उन अबोध शिशुओं ने, दयामय ?

• • •

एक उच्छ्वास के साथ विचार-धारा टूटी। मैंने माली से पूछा, शीला को तो नहीं मालूम हुआ ?

'नहीं, अबै स्कूल से नै आइन।'

'उससे न बताना'—कहकर मैं अपने कमरे में चला आया।

गिल्लो के प्रति शीला का अगाध प्रेम है। जब वह चार वर्ष की थी, गिल्लो उसके जीवन में आई। और उसे मुग्ध कर लिया। अमाली (हमारी) गिल्लो ! अमाली गिल्लो !! कह वह मारे आनन्द के नाच उठती थी। बालिका मानो अपने और गिल्लो के बीच किसी और को नहीं चाहती थी। शंकित-सी हाथ पकड़ कहती, 'बाबूजी, अमाली गिल्लो है।' वह जैसे हर किसी से यह कहला लेना चाहती थी कि गिल्लो उसकी, उसी की ही है, और जब 'हाँ तुम्हारी गिल्लो है' सुन लेती, तब जाकर उसे संतोष होता, और यदि कोई कह दे, अमाली गिल्लो है, तो वह मचल पड़ती और रूठ जाती थी. और कहीं किसीने फिर कह दिया, न, अमाली गिल्लो है, तो वह कातर हो रो पड़ती थी। प्रतिवादी को कहना पड़ता था, गिल्लो और किसी की नहीं, शीला की है। शीला की आँसू भरी आँखों में हँसी बिखर जाती थी।

चार वर्ष की शीला गिल्लो को प्यार भी करती थी और गिल्लो से डरती भी थी। उसे पकड़ना भी चाहती थी और पास जाते डर भी लगता था। पाँच-छः वर्ष की होते-होते उन दोनों की खूब बनने लगी। शीला का डर जाता रहा और गिल्लो की आशंका। वह गिल्लो को अच्छी-से-अच्छी चीज़ें खिलाती और अब तो गिल्लो उसके समीप आ जाती थी।

दिन-दिन भर वह दोनों बाग़ में खेला करती थीं। गिल्लो बड़ी खिलाड़ी और शरीर थी। एक शरारत-भरी मुस्कान सदा उसकी मूँछों में छिपी रहती थी। दुम फुलाकर किड़-किड़ करती वह शीला के पास आती। शीला ज्योंही उसे पकड़ने को दौड़ती, वह सर्र से भागकर पेड़ पर चढ़ जाती। हर्ष-ध्वनि करती वह एक डाल से दूसरी डाल पर उछलती बड़ी ऊँचाई तक चढ़ जाती और फिर तेज़ी से दौड़ती हुई किसी नीची डाल पर आ दुम हिला-हिला शीला से जल्दी-जल्दी कुछ कहने लगती। गोया कहती हो, देखो मैं कितनी तेज़ी से पेड़ों पर चढ़ती हूँ; किस निर्भीकता और सफ़ाई से एक डाल से दूसरी डाल पर कूदती हूँ, कूद सकती हो तुम ?

शीला को उसकी एक-एक अदा प्यारी मालूम पड़ती थी। उसका दुम फुलाकर उछलते-कूदते भागना, पेड़ों पर कुलेल करना और सबसे अधिक तो उसका बैठकर दोनों हाथों से कुछ खाना। ओह, उस समय वह कितनी सुन्दर, कितनी प्यारी लगती थी। बालिका का मन उसके स्पर्श के लिए मचल उठता था।

परन्तु गिल्लो नैसर्गिक प्रकृति से मजबूर थी। प्रेम के आवेश में वह कभी-कभी शीला के हाथ से खाना ले जाती थी परन्तु शंकित और सतर्क-सी रहती थी। जहाँ शीला ने उसे पकड़ने को हाथ बढ़ाया कि वह पेड़ पर ही नज़र आती थी। और किसी डाल पर बैठ, मुस्कराती और विचित्र ढंग से मूँछों को चलाती हुई कुछ कहने लगती थी।

• • •

शीला की मोटर-बस फाटक पर आकर रुक गई है। वह अपनी सखियों से नमस्ते कर रही है। अभी मुँह-हाथ धो नाश्ता करने बैठेगी तो दौड़ेगी गिल्लो का हिस्सा लेकर। गिल्लो को

बिना खिलाये जैसे उसका ग्रास ही नहीं उतरता। और लतर के पास जाकर पुकारेगी, गिल्लो !

बात कब तक छिपाई जा सकती है। जब उसे मालूम होगा कि उसकी गिल्लो तथा उन अजान, उसकी कल्पना के नन्हीं-सो फूली-फूली दुम वाले शिशुओं का ऐसा हृदय-विदारक अंत हुआ है तो—

शीला बड़ी कोमल-प्रकृति और भावुक बालिका है। अभी उसके कोमल हृदय में कोई ठेस नहीं लगी। दुःख से अभी उसका परिचय नहीं हुआ। आदर और दुलार में ही उसका लालन-पालन हुआ है; वह केवल प्यार करना और हँसना जानती है। उसके लिए गिल्लो एक गिलहरी मात्र न होकर एक आत्मीय के समान प्रिय थी। वह गिल्लो पर जान देती थी। जब वह सुनेगी.........

• • •

मैं गिल्लो तथा उसके मासूम बच्चों को भूल, अपनी बच्ची—अपनी शीला—के दुःख-सुख की चिन्ता में पड़ गया।

एक भाषण*

[जैनेन्द्रकुमार]

भाइयो,

आपने इस संघ के वार्षिकोत्सव पर इतनी दूर से मुझे बुलाया इसमें मेरे संबंध में कुछ आपकी भूल मालूम होती है। आ तो मैं गया; क्योंकि इनकार करने की हिम्मत मुझे नहीं हुई। लेकिन अब तक मुझको आश्वासन नहीं है कि आपने मुझे बुलाकर और मैंने आकर सत्कर्म किया है।

लेकिन जो हुआ हो गया। अब तो हम सबको उसका फल-भोग ही करना है। और इस सिलसिले में आपके समक्ष पहले ही यह कहना मेरी क़िस्मत में बदा है कि मैं साहित्य का ज्ञाता नहीं हूँ। साहित्य में विधिवत् दीक्षित भी नहीं हूँ। फिर भी यह सम्मान देने की आपकी कृपा को, जो शायद सत्कृपा भी नहीं है, मैं ले लेता हूँ इसके लिए कृपया मुझे क्षमा करें और मेरा आभार स्वीकार करें।

आपके पत्र के साथ सुहृद संघ के काम का छपा हुआ ब्यौरा भी था। मैं उसको पढ़ गया हूँ और आपके उत्साह और लगन पर आपको बधाई देना चाहता हूँ।

साहित्य की पवित्रता

लेकिन साहित्य सम्बन्धी उत्साह के बारे में भी मेरा अनुभव है कि किन्हीं लौकिक हेतुओं पर टिक कर वह अधिक प्रबल नहीं होता। लाभ और फल की आशा मूल में लेकर कुछ काल बाद वह उत्साह मुर्झाने भी लगता है। स्थूल लाभ वहाँ नहीं है। इसलिए साहित्य संबंधी उत्साह को अपने बल पर ही जीवित रहना सीखना है। अंधेरे से घिर कर भी बत्ती जैसे अपनी लौ में जलती रहती है और जलकर उस अंधकार के हृदय को प्रकाशित करती है उसी भाँति उस उत्साह को अपने आप में जलते रहकर स्व-पर को प्रकाशित करना है। साहित्य का यही विलक्षण सौभाग्य है, दुर्भाग्य उसे नहीं मानना चाहिये। अमान्यता के बीच में वह पलता और जीता है। फिर भी चूंकि श्रद्धा-स्नेह का बल उसे थामे है वह हारता नहीं, गिरता नहीं, अपनी यात्रा पर बढ़ता ही जाता है। इससे देखने में आता है कि आज विपुल अंधकार से घिर कर भी उससे लड़ते रहनेवाला साहित्य कल के नन्हे से उजाले को भी जन्म देता है। आज का साहित्य कल की राजनीति बनता है। क्योंकि भावना है साहित्य, तो घटना है राजनीति। प्रत्येक घटना के हृदय

* सुहृद संघ, मुज़फ्फ़रपुर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिया गया भाषण।

में भावना है। घटना भावना का प्रगट फल है और हमको चमत्कृत करती है। पर घटना का मूल तो भावना में है, जो अदृश्य है इसी से अधिक महत्वपूर्ण है।

इसलिए इस ओर जिसने क़दम उठाया है उसको मान लेना चाहिये कि उसके एवज़ में किसी ऐहिक फल की कामना और प्रत्याशा उसको नहीं हो सकती। दावा कुछ नहीं हो सकता। प्रेम की राह उसकी राह है और प्रेम की राह दूभर है। प्रेम मूक सेवा में सफल होता है। प्रेम यदि गहरा है तो मुखर नहीं है। वहाँ आवेश इसीलिए नहीं हो सकता कि वहाँ भावना की इतनी न्यूनता ही नहीं है।

लोक-कर्म और राजनीति

यह मैं इसलिये कहता हूँ कि व्यक्ति के कुछ लौकिक कर्तव्य भी होते हैं। व्यक्ति निरा आदर्श-पुंज ही नहीं है। ऐसा हो तो आदर्श का कुछ मूल्य ही न रहे। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाज से बाहर उसे साँस लेने में भी कठिनाई होती है। एक तल पर पहुँच कर सामाजिक कर्म राजनीतिक स्वरूप इख्तियार कर लते हैं। मानव-कर्म में राजनीति का भी समावेश है। राजनीति में युद्ध और विग्रह भी आता है। आता क्या, वहाँ विग्रह प्रधान बनता है। वह उपादेय भी है, राजनीति किसी भाँति वर्जनीय नहीं है। उस राजनीति में अनिवार्यतया दल बनते हैं। उन दलों में परस्पर रगड़ होती है और जोश पैदा होता है। उस जोश से ज़िंदगी का बहुत काम निकलता है और वह आवश्यक भी मालूम होता है।

व्यवहार में भी आदर्श

लेकिन उन सब लौकिक कर्मों की भीड़ में, विग्रह-घमासान और जय-पराजय के बीच क्या हमको शांति की स्थापना और उसकी साधना ही नहीं करनी है? युद्ध यदि क्षम्य है, और क्षम्य के बाद जायज़ है, तो तभी कि जब वह शांति की चाह में किया जाता और उसे निकट लाता है। इस लिहाज़ से युद्ध के बीच में भी शांति पर ज़ोर देना अप्रासंगिक नहीं है। बल्कि शुद्ध प्रासंगिक वह तभी है। मानसिक शांति धारण करने से सच्चा युद्ध करने की व्यक्ति की क्षमता कुछ बढ़ ही जाती है। अतः अपने लौकिक कर्त्तव्यों का समर्थन हमें अधिक व्यापक अथ-च मानव-कर्त्तव्य की धारणा में से पाना होगा। राजनीति का समर्थन सर्व-सामान्य मानवनीति में से पाना होगा। वह कर्म बंधन कारक है जिसमें हित-भावना नहीं है। और जहाँ सर्वहित भावना है उसी को कहना चाहिये साहित्य। जब और जो प्रवृत्ति उस दिशा की ओर न चले, सर्वहितात्मकता से उलटी चले, वहाँ मानव का भ्रम मानना चाहिये। शक्ति के अथवा किसी ओर मोह में ऐसा होता देखा जाता है। वहाँ स्व-पर-हित का ध्यान भूल जाता है और कर्म में आसक्ति-भाव आ जाता है। ऐसे स्थल पर उस अविवेक का आतंक कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए; क्योंकि वैसा करने में आतंककारी का अहित है।

भारतीय संस्कृति

ये बातें कहते समय मेरा अपने हिन्दुस्तान की हालत और हिंदी साहित्य की हालत पर ध्यान जाता है। भारत-राष्ट्र की स्थिति आज आदर्श नहीं है। वह पराधीन है, दीन है, हीन है। फिर भी आत्मा उसकी जर्जर नहीं हो गई है, उसमें पराक्रम का बीज है। पिछले कुछ वर्ष इस सत्य को भली प्रकार प्रमाणित कर देते हैं। वह जाग गया है और अब समर्थ होकर ही दम लेगा। पर हिंदुस्तान की कठिनाइयाँ उसकी अपनी हैं। कौन जानता है कि उन कठिनाइयों के हल करने

में भारत के भविष्य की उज्ज्वलता का भेद भी नहीं छिपा है। आज वह भारत पराधीन है, लेकिन उसका भविष्य उतना ही उज्ज्वल क्यों नहीं हो सकता जितनी पिछली रात की अंधेरी के बाद का प्रभात उज्ज्वल होता है। मेरा उस भविष्य में और भारत की क्षमता में विश्वास है। मैं उस संस्कृति को मरा हुआ नहीं मानता जिसने भारत के महिमामय अतीत को संभव बनाया और जिसने उसे अब तक क़ायम रखा है। नहीं तो मिस्र, यूनान, रोम आदि प्राचीन सभ्यताएँ आज कहाँ हैं? मुझे जान पड़ता है कि उस भारतीय संस्कृति-तत्व के व्यापक परीक्षण का यह समय आया है और मुमकिन है दुनिया को उससे लाभ हो।

स्थिति की विषमता

पर स्थिति की विषमता भी स्पष्ट है। उस पर आँख मींचना नहीं है। भारत आज बँटा है। अनेक स्वार्थ हैं और वे अपने-अपने दायरों में घिरे और चिपटे हैं। भेद-विभेद इतने और ऐसे हैं कि छूत-छात का प्रश्न सम्भव बनता है और लूट-मार की नौबत आती है। जब तब सांप्रदायिक दंगों की ख़बर सुन पड़ती है और हरिजन-प्रश्न से भी कोई अनजान नहीं है। जान पड़ता है, जैसे शासन, विशेषकर विदेशी शासन स्थिति को सँभाले भी हुए है, नहीं तो हिन्दुस्तान चौपट हो गया होता। दो में फूट हो तो तीसरे का शासन सहज होता है। मानों हम मिले हैं मिले रह सकते हैं, तो तीसरे के संरक्षण के नीचे। यह हालत अस्वस्थ है, लज्जाजनक है और इससे हमें उबरना होगा।

कारण और निदान

स्थिति की इस विषमता को मुख्यता से मेरी समझ में दो बातें थामे हुए हैं—(१) शासन-शक्ति का आतंक और उस दृष्टि से आत्मोद्योग का अभाव। (२) अंग्रेज़ी का मोह और अपनों के प्रति तिरस्कार।

इसमें पहली शिकायत को राजनीतिक जागरण और लोक संग्रहात्मक कर्मों द्वारा दूर करना होगा। दूसरे काम का ज़िम्मा मुख्यतः साहित्य पर है; क्योंकि वह व्यापक और सांस्कृतिक काम है। वह रोग मिज़ाज़ का रोग है और ज़रा सूक्ष्म है।

अंग्रेज़ी की आदत छोड़ें

सच्ची राष्ट्र-भाषा आज यदि नहीं है या दुर्बल है, सच्चा राष्ट्रीय साहित्य आज यदि नहीं है या निर्बल है; और प्रान्त-प्रान्त के और सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के यदि आपसी सम्बन्ध आज निर्भीक और सद्भावना शील नहीं हैं तो विशेषकर इसलिए कि हम जिस माध्यम से परस्पर मिलते रहे हैं, यानी अँग्रेज़ी, वह हमारे मन का माध्यम नहीं है। जो मन का नहीं वह सच्चा माध्यम भी नहीं। उसमें ऐसा ही मेल हो सकता है कि प्रयोजन को लेकर ऊपर-ऊपर हम मिले रहें, भीतर मन हमारे फँटे रहें। अँग्रेज़ी भाषा का यह अवलम्बन हमारी एकता को खोखला और हमारे अनैक्य को ही हमारे निकट सह्य बनाता है। हमारे साहित्य की न्यूनता और दीनता का मुख्य कारण यह है कि हमारे जीवन में इस अँग्रेज़ी के कारण फाँक पड़ गई है। जीवन कट-फँट गया है। घर अलग और दफ़्तर अलग हो गया है। गाँव एक ओर रह गया है, शहरी ज़िंदगी और ही तरफ़ बढ़ रही है। गाँव में और शहर में, जन-सामान्य में और समाज-मान्य में बिलगाव इतना बढ़ गया है कि बीच में पूरी खाई दीख पड़ती है। ज्ञात होता है कि उन दोनों में रिश्ता है तो शोषण का, नहीं तो जैसे और कुछ उनमें आपस में वास्ता ही नहीं है। भद्र-वर्ग अँग्रेज़ी पढ़ता और अंग्रेज़ी लिखता है और मानता है कि देहाती देहाती है, संसर्ग-सम्पर्क के

बिल्कुल योग्य नहीं है। जब कि वह यह नहीं जानता कि गाँववाले की भाषा से अपने को तोड़ कर और विशिष्ट समझे जानेवाले अधिकार प्राप्त वर्ग से अपना नाता जोड़कर शेक्सपियर की भाषा के सहारे वह सच्चे अर्थों में अपने को मज़बूत और ज्ञानी नहीं बल्कि कमज़ोर और घमण्डी बनाता है। उधर, इस तरह, गाँव का आदमी संस्कृति-विहीन दीन-हीन रह जाता है, यह तो स्पष्ट है ही।

देशभाषा

मुझे जान पड़ता है कि अपनी, देश या साहित्य की भलाई की बात करते समय पहली आवश्यकता यह है कि हम मन की भाषा अपनाएँ, अंग्रेज़ी की परावलंबिता तज दें। अंग्रेजी पढ़ें-लिखें सही, क्योंकि मुख्यता से उसी के द्वारा भारत औरों को स्वयं पा सकता और उन्हें अपना दान कर सकता है। पर उस पर निर्भर न हो रहें। छोटे-बड़े सब देशवासी अपनी भाषा में अपने को कहने-लिखने लगें तो साहित्य चहुँओर भरा-पूरा होने से कैसे रह सकता है।

और देश जिस भाषा को लेकर एक हो सकता है, जो भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है, वह भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी है। इस प्रकार भारत के भावी-निर्माण में योग देने की सबसे भारी ज़िम्मेदारी हिंदी पर आ जाती है। और हिन्दी हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ी के समान हिन्दुस्तान के लिए केवल राज-काजोपयोगी ही भाषा नहीं है, वह तो समूचे राष्ट्र की ऐक्य-भाषा बने, ऐसी भी संभावना है।

राष्ट्र-भाषा—हिन्दी (?)

तब हिन्दी के साहित्य और साहित्यकारों पर भारी दायित्व आता है। निस्संदेह हिंदी के साहित्यकारों के कंधों की मज़बूती और चौड़ाई इस क़ीमती बोझ के उन पर आ रहने का कारण नहीं है। कारण, उस भाषा की साधारणता है। वह भाषा भारत के भारी भू-भाग में अब भी सुगम है और भारतीय जनता के सबसे निकट है। वह एक दम अंतिम रूप में बन चुकी हुई भाषा अभी नहीं है; उग रही है, बढ़ रही है, अभी स्वरूप स्वीकार कर रही है। अधिकांश उसके राष्ट्र-भाषा बनने के यही कारण हैं। लेकिन अब उस राष्ट्र की भाषा से उत्तरोत्तर श्रेष्ठता भी क्यों नहीं माँगी जायगी ?

हिन्दी-हिन्दुस्तानी

अब उसके स्वरूप के संबंध में विवाद भी चले हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी चीज़ क्या है ? हिंदुस्तानी कहकर उर्दू का आधिपत्य तो जाने-अनजाने हम निमन्त्रित नहीं करते हैं। कम-से-कम उर्दू के मेल के ख़ातिर हिन्दी को गर्दन पकड़कर इस भाँति उसके सामने झुकाया तो अवश्य जाता है। और वह उर्दू डेढ़-दो प्रांतों को छोड़कर और है कहाँ, कि जिसके लिहाज़ में हिन्दी के आगे यह हिन्दुस्तानी पद हठात् बैठाया जाता है ? हिन्दी की एक निश्चित धारा है, निश्चित संस्कार हैं। इसी प्रकार उर्दू का एक अपना रुख़ है और अपनी तरतीब है। ज़बरदस्ती दोनों के मेल कराने का नतीजा दोनों की अपनी खूबियों से हाथ धोना होगा और जो इस तरह चीज़ बनेगी वह भाषा तो होगी नहीं, विडम्बना होगी।

भाषा और साहित्य

ऐसे विचार और ऐसी शंकाएँ प्रगट की गई हैं। उन पर प्रति-शंकाएँ भी उठी हैं और उत्तर-प्रत्युत्तर भी हुए हैं। भाषा के जानकार पंडितों को बेशक इस सम्बन्ध में सचेत रहना योग्य

है। वे अधिकारी व्यक्ति हैं। पर जिस अर्थ में मैं साहित्य को समझता हूँ उस अर्थ में, स्वयं अपनी खातिर, इस प्रश्न में साहित्यकार को विशेष महत्व और रस नहीं मिलेगा। भाषा उसके लिए शाश्वगत तत्व नहीं है, कुछ उससे अधिक आत्मीय है, अधिक सजीव है। वह एक माध्यम है जिसके साथ उसका अतिशय पवित्रता और सस्नेह सावधानता का सम्बन्ध है, आग्रह का संबन्ध नहीं है। भाषा का सहारा लेकर वह अपने भीतर के अमूर्त को मूर्त करता है। इस भाँति जो भी भाषा प्रस्तुत है, साहित्यकार उसी के प्रति कृतज्ञ है। वह भाषा के द्वारपर भिखारी है। जो वहाँ से पाजाय उसी को लेकर वह अप्रस्तुत का आह्वान करता है और इस पद्धति में अनायास ही वह उस भाषा को भावनोत्कर्ष का लाभ भ देता है।

हिंदी का हिंदुस्तानी की ओर विस्तार

इस दृष्टि से राष्ट्र भाषा के स्वरूप के बारे में मैं एक ही बात जानता और कह सकता हूँ। वह बात यह कि जो भाषा जितने अधिक राष्ट्र के भाग के साथ हमें स्पर्श में ले आती है वह उतनी ही अधिक राष्ट्रभाषा है। जितने घनिष्ट और आत्मीय स्पर्श में लाती है उतनी ही उत्कृष्ट (राष्ट्र) भाषा है। किंतु इस भारतवर्ष में जाने कितनी न भाषाएं, कितनी न जातियाँ, और कितने न वर्ग हैं। उनके अपने स्वार्थ हैं, अपने आग्रह और अपने अहंकार। सब को अपने संस्कार रुचिकर हैं। लेकिन राष्ट्रभाषा किसी का तिरस्कार नहीं कर सकती। जो राष्ट्र के लिए ऐक्य विरोधी है, उसी का विरोध राष्ट्र-भाषा में हो सकता है, अन्यथा उसकी गोद सब के लिए खुली है। उस राष्ट्र-भाषा के साहित्य-निर्माण में सबको योगदान करने का अधिकार क्यों न हो? उसके बनाव-सँवार में भी उनका प्रेम-परामर्श क्योंकर तिरस्कृत किया जाय? इसमें हिंदी के वर्तमान रूप पर, आज की बनावट पर निस्संदेह बहुत दबाव पड़ेगा। लेकिन जिसको बड़ा बनाया जाता है उसको उतना ही अपना अहंकार छोड़कर सबका आभार स्वीकार करना होता है। इसी तरह जब हिंदी के कंधों पर भारी दायित्व आगया है, तब उस हिंदी को अपने जीवन को सर्व-सुलभ और विशद और निराग्रही बनाने में आपत्ति नहीं करनी होगी। उसे अपने योग्य ऊँचाई तक उठना होगा। और जो हिंदी का साहित्यकार इस विषय में जागृत न होकर आग्रही होगा, मुझे भय है कि वह राष्ट्र-भाषा हिंदी से की जानेवाली प्रत्याशाएं पूरी न कर सकेगा।

विस्तृति और विकास : हमारा ध्येय

आज दिन-दिन हमारे जीवन का और अनुभूतियों का दायरा बढ़ता जाता है। हमारी चेतना घिरी नहीं रहना चाहती। हम रहते हैं तो अपने नगर में, पर जिले और प्रांत के प्रति भी आत्मीयता अनुभव करते हैं। इसके आगे हमारा देश भी हमारे लिए हमारा है। उसके भी आगे, अगर हम सच्चे हैं और जगे हुए हैं, तो इतने में भी हमारी तृप्ति नहीं है। हम समूची मानवता को, निखिल ब्रह्मांड को अपना पाना चाहते हैं। 'हम सब के हों', 'सब हमारे हों'—यह आकांक्षा गहरी से गहरी हमारे मानस में बिधी हुई है। वह आकांक्षा अपनी मुक्ति-लाभ करने की ओर बढ़ेगी ही। उस सिद्धि की ओर बढ़ते चलना ही सच्ची यात्रा और सच्ची प्रगति है।

पार्थक्य-भावना मिथ्या

आज निरंतर होती हुई प्रगति के बीच बिल्कुल भी गुंजाइश नहीं है कि हम अपने को समस्त से काटकर अलहदा करलें। वैसी पृथकता भ्रम है, झूठ है। और जहाँ उस पार्थक्य की भावना का सेवन है, जहाँ पार्थक्य सहा नहीं वरन् आसक्ति-पूर्वक अपनाया जाता है, वहाँ

जीवन निस्तेज और जड़ हो चलता है। यही प्रतिगामिता है, क्योंकि इसके सिरों पर केवल अंधकार है और मौत है।

हिन्दी विश्व-साहित्य के साथ

इसलिए हिंदी को भी बंद रहने और बंद रखने में विश्वास नहीं करना होगा। बंद तो वह है ही नहीं। बंद इस जगत में कुछ भी नहीं है। सब कुछ सबके प्रति खुला है। और साहित्य वह वस्तु है जो सब ओर ग्रहणशील है। वह सूक्ष्म चिंताधाराओं के प्रति भी जागरूक है। हलका-सा स्पर्श भी उसे छूता और उस पर छाप छोड़ता है। ऐसी अवस्था में हिन्दी के साहित्य को विश्व की साहित्य-धाराओं से अलग समझना भूल होगी। आदान-प्रदान, घात-संघात चलता ही रहा है। हम जानें या हम न जानें, वह संघर्ष न कभी रुका न रुक सकता है। आज जब कि बातचीत और आने-जाने के साधन इतने विद्युत्-गामी हो गए हैं, उस संघर्ष को काफ़ी स्पष्टता में चीन्हा जा सकता है। अतः आज यदि हिंदी के प्रस्तुत साहित्य को आँकना हो तो उसे इसी परस्परापेक्षा में रखकर देखना होगा, और उस प्रकार की सम्यक्-समीक्षा और विद्वान् समीक्षकों की हिंदी को आवश्यकता है।

अखण्ड लक्ष्य

आदमी आदमी के, देश देश के, द्वीप द्वीप के क्षण-क्षण पास से और पास आता जा रहा है। निस्सन्देह इस ऐक्य की साधना में मानवता को बड़े प्रयोग और परिश्रम भी करने पड़ रहे हैं। आदमी आदमी में, देश देश में, द्वीप द्वीप में डाह और बैर भी दीखते हैं। महायुद्ध होकर चुका है; छुट-पुट युद्ध आँखों-आगे नित-प्रति हो रहे हैं और आसन्न भावी में अगले महायुद्ध की घटाएँ छाई हैं। उस युद्ध की विभीषिका अब भी मनुष्य के मानस पर दबाव डाल रही है। पर मार्ग विकट हो, मानवता को उस पर से बढ़ते ही चलना है। मेरी अंतिम प्रतीति है कि जाने-अनजाने अपनी दुर्भावनाओं और दुर्वासनाओं की मार्फ़त भी हम अंततः एक दूसरे के निकट ही आ रहे हैं। इससे हमें परिक्षणों और विफलताओं से घबराना नहीं होगा और लक्ष्य पर से आँख नहीं हटाना होगा।

लक्ष्य-साधन की राह में साहित्य

जीवन की आस्था को और अपनी अंतस्थ लौ को सँभाले रखकर व्यक्ति राह के ऊबड़-खाबड़ को पार करता, दुख-विषाद झेलता, जिए ही चलता है। कभी त्रास से घिर जाता है, कभी अश्रद्धा से भर आता है। तब वह एकांत में ऊपर के सूने को देखता और दो-एक भरी सांस छोड़ कर फिर अपने जी को कम कर चल पड़ता है। कभी यह सब कुछ बहुत भारी, बहुत भारी हो आता है। यहाँ तक कि मृत्यु उसे प्रिय और जीवन विष मालूम होता है। ऐसे समय वह आत्मघात भी कर बैठता है। लेकिन जब तक दम है, वह जीवन को भाग्य की धारा के साथ आगे खेए ही चलेगा। जीवन के अनेकानेक व्यापारों के मंथन में से जो कटुता का, कल्मष का, व्यथा का गरल उसके कंठ में भरता है, नानाविध उपायों से वह अपने भीतर की आस्था के संयोग से उसी को अमृत बना लेगा। उसे पिएगा, पिलायगा, और चलता रहेगा।

व्यथा-विसर्जन के यत्न में साहित्य

इसी व्यथा-विसर्जन के यत्न में उस मानव द्वारा कला के नाना स्वरूपों को जन्म मिलता है और साहित्य को जन्म मिलता है। मानव की अन्तस्थ जीवन-प्रेरणा चुक भले जाय, वह चुप नहीं

और वह, बिना चैन बिना विराम, नए-नए भावों में अभिव्यक्त होती है। उससे जीवन यापन में, जीवन-संवर्धन में बल मिलता है। उससे एक से दूसरे को रस मिलता है।

इस भाँति जीवन में सभी अनुभूतियाँ उपयोगी हैं। उन्हें जब हम अपनी आसक्ति में संकीर्ण बनाते हैं तभी वह निषिद्ध बनती हैं।

सब अनुभूतियों की स्वीकृति

उन्हीं को जब मुक्त करके विस्तीर्ण करते हैं, तब वे साहित्य की निधि हो रहती हैं। इस दृष्टि से, दुख है कि सुख है, जो है सब वरदान है और भाग्य के सम्पूर्ण दान के लिए हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। इस भाव से देखने पर साहित्य के निमित्त जीवन अपने हलके-या-गहरे तीखे-या-मीठे सब रंगों और रसों के साथ हमारी प्रीति और अभिनन्दन का भाजन बनता है।

पर निषेध भी ज़रूरी

पर स्वीकृति की इतनी विशाल क्षमता सहसा व्यक्ति में नहीं होती। उत्तरोत्तर ही उसकी ओर उठना होता है। इससे बराबर व्यक्ति के साथ निषेध भी लगा है। वह सब कुछ नहीं चाह सकता। कुछ है, जो उसे नहीं चाहना होगा। कुछ उसके लिए निषेध्य रहेगा, अतः कुछ और विधेय। इस द्वित्व के उल्लंघन को वह अपने दर्प में शक्य बनाना चाहेगा तो सिवा व्यर्थता के उसे और कुछ हाथ न लगेगा। हाँ, कोरा शून्य यानी मौत हाथ लगे तो लग सकती है।

निषेध का निषेध भयानक

आदि काल से मानव प्राणी की चिन्ता उठते-उठते इसी प्रश्न से जा टकराई है और सदा ही टकरा कर पछाड़ खाकर रह गई है। विधि-निषेध की वह अन्तर रेखा कहाँ है? वह रेखा खिची-खिचाई कहीं नहीं मिली है और युग-युग में मानव-मनीषा इस बात पर उद्भ्रान्त हो गई है। मानव जाति के अनेकानेक कल्याण-साधक पथिक उस रेखा की खोज में दिग्भ्रान्त होकर अकल्याण में आ भटके हैं।

मैं अल्पमति उस चर्चा में बढ़ने की स्पर्द्धा नहीं कर सकता। कहना यही चाहता हूँ कि मुझे आशंका है कि पच्छमी बुद्धि वैसे विभ्रम में पड़कर कुछ चकरा रही है।

पश्चिम का साहित्य

पच्छम आज शक्ति-प्राप्त, विभुता-प्राप्त है। इसका मोह-मद भी उसमें घुस गया है। इसी से वहाँ संकट के बादल भी छाए हैं। उसके नीचे वहाँ का जीवन मानों अमित भाव से गतिशील है। मानों वेग अपने ज़ोर में विवेक को खींचे लिए जाता हो। वहाँ व्यस्तता है, बेचैनी है, और मँहगी है। वही सब कुछ वहाँ के साहित्य में और भी उभार में झलक रहा है। उस अवस्था का त्रास और दाह उस साहित्य में है और उन्माद भी है। निस्सन्देह उनका दूसरा पहलू भी वहाँ है और वह अत्यन्त करुण है। शक्ति की पूजा है, तो उसके प्रति विद्रोह भी है। पर सब मिलाकर कुछ ऐसा असामंजस्य है कि जैसे लहरें अपने आप में टकरा कर फेनिल उद्-भ्रान्त हो उठी हैं और किसी को अपनी दिशा का पता नहीं है।

निस्सन्देह पश्चिम में जीवन अधिक चुस्त और सजीव है। जड़ता के लिए वहाँ छिपकर बैठने को भी जैसे ठौर नहीं है। पर मेरी प्रतीति है कि स्वास्थ्य का जो तापमान है, उष्णता का माप पच्छम में उससे ऊँचा पहुँच गया है और वह स्वास्थ्य नहीं, ज्वर है।

हम आत्म-स्थ हों

मेरी प्रार्थना है कि हम लोग पश्चिम से ईर्ष्या न करें। ईर्ष्या वैसे भी दुर्गुण ही है। वह अपनी हीनता के बोझ में से जन्म लेती है और उस हीनता को दूर नहीं करती सिर्फ दबाती है। मेरी विनय है कि वैसे भाव की आवश्यकता भी नहीं है। हमारे भीतर जो जड़ता है उससे रुष्ट होकर बुखार को निमंत्रण देना योग्य नहीं है। उद्भ्रांत पुरुष निर्वीय मनुष्य से बेहतर हो, पर इस कारण वह भ्रांति स्तुत्य न होगी। पश्चिम से हमें बहुत कुछ सीखना है। पर सीखना विवेक-पूर्वक हो सकेगा। अपने को खोकर सीखा कुछ न जायगा, उलटे यों स्वयं मिटने का उपाय हो जायगा। पुरुष का असल पुरुषार्थ तो अपने को पाना है।

उस आत्मलाभोन्मुख पुरुषार्थ की हिन्दी में आवश्यकता है। पश्चिम की विभुता के आलोक में अपने को खोने की उद्यतता के लक्षण हिन्दी में अनुपस्थित नहीं हैं, इसी से ऊपर की बात कही गई। जहाँ से लाभ लेना है वहाँ से लाभ न लेकर आतंकपूर्वक उसका अनुकरण करने लगना सही उपाय नहीं है। और मुझको स्वीकार करना चाहिए कि आज के प्रचलित पच्छमी साहित्य में मुझे मिर्च अधिक मालूम होती है, पोषक तत्व कम। मिर्च का असर तुरन्त होता है, ज़रा आदत पड़ने पर उसका स्वाद भी अच्छा लगने लगता है। पर वास्तव जीवन को तो पोषक तत्व की ही अधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से मुझे यह भी कहना चाहिए कि इधर के साहित्य से पच्छम कुछ ले भी सकता है और वह ले रहा है।

हिंदी पर आत्मग्लानि क्यों ?

अपने प्रति सगर्व होना अहंकार का लक्षण है और आज के हिन्दी साहित्य की अवस्था पर गर्वस्फीत होने का कोई बहाना भी नहीं है। पर आत्मग्लानि की तो और भी किसी प्रकार गुञाइश नहीं है और न अन्य भाषाओं के प्रति तनिक भी डाह-पूर्ण लालसा से देखने का अवकाश है। मुझे हिन्दी के प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और प्रसाद पर तनिक भी लज्जा नहीं है। तुलनाएँ भ्रामक होती हैं, लेकिन कड़ी समीक्षा-बुद्धि के साथ देखने पर भी मुझे हिन्दी की ओर से क्षमाप्रार्थी होने की आवश्यकता इधर वर्षों से कभी प्रतीत नहीं हुई।

हिन्दी की असुविधाएँ—ये हितकर भी हो सकती हैं।

तिस पर हिन्दी की कुछ अपनी लाचारियाँ हैं। उसका कोई एक प्रांत नहीं है, कोई एक विशिष्ट संस्कृतिकेन्द्र नहीं है। उसकी लिखने की भाषा ज्यों-की-त्यों शायद ही कहीं बोलने की भी भाषा है। इस प्रकार उसको वह घनिष्ट-सहयोग और सामाजिक अथवा प्रांतीय भाई-चारे की सुविधाएँ प्राप्त नहीं है जो भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं को उपलब्ध हैं। लेकिन कौन जानता है ये ही असुविधाएँ आगे जाकर उसकी हितसाधक ही न बन जावें। और इधर आकर जिस वेग से हिन्दी बढ़ रही है, देखकर हर्ष होता है।

कवि सबका है

किन्तु साहित्य की बात करते समय किसी को किसी का प्रतिनिधि बनने की आवश्यकता नहीं है। और मुझे जान पड़ता है कि एक भाषा के माध्यम द्वारा आत्मसाधन अथवा आत्मदान करनेवाला साधक साहित्यकार उस अमुक भाषा का बपौती नहीं होता। भाषा उसकी एक है, पर प्राण उसके व्यापक हैं। वह उस भाषा की राह से सम्पूर्णतया उस महा चेतना के

आलिंगन में पहुँचना चाहता है जिसके लिए सब समान हैं। वह कवि इसलिए नहीं है कि एक भाषा उसके नाम को लेकर फूले और दूसरी भाषा को तिरस्कृत करे। वह अपनी भावनाओं की व्यापकता के कारण सबके लिए प्रार्थनीय और आत्मीय बनता है।

हिन्दी में संगठित प्रयत्न किस ओर ?

फिर भी हम हिंदी के इतने अपने हैं कि उससे असंतुष्ट होने का हमारा हक है। सतत अभिलाष जीवन का लक्षण है और हममें असंतोष नहीं है तो हमारी उन्नति की संभावना भी नहीं है। इस दृष्टि से मैं कुछ उस दिशा की ओर संकेत करना चाहता हूँ जिधर संगठित प्रयत्न की आवश्यकता है।

जीवन की कशमकश बढ़ती ही जाती है। आदर्शोन्मुख भावनाएं उसके बीच पनपती नहीं। युवावस्था पार होते-न-होते व्यक्ति आदर्श से मानो हाथ धो लेता है और ग़नीमत मानता है। फिर दुनियादारी को ऐसा पकड़ता है मानों वही सार है शेष सब निस्सार है। तब बड़े शब्द खोखले, ऊँची भावनाएँ भ्रम, और सदाशयता उसके लिए भावुकता हो जाती है। वह इस प्रकार अपनी अंतरात्मा की अवज्ञा करता है और अनात्म की सेवा में लीन होता है।

जगह-जगह चैतन्य केंद्र

पर इसका उपाय? प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में सद्भावना की ज्योति को जगाए रक्खा जाय तो कैसे? साधारणतया वह जोत जगती है कि झोंका आया और वह बुझ जाती है। समाज का आर्थिक संघटन ऐसा विषम है और परिणामतः जीवन ऐसा दुरूह कि अकेला सद्भावना को टिकाए रखना कठिन होता है। उपाय यही है कि परस्पर के सहयोग और संस्पर्श से उस जागृति को क़ायम ही न रखा जाय, प्रत्युत उसे ज्योतिर्मय और कार्यकारी बनाया जाय। आशय यह कि सर्व-हितभावना को बीज-भूत और फलरूप दोनों भाव से स्वीकार करके आपके सुहृदसंघ के समान जगह-जगह संघ बनें। वे उतने विधानजड़ित दल न हों, जितने चैतन्य के केंद्र हों। बुद्धि का विकास, बुद्धि की मुक्ति और सर्वहित साधन, यह उसका लक्ष्य हो और विज्ञापन की मनोवृत्ति से वे परे हों।

समस्त का केंद्रीकरण भी

दूसरे एक ऐसे केंद्र की भी आवश्यकता है जो तमाम हिंदी साहित्य की प्रगति को एकता के दृष्टिकोण से देखे, स्थानीय दृष्टिकोण से बिलकुल न देखे। उसके द्वारा साहित्यिक जागरण को संगठित किया जा सके और विकृत-विपरीत साहित्य की बाढ़ को रोका जा सके। इसके जन्म में और विधान में विशुद्ध सांस्कृतिक और नैतिक भावना होनी चाहिए। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ऐसे केंद्र के निर्माण में बहुत उपयोगी हो सकता है।

साहित्य और लोकनिर्माण

लोक जीवन को बनाने और सँभालने में साहित्य का जो भाग है, उस पर यहाँ कुछ कहना अनावश्यक है। वह महत्वपूर्ण है; मुखर नहीं है। साहित्य समाज को व्यक्ति-हृदय के द्वारा छूता और जगाता है। मुझे जान पड़ता है कि जीवन का वास्तव निर्माण उसी राह से होगा। नहीं तो समाज अपने में स्वरूप-हीन चीज़ है। व्यक्ति नहीं सुधरता तो समाज कैसे सुधरे? समाज जितना भी बिगड़ा हो, व्यक्ति अपने से तो सुधार का काम इसी क्षण से आरंभ कर सकता है। ऐसा न करके प्रस्ताव और प्रचार का पीछा पकड़ कर सुधार की आशा करना

दुराशा है। आत्मनिर्माण में समाज निर्माण का बीज तो है ही, फल भी है। व्यक्ति समाज की इकाई है, और इकाई ही नहीं वह असल में स्वयं समाज का बीज है। साहित्य उस व्यक्ति के हृदय को ही लक्ष्य में रखता है, क्योंकि सब महान परिवर्तन में वहीं जन्म लेते हैं। ऊपरी कुछ परिवर्तन यदि किया भी जा सके तो तब तक निरुपयोगी है जब तक हृदय भी अनुरूप परिवर्तित नहीं हुआ है। इस प्रकार लोकजीवन के निर्माण का सच्चा उपाय वह साहित्य रह जाता है जो व्यक्ति के हृदय को स्पर्श करके उसे संस्कारी बनाता है। व्यक्ति का संस्कार समाज में फिर फैलता ही है। और अगर चिनगारी सच्ची है तो आग दहकने में थोड़ी फूँक ही चाहिए और फिर वह तो फैली रखी है।

इस निगाह से राजनीतिक कर्म तब तक अधूरा है जब तक साहित्यिक परिपोषण उसे प्राप्त नहीं है। प्रस्तावों के पीछे प्राणों का बल न हो तो वह उस काग़ज की क़ीमत के भी नहीं जिस पर वे लिखे हों। आशा करनी चाहिए कि जीवन-चिंतक और लोकनायक दोनों इस विषय में सचेत होकर संगठित उद्योग करेंगे।

साहित्य का जनक कौन?—व्यक्ति?

साहित्य-सृजन में योग देने वाले साथियों से तो मैं खुलकर ही बात करूँ, यहाँ आते वक्त एक हितैषी ने यह कहा था। लेकिन साहित्य के बारे में प्रामाणिक जानकारी मेरे पास क्या है? थोड़ा पढ़ा हूँ उसके बाद सीखा भी विशेष नहीं हूँ, यह सुनकर लोग कहते हैं—'देखा! पहले तो घमंड, जिस पर दंभ!' वह समझते हैं यह मेरा पाखंड है और भीतर के घमंड को ज़रा मिठास का लेप देने के लिए है। मुझ पर अदया करते हैं। कुछ मित्र अपने मन में और साथियों के द्वारा मानो कहना चाहते हैं कि 'थोड़ा पढ़े हो तो लज्जित क्यों नहीं होते? गर्व के साथ बघारते क्या फिरते हो? धिक् है इस तुम्हारी गुस्ताख़ी को। अपने मुँह से बड़ी-बड़ी बातें निकालते हो, फिर कहते हो मेरा मुँह छोटा है। छोटा मुँह है तो उसे मत खोलो। क्यों बड़ी बातों को भी उस मुँह से निकाल कर उपहास्य बनाते हो?' मैं, सच, नहीं जानता कि मैं इन बातों का क्या जवाब दे सकता हूँ। जवाब मेरे पास है ही नहीं। मैं अपने को दोषी क़बूल करता हूँ। लेकिन दोष तो तभी हो गया जब पहले-पहल क़लम मैंने उठाई। आप कहोगे—'क़लम उठाई ही क्यों? कुछ जानते नहीं थे तो क़लम उठाने की हिम्मत क्यों की?' बेशक यह संगत प्रश्न है, और यही मैं अपने से पूछा करता हूँ। पर उत्तर में सिर झुका रह जाता है, कुछ बोल नहीं मिलता। आज भी मुझे अचरज है कि किस बूते पर मैंने क़लम उठाई और किस बल पर मैं उसे चला भी पड़ा। लेकिन सच बात यह है कि यदि मुझे स्वप्न में भी कल्पना होती कि मेरा लिखा छापे में आजायगा तो लिखने का दुस्साहसिक कर्म मुझसे न बनता। इसी से जब मैं पढ़ता हूँ कि ईश कृपा से बहरा सुन पड़ता है और मूक बोल उठता है और उस ईश महिमा से पंगु भी गिरि लांघ जाता है तब यह देखकर कि मैं आज लिखता हूँ मुझे उस सब अन-होनी के होने का भी विश्वास हो जाता है। इसलिए घमंड-पाखंड की सब बात मेरा परमात्मा ही जाने। उसकी कृपा ही हुई होगी कि मैं कुछ लिख भी सका, नहीं तो—

स्वांतः सुखाय? अथवा जनहिताय?

लेकिन इस सभा के बीच वह सब प्रलाप शोभा नहीं देता। उसे छोड़िए। अब मैं पूछता हूँ कि जो मैंने आरंभ में लिखा, क्या स्वांतः सुखाय लिखा? मुझे नहीं मालूम। जो करता हूँ मैं अन्तः सुख के लिए करता हूँ या परिस्थितियों के कारण करता हूँ—यह मैं कुछ सोच-

कर समझ नहीं पाता हूँ। अलबत्ता इतना जानता हूँ कि आरंभ में जो लिखा वह किसी भी प्रकार किसी के उपकार, सुधार या उद्धार का प्रयोजन बाँध कर मैं नहीं लिख सकता था। मैं तब इतना अज्ञातनाम, अपने आप में इतना संत्रस्त, हीन, निरीह प्राणी था कि परहित की कल्पना ही उस समय मुझे अपनी विडम्बना जान पड़ती। इसलिए मैं किस प्रकार इन चर्चाओं में आऊँ कि साहित्य-कला किसके लिए है, अथवा किसके लिए हो। यह बात महत्वपूर्ण होगी, लेकिन मैं उस बारे में कोरा हूँ।

सर्वान्तर्यामी एक है। वही मूल, वही लक्ष्य है

हाँ, इधर आकर एक विश्वास मेरी सारी चेतना में भरता-सा आता है कि जो कुछ हो रहा है, वह सब कुछ 'एक' के लिए हो रहा है उसी एक 'से' और उसी एक 'में' हो रहा है। और वह एक है, 'परमात्मा'। लेकिन उस बात को आप मेरी सलज्ज अपराध स्वीकृति (Confession) ही मानिए। उसमें हो सकता है कि न कुछ भावार्थ मिले, न चरितार्थ दीखे। हो सकता है कि वह प्रतीति मेरी असमर्थता की प्रतीक हो। लेकिन मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि ठीक-ठीक मैं कुछ जानता नहीं हूँ।

प्रश्न की अन्तिम शान्ति कहाँ? क्या अपने में ही नहीं?

साहित्य क्यों, क्या, किसके लिए?—इसकी प्रमाणिक सूचना मैं कहाँ से लाकर दूँ? और जहाँ से लाकर दूँ, वहाँ से आप क्या स्वयं नहीं ले सकते जो मेरा अहसान बर्दाश्त करें। कैसे लिखा जाता है, इस बारे में कहने को मेरे पास अपना अनुभव और उदाहरण ही हो सकता है। यह कौन जाने कि किस हद तक वह आपके मनोनुकूल होगा, या प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय होगा।

ज्ञान अनुभव-गम्य

आजकल मानव का समस्त ज्ञान वैज्ञानिक बने, तब ठीक समझा जाता है। इस तरह वह सुनिश्चित और सुप्राप्त बनता है और तभी प्रयोजनीय बनता है। सो अव्वल तो ज्ञान ही मेरे पास नहीं; और जो निजी व्यक्तिगत कुछ बोध-सा है वह वैज्ञानिक तो है ही नहीं। इसलिए उसे आप सहज अमान्य ठहरा दें तो मुझे कुछ आपत्ति न होगी।

जीवन का मंत्र, प्रेम। साहित्य का भी

जिन्दगी का मन्त्र क्या है? मेरे ख्याल में वह मंत्र है, प्रेम। सूरज-धरती को, धरती चाँद को, शत्रु शत्रु को, पिता-पुत्र को, जन्म-मृत्यु को, मैं-तू को, स्त्री पुरुष को, परस्पराकर्षण में कौन थाम रहा है? वही प्रेम। विराट् की शाश्वत अनन्त महिमा और हमारी क्षणजीवी अपार लघुता, जो इन दोनों को परस्पर सह्य और सम्भव बनाता है, वही प्रेम। मुझे जान पड़ता है कि साहित्य का भी दूसरा कोई मंत्र नहीं है। प्रेम से बाहर होकर साहित्य के अर्थ में कुछ भी जानने योग्य बाकी नहीं रहता। 'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय' यह बात निरी कल्पना मुझे नहीं मालूम होती, सब से सच्ची सचाई मालूम होती है। एक जगह कबीर ने बालक प्रह्लाद के मुँह से गाया है—

मोहे कहा पढ़ावत आल जाल,
मोरी पटिया पै लिख देउ श्री गोपाल।

• •

ना छोड़ूँ रे बाबा राम नाम,
मोंको और पढ़न सों नहीं काम।

अक्षर-विद्या की सार्थकता और निरर्थकता

उस कबीर की बानी में उसी प्रेम के माहात्म्य का गान मुझे सुन पड़ता है। न ऊपर की उक्ति का, न कबीर-बानी का आशय यह समझा जाय कि सब पढ़ना-लिखना छोड़ देना होगा। पर यह मतलब तो ज़रूर है कि जो प्रेम-विमुख है ऐसा पढ़ना हो या लिखना, सब त्याज्य है। जिसमें केवल बुद्धि का विलास है, जिससे अपने भीतर सद्भावना नहीं जागती और जगकर पुष्ट नहीं होती वैसा पढ़ना-लिखना वृथा है। और यदि वह पठन-पाठन निरुद्देश्य है, तो वृथा से भी बुरा है, हानिकारक है।

ग़लत समझा जाऊँ, इस ख़तरे को भी उठाकर मैं यह प्रतीति अपनी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जो जानता है कि वह जानता है, जो जानता है कि वह विद्वान् है, ऐसे महापंडित को सँभालने की शक्ति शायद साहित्य में नहीं है। साहित्य जिस तरल मनोभावना के तलपर रहता है, ऐसे महापंडित का स्थान उसमे कहीं बहुत ऊँचे पर ही रह जाता है।

जान-जान कर जितना जो मैंने जाना है वह ऊपर कह दिया है। वह एक दम कुछ न जानने के बराबर हो सकता है। ऐसा हो तो कृपा र्वक आप मुझे क्षमा कर दें। शायद आपकी कृपा के भरोसे ही, उस का दुर्लाभ उठाकर, ऊपर कुछ अपने मन की निरर्थक-सी बात कह गया हूँ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य और दो शब्द।

आधुनिक हिंदी-साहित्य की समीक्षा में मैं नहीं जा सकूँगा। वह अधूरा है, अपर्याप्त है। पर यह भी निश्चित है कि वह सचेत है और यत्नशील है। वह बराबर बढ़ रहा है। गद्य के क्षेत्र में वह तेजस्विता की ओर भी बढ़ चला है। पद्य में सूक्ष्मता की ओर अच्छी प्रगति है। हिंदी-साहित्य में चहुँ-मुखता बेशक अभी नहीं है। वह इस लिए कि जीवन ही अभी चहुँ ओर नहीं खुला है। पराधीन देश में राष्ट्रीयता इतनी ज़रूरी-सी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह समूचे जीवन को उसी ओर खींचकर मानो नुकीला बनाने का प्रयास करती है। स्वाधीनता की ज़रूरत है तो मुख्यतः इसीलिए कि ज़िंदगी सब तरफ़ की माँगों के लिए खुले और फैले। अनिवार्यतया राष्ट्रीय भाव की प्रधानता अपने साहित्य में रही और अब जब कि हिंदी राष्ट्र-भाषा है तब संभावना है कि उस प्रकार की साहित्य की एकांगिता दूर होने में कुछ और भी समय लगे। आधुनिक समाजवाद भी साहित्य की सर्वांगीनता को संपन्न करने में विशेष उपयोगी नहीं हो रहा है। उपाय इसका यही है कि साहित्यकार व्यापक और विस्तृत जीवन की ओर बढ़े। नगर से गाँव की ओर, गाँव से प्रकृति की ओर, प्रकृति से परमात्मा की ओर बढ़े। हमारे साहित्यकार को हवा-पानी की और आसमान की अधिक आवश्यकता है। वह नगर-जीवन की कृत्रिम समस्याओं से घुटता जा रहा है। उसको शहर की तंग गलियों और सटी दीवारों को लाँघकर, न हो तो तोड़कर, खुले मैदान में साँस लेने बढ़ना चाहिए। उससे फेफड़े मज़बूत होंगे और सब का भला होगा।

स्वप्न के साथ सङ्कल्प का संयोग

हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में बात करते हुए यह कहना भी ज़रूरी मालूम होता है कि जैसे सुचारुता के लिए व्यक्ति में विविध-वृत्तियों का सामंजस्य आवश्यक है उसी भाँति साहित्य में आदर्शोन्मुख भावनाओं और परिणामों के सामंजस्य की ओर हमें ध्यान देना होगा। ऐसा न होने से साहित्य जब कि रोमांटिक (कल्पना-विलासी) हो उठता है तब उसकी ओट लेनेवाला जीवन संगति-हीन और उथला हो चलता है। कल्पना का विलास तथ्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार जो अध्यात्म का अथवा दर्शन-ज्ञान का वातावरण बनता है वह भ्रामक होता है, प्रेरक नहीं होता। वह छल में डालता है, बल नहीं देता। स्वप्न ख़ूब रंगीन और मनोरम हो, पर वह कोरा स्वप्न ही है तो किस काम का। उसी स्वप्न की क़ीमत है जिसके पीछे प्रेरणा (Will) भी है। और ऐसा स्वप्न स्वप्न कम, सङ्कल्प अधिक हो जाता है। साहित्य के मूल में यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है; अन्यथा, विवेक-वियुक्त कल्पना धोखा दे सकती है, निर्माण और सृजन नहीं कर सकती।

चारित्रिक ऐक्य आवश्यक

योरुप के साहित्य को जो बात प्रबल बनाती है वह उसकी यही प्रेरक शक्ति है। स्वप्न उनके उतने ऊँचे न हों, और नहीं हैं, लेकिन उनके संकल्पों और उन स्वप्नों में उतनी दूरी भी नहीं है कि विरोध मालूम हो। मन-वचन-कर्म का यह सामंजस्य, यह ऐक्य ही असली तत्व है। इस समन्वय से मन की भावना अधिक प्रेरक, वचन अधिक सफल और कर्म अधिक सार्थक बनता है। इस एकता के साथ तीनों (भावना, शब्द, कृत्य) अलग-अलग भी अपने आप में सत्यतर बनते हैं। उस एकता के अभाव में तीनों झूठ हो जाते हैं। तभी तो उन्मत्त का स्वप्न, दम्भी के मुख का शास्त्र-वचन, और पाखण्डी का धर्म-कर्म, अपने आप में सुन्दर होते हुए भी असत्य हो जाते हैं। राजनीति से भी अधिक साहित्य के क्षेत्र में यह एकता ज़रूरी है। क्योंकि स्थूल कर्म का परिणाम तो भी थोड़ा बहुत होता ही है; पर शब्द में तो वैसी स्थूल शक्ति है नहीं, उसमें उतनी ही शक्ति है जितनी अपने प्राणों से हम उसमें डाल सकते हैं। अतः साहित्यकार के लिए मन-वचन-कर्म की एकता साधना ज़रूरी मानना चाहिए।

मैंने आपका बहुत समय लिया। इस समय में जो सूझा है, मैं कहता रहा हूँ। इसका यह लाभ हुआ कि आप मेरे प्रति करुणाशील हुए तो यह अपना कम लाभ नहीं मानूँगा। आप देखते तो हैं कि आपकी कृपा का मैंने कैसा फ़ायदा उठा लिया है। मैं उस सब के लिए आपकी क्षमा चाहता हूँ और आपको फिर धन्यवाद देता हूँ।
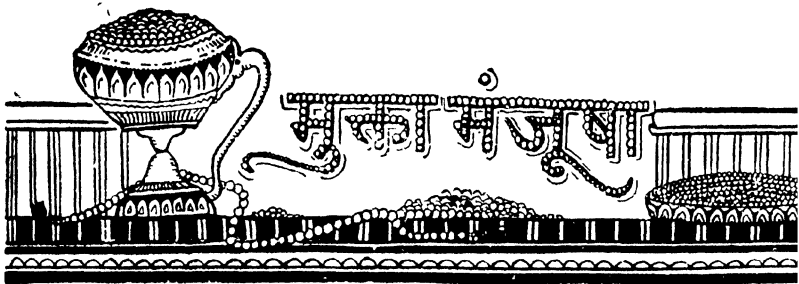
मराठी

मराठी के तीन अस्तमित तेजोगोल—

मराठी-साहित्य को एक एक कर तीन महान् क्षतियाँ झेलना पड़ीं। सबसे पहिली क्षति तो सुप्रसिद्ध मराठी कवि रेवरंड नारायण वामन तिलक की सहधर्मिणी श्रीमती लक्ष्मीबाई तिलक की है। उन्होंने, अपने उम्र के अस्तकाल की परवाह न कर वयोवृद्ध होने पर भी कवि तिलक के और उनके कष्टमय जीवन-संस्मरणों का लेखा 'स्मृति-चित्रे' नामक चार खंड की पुस्तक में लिखा। वृद्धा के काव्यमय अन्तःकरण के स्थल-स्थल पर गोदावरी-तीर के वर्णन पढ़कर किसी भी भाव-प्रवण का हृदय गद्गद् हुए बिना नहीं रहता। इस अन्तिम ग्रन्थ को विचार में न रखते हुए भी श्रीमती तिलक मराठी की एक उत्कृष्ट कवियित्री थीं।

दूसरी महान् क्षति बड़ौदा के राजकवि श्री० चन्द्रशेखर शिवराम गोर्‍हे ऊर्फ 'चन्द्रशेखर' के निधन से हुई। 'चन्द्रिका' नामक उनका काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ है। उनके रचना-संभार से उन्हें महाराष्ट्र का मिल्टन कहा जाता है। 'चन्द्रशेखर' की कविता में माधुर्य और प्राचीन-छन्द-प्रेम के साथ प्रसादगुण भी प्राचुर्य से विद्यमान है।

'काय हो चमत्कार', 'किस्मतपूरचा जमींदार' और एक पूर्ण-ग्रामीण भाषा में ऐसे तीन खंड-काव्य भी उन्होंने रचे हैं। उनकी कविता जैसी संस्कृतगर्भ है, वैसे ही उनका अंग्रेज़ी-काव्य का अध्ययन भी उनकी कविता में कई स्थलों पर झलकता नज़र आता है। कवि 'चन्द्रशेखर' का जीवन दैत्य-दानव से झगड़ते हुए बीता, तो भी 'कविता-रती' की उपासना से वे आजन्म विचलित नहीं हुए।

कवि 'चन्द्रशेखर' के निधन-समाचार पर शोक-लेख लिखकर स्याही सूखी भी नहीं थी कि महाराष्ट्र के डॉ० जॉन्सन, डॉ० श्रीधर व्यंकटेश केतकर पी० एच० डी० जैसे महापंडित के मृत्यु-समाचार ने अखिल मराठी-संसार को शोकान्वित कर डाला। डॉ० केतकर 'ब्राह्मणकन्या', 'परांगदा', 'आशावादी' आदि अनेक सुन्दर समाजशास्त्रविवेचक, ज्ञाति-समस्या-(Racial Problems) विश्लेषक उपन्यास के स्रष्टा के साथ-ही-साथ, 'महाराष्ट्र-ज्ञानकोष' जैसे बृहद् ग्रन्थ के अकेले संपादक थे। 'महाराष्ट्र-ज्ञानकोष' का प्रस्तावना-खंड तथा 'युद्धोत्तर जग और हिन्दुस्तान'-खंड न केवल मराठी साहित्य की बल्कि भारतीय साहित्य की एक अमूल्य संपदा हैं। डॉ० केतकर 'स्त्री' मासिक में 'विचक्षणा' नामक अन्तिम उपन्यास पूर्ण कर ही रहे थे कि आर्थिक संकटों में ही उन्हें कृतान्त का आह्वान स्वीकार करना पड़ा। डॉ० केतकर परदेश-परिभ्रमण कर चुके थे और समाज-शास्त्र, इतिहास और राजनीति के धुरंधर आचार्य थे। राजनीतिक मसलों में उनके ज्ञाति-दृष्टि के हल सचमुच शॉ के टक्कर, के कुछ-कुछ विचित्र हुआ करते थे। वे हैदराबाद के मराठी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के सभापति रह चुके थे।

इस प्रकार महाराष्ट्र ने एक महान् विद्वान्, एक महाकवि और एक सदाशया महदात्मा श्री-लेखिका को खोया है। ये क्षतियाँ आन्तरप्रान्तीय साहित्य-संसार को भी विदित होनी ही चाहिएं।

• • •

नई पुस्तकें—

हिंदी-मराठी की नई किताबें एक साथ पढ़ते हुए बड़ी मज़ेदार समताएँ-विषमताएँ नज़र आती हैं। उनमें से कुछ रोचक स्थलः—

श्री भगवतीचरण वर्मा का 'इन्टालमेंट' कहानी-संग्रह और प्रि० अत्रे का 'ब्रैंडी की बोतल' नामक हास्य-कथा-संग्रह पढ़ते हुए उन दोनों में विद्यमान तरुण, विद्रोहपूर्ण पर साथ ही साथ तीखे व्यंग को उद्भासित करनेवाला दृष्टिकोण, और समाज की प्रस्तुत स्थिति में अवस्थित असंख्य विसंगतियों का ख़ासा ख़ाका जहाँ हम पाते हैं, वहाँ विशिष्ट शैली, ऊपरी शिष्टता (Mannerism) भी ख़ूब पाई जाती है। दोनों में गहराई का पूर्ण अभाव है, मानव-स्वभाव और व्यवहार के तल-पृष्ठ पर की चीज़ों को लेने और उनका मज़ाक उड़ाने के लिए उद्यत् सिद्धहस्तता ही अधिक है। प्रि० अत्रे में कहीं-कहीं विचारपूर्णता दिखाई देती है और भगवतीचरण जी में भी क्वचित् स्थलों पर उसके दर्शन होते हैं।

दूसरी मज़ेदार तुलना दो स्त्री-लेखिकाओं की गंभीर उपन्यास-कृतियों की हो सकती है। वे हैं कु० गीता साने एम० एस० सी० और श्रीमती ऊषादेवी मित्रा। दोनों की नई उपन्यास कृतियाँ 'लतिका' और 'वचन का मोल' प्रतिनिधि रचनाएँ मानें तो इस तुलना में मराठी और बँगला स्त्री-बुद्धि का भी ख़ासा विचित्र चित्र प्रस्तुत हो सकता है। कु० गीता साने के उपन्यासों का विज्ञापन यों होता है—'पुरुष कितने मर्दांध होते हैं यह इनके दो-चार उपन्यास पढ़कर देखो!' 'वचन का मोल' किस तरह विज्ञापित होता है यह 'हंस' के पाठकों से छिपा हुआ नहीं है। 'लतिका' की नायिका राधा जीवन में पूर्व प्रेमिक के साथ भागने और फिर घर-बच्चों के मोह से लौटने और 'घर की न घाट की' ऐसी जो स्थिति उत्पन्न होती है वह कुछ अंशों में कजरी के वचन-बद्ध हो जाने से उत्पन्न होती है। स्त्रियों के सुकुमार्य की जहाँ गीता साने लतिका से उपमा देकर पुरुष के साथ निभने की अनुपयुक्तता सिद्ध करती हैं वहाँ उषादेवी की नारी न जाने किस परिस्थिति-पाश के अज्ञात दैव-चक्र से प्रपीड़ित, सुकुमार हृदय का समर्थन करती है। दोनों उपन्यासों में प्रेमी पुरुषों की बीमारी और पागल होने की बात काफ़ी मिलती जुलती हुई है।

गुजराती

साहित्य और जीवन—

'हंस' के पाठक गुजरात के श्री 'धूमकेतु' से भली-भाँति परिचित हैं। आपकी रचनाएँ गुजरात ही में नहीं गुजरात के बाहर भी काफ़ी लोकप्रिय हुई हैं। कहानीकार और नाटककार के अतिरिक्त आप उच्च कोटि के निबन्ध-लेखक भी हैं। हाल में आपके निबन्धों का एक संग्रह 'जीवन-चक्र' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में 'साहित्य और जीवन' शीर्षक से आपने जो कुछ लिखा है, अप्रेल' ३७ की 'कौमुदी' से लेकर हम उसे यहाँ हिन्दी में उद्धृत करते हैं। आशा है, पाठकों को इसमें से विचार की कुछ सामग्री मिलेगी। श्री 'धूमकेतु' लिखते हैं—

'साहित्य और जीवन दोनों परस्पर उपकारी क्रियायें हैं। साहित्य के अभाव में जीवन नीरस और निरर्थक मालूम होता है। जीवन के अभाव में साहित्य एकांगी और निष्फल रहता है। असल में मनुष्य एक ऐसा चेतन है, जिसका निर्माण क्रिया से होता है; जहाँ जहाँ मनुष्य है, वहाँ-वहाँ क्रिया है। जहाँ क्रिया है, वहाँ योजना है। जहाँ योजना है, वहाँ बुद्धि है। और जहाँ बुद्धि है, वहाँ कल्पना है. सच तो यह है कि मनुष्य अपनी कल्पना में जितना महान् होता है, उतना ही महान् वह अपनी क्रिया में प्रकट होता है। जहाँ कल्पना निर्बल है, समाज भी निर्बल है। दूसरे शब्दों में, जहाँ साहित्य नहीं है, वहाँ समाज भी नहीं है। साहित्य ने नररत्न पैदा किये हैं, और नररत्नों ने साहित्य को प्रेरणा दी है समाज की जितनी सर्वोत्तम, उच्चतम और कल्पनाकारी क्रियायें हैं उन सब का मूल साहित्य है, था और रहेगा। जीवन से साहित्य बहुत-कुछ ले सकता है, और जीवन को साहित्य बहुत कुछ दे सकता है। जिस प्रकार प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे की शोभा से सुशोभित हैं; जिस प्रकार सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता एक दूसरे में ओतप्रोत हैं; जिस प्रकार कल्पना और बुद्धि परस्पराश्रयी हैं उसी प्रकार साहित्य और जीवन का ऐसा द्वन्द्व है, जो एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

'नरसिंह मेहता का जीवन ही उनका साहित्य था। जब मनुष्य साहित्य लिखने बैठता है, तो कुछ ऐसा लिखता है, जो साहित्य नहीं होता। साहित्य तो उसके जीवन में से स्वभावतः पैदा होना चाहिए। मीरा के मानस में एक रस-पूर्ण सृष्टि थी। उसमें सबसे आगे एक प्रतीक था और उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया का उस प्रतीक के साथ सुमेल रहता था। जहाँ कृष्ण के साथ उसका तादात्म्य खण्डित हुआ, वहाँ उसका काव्य भी खण्डित हुआ। इस प्रकार प्रत्येक साहित्यिक का अपना एक साहित्य-धर्म होता है। उसका साहित्य तभी तेजस्वी बनता है, जब वह अपने धर्म में स्थिर रहता है। कोई नर्मद इस साहित्यधर्म को अंगीकार करता है, और उसमें से जीवनी-शक्ति पाता है। इस साहित्य-धर्म को कोई कालिदास अंगीकार करता है, और उसमें से जीवन-सिद्धि को प्राप्त करता है। जब तक साहित्य साहित्यकार के जीवन की एक उपकारक क्रिया बना रहता है, तभी तक वह दूसरों को अपना चमत्कार दिखा सकता है। इस प्रकार साहित्य का जीवन के साथ इतना गाढ़ सम्बन्ध है कि 'साहित्य' और जीवन' कहने की अपेक्षा 'साहित्यमय जीवन' या 'जीवनमय साहित्य' कहना अधिक उचित है।

'जीवन में बहुतेरे कार्य ऐसे होते हैं, जिनका प्रभाव समय के साथ नष्ट हो जाता है। किंतु इस कारण कोई यह नहीं कहता कि वह कार्य कभी हुआ ही न था। इसी प्रकार ऐसे कई लोग होते हैं, जिनके साहित्य का जीवन के साथ उतना मेल नहीं होता जितना होना चाहिए। यही नहीं, चारित्र्य पर लिखनेवाले चरित्रहीन भी पाए गए हैं और राष्ट्र-धर्म पर लिखनेवाले राष्ट्रीयता से शून्य। इसका सार यही है कि साहित्य का जो प्रतीक उन्होंने अपने सम्मुख रखा है, वह उनके जीवन से ओत-प्रोत नहीं हो सका है, और जबतक यह स्थिति है, तबतक वह प्रतीक भी निष्प्राण-सा है। किन्तु इससे साहित्य और जीवन की विमुखता सिद्ध नहीं होती। इसका तो सिर्फ यही अर्थ होता है कि उस कार्य का जीवन पर जो प्रभाव पड़ा है, वह चिरस्थायी नहीं हुआ है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि कोई भी कार्य जो जीवन में ओत-प्रोत नहीं हो पाया है, अपने एक-दो बार के आविर्भाव से जीवन-निर्माण की क्षमता नहीं पा सकता। यही नहीं, सच्चे अर्थों में जीवन को महान् बनाने के लिए जितनी आवश्यकता प्रतीक की है उतनी ही आवश्यकता प्रतीक को अपने में मिला लेने की है—यानी प्रतीकमय बन जाने की है।

'साहित्य के द्वारा जीवन तभी महान् बन सकता है जब साहित्य का जीवन पर पड़ने-

वाला प्रभाव चिरस्थायी हो ; तभी वह जीवन को एक प्रकार की शक्ति दे सकता है। आख़िर साहित्य किस लिए है ? साहित्य जीवन को बनाने के लिए, दूसरों के जीवन को समझने के लिए, मनुष्य-मनुष्य के बीच के सम्बन्ध के सच्चे अर्थ का पता लगाने के लिए, सृष्टि के गर्भ में स्थित शक्ति का अनुभव करने के लिए, मूल्य-परिवर्तन के लिए, युग-धर्म की स्थापना के लिए नई रचना के लिए, नव-निर्माण के लिए, प्रगति के लिए, और एक कल्याणकारी प्रेम सृष्टि के विश्वव्यापी आविर्भाव के लिए है। साहित्य एक ऐसे वातावरण को जन्म देता और उसे सुलभ बनाता है, जिसमें मनुष्य मनुष्य से मिल सके—और मिल सके, देश, जाति, रंग, प्रतिष्ठा, वय, विद्वत्ता और स्त्री-पुरुष के भेद के बिना। पोलैण्ड के एक ग़रीब गाँव का अकिंचन साहित्यकार लंका के एक भिखारी कवि से मिलता है—शब्दों द्वारा—और ये दोनों अपने बीच एकता का, अभेद का अनुभव करते हैं। दोनों इस बात को महसूस करते हैं कि क्या पोलैण्ड में और क्या लंका में, सब कहीं, पानी को बर्फ़ बना देने-वाली कड़ाके की सर्दी में उतने ही मनुष्य ठिठुरते हैं, जितने कभी न ठिठुरने चाहिएं। दोनों समझते हैं कि यह व्यवस्था ठीक नहीं है। दोनो इस के गर्भ में उस भविष्य को देखते हैं, जब वसुन्धरा को रक्त की नदियाँ न पीनी पड़ेंगी। ये दोनो कवि काव्य रचते हैं ; इन दोनो की विचार-सृष्टि देश-भेद के कारण भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है, फिर भी साहित्य का आन्तरिक रूप तो सब देशों में और सब समयों में एक ही था, और एक ही है। साहित्य जीवन के किसी भी रूप को निस्तेज नहीं देखना चाहता। जब मनुष्य मनुष्य को नहीं समझता, तो उससे एक प्रकार की अव्यवस्था पैदा होती है, और यही अव्यवस्था है जो हमारे जीवन के सारे सौन्दर्य को खा जाता है। सौन्दर्य और कला साहित्य के दो ख़ास शब्द हैं। इनका उपयोग आलस्य या विलास के लिए नहीं है, बल्कि जीवन के आन्तरिक सम्बन्धों से जो योजना बनती है, उस योजना के लिए है। जहाँ सौन्दर्य है, कला है, साहित्य है, वहीं जीवन भी होता है। और ये सब—सौन्दर्य, कला और साहित्य—वहीं होते हैं, जहाँ मनुष्य-मनुष्य को समझता है।

'मनुष्य के सभी कार्यों को यदि यंत्रवत् न बनाना हो, तो समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इतना आराम और अवकाश मिलना ही चाहिए कि जिससे मनुष्य अपने कार्य के बारे में कुछ समझ सके और कुछ सोच सके। घासलेटी साहित्य का उपेक्षा या तिरस्कार करने से उसका नाश न होगा ; 'सेक्स' या 'सिनेमा' के प्रति घृणा व्यक्त करने से उनका व्यक्तिगत सेवन और परिशीलन बन्द न होगा। जब ऐसे प्रत्येक विषय को मनुष्य के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया जायगा तभी पता चलेगा कि जनता की शुद्धि का कितना उत्तरदायित्व साहित्य पर है। और इसी कारण जिस जनता का अपना सच्चा साहित्य नहीं होता, उसका अपना कोई सच्चा जीवन भी नहीं हो सकता।'

तमिष्

विश्वविद्यालय और सहशिक्षा

'स्वदेशमित्रन्' साप्ताहिक के २ मई के अंक में श्री० के० रामनाथन् ने उपर्युक्त शीर्षक से एक खोजपूर्ण लेख लिखा है, जिसका सारांश हम नीचे दे रहे हैं—

'कई लोगों की यह राय है कि सहशिक्षा की प्रथा पहले-पहल विदेशों में चली और वह हमारे लिए एकदम नई है। लेकिन इस प्रथा को सर्वप्रथम क़ायम करने का अलौकिक श्रेय तमिषों

को है। × × × कहा जाता है कि पुराने ज़माने में असीरिया, मेसने, बाबिलोन आदि कई जगहों में पुष्प-किरीट-धारिणी पुजारिनें पुरुषों के साथ विश्वविद्यालयों में सम्मिलित होती थीं। पर हमें ज्ञात नहीं कि यह बात कहाँ तक सच है। लेकिन पहले-पहल तमिषनाड में ही स्त्रियाँ पुरुषों के साथ साहित्य-सेवा में लगीं। तिरुवांचिक्कुलम् में, जो एर्नाकुलम् से क़रीब बीस मील के फ़ासले पर है, पहले-पहल सहशिक्षा की प्रथा चली। इस नगर का पुराना नाम 'वांची' था।

'ईसा की पहली शताब्दी में निर्मित (तमिष भाषा के) संघ-साहित्य में कई स्थानों में 'वांची' का उल्लेख है। कोवलन् (शिलप्पधिकारम् का नायक) और माधवी की बेटी मणिमेखला ने बारह साल तक वांची में ही कला का अध्ययन किया था। चोल-चित्रों और 'तमिषों की सभ्यता' नामक खोजपूर्ण ग्रन्थ से पता लगता है कि वांची में एक बृहद् विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई थी और उसमें भिन्न-भिन्न कलाओं के लिए अलग-अलग पाठ थे। इस विश्वविद्यालय की अधीनता में जितने कॉलेज थे सब में सहशिक्षा की प्रथा प्रचलित थी और वसति-गृहों का भी निर्माण हुआ था।

'प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हेवल ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—"हिन्दुस्तान की साहित्य-वृद्धि उस ज़माने में शैशवावस्था में नहीं थी। समग्र एशिया की साहित्य-वृद्धि का शिरोमणि होने के अलावा, पुराने सभी विश्वविद्यालयों की शिक्षा-पद्धति में नियम-बद्धता लाने का श्रेय भारत को ही मिला है। प्राचीन भारत ने साहित्य की इतनी बड़ी सेवा की है कि उसकी कल्पना हम आज स्वप्न में भी नहीं कर सकते।"

'उस काल में शिल्प, चित्र, दस्तकारी, गणित, खगोल, वैद्यक आदि कई कलाएँ सिखाने के कॉलेज थे। नालन्दा के विश्वविद्यालय में सौ से अधिक वर्गों में वेदान्त और धर्म का अध्ययन हो रहा था; तथा कांची, तक्षशिला, सारनाथ, काशी आदि स्थानों में भी विश्वविद्यालय थे।

'ईसा की सातवीं शताब्दी में भारत की यात्रा करनेवाले हिवान-स्वांग ने इनका वर्णन बहुत ही सुन्दर शब्दों में किया है। उन्होंने लिखा है—"ये सुन्दर रंग-बिरंगे मंदिर हैं, जिनके स्तम्भों में आश्चर्यकारक और मनमोहक चित्र चित्रित हैं; ये लाल कमलों से भरे, निर्मल जलपूरित तड़ाग हैं, जैसे नीले आसमान में चारों ओर तारे छिटक रहे हों।" प्रकृति-देवी ही कवियों की सृष्टि करती हैं। वह सर्वाभरणालंकृता होकर उन दिनों कला देवी के साथ विहार कर रही थीं।

'हारून-अल-रशीद और ख़लिफ़ मामून ने कई विश्वविद्यालय खोलने की कोशिश की थी। उन्होंने सीरिया के मिशनरियों और काश्मीर के हिन्दू पण्डितों को बुलवाकर उनके द्वारा ग्रीक, संस्कृत आदि भाषाओं के उत्तम ग्रंथों का अनुवाद अरबी और फ़ारसी में कराया था। उस ज़माने में जब कि इस्लामी साहित्य उच्च शिखर को पहुँच गया था, दमास्कस, बग़दाद, इस्पहान, सेविल गार्डोवा, सॅलमान्का वग़ैरह जगहों में विश्वविद्यालय थे। लेकिन खोज करने पर यही विदित होता है कि इन विद्यापीठों में स्त्रियों को अध्ययन करने का अधिकार न था और उन दिनों स्त्री-शिक्षा की उन्नति नहीं हुई थी।

'स्त्री-शिक्षा के महत्व को जाननेवाले सर्वप्रथम विदेशी इटालियन ही थे। × × × बारहवीं शताब्दी में अर्थात् नालन्दा विश्वविद्यालय स्थापित होने के क़रीब १२०० वर्ष के बाद, फ़ारस के विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। बाद में स्थापित ऑक्सफ़ोर्ड, कॅम्ब्रिज आदि सभी यूरोपीय विश्वविद्यालयों के लिए यही आदर्श-स्वरूप था। लेकिन ये प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयों से भिन्न थे।

'नालन्दा की रीति ही कुछ निराली थी। ७०० वर्षों तक कलाध्ययन करके जानेवाले छात्रों में कोई भी कमी नहीं पाई जाती थी। क्या अमीर और क्या ग़रीब, सब एक साथ पढ़ाये जाते थे। वहाँ के नियम और शील स्तुत्य थे। लेकिन विदेशों की बात कुछ और थी। वहाँ के विद्यापीठ स्वार्थ-साधन करनेवाले छोटे-छोटे संघ थे। वहाँ के विद्यार्थी लोग स्वेच्छा से फिरते थे। उन्हें न परीक्षाओं की चिन्ता थी और न चारित्र्य का पालन करने की नियति। वे ऐश-आराम और खाने-पीने में ही दिन बिताते थे। उनको देखकर स्त्रियों को भय लगता था। भला, ऐसी जगहों में स्त्री-शिक्षा का प्रचार कैसे होता?

'अब ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय की बात लीजिए। रसायन-शास्त्री बेकन कारागृह में डाला गया; धर्म-सुधार का प्रयत्न करनेवाला वैक्लिफ़ फाँसी पर लटकाया गया; उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रोटेस्टेंट के द्वेष और कथोलिक लोगों के लिए यहाँ स्थान ही न था; हाल में ही साम्यवादियों पर कितनी ही पाबन्दियाँ लगाई गईं; इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि यह कितना पिछड़ा हुआ है। यहाँ स्त्री-शिक्षा के लिए स्थान ही कहाँ? बिल्कुल नहीं।

'कैंब्रिज भी उसी के समान था। × × × ये दोनों विश्वविद्यालय धर्म-प्रचारकों के हाथ में मठों की तरह थे। यहाँ की शिक्षा-परिषदें पैसे को हज़म कर लेती थीं; कला का प्रकाश ही यहाँ नहीं था।

'इसी मन्दी के ज़माने में ग्राग्राम, जर्मिफेन्दाम, डेविड ह्यूम आदि ने लण्डन में विश्व-विद्यालय स्थापित किया। यहाँ शुरू से ही पुरुष और स्त्रियों को समानरूप से विद्याध्ययन करने का अधिकार था। लोग दुनिया के कई भागों से यहाँ आकर पढ़ने लगे। अब भी वह विश्व की एकता का द्योतक है। बाद के सभी विश्वविद्यालयों का यही आदर्श बना।

'स्त्री-शिक्षा की आँधी के सामने ऑक्सफ़ोर्ड ने सिर झुकाया। लेकिन कैंब्रिज ने अपने पुराने नियम को न छोड़ा। फिर १८८०-८२ में बने हुए क़ानूनों से कला की उन्नति में बड़ी सहायता मिली।

'मैं सहशिक्षा का हिमायती हूँ। लेकिन कॉलेजों में वसति-गृहों का रहना मुझे पसन्द नहीं है। वसति-गृह और सहशिक्षा परस्पर विरुद्ध हैं। इस ज़माने के लिए दोनों का एकत्र रहना उचित नहीं है। सहशिक्षा की भलाइयों और बुराइयों का निर्णय करना विद्वानों का काम है। मेरा मत यही है कि मणिमेखला जैसी वनिताएँ पुरुषों के साथ ही समान अधिकार से कला-मंदिर को सजावें और कला को मधुर और उज्ज्वल बनावें। तमिषनाड के लिए यह कोई नई बात नहीं है, क्योंकि इस प्रान्त के साहित्य को कवियों के साथ कवयित्रियों ने भी विभूषित किया है।'

हिन्दी

व्यवहार-धर्म

श्रीमती महादेवी वर्मा के अपने मौलिक विचार हैं, जिन्हें वे आडम्बर-रहित भाषा में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करती हैं। आपका अग्रलेख 'व्यवहार-धर्म' चाँद के मई १९३७ के अंक में निकला है। वह बड़ा उपयोगी है। उसी में से हमने उसका आवश्यक अंश ज्यों का त्यों ले लिया है—

'यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में दो भिन्न व्यक्तित्व अवश्य रहते हैं। एक से वह

अपने आध्यात्मिक जीवन में विकास पाता है और दूसरे से व्यावहारिक जीवन का प्राणी बना रहता है। परन्तु जब तक मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से व्यावहारिक जीवन प्रभावित नहीं होता, उसका अनुगमन नहीं करता, तब तक उसका चरित्र अपूर्ण और कार्य अनिश्चित रहता है। आध्यात्मिक जीवन का प्रत्यक्ष उपयोग इसी में है कि वह हमारे व्यावहारिक जीवन के संकुचित दृष्टिकोण को उदार और विस्तृत बना सके, स्वार्थ-प्रधान कठिनता को कोमल कर सके और व्यक्तिगत अनुदारता को अक्षय सहानुभूति में परिणत कर सके। यदि मनुष्य का व्यावहारिक जीवन उसके आन्तरिक जीवन से बिल्कुल भिन्न और दूर रहे तो उसका परिणाम सामाजिक कल्याण होना सम्भव नहीं।

'वास्तव में धर्म आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन के सामञ्जस्यपूर्ण सहयोग या संसर्ग से उत्पन्न कुछ ऐसे सिद्धान्तों का समूह है, जिससे हम जीवन धारण और मानवता का सामाजिक विकास करते हैं। यदि यह सिद्धान्तों का समूह हमारे सामाजिक जीवन और व्यावहारिक जगत् को स्पर्श न कर सके तो इसे निष्फल और निष्प्रयोजन समझना चाहिए।

'हमारे आज के सामाजिक जीवन की सब से बड़ी त्रुटि और सब से बड़ी हार यही है कि हम धर्म को अपने व्यवहार में नहीं ला सके, वरन् उसे विचार-जगत् तक ही सीमित रख कर सन्तुष्ट हो रहे हैं।

'जिस प्रकार आधुनिक शिक्षा हमारी नवीन पीढ़ी के जीवन में न घुलकर बालू की तरह उसके तल में बैठती जा रही है, उसी प्रकार धर्म भी जीवन-तल में जमता जा रहा है। वह जीवन को तबतक मधुर बनाने में समर्थ नहीं हो सकता जबतक उसमें मिश्री के समान घुल नहीं जाता। किसी समय ऐसा अवश्य ही रहा होगा, अन्यथा हम विकास की उस उन्नत स्थिति और अन्तिम सीढ़ी तक किसी प्रकार भी न पहुँच पाते।

'आज हमारा जीवन अधिक दयनीय इसी कारण है कि धर्म हमारा मानसिक विलास और आध्यात्मिकता हमारे मस्तिष्क का अलंकार मात्र रह गई है। जिन सिद्धान्तों के साँचे में जीवन को ढलना चाहिए वे उस पर भार बन कर उसका विकास रोक रहे हैं। हम अपनी मानसिक सम्पत्ति का कोई उपयोग नहीं जानते और न आगामी पीढ़ी को इस विषय में कुछ सिखा ही सकते हैं। हमारा सारा प्रयत्न अपने मत या सम्प्रदाय के अनुसार उन थोड़े से शुष्क और निर्जीव सिद्धान्तों को रटा देने में ही समाप्त हो जाता है जो हमारे समान उनके भी मस्तिष्क के कोष में संगृहीत रहते हैं। यह हमारा मानसिक वैभव हमारे व्यावहारिक जीवन की दरिद्रता नष्ट करने में किसी प्रकार भी सहायक नहीं होता, अतः युगों से हम एक अर्थ में सम्पन्न और पूर्ण तथा दूसरे में दरिद्र और अपूर्ण रहते चले आ रहे हैं। यह प्रत्यक्ष सत्य यदि हम समझ पाते, यह अभाव यदि हम पहचान जाते, इस आवश्यकता का यदि हमें बोध होता और इस त्रुटि के परिणामों को यदि हमारी दूरदर्शिता दिखा सकती तो आज इतनी समस्यायें हमें न घेरे होतीं। वामन के कन्धों पर रखे हुए विराट के मस्तक के समान हमारा आध्यात्मिक विकास हमारे व्यावहारिक जीवन की दुर्बलता पर प्रतिष्ठित होकर उसे अपने भार से कुचले डालता है। उसे देखकर चाहे किसी को विस्मय हो सके, परन्तु आनन्द नहीं हो सकता, क्योंकि वह सम्पूर्ण जीवन को परिपूर्ण और उपयोगी बनाने में असमर्थ है।

'हमारे विचार तथा जीवन के पारस्परिक विरोध का स्वाभाविक परिणाम हमारी वह नैतिक दुर्बलता है जिसका अनुभव हमें प्रत्येक कार्य में होता रहता है। हमारी सारी क्रियात्मक शक्ति मानसिक वैभव के एकत्र करने और उसकी वृद्धि के प्रयत्न में व्यय हो जाती है और व्यावहा-

रिक जगत् में हम नितान्त दरिद्र के समान प्रवेश करते हैं। हम न सम्मान से मरना जानते हैं और न सक्रिय गौरव से जीवित रहने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, क्योंकि यह गुण ऐसी विषम परिस्थिति में पनप ही नहीं सकते। इसे स्पष्ट करनेवाले उदाहरण हम नित्य देखते रहते हैं, चाहे उन पर हमने कभी विचार किया हो या न किया हो। स्त्रियों पर लालसामयी दृष्टि डालते घूमना गर्हित मानसिक व्यभिचार है, यह विचार हमारे मानसिक कोष में विशेष स्थान रखता है। हमारे यहाँ का प्रत्येक पुरुष इस सिद्धान्त के अप्रत्यक्ष रूप से इतना परिचित है कि वह किसी को अपनी इस दुर्बलता की ओर संकेत मात्र करते पाकर लज्जित और अप्रतिभ हो उठता है। परन्तु इस अनेक युगों से बने संस्कार के अनुरूप कार्य करना उसके लिए कष्टसाध्य अवश्य है। वह जानकर भी इस दुर्बलता को पराजित करने की शक्ति एकत्र नहीं कर पाता और प्रायः व्यवहार में ऐसी चेष्टाएँ कर बैठता है, जो उसकी मानसिक स्थिति का समर्थन नहीं कर सकतीं। प्रायः ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो अच्छी भावना रख कर अच्छा आचरण नहीं करते या जो बुरा आचरण करते हुए भी बुरी भावना नहीं रखते। किसी व्यक्ति की अभद्र चेष्टा देखकर यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि इसके मानसिक कोष में एक ऐसा पारस सिद्धान्त है, जो प्रत्येक कुचेष्टा का रूप ही बदल सकता था।

'अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा हमारी जाति मानसिक वैभव में दरिद्र है, यह नहीं माना जा सकता; परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके वे सिद्धान्त दीर्घकाल के अनभ्यास से निष्क्रिय हो गए हैं, जिनसे नैतिक दुर्बलता पराजित और उपयुक्त व्यवहार-धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा हो सकती थी। हममें उस व्यवहार-धर्म का नितान्त अभाव हो गया है, जिससे जीवन जीवन बन सकता।

'हमारी जाति मानो तमाशबीन बालकों की जाति हो उठी है, जो कौतूहल में बार-बार पाठ भूलती रहती है। हम जब किसी दीन असहाय को सहायता की अपेक्षा करते पाते हैं, तब हमारे हृदय में हल्की-सी कसक उठती है, उसकी सहायता के लिए धीमी-सी प्रेरणा भी होती है, परन्तु इन सब से प्रबल कौतुक का भाव रहता है, इने-गिने व्यक्ति ही उस क्षणिक प्रेरणा से लाभ उठाते हैं। साधारण नियम तो यही है कि हम कुछ समय तक उस आपत्तिग्रस्त को कौतुक से देखें और फिर किसी अपने आवश्यक कार्य का ध्यान कर, हृदय के कोने में छिपी हुई उस प्रेरणा को किसी अन्य अवसर की प्रतीक्षा में छोड़ दें। जीवन में निरन्तर इसी प्रकार करते-करते अब हमारी आंतरिक प्रेरणा इतनी निष्क्रिय हो उठी है कि किसी अवसर पर भी हम वह नहीं कर पाते जो प्रत्येक मनुष्य को मनुष्य बने रहने के लिए करना चाहिए। हमसे किसी अन्य आपत्तिग्रस्त या व्याधि-पीड़ित व्यक्ति को, माँगने पर भी, प्रायः उचित अवसर पर कठिनता से ही सहायता मिल सकती है। हम तो मानो तब तक इस विशाल रंग-मञ्च के कौतुकी दर्शक मात्र रहते हैं, जब तक हमें स्वयं कौतुक का साधन नहीं बनना पड़ता। एक बार एक छोटे स्टेशन से कुछ दूर किसी देहाती बालक के दोनों पैर ट्रेन से कट गये। उसे देखने के लिए इतनी भीड़ एकत्र थी कि कुछ सूझ नहीं पड़ता था, परन्तु उन एकत्र व्यक्तियों में से कोई भी व्यक्ति उस बालक को छूने और डॉक्टर के पहुँचने तक उसे छाँह में लिटाने के लिए आगे नहीं बढ़ रहा था। उस समय एक विदेशी मिशनरी के शब्द थे—"यह जाति प्रत्यक्ष को भी सत्य न समझने की विशेषता रखती है।" उस समय तो यह शब्द प्रिय नहीं लगे, परन्तु तब से अब तक उन शब्दों में छिपे हुए सत्य के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं और परिस्थिति ऐसी ही रहने पर भविष्य में भी मिलते रहेंगे। प्रश्न यही है कि हम सिद्धान्तों के इतने भारी बोझ का कौन-सा उपयोग कर रहे हैं। सारे सिद्धान्त किसी एक सत्य के अनुसन्धान

के मार्ग में मील के पत्थर हैं, कुछ अन्तिम लक्ष्य नहीं। इनकी उपयोगिता यही है कि हम अपने लक्ष्य की निकटता और चले हुए मार्ग की सीमा निर्धारित कर सकें। केवल इन्हें एकत्र कर रख लेने से मनुष्य-जाति विकास के मार्ग में न बढ़ सकी है और न बढ़ सकेगी। देवमूर्ति का भार ढोने वाला पशु साधक नहीं कहला सकता। साधक तो वही रहेगा जो उस मूर्त्ति को साधन बना कर अपने इष्ट देवता के निकट पहुँचने का प्रयास करता हो। जिससे हम पूर्ण मनुष्य तक नहीं बन सके, उस भार को लेकर हम किस लक्ष्य की सिद्धि कर सकेंगे, यही समस्या है।

'जीवन के आदि से उसके अन्त तक हम केवल मानसिक वैभव के संग्रह में लगे रहते हैं, परन्तु उसका उपयोग करने के अभ्यास की ओर हमारा कभी ध्यान नहीं जाता। परिणामतः हमारे जीवन में वह सक्रियता नहीं आती, जिससे व्यावहारिक जीवन में पूर्णता और सामञ्जस्य उत्पन्न हो पाता। जिस धार्मिक निष्क्रियता में हमने अपनी पूर्णता समझ ली है उसी को हम अपनी सन्तान में जागृत कर देना चाहते हैं। अभाग्य से हमारी आगामी पीढ़ी की शिक्षा-दीक्षा का न पूर्ण उत्तरदायित्व हम पर है और न इस सम्बन्ध में हम पूर्ण स्वतन्त्र ही कहे जा सकते हैं; परन्तु जिस अंश तक हमारा अधिकार है उस अंश तक भी हम अपने कर्तव्य के पालन में समर्थ नहीं। अपनी निकटतम वस्तुओं को देखते-देखते हमारी दृष्टि इतनी कुण्ठित और अदूरदर्शिनी हो उठी है कि हम सुदूर भविष्य के उस मनुष्य-समाज तक नहीं देख सकते, जिसमें मनुष्य को मनुष्य बन कर ही जीने का अधिकार होगा।

'हम भविष्य में नागरिक बननेवाली सन्तान को अपने शुष्क सिद्धान्तों का पाठ कराते हैं, मन्त्रों को कण्ठस्थ कराते हैं, परन्तु उन सिद्धान्तों के सक्रिय प्रयोग से उन्हें अपने ही समान अनभिज्ञ रखने में कुण्ठित नहीं होते। हमारी एकान्त कामना यही रहती है कि हमारी सन्तान भी पूर्वजों की मानसिक सम्पत्ति और विचार-वैभव की पहरेदार मात्र रहे। हमारे प्राचीन से प्राचीन सिद्धान्त भी सत्य के अनुसन्धान में प्रयोग मात्र हैं, जिनका उपयोग मानव जाति को सत्य की खोज में आगे बढ़ाना है, यह हम भूल चुके हैं। ऐसी स्थिति में हम व्यवहार-धर्म की दृष्टि से यदि औरों से इतने पीछे रह गये तो यह आश्चर्य का विषय नहीं। आश्चर्य तो तब होता जब हम अपने पूर्वजों से एक पग भी आगे बढ़ सकते।'

• • •

समाज-भावना, व्यावहारिक ज्ञान और आत्मग्लानि

काशी विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका 'विद्यापीठ' में विचारपूर्ण तथा विचार-वर्द्धक लेखों का अच्छा संग्रह रहता है। पौष तथा चैत्र १९९२ के अंक में हमारे परिचित श्री राजाराम शास्त्री का एक उपयोगी लेख उपर्युक्त शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। उसमें 'आत्मग्लानि' (Inferiority Complex) का अच्छा विवेचन है:—

'मानसिक व्याधियों में आत्मग्लानि का बढ़ा हुआ रूप दिखाई देता है, जैसे चिन्ता-रोगग्रस्त व्यक्ति सदैव अपने साथ किसी अन्य व्यक्ति को रखने का प्रयत्न करता है और स्वभावतः उसकी वह इच्छा पूरी हो जाती है। लोग उसके साथ व्यस्त रहते हैं। उसी को सँभालते रहते हैं। यहीं पर हम आत्मग्लानि और आत्मश्लाघा के बीच का परिवर्तनकाल देखते हैं। दूसरों की सेवा प्राप्त करके विक्षिप्त व्यक्ति महत्ता का अनुभव करता है। इसी प्रकार विक्षिप्त व्यक्ति भी अपनी कठिनाइयों के कारण कल्पना का आश्रय लेकर ही अपने को बड़ा समझने में सफल होता है।

'इन सब बातों से पता चलता है कि आत्मग्लानि-ग्रस्त व्यक्ति अपनी बढ़ी हुई कठि-

ाइयों का मुक़ाबला न कर सकने के कारण वास्तविकता को छोड़कर कल्पना का आश्रय लेता है और उसी में अपनी सफलता समझता है। कल्पना का आश्रय आंशिक या पूर्ण हो सकता है। ांशिक वह जहाँ किसी छोटी बात को व्यावहारिक औचित्य से अधिक महत्व दे दिया जाता है और पूर्ण वह जहाँ वास्तविकता का ज़रा भी आधार नहीं होता। साधारण मानसिक दोष और न्माद में यही अन्तर है। कल्पना का जितना ही अधिक सहारा लिया जाता है, जीवन उतना ही धिक अनुपयोगी होता है। अनुपयोगी जीवन की यही विशेषता है कि उसमें कल्पना और वास्त-विकता का विवेक नहीं रह जाता। जैसे पहले बतलाया गया है, सामाजिक मूढ़ता साहस-हीनता ी सहगामिनी है। दुराचारियों में यह बात बड़ी अच्छी तरह दिखाई देती है। वे कायर और मूढ़-द्धि होते हैं। उनकी कायरता और सामाजिक मूढ़ता एक ही प्रकृति के दो अङ्ग हैं। कल्पना से न्तोष-लाभ करना भी सामाजिक मूढ़ता का ही परिणाम है।

'मद्यपान की भी यही मीमांसा है। मद्यप अपनी समस्याओं से मुक्ति चाहता है और वह ना कायर होता है कि इष्ट-सिद्धि की कल्पना से ही सन्तुष्ट हो जाता है। अर्थात् अनुपयोगी जीवन ं जो कुछ तृप्ति उसे मिलती है उससे ही उसका काम चल जाता है।

'ऐसे व्यक्तियों का सम्पूर्ण दृष्टिकोण और उनके सारे सिद्धान्त साधारण व्यक्तियों के ाहसपूर्ण दृष्टिकोण तथा उनकी सामाजिक और व्यावहारिक बुद्धि से सर्वथा विभिन्न होते हैं। दाहरण के लिए दुराचार-वृत्तिवाले सदा बहाने बनाते रहते हैं और दूसरों को दोष देते रहते हैं। भी वे मज़दूरी की गिरी दशा का उल्लेख करते हैं, कभी समाज की निर्दयता की चर्चा करते हैं, योंकि वह उनका भरण-पोषण नहीं करता। अथवा वे कहते हैं कि पापी पेट से रक्षा नहीं। उसका ासन मानना ही पड़ता है। उसे दबाया नहीं जा सकता है—"इयमुदरदरी दुरन्त पूरा यदि न ावेद्यिमानभङ्गभूमिः।" सज़ा पाने पर वे सदैव कोई न कोई बहाना इस प्रकार का निकाल लेते हैं, ासे बालकों की हत्या करने वाले हिकमैन ने कहा था कि "यह काम ऊपर की एक आज्ञा से किया या था।" एक दूसरे हत्यारे ने सज़ा पाने पर कहा—"जिसे मैंने मारा है ऐसे लड़के का क्या उप ोग? ऐसे लाखों दूसरे लड़के मिलेंगे।" कुछ लोग बिल्कुल ही दार्शनिक भाव से यह दावा करते कि "किसी धनी बुढ़िया को, जिसके पास बहुत-सा धन है, मार डालने में कोई बुराई नहीं जब क इतने काम के आदमी भूखों मरते हैं।"

'इस प्रकार की युक्तियाँ हमें असङ्गत और कमज़ोर प्रतीत होती हैं और वास्तव में राधार हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण का कारण अनुपयोगी और असामाजिक आदर्श है। इस ादर्श के चुनाव का कारण साहसहीनता है। ऐसे व्यक्तियों को हमेशा अपना समर्थन करते रहना ड़ता है। किन्तु उपयोगी जीवन के आदर्श के लिए इन बातों की कोई आवश्यकता नहीं होती। म कभी-कभी किसी १६ वर्ष के युवक को स्कूल से निकाल दिये जाते हुए और निराशा के कारण ात्महत्या कर लेते देखते हैं। आत्महत्या समाज के प्रति एक प्रकार का आक्षेप या दोषारोपण है। ह व्यावहारिक बुद्धि के बजाय निजी बुद्धि से उस युवक का आत्मसमर्थन करने का एक तरीक़ा । ऐसी स्थिति में इतना ही कहना आवश्यक है कि उस युवक को अनुपयोगी जीवन से उपयोगी ीवन के मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय।'

ाष्ट्रीय शिक्षा का मूलतत्व

श्री महादेव देसाई ५ जून १९३७ के 'हरिजन सेवक' में उपर्युक्त शीर्षक से लिखते हैं—

'सिथल में गत २२ मई को गुजरात के राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों के अध्यापकों की

एक छोटी-सी परिषद् हुई थी। परिषद् के संयोजक ने आमंत्रित सज्जनों के पास यह प्रश्नावली भेजी थी—

(१) हमारे गाँवों की आवश्यकताओं के लिए सबसे उपयुक्त और लाभदायक शिक्षा कौन-सी है ? ऐसी शिक्षा को हरेक गाँव में किस तरह फैलाया जाय ?

(२) जनता की निरक्षरता और अज्ञान को किस तरह दूर किया जाय ?

(३) बौद्धिक विकास के लिए साक्षरता क्या ज़रूरी है ?

(४) औद्योगिक शिक्षण को समस्त शिक्षा का मध्यबिन्दु बनाने की आवश्यकता।

(५) मौजूदा राष्ट्रीय स्कूलों का भविष्य।

(६) बालकों को उनकी मातृ-भाषा द्वारा समस्त शिक्षा देने की शक्यता।

(७) मौजूदा स्कूलों में राष्ट्रीय शिक्षा के किन मूलतत्वों की कमी है ?

(८) प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के प्रारंभिक वर्षों में हिन्दी-हिन्दुस्तानी को लाज़िमी बनाने की आवश्यकता।

'इन प्रश्नों पर अपने विचार ज़ाहिर करने के लिए गांधी जी को भी बुलाया गया था। उन्होंने कुछ व्यक्तिगत उदाहरण देकर अपने विचार प्रगट किये। नीचे मैं उन विचारों को संक्षिप्त करके देता हूँ। उदाहरणों को छोड़ दूँगा, क्योंकि वे साधारण पाठकों के मतलब के नहीं हैं।

"अगर हम ऐसी शिक्षा देना चाहते हैं, जो गाँवों की आवश्यकताओं के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो, तो विद्यापीठ को हमें गाँवों में ले जाना चाहिए। विद्यापीठ को हमें एक शिक्षणशाला में परिणत कर देना चाहिए, जिससे कि हम ग्रामवासियों की आवश्यकताओं के अनुसार अध्यापकों को शिक्षा दे सकें। शहर में शिक्षणशाला रखकर उसके द्वारा ग्रामवासियों की आवश्यकताओं के अनुसार आप अध्यापकों को तालीम नहीं दे सकते। न आप उन्हें गाँवों की हालत में दिलचस्पी लेनेवाला बना सकते हैं। शहर के लोगों को गाँवों में दिलचस्पी लेने और वहाँ रहने के लिए उन्हें तैयार करना कोई आसान काम नहीं। सेगाँव में रोज़ ही मेरा यह मत दृढ़ होता जाता है। मैं आपको यह यक़ीन नहीं दिला सकता कि हम सेगाँव में एक वर्ष रहकर ग्रामवासी बन गए हैं या किसी सार्वजनिक हित में हमने उनके साथ ऐक्य स्थापित कर लिया है।

"और प्राथमिक शिक्षा के बारे में मेरा पक्का मत यह है कि वर्णमाला से तथा वाचन और लेखन से शिक्षा का आरम्भ करने से बालकों की बुद्धि का विकास कुंठित-सा हो जाता है। जब तक उन्हें इतिहास, भूगोल, ज़बानी गणित और कताई की कला का प्रारम्भिक ज्ञान न हो जायगा, तब तक मैं उन्हें वर्णमाला नहीं सिखाऊँगा। इन तीनों चीज़ों के द्वारा मैं उनकी बुद्धि को विकसित करूँगा। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि तकली या चर्खे के द्वारा किस तरह बुद्धि विकसित की जा सकती है। अगर यह कला महज़ यन्त्र की तरह न सिखाई जाय, तो वह आश्चर्य-जनक रीति से बुद्धि का विकास कर सकती है। जब आप बालक को हरेक क्रिया का ठीक-ठीक कारण समझायेंगे, जब आप उसे तकली या चर्खे के हरेक कल-पुर्ज़े के बारे में बतायेंगे, जब उसे कपास के इतिहास का और स्वयं सभ्यता के साथ उसके सम्बंध का ज्ञान देंगे, और उसे आप अपने साथ गाँव के कपास के खेत में ले जायँगे, और जब उसे आप उसके काते सूत के एकसाँ और मज़-बूत मालूम करने का तरीक़ा सिखाएँगे, तब आप उसका दिल तो कताई की कला की तरफ़ आक-र्षित करेंगे ही, साथ ही, उसके हाथों, उसकी आँखों और उसकी बुद्धि को भी आप साधते जायँगे। इस प्रारंभिक शिक्षण को मैं छः महीने दूँगा। इतने समय में बालक शायद यह सीखने के लिए तैयार हो जायगा कि वर्णमाला किस तरह पढ़ी जाती है, और जब वह वर्णमाला जल्दी-

जल्दी पढ़ने के योग्य हो जायगा, तो वह सादा ड्राइंग सीखने के लिए तैयार हो जायगा, और जब रेखागणित की शकलें तथा चिड़ियों वग़ैरह के चित्र खींचने लगेगा तो वह अक्षरों को बिगाड़कर नहीं लिखेगा। मुझे अपने बचपन के दिन याद हैं, जब मुझे वर्णमाला सिखाई जाती थी। मैं जानता हूँ, मुझे कितनी कठिनाई पड़ती थी। किसी को यह परवा नहीं थी कि मेरी बुद्धि पर क्यों ज़ंग लगाया जा रहा है। लेखन-कला को मैं एक ललित कला मानता हूँ। छोटे-छोटे बच्चों की बुद्धि पर वर्णमाला को लादकर और उसे शिक्षा का श्री गणेश मानकर हम इस कला का गला घोंट देते हैं। इस तरह हम लेखन-कला के साथ हिंसा करते हैं, और उसके योग्य समय के पहले ही वर्णमाला सिखाने का प्रयत्न करके हम बालक की बाढ़ को मार देते हैं।

"गाँव की दस्तकारियों की तालीम को शिक्षा का मध्य विन्दु समझने की आवश्यकता और महत्त्व के विषय में मुझे ज़रा भी शंका नहीं। हिन्दुस्तान की शिक्षा-संस्थाओं में जो प्रणाली अख़्तियार की गई है उसे मैं शिक्षा नहीं कहता। वह मनुष्य की बुद्धि के सर्वोत्तम अंश को विकसित करनेवाली शिक्षा नहीं है, बल्कि वह बुद्धि का विलास है। बुद्धि को वह किसी तरह सूचनाओं से अवगत करा देती है। बुद्धि का सच्चा व्यवस्थित विकास तो शुरू से ही गाँव की दस्तकारियों द्वारा बुद्धि को शिक्षण देने की प्रणाली से होगा, और फलतः बौद्धिक-शक्ति और अप्रत्यक्ष रीति से आध्यात्मिक शक्ति का भी उसमें रक्षण होगा। यहाँ भी इससे यह न समझ लिया जाय कि मैं ललित कलाओं की बेक़दरी करता हूँ; पर मैं उन्हें ग़लत जगह पर नहीं रखूँगा। बे-ठौर रखे हुए कंचन को जो कचरा कहा है सो ठीक ही है। मैं जो कह रहा हूँ उसके प्रमाण में ढेर-के-ढेर निकम्मे और अश्लील साहित्य को पेश कर सकता हूँ, जिसकी हमारे ऊपर बाढ़-सी आ रही है, और उसका परिणाम तो एक राहचलता आदमी भी देख सकता है।'

शरत् साहित्य

पाँचवाँ भाग—मूल-लेखक, श्री शरद्चन्द्र चट्टोपाध्याय। अनुवादक, श्री धन्यकुमार जैन। प्रकाशक, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य ॥)

शरत् साहित्य के इस पाँचवें भाग में शरद्बाबू की ये छः कथा-कृतियाँ हैं—'बाम्हन की बेटी', 'प्रकाश और छाया', 'विलासी', 'एकादशी वैरागी', 'बाल्यस्मृति'।

शरद्बाबू की कहानियाँ, चाहे छोटी हों या बड़ी, चाहे लघु उपन्यास हों या बृहत्—उनकी सभी प्रकार की कृतियों में एक विशेष मनोधारा प्रवाहित है। यह मनोधारा करुणामयी है (उसमें आँखों की वर्षा का पानी है।) वह अपनी आर्द्रता से पाषाण को भी भिगो देती है और पीड़ितों तथा उपेक्षितों के प्रति हार्दिक समवेदना जगा जाती है। उनकी कृतियों को पढ़कर मनुष्य का मनुष्यत्व आत्मजागरुक हो जाता है। नाना प्रकार से, नाना कथा-प्रवाह से शरद्बाबू हमारे जीवन में इसी मनुष्यत्व को सुलभ कर रहे हैं।

उपन्यासों और कहानियों का एक ढाँचा वह है जो कथानक के वैचित्र्य से कल्पना के इन्द्रजाल में पाठकों को झुलाता है, उसके अस्तित्व को आरामपसन्द बना कर उसमें मानसिक हलकापन ला देता है—ऐसा जान पड़ता है मानो दुद्बुद् शिशु को उसका उचित समाधान न देकर नशे में सुला दिया जाय। इस प्रकार शिशु की अकाल मृत्यु होने पर सामाजिक जन-संख्या का ह्रास हो सकता है, किन्तु इससे भी भीषण ह्रास वह है जो जीवित मनुष्यों में मानसिक हल्कापन के कारण कदाचार-रूप में प्रकट हो रहा है। कलाकार यदि वास्तव में कलाकार है (और जो मनुष्य नहीं, वह कलाकार नहीं, भले ही वह अपनी कृतियों में मनुष्यत्व का अभिनय कर ले, किन्तु उसका वास्तविक रूप किसी-न-किसी स्थान पर प्रकट हो जाता है) तो वह मनुष्यता की इस मृत्यु से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह किसी धर्मध्वजी की तरह मनुष्य को मनुष्यत्व की अपेक्षा देवत्व के भार से आक्रान्त तो नहीं करेगा; आदर्शवादी बनकर उसे मनुष्य-जीवन से ऊपर का उपदेश तो नहीं देगा, किन्तु मनुष्य को उसके पाशव-अंश से सचेत करना, उसके हिये की आँखें खोल देना, जो देखा है उसे बतला देना, यह आत्मीयता का फ़र्ज़ तो वह अवश्य ही अदा करेगा। मनुष्य के स्वाभाविक मनुष्यत्व को जगा देना, क्या इसे भी हम आदर्शवाद कह कर अतिशयोक्ति करेंगे! मनुष्य के भीतर जो अनेक हिंसक जन्तु छिपे हैं उन्हें कला के कलरव से विचलित कर देना, खुरोंवाले पशुओं की-सी दुर्द्धरता को विश्व-मानव के चरणों की धूलि दे देना यह तो आदर्शवाद नहीं, यह तो कलाकार का आशीर्वाद है, यह तो मनुष्य को विजयी बनाना है, उसे मिलावटरहित शुद्ध वस्तु बना देना है, उसे उसके मौलिक रूप में उपस्थित करना है। इसे न तो हम आदर्शवाद कह लें, न हो यथार्थवाद कह लें। शरद्बाबू ऐसे ही आदर्शवादी और यथार्थवादी कलाकार हैं।

यथार्थवाद की यह मानवी झलक एवं मनुष्यता की कदर्थित विभूतियों का यह चारु चित्र-दर्शन महान् कलाकार विक्टर ह्यूगो ने एक दिन संसार के आधुनिक कथा-साहित्य में बड़ी विशदता से सुलभ किया था। इसके बाद, वैसी ही कला-दृष्टि रूसी कलाकारों की विदग्ध लेखनी में जागरूक हुई। शरद्बाबू हमारे देश में उसी मानवी कला के सर्वोच्च प्रतिनिधि हैं। किन्तु एक

अन्तर है—ह्यूगो और रूसी कलाकारों ने अपने उपन्यासों में राजनीति का चित्र-फलक ग्रहण किया, शरद् बाबू ने केवल समाज का। चित्र-फलक अलग-अलग हैं, किन्तु चित्र सबके एक ही हैं। एक ही दिशा की ओर उन्मुख हैं—उपेक्षित मानव को प्यार करने के लिए।

तो अब इन कहानियों की बात हो—

'बाम्हन की बेटी' में पुराने हिन्दू आचार-विचारों की विकृति निदर्शित है। जो वस्तुतः धर्म है, मनुष्य के लिए मनुष्य का जो सहृदय आचार-विचार है, वह तो दुर्लभ हो गया है, रह गया है ढोंग के दुर्ग में सुरक्षित रहकर सामाजिक प्रभु बने रहने वालों का हृदयहीन पाखण्ड। इस पाखण्ड के शिलाखण्ड के नीचे सरल आत्मायें चींटी की तरह कुचल दी जाती हैं, अपनी उँगलियाँ भी न कुचल जायँ इस आशंका से समाज मनोविनोद-प्रिय दर्शक मात्र बना रहता है। बात-बात में भगवान् का नाम लेनेवाला गोलक मुकर्जी 'बाम्हन की बेटी' में समाज के लिए एक ऐसा ही आतंककारी पाखण्डी है पर दुःखकातर भोलेभाले होमियोपैथिक डाक्टर प्रियबाबू,(जो दुर्घटना-वश जारज सन्तान हैं और इसी कारण उनका पुण्य भी उनका पाप बन जाता है।) उनकी सहज समवेदनामयी कन्या सन्ध्या, (जो अपने पिता के लिए चारों ओर के रोग, शोक और आपद्-सम्पद् में एक मात्र आश्वासन है और अपने शिशु-हृदय पिता के लिए अपनी माँ को भी छोड़ देती है) आततायी गोलक के मायाजाल में निरीह हरिणी की भाँति वन्दिनी अश्रुमुखी अबला ज्ञानदा, (जो रिश्ते में उसकी साली है) इन सभी मनुष्य-हृदयों को पाखण्डी गोलक के कारण किस प्रकार राह का भिखारी बन जाना पड़ता है, यह इस कहानी के करुणा-दर्पण में साश्रुनेत्रों देखा जा सकता है। अछूतों की तरह ही इन समाज बहिष्कृतों को भी हम 'हरिजन' कह सकते हैं क्योंकि भगवान के सिवा इनके आँसू पोछनेवाला और कौन है ?

'प्रकाश और छाया' तथा 'विलासी' शरद्बाबू की बहुत पहिले की कहानियाँ जान पड़ती हैं, उस समय की जब उन्होने कहानियों का अपना ढंग शुरू किया होगा। इनमें पहिली कहानी को हम एक मर्मस्पर्शी गद्यकाव्य कह सकते हैं, दूसरी कहानी को संस्मरण। इनमें शरद्बाबू की कला का वह संकेतावरण नहीं है जो कथा अभिव्यक्ति में एक गंभीरता ला देता है, बल्कि किसी मुक्तहृदय नवयुवक लेखक की वह भावुकता है जो अपने में आत्म-निगूढ़ नहीं रह पाता। विकास-क्रम से भावुक नवयुवक ही आज का प्रौढ़तम कलाकार शरदचन्द्र बन सका है, अतएव उसके क्रमिक अध्ययन के लिए ये और ऐसी ही अन्य कहानियाँ अपेक्षित हैं।

'एकादशी वैरागी' में एक मितव्ययी किन्तु ईमानदार साहूकार का चित्रण है। यौवन के किसी व्याकुल मुहूर्त्त में एक दिन उसकी बहिन के पाँव समाज के रेखा-खचित धरातल से बाहर फिसल पड़े थे, इसके कारण वह बेचारा समाज और जाति-बहिष्कृत हो गया। कुलीनों ने उसे गाँव से बाहर तो कर ही दिया, किन्तु जहाँ वह है वहाँ भी सन्तुष्ट है, समाज से निरवलम्ब होकर भी दो पैसों और दो दानों को जुटाये लेता है—भला यह कैसे देखा जा सकता है ! उसी नीच (!) आदमी के यहाँ एक दिन कुलीन नवयुवकों का एक दल चन्दा माँगने जा पहुँचा। यथेष्ट धन न मिलने पर उसकी कृपणता और नीचता को और भी स्पष्ट कर देने के लिए मानो अभी उस पर अन्डरलाइन करना बाकी था। परन्तु भगवान न जाने किसका हृदय कहाँ छिपाये रहता है। यदि हम उसे देख सकें तो संसार से न जाने कितना अन्याय और अविचार उठ जाय। अन्धा समाज देखता नहीं, क्योंकि प्रकाश को देख कर उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं और स्वयं प्रकाश से दूर भागने का नाम देता है—सामाजिक बहिष्कार। किन्तु दल के नवयुवक नायक ने देखा, इस कृपण और नीच वैरागी के पास जो कुछ है वह न तो धनाढ्यों के पास है

और न कुलीनों के। धनाढ्यों और कुलीनों ने जिस मानवता (समवेदन-शीलता) को गुदड़ी की तरह फेंक दिया है, उसे ही कृपणता-पूर्वक अपनाकर वह लोक लांछित वैरागी धनियों से भी अधिक धनी, कुलीनों से भी अधिक कुलीन हो गया है। शरद् बाबू अपनी कहानियों और उपन्यासों द्वारा इन्हीं सर्वश्रेष्ठ धनवानों, इन्हीं दुर्लभ कुलीनों को हमारी आत्मा में प्रतिष्ठित कर रहे हैं। कला के इस दिव्य पुजारी की कृतियों का जो श्रद्धा-पूर्वक आचमन करेगा, वह कज्जलवत् कलुषित होने पर भी विशुद्ध हो जायगा।

• • •

श्रीकान्त—(द्वितीय पर्व) अनुवादक, श्री हेमचन्द्र मोदी। प्रकाशक उपरोक्त। मूल्य ॥)

'श्रीकान्त' के प्रथम पर्व्व का परिचय 'हंस' के पाठकों को प्राप्त हो चुका है। उसके आगे की कथा इस द्वितीय पर्व में है।

यह 'श्रीकान्त' जीवन की आकस्मिक घटनाओं के सूत्र में सुगुम्फित सुदीर्घ चरित्र-माला है। शरद्बाबू जीवन में आकस्मिकता को विशेष मनोयोग से देखते हैं। मनुष्य जबतक कुछ सोचता-समझता रहता है तबतक न जाने किस दिशा से आकर कौन-सी हवा जीवन के प्रवाह को न जाने किन दिशाओं में आन्दोलित कर जाती है, तभी तो श्रीकान्त कहता है—'मैं यही तो बीच-बीच में सोचा करता हूँ कि क्या मनुष्य की हर एक हरकत पहले से ही निश्चत की हुई होती है?' 'श्रीकान्त' को देखने से ज्ञात होता है कि हाँ, हमारे अनजान में पहिले ही से निश्चित की हुई होती है, हम उससे अज्ञात रहते हैं और जब वह प्रत्यक्ष होने लगती है तब हमें आकस्मिक-सी जान पड़ती है, यही मानव जीवन का रोमांस है—एक संकुचित अर्थ में नहीं, बल्कि व्यापक अर्थ में। 'श्रीकान्त' इसी रोमांस को लेकर लोक-पथ पर अग्रसर होता चला जा रहा है। 'श्रीकान्त' ही क्यों, शरद्बाबू के सभी उपन्यासों में यह रोमांस कहीं वज्राघात रूप में, कहीं मृदुल-स्पर्श रूप में विद्यमान है।

जीवन का यह रोमांस लोगों को प्रायः भाग्यवादी बना देता है और बहुतों को भाग्य की ओट में अपनी निकृष्टता को छिपा लेने का एक बहाना भी मिल जाता है। शरद् बाबू भी भाग्यवादी जान पड़ते हैं, किन्तु ऐसे भाग्यवादी नहीं। उनके भाग्यवाद की फ़िलासफ़ी यह हो सकती है कि वह सुयोग ही भाग्य है जिसे मनुष्य अपने मानव रूप को सार्थक करने में सहायक बना सके। ऐसा सुयोग न मिलने पर उसकी विशेषतायें अगोचर भले ही रहें किन्तु मनुष्यता की दृष्टि से वह कंगाल या अभागा नहीं हो सकता; किन्तु इस उपन्यास के नायक श्रीकान्त की विशेषतायें अगोचर नहीं, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से उद्भूत उसके जीवन की चिनगारियाँ उसके अन्तःकरण को प्रकाशित कर रही हैं।

'श्रीकान्त' में श्रीकान्त अकेले ही परिपूर्ण नहीं है, उसके चतुर्दिक अनेक ग्रह-नक्षत्र (पात्र-पात्री) हैं, उन्हीं से वेष्ठित होकर उसका व्यक्तित्व उद्भासित है। सबसे पहिले इन्द्रनाथ धूमकेतु के रूप में प्रचण्ड स्फुलिंग लेकर श्रीकान्त के सरल किशोर जीवन के सम्पर्क में आता है और उसके जीवन-दीपक को आरती की लौ की तरह उज्वलितकर, न जाने कहाँ चला जाता है। वसुन्धरा के विस्तृत प्रांगण में प्रवेश करने से पूर्व, प्रवेश-द्वार पर ही श्रीकान्त ने अपने किशोर प्रभात में जिस देवी का दिव्य दर्शन पाया, उनका नाम था, अन्नदा जीजी। अन्नदा कौन? विषधरों को खेलानेवाले एक दुर्दान्त सपेरे की कोमलतम-कल्याणतम सहचरी एवं निष्ठुर पति के प्रति भी नारी की एक मूर्तिमयी निष्ठा। उन्हीं अन्नदा जीजी के जीवन में श्रीकांत ने हृदय की

जो विभूतियाँ देखीं, उन्हें देखकर वह निहाल हो गया। और हो गया नारी जाति के प्रति चिर-समवेदनशील। श्रीकांत की आँखों में नारी का गौरव आकाश-गंगा की भाँति उज्ज्वल कर के एक दिन अन्नदा जीजी भी इन्द्रनाथ की तरह न जाने एकाकी कहाँ चली गईं। इस प्रकार एक एक पात्र खिसकते जाते हैं। और श्रीकांत के गतिशील जीवन में नए नए पात्र उदित और विलीन होते जाते हैं। ऐसा ही तो संसार में होता है, इसीलिए यह उपन्यास हमारे जीवन के अत्यन्त निकट है।

हाँ तो, अन्नदा जीजी भी चली गईं। तब से हृदय के भीतर उन्हीं की स्वर्गीय ज्योति जगाये हुए श्रीकान्त देश-विदेश में भ्रमण कर रहा है। इस भ्रमण में परिस्थितियों की आँधी पर आँधी आती है, ऐसी कि श्रीकांत का जीवन-दीप अब बुझा तब बुझा; किन्तु जिस नारी-जाति में अन्नदा जीजी उत्पन्न हुईं थीं, उसके पृथ्वी पर शेष रहते श्रीकांत के जीवन-दीप को कौन बुझा सकता था। निदान राजलक्ष्मी और अभया उसके यात्रा-पथ में आकर उसके जीवन-दीप को अपने स्नेह से भर जाती हैं, अपनी ममता के अंचल से ढँककर उसे सुरक्षित कर जाती हैं।

यह नहीं कि श्रीकांत को अपने इस भ्रमण में देवियों की मंगल छाया ही मिली है, बल्कि मनुष्य नाम को लज्जित करने वाले पशुओं का कुवास भी मिला है, इन सब का अतिक्रमण कर ही तो देवियों की महिमा द्युतिमान है। यह उपन्यास क्या है? नारी की महिमा का ही महाकाव्य है। श्रीकान्त ने जीवन का स्रोत, युग-युग से कदर्थित-पददलित नारी के अंतःकरण में ही बहता हुआ देखा है। पुरुष तो जीवन-शून्य पाषाण हो गया है। युगों से नारी, उस पाषाण के स्तर-स्तर को अपने आँसुओं की झिरझिरी से आर्द्र करती आई है—अरे कभी तो यह जड़ सजीव हो जाय, कभी तो मनुष्य हो जाय। इसीलिए शरद् ने श्रीकांत में नारी की सार्वजनिक शक्ति को अन्नदा जीजी, राजलक्ष्मी और अभया की व्यक्तिगत करुणा, ममता और समवेदना में प्रोज्ज्वल किया है। ये तीनों अपने व्यक्तित्व में क्रमशः सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा हैं और जीवन को सार्थक करने के लिए तीनों के मार्ग अलग-अलग हैं। किन्तु समाज में जब अविचार और कदाचार बहुत बढ़ जाता है तब अभया की तरह अभय होकर उसके विरुद्ध विद्रोह किये बिना नारी-जाति का निस्तार नहीं। इसीलिए शरद् ने नारी के आदर्श को किसी एक केन्द्र में संकुचित न कर उसे यथाप्रसंग प्रस्फुटित होने का अवसर दिया है।

इस द्वितीय पर्व को हम शरद्बाबू की सम्पूर्ण कथा-कृतियों की कुंजी कह सकते हैं, इसे पढ़कर हम उनकी अन्य कृतियों के अंतस्तल में प्रवेश कर सकेंगे। हाँ, कुछ-कुछ ऐसा लगता है कि शरद्बाबू इस पर्व में उपन्यासकार उतने नहीं हैं जितने कि प्रवक्ता। कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक खुल पड़े हैं। परन्तु साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि यह केवल उपन्यास नहीं बल्कि एक जीवन-यात्री का आत्म-संस्मरण है, जिसमें चिन्तन और अन्वेषण के गंभीर विचारों का आ जाना स्वाभाविक है। न हो हम इस पर्व को 'श्रीकान्त' की एक रोचक भूमिका के रूप में ग्रहण कर लें, यह अगले पर्वों के कथा-चित्रों पर टॉर्च का काम करेगा।

इस जीवन-कथा की भाषा अत्यंत व्यंग्यात्मक है। इसकी भाषा एक ऐसी तेज़ चिकोटी का काम करती है कि प्रसुप्त तो जग जाय और जगा हुआ गतिशील हो जाय।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

• • •

सजला—लेखक, राधाकृष्ण ; प्रकाशक, श्री भुवनेश्वरसिंह 'भुवन', वैशाली प्रेस, मुजफ़्फ़रपुर। पृष्ठ संख्या १४४, मूल्य ॥=) है।

'सजला' श्री राधाकृष्ण की कहानियों का एक नया संग्रह है। इसमें पाँच कहानियाँ संग्रहीत हैं— बहन, मैना, अभागा शिक्षित, अपूर्ण आत्मा, तथा अन्त। मैना इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है और निस्संदेह एक सुन्दर रचना है। दो भाइयों के वैषम्य का कैसे एक छोटी-सी बच्ची की मृत्यु को लेकर अन्त हो जाता है, यही इस कहानी का भाव है। कहानी के सभी गुण इसमें हैं। एक मनोवैज्ञानिक सत्य का अच्छा विवेचन है। प्रकृति-पुरुष का संतान के प्रति स्नेह क्या कोई रुकावट स्वीकार करता है? मुसाफ़िर का अपने छोटे भाई की कन्या मैना के प्रति वात्सल्य स्वाभाविक है। मैना की मृत्यु के दुःख से दोनों भाई अपने पुराने वैमनस्य को भूल गले मिलते हैं जैसे विधाता ने उस एक नन्हीं-सी जान का बलिदान इसी लिए किया है कि दो परिवारों के आपस के मनमुटाव का अन्त हो जाय। कहानी में यह एक उच्च आदर्श है।

उत्कृष्ट कहानी की किसी भी परिभाषा के अनुसार 'बहन' एक उत्कृष्ट कहानी है। उसका जैनाथ बरबस ही हृदय को छूता है।

'अभागा शिक्षित' हमारी पूंजीशाही शिक्षा का एक नग्न चित्र है। किंतु कहानी के अंत तक पहुँचते-पहुँचते वह अपनी स्वस्थ सीमा को पार कर गई है। सम्भव है, ज़्यादा असर पैदा करने के लिए यह किया गया हो, किंतु यह एक ग़लत रास्ता है। कहानी में कोई भी ऐसी मृत्यु जो ज़रूरी नहीं है, इस बात का सबूत है कि लेखक ने किसी अपनी कमज़ोरी का ही प्रदर्शन इस रूप में किया है।

'अपूर्ण आत्मा' में रोज़ की होनेवाली एक घटना का ज़िक्र है। डाक्टर सुरेशप्रसाद अपनी पत्नी सरला से प्रेम नहीं कर पाए। वह एक वेश्या गुलनार के यहाँ जाते हैं। किंतु अपनी पत्नी पर अबाध अधिकार वे रखते हैं। इसलिए सरला का जीवन नितांत नीरस, आह्लादरहित और शुष्क है। सचमुच वह एक 'अपूर्ण आत्मा' है। उसका चरित्र अच्छा बना है। सुरेश के मन की कमज़ोरी भी ख़ूबी से दिखाई गई है। अन्त में वह अपने आप से क्षुभित होकर गुलनार से अलग रहने का विचार करते हैं किंतु शाम को वह किसी अज्ञात प्रेरणा से खिंचे हुए अपने आप को गुलनार के दरवाज़े पर पाते हैं। वह स्वयं इस पर आश्चर्य करते हैं। अब भला रुकने की ताब उनमें कहाँ? वह ज़ीने के रास्ते चढ़कर कोठे पर पहुँच जाते हैं। 'अंत' एक चली हुई परिपाटी की प्रेम-कहानी है। लेखक ने उसे पुरअसर बना दिया है।

श्री राधाकृष्ण की कहानियों में हमें एक अच्छी प्रतिभा मिलती है। भाषा उनकी सीधी-सादी, सरल, किंतु भावपूर्ण होती है। हास्य-रस के एक लेखक होने की वजह से वे कभी-कभी पाठक को अनायास ही अपने वर्णन से हँसा देते हैं और यह परिवर्तन एकाएक भला भी मालूम होता है। श्री राधाकृष्ण की इन पाँच कहानियों से पर्याप्त मनोरंजन ही नहीं, मस्तिष्क को भी स्वस्थ भोजन मिलेगा।

पुस्तक की छपाई-सफ़ाई अच्छी है, यद्यपि छापे की भूलें अधिक छूट गई हैं। मूल्य दस आना बहुत उपयुक्त है।

• • •

सरिता—लेखक सूर्यदेवनारायण श्रीवास्तव, प्रकाशक, यमन साहित्य निकेतन, पटना, १६३६। पृष्ठ संख्या १२६, मूल्य ॥=), सजिल्द।

'सरिता' श्री सूर्यदेवनारायण श्रीवास्तव की दस छोटी कहानियों का संग्रह है। कहा-

नियाँ अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं, दिलचस्प हैं। साधारण श्रेणी की कहानियाँ हैं, जैसी कि आएदिन अख़बारों में निकला करती हैं। 'सन्यासी' ने हमारा ध्यान आकर्षित किया किन्तु दिमाग़ पर ज़ोर डालने से पता चला कि वह रविबाबू की कहानी है। इस बात ने दुःख दिया। यह हमारे नैतिक पतन का सूचक है। भाषा-शैली, वर्णन के ढङ्ग तथा कथानक को देखते हुए हम लेखक से भविष्य में आशाएँ रख सकते हैं। 'चन्दन की कन्या' नामक कहानी में 'चन्दन की कन्या' प्रसंग देखकर हम लेखक में गद्य-काव्य लिखने की अच्छी क्षमता पाते हैं। हमने कहा, कहानियाँ मनोरञ्जक है। यही इनका सब से बड़ा गुण है।

कुछ अंग्रेजी किताबों की तरह इसमें प्रत्येक कहानी के पढ़ने का औसत समय दे दिया गया है। इससे पाठक को सुविधा होती है।

पुस्तक में सम्मतियाँ शुरू से ही इतनी एकत्रित कर दी गई हैं कि पुस्तक की ज़िम्मेदारी बढ़ गई है। लेकिन वह उस ज़िम्मेदारी को पूरी तरह निभा नहीं सकी है।

छापे की भूलें काफ़ी छूट गई हैं। हम प्रकाशकों का ध्यान छपाई की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। हिन्दी में अब शुद्ध छपाई की ओर ज़ोर देना लाज़िमी है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने जा रही है और सभी प्रान्तवाले हिन्दी को आदर की दृष्टि से देखते हैं। तो क्या हम अपनी तरफ़ से अपनी इज़्ज़त की ओर से बेपरवाह रहें? मूल्य दस आना उचित है।

'सुशील'

• • •

कौमुदी—लेखिका, शिवरानी देवी, प्रकाशक, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३७। पृष्ठ-संख्याः २२१, मूल्य १॥)।

इस संग्रह की सब ही कहानियाँ रोचक हैं और साथ ही हमारे सामाजिक जीवन के किसी न किसी पहलू पर कुछ प्रकाश डालती हैं। लेखिका ने न तो इनमें किसी ख़ास बात का प्रचार ही करना चाहा है और न यह ही दिखाया है कि बुरे को बुराई का फल तथा इसके विपरीत भले को भलाई का फल अवश्य मिलता है। कहीं कहीं हमें यथार्थवाद की झलक देखने को मिलती है परन्तु कहानियों का दृष्टिकोण प्रधानतः आदर्शवाद ही दिखाई पड़ता है।

विध्वन्स की होली, जीवन, विधवा, दो बूँद आँसू, चोर, सिंदूर की रक्षा, और हत्या कहानियाँ विशेष प्रकार से रोचक हैं और जीवन के विशेष तत्वों पर दृष्टिपात करती हैं। 'विध्वन्स की होली' में एक सुखी गृहस्थ एकाएक भूचाल के कारण निरीह और असहाय हो जाता है। निरीह माता उस समय एक बचे हुए पुत्र से कहती है, 'जीवन तुम्हारे सामने क्या है क्या होनेवाला है यह देखो। क्या हो गया है, उसे देखकर क्या करोगे? जो खो गया है उसका शोक क्या? जो कुछ बच रहा है उसकी ख़ुशी मनाओ।' इसमें जीवन के उत्थान व पतन की अच्छी झाँकी है।

'विधवा' में सुखदा के मन का कितना मार्मिक चित्रण किया गया है यह निम्न अवतरण से ज्ञात हो जायगा—

'आधी रात का सन्नाटा छाया हुआ है। सारा गाँव सोया हुआ है पर सुखदा जाग रही है। नींद को भाँति-भाँति का प्रलोभन देती है पर वह नहीं आती।

इधर महीनों से उसका चित्त चंचल हो गया है और बहुधा उसकी रातें जागते ही कटती हैं; लेकिन आज तो नींद किसी तरह नहीं आती। यही प्रश्न बार-बार मन में उठता है भगवान् ने मुझे क्यों बनाया! मनुष्य क्यों जन्म लेता है? इसलिए कि किसी तरह पेट पाले और

एक दिन मर जाय? जिस जीवन में कहीं आशा नहीं, कहीं प्रेम नहीं, कहीं आनन्द नहीं, क्या वह जीवन है? ललिता को देखो, कितनी शांति और सुख के साथ जीवन व्यतीत करती है। पति भौंरे के भाँति मडराता रहता है, बच्चे हार की तरह गले से लिपटते रहते हैं। उसने अपने सूने कमरे की ओर आँखें उठाईं। बुढ़िया माँ खाट पर पड़ी खर्राटे ले रही थी। उसका जी व्याकुल हो गया। कहाँ भाग जाय, संसार में उसके लिए कहीं प्रेम नहीं है, कहीं आश्रय नहीं है। ललिता न मेरे जैसी सुन्दर है न मेरे जैसा रंग। उसने एक जलती हुई साँस खींची और लैम्प जलाकर आइने में अपना रूप देखने लगी। उसकी आँखें सजल हो गईं। न जाने क्या सोचकर रोने लगी और रोते-रोते सो गई।'

'हत्या' शीर्षक कहानी बड़ी हृदय-विदारक है। इसमें हमारे घर में स्त्रियों की अवस्था का मार्मिक चित्र खींचा गया है। स्त्रियों की दशा घर में कूड़े के समान है और इसमें दुःख यह है कि यह प्रधानतः बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों के व्यवहार के कारण। उनके जीवन को लेखिका ने एक वाक्य में पूरी तरह अंकित कर दिया है—'एक बुढिया ने मैना को समझाया—दीदी, अब क्यों रोती हो, सलामत रहे बेटा, फिर बहू आ जावेगी!!'

चरित्र-चित्रण और हृदयगत भावों का चित्रण करने में भी बड़ी कुशलता दिखलाई गई है। उपरोक्त उद्धरण में विधवा के जीवन का कितना सजीव चित्रण है। चरित्र-चित्रण में कितनी सफलता मिली है यह निम्न अवतरणों से भलीभाँति पता लग जायगा।

'उत्तमा जीता-जागता पंचांग था। पढ़ी लिखी तो बिल्कुल न थी, लेकिन गृहस्थी की विद्या में निपुण थी।'

'उमानाथ प्रयाग के अच्छे रईस हैं। विचार नए रखते हैं; पर चलते हैं पुराने लकीर पर। समाज में जिन बुराइयों को रोते हैं वही बुराइयाँ करते हैं। छूतछात को गधापन कहते हैं पर जाड़ों में भी कपड़े उतार कर भोजन करते हैं। तर्पण की हँसी उड़ाते हैं; पर पितृपक्ष में रोज़ पिण्डा देते हैं। सूद की निन्दा करते हैं पर असामियों से कस कर सूद लेते हैं।'

पुस्तक की छपाई सफ़ाई अच्छी है।

रामस्वरूप व्यास।

सामयिक

काव्य-जगत्—

हिन्दी के लिए विगत एक वर्ष काव्यमय वर्ष था। इस एक वर्ष के भीतर अनेक महत्व-पूर्ण कविता पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है, अनेक प्रतिष्ठित कवियों की नव्यतम प्रतिभा पाठकों के सामने अवतीर्ण हुई है। इनके सम्बन्ध में विस्तार से फिर कभी लिखा जायगा, यहाँ सम्प्रति संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

छायावाद का अब तक कोई बृहत् प्रबन्ध-काव्य नहीं था; 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' ने प्रकाशित होकर इस अभाव को दूर कर दिया है। भगवान् करें, वह ऐसी ही और भी काव्य-कृतियाँ लिखने के लिए स्वस्थ हों। हिन्दी कविता में सामाजिक उल्लेखन का श्रेय आदर-णीय गुप्तजी को है। किन्तु छायावाद के भीतर युग का आह्वान नहीं सुनाई पड़ता था, अब कविवर सुमित्रानन्दन जी पन्त ने युग के सन्देश को ग्रहण कर एक नवीन काव्य-प्रणाली को जन्म दिया है, जो कि उनकी अब तक की काव्य-कला से सर्वथा भिन्न है। उनकी नवीन कविताओं का एक संग्रह 'युगान्त' नाम से प्रकाशित हो गया।

पन्त, निराला और महादेवी हिन्दी काव्य में नवयुवकों के एक विशेष कवि के रूप में प्रिय हैं। अब एक और युवक कवि बड़ी सुन्दर प्रतिभा लेकर प्रकाशित हुआ है। उसकी कविता में निराला की-सी ओजस्विता, पन्त की-सी कोमलता और महादेवी जी की-सी करुणा है। वे युवक कवि हैं श्री इलाचन्द्र जोशी। जोशीजी हिन्दी-पाठकों के लिए अपरिचित नहीं, किन्तु अब तक उनकी कविताओं का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था। अब वह 'विजनवती' नाम से पाठकों के सामने आ गया है।

हिन्दी में मुक्तक कविताओं का प्रवाह रीतिकाल से बहता चला आ रहा है। किन्तु गीति-काव्य का स्रोत प्राचीन भक्त कवियों तक ही अवरुद्ध हो गया था। अब निराला और महा-देवी ने गीति-काव्य को नवीन जन्म दे दिया है। इस दिशा में निराला जी का 'गीतिका' और महादेवीजी का 'सान्ध्यगीत' अवलोकनीय हैं। निरालाजी के गीतों में हम कबीर का-सा गंभीर रहस्यवाद पाते हैं, महादेवीजी के गीतों में मीरा का-सा माधुर्य।

बहिन तारा पाण्डेय की कविताओं का एक संग्रह 'शुकपिक' नाम से प्रकाशित हुआ है। अपनी सहज सुन्दर प्रतिभा से थोड़े ही दिनों में उन्होंने प्रचुर ख्याति प्राप्त की है।

इन नवीन काव्योपहारों के लिए हम अपने कवियों को बधाई देते हुए उनकी चिरन्तन गतिशीलता के इच्छुक हैं।

इन कविता-संग्रहों को देखकर हमें श्री माखनलाल चतुर्वेदी और श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के भी कविता-संग्रहों को प्रकाशित देखने का लोभ हो रहा है। आशा है, हमारी आशा शीघ्र पूरी होगी।

चीनी भवन, शांतिनिकेतन

शांतिनिकेतन में चीनी भवन का निर्माण अभी हाल में हुआ है। चीन और भारत की सांस्कृतिक एकता प्राचीन काल से ही चली आती है। इस एकता के कारण ही आज से सदियों पहले चीन से बहुत-से यात्री नाना प्रकार के कष्ट सह कर भारत आए थे। आज के हमारे जीवन में जो पाश्चात्य की ज्वराक्रान्त सभ्यता की बाढ़ आ पड़ी है, वह हमारी मनस्थिति के सर्वथा प्रतिकूल है। चीन भी इसी बीमारी में मुब्तिला है। वहाँ भी पाश्चात्य सभ्यता का रोग है। वह भी एक कृषि-प्रधान देश है और आबादी ज्यादा है। यही दशा भारत की है। इसलिए हमारी परिस्थितियाँ एक-सी हैं, विचार-धाराएँ भी एक-सी हैं। इस लिहाज़ से शांतिनिकेतन में एक चीनी भवन का उद्घाटन हमारे ऐक्य-सम्बंधों को मज़बूत करता है और यह एक स्वागत-योग्य प्रयत्न है। यह भवन कवीन्द्र के चीनी मित्रों की भेंट है। इसके निर्माण में ३३,०००) का व्यय हुआ है। इस भवन में एक पुस्तकालय भी रहेगा जिसमें लगभग एक लाख पुस्तकें रहेंगी जिसमें प्राचीन बुद्ध धर्म-ग्रन्थों तथा उस साहित्य का संग्रह रहेगा जिसके द्वारा हम चीन और भारत के सदियों पुराने सम्बंध को समझने में सफल हो सकें।

उद्घाटन-उत्सव बड़े समारोह से मनाया गया। उत्सव का सभापतित्व पंडित जवाहर लाल नेहरू ने स्वीकार किया था किंतु अस्वास्थ्य के कारण वे स्वयं उपस्थित न हो सके। कुमारी इन्दिरा नेहरू उनका संदेश लेकर शांतिनिकेतन पहुँची थीं। महात्मा गान्धी ने भी अपना संदेश इस अवसर के लिए भेजा था।

इस अवसर पर कवीन्द्र रवीन्द्र का भाषण बड़ा महत्वपूर्ण हुआ। भाषण में चीन और भारत के प्राचीन संबंधों का ज़िक्र है, कवीन्द्र की एक अभिलाषा का उल्लेख है जो उन्हें बहुत दिनों से थी और जो आज इस चीनी भवन के निर्माण पर सफल हुई है। वह अभिलाषा यही थी कि वे चीन और भारत के बीच मित्रता और सौहार्द्र का वही पुराना सम्बन्ध स्थापित कर सकें जो हमारे उस अतीत के अनुरूप ही हो जिसकी नींव अठारह शताब्दी पहले हमारे पूर्वजों ने बड़े बड़े कष्ट सहकर चीन से सम्बन्ध स्थापित करने में डाली थी। अवश्य ही इस मन्दिर का उद्घाटन हर्ष का विषय है और हम आशा करते हैं कि वह एक पुण्य-स्थान बन जायगा जहाँ जाकर हम कुछ क्षणों के लिए, कम-से-कम, जीवन की इस भाग-दौड़ से दूर हटकर विचार कर सकेंगे कि मनुष्य के प्रति मनुष्य की सद्भावना ही जीवन के मूल में है और उसी एक तथ्य को पकड़ने की कोशिश हम अपने जीवन में करेंगे—यही चीन और भारत की—संसार की दो प्राचीनतम सभ्यताओं की सीख है जो उन्होंने समय के इस असीम विस्तार को प्रदान की है।

मुँगेर साहित्य परिषदोत्सव

इसी १० अप्रैल को मुंगेर में एक साहित्य-परिषद् का आयोजन हुआ था। सभापति का स्थान हमारे परिचित श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने लिया था। सभापति-पद से आपने जो भाषण दिया वह बड़ा ओजपूर्ण था। 'नवीन' जी अच्छे विचारक हैं और उससे भी बड़े कर्मठ साहित्यिक हैं। इसलिए वह जो कुछ कहते हैं उसमें वेग होता है। आपने अपने भाषण का प्रारम्भ हमारे आज के साहित्य से किया—

'आप के आज के साहित्य में अनुभूति है, वेदना है, यथार्थवाद की झलक है, जीवन-संपर्क का आनन्द और क्षोभ है। जहाँ असहयोग काल के पहले साहित्य में वर्णनात्मक, चित्रा-

त्मक, बहिर्मुख प्रवृत्ति का ज़ोर दिखलाई देता है, वहाँ उस काल के बाद के हिंदी साहित्य में अन्तर्मुखी, अनुभूतिमूलक प्रेरणा का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। आपका काव्य-साहित्य, आपका कहानी-साहित्य, आपका उपन्यास-साहित्य, आपका निबंध-साहित्य गत यूरोपीय महायुद्ध के बाद से अधिक बलिष्ट, अधिक प्रतिभावान् और अधिक प्रगतिवान् हो गया है।' सचमुच ही यह परिस्थिति का यथार्थ चित्रण है और आज हम जो पाश्चात्य साहित्य के सामने अपने साहित्य की पराजय स्वीकार करते हैं उसका यह एक जवाब है।

हिंदी साहित्य की प्रगति का श्री 'नवीन' सतर्क दृष्टि से निरीक्षण करते हैं; वर्तमान हिंदी साहित्य की प्रेरणाओं के विषय में आपके विचार, इसी वजह से, बड़े तीक्ष्ण और गहरे हैं—

'क्या हम-आप वर्तमान हिंदी साहित्य की गति-विधि से सन्तुष्ट हैं? सच बात तो यह है कि हम सन्तुष्ट नहीं हैं। असन्तोष का कारण भी है। ऐसे मामलों में सन्तोष का अर्थ विनाश और ह्रास होता है। जिस समय प्रसिद्ध आधिभौतिक सुखवादी (Hedonist) तत्वज्ञानी जान स्टुअर्ट मिल ने कहा था कि सन्तुष्ट शूकर की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना कहीं अच्छा है (It is better to be a Socrates dissatisfied than a pig satisfied) तो उसका मतलब यह हर्गिज़ नहीं था कि वह 'सन्तोषं परम सुखम्' के सिद्धान्त का खण्डन कर रहा हो। उसका मतलब सिर्फ़ इतना ही था कि ज्ञानार्जन के क्षेत्र में इतिनैश्चित्य का भाव मानसिक ह्रास का कारण हो जाता है। इसीलिए वेदान्त ने 'नेति-नेति' को ही अपना आदर्श वाक्य माना है। 'नेति' में मानवीय प्रयत्नों एवं कर्मण्यताओं की प्रेरणा है। अतः यदि हम अपने वर्त्तमान साहित्य की प्रेरणाओं और गति-विधियों के प्रति अपना असन्तोष प्रकट करें, तो इसका अर्थ केवल इतना ही है कि हम अपने स्वरूप को और अधिक विस्तृत, बलशाली, प्रगतिवान् एवं सुन्दरतर बनाया चाहते हैं। इस असन्तोष की भावना में हमारे साहित्यकारों के प्रति, हमारे कलाविदों के प्रति, हमारे साहित्य निर्माताओं के प्रति रंच-मात्र भी उपेक्षा, अवहेलना या अनादर की भावना निहित नहीं है।

'वर्तमान हिन्दी साहित्य की प्रेरणाओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन करना हमारा कर्तव्य है। क्योंकि बिना ऐसा किए हम यह न जान सकेंगे कि हमें आगे किन नवीन प्रणोदनाओं को अपने अन्तस्तल में आविर्भूत और जागृत करना है। हिन्दी भाषा के वर्तमान साहित्य के किसी भी अंग को यदि हम उठाकर देखें, तो हमें पता लगेगा कि हमारे साहित्य में अन्तर्दर्शन की ओर अत्यधिक झुकाव है। कविता, कहानी, गद्य-काव्य, नाटक आदि में हमें यह अन्तर्दर्शन बहुत दिखलाई देगा। इस दर्शन में अनुभूति है, प्रसाद है, माधुर्य है, सौष्ठव है और वैयक्तिक अनुभूति सामूहिक अनुभूति की व्यापकता में भी परिणत हो जाती है, परन्तु ऐसा ज्ञात होने लगता है मानो इस प्रकार के साहित्य में एक प्रकार की अकर्मण्यता है। जीवन का रण-रंग जहाँ नहीं झलकता, जहाँ सर्वदहन का वैश्वानर सन्देश नहीं सुनाई पड़ता, जहाँ संघर्ष और विजय की लहरों से अन्तस्तल आप्लावित नहीं होता, वहाँ ऐसा भास होने लगता है मानो साहित्य में एक कमी है और उसकी पूर्ति होनी चाहिए। मानव जीवन केवल सुख-दुःखानुभूतियों के मनन, चिंतन, गायन और श्रवण का ही साधन मात्र नहीं है। उसमें पुरुषार्थ का, कर्मशीलता का भी पुट है। मुझे अपने वर्तमान हिंदी साहित्य में इस बात की कमी अनुभव होती है। हमारे साहित्य-निर्माता यदि इस ओर दृक्पात करें, तो हमारा कल्याण हो सकता है। अन्तर्मुखी भावना को हमें थोड़ी-सी बहिर्मुखी बनाना पड़ेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपनी प्रेरणाओं को केवल हम बाह्य-चित्रण के जंजाल में फाँस दें। नहीं। हमारे मानस-दिङ्मण्डल की परिधि को हमें

ज़रा विस्तृत करना होगा। यों तो वर्णनात्मक साहित्य हमारे यहाँ है, पर आज जो हमारी प्रवृत्तियाँ ज़रा बहिर्मुख हों, तो इस तरह कि अन्तर्दर्शन से प्राप्त अनुभूति की सरसता और तज्जन्य स्पन्द को लिए हुए हों। जीवन के सर्वाङ्गीन अध्ययन से उत्पन्न जो अनुभव साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होगा वह हमारे साहित्य को विश्व-साहित्य में सम्मान का स्थान देगा।'

हम तो पाठकों का ध्यान आपके इस सम्पूर्ण भाषण की ओर दिलाना चाहते हैं। वह हमारे साहित्य के सभी अंगों का एक स्वस्थ दृष्टिकोण से विश्लेषण है। अवश्य ही हमें ऐसी ज़ोरदार आवाज़ों की आज बड़ी ज़रूरत है। हम साहित्य में क्रान्तिकारी सुधारवादियों के लिए श्री 'नवीन' के ही शब्दों में एक चेतावनी देकर इस चर्चा को समाप्त करते हैं—'अतः साहित्य में विशाल-हृदयता ही से हमें काम लेना चाहिए। जो बन्धु आज केवल एक वाद के दायरे में साहित्य को बाँधने का विफल प्रयास कर रहे हैं, वे अपने क्रान्तिमय भावों को प्रकट अवश्य करते हैं, पर वे साहित्य का उपकार नहीं करते। मैं स्वयं प्रगतिशील लेखक संघ (Progressive Writers' Association) के सदृश संस्थाओं की उपयोगिता अनुभव करता हूँ, पर उसी सीमा तक कि साहित्य के दायरे को संकुचित न करते हुए हम साहित्य को युगधर्म की दिशा सुझाते रहें। इस सीमा से आगे बढ़ना साहित्य का गला घोंटना है।'

स्वर्गीय मुन्शी जी

हिन्दी संसार में यह समाचार अत्यन्त खेद के साथ सुना जायगा कि चिरगाँव के श्रद्धेय मुन्शी अजमेरी जी अब इस संसार में नहीं रहे। विगत २५ मई को ज़हरबाद से उनका देहान्त हो गया। उनकी उम्र ५५ वर्ष की था, किन्तु जो लोग उनसे कुछ भी परिचित हैं वे यही कहेंगे कि इस पृथ्वी की शोभा के लिए ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को विधाता और भी अधिक दिन तक जीवित रहने देते! स्वर्गीय मुन्शी जी बड़े गुणी पुरुष थे। भ्रमणशील जीवन के कारण उनमें साहित्य, समाज, राजनीति, कला सभी दिशाओं की अनेक विशेषतायें पुञ्जीभूत थीं। इतने बहुज्ञ होते हुए भी वह गुरुगंभीर किंवा रूखे-सूखे मनुष्य नहीं थे, बल्कि बड़े हँसमुख और परिहास प्रिय व्यक्ति थे। जहाँ पहुँच जाते थे वहाँ का वातावरण हँसी-खुशी से सजीव हो जाता था।

हँसी-हँसी में ही वह बड़ी ही सारपूर्ण बातें करते थे। अपनी बातों से वह मुर्दे को जिला देते थे और जीते को आदमी बना देते थे।

यद्यपि मुंशी जी में अनेक दिव्य गुण थे, किन्तु हिंदी-संसार एक कवि के रूप में ही उनसे परिचित है। उनकी कविता तो उनके मौज के क्षणों की एक साहित्यिक बानगी मात्र है। मुंशी जी की सबसे बड़ी विशेषता तो उनका मनुष्यत्व था। वे भावुक, करुण और सम्वेदनशील मनुष्य थे। उन्मुक्त हृदय के स्पष्टवादी व्यक्ति थे, न अन्याय सहते थे और न अन्याय होने देते थे। उनका मनुष्यत्व कला और कवित्व से कहीं अधिक श्रेष्ठ था। काश, पृथ्वी पर ऐसे 'मनुष्य' अधिक होते!

इस शोक में मुंशी जी के परिवार और उनके सम्मानित मित्र-मंडली के प्रति हमारी हार्दिक समवेदना है। परमात्मा मुन्शी जी की दिवंगत आत्मा को शांति दे।

आज नौ मास होने को आए मैंने 'हंस' का संपादन किया। यह तो मैं पहले ही कह चुकी थी कि मैंने यह काम केवल लाचारी की ही हालत में अपने ऊपर लिया है। मेरी क्षमता इतनी कभी न थी कि मैं एक मासिक का कार्य सँभाल सकती। यह मैं इतने दिनों तक कर भी कैसे पाई, इसका रहस्य है। शुभेच्छुकों तथा प्रियजनों ने मेरे साथ जो पूर्ण सहयोग किया, उसी के बल पर ही तो मैं 'हंस' को इस रूप में निकाल सकी जिसमें कि वह निकलता रहा है। अब श्री जैनेन्द्रकुमार ने 'हंस' के संपादकत्व का भार स्वीकार करके मुझे एक धर्म-संकट से बचा लिया है। वह नवयुवक हैं, कार्य करने की क्षमता रखते हैं। मुझे तो यही अच्छा लगा कि मैं उन्हें यह कार्य सौंप दूँ। मालूम नहीं, आपको यह कहाँ तक उपयुक्त जँचेगा; किंतु मेरी लाचारियों को आपको दरगुज़र करना ही पड़ेगा। यदि मैं किसी पद को न्याय नहीं कर पा रही हूँ, तो मुझे यह अप्रिय रास्ता अख़्तियार करना ही पड़ेगा कि मैं उस कार्य से अलग हो जाऊँ। किंतु पाठकों से क्षमा तो मुझे मिलनी ही चाहिए। उसके बिना, सचमुच, मैं अपने इस कर्तव्य-त्याग को औचित्य नहीं प्रदान कर सकती। मैं चाहती हूँ, विनय करती हूँ कि पाठक मेरी इस अक्षमता के लिए मुझे क्षमा कर दें। वैसे मैं सदा ही 'हंस' के साथ हूँ और रहूँगी। मेरी समस्त क्रियात्मक शक्तियाँ 'हंस' के लिए ही रहेंगी। यह थाती के तौर पर पाठक मुझ से लें। मैं आशा करती हूँ कि श्री जैनेन्द्रकुमार 'हंस' को तथा 'हंस' के पुराने नाम तथा कीर्ति को अक्षय रखेंगे और शीघ्र ही पाठकों से ऐसे हिल-मिल जायँगे कि वे उन्हें भी अपने में से एक समझने लग जायँ। मेरी शुभ कामनाएँ आपके ही साथ हैं।

मैं अपने लेखकों से यही कह दूँ कि वे संपादकीय विभाग की समस्त सामग्री नीचे लिखे पते पर भेजें और प्रकाशक-गण भी समालोचनार्थ पुस्तकें वहीं भेजें—

श्री जैनेन्द्रकुमार,
७, दर्यागंज,
दिल्ली।

—शिवरानी देवी।

व्यवस्थापक की ओर से

[१] पाठकों से—

मई का 'हंस' बहुत विलम्ब हो गया। वह अभी तक भी नहीं निकल पाया है। किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों के ही कारण ऐसा हुआ है पाठक को इसका विश्वास दिलाना हम अनावश्यक समझते हैं। इसी बीच हमारे पास बहुत-से पाठकों के शिकायत के पत्र आये हैं। हम उनके पात्र हैं क्योंकि गलती हमने की है। किन्तु क्षमा-पात्र भी हम हैं क्योंकि परिस्थितियों पर हमारा क्या वश? पत्रों का जवाब इसलिए न दिया जा सका कि बराबर यही आशा रही कि बस अब अंक निकला ही चाहता है, और आज आप देखते हैं कि आपकी सेवा में जून का अंक जा रहा है। मई के अंक के लिए अब अधिक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ेगी। एक सप्ताह के अंदर ही वह आपकी सेवा में पहुँचेगा। इस विलम्ब के लिए हमें आप क्षमा करें, अवश्य।

'हंस' जैसा कुछ निकल रहा है, पाठक बराबर उसको देख ही रहे हैं। 'हंस' ने यद्यपि सुन्दर गेट-अप, चित्र और ऊपरी तड़क-भड़क से पाठक का मन नहीं लुभाया है; किंतु उसे स्वस्थ मानसिक भोजन और स्वस्थ मनोरंजन पर्याप्त मात्रा में दिया है। इसमें शायद वह और पत्रों से आगे भी निकल गया है। इस विषय में हमारा पाठक ही उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। हमें तो अपने पाठकों से सदा प्रोत्साहन ही मिलता रहा है। उसके लिए हम अपने ही पाठकों के आभारी हैं। हम आज आप से एक छोटी-सी सहायता चाहते हैं। वह आपके लिए तो छोटी हो सकती है किन्तु हमारे लिए उसका महत्व कई गुना अधिक हो सकता है। यदि आपका मन 'हंस' से संतुष्ट है तो आप अपने किसी मित्र या स्वजन से उसका ज़िक्र करें और उसका महत्व उसे समझाएँ, 'हंस' ख़रीदने की उसे सलाह दें। अपने परिचितों में ढूंढ़िये कि कौन 'हंस' लेना पसन्द करेगा। (यह तो सम्भव नहीं है कि कोई ऐसा न मिले, किन्तु यदि नहीं ही मिले तो चिंता न कीजिए। यह हमारा दुर्भाग्य है।) उन सज्जन का नाम और पता साथ के कार्ड पर लिख भेजिए। हम उनके पास 'हंस' भेजकर उनसे ग्राहक बनने की विनय करेंगे। इससे आप देखेंगे, यदि एक पाठक केवल एक ही पाठक और दे दे तो आपका पत्र कितनी उन्नति कर सकता है—कितना नैतिक और आर्थिक बल उसे प्राप्त हो सकता है। हम आपसे सच कह दें—'हंस' को केवल परिचय की आवश्यकता है, फिर तो वह स्वयं अपने लिए पाठक ढूंढ लेगा। अपने पत्र को अधिक समृद्धिशील बनाने के लिए क्या आप अपने हिस्से की इतनी ज़िम्मेदारी लेंगे? अवश्य लेंगे। इसके लिए आप हमारा अग्रिम धन्यवाद स्वीकार करें।

[२] लेखकों-प्रकाशकों से

लेखकों से हमारी विनय है कि वे संपादकीय विभाग की समस्त सामग्री सम्पादक के पास इस पते से भेजें—

श्री जैनेन्द्रकुमार,
संपादक, 'हंस'
७, दर्यागंज, दिल्ली।

समालोचना के लिए पुस्तकें आदि भी इसी पते से भेजनी चाहिएँ। व्यवस्थापक के समस्त पत्र बनारस के पते से आने चाहिएँ। आशा है, लेखक, पाठक तथा प्रकाशक-गण इस ओर ध्यान देंगे।

—व्यवस्थापक 'हंस'
बनारस।

بعدالت اسپیشل جج درجہ دویم بنارس

مقدمہ نمبر ۹۲ سنہ ۳۶ ع   بدست عوام فروخت کے لیئے]

نمونہ نمبر ۱۹۹

فارم اطلاعنامہ حسب دفعہ ۹ ایکٹ جائداد ہائے

مقروضہ ممالک متحدہ

تاریخ پیشی ۳۰ جولائی سنہ ۳۷ ع

اِشتہار

متفرقہ

ہرگاہ ایک درخواست حسب دفعہ ۴ ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع (ایکٹ ۲۵ سنہ ۱۹۳۴ ع) جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے -

خلف چندرشیکھر تواری و بھاگوت تواری   ساکن جلکھور

ضلع بنارس پرگنہ مجھوار

نے / کی جانب سے   اس غرض سے   پیش کی / پیش ہوئی   ہے کہ ایکٹ جائداد ہائے مقروض ممالک متحدہ کے احکام اُس سے متعلق کیئے جائیں -

لہذا اس تحریر کی رو سے حسب دفعہ ۹ (۱) ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے - اِطلاع دی جاتی ہے کہ جملہ اشخاص جو سایلان مذکور کی ذات یا جائداد کے خلاف ہر دو ڈگری شدہ و غیر ڈگری شدہ خانگی قرضہ جات کے متعلق دعوے رکھتے ہوں وے گزٹ میں اس اِشتہار کے شایع ہونے کی تاریخ سے تین ماہ کے اندر اپنے دعووں کے متعلق تحریری بیانات اُس حاکم کے روبرو پیش کریں جس کے دستخط ذیل میں ثبت ہیں - اور بہ صورت خلاف ورزی اِس کے ہر ایک دعویٰ ڈگری شدہ یا غیر ڈگری شدہ خلاف سایل مذکور جملہ اعراض و مرافعہ جات کے لیئے زیر دفعہ ۱۳ ایکٹ مذکور یا ضابطہ بیباق متصور ہوگا -

اسپیشل جج

بحکم عدالت   درجہ اول / دوم

(دستخط) منسریم   ضلع

بعدالت اسپیشل جج درجہ دویم بنارس مقدمہ نمبر ۷ سنہ ۳۶ ع

بدست عوام فروخت کے لیئے]

نمونہ نمبر ۱۹۹

فارم اطلاعنامہ حسب دفعہ ۹ ایکٹ جائداد ہائے

مقروضہ ممالک متحدہ

تاریخ پیشی ۲۴ جولائی سنہ ۳۷

اِشتہار

متفرقہ

ہرگاہ ایک درخواست حسب دفعہ ۴ ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع (ایکٹ ۲۵ سنہ ۱۹۳۴ ع) جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے ۔

خلف جگناتھ سنگھ کودار سنگھ وغیرہ ساکن مبکھی

ضلع بنارس پرگنہ مجھوار

نے اس غرض سے پیش کی ہے کہ ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ
کی جانب سے پیش ہوئی

ممالک متحدہ کے احکام اُس سے متعلق کیئے جائیں -

لہذا اس تحریر کی رو سے حسب دفعہ ۹ (۱) ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے - اطلاع دی جاتی ہے کہ جملہ اشخاص جو سایلان مذکور کی ذات یا جائداد کے خلاف ہر دو ڈگری شدہ و غیر ڈگری شدہ خانگی قرضہ جات کے متعلق دعوے رکھتے ہوں وے گزٹ میں اس اشتہار کے شایع ہونے کی تاریخ سے تین ماہ کے اندر اپنے دعوں کے متعلق تحریری بیانات اُس حاکم کے روبرو پیش کریں جس کے دستخط ذیل میں ثبت ہیں - اور بہ صورت خلاف ورزی اس کے ہر ایک دعوی ڈگری شدہ یا غیر ڈگری شدہ خلاف سائل مذکور جملہ اغراض و مرقہ جات کے لیئے زیر دفعہ ۱۳ ایکٹ مذکور با ضابطہ بیباق متصور ہوگا -

اسپیشل جج

اول
درجہ
دوم

ضلع

بحکم عدالت

(دستخط) منصریم

بعدالت اسپیشل جج سیکنڈ گریڈ بنارس انکمبرد اسسٹمنٹ نمبر ۵۵ سنہ ۱۹۳۶ع

بدست عوام فروخت کے گئے]

نمونہ نمبر ۱۹۹

فارم اطلاعنامہ حسب دفعہ ۹ ایکٹ جائداد ہائے

مقروضہ ممالک متحدہ

تاریخ پیشی ۱۲ اگست سنہ ۳۷

اشتہار

مکتفہ

ہرگاہ ایک درخواست حسب دفعہ ۴ ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع ا ایکٹ ۲۵ سنہ ۱۹۳۴ ع جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے -

خلف بھگت پرساد ولد رامبدن و سیتارام سدن پرساد نابالغ بھگت پرساد مذکور قوم کلوار ساکن محلہ چھت گنج ضلع بنارس

نے اس غرض سے پیش کی ہے کہ ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ ممالک متحدہ کے احکام اُس سے متعلق کیئے جائیں -

لہذا اس تحریر کی رو سے حسب دفعہ ۹ (۱) ایکٹ جائداد ہائے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے - اطلاع دی جاتی ہے کہ جملہ اشخاص جو سائلان مذکور کی ذات یا جائداد کے خلاف ہر دو ڈگری شدہ و غیر ڈگری شدہ خانگی قرضہ جات کے متعلق دعوے رکھتے ہوں وے گزٹ میں اس اشتہار کے شایع ہونے کی تاریخ سے تین ماہ کے اندر اپنے دعوے

کے متعلق تحریری بیانات اُس حاکم کے روبرو پیش کریں جس کے دستخط ذیل میں ثبت ہے - اور بہ صورت خلاف ورزی اِس کے ہر ایک دعوی ڈگری شدہ یا غیر ڈگری شدہ خلاف سائل مذکور جملہ اغراض و موقعہ‌جات کے لیئے زیر دفعہ ۱۳ ایکٹ مذکور با ضابطہ بیباق متصور ہوگا -

اسپیشل جج

درجہ اول/دوم

بحکم عدالت

ضلع

(دستخط) منسریم

بعدالت اسپیشل جج درجہ دویم بنارس

مقدمہ نمبر ۲۰۴ سنہ ۱۹۳۴ ع بھوانانھ چوبےوغیرہ سایلان

[بدست عوام فروخت کے لیئے]

نمونہ نمبر ۱۲۹

فارم اِطلاعنامہ حسب دفعہ ۹ ایکٹ جائداد ہاے

مقروضہ ممالک متحدہ

تاریخ پیشی ۱۳ اگست سنہ ۱۹۲۷ ع

اِشتہار

متفرقہ

ہرگاہ ایک درخواست حسب دفعہ۴ ایکٹ جائداد ہاے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع (ایکٹ ۲۵ سنہ ۱۹۳۴ ع) جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے -

خلف بسنانھ چوبے وغیرہ سائلان ساکنان موضع قاری پور

ضلع بنارس پرگنہ نرون

نے / کی جانب سے اس غرض سے پیش کی / پیش ہوئی ہے کہ ایکٹ جائداد ہاے مقروضہ ممالک متحدہ کے احکام اُس سے متعلق کیئے جائیں -

لہذا اس تحریر کی رو سے حسب دفعہ ۹ (۱) ایکٹ جائداد ہاے مقروضہ ممالک متحدہ سنہ ۱۹۳۴ ع جیسا کہ بہ روے ایکٹ ۴ سنہ ۱۹۳۵ ع ترمیم ہوا ہے - اِطلاع دی جاتی ہے کہ جملہ اشخاص جو مذکور کی ذات یا جائداد کے خلاف ہر دو ڈگری شدہ و غیر ڈگری شدہ خانگی قرضہ‌جا کے متعلق دعوے رکھتے ہوں وے گزٹ میں اس اِشتہار کے شایع ہونے کی تاریخ سے تین ماہ کے اندر اپنے دعووں کے متعلق تحریری بیانات اُس حاکم کے روبرو پیش کریں جس کے دستخط ذیل میں ثبت ہیں - اور بہ صورت خلاف ورزی اِس کے ہر ایک دعوی ڈگری شدہ یا غیر ڈگری شدہ خلاف سائل مذکور جملہ اغراض و مرتعہ‌جات کے لئے زیر دفعہ ۱۳ ایکٹ مذکور با ضابطہ بیباق متصور ہوگا -

اسپیشل جج

درجہ اول/دوم

بحکم عدالت

ضلع

(دستخط منسریم)

इस्पेशल जज दर्जा दोयम बनारस

नं० मु० २३० सन् १९३६

मु० बदरुल निशा

[बदस्त अवाम फरेक़ैन के लिये

नमूना नम्बर १६६

फ़ार्म इत्तिलानामा हस्ब दफ़ा ९ ऐक्ट जायदाद

हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त

ता० पेशी ३ अगस्त ३७

इश्तिहार

मुतफ़र्क़ा

हरगाह एक दरख़्वास्त हस्ब दफ़ा ४ ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त सन् १९३४ ई० (ऐक्ट २५ सन् १९३४ ई०), जैसा कि बरूय ऐक्ट ४ सन् १९३५ ई० तर्मीम हुआ है, मु० बदरुलनिशा वल्द जौजे महमद नज़ीर साकिन नदेसर प्र० वग़ैरह ज़िला बनारस ने / की ओर से इस ग़रज़ से पेश की / पेश हुई है कि ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त के अहकाम उस पर लगाये जायं।

लिहाज़ा इस तहरीर की रू से हस्ब दफ़ा ९ (१) ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त सन् १९३४ ई०, जैसा कि बरूय ऐक्ट ४ सन् १९३५ ई० तर्मीम हुआ है, इत्तिला दी जाती है कि सब लोग जो मज़कूर को ज़ात या जायदाद के ख़िलाफ़ हर दो डिग्री किये हुए और बिना डिग्री किये हुए निज के क़रज़ों के मुताल्लिक़ दावे रखते हों वे गज़ट में इस इश्तिहार के छपने की तारीख़ से तीन मास के भीतर अपने दावों के मुताल्लिक़ तहरीर बयानात उस हाकिम के सामने पेश करें जिसके दस्तख़त नीचे दिये हुए हैं। और ऐसा न करने पर हर एक दावा डिग्रीशुदा या ग़ैर डिग्रीशुदा ख़िलाफ़ सायल मज़कूर जुमला अग़राज़ व मौक़ाजात के लिये ज़ेर दफ़ा १३ ऐक्ट मज़कूर बाज़ाब्ता बेबाक मुतसव्विर होगा।

स्पेशल जज

दर्जा अव्वल / दोयम

बहुक्म अदालत

(हस्ताक्षर) मुन्सरिम

ज़िला

इस्पेशल जज दर्जा दोयम बनारस

नं० मु० १४३। सन् ३६

केदार वग़ैरह सायलान

[बदस्त अवाम फरेक़ैन के लिये

नमूना नम्बर १६६

फ़ार्म इत्तिलानामा हस्ब दफ़ा ९ ऐक्ट जायदाद

हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त

ता० पेशी १४ अगस्त ३७

इश्तिहार

मुतफ़र्क़ा

हरगाह एक दरख़्वास्त हस्ब दफ़ा ४ ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त सन् १९३४ ई० (ऐक्ट २५ सन् १९३४ ई०) जैसा कि बरूय ऐक्ट ४ सन् १९३५ ई० तर्मीम हुआ है,

केदार व गनेश, पेशरान गया व कुमार व राम अनन्त पेसरान गजाधर, व रामजी वल्द श्रीचन्द सा० बहुरी परगना मझवार ज़िला बनारस।

ने / का ओर से — इस ग़रज़ से पेश की / पेश हुई है कि ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त के अहकाम उस पर लगाये जायँ।

लिहाज़ा इस तहरीर की रू से हस्ब दफ़ा ६ (१) ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त सन् १६३४ ई०, जैसा कि बरूय ऐक्ट ४ सन् १६३५ ई० तर्मीम हुआ है, इत्तिला दी जाती है कि सब लोग जो मज़कूर की ज़ात या जायदाद के ख़िलाफ़ हर दो डिग्री किये हुए और बिना डिग्री किये हुए निज के क़रज़ों के मुताल्लिक़ दावे रखते हों वे गज़ट में इस इश्तिहार के छपने की तारीख़ से तीन मास के भीतर अपने दावों के मुताल्लिक़ तहरीरी बयानात उस हाकिम के सामने पेश करें जिसके दस्तख़त नीचे दिये हुए हैं। और ऐसा न करने पर हर एक दावा डिग्रीशुदा या ग़ैर डिग्रीशुदा ख़िलाफ़ सायल मज़कूर जुमला अग़राज़ व मौरूसीज़ात के लिए ज़ेर दफ़ा १३ ऐक्ट मज़कूर बाज़ाब्ता बेबाक़ मुतसव्विर होगा।

स्पेशल जज

दर्जा अव्वल / दोयम

बहुक्म अदालत

(हस्ताक्षर) मुन्सरिम

ज़िला

ब अदालत स्पेशल जज दर्जा दोयम, बनारस

नं० मु० १०९ सन् ३६

[बदस्त अवाम फरोख्त के लिये

नमूना नम्बर १६६

फ़ार्म इत्तिलानामा हस्ब दफ़ा ९ ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त

ता० पेशी ४ अगस्त ३७

इश्तिहार

मुतफ़र्क़ा

हरगाह एक दर्ख्वास्त हस्ब दफ़ा ४ ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त सन् १६३४ ई० (ऐक्ट २५ सन् १६३४ ई०), जैसा कि बरूय ऐक्ट ४ सन् १६३५ ई० तर्मीम हुआ है, गजराजसिंह वगैरह वल्द भोलासिंह साकिन ताला ज़िला बनारस परगना नोहर

ने / की ओर से — इस ग़रज़ से पेश की / पेश हुई है कि ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त के अहकाम उस पर लगाये जायँ।

लिहाज़ा इस तहरीर की रू से हस्ब दफ़ा ६ (१) ऐक्ट जायदाद हाय मक़रूज़ा संयुक्त प्रान्त सन् १६३४ ई०, जैसा कि बरूय ऐक्ट ४ सन् १६३५ ई० तर्मीम हुआ है, इत्तिला दी जाती है कि सब लोग जो सायलान मज़कूर की ज़ात या जायदाद के ख़िलाफ़ हर दो डिग्री किये हुए और बिना डिग्री किये हुए निज के क़रज़ों के मुताल्लिक़ दावे रखते हों वे गज़ट में इस इश्तिहार के छपने की तारीख़ से तीन मास के भीतर अपने दावों के मुताल्लिक़ तहरीर बयानात उस हाकिम के सामने पेश करें जिसके दस्तख़त नीचे दिये हुए हैं। और ऐसा न करने पर हर एक दावा डिग्रीशुदा या ग़ैर डिग्रीशुदा ख़िलाफ़ सायल मज़कूर जुमला अग़राज़ व मौरूसीज़ात के लिये ज़ेर दफ़ा १३ ऐक्ट मज़कूर बाज़ाब्ता बेबाक़ मुतसव्विर होगा।

स्पेशल जज

दर्जा अव्वल / दोयम

बहुक्म अदालत

(हस्ताक्षर) मुन्सरिम

ज़िला

हर एक समझदार गृहिणी जानती है कि जब वे सब चाय पिये रहते हैं तो घर बाहर सर्वत्र शान्तिसे रहते हैं। जीवनका भार हलका रहता है और जीवन सुखद मालूम होता है। इसी लिए स्वय तथा अपने परिवारवालों को जीवन में सन्तुष्ट रखनेके लिये वह इसे एक पारिवारिक पेय बना रखती है।

चाय तैयार करनेका तरीका

ताज़ा पानी खौलाइये। साफ बर्तन ज़रा गर्म कर लीजिये। उसमें प्रत्येक के लिये एक और एक चम्मच अधिक बढ़िया भारतीय चाय रखिये। पानी खौल जाते ही चाय पर डाल दीजिये। पाँच मिनटों तक चाय को साफने दीजिये। इसके बाद प्यालों में डालकर दूध और चीनी मिलाइये।

एकमात्र पारिवारिक पेय—भारतीय चाय

IK 54

HANS : Regd. No. A 2038.

हंस
जुलाई १९३७
सहशिक्षा— गिजुभाई बधेका
सन्त रैदास— रामचन्द्र टंडन
मुन्शीजी— सियारामशरण गुप्त
सुधिया— कमलादेवी चौधरी
एक प्रश्न— जैनेन्द्रकुमार
जीवन-सन्ध्या— उषादेवी मित्रा
नारदजी की कैलाश-यात्रा— डा० सुब्रह्मण्य भारती
मुक्ता-मंजूषा, नीर-क्षीर, सामयिक, इत्यादि इत्यादि...
: सम्पादक :
जैनेन्द्रकुमार

जुलाई १९३७ वर्ष—७ : अंक—१० आषाढ़ १९९३

सहशिक्षा

[गिजुभाई बधेका]

(गतांक से आगे)

कौन नहीं जानता कि आज स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कितनी हीनता तक पहुँच गया है? एक-दूसरे की पूर्ति करनेवाले स्त्री-पुरुष आज कम हैं; जब कि एक-दूसरे के विरोधी नर-नारियों की संसार में आज कमी नहीं है। इसके कारणों का उल्लेख किया जाय, तो अन्त न आयेगा। फिर भी इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि जबसे स्त्री और पुरुष एक दूसरे को अस्पृश्य मानने लगे हैं, जबसे समाज में स्त्री-पुरुषों का सहयोग कम हुआ है, और जबसे स्त्री अपनी राह और पुरुष अपनी राह चलने लगा है, तबसे स्त्री को पुरुष में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है और पुरुष को भी स्त्री में कोई दिलचस्पी नहीं रही है। आज ब्याह की संस्था इतनी हीन दशा को प्राप्त हो गई है कि उसमें स्त्री-पुरुष अपने स्वार्थ के लिए ही एक-दूसरे की सहायता करते हैं। इसी कारण यह विसंवाद इतना तीव्र बन गया है कि गार्हस्थ्य-जीवन संकट में पड़ गया है। जो स्त्री-पुरुष केवल अपनी पशु-वृत्तियों की तृप्ति के लिए ही विवाह-बन्धन में बँधे हैं उन्हें उस बन्धन से मुक्त करके यदि उच्च स्थिति को पहुँचाना है तो उनके जीवन के सम्मुख हमें अनेक नए और विशाल क्षेत्र खड़े करने होंगे। पुरुष और स्त्री दोनों समाज के अंग हैं, दोनों के सिर पर नाना प्रकार की बहुतेरी ज़िम्मेदारियाँ हैं—घर की, परिवार की, लोकव्यवहार की जिम्मेदारियों के सिवा उनपर मुहल्ले की, गाँव की, शहर की समाज की, राष्ट्र की और सारी दुनिया की ज़िम्मेदारी भी है। इन दोनों प्रकार की ज़िम्मेदारियों के लिए उन्हें तैयार करने की आवश्यकता है। इन दोनों दायित्वों को सँभालने के लिए उनके ज्ञान और उनकी शक्ति का विकास होना चाहिए। इस संयुक्त कर्तव्य की पूर्ति की शिक्षा समाज भी दे सकता है, विद्यालय भी दे सकता है। इस प्रकार प्रकृति जन्म-भेदों और स्थूल शक्ति के भेदों के रहते हुए भी स्त्री और पुरुष के जीवन का हेतु एक ही है, अतएव उनके लिए सहशिक्षा हानिकारक होने के बदले हितकारक ही अधिक है।

हमारा वर्तमान गृहजीवन बहुत ही शुष्क बन गया है। पुरुष बाहर भाषण करता है, स्त्री घर में खाना पकाती है। स्त्री पुरुष के भाषण कार्य से अज्ञान रहती है, अथवा इस विषय में

उसे कोई दिलचस्पी ही नहीं होती। पुरुष स्त्री की ललित वृत्तियों से अज्ञान रहता है, वह उनकी ज़रा भी परवा नहीं करता; और स्त्री को अपने मन में एक रसोइयेदारिन से ज़्यादा महत्त्व नहीं देता। इसका कारण यह नहीं है कि स्त्री अनपढ़ है; कारण तो यह है कि स्त्री को पुरुष में और पुरुष को स्त्री में समरस होने की जो विशाल और उदात्त शिक्षा मिलनी चाहिए, वह उन्हें मिल नहीं रही है। पुरुष ने अपना धन्धा सीखा है; लेकिन स्त्री और पुरुष दोनों को जीवन का उत्तम उपयोग करने के लिए जो शिक्षा मिलनी चाहिए वह नहीं मिलती है; जिस वातावरण में रहकर दोनों जीवन के अनुकूल अवसरों पर परस्पर अनुकूल हो सकें, एक दूसरे के कार्य को अपना सकें, एक दूसरे को पहचान सकें और पहचानकर एक-दूसरे की उन्नति में परस्पर सहायक हो सकें, शिक्षा के वैसे वातावरण में कोई उन्हें रखता ही नहीं। सहशिक्षा में इस वस्तु की अपेक्षा रहती है और उसका सच्चा उद्देश्य भी यही है।

यहाँ हमें और भी कई दृष्टियों से सहशिक्षा का विचार करना होगा। एक साथ पढ़ने वाले स्त्री-पुरुषों के मन में कैसे विकार उत्पन्न हो सकते हैं, और उन विकारों से उनका कितना नुक़सान हो सकता है, इसका भी स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। बिल्कुल छोटी उम्र में एक साथ पढ़ने वाले बालक-बालिकाओं से इस प्रश्न का उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनसे है, जो बालिग़ हो चुके हैं, यानी यौवन में पदार्पण कर चुके हैं। बालकों को अपनी जाति का ख़याल जितना हम समझते हैं, उससे भी बहुत पहले हो जाता है। इनमें भी कुछ बालक ऐसे होते हैं, जिनमें जाति की चेतना (Sex consciousness) औरों से बहुत पहले आ जाती है। जब बालक वयस्क होता है, उसमें प्राकृतिक परिवर्तन होने लगते हैं—और ये शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के होते हैं। इन परिवर्तनों के कारण बालक अपने शरीर और मन के विषय में विशेष रूप से जागृत रहने लगता है, और पहले उसे अपनी जाति का और बाद में दूसरी जाति का स्पष्ट बोध होने लगता है। इस बोध के कारण बालक आपस में अपनी ही जाति के प्रति और विपक्ष में एक-दूसरे के प्रति अधिकाधिक आकर्षित होने लगते हैं। यही समय मित्रता के आरंभ का होता है, और प्रेम या स्नेह का जन्म भी इसी समय होता है। स्त्री-पुरुष या स्त्री-स्त्री और पुरुष-पुरुष का यह स्वाभाविक आकर्षण जहाँ एक ओर मित्रता और प्रेम को जन्म देता है, वहाँ इसके कारण कुछ बुराइयाँ भी प्रकट होती हैं। एक ही जाति के बालक जो प्रकृति-विरुद्ध अपराध करते हैं, अथवा स्त्री-पुरुष के बीच पशुता के उदाहरण घटित होते हैं, वे इस आकर्षण के परिणाम तो नहीं होते, पर इस समय प्रकट अवश्य होते हैं। अतः जहाँ-जहाँ स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्पर्क के बुरे परिणाम निकले हैं, वहाँ-वहाँ उसका दोष हम सहजीवन, पृथक जीवन, या सहशिक्षा के मत्थे मढ़ते हैं। वास्तव में इस परिणाम का दायित्व इन पर नहीं आता है। ये तो सब निमित्त मात्र हैं। असल कारण तो मानसिक विकृति ही है, और वही हो सकती है। अगर यह मानसिक विकार न हो, तो सहजीवन और सहशिक्षा स्वयं सार्थक और सफल हैं; यही नहीं, बल्कि उत्तम जीवन के लिए आवश्यक भी हैं। तो प्रश्न यह है कि इस मानसिक विकृति का उद्गम क्या है? जिस बुराई का सम्बन्ध सहशिक्षा से जोड़ा जाता है, या सहशिक्षा के कारण जिसकी संभावना बताई जाती है, वह वास्तव में तो समाज के रोगिष्ट मन का चिन्ह है। समाज के मन को रोगग्रस्त बनाने और रखने का दायित्व समाज पर ही है, अतः इस परिस्थिति के लिए समाज को स्वयं प्रायश्चित करना चाहिए। आज हम जिस सामाजिक उत्तराधिकार का उपभोग कर रहे हैं, वह उस समाज की देन है, जो अपने में अत्यन्त संकुचित रहा है। इस संकुचित उत्तराधिकार के अनुसार स्त्री पुरुष की भोग्य है; स्त्री मिट्टी के बरतन-सी अपवित्र पात्र हैं; स्त्री की एकांगी पवित्रता ही समाज की उद्धारक

है; और पुरुष पवित्रता के क़ानून से मुक्त रहकर, एकाधिक बार विवाह करके, अथवा पर-स्त्री गमन करके भी, अपनी पत्नी से पवित्रता की अपेक्षा रखता है। इन विश्वासों को, जो हमें परम्परा से प्राप्त हुए हैं, हम छाती से चिपकाये बैठे हैं ; इस संकोच में हमारी अष्टता पग-पग पर प्रकट या अप्रकट रूप में छिपी पड़ी है। सहशिक्षा के कारण तो यह कालिमा जहाँ अप्रकट है, वहाँ प्रकट भर हो जाती है। जहाँ-जहाँ मलिनता है, गन्दगी है, वहाँ-वहाँ वह प्रतिबिम्बित भी होती है। हमारे लिए जो चीज़ चौंकानेवाली हो सकती है, वह तो हमारी मनोदशा की अधमता है, न कि वह चीज़ जो हमारी इस अधमता को हम पर प्रकट कर देती है। अतः यदि भ्रमवश हम सहशिक्षा का विरोध करते हैं, तो हम कारण का विरोध नहीं करते, निमित्त से लड़ते हैं, जिसमें हमारा कोई हित नहीं है।

जिस प्रकार एक ख़ास अवस्था में सजातीय के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है, उतना ही स्वाभाविक विजातीय के प्रति का आकर्षण भी है। किन्तु जहाँ यह आकर्षण दूषण बन जाता है, वहीं विचार करना पड़ता है। आकर्षण का अवरोध करने की आवश्यकता नहीं है; आवश्यकता उसे उत्तम मार्ग दिखाने की है; और ये दूषण क्यों पैदा होते हैं, इसकी जाँच करके, इन्हें मिटाने का प्रयत्न करने की है।

हम देख चुके हैं कि ये दूषित परिणाम समाज के मानसिक रोग के चिह्न हैं। यह रोग सामाजिक कुरीतियों, दूषित विचारधाराओं और विद्रूप भावनाओं का परिणाम है। इसके अतिरिक्त हम अपने बालकों को बचपन से जैसी शिक्षा देते हैं, वह इतनी ख़राब होती है कि यदि उसके कारण ये दूषित परिणाम प्रकट न हों तो हमारे बालक पूरे पागल नहीं तो बिलकुल नामर्द और निर्वीर्य ज़रूर बन जायँ। पुरुष और स्त्री अपनी-अपनी जाति में सीमित रहकर जो अपराध करते हैं, और स्त्री-पुरुष एक दूसरे की जाति में आ-जाकर जो पाप कमाते हैं, उसमें कोई फ़र्क नहीं है। आज की हमारी नैतिक दृष्टि को ये दूसरे प्रकार के अपराध विशेष भयंकर मालूम हो सकते हैं, क्योंकि पवित्रता विषयक हमारे वर्तमान विचार बहुत ही संकुचित हैं। जिस भयंकरता की कल्पना हम सहशिक्षा में करते हैं, उसी भयंकरता को हमें स्त्री-पुरुषों के पृथक् छात्रावासों में और व्यक्ति के अपने जीवन के दुरुपयोग में भी देखना चाहिए। इन तीनों बातों की जड़ नाना प्रकार की स्वाभाविक शिक्षा की निष्फलता में है। जिस प्रकार हमें भिन्न जाति के विभिन्न छात्रावासों में फैले हुए दूषणों का विचार करना है, उसी प्रकार भिन्न जातियों की, यानी स्त्री पुरुष की एक ही संस्था में पाये जाने वाले अनिष्टों का भी विचार करना है। यदि पुरुष विद्यार्थी को स्त्री विद्यार्थी से अलग रखने में सफलता की संभावना है, तो पुरुष विद्यार्थी को पुरुष विद्यार्थी से और स्त्री विद्यार्थी को स्त्री विद्यार्थी से अलग रखने का भी प्रबन्ध होना चाहिए। इतना ही नहीं, हमें इस बात का भी प्रबंध करना होगा कि स्त्री या पुरुष विद्यार्थी कभी वयस्क न हो! जिस दिन हम ऐसा करेंगे, उस दिन उनका विकास ही रुक जायगा। और उस दशा में सहशिक्षा का विरोध करने की अपेक्षा हमें इन दूषणों से ही लड़ाई ठाननी पड़ेगी। स्त्री-पुरुष का एक साथ पढ़ना अगर भयावह मालूम होता है, तो हम उन्हें निर्भय बनायें। विद्यार्थियों में परस्पर जो दूषण फैले हुए हैं, उनसे हम उन्हें मुक्त करें, और जहाँ सजातीय के प्रति हम स्वयं दूषित हैं वहाँ अपना सुधार कर लें। हमारे सामने प्रस्तुत प्रश्न तो यह है कि एक साथ पढ़नेवाले लड़कों और लड़कियों को ठीक रास्ते पर कैसे ले जायँ, अतः हम ऊपर की दूसरी दो बातों का यहाँ विचार न करेंगे। इन दोनों के लिए सुजननशास्त्र हमें सुलभ है। अतः इस अन्तिम बात के विषय में सुजननशास्त्र को, मनोविज्ञान को और समाजशास्त्र को हमारी सहायता करनी चाहिए। और समाजशास्त्रियों की पवित्रता विषयक जो भावना है, उसे हमें

विशुद्ध बनाना चाहिए। समाज के अन्दर आज ये जो ख़याल मौजूद हैं कि यदि पुरुष और स्त्री आपस में बातचीत करते हैं, या पुरुष और स्त्री एकांत में मिलते हैं, या पुरुष और स्त्री एक-दूसरे का स्पर्श करते हैं, अथवा एक-दूसरे को घूर कर देखते हैं—या परस्पर भाई-बहन का नाता रखते हैं, अथवा किसी भी प्रकार से पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध रखते हैं, तो वह सम्बन्ध दूषित ही हो सकता है, बिल्कुल ग़लत ख़याल है, और इन्हें जितनी जल्दी मिटा दिया जाय, उतना ही बेहतर है।

समाज के अन्दर ये जो भाव घर किये बैठे हैं कि पवित्रता अन्तःपुर में ही रह सकती है, पर्दा ही उसकी रक्षा कर सकता है, या एक आसन पर न बैठने से ही वह बच सकती है, उनको हमें उखाड़ना चाहिए। 'घृत-अग्नि-न्याय' का जो विचार है, उसे भी अब तो समाज को दूर ही से नमस्कार करना चाहिए। अगर स्त्री-पुरुष घी और अग्नि के समान हैं, तो उनके पारस्परिक पतन का भय सदा ही बना हुआ है; ऐसी दशा में उनके एक-दूसरे से अलग रहने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि वे मिलकर आत्महत्या कर लें। इस न्याय में विश्वास रखने के कारण जिन लोगों में एक प्रकार की हीन निर्बलता आ गई है उन्होंने आज समाज में ऐसी धाँधली मचा रखी है, और जीवन को इतना भयंकर बना दिया है कि इस समय के स्त्री-पुरुष सचमुच ही एक दूसरे के लिए घृत और अग्नि ही बन गये हैं! लेकिन इसमें इस न्याय की सत्यता उतनी नहीं है, जितनी इस बात की सत्यता है कि यह न्याय अन्याय परिणामी बन गया है। समाज ने यह जो पाप किया है इसे धोने के लिए उसे बाहरी पवित्रता के ढोंग का भंडाफोड़ करना होगा। वस्तुतः अपवित्रता का सम्पूर्ण बहिष्कार करने के लिए उसके प्रति दया और सहानुभूति से देखना होगा और दयार्द्र होकर इस रोग की दवा करनी होगी। अतः ओ धर्माचार्यो! और समाज-धुरीणो! चेतो; क्योंकि पवित्रता के नाम पर अधमता का पोषण करनेवाली तुम्हारी सब संस्थाओं को मिटाना होगा; और ओ समाज! अश्व-ब्रह्मचर्य की अपनी संस्था को तुझे भी छिन्न-भिन्न कर डालना होगा! किन्तु इतने ही से समाज का काम नहीं चलेगा। उसे तो अपनी वाणी में, अपने गीतों में, अपनी कहावतों में और अपने छोटे-मोटे रस्म-रिवाजों में भी निर्मलता लानी पड़ेगी; समाज के मौजूदा विश्वासों में महान और आमूल परिवर्तन करने होंगे। लोग मानते आये हैं कि पवित्र रहने का ज़िम्मा स्त्रियों का है, पवित्रता उन्हीं की धरोहर है—एक बार जो स्त्री अपवित्र हो जाती है, वह सदा के लिए अपवित्र रहती है। उन्होंने पत्निव्रत को तो रामायणकाल के लिए ही सुरक्षित रख छोड़ा है। यह असमानता, यह अन्याय ही पवित्रता का घातक है; क्योंकि पुरुष की अपवित्रता के साथ स्त्री से जिस पवित्रता की अपेक्षा रखी जाती है, उसका सुरक्षित रहना सम्भव नहीं है। पवित्रता स्त्री-पुरुष दोनों का प्राण-प्रिय व्रत होना चाहिए; क्योंकि उसका अभाव किसी भी जाति के लिए असह्य और पतनकारी है। सच्चरित्रता का तेजस्वी सूर्य स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से प्रकाशित करता है। सदाचार पवित्रता का रक्षक और उपकारक है। बाहर की पवित्रता अन्दर की पवित्रता की विरोधी नहीं है, उलटे पोषक है और जीवनप्रद वातावरण सच्ची पवित्रता को बलवान बनाता है। लेकिन पवित्रता, सच्ची पवित्रता तो मनुष्य के हृदय की एक वृत्ति है। अतः जबतक समाज इस सत्य को दृढतापूर्वक अंगीकार नहीं करता है, और पवित्रता को वृत्तिगत बनाकर दम्भ के कवच को भस्मीभूत नहीं करता है, तबतक केवल पवित्रता के नाम-स्मरण से समाज की रक्षा नहीं हो सकती। जहाँ ऐसी स्थिति हो, वहाँ स्त्री-पुरुषों की पृथक् शिक्षा कोई एक सिद्धान्त की बात नहीं, बल्कि एक भयंकर रोग की द्योतक है।

किन्तु इस प्रश्न का निराकरण अकेले एक समाज-शास्त्री के कर्तव्य-पालन से नहीं हो

सकता। विकास के स्वाभाविक नियमों का हम जिस हद तक विरोध करते हैं और विकास को जितना विकारी बनाते हैं, उतने ही उसके कुफल भी हमें अधिक भोगने पड़ते हैं। जो मानसिक विकास के धर्मों को जानते हैं, वे खुली-आँखों देख रहे हैं कि आज हम अपने बालकों को इतनी बेहूदा, अन्यायी और अस्वाभाविक शिक्षा दे रहे हैं कि जिसके कारण बालकों को अपनी सहज एवं स्वाभाविक प्रवृतियाँ दबा देनी पड़ती हैं। यहाँ हम इसकी विस्तृत चर्चा तो न करेंगे, फिर भी इतना कह देते हैं कि नवीन मनोविज्ञान का यह निश्चित मत है कि आजकल के भयंकर-से-भयंकर रोगों की जड़ दूषित शिक्षा में है। यहाँ शिक्षा का अर्थ उसके विशाल रूप में लिया गया है। विद्यालय में या घर में शिक्षक द्वारा प्राप्त होनेवाली शिक्षा ही शिक्षा नहीं। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त हम बालक को जैसा बनाना चाहते हैं, और उसके लिए जो भी कुछ प्रयत्न करते हैं, वह सब शिक्षा है। आज तो बालक को जो शारीरिक शिक्षा हम दिलाते हैं, वह उसे स्वस्थ बनाने के बदले अस्वस्थ बनाती है; बालक को सुन्दर बनाने के प्रयत्न में हम उसे सुन्दरता से दूर—बहुत दूर ले जाते हैं। बालक को समाज-प्रिय बनाने की चेष्टा में हम उसे समाज का कट्टर दुश्मन बनाते हैं; और उसे धर्मात्मा या नीतिमान् बनाने की चेष्टा करके पाखण्ड का पुतला और अनीति का अवतार बना देते हैं। हमारी शिक्षा की इस रीति-नीति के कारण बालक को अपनी सहज वृत्तियाँ दबानी पड़ती हैं, जिसके फल-स्वरूप वह कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का शिकार बन जाता है। 'हिस्टीरिया', 'हेल्यूसिनेशन', 'ल्यूनॅसी', 'ईडिओसी' आदि रोग ऐसे ही दबाव के परिणाम होते हैं। हस्तमैथुन, अप्राकृतिक व्यभिचार और स्त्री-पुरुषों के अनीतिमय सम्बन्ध भी ऐसे ही अवरोध के परिणाम होते हैं। अतः नवीन मनोविज्ञान का यह कहना है कि जब स्वस्थ और स्वाभाविक मनोवृत्तियों को समाज, धर्म, व्यवहार या सौन्दर्य के नाम पर दबाया जाता है, तो उनकी प्रतिक्रिया इसी रूप में होती है।

आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य की तथाकथित पतनशील वृत्तियों का वैज्ञानिक उपचार करता है, और उन्हें उच्चगामी बनाता है। लड़कों और लड़कियों को अलग रखने की अपेक्षा यदि दोनों को एक साथ चित्र बनाने या गाने का अवसर दिया जाय, चित्र और संगीत की कलायें साथ-साथ सिखाई जायँ, तो उनके मानसिक स्वास्थ्य में अवश्य ही वृद्धि की जा सकती है। लड़के और लड़कियाँ एक दूसरे के मनोभावों की कल्पना करने बैठें, अथवा एक दूसरे के सम्बन्ध में उपन्यासों द्वारा कुछ जानें-समझें, इससे तो कहीं बेहतर यह है कि वे परस्पर एक दूसरे के जीवन-कार्यों और रसवृत्तियों को एक साथ रहकर जानें, पहचानें और इस प्रकार अपने मनोबल को पुष्ट करें! आज लड़के और लड़कियाँ अपने मन की बहुतेरी बातें गुप्त रखकर, समस्त पवित्र विचारों, विषयों और भावनाओं को अपवित्रता का जो जामा पहनाते हैं, उसके बदले यदि वे परस्पर मिल कर बोल लें, बातचीत कर लें, संवाद और चर्चा में शामिल हो लें, तो वस्तु की बहुत-सी निरर्थक महत्ता को वे बहुत-कुछ कम कर सकते हैं। आज घर के, समाज के, मंदिर के, जाति के, समाजों और सम्मेलनों के सभी छोटे-मोटे कार्यों में जिस प्रकार स्त्री-पुरुष अपना-अपना काम अलग बाँट-कर बैठ जाते हैं, उसके बदले यदि वे अपने कार्य-क्षेत्र को एक बना लें, तो आज दोनों के भिन्न कार्य-क्षेत्र की बात आगे रखकर सहशिक्षा के विरुद्ध जो दलील दी जाती है, वह न दी जा सके। शक्ति या वृत्ति के दो मार्ग होते हैं—एक चढ़ने का, दूसरा गिरने का। रक्षण के बदले जब शक्ति का उपयोग भक्षण में किया जाता है, तो उसका दुरुपयोग होता है। सहशिक्षा और सहजीवन की सफलता का आधार भी इसी बात पर है कि हम शक्तियों का उपयोग किस प्रकार कराते हैं।

दलित समाज के बालकों में कई कारणों से अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।

लेकिन इसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि उन्हें बुराइयों को मिटाना सिखाने के बदले अपनी बुराइयों को छिपाना सिखाया जाय। जिस प्रकार पारस्परिक आकर्षण स्वाभाविक है, उसी प्रकार गोपनीय दोषों की ऊष्मा भी स्वाभाविक है। यदि हम आकर्षण का विरोध करेंगे तो उसके साथ प्रेम और मित्रता का भी नाश हो जायगा। इसी प्रकार यदि हम आन्तरिक ऊष्मा का विरोध करेंगे, उसे दबायेंगे, तो अवश्य ही उसके साथ हम वर्चस, बल, पुरुषत्व और स्त्रीत्व का भी विनाश कर बैठेंगे। यह हमारा हेतु नहीं है। हमारा हेतु तो आकर्षण को विशुद्ध बनाने और ऊष्मा को सत्मार्ग दिखाने का है। ऊष्मा एक नया बल है—एक नई शारीरिक और मानसिक जागृति है। जो विद्यार्थी या विद्यार्थिनी इस जागृति का सदुपयोग करना नहीं जानती, वहाँ इसका दुरुपयोग कर बैठते हैं। इस दुरुपयोग का प्रतिकार करने के लिए कौमार्य और ब्रह्मचर्य की संस्थायें बनी हैं। पुराणकालीन ब्रह्मचर्य की संस्था में कुछ ऐसे नियम पाये जाते हैं, जो ऊष्मा को दबाने के बदले उसे विकृत होने से बचाते हैं। इस ऊष्मा को निर्मल रखकर, दिन-प्रतिदिन इसकी वृद्धि करके, आगे गार्हस्थ्य जीवन में इसका उपयोग उत्तमोत्तम प्रेम और सन्तानोत्पादन में करने का जहाँ ध्येय है और इस ध्येय के अनुसार जहाँ-जहाँ ब्रह्मचर्य-पालन के नियम बने हैं, वहाँ-वहाँ आज भी उन्हें स्वीकार करना उचित और व्यवहार्य है। किन्तु जहाँ सामाजिक पतन को रोकने के लिए ब्रह्मचर्य के निषेधात्मक नियम बने हैं, वहाँ वे नियम पतन को रोकनेवाले बाँध के समान होते हैं, अतः त्याज्य हैं। विद्यार्थी को केले का रस पिलाकर या नीम के पत्ते खिलाकर ब्रह्मचारी बनाने का प्रयत्न एक अर्थहीन प्रयत्न है। प्रबल शक्ति का संयम ही सच्चा संयम है। ऊष्मा की इस प्रबलता को विद्याभ्यास का, शरीर-बल का या वर्चस-प्राप्ति का साधन बना लेने का नाम ही ब्रह्मचर्य है।

स्त्री विद्यार्थियों को पुरुष विद्यार्थियों से अलग रखना और मिर्च-मसाला जैसे उत्तेजक पदार्थों को उनके पेट में जाने से रोकना अथवा उन्हें गन्दे, वीभत्स और अश्लील वातावरण से दूर रखना, ये दो भिन्न बातें हैं।

आलस्य, पेटूपन, मिर्च-मसालों का शौक़, गन्दी पुस्तकों का पठन, गाली-गलौज और वीभत्स-दर्शन बुरी बातें हैं, और निर्वीर्यता की जनक हैं; लेकिन इसी सिलसिले में यह कहना कि स्त्री स्त्री होने के कारण या पुरुष पुरुष होने के कारण दोनों परस्पर एक दूसरे को निर्बल बनाने वाले हैं, सच नहीं है। अगर ऐसा हो तो पति-पत्नी के सिवा स्त्री पुरुष के जितने सम्बन्ध हैं उन सब सम्बन्धों में—पिता-पुत्री, भाई-बहन, मित्र और सगे के रूप में—वे परस्पर एक दूसरे के लिए अवांछनीय उत्तेजना के कारण बन जायँ और वह एक ऐसी दशा हो, जिसमें संसार रहने योग्य ही न रह जाय। किन्तु असल में बात ऐसी नहीं है।

जिन विरक्त साधु-संतों या पुरुषों ने स्त्री को नरक का द्वार, पतित और उसके शरीर को निन्द्य कहा है, उन्होंने वैसा करके अपनी आन्तरिक मलिनता को प्रकट किया, उसे धोया और अपनी आत्मा को स्वच्छ बनाया है। जो यह कहता है कि यह संसार क्षणभंगुर है, उसने अपने शरीर की क्षणभंगुरता को दृढ़तापूर्वक समझ लिया है। मनुष्य जब जिस वस्तु का विरोध करता है, तब वह उस वस्तु को अपने में से निकालना चाहता है, स्वयं उससे विरक्त रहना चाहता है; उसके प्रयत्न का यही रहस्य होता है। लेकिन कभी-कभी ऐसे लोग भ्रमवश अपने आपको दूषित न समझकर अपने से बाहर की चीज़ों को दोष-पात्र मान बैठते हैं। यही कारण है कि एक विलासी हृदय स्त्री या पुरुष को अपने उपभोग की वस्तु समझता है, अर्थात् स्त्री में या पुरुष में विलास का आरोपण करता है, और अपनी विलासिता से डरने के बदले आरोपित विलासिता से डरता है।

ऐसी वृत्तिवाले लोग अपने बालकों को सहशिक्षा के वातावरण से बचाना चाहते हैं। इसी वृत्ति के कारण बहुतेरे स्त्री-पुरुष-विद्यार्थी एक दूसरे से भड़कते हैं और डरते हैं कि कहीं उनका पतन न हो जाय। ऐसी ही वृत्ति रखनेवाले शिक्षक लड़कों और लड़कियों को एक साथ पढ़ते देखकर काँप उठते हैं। जहाँ-जहाँ ऐसी चीज़ों के प्रति आँख दूषित है, वहाँ-वहाँ वे चीज़ें तो दूषित नहीं हैं किन्तु अपनी विकारवशता के कारण आँख दूषित रहती है; रोग आँख में होता है, जिन्हें आँख देखती है उनमें नहीं। अतएव यह आवश्यक है कि माता-पिता, शिक्षक और विद्यार्थी पहले अपने आपको सुधारें। उन्हें समझ लेना चाहिए कि जिस आइने में उनकी वृत्ति की परछाईं पड़ती है, उस आइने को फोड़ डालने से उनकी दूषित मनोवृत्ति का नाश नहीं हो सकता। जो लोग इस आशंका से डरते रहते हैं कि एक साथ पढ़ने से कहीं स्त्री या पुरुष में-से कोई पतित न बन जाय, वे अगर ढोंगी नहीं हैं तो इस हद तक अज्ञानी ज़रूर हैं कि वे नहीं जानते कि उनकी अपनी वृत्ति ही इस डर का कारण है। वृत्ति की इस निर्बलता का या उसके अज्ञान का उपयोग हम सहशिक्षा का विरोध करने में कैसे कर सकते हैं? इस बात के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं कि डर के कारण जो लोग विपक्ष से दूर-दूर रहे हैं, उनका ही अधिक से अधिक पतन हुआ है। जो आदमी पानी को डूबने का कारण समझकर उससे दूर रहता है, और पानी में तैरने की शक्ति प्राप्त नहीं करता, वही जब कभी भी पानी में गिरेगा, डूब ही जायगा। संभव है, वह जीवन भर कभी पानी में पैठे ही नहीं, और इस कारण डूबने से बच जाय; फिर भी उसके लिए यह नहीं कहा जा सकेगा कि वह तैरा है। हम ऐसा ब्रह्मचर्य, संयम या ऐसी पवित्रता नहीं चाहते। हम तो तैरना चाहते हैं, फिर पानी से दूर क्योंकर रह सकते हैं? ऐसे ही समय सहशिक्षा चुनौती देकर पूछेगी—कहते न थे कि हम बड़े तैराक हैं, तो अब वह तैराकी क्या हुई? इतने दिनों तक जिस शक्ति को संचित करके रखा था वह कहाँ गई? आज तक के आपके वे उच्चादर्श क्या हुए? पानी में पैठते ही डूब गये न? यही आपकी साधना थी? जो सहशिक्षा का नाम सुनकर काँपते हैं, उनसे हम पूछ सकते हैं—आपकी यह सारी शक्ति क्या हो जाती है? कहाँ उड़ जाती है?—वह शक्ति या शक्ति का आभास?

तब प्रश्न यह होता है कि सहशिक्षा का निस्तार कैसे हो? किस आधार पर वह अपने पैर जमाये? उत्तर है कि उसका आधार सात्विक ब्रह्मचर्य, पारस्परिक प्रेम और बौद्धिक विषयों में भावना-प्रधान मित्रता हो सकती है। ब्रह्मचर्य के बारे में हम ऊपर कुछ कह चुके हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ न तो इन्द्रियों के आवेग की वह क्षीणता है, जो कृत्रिम उपायों द्वारा सिद्ध की जाती है; न केवल वीर्यपात का अभाव ही ब्रह्मचर्य कहा जा सकता है। शुद्ध ब्रह्मचर्य में अकेली वृत्तियों का निरोध नहीं होता, बल्कि उनका संयोजित संयम होता है। जब हमें कृत्रिम उपायों द्वारा ब्रह्मचर्य स्थिर रखने की आवश्यकता मालूम पड़े, तब इन्द्रिय-तृप्ति के लिए धर्मशास्त्रों और रूढ़ियों द्वारा जो मार्ग वैध माना जा चुका है, उसे अंगीकार कर लेना अच्छा है। इससे और चाहे जितनी हानियाँ होती हों, किन्तु कृत्रिम ब्रह्मचर्य द्वारा पुरुषत्व को जो हानि पहुँचती है, वह कभी न पहुँचेगी। जहाँ स्थूल 'वीर्यपात के कारण ब्रह्मचर्य को हानि पहुँचती है, वहाँ शरीर के यथार्थ धर्मों का पालन करने में ही अधिक कल्याण है, और जहाँ मानसिक निर्बलता के कारण ब्रह्मचर्य का नाश होता है, वहाँ मन को सबल बनाने का मार्ग अभी खुला है। ब्रह्मचर्य के कुछ नियम तो विधिसूचक हैं और कुछ निषेधात्मक भी हैं। इन विधि-निषेधों के बारे में हम ऊपर जहाँ-तहाँ लिख चुके हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नियम ऐसे भी हैं जिन्हें हम ज्ञानात्मक कह सकते हैं। प्रायः अज्ञान के कारण भी हम कुछ दोष कर बैठते हैं। हमारा यह विश्वास भी है कि साधा-

फलतः गन्दगी में रहने से और गन्दी बातें सोचने से मनुष्य की आत्मिक और मानसिक शक्तियाँ क्षीण होने लगती हैं। ब्रह्मचर्य के विषय में तो शास्त्रों की स्पष्ट ही आज्ञा है कि मनुष्य को अपनी स्थूल इन्द्रियों को भी ख़ूब साफ़ रखना चाहिए, नित्य मिट्टी से मलकर धोना चाहिए। ये आज्ञायें ज्ञान के कारण उत्पन्न हुई हैं और हमारी नैमित्तिक क्रियाएँ बन गई हैं। आधुनिक आरोग्यविज्ञान की भी कुछ ऐसी ही आज्ञाएँ हैं। और प्रजनन शास्त्र ने तो इधर इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश फेंका है। इस शास्त्र द्वारा आज वैज्ञानिक इसी प्रश्न के मन्थन में लगे हैं कि इन्द्रियों के समुचित उपयोग और उद्देश्य के अज्ञान के कारण मनुष्य जाति की अब तक जो भयंकर हानि हुई है, उसका प्रतिकार कैसे किया जाय? यह एक ही ऐसा विषय है, जिसके बारे में लोग परस्पर बातें करते शरमाते हैं; इस सम्बन्ध की चर्चा करना पाप या अनीति समझी जाती है; और फिर भी यही एक ऐसा विषय है जिसका मनुष्य के जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। हक़ीक़त यह है कि इस विषय में माँ बेटी को, पिता पुत्र को, भाई बहन को, पुरुष-मित्र स्त्री-मित्र से कुछ भी नहीं कह सकता, और फिर भी मनुष्य को इसकी जानकारी तो हासिल करनी ही पड़ती है और हर एक आदमी को इसका ज्ञान आगे या पीछे हो ही जाता है। लेकिन जब हम इस बात की जाँच करने बैठते हैं कि मनुष्य को यह ज्ञान किस प्रकार मिलता है, तब मालूम होता है कि भयंकर से भयंकर क्रियाओं, संयोगों और दुर्घटनाओं द्वारा यह हम तक पहुँचता है। जिस ज्ञान का उद्देश्य संसार को जीवित रखना है, जिस ज्ञान द्वारा मनुष्य ईश्वर की एक अद्भुत कलाकृति को जन्म देने का गौरव प्राप्त करता है, वह ज्ञान जिस समाज को गन्दी से गन्दी जगहों और गन्दे वातावरण से ही मिल सकता है, वह समाज यदि सहशिक्षा में भी दुर्गन्ध का ही अनुभव करता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसीलिए यह आवश्यक है कि जो लड़के और लड़कियाँ सहशिक्षा के लिए तैयार हों, उन्हें प्रजनन का हेतु, उसकी महत्ता, उसके कार्य की मीमांसा और प्रजनन की उपयुक्तता समझा दी जाय। जब तक बालक नहीं जानता है कि उसका शरीर क्या है, उसके प्रत्येक अंग का प्राकृतिक उपयोग क्या है, और किस समय उसमें क्या परिवर्तन होते हैं, तब तक बहुत संभव है कि वह अपने अंगों का दुरुपयोग करे। ऐसे दुरुपयोग के परिणाम से परिचित और अपरिचित बालक में उपयोगिता की दृष्टि के सम्बन्ध में जो हेर फेर या परिवर्तन होता है, वह लाभदायक है। फलतः जानकार बालक अनजाने भी कभी अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग नहीं करता अतः यह आवश्यक है कि जो विद्यार्थी ब्रह्मचर्य से रहना चाहते हैं, वे अपने शरीर का महत्त्व, उसका उपयोग और उस उपयोग का हेतु समझ लें। यह ज्ञान कैसे कराया जाय, कब कराया जाय, कौन करावे, और कराते समय कितनी सावधानी और दक्षता से काम लिया जाय, आदि ऐसी बातें हैं, जिनकी चर्चा इस लेख में नहीं की जा सकती। परन्तु सहशिक्षा में दोनों जाति के लिए इस विषय का वास्तविक ज्ञान तो आवश्यक ही है। इसका यह आशय नहीं कि ज्ञानप्राप्ति के बाद छात्रों में उसके लिए आवश्यक क्रियात्मकता भी उत्पन्न हो ही जायगी; शायद हो, शायद तभी हो क्योंकि जब मनुष्य का ज्ञान परिणाम की परवा नहीं करता तब उसके ज्ञान में यह क्षमता नहीं रह जाती कि वह परिणाम को रोक सके, उस स्थिति में तो ज्ञान से भी बढ़कर बलवान और तेजस्वी कोई वस्तु ही मनुष्य को पतन से रोक सकती है। पतन से बचने के लिए जिस प्रकार शिक्षा की आवश्यकता है, उसी प्रकार उससे बचने के लिए उन्नति में श्रद्धा और उन्नति की आकांक्षा भी आवश्यक है। यह आकांक्षा प्रेयस् की अपेक्षा श्रेयस् की है; होनी चाहिए। इसे हम मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्ति भी कह सकते हैं। ज्ञान के साथ ही जब मनुष्य के अन्दर आध्यात्मिकता का उदय होता है, तभी वह संयमी बनता है। इसी कारण हम देखते हैं कि ज्ञानी होते हुए भी कई लोग नास्तिक होते हैं, जब कि ज्ञान

के साथ श्रद्धा का योग पाकर मनुष्य आस्तिक बन जाता है। किन्तु मनुष्य की इस आध्यात्मिकता का आधार समाज का कोई बन्धन, व्यवहार का कोई नियम, शरीर के आरोग्य का कोई विधान, या स्वर्ग-नरक की कोई भावना न होनी चाहिए। इस प्रकार की आध्यात्मिकता नैतिक शिक्षा से या कर्मकाण्ड की जड़ उपासना से प्राप्त नहीं होती। यह आध्यात्मिकता एक प्रकार की चेतना होती है जो चेतनामय वातावरण में ही पैदा होती है और पुसती है। वृत्ति की इस आध्यात्मिकता को जगाने के लिए सहशिक्षा का वातावरण चेतनामय, प्राणवान्, और आत्मा के सौरभ से परिपूर्ण होना चाहिए। जहाँ इन चीज़ों का अभाव होगा, वहाँ सहशिक्षा नाम-मात्र की रहेगी, और उसका परिणाम बुरा न हुआ, तो अच्छा भी न होगा।

अब कुछ बातों की व्यावहारिक चर्चा के बाद मैं इस लेख को समाप्त कर दूँगा। कहा जाता है कि सहशिक्षा की व्यवस्था और प्रबन्ध करनेवाला शिक्षक बहुत ही कुशल होना चाहिए। यह बात सोलह आने सच है। यदि शिक्षक स्वयं जीवन के कुछ उच्च सिद्धान्तों से प्रेरित होकर काम न करता हो, उसे प्रजनन शास्त्र और मनोविज्ञान का ठीक-ठीक ज्ञान न हो, तो उसकी दशा उस मनुष्य की-सी होगी, जिसे वैद्यक का कोई ज्ञान तो है नहीं फिर भी कई प्रकार के नीरोग और रोगियों के बीच में जो वैद्य बन बैठा है। ऐसे मनुष्य के कार्य का रोगियों के लिए जो भयंकर परिणाम हो सकता है, वैसा ही भयंकर परिणाम कच्चे शिक्षक के कारण सहशिक्षा के क्षेत्र में भी हो सकता है। इसका यह आशय नहीं है कि सहशिक्षा की सफलता का सारा आधार शिक्षक पर है। फिर भी इसमें कोइ सन्देह नहीं मालूम होता कि सहशिक्षा के क्षेत्र में भी घास-पात की निराई का काम, या कहिए चीर-फाड़ का काम आवश्यक है। जिस प्रकार पेड़ को स्वयं उगना और बढ़ना पड़ता है, वैसे ही मनुष्य को भी अपना विकास स्वयं सिद्ध करना होगा। इसके लिए बाधक या हिंसक जानवरों से विकास की उसी हद तक रक्षा करनी है कि जिससे विकास स्वयं नष्ट न हो जाय, अथवा उसकी प्रगति न रुक जाय! विकास को दृढ़ और अटल बनाने के लिए यह तो आवश्यक है ही कि भयंकर आँधी-तूफ़ान में और कड़ाके की सर्दी या गर्मी में उसकी परवरिश की जाय! अतएव पतित से पतित समाज के बालकों में भी सहशिक्षा का प्रयोग निःसंकोच किया जा सकता है—किया जाना चाहिए। इसमें डर की बात ही क्या है?

एक बात और। यदि सहशिक्षा को सफल बनाना है, तो उसका वातावरण विश्वास से परिपूर्ण होना चाहिए। सहशिक्षा वहाँ कभी सफल न हो सकेगी जहाँ छात्रों और छात्राओं को अविश्वास की दृष्टि से देखा जायगा; जहाँ उन्हें बाहर से एक साथ पढ़ाया-लिखाया जायगा, पर अन्दर मिलने-जुलने की मनाही होगी, जहाँ उन्हें एक-दूसरे के गाढ़ परिचय में आने से रोका जायगा, और जहाँ इस बात की चिन्ता रखी जायगी कि वे एक-दूसरे के प्रति पक्षपात न करें, परस्पर मित्रता के बन्धन में न बँधें! यदि शिक्षक की दृष्टि से, उसके किसी व्यवहार से या उसकी वाणी से यह भाव व्यक्त होता रहा कि छात्र और छात्रायें एक दूसरे से पृथक् रहें, और एक-दूसरे से अपनी रक्षा किया करें, तो समझ लीजिए कि वहाँ सहशिक्षा का प्रयोग अवश्य निष्फल होगा। जब बालक समझ लेते हैं कि किसी खास वस्तु को उनके शिक्षक तिरस्कार की या अरुचि की दृष्टि से देखते हैं तब वे उस वस्तु को शिक्षक से छिपाने लगते हैं, और यही समय होता है, जब सहशिक्षा में अन्धकार प्रवेश करता है, दुराव-छिपाव बढ़ने लगता है!

अन्त में आशा के साथ कि सहशिक्षा के परिणाम सदा ही शुभ होंगे, मैं इस लेख को समाप्त करता हूँ! *

---

* मूल गुजराती से काशीनाथ त्रिवेदी द्वारा अनूदित।

प्रस्थान

[विनयकुमार]

प्राण पर है गर्व मुझको, प्रीति पर इठला रहा हूँ;
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

ज्ञात है इतना मुझे जब,
दूर मेरा देश आली;
तब रुकूँ क्यों देखकर मैं,
दिन अनोखा, निशि निराली!

लोचनों में चित्र उसका, ध्यान उर में ला रहा हूँ;
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

ढूँढ़ते फिरते जिसे दिन-रात,
सूरज, चाँद, तारे;
ग्रीष्म, वर्षा, शीत में,
खद्योत लेकर दीप सारे!

मैं अकिंचन भी उसी से, आज मिलने जा रहा हूँ;
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ!

राह कँकरीली, अ-देखी;
किन्तु है विश्वास उर में,
जा मिलूँगा मैं किसी दिन,
प्राण-धन से प्रेम-पुर में!

वह मुझे ठुकरायगा क्या, मैं जिसे अपना रहा हूँ?
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

व्यर्थ जग क्यों पूछता है?—
रात-दिन, संझा-सवेरे,
मैं उसे क्या भेंट दूँगा?—
कुछ नहीं है पास मेरे।
क्यों लुटेरों का मुझे डर? साथ क्या ले जा रहा हूँ?
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

है नहीं सुख-दुख वहाँ,
उसको नहीं तम-ज्योति घेरे,
क्या करूँ उस देश का वर्णन,
कि जिसमें प्राण मेरे!
बस, इसी से देवि! कुछ कहते हुए सकुचा रहा हूँ;
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

ले सुरा की प्यालियाँ,
परदेश में उन्मत्त डोलूँ;
प्राण का मृदु-स्पर्श खोकर,
ईंट-पत्थर क्यों टटोलूँ?
देश को क्या भूल जाऊँ? ग्रंथि मैं सुलझा रहा हूँ;
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

विचरता उसके कहे पर,
अंक में जिसके पला मैं;
मैं न आया था ख़ुशी से,
फिर न मन से ही चला मैं।
खींच लाया था पतन—सुधि ले चली सो जा रहा हूँ।
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

सोचता हूँ, कौन हूँ मैं;
किस लिए आया यहाँ था?

कल कहाँ विश्राम लूँगा,
आज के पहिले कहाँ था?
देवि! सब-कुछ पूछ कर बोलो, कि मैं क्या पा रहा हूँ;
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

सामने क्या देखता हूँ?—
तिमिर है, आलोक भी है।
है मिलन का सुख कहीं तो,
फिर विरह का शोक भी है।
मैं इसी से तो किसी से भी न प्रीति लगा रहा हूँ;
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

इस अचिर संसार में कह,
क्या करूँ अस्तित्व ले री?
मूँद कर आँखें लुटाया;
जो मिला सत्वर, उसे री!
बैठ इस अपने किये पर किन्तु क्या पछता रहा हूँ?
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

चुक न जाये साँस मेरी,
रुँध न जावे कंठ मेरा;
इस उजेली राह में,
आकर न बस जावे अँधेरा!
और क्या कारण कि जो मैं पाँव शीघ्र उठा रहा हूँ?
आज अपने देश को मैं, गीत गाता जा रहा हूँ।

छिन्न-पृष्ठा

[सरस्वती पाणिग्राही]

बेटा ! इस छिन्न जीवन के इतिहास को सुनने के लिए तुम इतने अधीर क्यों होते हो ? इसमें शृंखला नहीं, धारा नहीं। इसकी घटनाएँ परस्पर संबन्ध नहीं रखतीं, सैकड़ों धाराओं में यह विच्छिन्न तथा विभक्त है। संसार के एक अँधेरे कोने में पड़ा-पड़ा यह सड़ा है। इस दीन हीन जीवन का किसी ने भी संवाद नहीं रखा है। किसी ने एक दिन भी इसका सुख-दुःख नहीं पूछा है। दुर्बल होने के कारण, बदला लेने के लिए अक्षम होने के कारण इस निरीह प्राणी पर लोगों ने ढेले मारे हैं। ओह, ससार का विचार कैसा निर्मम है !

बेटा, तुम्हें क्या चिन्ता है ? बालक होने से क्या हुआ, तुम्हें अभाव तो कुछ नहीं है, तुम धनी के बच्चे हो, तुम हो सुखी। तुम्हारे पिता-माता नहीं हैं, सत्य ; किन्तु मेरे समान कितनी दासियाँ हैं, दास हैं। तुम्हें सब प्रकार से सुखी करने के वास्ते वे लोग तुम्हारा नमक खाकर जीवित हैं। तब तुम्हें किस बात की फ़िकर है ? मैं तुम्हें अन्यान्य लोगों की अपेक्षा अधिक स्नेह करती हूँ, इसका तुम्हें बड़ा आश्चर्य होता है। उसका कारण और कुछ नहीं, केवल मैं तुम्हारे घर की एक बहुत पुरानी नौकरानी हूँ। बहुत दिनों से तुम लोगों का नमक खाती आई हूँ। तुम्हारे घर को छोड़ मेरा और घर नहीं है, तुमको छोड़ मेरा और कुछ नहीं है। अबला मैं, मेरी कौन गति है ? इतने दिन तक तुम्हारा अन्न खाकर यह शरीर जीवित है। तुम्हारी देखभाल न करूँगी तो किसकी करूँगी ? तुम्हारे प्रति जो कुछ भी स्नेह-ममता मुझ में है वह केवल इसी ख़ुराक और पोशाक के कारण। तुम्हारे घर में मेरी प्रतिपत्ति अधिक है, तो वह केवल बहुत दिन की दासी होने के कारण। मेरी शिक्षा-दीक्षा साधारण नौकरानियों की अपेक्षा अधिक है, तो वह मेरी बाल्य शिक्षा के कारण नहीं है। अनेक दिनों के बाद अपनी चेष्टा से यत्किंचित जान पाया, उसी के द्वारा आज अतीत जीविन का 'तन्न'-'तन्न' करके विश्लेषण करती हूँ। यदि वैसा न होता जो स्त्री-कुल में जन्म लेकर और फिर कौन शिक्षा देता ?

तुमने बहुत बार मुझसे मेरे पिता-माता आदि के विषय में पूछा है। उस समय तुम एक छोटे-से बच्चे थे। किन्तु अब तुम जितनी शिक्षा पा चुके हो उससे थोड़ा बहुत अवश्य समझ सकोगे। अच्छा, इस विक्षत जीवन के अध्यायों को सुनने के लिये यदि तुम्हारा इतना आग्रह है तो पहिले धैर्य धरो क्योंकि तुम्हारी बालक-मति ने संसार के कठिन स्पर्शों का परिचय अभी तक नहीं पाया है। दूसरे की सामान्य व्यथा देखकर तुम्हारे कातर होने की, विचलित होने की आशंका है।

मनुष्य का जीवन चित्रों की एक किताब की तरह है, असंख्य पन्नों में यह मुद्रित है। प्रत्येक पन्ने को खोलना एक गूढ़ रहस्य का उद्घाटन करना है, प्रत्येक पृष्ठ में जीवन की सैकड़ों प्रतिकृतियाँ रहती हैं। किसी में सप्तरंग से रंजित चित्र सुन्दर, मधुर होकर विकसित हो उठता है, और कोई लोहितधारा से आर्द्र नाना स्थानों में छिन्न विकल। अपने जीवन पर मुड़कर ज़रा नज़र डालने से मनुष्य इसे अच्छी तरह समझ सकेगा। परन्तु जब मैं अपने जीवन पर दृष्टि डालती हूँ तब देखती क्या हूँ? यह आरंभ से शेषपर्यन्त केवल व्यर्थता का अवतार है। इसमें रंगविन्यास की विचित्रता नहीं है, माधुरी नहीं, तथा सौन्दर्य भी नहीं है। प्रेम, अपमान अथवा स्नेह के आघात द्वारा संभूत अश्रुजल से यह सरस नहीं है। केवल एक अखंड हाहाकार, नैराश्य, शुष्कता! न जाने क्यों, संसार के किस वैशिष्ट्य के लिये विधाता ने ऐसे जीव की रचना की; मनुष्य के आकार में इसको जन्म दिया? परन्तु इसके भीतर प्राण नहीं हैं, मानव की अन्तर-सुलभ प्रकृति का आभास नहीं है। मुझमें कुछ नहीं है। केवल एक यन्त्र के समान अंध रूप से दूसरों का हुकुम बजाती आई हूँ।

याद है, अति बाल्यावस्था में कितने दुःख-कष्ट सहने पड़े थे। दरिद्र माता-पिता के हम छः सन्तान थे। अन्न सहित जल मिलाकर आहार करने का उसी दिन से अभ्यास है। केवट के गंभीर पुष्करिणी में से मछली पकड़ने की तरह हम लोग उसी जल में से अन्न बीन-बीनकर खाते थे। वह भी दोनों वक़्त नहीं मिलता था, उस पर अपवाद भी ढेरों थे। माता-पिता का नित्य अभियोग था कि राक्षस बच्चे सब खा गये। हाय रे दारिद्र्य! मानव की स्वाभाविक वृत्ति पर भी उसका इतना प्रभाव! बेटा! इसी घटना से ही तुम्हें मेरे जीवन के बारे में एक मोटी धारणा हो गई होगी। जिसके पिता-माता का स्वभाव इतना अस्वाभाविक है, उस सन्तान का चरित्र कैसा हुआ होगा, तुम जान ही सकते हो।

उसके बाद हाँ, अतिबाल्यावस्था से ही बासन माँजना, घर-द्वार झाड़ना बुहारना, रसोई बनाना आदि सब काम करना पड़ता था। इतनी ताड़ना सहकर भी यह जीवन बढ़ता ही गया। वहाँ पर भी इसकी गति नहीं रुकी। अन्य सब बालक आनन्दित हो खेला करते थे; किन्तु इस मुँह को थोड़ा हँसने के लिए भी अवकाश नहीं था। एक अखंड वेदना की छाया में जीवन विशीर्ण हो गया था। मेरी अवस्था अन्य लोगों की अपेक्षा इतनी पृथक् क्यों हुई? इस सम्बन्ध में उस समय मेरे मन में एक दिन भी ग्लानि उत्पन्न नहीं हुई। वह था शैशव का चित्त, शिशिर-स्नात प्रभात पुष्प की तरह पवित्र, उज्ज्वल। उस पवित्र जीवन में इतना आविल भाव कैसे उत्पन्न होगा? पिता-माता की उस पाशविकता का स्मरण कर आज ये प्राण प्रज्ज्वलित हो उठते हैं—घोर दारिद्र्य में उन्होंने इतने निरीह जीवों को जन्म देकर दंडित क्यों किया?

फिर याद आती है, एक एक करके सब भाई-बहिनों ने संसार से विदा ली। उस समय बाल्य-बुद्धि होने पर भी कातर हो परमेश्वर से प्रार्थना की थी, मैं भी इस संसार से विदा लूँ, इस कष्ट से रक्षा पाऊँ। किन्तु इस पाषाण प्राण की नियति में कुछ और लिखा था। इतनी जल्दी उसका अन्त होता तो क्यों? विवाह-समय की बात याद है—वह तो कल की तरह याद है! परन्तु समय की कितनी हज़ार तरंगे इसके ऊपर बह गई हैं, कितने विभिन्न पथ से जीवन-नौका धूप और वर्षा सहती हुई बह आई है। उसी विवाह-समय की बात जन्मदान करने के नाना कष्ट सहने का एवज़ माता-पिता ने इस निरीह बाल्य-जीवन से ही कुछ कम वसूल नहीं कर लिया था तौभी उनका मन शान्त नहीं हुआ। विवाह के समय उनके बाक़ी ऋण को भी मुझे चुकाना पड़ा। इस समय भी मैं केवल एक निष्क्रिय द्रष्टा थी। मेरे ही जीवन को लेकर इतना खेल-कौतुक

हुआ है, अथच मेरा उस पर लेशमात्र अधिकार भी नहीं है। मैंने स्वेच्छापूर्वक कुछ नहीं किया है। ऋण करने के लिए मैं नहीं गई थी, परिशोध के समय भी मैं अज्ञान थी। आह ! मनुष्य-जीवन को लेकर क्या इसी प्रकार खेला जा सकता है ? स्वातंत्र्य नाम का कुछ स्वत्व तो मनुष्य का है न ?—समस्त जीव जगत् में मनुष्य में विचार-बुद्धि नामक एक विशेषता है न ?

जो कुछ भी हो, उस समय कन्या-बाज़ार में मेरी बिक्री का दाम कुछ चढ़ गया था। इसी को लेकर थोड़े समय के लिए मैंने यथाकिंचित् सुख तथा गर्व अनुभव किया था। इस जले शरीर ने सुन्दरता के विषय में सुख्याति पाई थी, इस मृत प्राण ने 'गुणवती' होने का यश अर्जन किया था। उससे ख़ूब ऊँचे दर में एक धनी गृहस्थ के यहाँ मेरी बिक्री हो गई। स्वामी की अवस्था पैंतालीस वर्ष थी और मैं उनकी थी तृतीय स्त्री। अन्य स्त्रियों के गर्भजात पुत्र कन्या आदि थे, पर घर का जंजाल न चल सकने के कारण इस दुःखिनी के ऊपर इतना अनुग्रह हुआ !

यौवन ! फिर इस सड़े प्राण में यौवन आया !

उस समय दुर्घट रात्रि की समस्त विपद् को अतिक्रम करके प्रभातालोक की रंगीन रश्मि ने हृदय की सब पंखुड़ियों को सतेज कर रखा था। समस्त प्राण को उत्तेजना लेकर स्वप्न-वेष्ठित चन्द्रालोकित रजनी में मैं द्रुतगति से जा रही थी। उस समय मुझे मालूम नहीं पड़ा, इस यौवन में मुझे किस की ज़रूरत है ; उस यौवन की ही कितनी आवश्यकता है, उसका मूल्य क्या है ? विधाता के इस सांघातिक कौतुक के आगे मैं अबला शक्ति को ले साहस (?) करके खड़ी हो सकी थी, इसके लिए अपने आप को क्या धन्यवाद दूँ ? सचमुच कितना भयंकर खेल था वह, कुछ भी अभाव नहीं है तब भी सब सम्पदा लेकर नौका डूबने लगी ! यौवन तो पाया, पर उसे लेकर रखूँ कहाँ ? दरिद्र मैं, मुझे तो सर्वदा स्थान का अभाव ही था। जो कुछ भी हो, यौवन आया। एक ही दिन के लिए इस धरणी को कल्पना के विचित्र रंग से रंजित कर देख लिया। फिर सब धीरे-धीरे मिटने लगा। तब मैं न कुछ जान सकी, न देख सकी। अब मेरा गति-पथ है पृथ्वी के कठिन पत्थरों पर, और है चिर दिन उन्हीं पत्थरों का निष्ठुर स्पर्श !

स्वामी-गृह में प्रवेश करने पर अपना मूल्य अच्छी तरह समझने लगी। विवाह के समय वह ज्ञान इतना कम था कि ठीक पशु की तरह अज्ञान थी। स्वामी के घर आकर जब मैंने समझा कि विवाह में अभिभावकों की इच्छा और पुरोहितों ने ही काम किया है तब मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। उस अनुष्ठान में इतनी बड़ी हिस्सेदार होकर मेरा अति सामान्य मत भी दरकार नहीं हुआ ! वह तो माता पिता का एक खेल था। उसमें उन्हीं का मत ही ख़ूब था। नट कठपुतली को सुतली से बाँधकर अपने इच्छानुसार नचाया करता है और उस खेल में जो लाभ-हानि, हार-जीत होती है उसमें स्वयं कठपुतली का कुछ भी संपर्क नहीं रहता—जो कुछ होता है उसका पूर्ण अधिकारी होता है वही खिलाड़ी। परन्तु मनुष्य तो कुछ प्राणहीन, जड़ पुतली नहीं है—इसके ऊपर इतना अविचार, इतनी अमानुषिकता क्यों ?

इसी प्रकार जीवन की सुकुमार वृत्तियाँ दूषित समाज के अमंगलकारी स्पर्श से शुष्क हो गईं।

स्वामी-गृह में प्रवेश करके मैं अपना मूल्य अच्छी तरह से समझ सकी थी। दरिद्र घर की कन्या, फिर पिता ने बिक्री करके धन ग्रहण किया है—सुतरां मैंने स्वामी-गृह में दासी होकर प्रवेश किया, वधू होकर नहीं ! समस्त दासीत्व ग्रहण करने पर भी यदि वृद्ध का थोड़ा-सा भी स्नेह पाती तो यह जीवन रिक्त तथा दुर्वह नहीं हो जाता, इस संसार को शैतान का राज्य न समझती। इस अभिशप्त प्राण का अन्त कर देने के लिए बारम्बार विफल प्रयास न करती।

बेटा ! तुम इतने कातर क्यों होते हो ? मैं तो ग़रीब अबला, इन सब का समाधान करने का मेरे पास क्या उपाय था ? शिक्षा नहीं, दीक्षा नहीं; एक कोने में पड़ी लांछिता नारी का उपाय क्या हो सकता है ? अनेक स्थानों में तो देखा गया है कि उच्च शिक्षा प्राप्त वयस्क युवक भी माता पिता के कर्तृत्व एवं समाज के अन्याय का दमन करने का साहस नहीं करता। तो फिर दुर्बल नारी का क्या पूछना ? हाँ, उसी स्वामी-गृह में दरिद्र होने के कारण हर घड़ी अपमान सहा है, हर घड़ी हतादर हुई हूँ, निन्दा सुनी है। इसी जीवन के प्रकृत ऐश्वर्य को किसी ने नहीं समझा, केवल यही माटी का ऐश्वर्य सबकी आँखों में बड़ा दिखने लगा। स्वामी-गृह में दास-दासी के सिवा 'कुल-स्त्री' होकर कोई नहीं थी, पर मुझे दासी की दासी होकर रहना पड़ा। दासियों का अनुशासन भी अनेक बार नतमस्तक हो सहना पड़ा है। असली बात तो यह थी, जिनको स्वामी के रूप में प्राप्त किया, उन्होंने मुझे दासी की अपेक्षा एक दिन भी उच्च समझकर नहीं देखा। कुछ दासियों का आदर मेरी अपेक्षा अधिक था। स्वामी के लाल नेत्र सर्वदा मेरी गतिविधि का निरीक्षण कर रात दिन मुझे भय से प्रकम्पित करते थे। स्वामी-गृह में मेरा काम था अन्य स्त्रियों की सन्तानों का पालन करना, घर के सब नीच कर्मों का परिचालन करना; उसके बाद समय, असमय में हर वक्त स्वामी का हुक्म बजाना। बस, इसके सिवा मैं और किसी काम में आवश्यक नहीं हुई ! स्नेह, प्रीति, दया, ममता कुछ नहीं; ख़ाली हुक्म, हुक्म ! उसमें थोड़ा-सी ग़लती होते ही उसी बिक्री की बात और मेरे दाम का विचार !

बेटा, कोमल-मति बालक होने से तुम बिना विचारे इन सब बातों में मेरा समर्थन करोगे। पर हिन्दू घर की नर-नारी इस बात को सुनते ही मुझे धर्मद्रोही, पतिद्रोही कहकर नाना प्रकार से मेरी भर्त्सना करेंगी। क्योंकि हिन्दू रमणी सब अत्याचार-अपमान को चुपचाप सहने में अपना गौरव समझती है। मैंने चिरदिन अशान्ति में ही समय बिताया है, इतना बड़ा प्रवंचना करके यह कैसे कहूँ ?

इसी रिक्तता के कारण जीवन की सब कोमलता सूख गई। बहुत बार बैठे-बैठे सोचा करती हूँ, मानव जीवन के इस दुर्विपाक का कर्ता कौन है—समाज या ईश्वर ? कभी-कभी घोर नास्तिकता से जीवन जड़वत् हो जाता है, कभी-कभी मानव समाज के प्रति तीव्र घृणा से चित्त विकृत हो जाया करता है। मैं जानती हूँ, जीवन को, संसार को सुखमय, आनन्दमय करने का एक और मार्ग है। वह ठीक इसके विपरीत है। परन्तु वह मार्ग केवल मेरे जानने में ही रह गया, उसका अनुभव नहीं कर सकी।

बहुत बार सोचा, यौवन के उद्दाम प्रवाह में इस शरीर को खोल दूँगी। इस सौन्दर्य को बाज़ार में रख, मद्यप दुराचारी के क्षुधित अन्तर को तुष्ट करके अच्छा कीमत कम लूगी, परन्तु न जाने क्यों इतनी बड़ी बात कर देने के लिए मन नहीं चला। स्वामी का उत्पीड़न कठिन हो गया है, असह्य हो उठा है। एक ही मुहूर्त में सब शेष कर देने के लिए उद्यत हुई हूँ, पर बड़ा धैर्य धरके उस सब को पार कर जीवन बचा रखा है। ओह ! उसको क्या सीमा है ! जीवन के पूरे रहस्य को बहुत छोटे रूप में देखा है और समझा है। जीवित रहने का उद्देश्य और आशा केवल एक कौतूहल के सिवा और कुछ नहीं। इस जीवन का और कितने दिन भोग करूँगी, इसमें और कितना काठिन्य-भेद हो सकेगा, अन्त में न जाने किस दुर्दिन का महातामस इसकी प्रतीक्षा कर रहा है—

एक उदाहरण से तुम इस जीवन की अस्वाभाविकता अच्छी तरह से समझ सकोगे। कुछ वर्षों के बाद स्वामी की मृत्यु हो गई। दास-दासी आदि सब रोने लगे। पर ये सूखे चक्षु आर्द्र

भी नहीं हुए। कैसे होते ? जब आँसू स्वयं आँखों से न बहे तब क्या क्रन्दन करने की क्रिया समझ आँसू निकलें ? स्वामी का वियोग मिलन से किस गुण में भिन्न है यह मैं नहीं जान सकी। उनकी मृत्यु के बाद मैंने अधिक स्वाधीनता- पूर्वक साँस ली।

स्वामी की मृत्यु के बाद उनकी सब संपत्ति की मालिक मैं हुई ; पर एक दिन भी उस पर अधिकार दिखाने के लिए मेरा मन अधीर नहीं हुआ। उस संपत्ति में पाशविकता की गन्ध मैंने पाई, मुझे वह विष के समान दिखी। मैं उस घर की दासी थी इसलिए दासी-रूप से ही उसकी रक्षा करना मैंने उचित समझा और उसी प्रकार से ही उसकी परिचालना आरम्भ की।

इसके पहिले की एक घटना का उल्लेख नहीं कर पाई। स्वामी का हुक्म मान गर्भवती हुई। जिस दिन पहिले यह बात जानी, सब देह काँप उठी। यह किसकी सन्तान को मैंने गर्भ में धारण किया ? समस्त प्राण इस चिन्ता में घोर विद्रोही हो उठता था। बहुत बार प्रबल इच्छा हुई, अपनी आत्महत्या और इस घृणय शिशुहत्या द्वारा अच्छी तरह से बदला ले लूँ। पर न जाने क्यों हृदय दुर्बल हो उठता था। जिसका नमक खाया, उसके शिशु की हत्या ! नहीं, यह अन्याय ! दासी का कर्तव्य है शिशु रक्षण, शिशु मारण नहीं।

सो दासी की तरह शिशु का पालन किया। उस समय मैं अच्छी तरह समझ सकी थी कि मुझे अपने गर्भ से एक और पति को, एक और प्रभु को प्रसव करना पड़ा है। मैं यह सब केवल अपने कर्तव्य की दृष्टि से ही नहीं करता था ; मृत होने पर भी मेरे स्वामी की प्रेतात्मा जैसे दिन-रात मुझे प्रत्येक कर्म करने के लिए रक्त-चक्षु दिखा प्रताड़ित करती रहती थी।

लोग कहा करते हैं, सह जाना ही नारी का धर्म है ; पर मैं एक भी दिन इसका अनुभव नहीं कर सकी। दुर्बलता ही नारी का अभाव है ; मैं केवल इतना ही जानती हूँ। रिक्तता में एक आनन्द है, यह मैं बहुत समय के बाद समझी। उस समय मैंने स्वतः कुछ त्याग नहीं किया था। मुझसे सब-कुछ बलपूर्वक छीन लिया गया है। मेरे प्राण, मन, यौवन, सौन्दर्य स्वाधीनता, सब कुछ ! उसी शिशु को जिसे वक्ष का रक्त पानी बनाकर पान कराया वह भी मुझसे बलपूर्वक छीन लिया गया। उसमें मेरा स्नेह मिश्रित नहीं है, मेरा अन्तर आदर-ममताजनित नहीं है। केवल नमक खाती हूँ, यही समझ दासी का कर्तव्य-पालन किया। उस त्याग में मेरे प्राण नहीं हैं, उस रिक्तता में मैं निरानन्द हूँ। उस त्याग की जड़ में, रिक्तता की जड़ में हताशा की शून्यता मौन-तप्त अश्रुओं से जड़ित है। शकुनि की तरह सब बंधु-बांधवों ने थोड़ा-बहुत मेरे अन्तर का रक्त पान किया है और प्रतिदान स्वरूप मुझे दीन, कंगाल बना कर छोड़ दिया है। बहुत बार चेष्टा की कि इस त्याग में से एक आनन्द खींचूँ पर जीवन की सैकड़ों चेष्टाएँ, सैकड़ों उद्यम विफल, केवल विफल होकर रह गए हैं।

चिरदिन प्रतिहिंसा के नरक में दग्ध हुई हूँ। पर किससे बदला लूँ ? समाज से ? इसके तो हाथ-पैर कुछ नहीं हैं। होते तो तप्त लोहे की भट्टी में निक्षेप करके भरपूर बदला ले लेती।

यही मेरी जीवन-पोथी है। इसके सब पृष्ठ छिन्न-भिन्न, विकल हो गये हैं। इसमें चित्रों का वैचित्र्य नहीं, केवल स्याही की निष्ठुर वन-रेखा है। इसमें संगीत नहीं, केवल मर्माहत का चीत्कार है। यह संसार के एक निभृत कोने में पड़ी रहने की वस्तु है, लिपिबद्ध होने की नहीं। जो बीत चुका है, अतीत के प्रकाण्ड गर्भ में लीन हो चुका है, उसी जीवन को आज दूर से हँसी में उड़ा देने की इच्छा होती है। सारा जीवन एक कौतूहल की तरह मालूम पड़ता है, इस मुख से हँसी बहुत दिनों से बिदा हो चुकी है। इसी प्रकार सब तरफ़ से जीवन को उलट-पुलटकर देखती हूँ; पर सभी ओर वही रिक्तता, वही रिक्तता !

बेटा ! तुम रोते क्यों हो ? इस जीवन की व्यथित कहानी सुनकर ? छिः ! दासी के लिए तुम रोओगे ?

अश्रुसिक्त चेहरे से बालक ने उत्तर दिया—माँ, माँ, इतने दिन तक तुमने मुझसे इतनी बातें छिपा रखी थीं ?

'यह क्या ? माँ कौन ? मैं तो दासी हूँ। इतने दिन तक तुमको अपना प्रकृत स्वरूप दिखाती आई हूँ, कुछ भी तो नहीं छिपाया है। चुप हो, बेटा, तुमको सुखी करने के लिए जीवन की तीन अच्छी बातें खोजी थीं। पर क्या करूँ, कुछ भी न पा सकी।'

बालक ने उसी भाषा में उत्तर दिया—माँ,माँ, तुम तो मेरी माँ हो, दासी कैसे !

'फिर माँ ! मैंने तुमको जन्म दिया है सत्य ; पर प्यार से चुम्बन नहीं किया है, आदर से गोदी में नहीं लिया है। इतना बड़ा नाम लेने क्यों जाऊँ ? मैं चिर दासी हूँ, पर तुम तो दासी के पुत्र नहीं, तुम धनी की सन्तान हो। तुम्हारी परिचर्या करने वाली दासी माँ होगी ? छिः, रोते क्यों हो ?—वह दुर्बलता का चिन्ह है, नारीत्व का परिचायक है। यदि दासी को माता के स्थान तक पर उठाना चाहते हो, तो वह इतना सहज नहीं—तपस्या, तपस्या ! *

---

* कालिन्दीचरण पाणिग्राही के एक उड़िया गल्प के आधार पर लिखित।

सन्त रैदास

[रामचन्द्र टंडन]

ऐसे समय पर, जब कि देश में हमारे अस्पृश्यों अथवा हरिजनों के पक्ष में एक बलवान आन्दोलन चल रहा है, एक ऐसे हरिजन सन्त का स्मरण करना, जिसने आज से चार शताब्दी पहले, ईश्वर की दृष्टि में मनुष्य मात्र की समानता का सन्देश सुनाया था, कदाचित् अनुचित न होगा। यह महात्मा थे रैदास। नामदेव, सदना, सेन, कबीर, रैदास, कमाल, दादू, नाभादास, कृष्णदास आदि कितने ही सन्त हमारे यहाँ हो गए हैं जिन्होंने समाज की नीच कहलानेवाली श्रेणियों में जन्म पाकर भी अपने पवित्र चरित्रों द्वारा ऊँचे पद तथा धार्मिक प्रतिष्ठा प्राप्त की, और जिनकी रचनाएँ—जो कुछ भी प्राप्त हुई हैं, हिंदी भाषा और हिंदू धर्म की प्रतिष्ठित संपत्ति हैं। सम्मान की दृष्टि से कबीर के बाद कदाचित् रैदास जी का ही नाम आता है।

इन मध्यकालीन महात्माओं के विश्वसनीय जीवनवृत्त जानने के लिए दुर्भाग्यवश हमारे पास विशेष प्रामाणिक सामग्री नहीं है। रैदास जी के जन्म तथा निधन की तिथियाँ तक हमें ज्ञात नहीं हैं। परंपरा हमें बताती है कि उन्होंने पूर्ण आयु और परिपक्व अवस्था प्राप्त की थी, और वह स्वामी रामानन्द के शिष्य तथा कबीरदास के सम-सामयिक थे। मीराबाई के कई गीतों में रैदास जी की गुरु के रूप में चर्चा आई है। रामानन्द, कबीर और मीराबाई की तिथियों के निकट इनका समय भी अनुमान करना चाहिए। परन्तु इन प्रसिद्ध व्यक्तियों के समय के विषय में भी बड़ा विवाद है। रामानन्द जी ने स्वयं दीर्घायु प्राप्त की थी, इसका वर्णन हमें नाभादास जी के 'भक्तमाल' में मिलता है। विद्वानों के रामानन्द जी की जन्म-तिथि के अनुमान में आपस में इतना अंतर है कि कोई यदि इसे १२९९ ई० बताता है तो दूसरा १४०० ई०। अभी हाल में प्राप्त हुए एक ग्रंथ में, जिसका नाम 'प्रसंग-पारिजात' है और जो लगभग १४६० ई० में समाप्त हुआ बताया जाता है, रामानंद जी की मृत्यु-तिथि सं १५०५ अर्थात १४४८ ई० में लिखी है। 'प्रसंग-पारिजात' की प्रामाणिकता भी नितांत असंदिग्ध नहीं है। परन्तु सब बातों पर विचार करते हुए, और यह जानते हुए कि रामानन्द जी की दीर्घायु के विषय में सर्वसम्मत है, यह अनुमान करना अनुचित नहीं जान पड़ता कि रामानन्द जी चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में तथा पंद्रहवीं सदी के पूर्वार्ध में रहे हैं। परंपरा इस विषय में भी दृढ़ है कि कबीर और रैदास दोनों ही रामानन्द जी के शिष्य थे। इसकी पुष्टि उपर्युक्त 'प्रसंग-पारिजात' से भी होती है। कबीर और रैदास दोनों ही बनारस के थे, और यहां पर उनके गुरु की भी गद्दी थी। रैदास के पदों में जिस प्रकार से कबीर की चर्चा की गई है उससे पता चलता है कि कबीर जी रैदास से बड़े थे।

ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीर और रैदास दोनों ही रामानन्द जी के प्रभाव में आये, फिर भी कबीरदास जी प्रौढ़ता प्राप्त कर चुके थे और रैदास जी रामानन्द जी के सामने बिल्कुल कम अवस्था में प्रस्तुत हुए थे। रैदास जी की साधु-सेवा में बचपन से ही लगन थी, और रामानन्द जी ने, जिनको दलित जातियों से असीम प्रेम था संभवतः बालक रैदास को अपने शिष्यों में सम्मिलित कर लिया था। 'की' महोदय ने अपनी पुस्तक 'कबीर एंड हिज़ फ़ालोअर्स' में मिर्ज़ापुर ज़िले में सन् १५४३ में एक साधुमंडली की स्थापना बतलाई है। इस का संस्थापक वीरभान नामक एक साधु था। वीरभान उदयदास का शिष्य था और उदयदास स्वयं रैदास जी का शिष्य था। अब हम यदि १५४३ ई० को उदयदास के निधन की तिथि मान लें तो रैदास जी की मृत्यु-तिथि इससे कुछ पूर्व माननी पड़ेगी। और यह देखते हुए कि रैदास जी की पूर्णायु बताई जाती है—कुछ लोग तो १२० वर्ष बताते हैं—संभवतः उदयदास उनसे बहुत समय बाद तक जीवित न रहे होंगे, इसलिए रैदास जी का समय १४३० और १५३० ई० के बीच में मानना कदाचित् असंगत न होगा। यह समय स्वीकार कर लेने पर रैदास जी को रामानन्द जी के शिष्य, कबीर जी के गुरुभाई तथा मीराबाई के गुरु होने की सभी बातें विधिवत् समझ में आ जायँगी। पंडित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा के अनुसार मीराबाई १५१८ और १५२३ के बीच किसी समय वैधव्य को प्राप्त हुई थीं। संभवतः उन्होंने रैदास जी के दर्शन अपनी किसी तीर्थयात्रा के अवसर पर किए थे। उस समय रैदास जी बहुत वृद्ध हो चुके थे। अतएव हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रैदास जी का समय पंद्रहवीं सदी का तीन-चौथाई उत्तरार्ध तथा सोलहवीं सदी के प्रारंभिक पच्चीस-तीस वर्ष मानना चाहिए। जब तक और विशेष प्रमाण न प्राप्त हों इस विषय में इससे अधिक नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोगों ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि रैदास जी महाराष्ट्र अथवा राजपूताने में रहते थे। रैदास जी की कृतियों में भाषाओं का जैसा मिश्रण मिलता है उनसे इन मतों की संभवतः कुछ अंशों में पुष्टि होती है, परंतु 'आदिग्रंथ' में, जो कि सिक्खों की प्रतिष्ठित पुस्तक है और जिसका संकलन सोलहवीं शताब्दी के अन्त के लगभग हुआ हमें इस बात की निश्चित उक्ति मिलती है कि रैदास जी बनारस के आस-पास अपना व्यवसाय किया करते थे। इस में किंचित् संदेह नहीं है कि रैदास जी बनारस के ही निवासी थे। उन्होंने लम्बी यात्राएँ की थीं, और न केवल राजपूताना, और महाराष्ट्र वरन् गुजरात में भी वह घूमे थे। गुजरात में तो आज भी उनकी शिष्य-परम्परा है जो रविदासी कहलाती है।

इस में भी सन्देह नहीं कि रैदास जी जाति के चमार थे। अपनी नीच जाति का कथन उन्होंने अपने पदों में अनेक बार किया है। उनके पूर्वज ढोरों की खाल निकालने का व्यापार करते थे। रैदास जी के पिता का नाम रग्घू था और माता का घुरबिनिया बताया जाता है। जान पड़ता है कि रग्घू ने कुछ धन कमा लिया था और संपन्न था। उसे रैदास जी का साधु-सेवा में लगे रहना विशेष रुचिकर नहीं था। वह चाहता था कि रैदास जी अपने कुलागत धन्धे में लगें। यह भी कहा जाता है कि एक दिन रग्घू ने क्रोध में आकर रैदास जी को अपने घर से निकाल दिया और उन्होंने भी अपने घर के पिछवाड़े एक छप्पर डाल लिया और अपनी स्त्री सहित उसमें रहने लगे और पिता के क्रोध की कुछ भी चिंता न की। रैदास जी जूतियाँ गाँठ कर अपनी जीविका चलाते थे और जान पड़ता है कि इनके गाहक इनके काम तथा ईमानदारी से सन्तुष्ट थे। इनकी आय का अधिकांश अब भी साधुओं के सत्कार में जाता और धीरे-धीरे इनके सच्चरित्र की ख्याति फैली और जनता इनका आदर करने लगी।

रैदास जी के विषय में ऐसी अनेक कौतूहलजनक कथाएँ प्रचलित हैं जिनपर सहसा विश्वास नहींहोता। एक कथा यह भी है कि इनके यहाँ एक बार एक साधु आया जिसने इन्हें पारस पत्थर दिखाया और उससे लोहे को स्पर्श कराकर इनके सामने सोना भी बना दिया। उसने रैदास जी को यह पारस पत्थर भेंट करना चाहा। पहले तो इन्होंने पत्थर लेने से इनकार किया, लेकिन साधु के बहुत आग्रह करने पर इन्होंने कहा कि उसे हमारे छप्पर में रख दो। तेरह महीने बाद वह साधु इनके यहाँ फिर आया और उसने इनसे पत्थर के विषय में जिज्ञासा की तो इन्होंने कहा कि पत्थर जहाँ का तहाँ छप्पर में रखा है, देख लीजिये। इससे यह बात तो प्रकट ही है कि रैदास जी महान् सात्विक और संतोष का जीवन व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों इनकी ख्याति बढ़ी यह अपना समय अधिकाधिक धार्मिक वार्तालाप तथा सत्संग में देने लगे और संभवतः इन्होंने अपना पेशा छोड़ दिया और शिष्यों द्वारा प्रस्तुत भेंट पर ही अपना निर्वाह करने लगे। शिष्यों द्वारा प्राप्त भेंट के धन से इन्होंने एक धर्मशाला तथा एक मंदिर का निर्माण कराया। ऐसा भी कहीं-कहीं कहा जाता है और इसी मंदिर में आकर अंतिम दिनों में वे रहने लगे थे। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि रैदास जी के शिष्य, जिन में अब कदाचित् कुछ उच्च वर्ग के भी लोग सम्मिलित हो गये थे, इन्हें अपने पुराने पड़ोस से दूर रखना चाहते रहे हों। क्योंकि यद्यपि रैदास जी का सम्मान बढ़ता जाता था, फिर भी बनारस जैसे कट्टरता के केंद्र में, बहुत-सी जनता के मन में यह धारणा तो बनी ही रहती थी कि अमुक व्यक्ति नीच जाति का है। स्वयं रैदास जी को अपनी नीच जाति के संबन्ध में कोई ग्लानि नहीं थी। इसका प्रमाण उनके पदों को पढ़ने से बार-बार मिलेगा। उन्होंने अनेक बार उन दलित जाति के संतों का प्रसंग उठाया है जिन्होंने अपनी नीच जाति के होते हुए भी परम पद को प्राप्त किया था। फिर भी अपनी नीच जाति तथा व्यवसाय का रैदास जी ने इतनी बार वर्णन किया है कि पाठक को कभी-कभी यह संदेह होने लगता है कि वह अपनी जाति के विषय में अपने संकोच का वास्तव में त्याग भी कर सके थे या नहीं। एक बात स्पष्ट जान पड़ती है। वह यह कि यद्यपि रैदास जी की प्रतिष्ठा बढ़ रही थी और उनके प्रति जनता के मन में आदर उत्पन्न हो गया था फिर भी उनके शिष्य अधिकांश दलित जाति के ही लोग थे।

इस विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है कि रैदास पढ़े-लिखे थे अथवा निरक्षर, और उन्होंने अपने पद स्वयं लिखे थे अथवा उनके शिष्यों ने इन पदों के संग्रह किये थे। अनुमानतः रैदास जी के पदों के संग्रह उनकी शिष्य मंडली के कतिपय श्रद्धालुओं ने किये जो पढ़े-लिखे थे। यह निर्विवाद है कि ऐसे संग्रह हुए कई। इन संग्रहों में मूल का कहाँ तक संरक्षण हो सका है यह बताना सहज नहीं। पाठभेद भी मिलते हैं। इस बात की आवश्यकता है कि प्राप्त पाठों का मिलान करके एक यथासंभव प्रामाणिक संग्रह इनके पदों और साखियों का निकाला जाय। नागरी-प्रचारणी सभा की खोज-रिपोर्टों में 'रैदास की बानी', 'रैदास के पद' और 'रैदास की साखी तथा पद' की हस्तलिखित प्रतियों के हवाले मिलते हैं। मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि सभा ने किसी विस्तृत संग्रह का भी पता चलाया है। शांतिनिकेतन के विद्वान् श्री क्षितिमोहन सेन जिन्होंने दो वर्ष हुए दादू की कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित किया है, अपनी भूमिका में संतों की कृतियों के कुछ संग्रहों का हवाला देते हैं जिनमें रैदास जी की कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार का एक संग्रह अजमेर के श्री चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी के पास है। एक दूसरा संग्रह जैपुर के श्री शंकरदास के यहाँ है। पौड़ी (गढ़वाल) के राय बहादुर पंडित तारादत्त गैरोला ने इन पंक्तियों के लेखक को कई वर्ष हुए यह बताया था कि एक संग्रह उनके पास भी है। यदि इन सब संग्रहों के आधार पर कोई विद्वान् एक अच्छा संस्करण रैदास

की कृतियों का प्रस्तुत कर सके तो बड़ा काम हो। इस समय हमारा मुख्य आधार बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित 'रैदास जी की बानी' शीर्षक संग्रह है। इस में आधी दर्जन साखियों के अतिरिक्त ८७ पद संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त सिक्खों के 'आदि-ग्रंथ' में भी हमें लगभग ४० पद मिलते हैं जिनमें से २३ पद तो दोनों स्थलों पर प्रायः समान हैं। पाठभेद अवश्य हैं।

रैदास जी भक्तिमार्ग के पथिक थे। संसार उन्हें दुःख और वेदनामय प्रतीत होता है। जन्म लेने का विचार ही मानो उन्हें दारुण जान पड़ता है। वह जन्म-मरण के निरंतर चक्र तथा पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। इनसे मुक्ति पाने की प्रबल कामना का दिग्दर्शन उनके पदों में बार-बार मिलता है। मुक्ति का एकमात्र साधन उनकी दृष्टि में ईश्वर की कृपा है और यह कृपा भक्ति तथा प्रार्थना द्वारा प्राप्त होती है। समान विचार उनके पदों में बार-बार दुहराए गये हैं।

वह कहते हैं—

'गोबिंदे भवजल व्याधि अपारा।
ता में सूझै वार न पारा॥
अगम घर दूर उरतर, बोलि भरोस न देहू।
तेरी भगति अरोहन, संत अरोहन, मोहिं चढ़ाइ न लेहू॥
लोह की नाव पखान बोझी, सुकिरत भाव-विहीना।
लोभ तरंग मोह भयो काला, मीन भयो मन लीना॥
दीनानाथ सुनहु मम विनती, कवने हेत बिलंब करीजै।
रैदास दास संत चरनन मोहिं अब अवलंबन दीजै॥'

रैदास जी के यहाँ भक्ति की बड़ी महिमा है।

'भगती ऐसी सुनहु रे भाई।
आई भगति तन गई बड़ाई॥
कहा भयो नाचे अरु गाये, कहा भयो तप कीन्हे।
कहा भयो जे चरन पखारे, जौं लौं तत्व न चीन्हे॥
कहा भयो जे मूँड़ मुड़ायों, कहा तीर्थ व्रत कीन्हे।
स्वामी दास भगत अरु सेवक, परम तत्व नहिं चीन्हे॥
कह रैदास तेरी भगति दूर है, भाग बड़े सो पावै।
तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपलक ह्वै चुनि खावै॥'

रैदास जी के दो-एक सुंदर पद उद्धृत करके इस लेख को समाप्त करता हूँ। इनसे उनकी भक्ति-भावना, दीनता, ईश्वर नाम में विश्वास आदि का पता चलेगा।

'राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊँ।
फल अरु फूल अनूप न पाऊँ॥
थनहर दूध जो बछरू जुठारी।
पुहुप भँवर जल मीन बिगारी॥
मलयागिरि बेधियो भुअंगा।
विष अमृत दोउ एकै संगा॥

मन ही पूजा मन ही धूप ।
मन ही सेऊँ सहज सरूप ॥
पूजा अरचा न जानूँ तेरी ।
कह रैदास कवन गति मेरी ॥'

उपर्युक्त पद में न केवल कोरी भक्ति है बल्कि हमें तो रैदास जी के कविहृदय का भी पता चलता है । इसी प्रकार नीचे का पद भी अत्यन्त सुन्दर है ।

'अब कैसे छुटे नाम रट लागी ।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी ।
जाकी अँग अँग बास समानी ॥
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा ।
जैसे चितवत चंद चकोरा ॥
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती ।
जाकी जोति बरे दिन राती ॥
प्रभु जी तुम मोती हम धागा ।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा ।
ऐसी भक्ति करे रैदासा ॥'

रैदास जी वास्तव में हमारी सन्त-परम्परा की एक महान् विभूति और सच्चे भक्त थे । वह इस दृढ़ विश्वास को धारण किए हुए जीवित रहे तथा इसी को धारण किये हुए मरे कि—

'जाति पाँति पूछे नहिं कोई ।
हरि को भजै सो हरि का होई ।'

और इस विश्वास में जो सत्य है उस की आज भी उपेक्षा सम्भव नहीं ।

विछोह

[देवीलाल सामर]

मेरा विछोह तुमसे स्वप्नभंग की तरह हुआ ।

अंधकार में प्रकाश घुल गया, एक स्वर्गीय धुँधलाहट निखर पड़ी । मैं समझा तुम हो और न भी हो । मैंने इसी दुविधा में तुम्हारे विछोह को विछोह नहीं समझा । मैं अज्ञान में पड़ा रहा ।

पर एकाएक प्रकाश सर्वत्र निखर गया, मैं मधुमद से लाल और सौरभ से सनी हुई कलियों के समान जग पड़ा ।

सपने सब अन्तर्द्धान हुए । तुम्हारे मिलने की बात केवल कल्पना मात्र रह गई, क्योंकि न मैं सौरभ से सना हुआ था, न मैं मदभार से विभोर था और न मुझमें कलियों की-सी सुकुमारता थी ।

अंतर की कोमल कामनाओं का सुषुप्ति के समय वह छाया-नृत्य था, जिसको इस क्रूर वास्तविक जगत् ने निर्दयतापूर्वक बिगाड़ दिया ।

मैं जीवन के कुछ क्षण और गिनकर इस तपोवन की भूमि को विस्मृतियों से बिगाड़ दूँगा और इन अनन्त आसक्तियों से हाथ छुड़ाकर जीवन की इस अन्तिम रात को चिर निद्रा से आबद्ध करूँगा । मैं युग-युग तक सोऊँगा और अपने अन्तर के अतृप्त मधुर भावों के साथ छाया-नृत्य नाचूँगा ।

मेरे अर्जित अनुभवों की सफलता तो तभी है जब तुम मुझे निरंतर अपने ही साथ नचाते रहो ।

मुरब्बी

['विष्णु']

एक छोटे से क़स्बे में उसकी नाज की दुकान थी। गोलाकार सृष्टि की तरह बाँस की लिपी-पुती टोकरियों को सजा कर बीच में वह बैठता था, काठ की एक बड़ी-सी सन्दूकची के सामने। अधिकतर चावलों का व्यापार करता था। फिर जिन दिनों की बात है उन दिनों विवाहों की धूम थी। बाज़ार तेज़ी पर था। लोग व्यस्त थे। मरने का भी अवकाश नहीं था।

भीड़ उसकी दुकान पर ख़ूब लगती थी। एक बार उसकी दुकान पर आये बिना किसी का बाज़ार पूरा ही नहीं होता था। कोई आगे से निकला नहीं, पुकार लिया—नन्दू भाई, ओ नन्दू भाई! किधर भूल पड़े आज? क्या अब हम सूरत देखने लायक़ भी नहीं रहे?

भाव पटाना उनकी अपनी बात थी। नीति के चारो शास्त्र उनकी आज्ञा में थे। कभी थड़े पर अलस-उदास-से बैठे रहते तो कभी ऐसे चहकते कि बाज़ार सिर पर उठा लें। ग्राहक को एक बार बुलाकर लौटाना उन्होंने नहीं सीखा था।

श्रीधर पाँड़े आकर बोले—मुरब्बी! उम्दा चावल चाहिए। पाँच सेर। क्या भाव है?

'क्या कहा? भाव! अजी ले भी जाइये, गुरु! घरवालों से भी कहीं भाव होता है? (मुड़कर) मंगल, ओ मंगल! पीलीभीतवाले चावल तो तोल। गुरु आये हैं।'

'हाँ, वही कोनेवाली बोरी है। (मुड़कर) साफ़-साफ़ कह दूँ? ढाई पाव कम तीन सेर का भाव है लेकिन तेरे लिए आध पाव कम तोल दूँगा।'

हाजी करीमुद्दीन की लड़की का विवाह था। कहा—कढ़ाह में डालते ही गिरह भर के न हो जायँ तो नाम फेर देना। (मुड़कर) क्या कहा?—यह नई मालूम पड़ती है! दस साल से तो मेरी दुकान में पड़ी है। कहता हूँ ऐसी बासमती तो दीपक लेकर भी ढूँढ़े न मिलेगी।

तभी घर से सन्देशा लेकर नौकर आ गया—खाना कब खाओगे।

व्यस्त-से आप बोले—खाने बिना भी कुछ अटका है भाई!

मुरब्बी की यह बात सुनकर सब हँस पड़े। गम्भीर होकर श्रीधर पाँड़े ने कहा—जीवन धारण करने के लिए भोजन आवश्यक है।

'तो भी साँझ तक के लिए स्थगित किया जा सकता है। यमराज को अभी मेरी ज़रूरत नहीं है।'

इतना कहकर वह फिर वाणिज्य-व्यापार में प्रवृत्त हुए। नौकर मन मार कर लौट गया।

(२)

आख़िर वह संध्या भी आई।

जैसे लगा निस्तेज और पीतवर्ण सूर्य सन्ध्या का मलिन आवरण ओढ़कर सो गये हों। दिन भर की थकान के बाद बाज़ार जैसे सुस्ताने लगा हो। झुण्ड के झुण्ड पक्षी भी बसेरे के लिए वन की ओर उड़े चले जा रहे थे। गाय अपने बच्चों से मिलने के लिए आतुर-सी भागी आ रही थी और उड़ती हुई गोधूली वातावरण के सूक्ष्म अणु-परमाणुओं से घुल-मिल उन्हीं पर उदासीनता की छाप लगा रही थी। उससे चिपट कर श्रान्त प्रकृति निस्तब्ध-सी चुपचाप लेट जाना चाहती थी। वायु भी क्रमशः अपना प्रकाश खो बैठी। अन्धकार में जीवन नहीं होता, सुस्ती होती है। तो भी उस समय घास की गठरी सिर पर उठाये, कुछ जीर्ण-शीर्ण औरतें इधर-उधर भटक रही थीं। मानवता की कलंकमूर्ति-सी, दरिद्रता की प्रतिच्छाया-सी; मानो उस जीवन-सामग्री से पूर्ण मण्डी में उस अटूट-आशा को छिपाना चाहती थीं जो सृष्टि का आधार-स्तम्भ है। और चाहती थीं अपने भूख से तड़पते हुए बच्चों के लिए रोटी के दो टुकड़े! हर क़दम पर मानो वे कहती थीं—हमें भी देखो! हमे भी जीना होगा!

मुरब्बी ने अब जाना, पथ जन-शून्य है। टोकरियों को परे सरकाकर बोले—मंगल, ओ मंगल! अब बन्द करो।

फिर ध्यानावस्थित-से होकर सोचने लगे—आज कितना कमाया? उसी समय उनका छोटा लड़का राधे आकर बोला—कल मैं कचहरी जाऊँगा।

वह वैसे ही बोले—फिर!

'मुनव्वर पर नालिश करनी है। समय पूरा हो चला है और रुपए का भुगतान होने की कोई आशा नहीं!'

'तो मैं क्या करूँ।'

'मुनव्वर तुम्हारा पुराना साथी है। कल को कहो कि पूछा भी नहीं।'

मुरब्बी हँसे और बोले—इसमें साथी क्या करेगा। रुपए लिये हैं तो देने होंगे। नहीं देता तो नालिश करनी ही होगी।

राधे चला गया। मुरब्बी फिर ध्यानावस्थित हुए—हाँ, तो लाला मुनव्वर पर नालिश करेंगे.........

सब विचारों को परे हटाकर मुनव्वर सामने आ खड़ा हुआ—वह गाँव का एक ग़रीब किसान है। खेती करके पेट पालता है और उस दिन से मुझे जानता है जब राधे का जन्म भी नहीं हुआ था। कितना भोला है...

तभी नौकर आ गया—अब तो खाना ले आऊँ!

अनमने-से आप बोले—हाँ! लेकिन अजवायन के परावठे लाना। चूरन और मुनक्का मत भूलना।

नौकर चला गया। ध्यान फिर बहने लगा—उस साल गंगा में चढ़ाव था। सबका ख़्याल था इस साल गंगा-स्नान नहीं होगा। तभी मुनव्वर आया था—सुनता हूँ इस बार क़स्बे से लोग नहाने के लिए नहीं जा रहे हैं।

'सुनता तो मैं भी हूँ।'

'तो ऐसा भी कहीं हो सकता है?'

'हाँ! लेकिन.........।'

'सो तो मैं जानता हूँ। वह घाट वाला कुआँ खोदते वक्त जिस फावड़े से काम किया गया था वह अभी रखा ही है।'

तब फावड़ा और खुरपा लेकर मुनव्वर और मुरब्बी ने गंगा के चिर-परिचित घाट पर छोटी-छोटी पौड़ियाँ बना दी थीं। स्नान हुआ था, मानो इन दोनों के कन्धों पर बैठकर सारे गाँव ने अपने पाप धो डाले थे। मानो इन दोनों के परिश्रम का सहारा लेकर गंगा की वेगवती धारा को वे सब क्षुद्र बहिया के समान पार कर गये थे।

और उसी मुनव्वर पर राधे नालिश करेगा...!

ध्यान रुका। शायद आँख में कुणक पड़ गया था। शायद घासवाली पूछ रही थी—मुरब्बी! घास लोगे?

'नहीं.........'

फिर सोचा—अन्धकार बढ़ा चला आ रहा है, मंगल अभी नहीं आया—'घासवाली, ओ घासवाली! सुनती नहीं, जा घर डाल आ। लौटती बार पैसे ले जाना।'

घासवाली 'अच्छा' कह कर चली गई मानो मुक्ति से बढ़कर तृप्ति उसे मिली।

हाँ तो मुनव्वर कहता था—इस बार न्यार के लिए पैसे न डालना। मेरे खेत से काफ़ी बच रहेगा.........।

(३)

खाना लेकर मंगल आ गया।

खाना खा रहे थे पर मन न जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा था। बीच-बीच में दृढ़ता के साथ उम्मेदवारी में डटे हुए कुत्तों को भी 'तू—तू, अरे ले भी।' इत्यादि कहकर उनकी तृप्ति करते जाते थे। सोचते भी थे। जैसे लगता था उनके जीवन में बहुत-सी सलवटें पड़ने लगी हैं। उन्हें ठीक करके वह साफ़ सुथरी तह करना चाहते हैं पर हाथ काँपता है। हर तह के ऊपर सलवट फिर चमक उठती है। झींक उठते हैं; सिकुड़ी हुई खाल के नीचे जो अनुभवी दिल छिपा है वह सुना-सुनाकर बोलता है—उसे मेरा साथी जानकर भी राधे नालिश करेगा और वह भी मुझे चेताकर...।

तब अभिमान की एक रेखा-सी उठकर फैल गई। उसकी वेदना से पीड़ित होकर वह बोले—मैं उससे कहता? नहीं, मैं क्यों कहूँ? यह भी क्या मेरे कहने की बात है.........?

और तभी पार्थिव शरीर लेकर मुनव्वर वहाँ आ गया। दिन-दिन मौत के अधिक समीप खिंचता-सा रुग्ण बूढ़ा। वेदना जैसे चेहरे की सिकुड़नों में भटकती-सी और चिन्ता जैसे रक्तहीन हृदय को खाये जा रही हो। लगता था मानो बरबस ही अपने को दुनिया से चिपटा रखा है। मुख के भाव साफ़ कह रहे थे कि उसे पीड़ा हो रही है। छाती के भीतर कुछ उथल-पुथल-सी मच रही है।

आकर बोला—रोटी खा रहे हो मुरब्बी! बड़ी देर कर दी आज!

'यहाँ तो यही रोना है, भाई! विवाह न जाने किस-किस के होंगे पर मुसीबत मुझे उठानी पड़ती है।'

वह हँस पड़ा—आप मुरब्बी जो ठहरे!

मुरब्बी कुछ नहीं बोले। मुँह फेर कर खाते रहे। मुनव्वर बाहर खाट पर बैठ गया, लेकिन खाने को जी नहीं माना। बोले—कैसे आये रात को?

वह कुछ हिचका-सा बोला—सुना है छोटे लाला नालिश करेंगे?

'सुना तो है।'

'तो कहोगे नहीं इस फ़सल और रुक जावें ?'

मैं ? नहीं मैं कुछ नहीं जानता !

मुनव्वर का कलेजा जैसे धड़-धड़ करने लगा। क्या कहे ? आशा तो थी उसे, तभी आया था।

वह कुछ रुककर फिर बोले—तू रुपए दे क्यों नहीं देता !

मुनव्वर को मालूम हुआ जैसे उसका सिर नाच रहा है। इस बे सुर की रागिनी ने उसके मर्म पर चोट की—क्या यह तुम्हारे कहने की बात थी मुरब्बी !

मुरब्बी वैसे ही रहे—तब मैं क्या करूँ ?

और बरतन परे सरका कर बोले—मंगल, ओ मंगल ! पानी लाना भाई ! मुनव्वर को यह उदासीनता अखरी, सूखी हुई आँखें भीग आईं। आज पहिली बार उसके दिल में वह भाव आया जो शायद उसे अच्छा नहीं लगा। चुपचाप उठा और एक ओर चला गया। कहाँ गया, कौन बतावे। क्षण भर में ही आँखों की पहुँच से परे हो गया। जिन्हें वेदना होती है उनकी चाल खूब तेज़ हो जाती है।

उधर पानी लेकर मंगल आगया। ख़ूब रगड़ कर हाथ धोये। मुँह धोया, आँखों में पानी के ख़ूब छपके दिये। न जाने कड़वा-कड़वा क्या पड़ गया था। कहा भी—मंगल भाई ! सुरमा कहाँ रखा है, आज आँख कड़वा रही है।

पानी गेरता-गेरता मंगल भी कुछ सोचता रहा—आज अपनी चिन्ता क्यों। कुछ थम कर फिर बोले—अच्छा तू यहीं बैठ ! मैं ज़रा घर तक जाता हूँ। मंगल की शंका बढ़ती रही। मन-ही-मन पूछता रहा, आज बूढ़े को क्या हो रहा है। बोला केवल इतना ही—अच्छा जी।

(४)

सात वर्ष हुए जब मुरब्बी की पत्नी का देहान्त हुआ था। तब से वह घर नहीं गये। बेटी घरबार की थीं। बेटों कीगिरस्ती में बूढ़े बाप को स्वतंत्रता कहाँ ? उसीसे दुकान पर रहते थे। कभी गये भी तो पूजा के उपलक्ष में या रोग की अवस्था में।

तो भी बड़ी बहू प्रभा अब उनसे परदा नहीं करती। उस बार जब वह निमोनियाँ में पड़े थे तो बहू प्रभा ने ही पट्टी से लगकर उनकी सेवा की थी। गज भर लम्बे घूँघट के पीछे बातें करने में सम्भव है उसे रुचा नहीं या सुभीता नहीं रहा इसलिए आज वह मुँह खोलकर बूढ़े ससुर से बात कर लेती है। उसका यह अक्षम्य अपराध उस समय की नीति-निपुण हिन्दू-जाति ने क्षमा किया या नहीं यह जानने की किसी ने कोशिश नहीं की। नीति कभी एक-चित्त नहीं होती।

घर आकर मुरब्बी ने पुकारा—बेटी ! ओ बेटी !

प्रभा काम सँभाल कर ऊपर जाने की सोच रही थी। सुना उसने कोई 'बेटी ! ओ बेटी !' कहकर पुकार रहा है। शब्द सीधे थे पर प्रभा से उन्होंने कुछ और हो कहा। उस भाषा ने जिन भावों की सृष्टि की वह उसे अशान्त करने के लिए काफ़ी थे। दरवाज़े पर आकर बोली—जी।

वह अभी खड़े ही थे। बैठकर बोले—क्या सब सो गये ?

प्रभा सोचती है, क्या यह भी पूछनेवाली बात है इतनी रात को, पर कहती है—जी !

'मेरी गोलक देखना, बेटी ! कितने रुपए हैं।'

अचरज तो हुआ पर बोली—लगभग पचास रुपये होंगे।

'पचास, बस !'—जैसे उनका दिल डूबने लगा हो !

'अभी उस दिन सौ रुपये ले गये थे। बड़े कहाँ से, हाथ खुला रखने से भी क्या रुपए जुड़ते हैं।'

मुरब्बी कुछ हँसे, कुछ सकपकाये भी पर कहे क्या। उनके अन्दर जो एक अस्पष्ट-सा 'कुछ' उठ रहा था वह नष्ट होता दिखाई दिया, जो भावना चुप-चाप उन्हें आशा की ओर खींचे लिये जा रही थी वह अकाल में ही सो गई।

पल-पल प्रभा की उद्विग्नता उफनी पड़ती थी। रोक न सकी तो बोली—आप क्या करेंगे, रुपयों का ?

अब !—मुरब्बी ने जाना जैसे किसी ने गाँठ खोल दी हो। धीरे से बोले—बेटी। यह राधे जो है मुनव्वर पर नालिश करेगा। वह ग़रीब किसान है......!

प्रभा अब कुछ समझ कर भी बोली—आप राधे को रोकते क्यों नहीं ?

'उसने न माना तो ? बेटी ! वह बात है कि 'नादान की दोस्ती और जी का जंजाल !' सोचता हूँ, क्यों फसूँ पर देखता हूँ वह भी तो आड़े वक़्त पर डटा रहता है......।

'तो आपको कितने रुपये चाहिएँ।'

'अब तो सौ से काम चल सकता है। एक काम कर बेटी ! उस सन्दूक़ में जो गुलूबन्द पड़ा है वह तो ले आ !'

गुलूबन्द की बात सुनकर प्रभा धक से रह गई। जानती थी गुलूबन्द उसकी सास का है और उस पर बेटों का कोई हक़ नहीं फिर भी उसे छूना मर्म को छेदने से कम दर्द की बात नहीं। इसीसे वाणी और विचार खोकर गुमसुम-सी खड़ी रही। सुलझन में उलझन ही उलझन जान पड़ी।

मुरब्बी कुछ नहीं समझे। बोले—क्या सोचने लगी बेटी ! मैं अभी जाऊँगा।

प्रभा जैसे नींद से जागकर अनमनी-सी चली गई।

लौटकर आई तो एक कपड़े में रुपए बँधे थे। बोली—पचास आपके हैं और पचास मेरे अब की बार जब पचास हो जावेंगे तो मैं रख लूँगी।

मुरब्बी को शायद विश्वास नहीं आ रहा था। विस्मय से कपड़े की उस गाँठ को देख रहे थे। उमड़ घुमड़ कर केवल इतना ही आ रहा था—क्या यह सच है ?

बहू की दूरदर्शिता और सहृदयता देखकर उनका दिल प्रेम से, आशीर्वाद से, श्रद्धा से फूल उठा। स्नेह पूरित स्वर में वह बोले—बेटी......।

पर प्रभा वहाँ नहीं थी। आँखें और भी सजल हो उठीं। घर से बाहर निकले तो लगता था जैसे हवा से बातें कर रहे हैं। ख़ुशी भी आदमी की चाल को तेज़ कर देती है।

इसके बाद वह दुकान पर आकर मंगल से बोले—तू आज मेरे पास ही सोना, भाई ! सबेरे ही उगाही पर जाना होगा !

मंगल 'अच्छा' कह कर सोने का प्रबन्ध करने लगा और मुरब्बी ने खाट पर लेटकर एक लम्बी साँस खींची। तभी पूर्वी-हवा का एक झोंका उधर से उठा और उसे अपने साथ उड़ाकर ले गया।

मंगल कुछ नहीं जान सका।

संपत्तिवाद

[जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद']

दो मुट्ठी दानों पर जीवन-भर प्राणों का रक्त सुखाया ;
'वैभव !' तेरे पद-प्रहार पर भी 'श्रम' ने त्योहार मनाया ।
प्राणों की बाज़ी पर वसुधा के आवरण कठिन तम चीरे ;
तेरा कोष भरा ला-लाकर सोना, चाँदी, मोती, हीरे ।
कण-कण जोड़-जोड़कर कितने नभ-चुंबी प्रासाद बनाए ;
जीवन - रस से पत्ती-पत्ती सींच-सींचकर बाग़ लगाए ।
अन्न और जल—स्वेदकणों के तप पर धरणी से वर पाए ;
वे भी तेरे निर्दय संचय के चरणों पर भेंट चढ़ाए ।
तेरी कुटिल हँसी को आशा-किरण समझ आराध्य बनाया ;
अपनी आहों और आँसुओं का काला इतिहास भुलाया ।
जिसने अपने बलिदानों से जग का स्वामी तुझे बनाया,
वंचित किया उसी को तू ने, दाने-दाने को तरसाया ।
आमिष दे फिर उसी वर्ग से कुछ को अपना शस्त्र बनाया ;
जटिल जाल प्रहरियों, सैनिकों, कारागारों का फैलाया ।
जिनके भोले श्रम का फल है स्वर्ण-रजत का यह सब संचय,
उनके ईमानों का इनके कुछ टुकड़ों पर करता तू क्रय ।
उनसे रुद्ध मार्ग पर, लेकर उर में आग, नयन में पानी—
बंधु उन्हीं के खड़े ! विवशता वह—अभाव की करुण कहानी !
संचालन करते हैं सारे शासन - चक्रों का कर तेरे ;
अपने को बंदी कर लेता है यह जग इंगित पर तेरे ।
ज्ञान और विज्ञान चूम पद-रज तेरी कृतार्थ होते हैं ;

कला और साहित्य भ्रकुटि को देख तेज साहस खोते हैं।
जब तेरा पशुधर्म प्रबल हो उठता संयम को ठुकराकर,
बिकता रूप क्षुधित नारी का तेरे बाज़ारों में आकर।
स्वर्ण-पालने में जब तेरी रमणी से शिशु तृप्त न होता,
रोटी पर पय-विक्रय करने आ, निर्धन माँ का मन रोता।
करुणा की जब प्यास जागती क्रूर मनोरंजन के उर में,
अश्रु अभावग्रस्त नारी के बिकते तेरे अभिनय-पुर में।
तेरी लिप्सा—मुद्रा में बँध विश्व-हृदय तेरे घर आवे;
जीवन का प्रत्येक सत्य, शिव, सुन्दर अपना मोल बतावे!
संचय का उन्माद अथक, शोषण की लोलुपता भीषण है;
मानो, तेरे क्रय-विक्रय का विषय चराचर का कण-कण है।
तृप्त न हो तू, चाहे तेरे संचय में सब वायु समावे—
श्वास-श्वास पर मुद्रा देकर हर जीनेवाला जी पावे।
औरों की दुर्बलताओं पर—अज्ञानों पर जीनेवाले!
चिर-अतृप्त, संचय के मद के पल-पल प्याले पीनेवाले!
देख, विश्व के 'शोषित' भी अब अपनी आँखें खोल रहे हैं;
अनुभव, ज्ञान, संगठन की उद्-बोधक वाणी बोल रहे हैं।
इधर प्रतिक्षण आडम्बर के बंधन में तू जकड़ा जाता;
अपने हाथों आत्मनाश के साधन है अविराम जुटाता।
धीरे-धीरे युग-परिवर्तन की आहट आती जाती है;
गहन घटा-सी क्षितिज-पटल पर घिर-घिर कर छाती जाती है।
क्या अगले तूफ़ानों में तू अपना भार सँभाल सकेगा?
एकाकी, असहाय, नाश की बेला कब तक टाल सकेगा?
तेरे सिंहासन के नीचे कुचले जाने वाले जागे!
वे भी बढ़ना चाह रहे हैं अब तो जीवन-पथ पर आगे!
उनके मुक्ति-गीत के स्वर में अपना हृदय मिलाएगा तू—
या उत्कट युग के प्रवाह को रोक स्वयं बह जाएगा तू?

मुंशीजी

[सियारामशरण गुप्त]

एक बालक सेज गाड़ी में बैठकर अपने पिता के साथ कहीं जा रहा था। उसके मन में क्या था, कौन जाने। पिता ने अपने सामने से पंखा उठाकर एक ओर रखा था कि बालक ने उसे फिर जहाँ का तहाँ रख दिया। एक बार हुआ, दो बार हुआ और तीसरी बार भी फिर वही बात। तब पिता ने बालक को गहरी डाँट बता दी, बालक सहन न कर सका। काँपते हुए खड़े होकर उसने कहा—घर से तो फुसला-फुसला कर लाये थे और अब यहाँ नाराज होते हैं! रोको गाड़ी मैं यहीं उतरूँगा। पिता ने भी कहा—रोक दो गाड़ी, उतारो इसे यहीं। गाड़ी जंगल में होकर जा रही थी। सब ओर निर्जन ही निर्जन था। दुःख और क्रोध में सब कुछ भूल कर बालक वहीं उतर पड़ने के लिए तैयार हो गया। ऐसे समय साथ बैठे हुए एक अन्य युवक ने बालक को पकड़कर अपनी गोद में ले लिया। उसके आँसू पोछे, पीठ थपथपाई, मधुर सान्त्वना दी। यह युवक और कोई नहीं, श्रद्धेय मुंशीजी (राजकवि श्रीअजमेरी) थे और वह बालक इन पंक्तियों का यही लेखक।

यह घटना इतनी पुरानी है कि स्वयं मुझे याद न थी। मुंशीजी ने ही इसे सुनाया है। गोष्ठियों में बार-बार ऐसे रोचक ढंग से सुनाया है कि अब मेरे लिए यही उनकी पहली स्मृति हो गई है।

मुंशीजी हमारे परिवार के ही अंग थे। फिर भी मुझे उनकी पहली बात उस समय की याद है, जब मैं कवि बनने के लिए आतुर हो रहा था। दोहे में २४ मात्राएँ होती हैं, इसकी शिक्षा मुझे भैया से मिली थी, परन्तु केवल दोहे लिखकर मेरी आत्मा तृप्त कैसे होती? एक दिन मैंने पता चलाया कि संस्कृत के वसन्ततिलक छन्द में १४ अक्षर होते हैं, मात्राएँ गिनने की आवश्यकता वहाँ नहीं। मेरे लिए यह खोज कम न थी। खोज का उपयोग भी उसी समय कर डाला, कई वसन्ततिलक लिखकर मुन्शीजी के सामने रख दिये। देखकर उन्होंने पूछा—यह छन्द क्या है? मैं संकुचित हो गया, डरते-डरते मैंने उत्तर दिया—वसन्त तिलक। वसन्त तिलक में १४ अक्षर होते हैं। मुंशीजी ने अक्षर गिनने की आवश्यकता नहीं समझी। कहा—चौदह अक्षर होने से ही वसन्त तिलक नहीं होता अक्षर एक क्रम से बिठाने पड़ते हैं। तुम्हारा यह छन्द तो कुछ नहीं हुआ। इसके बाद उन्होंने मेरी गलती मुझे समझा दी।

कवि बनने की मेरी लालसा तीव्र हो रही थी, सीखने के लिए सुयोग भी मेरे पास

था। परन्तु सुयोग के साथ असुविधा न थी, यह नहीं कहा जा सकता। यह वांछनीय न था कि घर में सब कवि ही कवि हो जायँ। होना चाहें तो हो कैसे सकते हैं? मेरे लिए प्रबन्ध किया गया कि मैं रोकड़-बही सीखूँ। मेरा मन वहाँ भागा-भागा रहता। सोचता कि कब मौका मिले और मैं भाग बचूँ। एक दिन ऐसे में मुंशीजी की चपेट में आ गया। मैं निश्चिन्त होकर जोर-जोर से किसी कविता की आवृत्ति कर रहा था। जोर-जोर से इसलिए कि कविता केवल मन के उपभोग की वस्तु नहीं है। चुपके-चुपके रसना तृप्त होती हो तो कान क्यों न चाहें कि वे वंचित न हों। इसी जीभ और कान के अति लोभ ने उस दिन धोखा दिया। मुंशीजी ने डाँटकर कहा—जब देखो, तब यही काम! जो बताया जाता है, वह क्यों नहीं करते? अब इस तरह पाया तो पिटोगे। मुंशीजी ने कौटुम्बिक हित की दृष्टि से ही डांटा था। उनका डाँट देना दूसरे के पीटने के बराबर था! इसका उन्हें पूरा अधिकार भी था! परन्तु मुझे बुरा मालूम हुआ, मैं उनसे बचने की चेष्टा करता। फिर भी बचता कहाँ तक? जब कुछ लिखता तो सम्मति और संशोधन के लिए उनसे बचना असम्भव था।

उस समय की अपनी उस कविता-कृति की बात सोचकर अब आज हँसी आती है। इस समय वह किसी तरह प्रकट हो पड़े तो कह नहीं सकता, लज्जा से कितना नीचे गड़ जाऊँ। आज मैं भी चाहूँगा कि वैसे कवि से कविता की रक्षा करके उसे रोकड़-बही के काम में लगा देना ही अच्छा है। पर ढीट लड़के पर बातों का असर कब होता है। उन्हीं दिनों कवि पोप के बचपन की एक बात मैंने सुनी थी। पोप के पिता उसे कविता लिखने के लिए रोकते थे। आर्थिक दृष्टि से पुत्र के लिए यह काम आशाजनक न था। एक दिन पिता ने बालक को कविता करते समय जा पकड़ा जब बालक की पीठ पर बेंत पड़ने लगे तब उसने कहा—क्षमा कीजिए पिता, क्षमा कीजिए, अब मैं कविता न लिखूँगा। पिता ने निराश हो कर कहा—यह तो छन्दोबद्ध कविता में ही बोल रहा है! मुझे यह बात बहुत रुची। उसी तरह पिटने के लिए किसी दिन की कल्पना किये बिना मैं भी न रह सका। भाग्यवश वह विपत्ति कभी सामने नहीं आई, भाग्यवश इसलिए कि यदि कभी वैसा प्रसंग आता तो, मैं समझता हूँ, आँसू तो मेरी आँखों से बहुत निकलते, किन्तु कविता की एक पंक्ति निकलना भी असम्भव-सा था।

उन्हीं दिनों की एक बात बहुत याद आती है। मेरे किसी शब्द या प्रयोग पर मुंशीजी ने आपत्ति की—यह अशुद्ध है। मैंने कहा—ऐसा तो श्रीधर पाठक ने भी लिखा है। मुंशीजी ने उत्तर दिया—उन्होंने लिखा है तो अशुद्ध लिखा है। नकल किसी की मत करो। पाठकजी के गुण तो तुम ला नहीं सकोगे, दुर्गुण ही दुर्गुण तुम्हारी रचना में आ जायँगे।

मुंशीजी को स्वच्छता का बहुत खयाल था। वह भीतरी हो या बाहरी। भैया के साथ मेरी कविताओं में भरपूर संशोधन तो वे करते ही थे, पत्र पत्रिकाओं के लिए भेजते समय उनकी प्रतिलिपि भी प्रारम्भ में बहुत दिनों तक उन्हीं को करनी पड़ती थी। मुंशीजी जब मेरी कविताओं की प्रतिलिपि कर देते थे, तब मुझे ऐसा लगता था, जैसे वह मेरी रचना न हो। संशोधन के लिए भैया उन्हें रोकते थे कि ऐसा न करो, जिसमें यह रचना तुम्हारी ही हो जाय। मुंशीजी का विचार कुछ ऐसा था कि संशोधन-योग्य स्थल पर कलम न चलाना काहिली है। फिर भी उन्होंने एक बार कुछ कम कलम चलाई। कविता भी कुछ लम्बी थी। 'वीर-बालक' के नाम से वह 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित हुई। उसे देखकर आचार्य द्विवेदीजी ने भैया को लिखा कि आपके नामसे यह कविता मैं 'सरस्वती' में दे दूँ? याद रखने योग्य कदाचित् यही पहली प्रशंसा मुझे अपने साहित्यिक जीवन में मिली। भैया ने उत्तर में लिखा—मैं यह उचित नहीं समझता। वह मेरी रचना नहीं है। बाद में भैया ने और मुन्शीजी ने फिर उसका संशोधन किया। पूज्य द्विवेदीजी भाषा-परिष्कार का ध्यान

बहुत रखते थे। कविता 'सरस्वती' के गौरव के प्रतिकूल न पड़े, इसलिए यह पुनरपि संस्कार आवश्यक समझा गया। पहले छपी हुई कविता पर ही ये नये संशोधन करके उसे भेजते समय मुन्शीजी को यह सन्तोष हुआ था कि अब द्विवेदीजी महाराज भी देख लेंगे कि यह कविता पहले वैसी थी और हो गई है अब ऐसी। पूज्य द्विवेदीजी को यह बताना न होता तो मुन्शीजी वह कटी-कुटी प्रति कदापि न भेजते, इस सम्बन्ध में मेरी इच्छा और अनिच्छा का कोई सवाल न था। किसी एक जगह जरा-सा कट-कुट जाने पर भी फिर से पूरा का पूरा पृष्ठ लिखते उन्हें उस समय मैं बीसियों बार देख चुका हूँ।

मुन्शी जी की इस प्रवृत्ति के कारण एक बार मुझे बहुत लज्जित होना पड़ा। मैं पहली बार स्वतंत्र रूप से कानपुर गया था। जाना था मुझे काशी के लिए। परन्तु कहीं बीच में ही मैं किसी के द्वारा गुम न कर दिया जाऊँ, इसलिए घर से यह प्रबन्ध किया गया था कि कानपुर में मैं श्री गणेशशंकर जी के यहाँ सन्देहास्पद व्यक्ति की तरह हाजिरी लिखा आने के लिए उतर पड़ूँ और वहाँ से वे स्वयं स्टेशन जाकर मुझे ठीक ट्रेन पर सवार करा देंगे। मैं विद्यार्थी जी के सुखद आतिथ्य का उपभोग कर रहा था। इसी समय एक सम्पादक महोदय वहाँ पधारे। मेरा परिचय पाकर उन्होंने अपने पत्र के लिए मेरी कोई कविता चाही। मेरे कुछ कहने के पहले ही विद्यार्थी जी ने कहा—इन्हें कविता लिखनी तो आती नहीं। कम-से-कम मैंने इनके हाथ की लिखी कोई कविता नहीं देखी। सचमुच मेरे हाथ से लिखी कोई कविता तब तक उन्होंने नहीं देखी थी। परन्तु फिर भी उस बात ने मुझे चोट पहुँचाई। किसी नवीन 'कवियशः प्रार्थी' से कोई सम्पादक स्वतः प्रेरित होकर कविता के लिए प्रार्थना करे और ठीक उसी समय बीच में आकर कोई अन्य व्यक्ति मामला बिगाड़ देने पर उतारू हो, तब कुछ-न-कुछ बुरा लगने की बात है अवश्य! तत्काल असहिष्णु होकर मैंने उत्तर दिया—भैया की कविता की प्रतिलिपि भी प्रायः मुन्शी जी ही करते हैं। आपने उनकी लिखी भी कोई कविता न देखी होगी। बात मुँह से निकल चुकी, तब जान पड़ा कि मेरा तीखा स्वर निकले हुए शब्दों से कुछ अधिक प्रकट कर बैठा है। मैं लज्जित हुआ, वास्तव में विद्यार्थी जी उन महोदय को टालना चाहते थे। उनके कविता माँगने का ढंग उन्हें शिष्टाचार-सम्मत नहीं जान पड़ा था।

मुंशीजी सत्कवि थे। भाषा पर उनका अधिकार असाधारण था, ब्रजभाषा, राजस्थानी और आधुनिक हिन्दी में समानरूप से लिख सकते थे। वर्ण्य विषय का चित्र-सा खींच देने की शक्ति उनमें विलक्षण थी। कवित्व उनके लिए स्वाभाविक होने के कारण ही सम्भवतः उसकी ओर वे यथोचित ध्यान नहीं दे सके। स्वयं लिखने की अपेक्षा दूसरों की रचना में संशोधन करने और उन्हें उचित सलाह देने में ही उनके कवित्व का सन्तोष हो जाता था। कोई नया कवि उनके पास आता तो उसके लिए अपना यथेष्ट समय देने में उन्हें कभी संकोच न होता था। इसी से वे लिख थोड़ा सके हैं, परन्तु जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसमें उनके विशेषत्व की छाप है। लिखते भी बहुत शीघ्र थे। एक दिन कहीं जाते-जाते उन्होंने एक बड़े छन्द में पचास साठ पंक्तियाँ तैयार कर डालीं आकर जब उन्होंने मुझे सुनाया तो मैंने कहा—यह ठीक नहीं है। इन पंक्तियों का बोझा मस्तिष्क से उतारकर कागज पर रख दीजिए। सम्भव है, इस तरह के अनेक अनावश्यक बोझों के कारण ही आप लिखने की ओर समुचित ध्यान नहीं दे पाते। मुंशीजी ने मेरी बात मानकर वह कविता जितनी उस समय तक तैयार हो चुकी थी लिखकर रख ली। वह किसी कविता-पुस्तक का प्रारम्भिक भाग था। परन्तु कागज पर उतार देने से ही जैसे उनका काम पूरा हो गया। फिर वह कविता कभी पूरी न हो सकी।

एक बार प्रवास में उन्हें अवकाश मिला। बातचीत करके किसी अन्य व्यक्ति को सन्तुष्ट कर सकें, सम्भवतः यह सुयोग उस समय उन्हें न होगा। तब उन्हें सूझा कि अपने से ही बात करके अपने को सन्तुष्ट किया जाय। कविता आत्म-सन्तोष का ही दूसरा नाम है। परिणाम यह हुआ कि दस-बारह दिन में ही वहीं बैठ कर उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता-पुस्तक 'हेमलासत्ता' लिख डाली। उसी को देखकर पहले-पहल मेरे मन में आया कि क्या अच्छा हो यदि मुंशीजी ऐसा ही कुछ और साहित्यिक कार्य करें। शक्ति का यथोचित उपयोग न करना नैतिक अपराध है। मैंने मुंशीजी को तंग करना शुरू किया। वे असन्तुष्ट नहीं हुए। वैसे उनका जैसा स्वभाव था, वे नाराज होकर कह सकते थे यह बेगार अपने से नहीं होने की। उन्होंने कुछ लिखा भी। परन्तु मौजी जीव थे, अधिक ध्यान न दे सके। मैं अधिक का इच्छुक था। श्रेयसि केन तृप्यते। जो व्यक्ति चलते-जाते दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह छन्द बनाने की क्षमता रखता हो, उसने हजार दो हजार पंक्तियाँ दे भी दीं, तो उतने से जी किसका भर जायगा। मेरी इस प्रवृत्ति के लिये अपने 'गोकुलदास' नामक काव्य में उन्होंने मेरे लिए इस प्रकार लिखाः—

'अब मेरे लिए यही ठीक था कि मैं प्रेम से तुम्हारी रचनाओं का आनन्द प्राप्त करता रहता, पर तुम्हारी निरन्तर प्रेरणाओं ने मुझे—इस अवस्था में भी—विश्राम न लेने दिया। उठाया, बैठाया और दौड़ाया भी! मैंने बहुत कहा कि मैं कहीं गिर गिरा पड़ूंगा, पर तुमने मेरी एक भी न मानी!'

मेरे कहने से मुंशीजी ने लिखने की ओर जो थोड़ा बहुत ध्यान दिया, उसे मैं अपने लिये बहुत बड़े गौरव की बात समझता हूँ। मेरे इस उत्पीड़न का उल्लेख करते करते वे गद्‌गद् हो उठते थे, उनका हृदय ऐसा ही कोमल, सरस और भावुकता से भरा था।

उनकी सूझ-बूझ विलक्षण थी। बातचीत में उनका प्रत्युत्पन्नमतित्व स्वयं देखने और रस लेने की वस्तु थी। आवश्यक होने पर तुरन्त बात करते-करते छन्दोरचना करके श्रोता को चकित कर देना उनके लिए साधारण बात थी। आशुकवियों की कविता में स्थायित्व का गुण प्रायः नहीं देखा जाता। फसल के पौधों की तरह आई और बह गई। परन्तु मुंशीजी की कविता की बात दूसरी है। बड़े-बड़े साहित्य-मर्मज्ञों को मुग्ध करने का गुण उसमें था। मेरे सामने की ही बात है, आचार्य द्विवेदीजी ने उन्हें आज्ञा की, कुछ अपना सुनाओ। मुंशीजी ने अपने कुछ कवित्त पढ़े। सुनकर द्विवेदीजी बहुत प्रभावित हुए, कहा—आपने तो भूषण को मात कर दिया! पास ही मार्मिक समालोचक पण्डित रामचन्द्रजी शुक्ल बैठे थे, उन्होंने कहा—भूषण में भाषा की ऐसी स्वच्छता और संस्कार नहीं मिल सकता।

कहीं बाहर जाते थे, तो वहाँ से मेरे लिए लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करते थे। उनकी इच्छा यही रहती थी कि जो कुछ आनन्द का उपभोग उन्हें हो, उसका लाभ हम सबके भाग में भी आना चाहिए। वे पत्र बार-बार पढ़ने की वस्तु होते थे।

मुंशीजी ने अपने जीवन में काफी उतार-चढ़ाव देखे थे। जब उनके पिता की मृत्यु हुई तब उनकी अवस्था सोलह-सत्रह की थी। एक साथ ही उस समय दुर्बल कन्धों पर गृहस्थी का बोझ आ पड़ा था। उस समय जीविका के लिए उन्हें दूर-दूर तक ऊँट की सवारी साथ लेकर भ्रमण करना आवश्यक हुआ। उस भ्रमण में उन्हें न जानें कितने भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के व्यक्ति मिले, न जानें कितने-कितने हर्ष-विषाद और आशा-निराशा के प्रसंग उनके सामने आये। उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीक्ष्ण थी कि बरसों बीत जाने पर भी साधारण से साधारण बात उन्हें याद बनी रहती थी। उनके स्मृतिपटल पर वे सब प्रसंग आज भी उसी दिन की ताज़गी से अंकित थे।

मैंने कहा—आप अपना भ्रमण-वृत्तान्त आत्म-कथा के साथ लिख डालें तो, मैं समझता हूँ, हूँ, हिन्दी में यह चीज बेजोड़ होगी। उन्होंने टाल-टूल तो की, परन्तु मेरा ख्याल है, मेरा प्रस्ताव उन्हें पसन्द आ गया था। फिर भी ऐसे किसी काम के लिए उन्हें बार-बार प्रेरित करना आवश्यक था। उनकी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले जब मैंने फिर वही अनुरोध उनसे किया तो मुझे आशा हुई थी कि अबकी बार कदाचित् उन्हें इस काम पर बिठा सकूँगा। एक बार उन्हें बिठा भर देने के बाद कठिनाई न थी। परन्तु किसे मालूम था, वह बात होने की न थी।

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की आत्मकथा के लिए भी मैं बहुत उत्सुक था। उन्होंने मेरा अनुरोध मान भी लिया था। परन्तु न तो उन्होंने अपनी आत्मकथा लिख पाई और न मुंशीजी ने ही। कदाचित् नियम ऐसा है कि हम लोग जिस वस्तु के लिए बहुत उत्सुक हों, वह प्रायः हमारे हाथ नहीं पड़ती।

मुंशीजी बीच-बीच में कहा करते—अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, मुझसे काम नहीं बन सकता। यह वृद्ध होने की भी कैसी मनहूस बात है? मैं कहता—आप वृद्ध कैसे हो गये? मैं आपके सामने बच्चा हूँ। आप अधिक से अधिक तरुण हो सकते हैं, यदि किशोर न होना चाहें। आज जब वे हम लोगों के बीच में से चले गये हैं, तब भी मन यह मानने के लिए तैयार नहीं होता कि वे वृद्ध हो गये थे। संसार में प्रायः अकाल-मृत्यु ही देखी जाती है। मुंशीजी के सम्बन्ध में तो मृत्यु किसी समय भी ऐसी ही मालूम होती।

खरी बात कहने में चूकते उन्हें कभी नहीं देखा गया। सत्य के लिए वे अपनी स्वभाविक मृदुता और अपने हानि-लाभ का भी परित्याग कर देते थे। द्विवेदी-अभिनन्दन के उत्सव का सभापतित्व करने ओरछा के महाराजा साहब काशी आये हुए थे। वहाँ द्विवेदीजी के किसी प्रश्न के सिलसिले में महाराज ने अनेक सम्मानित विद्वानों की गोष्ठी में कहा था कि मुंशीजी सत्य के लिए किसी की परवाह नहीं करते। कभी-कभी मुझसे इस तरह झगड़ पड़ते हैं कि मैं ही जानता हूँ।

साहित्य की अपेक्षा मनुष्य अपने निजी जीवन में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। मुंशीजी के संसर्ग में थोड़ी देर के लिए भी जो व्यक्ति सोया, वह उन्हें फिर कभी नहीं भूला। दो-चार बातें करके ही वे किसी को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे।

मुंशीजी जन्मना मुसलमान होकर भी संस्कारतः वैष्णव थे। प्रायः लोगों को विश्वास न होता था कि वे मुसलमान हैं। हिन्दू धर्म में उनकी आस्था ऐसी ही अटल थी।

भक्तिरस की कविता से तुरन्त ही उन्हें अश्रुपात होने लगता था। भैया उन्हें कोई रचना सुना रहे हैं और उनकी आँखों से अजस्र आँसुओं की धारा बह रही है। ऐसी स्थिति में अनेक बार ऐसा हुआ है कि कविता की अपेक्षा मेरा हृदय उनके आँसुओं से अधिक द्रवित हुआ। मुझे बार-बार इसका अनुभव हुआ है कि मुंशीजी जैसा सरस-कोमल हृदय कहीं मुझे भी मिला होता।

बहुत दिन पहले एक बार मुंशीजी को कोई रोग हुआ। रोग कदाचित् रक्त-सम्बन्धी था। उससे उन्हें बहुत चिन्ता हुई। उस समय उन्होंने नियम किया कि वे प्रति दिन नियमपूर्वक मन्दिर में आकर कीर्तन करेंगे। थोड़े दिनों में उनका रोग अपने आप दूर हो गया। उनकी श्रद्धा ऐसी ही अटल थी। उनका विश्वास था कि शुद्ध मन से जब कभी वे प्रार्थना करेंगे, वह निश्चय ही पूरी होगी। एक बार उनका एक कृपापात्र किसी अभियोग में गिरफ़्तार हो गया। तुरन्त मन्दिर में जाकर उन्होंने साश्रुवदन प्रार्थना की। मन्दिर से बाहर आकर उनका जी हलका हो गया। मित्र की विपत्ति की ओर से उनको किसी तरह की शंका न रही। बाद में एक दूसरे व्यक्ति ने उन्हें

सुझाया कि तुमने एक जन के लिए तो प्रार्थना की है किन्तु उस अभियोग में एक अन्य जन भी पकड़ा हुआ है। उसके लिए भी प्रार्थना करो। मुंशीजी फिर मन्दिर पहुँचे। परन्तु उन्हें अनुभव हुआ, यह दूसरा व्यक्ति नहीं छूटेगा। इसे छूटना होता तो पहली बार ही मैं उसे क्यों भूल जाता। अन्त में हुआ भी ऐसा ही। पहले वाला व्यक्ति निर्दोष होकर छूट गया, दूसरे को सजा हुई।

हिन्दुत्व का प्रभाव उन पर इतना गहरा था कि कभी कभी वह मुझे असह्यकर हो उठता था। खान-पान में छुआ-छूत का विचार कुछ कड़ाई से करते थे। कई बार मुझे यह शिकायत हुई है कि आपने तो हिन्दुओं के दुर्गुण भी अपना लिए!

इतने अधिक वैष्णव भावापन्न होकर भी वे संकीर्ण न थे। प्रायः देखा है कि पैग़म्बर साहब की स्तुति में उर्दू की एक कविता गाते गाते वे आत्म-विस्मृत हो उठे हैं। असम्भव नहीं है, पैग़म्बर साहब की प्रशंसा में भी वे अपने उपास्य राम और कृष्ण की ही झलक देखते हों। उनके मन में अटूट श्रद्धा और अपार भक्ति थी और प्रधान वस्तु है भी यही। जिसमें यह है, वह न तो हिन्दू है और न मुसलमान। इन दोनों के ऊपर वह शुद्ध मानव है। मुंशीजी भी ऐसे ही मानव-रत्न थे।

हिन्दू-संगठन के सिलसिले में लोगों ने कहा—मुंशीजी, आप शुद्ध होकर हिन्दू हो जाइए, विचारों से तो आप हिन्दू हैं ही। उन्होंने उत्तर दिया—ऐसा मुझमें अशुद्ध क्या है, जो मैं शुद्धि कराने जाऊँ। सम्भवतः वे यह अनुभव करते थे कि हिन्दुओं में उस बल की कमी पड़ गई है, जिसके कारण उनके बीच में अपने ही अपने बनकर नहीं रह पाते।

मुंशीजी में आत्माभिमान था और कम भी नहीं था। फिर भी वह उस सीमा तक नहीं पहुँचा था, जहाँ पहुँचकर वह अहंकार में बदल जाता है। बड़े-बड़े विद्वान और महापुरुष उनके गुण का आदर करते थे, राजा महाराजाओं में उनका सम्मान था। फिर भी छोटे-छोटे कहे जाने वाले व्यक्ति के पास बैठकर उसे सन्तुष्ट करने में भी उनके जी को बहुत सुख मिलता था। प्रायः ऐसा हुआ करता था कि घर से कहीं दूसरी जगह के लिए निकले हैं और बीच में ही किसी बढ़ई, लुहार या दरजी के वहाँ जाकर जम गये। घण्टों उन लोगों का मनोरंजन करके ही तब कहीं वहाँ से उठते थे। ऐसे में प्रायः उन्हें अपने प्रधान कार्य की सुध भी भूल जाया करती। उनका यह गुण इतना अधिक था कि कभी-कभी इसे दोष कहने की इच्छा होती है। यदि उन्हें समय का ध्यान होता तो वे जितना साहित्यिक कार्य कर गये हैं, उससे बहुत अधिक कर गये होते। कहीं बैठे हैं तो बैठे ही हैं। रात में सोते बहुत देर से थे। रात के एक दो बजा देना तो उनके लिए आसान बात थी। कभी-कभी घड़ी देखकर कहने लगते। यह गलत हो गई है, अभी इतना समय नहीं हुआ!

ऐसे अवसरों पर मैं हँस उठा हूँ। परन्तु अब ध्यान में आता है कि कभी-कभी घड़ी भी गलत समय दे जाती है। क्या अभी इतना समय हो गया था कि मुंशीजी जमी हुई गोष्ठी सूनी करके उठ जाते?

उनका शरीर कुछ दिन से अस्वस्थ प्रतीत होता था। काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा में 'सूरसागर' का सम्पादन करते समय उन्हें ज्वर और खाँसी की शिकायत हो गई थी। वहाँ का परिश्रम और हवा पानी उन्हें सहन नहीं हो रहा था। फिर भी वे चाहते थे कि जो काम हाथ में लिया है, वह अधूरा न छूटना चाहिए। परन्तु वहाँ कुछ ऐसी बातें सामने आईं कि उन्होंने त्यागपत्र दे देना ही उचित समझा। वहाँ से लौटकर जब वे घर आये तो हम सब लोगों को बहुत चिन्ता हुई। मैंने कहा, जिनके असद् व्यवहार के कारण आपको त्यागपत्र देना पड़ा है, उन्होंने हमारे

साथ उड़ा उपकार ही किया। आज भी मेरा वही विश्वास है। उस समय उन्हें जो ज्वर बस गया था, वह बहुत दिनों में सुयोग्य चिकित्सा से ही दूर हो सका था।

उन्हें स्वस्थ देखकर आशा हो चली थी कि संकट टल गया। उनके पिता का देहावसान ७४-७५ बरस की अवस्था में हुआ था। इसलिए हाल में तो किसी तरह की आशंका ही न थी। मुंशीजी इस समय ५५ वर्ष के ही थे। परन्तु होना तो यह था। आजीवन उन्होंने हँसाया था, वही इस तरह रुलाते भी नहीं तो और कौन रुलाता। न जाने कितनी बातें मन की मन में ही रह गई, न जानें कितनी आकांक्षाएँ और थीं, जो पूरी न हो सकीं। जहाँ की तहाँ ही मुरझा गई हैं।

बहुत बचपन से उनकी मनोहर कहानियाँ सुनता आ रहा हूँ। बचपन में भी कहानी सुनने के लिये उन्हें बहुत घेरा है और आज भी बच्चों को शह देकर इसके लिए सबके आगे ही जम कर बैठा हूँ। इधर मैंने कुछ कहानियाँ लिखने का लोभ किया था। जब 'अन्तिम आकांक्षा' नामक उपन्यास लिखा, तब इच्छा थी, उन्हें भेंट करके उसमें लिख दूँ कि सदैव आपसे ही कहानी सुनता आ रहा हूँ, आज की मेरी यह धृष्टता क्षमा करो। किन्तु उस समय वैसा न कर पाया। इच्छा रखकर भी न कर पाया। न जाने क्यों मुझे यह विश्वास हुआ कि यह रचना उन्हें पसन्द नहीं होगी। बाद में स्वयं पढ़कर जब उसके लिए उन्होंने मुझे अत्यन्त प्रोत्साहित किया, तब अपनी भ्रान्त धारणा के लिए खेद करके ही रह जाना पड़ा। सोचा, अब अपने अगले उपन्यास में ही यह इच्छा पूरी होगी। इधर मैं एक उपन्यास लिख भी रहा था। थोड़ा ही लिखने के लिए और था कि भाई जैनेन्द्रकुमार अचानक यहाँ आ गये। उन्होंने उसे उतना ही देख डाला। तब मैंने यह उचित समझा कि इतना ही मुन्शीजी को भी दिखा दूँ। मुंशीजी ने तब मेरी वह अधूरी हस्तलिपि प्रसन्नतापूर्वक पढ़ डाली, सोचा, अबकी बार अपनी वह वांछितधृष्टता मैं सन्तोष के साथ कर सकूँगा। उस समय मैं क्या जानूँ कि अदृष्ट में कुछ दूसरी बात है। उस समय भी उनके शरीर पर वे फोड़े मौजूद थे, जिनमें से एक ने विषाक्त होकर एक पखवारे के भीतर उनको हमारे बीच से छीन लिया।

मृत्यु के एक दिन पहले जब उन्हें कुछ कुछ बेहोशी आ चली थी, तब उन्होंने मुझसे पूछा—उपन्यास कितना और लिख चुके? मुझे लज्जा मालूम हुई। उनकी तबीयत खराब हो रही हो और मैं निश्चिन्त होकर लिखता रहूँ। यह मेरे लिए लज्जा की ही बात थी। मृत्यु के आठ घण्टे पहले उनके लिए जब झाँसी से फिर डाक्टर आया और मैं भी उनके सामने हुआ, तब वे बहुत कम सचेत थे। फिर भी उन्होंने मुझसे यही प्रश्न किया,—क्या इस समय लिख रहे थे? वही अन्तिम बात थी, जो उन्होंने ज्ञानतः मुझसे कही। अवस्था चिन्ताजनक होने पर भी किसी को भान तक न था कि आज की ही रात ऐसी भयंकर निकलेगी, जिसका आघात जीवन भर सहना होगा।

उस दिन की बात भुलाये नहीं भूलती।

इसी ज्येष्ठ की पहली प्रतिपदा का प्रातःकाल था। गाँव भर में एक साथ बिजली-सी गिरी कि रात में मुंशीजी का देहान्त हो गया है। क्या मुंशीजी का देहान्त हो गया! सहसा आँखों में आँसू भी न आ सके। एकाएक यह हुआ क्या? कल संध्या समय ही तो झाँसी के एक कुशल डाक्टर पूर्ण निश्चिन्त रहने का आश्वासन दे गये थे। किन्तु डाक्टर के ही कहने से क्या, आघात इतना कठोर था कि पहले से उसकी कल्पना भी असह्य थी। न रोना आया, न चिल्लाना। जैसे किसी ने सारी बोध-शक्ति छीन ली हो।

मुंशीजी से ही सुना है। एक कहानी कहने वाला जहाँ देखता कि सुनने वाले एकाग्र

हो गये हैं, सभी में आगे के लिए तीव्रतर उत्सुकता है, बस वहीं एक दम रुक जाता था। असमाप्त होने पर भी अपनी कहानी वहीं समाप्त करने में उसे विशेष प्रसन्नता होती थी। मुंशीजी को यह ढंग पसन्द न था। पूरे विस्तार के साथ यथार्थ अन्त तक पहुँच कर भी 'और और, फिर'' का सावधान करने की विश्वस्त शक्ति उनमें थी। परन्तु आज यह क्या बात हुई? कैसे उनके जीवन की ऐसी बड़ी कहानी असमय ही इस प्रकार समाप्त हो गई?

भैया ने आज्ञा की,—चलो, मुंशीजी को क्रब्रस्तान तक और पहुँचा आवें।

मुंशीजी के घर पहुँचकर मैं अपने रुद्ध आँसू न रोक सका। स्त्रियों के क्रन्दन की ध्वनि दूर से ही सुनाई दे रही थी। लोग हृदय पर पत्थर-सा रक्खे चुपचाप इधर उधर आ जा कर तैयारी कर रहे थे, जिसमें कोई विलम्ब न हो। जो व्यक्ति सम्पूर्ण मोह ममता छोड़ चुका है, वह फिर हमारे किस काम का? उसे तो शीघ्र उसके असली ठौर पर पहुँचा देना चाहिए। बात कुछ बुरी थोड़े है।

द्वार तक पहुँचकर भी भीतर न जा सका। मन एक दम इनकार ही कर बैठा। आजीवन मुंशीजी को जिस रूप में देखा है, मन के भीतर वही रूप क्यों न अंकित रहने दूँ? आज के इस दर्शन की आवश्यकता ही क्या है?

भैया भी चुपचाप बाहर के ही चबूतरे पर नीचे पैर लटकाकर बैठ गये थे। रात को मुंशीजी की मृत्यु के दस बीस मिनट पहले वे वहाँ से हट आये थे। इसलिए किसी व्यक्ति ने बताया कि मरने के कुछ पहले मुंशीजी ने बड़े जोर से कहा था—'मैथिलीशरण! मैथिलीशरण! न जानें, वह जानेवाली आत्मा उस समय क्या सोच रही थी; न जानें कौन-सी बात, न जाने कौन-सा रहस्य कहने के लिए उसके भीतर ही रह गया! निर्मम मृत्यु ने उसे प्रकट नहीं होनेदिया।

देखता हूँ, मुंशीजी का कनिष्ट पुत्र आकर सहसा भैया के पैरों से चिपट गया है। रोते-रोते उसने कहा— क्या करूँ दद्दा, क्या करूँ? कैसे सहूँ, मेरी तो छाती फटी जा रही है। लोगों ने देखा—भैया का धीरज भी उनका साथ नहीं दे रहा है। उन्होंने कहा—भैया, धीरज धर, हिम्मत नहीं खोना चाहिए। धीरज खोना तो नहीं चाहिए; परन्तु ऐसे जन से किसी को क्या धीरज मिल सकता है, जिसका कण्ठ अपने ही आपे में न हो, जिसकी आँखें स्वयं ही आँसू बरसा रही हों।

मुंशीजी के तीन पुत्र हैं। तीनों ही पूर्ण वयस्क। ज्येष्ठ पुत्र ऐसा हो गया था जैसे कोई बात उसके कान में ही न जाती हो। मध्यम को इधर उधर के काम में योग देना पड़ रहा था। योग देने की एक ऐसी भी असहायता होती है! कनिष्ठ की हालत वह वैसी ही थी। विचित्र विक्षिप्तता थी। तीनों के तीनों जैसे एक ही शोक के तीन विभिन्न चित्र हों। सोचा, यहाँ से हटकर मुंशीजी के ही दर्शन क्यों न कर लूँ, यह दर्शन शिष्टाचार का दर्शन नहीं, सचमुच दर्शन ही था।

भीतर जाकर झुककर प्रणाम किया, पैर छुए, परन्तु उनके मुख की ओर न देख सका। किसी तरह वहाँ आँखें ठहरी ही नहीं। इसी समय देखा, बड़ी लड़की अन्तिम दर्शन की बात सुन कर बेहोश हो गई है।

अर्थी उठी। बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू और मुसलमान सब के सब शोक मग्न, सिर झुकाये हुए चुपचाप। यह मौन है किस लिए? क्यों नहीं आज झालरें और घंटे बजते हैं, क्यों नहीं आज शंख अपना विजयघोष कर उठता है? आज एक शुद्धात्मा हँसता-हँसता अपनी इहलीला पूरी करके अपने परमधाम को जा रहा है। ऐसे में भी मंगल-घोष न होगा और

होगा कब? परन्तु मुसलमानी धर्म में यह सब अशास्त्रीय है। हो, शोक विधि शोक के साथ ही हो! जाने वाली आत्मा को अब इन बातों से कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

अर्थी उस घर के फाटक के सामने पहुँची, जिसकी ओर से मुँह फेर कर मुंशीजी कभी नहीं गये। जिसके भीतर जाने के लिए मुंशीजी को आँधी में, पानी में, उजले दिन में और घोर अँधेरी रात में कभी समय असमय नहीं था। वह फाटक जिसमें आज उनके चले जाने पर भी प्रायः मुझे अनुभव होता है कि अपना ऊँचा बल्लम लिये, खादी के कुरते पर खादी का ही साफा बाँधे हुए वे प्रवेश कर रहे हैं और थोड़ी देर ही में हँसते हँसते हम लोगों के सामने बल्लम टेक कर आ खड़े होंगे। वह फाटक भी पीछे छूटा। वहाँ एक बालक अर्थी देख कर इतना विकल हो उठा कि उसे सँभालना कठिन था। रो ले भाई, तू भी रो ले! उस सुखद गोद में तू हँसा खेला भी तो कम नहीं है।

कब्रस्तान में उसी जगह से मिली हुई कब्र खोदी गई थी, जहाँ २०—२२ वर्ष पहले मुंशीजी हमारी भाभी को सुला आये थे। पत्नी की बगल में आज निस्संकोच सो सकने के लिए ही मुंशीजी ने दुबारा विवाह नहीं किया था। वहाँ खादी की शुभ्र चादर पर वे लिटा दिये गये।

भैया जनकपुर और अयोध्या की तीर्थमृत्तिका, रेणुका और गंगाजल साथ ले गये थे। उसे चढ़ाने के लिए मुसलमानों ने एतराज नहीं उठाया। भैया ने उसे मुझको सौंपकर कहा—लो चढ़ा आओ। मैंने यन्त्रचालित की माफ़िक सब काम कर दिया।

भैया भी मिट्टी देकर आये और उन्होंने कहा—देखा तुमने अजमेरी की ओर? जैसे उन्होंने इस ओर से, इस लोक से दृष्टि फेर ली हो। कहीं दूसरी ओर जैसे उनका ध्यान चला गया है। शान्त गम्भीर किन्तु कितनी आत्म-गौरव-मंडित वह आकृति है! यहाँ उस मूर्ति को जैसे अब कोई प्रयोजन नहीं रहा।

ग्रीष्म की लू प्रखर हो रही थी। वृक्ष सरसराहट के साथ साँ-साँ करते दिखाई दिये। इधर यह दूर तक फैली हुई पक्की सड़क सूनी-सी दिखाई दे रही है, उसके बाद वह कुआँ, फिर वे वृक्ष, उनके भी बाद आकाश में घुली-मिली दूर की पहाड़ियों की वह नीलिमा। कहीं कुछ नहीं। इतने अधिक जनसमूह के साथ भी मानों हम सब लोग अकेले पड़ गए।

मुंशीजी को मानों मिट्टी के नीचे छिपाकर हम सब लोग लौट पड़े।

सत्य स्वाभाविक-रूप में ही कितना मनोहर हो सकता है, यह बात मुंशीजी से समझना चाहिये। ऐसा ही कुछ श्रद्धेय रायकृष्णदासजी ने एक बार मुंशीजी के सम्बन्ध में लिखा था। सत्य सदैव मनोहर ही नहीं, वह भयंकर कठोर भी है। आज के दिन यह भी मुंशीजी ने ही प्रकट कर दिया।

सुधिया

[कमलादेवी चौधरी]

विधवा सुधिया बहू-बेटे के संसर्ग में न रहकर अपनी स्वामिनी के साथ मथुरा चली गई। वह विधवा है, घर-गृहस्थी के मायाजाल में अब नहीं रहेगी। जन्म-कर्म सुधारना उसके लिए अब आवश्यक हो गया है। अब वह वृन्दावन-विहारी की शरण में आती है, अपनी स्वामिनी की तन-मन से सेवा करके वह मोक्ष की कामना करेगी। इन मालकिन के सतसंग ही से तो भगवान् ने उस निर्बुद्धि कहारिन को इतना ज्ञान दिया है जो आज सांसारिक माया-मोह से मुक्त होने की उसमें प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है। वरन् जिस प्रकार उसने इतनी आयु पेट के धन्धे में संलग्न रहकर व्यतीत कर दी, उसी प्रकार जीवन के शेष दिनों में भी चौका-बासन उसका कर्मकांड बना रहता। और यदि हाथ-पैर न चलते, दूसरों की मजूरी न कर पाती तो बेटा-बहू दो रोटी भले ही खिला देते किन्तु बहू ताने-तिश्नों से बाज़ न आती।

बूढ़ा सुधिया केवल पेट के लिए उपेक्षा, अपमान, कितनी साँसत बरदाश्त करती। रोती, कुढ़ती और इसी लौकिक कलह में फँसी-फँसी मर जाती। उसकी अन्तरात्मा जाने कहाँ-कहाँ भटकती, किधर जन्मती, और कौन जाने क्या होता? कर्म ही कौन अच्छे बन पड़े हैं?

मज़दूरी करके पेट तो अब भी पालना है, किन्तु वह मज़दूरी पैसे के लिए नहीं होगी—उसमें सेवा-भाव का ज़बरदस्त पुट रहेगा। वह सेवा पेटाग्नि को शान्त करने ही के लिए नहीं, मुक्ति के लिए होगी। किसी प्रकार भी हो वह मालकिन को प्रसन्न करके गुरु महराज से दीक्षा लेगी।

(२)

सुधिया की स्वामिनी मुसम्मात रम्भावती धनवान घर की विधवा थीं। पति यथेष्ट सम्पत्ति छोड़ गये थे। उस सम्पत्ति का वारिस ठाकुरजी-सा सुयोग्य पात्र उन्हें और कौन मिल सकता था? अतः ठाकुर जी के नाम पर धन का अपव्यय होने लगा।

रम्भावती मथुरा के एक कृष्ण-पन्थी गुरु की गुरु-मुख थी। वह अपने पन्थ के अनुकूल कृष्ण की भक्ति और पन्थ के नियमों का यथाक्रम पालन करती थीं। गुरु-मंत्र लेते ही उन्होंने अपने त्याग को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। नियम-निष्ठा का क्या कहना—किसी व्यक्ति का साया भी पड़ जाता तो तुरन्त ही स्नान और जमुना-जल का आचमन करतीं। गुरु-भाई-बहन के सिवा किसी अन्य व्यक्ति विशेष के हाथ का जल भी ग्रहण नहीं करती थीं। बाज़ार की मिठाइयाँ, अचार, मुरब्बे आदि का प्रलोभन भी वह त्याग चुकी थीं। किसी कर्मकांडी ब्राह्मण तक का बनाया भोजन

ग्रहण करना भी उनकी अपार निष्ठा और पंथ के विरुद्ध बात थी। कहारी यदि तुलसी की माला गले में डाले बिना बर्तन छू लेती तो महा अनर्थ हो जाता—मिट्टी का घड़ा, सुराही आदि भंगिन के हवाले किये जाते, और धातु के बर्तन इक्कीस बार जमुना-जल में धोकर पवित्र किये जाते थे।

इस अपार निष्ठा के पालन हेतु उन्हें एक ऐसी नौकरानी की सख़्त आवश्यकता थी जो उनके गुरु से दीक्षा लेकर ठाकुरजी के सेवा-कार्यों में सहायता दे सके। ठाकुरजी के निमित्त भोग आदि तो वह सहर्ष बना लेती थीं, किन्तु चौका-बासन, झाड़ू-बुहारू उनके सामर्थ्य से परे की बात थी। अतः रम्भावती ने सुधिया को समझा-बुझाकर और गुरु को भेंट-पूजा चढ़ाकर उसे गुरु-मंत्र दिला अपनी सेवा में ले लिया।

सुधिया को ऐसा जान पड़ा मालकिन ने उसे देवत्व की ऊँची सीढ़ी पर बिठा दिया हो, अपनी ही दृष्टि में वह आदर की पात्री बन गई। अब वह एक हाथ में सुमरनी और कमर पर घड़ा रखकर जल भरने निकलती तो उसे ऐसा जान पड़ता—सड़क पर चलनेवाले अनजान व्यक्ति भी आज उसे आदर भरी दृष्टि से निहार रहे हैं; और जाति-बिरादरी वालों का तो कहना ही क्या। उसने अपनी बिरादरी को महान् गौरव प्रदान किया है।

इस आडम्बर, कृत्रिम वैभव ही ने सुधिया के हृदय में सत्य ही पवित्रता के अंकुर उत्पन्न कर दिये, सुधिया जिसे जान भी न सकी। पुत्र-पौत्रों का मोह छोड़कर वह वृन्दावन चली गई और तन-मन से अपनी स्वामिनी तथा ठाकुरजी की सेवा में तन्मय हुई।

(२)

सुधिया की वृद्धावस्था अब सीमा पर थी; अपार निष्ठा, सेवा-भाव के साथ भी कुछ प्रवृत्तियों की अन्तिम चेष्टा उत्तुङ्ग शिखर पर थी। जिह्वा सम्बन्धी चाहनाओं की प्रबलता थी और संयम में वार्धक्य बाधक था। कहते हैं बच्चे और बूढ़े समान होते हैं। कुछ ऐसी ही बात थी।

इतने दिनों से जिह्वा पर वश रखनेवाली शक्ति जवाब दे रही थी। मन डाँवाडोल हो रहा था। मस्तिष्क संयम की बात भूलकर प्रवृत्तियों के वशीभूत था। रसोई में मालकिन ठाकुर जी के निमित्त भाँति-भाँति के पकवान तैयार करतीं, उस समय सुधिया का चंचल मन रसोईघर ही में रम रहता। वह अपने मन की इस कमज़ोरी को अनुभव करती थी और उसे क़ाबू में रखने का उपाय भी कम नहीं करती थी। बुढ़ापे के निर्बल हाथ-पैरों से भी मशीन की भाँति तेज़ी से काम लेने की चेष्टा करती और काम से फ़ारिग़ होते ही पंखा लेकर बैठ जाती—'मालकिन, तुम जब तक प्रसाद का बन्दोबस्त करो मैं भगवान की सेवा कर लूँ।' वह अपने चंचल चित्त को किसी प्रकार अवकाश का अवसर देना नहीं चाहती है। कभी सूर के बाल-गोपाल को हिंडोला झुलाती, कभी मीरा के गिरधर-नागर को पंखा डुलाती और कभी गोपियों के रास-बिहारी को अपनी पोपली आवाज़ और बुढ़ापे के नख-शिख द्वारा रिझाने की चेष्टा करती, किन्तु मन फिर भी उड़ा-उड़ा घूमता था—मालकिन हलुवे के लिए सूजी भून रही हैं, कैसी महक फैल रही है; और हलुवे में डालने को मैंने पिस्ते-बादाम भी तो बहुत से काट कर रखे हैं, मखाने की खीर आज बहुत ही स्वादिष्ट बनेगी, दूध अपनी आँखों के सामने दुहाकर लाई हूँ—पानी का नाम नहीं, ख़ालिस भैंस का दूध है, ख़ूब मोटी मलाई पड़ेगी।

ठाकुरजी आज पक्की रसोई जीमेंगे—हलुवा, खीर, मोहनभोग, मक्खन, बरा, पकौड़ी समोसे, साग-भाजी, चटनी, अचार। ऐसी ही विचारधारा में बहकर सुधिया पूर्णतः डूब जाती थी। रुचि की मोहक आकांक्षाओं में लिप्त होकर वह ज़ोर से कह उठती—मालकिन, समोसों में

खटाई भूल न जाना। आले में पीस कर रख आई हूँ। शीशी में गुलाबजल भी ले आई हूँ। खीर में डाल देना।

मालकिन चिढ़ उठतीं—सुधिया, बुढ़ापे में अब तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है? ठाकुरजी की सेवा में बोल उठी। तेरा मन अब मेवा-मिठाइयों में ही रमा रहता है तो सेवा में न बैठा कर। कैसी है तेरी नीयत?

सुधिया मालकिन के प्रति अ-कृतज्ञ कभी नहीं हुई; सदैव उसने श्रद्धापूर्वक अपने शरीर के दुःख-सुख की चिन्ता छोड़कर तन-मन से उनकी सेवा की है। और वह यह भी नहीं भूलती कि उसकी स्वामिनी को भगवान ने ज्ञान दिया है, भक्ति दी है और गुरु महराज की उन पर विशेष कृपा है, फिर ठाकुरजी की कृपा तो अनिवार्य ही है। वह क्षुद्र इनके सम्मुख किस लेखे में है? इन्हीं मालकिन की सेवा ही आधार है, और कृपा—बल। इन्हीं के निहोरे गुरु महराज उसकी ओर दृष्टि डाल लेते हैं, वरना गुरु के अनेकों प्रतिष्ठा-सम्पन्न चेलों में उसकी क्या गिनती है। और अब तो कभी-कभी गुरु महाराज की महती कृपा भी होती है—सुधिया से अपने चरण धुलवा लेते हैं। कई बार सुधिया को गुरु की धोती-अँगोछा धोने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। मालकिन की ऐसी ही कृपा-दृष्टि रही तो कभी-न-कभी उसे शयन में गुरु के चरण दबाने का सौभाग्य भी प्राप्त होकर रहेगा।

गुरु की कृपा ही के सहारे पर आशा है, कभी ठाकुरजी भी प्रसन्न हो जाँय। सुधिया के अन्तस्तल को छेदती हुई एक आह निकलती—'ऐसी सेवा कहाँ बन पड़ी है!' और फिर वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति एकत्रित करके स्वामिनी की सेवा में दत्तचित्त रहना चाहती। प्राण भले ही जवाब दे जायँ, किन्तु प्राण रहते शरीर सेवा की उपेक्षा न करे।

परन्तु ऐसी बातों पर अब वह व्यथित हो उठता है, उसकी अन्तरात्मा रो उठती है—कैसी कड़वी बात बोलती है—'तेरी कैसी नीयत है?' मानो रसोई के सारे व्यञ्जन मेरी थाली ही में परोस देंगी। अरे मुझे तो भगवान के प्रसाद के नाम पर तनिक ज़ुबान गरम करने ही को दोगी। बेला भर के खीर तो अपनी थाली ही में परोसोगी। आज प्रसाद में बहुत दोगी तो आधा समोसा दे दोगी; चार दिन रख कर मैं तो खाने न जाऊँगा। मुझ ग़रीबनी को भी ज़िन्दगी में एक बार भगवान के प्रसाद से छका दो तो मेरा कल्याण हो जाय। भगवान की जूठन अमृत है, उसके लिए कौन कामना नहीं करता? हे मेरे गोकुलेश, तुम्हारे प्रसाद ही के प्रभाव से तो इस संसार-सागर से पार होऊँगा। और मैंने कौन धर्म-कर्म किये हैं?

फिर, कमी काहे की है? तुम्हारा दिया सभी कुछ तो है, फिर भी मैं ग़रीबनी तुम्हारे प्रसाद को तड़पती हूँ।

सुधिया मालकिन से छिपा कर अपनी इस व्यथा पर बड़े-बड़े आँसू गिराती किन्तु मुख से कुछ न कहती। वह जानती था, उसकी इस व्यथा को मालकिन नहीं समझती। वह सर नीचा किये हुए जाती और जो कुछ थाली में परस देती वह उस प्रसाद को श्रद्धापूर्वक उठा लाती, और पृथ्वी पर माथा टेक कर भगवान को याद करके भोजन करने बैठ जाती। किन्तु चाहनाएँ कुछ ऐसी प्रबल हो गई थीं, किसी प्रकार भी तृप्ति नहीं होती थी; मन उन व्यंजनों की विवेचना करके ललचता ही रहता था। आशा के सहारे कान रसोई की ओर लगे रहते—सम्भव है मालकिन पुकारें—ले सुधिया, थोड़ा हलुवा और आधा पापड़। ले, तेरे दाँत नहीं हैं पराठा कैसे खायगी?—दूध पी ले। परन्तु निराशा ही पल्ले पड़ती थी। अन्त में वह दीर्घ साँस लेकर उठ खड़ी होती—हे मेरे गोविन्द!

(४)

सुखिया की सामर्थ्य ने हार मान ली थी। शारीरिक शक्ति जवाब दे रही थी। वह बीमार रहने लगी। फिर भी जब तक शक्ति का कुछ अंश भी शरीर में रहा वह मालकिन की सेवा करती रही। लेकिन धीरे-धीरे चारपाई में लग गई—जाड़ा, बुख़ार, खाँसी ने उसे बेतरह दबा रखा था, फिर भी आरती के समय वह किसी प्रकार बहू का सहारा लेकर ठाकुरद्वारे तक पहुँच जाती और आरती के गान में अपनी अन्तरात्मा से झंकृत शब्दों में ठाकुरजी को अपनी व्यथा सुना आती; और बाक़ी समय का अधिक भाग शय्या पर पड़े-पड़े रसोई घर के व्यंजनों की व्यंजना में व्यतीत हो जाता था।

इधर वैद्य के आज्ञानुसार वह आजकल ठाकुरजी के प्रसाद से वंचित रखी जाती थी। सुखिया की बीमारी का समाचार पाकर उसकी संचित कमाई के हक़दार बहू-बेटी सेवा को आ गये थे, किन्तु सुखिया के लिए पथ्य आदि स्वामिनी ही तय्यार करती थीं। कभी बाज़ार से दूध मँगा देतीं, कभी अपनी रसोईं में साबूदाना बना देतीं—बेचारी ने मेरी बहुत सेवा की है, अब अन्त समय में उसका दीन-ईमान क्यों जाय? साथ ही अवसर मिलते ही सुखिया को सावधान भी कर देती थीं—देख सुखिया, किसी का छुआ न खाना। बेटा, बहू कुछ ही कहे और तुझे कैसा ही कष्ट झेलना पड़े, उसके हाथ की छुई कोई चीज़ न खा लेना। यही तो परीक्षा का समय है। तू इससे पार उतर गई तो समझ ले वैतरणी पार हो गई। फिर तो ठाकुरजी तुझे अपनी शरण में ले लेंगे।

सुखिया रो उठती—मालकिन, ऐसे करम कहाँ बन पड़े? मालकिन का उपदेश प्रवृत्तियों के दमन के लिए यथेष्ट नहीं था। चाहनाएँ प्रतिक्षण प्रबलता का इज़हार करके संयम का नामोनिशान मिटाना चाहती थीं। सुखिया मन को एकाग्र करके जितना ही ध्यान में निमग्न होना चाहती, मन उतना ही चंचलता को अपनाने की चेष्टा करता।

एक दिन दोपहर का सन्नाटा था। सुखिया की चारपाई द्वारी में पड़ी थी, और चारपाई पर पड़ी हुई सुखिया का मन ख़याली लड्डू बना रहा था। उसी समय कानों ने सुना—कुल्फ़ी मलाई की बरफ़!

मन हाथ से बे-हाथ हो गया। कल्पना ने मन को १५ वर्ष पूर्व के सम्पूर्ण स्वाद का मोहक दिग्दर्शन करा दिया। रहा न गया। वह धीरे से चारपाई पर उठ कर बैठ गई और उसने भीतर के द्वार में झाँका—ख़ामोशी थी। उस ओर से निश्चिन्त होकर उसने आवाज़ दी—ओ! बरफ़वाले! दिल धड़-धड़ कर रहा था, कहीं कोई आ न जाय, कोई उसकी आवाज़ न सुन ले। साथ ही यह भी चिन्ता थी बरफ़वाला लौट न जाय। एक बार सम्पूर्ण बल लगा कर पुकारा—ओ बरफ़वाले!

बरफ़वाला अन्दर दाख़िल हुआ; और सुखिया ने एक बड़ी-सी क़ुल्फ़ी खुलवा कर उसे विदा कर दिया। भली प्रकार क़ुल्फ़ी का स्वाद ग्रहण करने के लिए मन को एकान्त की आवश्यकता थी। चेतनाशक्ति इस समय पूर्णतः क़ुल्फ़ी में डूब गई थी। शरीर का अणु-अणु इस समय क़ुल्फ़ी-मय था; केवल जिह्वा ही नहीं, मन, प्राण, बुद्धि सभी स्वाद की प्रतीक्षा में थे। इस समय की उसकी दशा उस अबोध बालक के समान थी जिसके जीवन ने अभी सब्रो-क़रार की ओर जाना सीखा नहीं था; उस दुर्भिक्ष के भूखे के समान थी जिसने जाने कब से अन्न के एक दाने के दर्शन न किये हों, और उसकी शारीरिक, आत्मिक, सभी शक्तियाँ प्राण-रक्षा हेतु क्षुधाग्नि को आहुति देने को विकल हों, उतावली हों, एक क्षण भी उन्हें युग के समान हो; क्षुधा की वह आहुति

देना इतना आवश्यक हो गया हो कि सभ्यो-क़रार, शिष्टाचार आदि के तक़ाज़े की किंचित्-मात्र भी गुंजाइश बाक़ी न रह गई हो।

क़ुल्फ़ी के दोने का वह स्पर्श सुधिया को ऐसा मधुर, ऐसा मोहक, इतना आकर्षक जान पड़ा कि उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ झंकरित हो उठीं ; और शायद वह झंकार, चुम्बक के समान आकर्षक थी, बिजली के समान तीव्र थी, तीर के समान प्रखर थी कि अन्तर्जगत् तक प्रवेश कर गई। उस झंकार में जाने कैसा जादू था ; उसने आत्मा को जागृत, चमत्कृत, आलोकित कर दिया। उसे याद आया—भगवान् का भोग लगाना है। उसने अत्यन्त श्रद्धा-युक्त, माथा झुकाकर स्मरण किया और वह बरफ़-रूपी प्रसाद आँखों में लगाकर मुख में रख लिया। आत्मा प्रसन्न हो गई।

सुधिया के पतन की बात छिपी न रही। बहू ने देखा और उस दृश्य से भयभीत-सी होकर वह स्वामिनी को बुला लाई। मन-ही-मन सुधिया को धिक्कारती हुई स्वामिनी सुधिया के समीप पहुँची। जो होना था हो चुका, किन्तु सुधिया को सावधान करना स्वामिनी का फ़र्ज़ है। वे सुधिया से इस महापाप का प्रायश्चित करवायेंगी। उन्होंने कहा—छीः, छीः ! यह क्या देख रही हूँ सुधिया ? फेंक दे !

चोरी खुल जाने से सुधिया घबराई नहीं। वह क्षण भर पहले की उसकी घबराहट, चोरी का भय जाने कहाँ लोप हो गया था। लज्जा और ग्लानि ने भी उसे नहीं घेरा, और न अधर्म, पाप के भय ने भयभीत ही किया। बल्कि वह दृढ़ता और ताड़ना के शब्दों में बोली—कहती क्या हो मालकिन, भगवान् का प्रसाद है ? आज भली प्रकार मैं प्रसाद पाऊँगी। अब बाधा न देना।

आज सुधिया कैसे बोल रही है ! घमंड उत्पन्न हुआ है ! इसका इतना साहस ! अपराध पर अपराध करके बेशर्म मालकिन की बात का खंडन करती है ! मालकिन उसके रोग की बात भूल गईं, उन्हें क्रोध आ गया ; उन्होंने झपटकर सुधिया के हाथ से दोना फेंक देने की चेष्टा की। सुधिया ने केवल देख भर दिया। उसकी उस दृष्टि में जाने क्या था। रम्भावती के हाथ में बिजली का झटका-सा लगा, सर में चक्कर आ गया ; वह गिरते-गिरते सँभल कर बैठ गईं।

(५)

बरफ़ खाने के बाद से फिर सुधिया ने पानी की बूँद भी ग्रहण नहीं की। बेहोशी में वह असम्बद्ध बातें बकती रही—मैं संतुष्ट हो गई। भगवान् की जूठन अमृत है...इत्यादि। लोगों ने कहा—बाई है, अब अन्तिम समय जान पड़ता है। मरते समय बेचारी की मति-गति नष्ट हो गई। हे भगवान् ! लाज तेरे ही हाथ है। भगवान् की कृपा ही से धर्म बचता है। सभी उपस्थित गुरु-भाई-बहनों ने रम्भावती से आग्रह किया—वह गुरु से प्रार्थना करके सुधिया के पाप का प्रायश्चित करवा दें।

रम्भावती ख़ामोश थीं। उनके मन में महान् शंका उत्पन्न हो रही थी। वह समझ नहीं सकती थीं—सुधिया को पतिता समझें या पुनीता। उन्होंने अपनी आँखों से जो दृश्य देखा था उसने उन्हें चक्कर में डाल दिया था ; और उनका मन उस दृश्य की सत्यता को यथार्थ मानने में सहमत नहीं होता था ; किन्तु अपनी आँखों को धोखा भी कैसे दें ? वह प्रायश्चित के बहाने अपनी शंका-समाधान करने गुरु के समीप गईं।

शिष्या को देखते ही गुरुजी बोले—मैं सब सुन चुका हूँ रम्भा ; किन्तु कुछ चिन्ता

नहीं। मैं अभी चलता हूँ, अन्तिम समय उसे दर्शन देकर प्रायश्चित करवाऊँगा। उसका मोक्ष हो जायगा।

भर्राती आवाज़ से कुछ रुकते हुए रम्भावती बोली—महराज, सुधिया पर तो ठाकुरजी की कृपा हुई है।

विस्मय से गुरु बोले—कृपा हुई है, सो कैसे? यदि गोकुलनाथ की कृपा होती तो बेचारी का धर्म क्यों नष्ट होता?

'नाथ, मुझे तो स्वयं ही महा शंका हो रही है, इस पतन की अवस्था में उस पर ठाकुरजी कैसे प्रसन्न हुए। मैंने किसी और से तो नहीं कहा, किन्तु मैंने अपनी आँखों सब देखा है। सुधिया की धर्म-रक्षा हेतु मैंने चाहा कि दोना उसके हाथ से लेकर फेंक दूँ; लेकिन मैंने देखा और सत्य ही देखा, सुधिया के अलावा एक और हाथ भी उस दोने की रक्षा कर रहा था। महाराज! मैं तुमसे क्या दुराव करूँ; मेरे पाप ने मुझे भयभीत कर दिया, माथे में चक्कर-सा आ गया। आँखें स्वयं ही बन्द हो गईं, और प्रसन्नता के स्थान पर मेरा मन भयभीत हो गया। कितनी ही देर तक हृदय जाने कैसा होता रहा और अब भी उस दृश्य का ध्यान करने से जैसे कम्पन-सा होने लगता है! महराज, मेरा कल्याण कैसे होगा?'

गुरु विस्मय से मुँह बाये बैठे रह गए।

गीत

[तारा पांडे]

सजनि, क्या है अमर-जीवन?

मृत्यु क्या? अमरत्व है क्या?
मनुज का निज स्वत्व है क्या?
ज्ञान में या प्रेम में, किस में अधिक उत्फुल्ल है मन?
सजनि, क्या है अमर-जीवन?

बाँधते क्यों मधुर मन को?
साधते क्यों सरल तन को?
निर्दयी वह कौन है जिसको सुहाता मलिन आनन?
सजनि, क्या है अमर-जीवन?

मोक्ष में कैसी मधुरता?
शून्य की कैसी अमरता?
कौन-सा पथ सहज होगा, पार हो पायें सभी जन?
सजनि, क्या है अमर-जीवन?

राजकुमार का देशाटन

[जैनेन्द्रकुमार]

राजकुमार के चारों ओर जो चाहिए सब है। वहाँ क्या नहीं है? फिर भी एक दिन उसके मन में हो आया कि इतना सब कुछ मुझे नहीं चाहिए। मुझे अभाव भी चाहिए जो दूसरों के पास है। उनके शोक पर मेरे मन में शोक क्यों नहीं है? वह नहीं है, इसी से उत्साह भी नहीं है। इसी से यत्न भी नहीं है। इसी से सुख भी है तो पीला है। यह अनुभव कर कुमार सोच में रहने लगा।

उसके पिता राजेश्वर ने कुमार को चिंतित देखकर पूछा—कुमार, क्या बात है?

कुमार ने कहा—मैं पृथिवी पर जाऊँगा।

पिता ने आश्चर्य से कहा—क्यों, तुमको क्या हो गया है कुमार?

कुमार—मैं पृथिवी देखना चाहता हूँ। आप सुनाते हैं वहाँ बड़ा कोलाहल है, बड़ा अभाव है, बहुत ज्ञान-विज्ञान है।

राजराजेश्वर—कुमार, पृथिवी कंगाल है। वहाँ जाकर क्या करोगे? यहाँ क्या नहीं है?

कुमार—उसकी कंगाली ही देखूँगा।

राजेश्वर—कुमार, पृथिवी मिट्टी है। तुम राजकुमार हो। तुम उसके योग्य नहीं हो।

कुमार—महाराज, तब मुझे अयोग्य क्यों रखते हैं? जाकर मुझे योग्य होने दीजिए।

राजेश्वर—कुमार, तुम पृथिवी को नहीं जानते। मैं जानता हूँ। मैं भी एक साथ उसे बदल नहीं सकता। पृथिवी तुमको नहीं लेगी, कुमार। वहाँ तुम्हारे साथ क्या बीतेगा, कौन जानता है।

कुमार—पिता, आपने मुझे अमर बनाया है। अगर आगे अज्ञात भविष्य न हो तो वह अमरता कैसे बिताई जायगी, समझ में नहीं आता। मुझसे वह यहाँ नहीं बिताई जाती।

राजेश्वर चुप हो गये। वह मुस्कराए। व्यवस्था हुई कि अच्छा, कुमार के ही मन की हो। एक निमिष के लिए उसे पृथिवी पर हो आने दो।

सो कुमार पृथिवी देखने के लिए चला।

× × ×

खेया रातों-रात चलता रहा है। रात अब बीत रही है। तट निकट है। ऐसे समय

साथ का वृद्ध माँझी गया कि कुमार को जगा दे। पर पहुँचकर देखा कि कुमार जगा बैठा है। जानें कब से जग रहा है। माँझी को देखकर कुमार ने पूछा—कहो, तट आ गया है?

माँझी ने कहा—कुमार, रात अब कुछ पल शेष है। तट अब आया, अब आया। क्या हम उद्यत हों?

कुमार ने गवाक्ष में से देखा—दूर, धुँधली एक रेखा-सी है। वहाँ नीलिमा सफ़ेदी से मिल गई है। शेष तीनों ओर समुद्र है और कुहासा है। देखकर कुमार ने कहा—हाँ माँझी, हम उद्यत हो जावें।

माँझी ने कहा—कुमार, क्या करना होगा?

कुमार ने कहा—कुछ नहीं माँझी, बस मुझको छोड़ देना होगा।

थोड़ी देर में सवेरा खुल चला और खेया किनारे पर आ गया। लंगर डल गया और कुमार धरती पर उतरा। देखा—पीछे अनन्त दूर तक समुद्र फैला है, किनारे पृथिवी पड़ी है। निर्वसा, निर्जीव पृथिवी। वह उधर कुछ धुआँ-सा छा रहा है और एक आर्त पुकार-सी भी उधर से आती मालूम होती है। कुमार का मन प्रार्थना से भर आया। तभी उसको ध्यान हुआ कि वृद्ध माँझी भी उसके पास ही खड़ा हुआ है।

कुमार ने कहा—माँझी, तुम रहो, मुझे जाने दो।

वृद्ध माँझी ने कहा—कुमार, राजाधिराज ने मुझे आपके साथ-साथ रहने को कहा है।

कुमार—नहीं माँझी, मैं अकेला ही जाऊँगा।

वृद्ध—पर मैं तो अकेला नहीं जाऊँगा, कुमार।

कुमार—कैसी बात करते हो, माँझी। मेरी प्रतीक्षा करोगे?

वृद्ध—साथ जाऊँगा। नहीं जा सकूँगा तो प्रतीक्षा ही करूँगा।

कुमार—नहीं माँझी, तुम मानो। मैं जाऊँगा अकेला। नहीं तो नहीं जाऊँगा।

वृद्ध—कुमार—

कुमार—तुम सबका प्रेम क्या मेरा कम रक्षक है? माँझी, कहना मानो। अपने बालक कुमार को बालक ही रखोगे, बड़ा नहीं होने दोगे? इसका नाम प्रेम नहीं है, माँझी। कहा मानो, मुझे जाने दो।

वृद्ध—जो आज्ञा। पर साँझ तक आ जाइयेगा। अवश्य ही आ जाइयेगा। संध्यानंतर खेया को चला देने का हुकुम है।

कुमार—हाँ माँझी, मैं संध्या तक आ जाऊँगा। नहीं तो—

वृद्ध—नहीं, कुमार, 'नहीं तो—' के भरोसे यहाँ मुझे छोड़ तो नहीं जाओगे।

कुमार—आऊँगा, माँझी, आऊँगा। पर भाग्य पर अपनी बात का बोझ डालना उचित नहीं है, माँझी। भाग्य मुझे संध्या तक न लाया तो तुम चले जाना, माँझी, बाट मत देखना।

वृद्ध ने आँखों में पानी लाकर कहा—कुमार, तुम राजपुत्र हो। तुमको कौन रोकेगा भला। जब गोदी में खिलाता था तभी मैं कब रोक सका था। लेकिन कुमार—

कुमार ने हँसकर कहा—शोक से अपशकुन होता है, माँझी।

कुमार तब अनन्त समुद्र की ओर पीठ मोड़कर उधर चला जहाँ धुँआँ उठ रहा था। वृद्ध माँझी देखता रहा और जब कुमार ओझल हो गया तब आँखें पोंछता हुआ लौट आया।

× × ×

एक मेला लगा है। वहाँ बाज़ार है, दुकानें हैं, चहल-पहल है। लोग आ-जा रहे हैं,

हँस-बोल रहे हैं। वे भाँति-भाँति की चेष्टाओं से अपने पर दूसरों को लुभा रहे हैं। मानो वे ही हैं और दुनिया गाहकों का जमघट है। उनके चेहरे आवेश से आरक्त हैं और उन पर लालसा लिखी है। वे क्षण में भूले हैं और नहीं जानते क्या कर रहे हैं। वे तृषित हैं और दौड़-धूप में लगे हैं। उन्हें अपनापन भारी है और वहाँ से यहाँ चल-झपट कर अपने को टाल रहे हैं। ऐसा यह मेला है जहाँ स्पर्धा लोगों पर सवारी करके नाना रूपों में अपनी क्रीड़ा दिखा रही है।

यह चौक बाज़ार है। इधर उधर और बाज़ार हैं। घर-बारवाली बस्ती पीछे है। वह बस्ती सामने नहीं आती, सामने आने को बाज़ार हैं जो उजागर बने इठलाते हैं। पर बाज़ार प्रवंचना हैं। बस्ती यथार्थता है। उस बस्ती में सटे-सटे घर हैं जिनमें घुसकर लोग रहते हैं। जो जो बाज़ार में बन-ठन कर जाते हैं, यहाँ वे ही ज्यों-ज्यों लाज छिपाए रहते हैं। यहाँ दिन में रात होती है, और रात में नरक रहता है। यहाँ दिन पहुँच नहीं पाता और दिन में दिये से लोग अँधेरे को ही देखते हैं। उजाला उन्हें सह्य नहीं होता, अँधेरे के वे इतने आदी हैं : चेहरे उनके अनुत्साह और अनुद्यम से पीले हैं, जिनको नशे से और रोग़न से लाल करके बाज़ार में वे घूमते हैं। वे चिपके-चिपटे घरों में आपस में ही लुक-छिपकर बसते हैं। उन्हें घृणा क़ायम रखती है या मैथुन। वे एक दूसरे से झगड़ते या चिपटते हैं। यही रस उन्हें रस है। वे कपड़ों से ढके, आपरूप, भीतर मैली चाह लिए यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ जाते हैं और अन्त में सब जगह से लौट कर ऐसे घर में घुस रहते हैं, जैसे भिट में।

कुमार, मानो संज्ञाहीन, इन बाज़ार-गलियों में भटकता रहा। देखकर उसका मन भारी पर भारी होता गया। उसे यहाँ आने तक काफ़ी निर्जन भूमि पार करनी पड़ी है। वह सोचता है, ये ऐसे कीड़ों-से एक-पर-एक क्यों रहते हैं जब कि चारोंओर इतना खुला मैदान है। एक जगह इकट्ठे बस कर परस्पर घोटने की इन्हें क्या आदत है। क्यों आदमी आदमी से घिरकर रहता है जब प्रकृति का इतना वैभव यहाँ बिखरा है। देखता है, जहाँ-तहाँ ऊँची-ऊँची सुर्रियों से धुँआँ निकल रहा है। वे उगलती धुँआ हैं पर सिर उठाए खड़ी हैं। वे छन-छन बढ़ रही हैं। सुना है, उनके पेट में अनगिनित आदमी समाए हैं और वहाँ कलें चलती हैं। यह इन लोगों ने इस धरती पर कर क्या रखा है? अपने को बहकाने के लिए बाज़ार और अपने को छिपाने के लिए घर और अपने को कुचलने के लिए कलें इन्होंने क्यों बना रखी हैं? क्या ये अच्छा जीना नहीं जानते? नहीं चाहते? क्या दुकानदारी से आगे उनकी आकांक्षा नहीं पहुँचती?...लेकिन नहीं, दुकानदारी पर और तुच्छता पर और मिथ्या पर यह दुनिया कैसे चल सकती होगी? नहीं, मूल में कुछ सत्य होगा ही जो इस बोझ, इस छल को धारण रखता है जो एक क्षण के लिए भी है। उसे उस क्षण टिकने के लिए भी सत्य का आश्रय अवश्य है, सत्य ही है। झूठ असिद्ध है और झूठ खड़ा है तो तभी जब सत्य पर पैर टिका पाता है। अनिवार्य,है कि इस दिखावट की मिथ्या के पीछे लोग हों जो पीड़ा का भार लेकर सच्चे हों, जिनकी दृष्टि बाज़ार की ओर हो ही नहीं; जो दूर देखते हों; जो अपने को साधारणता में और स्वधर्म में खो रहे हों। मुझे जानना चाहिए कि वे हैं। पर मैं उन लोगों को इस दुनिया के घमासान में कहाँ खोजूँ? कहाँ पाऊँ?

कुमार घूमता ही रहा। समय-पर-समय बीतता गया। वह सब अनदेखा-सा देखता जाता था। उसका मन करुणा से भी भारी था। बुद्धि खोई लगती थी। सहसा उसे चेत हुआ। देखा—एक स्त्री उसके वस्त्र के छोर को पकड़कर उसे खींचना चाह रही है।

कुमार ने कहा—भद्रे, क्या चाहती हो?

स्त्री ने कहा—आओ चलो।

कुमार ने आँख उठा कर देखा कि आस-पास जगह जगह इसी भाँति स्त्रियाँ खड़ी हैं और लोगों को बुलाना चाह रही हैं।

कुमार ने कहा—भद्रे, यह उचित नहीं है। मैं तुम्हें नहीं जानता। मुझे जाने दो।

स्त्री ने कहा—आओ तो, तुम पैसे मत देना। तुम जवान हो।

स्त्री का विवर्ण, पाण्डुर, रक्त-हीन पर लेप से लाल मुख देखकर कुमार को करुणा हुई। वह नहीं जान सका कि क्या करे, किस भाँति इनकार करे।

स्त्री ने कुमार का हाथ पकड़ लेकर कहा—मैं जानती हूँ, तुम नए हो। तभी कहती हूँ। घबराओ नहीं, आओ चलो।

कुमार का जी बहुत खिन्न था। कितनी क्षीण, अभागिनी वह नारी! छिः छिः! जब वह दोनों हाथ फैलाकर आर्त, दरिद्र, अपरूप, उपवासिनी उसके निकट भिखारिणी बनी तब उसका जी मिचलाकर रह गया।

करुणा उसे स्वस्थ रहने दे सकी ही नहीं और उस करुणा के कारण कुमार को उस नारी के प्रति निठुर हो जाना पड़ा। यह नारीत्व की कैसी घोर विडम्बना है, कैसी तपस्या? छिः छिः! कुमार के मन को अत्यन्त क्लेश हुआ। वह वंचिता, लांछिता नारी अपने तिरस्कार पर कुमार के प्रति दुर्व्यवहार करती, तो कुमार को उचित प्रतीत होता। अब वह अपने को ही निकृष्ट जान पड़ता है। उसका मन कष्ट से भारी है। क्या आस-पास पाँत बाँधे खड़ी अन्य नारियाँ भी ऐसे ही भूखे जी और भूखी काया को ले कर जीवन बिताती हैं? तो कितनी नारियाँ इस धरती पर ऐसी हैं? यह मानव तन का कितना अपमान है! उसके भीतर प्रश्न है कि जब ऐसी एक नारी अपने अकेलेपन में उसके सामने भिखारिणी बनकर प्रस्तुत हुई तब क्या वह उसकी सहायता से विमुख ही हो सकता था? पर वह क्या करता? ओह! कितनी क्षुधा, कितना अभाव इस दुनिया के लोगों के हृदयों में है? वह क्या करे? कैसे उसे भरे?

वह खिन्न करुणा से आप्लावित हृदय लेकर आगे बढ़ा।

आगे भी तो वह यही देखता है। देखता है कि ऐसी स्त्रियों की संख्या समाप्त होने में आती ही नहीं है। वे गलियों से बाहर आ आकर अपने अवसर की प्रतीक्षा में खड़ी हैं कि उनके तन का सौदा हो और वह मुस्करायें।

तभी सहसा उसे रुकना पड़ा। दीखा, एक बाला जो कठिनाई से १५ वर्ष की होगी उन्हीं की भीड़ में खड़ी है। आँखें उसकी फैली हैं, जैसे कि नहीं जानती कि यह सब क्या है। उम्र से दुबली है और गात पीला है। चेहरे पर उसके भी रंग पुता है और ओठ लाल हैं। वह प्रस्तुत प्रतीत होना चाहती है। पर आँखें उसकी चकित-सी देख रही हैं। उन आँखों में है कि कुछ नहीं। भटकी हिरनी की-सी वे आँखें हैं।

कुमार ने पास जाकर कहा—तुम यहाँ क्यों खड़ी हो, बोले?

वह बाला लाल लाज में सकुचा गई, कुछ भी बोल नहीं सकी।

कुमार के मन में हुआ, पूछे कि राजनंदिनी! तुम किसके दोष से यहाँ हो? क्यों किसी घर के उद्यान में नहीं हो? यह वय क्या स्वर्गीय वय नहीं है? इस वय में तुम स्वप्न में न होकर मोरी में किस दुर्भाग्य से आ पड़ी हो? उसके मन में हुआ कि इस बाला को गोद में उठा ले। ले जाय दूर। वहाँ, जहाँ घास बिछी हो, पानी खिलखिलाता हो, धूप खेलती हो और वायु उन्मत्त हो। वहाँ फल लगे हों और वहाँ देव-पुत्र संगी-साथी हों। वहाँ ले जाकर उसे खुली छोड़ दे और कहे—देखो, यह जगह तुम्हारे लिए है। यहाँ पाप छिपा नहीं है और सब दिशाएँ

खुली हैं। यहां इस सड़ी हुई गली में यह बाला कैसे सही जाती है? और यहां उसका हक़ है कि अपने सोने-से तन को कौड़ी के मोल मोरी में बहा दे!

पर ऐसा स्वर्ण-काय पुरुष क्या कभी यहाँ और आया है? बाला कैसे उस ओर देखे? उसका तन अपनी ही लाज में सिमटा जाता है। हाय, वह जी ही क्यों रही है? वह मर क्यों न गई?

आस-पास की साथिनों ने उसकी देह में उँगली चुभाकर उसे सुझाया कि ओरी, पगली मत बन। आकाश फाड़कर तेरे द्वार पर भाग्य आया है। बढ़, दोनों हाथों से पकड़कर उसे ले ले।

पर वह बाला तो कुमार के सामने लाज में सिंदुरिया पड़कर सिमटती ही गई, सकुचती ही गई। कुमार का जी भीतर तक भीग गया। उसने बाला का हाथ पकड़ लिया। कहा—चलो बाले! अतिथि का स्वागत करो।

कुमार कैसा है, कैसा अपूर्व! बालिका ने आँचर में अपना मुँह दुबका लिया। वह नहीं जायगी, नहीं जायगी। वह यहीं गड़कर मर क्यों न गई?

कुमार के जी में व्यथा व्याप गई। कहा—बाले, अतिथि को द्वार से यों फिराते हैं!

बालिका वहीं फफक-फफककर रो उठी। वह रो उठी कि कहां से इतना आनंद उसके जले भाग्य में भर उठा है, कैसे वह उसके भीतर समाएगा। चाहकर भी वह उतना समेट नहीं सकेगी। वह उसे नहीं लेगी, नहीं लेगी।

कुमार कुछ क्षण वहां सन्न खड़ा रह गया। अब और खड़ा रहना उसके लिए असंभव ही हो गया, इतना विषाद उसमें भर आया। तब धीरे-धीरे मुड़कर वह चल दिया। सोचा कि यह उसने क्या किया। इस बाला का अब क्या होगा? जान पड़ता है, अब सब कुछ उसका उजड़ जायगा। चैन अब उसके लिए नहीं। अब वह जीती कैसे रहेगी? बस अब शायद मौत ही उसे शांति दे—सोचता हुआ वह भारी मन से आगे बढ़ा।

ढाँकर की रोमा

[जयंती पांडेय]

उस छोटे से पहाड़ी गाँव में आज चारों ओर चहल-पहल थी। गाँव के निकटवर्ती वन में तिब्बत निवासियों के तम्बू तन रहे थे। गाँव के बच्चे झुण्ड बना उनके डेरे देखने को वहाँ पहुँच रहे थे। नवागन्तुक होने के कारण मेरी समझ में कुछ भी न आया। किन्तु एक बार वह कौतुक देखने को जी ललचा गया। जिस पहाड़ी सज्जन के यहाँ मैं ठहरा था उससे मैंने अपने साथ चलने का अनुरोध किया किन्तु न जाने क्यों मेरे इस प्रस्ताव से उसका हँसमुख चेहरा मुरझा गया। उस दिन उसके मुँह पर जो विषाद की छाया मैंने देखी उसे मैं अभी तक नहीं भूल सका हूँ।

बहुत देर की चुप्पी के बाद उसने कहा........भइया! मैं क्या करूँ? वहाँ जाके मुझे किसी वस्तु को देखने के लिए अब उत्साह नहीं होता, जवानी के दिन अब नहीं रहे जब मैं भी दिन भर इन्हीं के तम्बुओं के पास पड़ा रहता था और तिब्बतियों के पारिवारिक जीवन का अध्ययन किया करता था। मनुष्य का जीवन ही क्या है...परिवर्तन, परिवर्तन...मेरे जीवन में भी इन्हीं परिवर्तनों का हाथ रहा। अब मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब न कोई उत्साह रहता है, न अभिलाष। यौवन का वह हृदय बीत चुका जिसमें आगामि सुख की मधुर कल्पनाएँ सिहरन उठाती थीं। अच्छा, छोड़ो उस बात को। जाओ, तुम गाँव के लड़कों के संग चले जाओ, देख आओ। मैं न जा सकूँगा। तुम अतिथि हो, तुम्हारी आज्ञा का पालन मुझे करना चाहिए। पर करूँ क्या?...कहते-कहते वह चुप हो गया। यदि मैं जानता कि मेरे इस प्रस्ताव से उसके हृदय में इतना आघात होगा तो मैं भूलकर भी कुछ न कहता। उसे वहीं छोड़ मैं बाहर आया और युवकों की एक टोली के साथ हो लिया।

पर्वत के चारों ओर सोपान-पंक्तियों-से बिखरे हुए खेतों में सुनहरी गेहूँ की बालें लहरा रही थीं। मिहल वृक्ष की हरी पत्तियों के बीच छिपी पहाड़ी कोयल की कूक आज अनोखी लग रही थी। घूमती-सी पगडंडियाँ जिनसे होकर हम जा रहे थे, लिंगुण व रींगल की हरियाली से ढँकी थीं, जिनके ऊपर वर्षा की फुहार पड़ने से भीनी-भीनी सुगन्ध आ रही थी।

प्रकृति के मधुररूप को देखते-देखते हम तिब्बतियों के डेरों के पास पहुँचे। स्त्रियाँ रंग-बिरंगे कपड़ों से सज्जित, लोरियाँ गा बच्चों को सुला रही थीं। स्वस्थ बालिकाएँ थुल्मे, चुटके, आसन इत्यादि बना रही थीं। पुरुष भी व्यस्त थे। रंग बनाने में, रस्सी बटने में बालक जुटे हुए थे। कई तिब्बती कन्धे में झोली डालकर गाँव में जम्बू, गंदरैणी व मूँगा बेचने के लिए प्रस्तुत हो

रहे थे। तम्बू के बाहर सब कुछ देखकर सन्ध्या के समय मैं घर लौटा। पहाड़ी वृद्ध मेरे लिए एक कटोरे में दूध और मँडुवे की रोटी लिये बैठा था।

चाँदनी रात थी। मैं बाहर बैठ गया। ऊँचे देवदार व चीड़ की शाखाओं से चाँदनी का प्रकाश छन-छनकर हम पर पड़ रहा था। पास ही ज़ोर से बहते हुए पहाड़ी निर्झर का स्वर और साँय-साँय करते हुए पवन के झकोरे मुझे मेरे स्वप्न से जागृत कर रहे थे। रोटी को दूध में डुबोकर मैं मुँह में डालने लगा। किन्तु आज दिन में जो कुछ देखा था वह रंगीन चित्रपट के समान आँखों के सामने नाच रहा था। मेरे लिए तिब्बतियों का जीवन रहस्यमय हो गया। वृद्ध गृहस्थ ने मुझे स्वप्न से जागृत करते हुए कहा—भइया, लामा का पड़ाव देख आये क्या? वह मेरे पास ही बैठ गया।

मैंने रोटी को झट नीचे डालकर कहा—जी हाँ, बड़ा आनन्द आया। सभी तिब्बती अपनी-अपनी धुन में मग्न हैं। मैं चुप हो गया। मुझे अनुभव हुआ कि वृद्ध मानो कहीं और पहुँच गया है। उसकी तल्लीनता मानो समाधि हो। क्या किसी अतीत की स्मृति प्रबल भाव से उस पर छा गई है? उसके उस मग्न-भाव पर मेरे मन की जिज्ञासा दबाये न दबी। मैंने कहा—मुझे क्षमा कीजियेगा। पर जाने क्यों मुझे रह-रहकर विचार होता है कि आपके मन में इन तिब्बतियों के जीवन के प्रति उपेक्षा नहीं है। शायद कुछ घनिष्टता है। क्या—आगे कहने के लिए उपयुक्त शब्द मुझे न मिले। वृद्ध ने मेरी ओर देखा। कौमुदी के प्रकाश में वृद्ध का उन्नत-ललाट, दुग्ध-सी धवल दाढ़ी, गम्भीर आकृति प्राचीन महर्षि का स्मरण करा रही थी। उसे देख सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि वह यौवन में स्वस्थ और सुन्दर रहा होगा।

खंखारते हुए उसने कहा—सुनोगे? अच्छा सुनो। मैं भी तो नहीं चाहता कि मुझे सदा बंद रहना पड़े। आज मुझे अपनी भूल ज्ञात हो रही है। भला जीवन-रहस्य को छुपाने से क्या लाभ हो सकता है? किन्तु मैंने स्वयं यही भूल की। मनुष्य तो पग-पग पर भूल करता है, ठोकर खाता है। कभी सम्हलता है, कभी गिरता है। खैर—सुनो...चार दिन का जीवन है। न रहोगे तुम, न रहूँगा मैं—शायद मेरी कहानी रह जाय। मैंने देखा उसका गला भर आया था और आँखों में चमक आ गई थी।

उसने आरम्भ किया...६० वर्ष पूर्व की बात है, तब मैं २० का था। परिवार में सभी थे। गाँव में हम समृद्ध समझे जाते थे। जीवन में किसी बात की चिन्ता न रहने से मैं प्रायः पहाड़ी युवकों की टोली बनाता था, वे लोग भी मेरा सरदार के समान सम्मान करते थे। हम लोग पहाड़ों में, जंगलों में निरुद्देश्य घूमा करते थे। किन्तु जाड़ों में तिब्बतियों के आ जाने से हमारे जीवन में पूर्व की-सी शिथिलता न रहती थी। हमें मनोविनोद की सामग्री मिल जाती थी। दिन भर उनके 'ढाँकर' (तम्बू) के बाहर पड़े रहते थे। उनकी भाषा सीखने का प्रयत्न करते थे। उनके फ़ोटो खींचते, उनके प्रेमगीतों को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न करते। दो तीन महीनों तक गाँव में इन्हीं के विषय में चर्चा रहती। और सालों की तरह उस साल भी वे आये। और हम लोगों की टोली वहाँ पहुँची।

तिब्बती ढाँकर में एक वृद्ध तिब्बती के साथ पाँच सुन्दर बालिकाएँ आई थीं। वैसे तो पाँच की पाँचो बहनें रूपसी थीं। उनके स्वर्णिल मुखों पर अनार-से गालों की लालिमा सभी की आँखों को आकर्षित करती थी किन्तु उन सबों में बड़ी रोमा में कुछ नवीन आकर्षण था। गाम्भीर्य और लज्जाशीलता उसमें मूर्तिमान थी। वह बहुत कम बोलती थी किन्तु उसकी चार बहनों के क़हक़हों से आस पास की पहाड़ियाँ गूँज उठती थीं। मैं प्रायः उनके तम्बू

के पास बैठा करता था। वे छोटी बालिकाएँ भी मुझसे हिल मिल गई थीं। मैं उन्हें कहानी सुनाता था, कभी मिठाइयाँ भी खिलाता था। वे भी मिठाई पाकर प्रसन्न हो नाचने लगतीं—लामा लामा सल्लाम-सल्लाम!' उनका यह गीत मुझे सुहाता था। उनके परिवार में सभों के हृदय में मेरा एक अलग स्थान बन गया था। वृद्ध लामा भी मुझे प्यार करता था। बिना चाय पिये वह मुझे कभी लौटने न देता—'भइया' वे चाय में मक्खन, सत्तू तथा मदिरा मिलाते हैं। हमारे लिए ऐसी चाय पीना असम्भव है किन्तु प्रेम से यदि दिया जाय तो विष भी अमृत हो सकता है।

वसन्त पञ्चमी का उत्सव हमारे गाँव में बड़े धूम-धाम से मनाया जा रहा था। किन्तु मेरा हृदय रो रहा था। वसन्त के लगते ही तिब्बती तलहटी के गावों से लौटने लगते हैं। जीवन में कितने वसन्त आये और गये पर आज का वसन्त मेरे जीवन में एक टीस लिये आया। मैं सोचने लगा, रोमा सपरिवार चली जावेगी। और उन लोगों की बिदाई मेरे जीवन को निराश बना देगी। उस दिन उदास-सा घर पर पड़ा मैं अपने सूने भविष्य के विषय में कुछ सोच रहा था। बाहर से किसी ने पुकारा—'मित्रा, मित्रा!' (मित्र, ओ मित्र!) मैंने खिड़की खोली तो देखा—रोमा कन्धे में झोली डाले नीचे खड़ी है। मैं झट नीचे उतर आया। वह घबराई-सी थी। उसने कहा—क्या तुम मेरे साथ चलोगे? पिताजी को तेज़ बुख़ार हो आया है। सभी जड़ी बूटियों को औषधि के रूप में देकर हार गई पर उनकी दशा में कुछ भी परिवर्तन नहीं। हम यहाँ परदेशी हैं, हमारे साथी भी चले गये, तुम्हें इस गाँव में हम पहचानते हैं।

मैंने उत्तर में कहा—चलो।

मार्ग में मैंने उसकी चार बहनों के विषय में पूछा। उसने कुछ मुंह बना कर कहा—उनकी न पूछो। उनको कुछ ख्याल नहीं। दिन भर हँसतीं, खेलतीं, नाचती रहती हैं। चलो, छोटी हैं, अपना मन बहलाती हैं।

अच्छा! मैंने—कहा—सगी बहनों में भी इतना अन्तर होता है! तुम्हीं ने सारी गृहस्थी सिर पर उठा रखी है? कब से?

कुछ देर चुप रहकर उसने कहा—मेरी ये सभी बहनें तब बहुत छोटी थीं जब माँ चल बसी। पिताजी भी रुग्ण रहने लगे। घर का भार मेरे ऊपर आ पड़ा। तिब्बत में तो और भी अधिक काम करना पड़ता है। पर इससे क्या, जीवन में काम न करे तो करे क्या?

बातें करते-करते हम डेरे के पास आ पहुँचे। चार-की-चार बहनें बाहर पेड़ की छाया में सो रही थीं। पहाड़ी कुत्ते रोमा को आते देखकर उससे मिलने के लिए आगे बढ़े। बुड्ढा पीड़ा के मारे कराह रहा था। रात भर हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। प्रातःकाल वह चल बसा। चारों बहनें रोमा के गले से लिपट कर रोने लगीं—दृश्य बड़ा करुणाजनक था। अन्त को यह निश्चित हुआ कि मैं उनके साथ तिब्बत तक जाऊँ। मैं स्वयं जानता था कि यदि घरवालों को यह बात ज्ञात हुई तो कभी भी जाने की अनुमति न देंगे। क्योंकि तिब्बत के विषय में हमारे यहाँ कहा जाता है कि वहाँ जाकर विरले ही लौटते हैं। रोमा इत्यादि मुझसे चार पाँच दिन पहले रवाना हुईं और बिना किसी से कहे मैं भी उनके साथ हो लिया। एक महीने के पश्चात् बहुत घाटियाँ, पर्वत पार कर हम तिब्बत पहुँचे। रोमा के गाँव में १७—१८ घरों की बस्ती थी। मुझ परदेशी को रोमा के साथ में देखकर वे क्रोधित तो हुए पर रोमा ने सभी को यह कह कर शान्त किया कि मैं उन्हें पहुँचाने आया हूँ, कुछ दिन रह कर चला जाऊँगा। इसी बीच मुझे बुख़ार आने लगा। इतना दुर्बल हो गया कि पलँग से उठ न सकता था। रोमा बिचारी मेरी स्थिति देख घबड़ा उठती थी। रात-दिन मेरे सिरहाने बैठी मेरे स्वास्थ्य के

लिए ईश्वर से प्रार्थना करती रहती थी। उस दिन ज्वर का आवेग बढ़ रहा था—मुझे रह-रहकर घर की स्मृति हो रही थी। सहसा मैं ज़ोर से चिल्लाया—रोमा, मैं परदेश में मरूँगा, मेरा यहाँ कौन है? मैं बच्चों के समान रोने लगा।

रोमा ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—छिः, क्या कहते हो, तुम्हारा यहाँ कौन है? क्या तुम्हारी मैं कोई नहीं हूँ?

मेरा मन यह सुनकर कृतज्ञता से भर आया, न जाने क्यों हम एक-दूसरे को प्यार करते थे। जाति और देश का व्यवधान क्यों हमको एक-दूसरे से अलग नहीं रख सका? पर हमको आपस में एक क्षण के लिए भी कभी दूरी नहीं मालूम हुई। मैं सोचता हूँ, हृदय का यह कैसा गुह्य, दुर्गम व्यापार है, यह प्रेम। तब मैंने उत्तर दिया था—रोमा—रोमा......यदि तुम मेरी हो तो फिर मैं संसार के किसी भी कोने में, घर से हज़ारों मीलों की दूरी पर भी सुख से मर सकूँगा। रोमा की आँखें हर्षाश्रु से छलछला आईं। रोमा की सेवा ने मुझे बचा ही लिया।

उस दिन अँधेरी रात थी। रोमा अभी तक वन से लौटी न थी। तूफ़ान आने की सम्भावना थी। मैं मशाल लिये उसे बुलाने के लिए पहुँचा। पहाड़ की टेकरी पर अभी चढ़ ही रहा था कि रोमा घोड़े को दौड़ाती हुई वहां आ पहुँची। उसकी आंखें रो-रोकर सूजी हुई थीं। उसने कहा—शीघ्र घोड़े पर चढ़ जाओ, जीवन का भय है।

मेरी समझ में कुछ भी न आया। वह तेज़ी से घोड़ा दौड़ा रही थी। वह बड़ी घबराई-सी थी। मार्ग में उसने कहा—तिब्बती मेरे प्राणों के गाहक बने हैं क्योंकि तुम विदेशी होके भी मुझे प्यार करते हो। मुझे पता चला है कि वे हमें मारने वाले हैं। मुझे प्राणों का भय नहीं, पर मेरे लिए तुम वृथा क्यों मारे जाओ। वह रोने लगी। ओह! मैं तुम्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती हूँ। मैं तुम्हें मृत कभी नहीं देख सकती। जाओ अपने गाँव को। जीवन रहा तो मिलूँगी नहीं तो दूसरे जीवन में।

उसकी आँखों से आंसू झर रहे थे। मैंने कहा—रोमा! ना, ना, मैं तुम्हें मौत के मुँह में नहीं ढकेलना चाहता, मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। साथ ही मरेंगे।

उसने कहा—यदि तुम मुझे प्यार करते हो तो चले जाओ। मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती, वे मेरी बहनों को मार देंगे। जो होगा मैं देख लूँगी। चलो, देरी न करो। मुझे जाकर बहनों को बचाना है।

जब मैं किसी प्रकार भी सहमत नहीं हुआ तो उसने अपनी जेब से चमकती कटार निकालकर कहा—किसका मोह तुम्हें रोक रहा है? देखो, मैं मौत से ज़रा भी नहीं डरती। इस प्रकार मैं मर सकती हूँ। वह हृदय में कटार भोंकने को थी ही कि मैंने कटार छीनकर दूर फेंक दिया। मेरे पाँवों से लिपट कर उसने कहा—तुम जाओ, मैं बहनों को बचाकर आती हूँ।

मैं आगे बढ़ा। वह बिजली के समान अन्धकार में लोप हो गई।

मैं एक महीने के पश्चात् गाँव पहुँचा। जाड़ा आया। सभी लामाओं के डेरे आये; पर रोमा का कुछ पता न चला। मैं पागल-सा होगया था। वर्षों बीत गये। एक दिन बाहर से किसी ने चिर-परिचित स्वर से पुकारा—'मित्रा, मित्रा!' मैं चौंक पड़ा। हाय, रोमा इतने वर्षों सता कर अब आई! दौड़कर बाहर पहुँचा। आखों ने भी, कानों ने भी धोखा खाया। वह थी रोमा की छोटी बहन। मुझे देखते ही वह रोने लगी। जेब से कुछ निकालकर मेरे हाथ में रख दिया। काग़ज़ की बँधी पुड़िया थी। मैंने खोली। उसमें थी रोमा की सुनहरी बालों की लट, जिसे मैं बहुत ही प्यार करता था। रोमा की बहिन से ज्ञात हुआ कि रोमा को उन पशुओं ने मार

दिया। मरते समय अपनी लट काटकर मुझे देने का संदेश वह अपनी बहिन को दे गई थी। उस देवी ने सभी के तो प्राण बचाये पर आप बलिदान हो गई। सुना उसकी सभी बहनें आनन्द से हैं। तब से मैं कभी उस ओर नहीं गया।

बूढ़ा इतना कह चुप हो गया। उसने गले में बाँधी हुई तावीज़ खोली। उसके झुर्री पड़े हाथों में सुनहली कोमल बालों की एक लट थी। उस पर टप...बस एक बूँद आंसू टपका। आज वर्षों का पुराना घाव हरा हो गया था। मैंने सिर उठाया। वह प्रस्तरमूर्ति-सा निश्चल था। सॉय-सॉय करती हुई वायु के झकोरों में चारो ओर मुझे कुछ पुकार सुनाई पड़ी...वह पुकार क्या थी?

एक प्रश्न

धारावाहिक उपन्यास

[जैनेन्द्रकुमार]

[आरंभ में एक भाई का आभार मानना ज़रूरी है। नेमिचन्द्र जैन अभी विद्यार्थी हैं। गर्मी की छुट्टियों में आये, मिले और बोले कि मैं आपसे एक कहानी लिखकर ले जाऊँगा। बोले, ज़रूर ले जाऊँगा; और कहानी वह छोटी भी न होगी, डेढ़ सौ पृष्ठों की तो कम-से-कम होगी ही। मैंने चाहा कि वह मुझ पर दया करें। पर मानो वह संकल्प में बँधे थे। तब मैंने कहा कि मेरे पास अपना कुछ भी कहने-सुनने को नहीं है; जो आप कहो, वही लिखता हूँ। यह रचना इसी प्रकार आरम्भ हुई। मैंने इसमें चाहे अपना ही अभिप्राय डाला हो, पर हुई तो यह चीज़ नेमिचंद्र की ही। इस समय तक जितनी यह लिखी गई है, उन्हीं की लिखी हुई है।—जैनेन्द्रकुमार]

सुबोध कॉलिज के चौथे साल में था, तभी पिता ने उसके विवाह की बात उठाई। पिता दूर एक जगह कुछ ठेकेदारी का काम करते थे, सुबोध आगरे में पढ़ता था। वह माँ-बाप का अकेला लड़का था और माँ उसे अब बहुत दिनों तक बिनब्याहा नहीं देखना चाहती थी। घर में बहू आवे तो कुछ सहारा भी हो और मन बहले। एक प्राणी मिले जिसके साझे में ज़िन्दगी के शेष दिन रसपूर्वक बिताये जा सकें। नहीं तो ज़िन्दगी कुछ अकेली और भार मालूम होती है।

लेकिन सुबोध विवाह की बात भी नहीं सुनना चाहता। यह नहीं कि उसे कन्या जाति में प्रीति नहीं है। प्रीति है, कुतूहल भी है। और सचमुच इन विचित्र प्रकार के प्राणियों से खुलकर मन का आदान-प्रदान करने को भी जी चाहता है। लेकिन विवाह और बात है। उससे जो गृहस्थी सिर पर आ जाती है वह मुश्किल है।

उसने पिताजी को यही लिख दिया। दिन पढ़ाई के हैं, अभी मुझे बंधन में न डालें। अब जीवन में समर्थ हो जाऊँ, स्थिर होने लगूँ तब विवाह की बात उठावें। अभी तो विद्यार्थी हूँ।

पिता को लड़के की यह बात अनुपयुक्त नहीं मालूम हुई। लेकिन माता को उसमें कुछ भी तर्क नहीं दीखा। पिता ने कहा—ठीक तो है। अभी ब्याह की ऐसी जल्दी क्या है?

लड़के की माता ने कहा—तुम्हारे लेखे जल्दी नहीं है। ऐसा जोग फिर बार-बार नहीं आता है, लड़की देखी-भाली है। पढ़ी-लिखी है, घराना भी अच्छा है। और इधर तुम लड़के की बहक में आये जाते हो। आये भाग्य को कोई यों टालता है?

पिता अधिक तर्क नहीं कर सके। कहने-सुनने पर उन्होंने लड़के को लिख दिया कि इस बार की छुट्टियों में तुम पहाड़ जाना चाहो तो नैनीताल जा सकते हो। ब्याह की बात और

फिर देखी जायगी। वहाँ एक मित्र हैं, इंजीनियर हैं। उनको मैं लिख दूँगा, सब व्यवस्था हो जायेगी। तुम वहीं ठहरना। लिखो कि छुट्टियाँ कब होती हैं, तुम कब जाओगे?

सुबोध को पिता के इस पत्र से ढारस नहीं हुआ। समझ लिया कि हो न हो इस मामले में कहीं कुछ दुरभिसन्धि अवश्य है। लेकिन विवाह तो उसका ही होगा न? उसके बिना तो वह हो न सकेगा। और बचना तो सिर्फ़ विवाह से है। जीवन के अनुभवों से तो नहीं बचना है न? इसलिए छुट्टियों में नैनीताल जाने के लिए वह सहर्ष सम्मत हो गया। पहाड़ जायगा। निर्द्वन्द्व रहेगा। जगह नई रहेगी परिस्थिति भी नई रहेगी। यह उसके लिए कम आकर्षण नहीं है। हाँ, चौकन्ना वह रहेगा कि कहीं से आकर बन्धन उसके पैरों में न लिपट जाय जिससे गति में बाधा पड़े।

सुबोध अपने मित्रों में भोला समझा जाता है। मित्र उससे विनोद पाते हैं। उसको केंद्र बनाकर हास-परिहास लहलहा उठता है। सुबोध अपनी इस हीनस्थिति से अपरिचित नहीं है। लेकिन इस स्थिति से उबरने की भी उसमें चेष्टा नहीं है। सोचता है कि साथी लोग उस पर हँस लेते हैं, तो इसमें क्या बुरा है? चलो, बैठक कुछ जम ही जाती है। पढ़ने में वह विशेष मंद-बुद्धि नहीं है, पास होता ही जाता है। अच्छे नम्बर नहीं लाता है तो फिसड्डी भी नहीं रहता। बात यह है कि उसका मन कॉलिज की पढ़ाई में बहुत अटका नहीं रह गया है। इस कॉलिज में से ही ज़िन्दगी की सफलता का मार्ग बनेगा ऐसा ज्ञान उसके मन के गहरे में नहीं पैठा है। जीवन के आरम्भ के प्रारंभ में स्कूल और स्कूल के बाद कॉलिज अनिवार्य रूप से आ ही जाते हैं, सो उसकी ज़िन्दगी में भी आ गये हैं। उनमें से पास होते चलना ही सबसे बड़ी बात है, इस भाव से सुबोध कॉलिज की पढ़ाई और कॉलिज के जीवन में-से गुज़र रहा है। कोई बहुत महत्वाकांक्षाएँ उसके मन में नहीं हैं। अपने साथियों में चमके बिना उसे चैन न पड़े, ऐसा सुबोध नहीं है। अपने साथियों की श्रेष्ठता में उसे बड़ी प्रीति और बड़ा हर्ष भी मालूम होता है, ईर्षा उसमें नहीं है।

सुबोध मित्रों में आसानी से अपने को खोल देता है। विवाह की और नैनीताल जाने की बात भी उसने कह सुनाई। साथी लोगों को इसमें बड़ा रस आया। बोले—यह बात है तो जाओ भाई, नैनीताल ज़रूर जाओ। देखना, फिर आगे की कहानी भी कहना। कहीं फिर हमें भूल ही जाओ!

सुबोध ने कहा कि आगे की कहानी कहे बिना उसी को कब चैन आयेगा। विवाह मैं थोड़े ही चाहता हूँ, विवाह की कहानी हो तो भले ही हो जाये। मैं तो भाई, ज़िन्दगी में प्रेम की कहानी ही कहानी चाहता हूँ, प्रेम नहीं चाहता।

मित्र लोग इस बात पर काफ़ी विनोद चर्चा में लीन रहे। और सुबोध अनायास अपने भविष्य की ओर कुछ भय और कुछ रस के आकर्षण से खिचने लगा।

(२)

ज़िन्दगी अभी तक कोरी बीती है, सो बात नहीं। दुनिया में बीस बरस कुछ कम नहीं होते, और सुबोध का अब इक्कीसवाँ बरस पूरा हो रहा है। स्कूल के दिनों तक तो वह अबोध ही रहा समझिये, लेकिन इन कॉलिज के दिनों में तो वह मानो पक्का सुबोध बन गया है। बड़ी-बड़ी किताबें तो पढ़ी ही हैं, बड़े-बड़े जीवन के भेद भी जाने हैं। जीवन के वह बड़े भेद क्या हैं? कहीं वे निरे नन्हें ही तो नहीं हैं? लेकिन सुबोध को मानो पक्का पता है कि वह बहुत कुछ जानता है। वह कोरी स्लेट की भाँति कोरा नहीं है। अपने कमरे से बाहर निकलकर वह क्लब में और सभा-

समाज में गया है ; हिला-मिला है, दोस्तियाँ की हैं, और मित्रों के प्रति दान-प्रतिदान भी किया है। इस सभा-समाज में और मित्रों की इस नामावली में सम्मिलित भाव से सभी लोग रहे हैं— लड़के-लड़कियाँ रही हैं, स्त्रियाँ-पुरुष रहे हैं। सभी की छाप उसके मन पर छपती रही है। कोई छाप गहरी हो गई है कोई प्रभाव क्षणिक रह गया है। इन सबको अपने ताने-बाने में स्वीकार करके उसका मन पकता ही गया है। पक कर उसकी सामर्थ्य भी बढ़ी है और शायद जगत् के प्रति उत्सुकता भी कुछ और बढ़ी ही है।

इधर बहुतेरे वाग्युद्ध और तर्कयुद्ध भी उसने देखे और किये हैं। राष्ट्र में वह रहता है और उस राष्ट्र में राष्ट्रीय राजनीति की लहर दौड़ी है। वे लहरें आपस में टकराई हैं और वह स्वयं उस टक्कर के तुमुल में कई बार पकड़ लिया गया है। संघर्ष मचा है और प्रत्येक दल ने कहा है कि कोई सच्चा है तो वही दल सच्चा है। उस सच्चाई की परख, हाथापाई भी करके, देखने की चुनौती दी गई है। हाथ तोड़ दे वह सच्चा, जिसके हाथ टूट जायें वह झूठा। सुबोध इन युद्धों से अछूता नहीं रहा है। चाव,—लगन के साथ उनमें पड़ा है। हाथ टूटने तोड़ने में डर क्या है ? उसने भी कई बार समझा है कि सत्य को सम्पूर्ण रूप से मैं समझा हूँ। ललकार के साथ कहा है कि जो मैं कहता हूँ वह सच है और बाक़ी के सब लोग झूठे हैं। उस समय त्याग से और बलिदान से वह नहीं चूका। युद्ध में प्रहार किया और यदि उसके उत्तर में प्रहार पाया तो उसे अकुंठित भाव से उसने स्वीकार भी किया है। प्रहार देने में उसे रस मिलता है और प्रहार लेने में भी वह यह रस पाता रहा है कि अबके दुश्मन को इस नए ढंग से टक्कर दूँगा। इस सोच-विचार से वह कई बार ऐसा भर गया है कि मानो उसमें कुछ कमी ही न रह गई हो।

कॉलिज का एक साल वह इसी भाँति जिस-तिस काम में गँवा चुका है। और नहीं तो कॉलिज से उठे और शहर में होनेवाली हड़ताल की धूम में शामिल हो गये। मुठभेड़ का मौक़ा आया तो सामने आ पहुँचे। वहाँ पुलिस के डंडों से चोट खाई तो कुछ दिनों अस्पताल में आराम किया। किसी तरह मौक़ा मिला तो मज़दूरों के उद्धार में कुछ हाथ बटा लिया। सार्वजनिक जलूस का मौक़ा आया तो विद्यार्थियों में से वालंटियर भरती करने लगे।

यह सब सुबोध ने किया है और लगभग निरुद्देश-भाव से। जो निरुद्देश है, वह अनासक्त तो है ही। किया है और मानो करके फेंक दिया है। लेकिन कितना भी मन से उसे फेंक दिया हो, कर्म तो कर्म है। उस कर्म में बन्धन भी है। इसी से कहा कि सुबोध नई स्लेट की नाई कोरा नहीं है। उस पर प्रकार-प्रकार की लकीरें खिचीं हैं। वह फिर बेशक वहाँ से मिटा दी गई हैं अवश्य, लेकिन मन पूरी तरह से स्लेट का पत्थर थोड़े ही है कि रगड़ने से निशान बाक़ी न बचे।

इसी सुबोध को दिग्भ्रम भी होता है। प्रत्येक कर्म परम्परा में अपना फल छोड़ जाता है। वह फल नये कर्म की सृष्टि करता है। दायित्व, कर्तव्य, ज़िम्मेदारी आदि शब्द इसी तत्त्व के बोधक हैं। सुबोध मन से पिछली कई बातों के सिलसिले को टाल नहीं पाता है। उदाहरण के लिए इसी विवाह की बात को लीजिए। क्या वह किशोरिका अथवा किशोरिकाओं से बिल्कुल अपरिचित रहा है ? क्या उसके मन में कल्पना नहीं उपजी कि अमुक अथवा अमुक किशोरिका के साथ सहधर्मी हो सके तो उत्तम हो ? ऐसी कल्पनाएँ एक से अधिक उसके मन में जनमी हैं। जनम कर कुछ दूर तक वे पनपी भी हैं। लेकिन जीवन एक प्रवाह है और वैसे पनपते पौधों पर से हहराता हुआ बह गया है।

लेकिन मन में वह सिलसिला बिल्कुल सो गया हो ऐसा नहीं है। सुबोध इसी उलझन में है। सीधी तरह नैनीताल जाकर जो कुछ वहाँ मेरे लिए खुदा हुआ तैयार हो उसमें गिर

जाऊँ—क्या यह मेरे लिए योग्य है ? उसके मन को निश्चय है कि नैनीताल पहाड़ है, ठंडी और रमणीक जगह है, सिर्फ़ इसी से वह वहाँ नहीं भेजा जा रहा है। नैनीताल में पिताजी के मन की कोई और भी बात अवश्य ही है। अपने संबंध में वह नैनीताल का ज़िक्र इससे पहले भी माता-पिता के बीच में सुन चुका है और उसे यहीं घबराहट होती है। वह अपने में शुद्ध नहीं है। देह की शुद्धि तो कोई चीज़ ही नहीं है। मन जब मलीन हो चुका है तो देह की पवित्रता की कितनी क़ीमत ? सच पूछो तो विवाह के प्रति उसकी विमनस्कता का गहरा कारण यही है।

मैं नैनीताल जाऊँगा। जो होगा, देख लूँगा। लेकिन मैं क्या हूँ, यह क्या कोई भी नहीं समझेगा ? मैं भ्रष्ट हूँ, पतित हूँ ; लेकिन फिर भी मैं हँस सकता हूँ, बोल सकता हूँ। जवान दीखता हूँ और अपनी जवानी को सजाकर दिखाता भी हूँ। मेरी चतुरता भी ऊपर प्रगट होती है। प्रगट होता है कि मैं कुलीन हूँ, योग्य वर हूँ। तब क्या कोई भी नहीं जानेगा कि मैं स्वच्छ नहीं हूँ और अधम भी हूँ। पिताजी यह नहीं जानते न शायद जानना चाहते हैं। मुझे साहस नहीं है कि यह जतलाकर मैं उन्हें चोट दूँ। तब क्या मैं सीधी तरह चलता जाऊँ और लोगों की सब प्रत्याशाएँ पूरी करूँ ? वे लोग नहीं जानते कि जिस आधार पर वे खड़े हैं—यानी, मैं और मेरी भलमनसाहत—वह आधार खोखला है। मैं कैसे यह विदित कर सकूँ कि मैं जो कुछ हूँ, वह हूँ—अयोग्य हूँ, अनादरणीय हूँ। मैं कैसे यह खोल दूँ ?

शान्ति क्या मेरे ही कारण नहीं मर गई ? उसकी मौत मेरे मन पर बैठी है। मैं यह कहूँ तो कैसे ? मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, पर शान्ति के पवित्र नाम पर इसमें बट्टा भी तो आवेगा। यह मुझसे न होगा।

तब नैनीताल जाकर मैं माता-पिता की कामनाएँ कैसे पूरी करूँगा ?

ख़ैर, देखा जायगा। जाऊँगा तो मैं अवश्य। बोझ मेरे मन पर है, फिर भी उस बोझ को लेकर मैं पीछे मौत की ओर नहीं मुड़ सकता। ज़िन्दगी आगे इतनी पड़ी है। बढ़कर उसे पार किये बिना गुज़ारा नहीं। मेरा दुःख मेरी निधि हो। वह मुझे भी दरिद्र क्यों बनाये ? इसलिए मैं पीछे तो हट नहीं सकता। लेकिन—

(३)

नैनीताल की राह में काठगोदाम में ही इंजीनियर साहब अपनी मोटर के साथ उससे आ मिले। छुटपन में उसने उन्हें एक बार देखा था। वह कठिनता से उन्हें पहचान सका, लेकिन इंजीनियर साहब ने तो पहचानने में पलभर हिचकिचाहट नहीं दिखाई।

नैनीताल पहुँचकर वह इंजीनियर साहब के यहाँ घर की ही तरह रहने लगा। अन्तर इतना ही था कि यहाँ उसकी सुविधाओं की विशेष चिन्ता की जाती थी। इंजीनियर साहब के दो लड़के थे जिनमें बड़े कृपाशंकर मेडिकल कॉलेज में पढ़ते थे, आजकल घर पर ही थे। दूसरे पूना की ओर एक फ़ौजी स्कूल में 'कैडेट' थे। इन दिनों वह अपने साथियों के साथ हिन्दुस्तान भ्रमण के लिए निकल गये थे। दो भाइयों में एक बहन थी जो सब में छोटी थी। मैट्रिक का इम्तहान पारसाल दिया था और अच्छे नम्बरों से पास हुई थी। कॉलेज के पहले साल में पढ़ती थी कि तबियत कुछ ख़राब रहने के कारण चली आई और घर में रहने लगी। सब लोग उसे बहुत प्रेम करते हैं। उसकी स्वर्गीय अम्मा तो उसे बहुत ही चाहती थीं। सबसे छोटी सन्तान थी। तिस पर ज़िद और हठ उसमें नहीं थी। लड़के मनमानी कर निकलते हैं और बड़ों के स्नेह की पर्वा नहीं करते, लड़की साधारणतया उस स्नेह को अधिक स्वीकृति के भाव से ग्रहण करती हैं।

कन्या का नाम था सुधा। सुबोध का विचित्र परिस्थिति में उससे परिचय हुआ। आगे

के अगले रोज ही कृपाशंकर ने कहा—यह क्या हमेशा पढ़ते ही रहते हो ! आओ चलें ।

सुबोध ने यह नहीं पूछा, कहाँ चलें । हाथ से किताब अलग रख कर वह चलने के लिए सहज भाव से सम्मत हो गया ।

'चलो, उठो' यह कहते हुए कृपाशंकर ने उसे उठाया और निरर्थक भाव से बात करते हुए वह उसे एक बगीचे के द्वार तक ले गया । अब तक अनहोनी बात यह थी कि यद्यपि इंजीनियर साहब का घराना बिल्कुल साहबी ढंग पर रहता था तो भी सुबह की चाय पर सुधा उपस्थित नहीं हुई थी । सुबोध ने इस बात पर मानो ग़ौर नहीं किया था ।

अनायास भाव से वे बगीचे में पहुँच गये । उस समय कृपाशंकर को एक ज़रूरी बात की याद आ गई । 'अभी आया' कह कर वह चले गये ।

सुबोध अकेला वहाँ रह गया । वह बहुत जल्दी समझ गया कि यह सब कुछ हुआ नहीं है, किया गया है वह वहाँ ठिठका रह गया । समझ न आया, क्या करे । उद्यान सुन्दर था । सामने फ़व्वारा था । इधर उधर मेज़ें पड़ी थीं और जहाँ तहाँ झूले भी लटके थे । इतने में दो एक डग बढ़ने पर वह देखता क्या है कि एक लड़की एक ओर झूले पर झूल रही है । उसने जान लिया कि यह सुधा ही है ।

उसका मन कुछ प्रफुल्लित नहीं हुआ, उसने चाहा कि मैं लौट जाऊँ । एक कन्या इस प्रकार विशिष्ट समय पर विशिष्ट पुरुष के सामने एक विशिष्ट भाव से झूलती दिखाई जाय—यह उसके मन को उस कन्या का बेहद अपमान मालूम हुआ । यह दृश्य उसको सुखकर न हुआ । उसके मन में एक बार तो यह भी आया कि जाकर वह इस लड़की से कहे कि तुम यहाँ इस तरह से क्यों झूल रही हो ? जाकर अपने पिता और भाई से क्यों नहीं कहती कि मैं गुड़िया नहीं हूँ । तुम्हारे साथ खेल करने का उन्हें क्या हक़ है ? लेकिन वह कर यह कुछ भी न सका ।

कन्या झूल रही थी सो झूलती ही रही । मानो उसे एक पुरुष के उद्यान में आने का पता भी न लगा ।

सुबोध का मन इतना संकुचित हुआ कि कहने की बात नहीं । इस प्रकार प्रेम में पड़ने की संभावना उसके मन में से कटकर दूर हो गई । यह सब उसको कौतुक मालूम हुआ । अगर वह वहाँ से नहीं चला गया तो इसीलिए कि इस दृश्य में उसे कोई रस या सजीवता नहीं मालूम होती थी, उल्टे विरक्ति ही मालूम होती थी । यह भी सोचा कि वह यहाँ लाया गया है तो इसलिए नहीं कि वह लौट जाय । उनकी आशा को वह अपनी विरक्ति में भी तोड़ नहीं सकता । जाकर वह बेंच पर बैठ गया ।

थोड़ी देर में झूलना समाप्त कर सुधा उस ओर आई । हाथ में अंग्रेज़ी की कविताओं की एक किताब थी । आकर राह में ही फ़व्वारे के पास के एक पानी से भरे हौज़ में पैर लटकाकर बैठ गई । बैठी-बैठी फिर पैर चलाकर पानी के साथ वह खेल करने लगी और धीरे-धीरे अंग्रेज़ी की कविता गुनगुना उठी ।

सुबोध को शनैः-शनैः यह असह्य ही हो उठा । छिः-छिः, यह रमणी व्यापार उसको बिल्कुल भी नहीं रुचा । उसने सोचा कि क्या लाचारी है कि मैं उससे बात करूँ ? मुझे कुछ बात नहीं करनी है, मुझे कुछ नहीं बोलना है । और वह अपनी जगह डटकर बैठा ही रहा । मानो उस ओर ध्यान भी नहीं दिया ।

कन्या कुछ देर में वहाँ से भी उठी और प्रतिकूल दिशा में जाकर इस या उस फूल की झाड़ी से खेल करने लगी ।

सुबोध को वहाँ क़ैदख़ाना-सा मालूम होने लगा। अपने ही बाग़ में यह लड़की क्यों इस तरह पराया-सा बर्तन करती है। यह सब छल है, छल। सुबोध अनमने मन से वहाँ ही बैठा रहा, उठा नहीं।

अंत में वह लड़की अनायास उसी ओर बढ़ी। बढ़ी-बढ़ी कि आते-आते राह में चकित हो रही। पास आकर बोली—ओह, आप! मैं समझती हूँ आप ही हमारे नये मेहमान हैं। यहाँ कब से बैठे हैं?

'ज़्यादा देर नहीं हुई।'

'ओह, मुझे क्षमा करें। मुझे पता ही न चला।'

सुबोध ने अपनी विरक्ति को दाबकर कहा—नहीं, कोई बात नहीं।

'मेरा नाम सुधा है। आप......'

'सुबोध।'

'हाँ ठीक, सुबोध। मुझे भाई साहब ने कहा था। क्या मैं यहाँ बैठ सकती हूँ?'

सुबोध अत्यन्त संकुचित भाव से बेंच के एक ओर सिमट गया, बोला कुछ नहीं। सुधा साड़ी समेटती हुई सामने आकर बैठ गई। किताब, बंद, एक ओर रख गई।

सुबोध को बड़ा त्रास मालूम हुआ। उसके चित को तनिक भी आह्लाद नहीं मालूम हुआ। मुँह से वह कुछ बोल नहीं सका। इस पर सुधा भी कुछेक ठिठक रही। फिर बोली—आपकी छुट्टियाँ कब ख़त्म होती है?

'अभी दिन हैं।'

तब तक आप यहीं हैं न? नैनीताल अच्छी जगह है। आप यहाँ पहले कभी आये हैं?'

'नहीं'

'नहीं! आप कहते क्या हैं? ज़िन्दगी में पहली बार आप यहाँ आये हैं? तब तो आप जल्दी जाही नहीं सकते।'

सुबोध चुप रहा। उसको कुछ भी बोलने की इच्छा नहीं हुई। उसको यह दुर्भाग्य नहीं मालूम हुआ कि ज़िन्दगी में अब तक वह नैनीताल नहीं आया था।

सुधा बात करने में थमना नहीं चाहती थी। मानो बहुत कुछ है जो निबटाना है। वह बोलती गई—तो आप आगरा पढ़ते हैं? हम लोग अभी आगरा गये थे। पापा साथ थे, बूआ भी थीं। हमारी बूआ कानपुर रहती हैं। ओह, आप नहीं जानते। हम लोग ताजमहल देखने गये थे। ताजमहल—आपको कैसा लगता है?

'अच्छा लगता है।'

'मुझसे पूछें तो उससे बढ़कर मैंने और कोई चीज़ नहीं देखी......क्या आप कभी नहीं सोचते कि आपको मौका मिले तो आप भी ताजमहल बनवायें?

सुबोध की विरक्ति का भाव बढ़ता ही जा रहा था लेकिन इस प्रश्न पर वह सहसा ही चमत्कृत होकर रह गया। मानो यह प्रश्न जीभ से नहीं, इस सामने बैठी लड़की के जी से निकला हो। अब तक की सारी बात-चीत में इस स्थल पर आकर मानो सुधा कुछ और हो पड़ी। सुबोध ने कहा—आप क्या पूछ रही हैं?

सुधा बोली—ओह, तो आप—ख़ैर वह छोड़िए। पूछ रही हूँ कि आपके जी में यह नहीं होता कि मौक़ा आये तो आप भी अपनी प्रिय स्मृति के लिए ताजमहल खड़ा करें।

सुबोध ने कुछ उत्तर नहीं दिया। सुधा मानो थोड़ी देर प्रतीक्षा में रही। फिर बोली—आप सोचते होंगे, यह क्या तमाशा है। यह बाक़ायदा बगीचा है, फ़व्वारा है, एकान्त है, पूरी 'कोर्टशिप' की तैयारी है और ऐसे समय—कहिये आप यही सोचते हैं न?

इस पर सुबोध विस्मित होकर सुधा को देखता रह गया। सुधा पर जाने क्या भाव छा गया था। बोली—किया कराया, देखती हूँ, सब चौपट हो गया। यह ठीक ही हुआ। एक किताब में मैंने पढ़ा था कि ज़िन्दगी एक स्टेज है। लेकिन ज़िन्दगी स्टेज नहीं है। देखिये न, स्टेज तैयार है; वह स्टेज सुरम्य है और आप गुम-सुम बैठे हैं।

सुधा कहकर एक क्षण के लिए एक अत्यन्त लज्जित और फीकी मुस्कराहट से मुस्कराई और फिर अप्रत्याशित भाव से गम्भीर होकर बोली—देखिये मैं अब आपसे सच बोलूँगी। पहला सच यह है कि मैं आपको थोड़ा ना-समझ समझती थी। अब मेरी मूर्खता मेरे सामने आ गई...आप मुझे क्षमा करें।

यह सब कुछ इतनी शीघ्रता से हुआ कि सुबोध को कुछ भी न सूझ पाया। वह देख उठा कि सामने की मुखरा सुधा एक दम चुप हो गई है और उसकी आँखों में क्षमा प्रार्थना का पानी है।

सुबोध बोला—यह आप क्या कहती हैं? मैं बहुत साधारण परिस्थिति में रहा हूँ। मेरे लिए तो आप लोगों की कृपा ही बहुत है। मुझे और लज्जित न करें।

सुधा ने यह सुन लिया। वह बोली नहीं। थोड़ी देर बाद उसने काँपती वाणी में कहा—मैं एक बात कहती हूँ। आप मुझे जाने बिना मेरे साथ विवाह कभी स्वीकार न कीजियेगा। कभी न कीजियेगा।

सुबोध मानो निश्चेतन ही होगया। वह एक टक सुधा को देखता रहा। प्रेम व्यक्ति को भीतर तक हिला देता है। यह प्रेम न था, पर उसे भीतर तक हिला गया। शनैः शनैः सुधा निस्तेज पड़ती जा रही थी। कह तो गई, पर कहने के बाद वह मानो सोच में डूब गई। कि वह क्या कह गई।

इस प्रकार काफ़ी समय बीत गया। अनन्तर बेञ्च से उठते हुए सुधा ने कहा—मैंने आपको कष्ट दिया। पर मेरा विचार आप बिल्कुल न कीजियेगा। आप दूर से आये हैं और अपने पिता की आज्ञा मानना मेरा धर्म है। लेकिन सच यह है कि आप मेरा बिल्कुल विचार न करें। जो छल किया उसके लिए क्षमा करें। मैं बहुत अयोग्य हूँ।

वह कहकर और सुबोध को प्रणाम करके सुधा वहाँ से चली गई।

(४)

सुबोध बैठा रह गया। यह घटना उसको अनहोनी मालूम हुई। सुधा के प्रति उसमें विरक्ति पैदा हुई थी पर उसके जाते जाते वह विरक्ति दूर हो गई। उसे जान पड़ने लगा कि सुधा को कुछ कष्ट है। वह छल करना चाहकर भी छल न कर सकी, राह ही में टूट गई और अपने को प्रगट कर पड़ी। यह बात सुबोध के कुछ अनुराग का कारण होने लगी सुधा की व्यथा उसकी समझ में न आई। सुधा ही उसकी समझ में न आई। उस बगीचे में अकेला वह काफ़ी देर तक बैठा रहा। उसको मालूम हुआ कि इस सुधा से वह दूर ही दूर रहेगा, ऐसे प्रश्न की कोई आवश्यकता नहीं है।

उस रोज़ से चाय के समय सुधा अनुपस्थित नहीं होती। लेकिन वह बोलती नहीं। शिष्ट अभिवादन के कुछ शब्द कहने के अतिरिक्त किसी प्रकार की बातों से वह नहीं खिंचती। सुबोध

भी उसके भेद में जाने की उत्सुकता प्रगट नहीं करता। लेकिन असल बात यह है कि उसको यह बिल्कुल पसंद नहीं कि सुधा उसके प्रति इतनी धीर शान्त बनी रहे।

एक दिन जब शाम को वह घूमने के लिए कपड़े पहन कर तैयार हुआ तो सुधा उसके कमरे में आई। अभी तक ऐसा कभी नहीं हुआ था। सुबोध अभिवादन के लिए प्रस्तुत हुआ; लेकिन सुधा ने हाथ बढ़ा कर सुबोध को एक चिट्ठी दी और तभी बिना कुछ कहे सुने चली गई।

चिट्ठी संक्षिप्त थी और उसमें यह लिखा था कि सुबोध को उस दिन की बातों का बिल्कुल ध्यान नहीं करना चाहिए। उस वक्त बहक गई होगी। उन बातों के लिए वह लज्जित है और यदि उससे प्रेम का प्रतिदान माँगा जायगा तो वह अत्यन्त अपात्र होकर भी अकृतज्ञ न होगी।

चिट्ठी पढ़ कर सुबोध को बुरा मालूम हुआ। अन्तिम अंश पर तो उसे स्वयं लज्जा आने लगी। लेकिन लड़की की ढीठता तो देखो कि वह क्या लिख गई। किन्तु उस समय वह पत्र को जेब में डालकर चला गया। उस शाम क्लब में बड़ी शोभा थी। एक पार्टी थी और नगर के संभ्रान्त व्यक्ति और महिलाएँ बहुत से उसमें शामिल हुए थे। उसके बाद सुबोध को कृपाशंकर सिनेमा में खींच ले गये। सो रात को बहुत देर में आना हुआ।

घर आकर देर तक उसे नींद न आई। आज की संध्या बेहद व्यस्त और रंगीन रूप में बीती थी। सिनेमा का फ़िल्म कम उत्तेजक न था और इन सब के नीचे सुधा की चिट्ठी भी उसके मन से दूर नहीं होती थी। उसका कमरा अलग था, कोई रोक टोक न थी। पलंग पर लेटे-लेटे उसने फिर बत्ती खोल ली और वह एक उपन्यास पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते भी थकान हो आई। उसने किताब तकिये के सहारे रख दी। तभी उसको मालूम हुआ कि 'बॉलकनी' पर कहीं कोई चहल कदमी तो नहीं कर रहा है। बाहर की ओर देखने पर उसे यह पाकर सचमुच आश्चर्य हुआ कि सुधा अकेली वहाँ टहल रही है और फिर लौट आती है। कुछ डग बढ़ने पर वह उसी बँधे भाव से फिर वापिस मुड़ आती है। वह और कुछ भी नहीं कर रही है, न गुनगुनाती है न हाथों को हिलाती चलाती है। इस भाँति टहलते-टहलते अकस्मात वह रेलिंग को पकड़ कर सामने देखती हुई खड़ी रह गई। कोठी के बाहर सड़क है, सड़क के आगे पहाड़ जाने किस अथाह में ढलक जाता है। वहाँ वन का गहन अन्धकार है। चाँदनी तो है लेकिन कुहरा भी है और वन की गहनता मानो गर्माई हुई कुहरे को ओढ़े प्रशान्त भाव से सो रही है।

क्या सुबोध आगे बढ़ कर इस लड़की के सामने पहुँच कर कहे कि 'ओ सुधा, जाओ, सोओ। रात आधी बीत गई है, यह टहलने का वक्त नहीं है। जाओ सुधा, आराम से सोओ।'

क्या सुबोध यह करेगा? लेकिन कैसे करे? उसने ज़ोर से अपनी खिड़की के किवाड़ बन्द किये। उसे अनुमान हुआ कि इस आहट को सुन कर सुधा चौंकी। किवाड़ बन्द करके वह चुपचाप सुनने को खड़ा हो गया कि क्या सुधा अब भी टहलती ही रहती है, या कि सोने चली जाती है? पर उसको कुछ ठीक-ठीक निश्चय न हो सका। थोड़ी देर में उसने फिर किवाड़ खोले देखता है कि सुधा वैसे ही रेलिंग पकड़े खड़ी है। यह देखकर सुबोध प्रगट भाव से खाँसा। इस बार सुधा घबरा गई। उसने घूम कर देखा कि सुबोध के कमरे में रोशनी हो रही थी और खिड़की में शायद यह सुबोध ही दीखता है। वह घबरा कर जल्दी-जल्दी वहाँ से चली गई!

सुबोध इसपर अपने बिस्तरे पर आया। उसने तब सुधा की चिट्ठी को इधर-उधर टटोला। उसे याद न रहा था कि उसने वह चिट्ठी किस जेब में रखी है या कहाँ रखी है। चिट्ठी तुरत न मिलने पर वह घबरा गया। वह किसी और के हाथ में पड़े यह क़तई.। सुबोध को

असह्य हो उठी। उसने जल्दी-जल्दी कोट, वास्कट की सब जेबें टटोल डालीं। अन्त में जब चिट्ठी पा गई तो सन्तोष की साँस ली और उसे तभी खोलकर सामने ले बैठा। पढ़कर वह पत्र उसे उतना ही बुरा मालूम हुआ जितना पहले मालूम हुआ था। उसको इस लड़की पर क्रोध भी आने लग गया। उसने नए सिरे से निश्चय कर लिया कि पश्चिमी शिक्षा बहुत ख़राब है और पश्चिमी संस्कृति पवित्रता की भावना को खा डालती है। इस कन्या पर जिसका नाम सुधा है और जो इस प्रकार सामने आकर अपने हाथ से चिट्ठी देकर जतलाती है कि प्रेम वह ठुकरायगी नहीं उस लड़की पर सुबोध को क्रोध आने लगा। यह बिल्कुल वाहियात बात है—ठीक यही बात है जिससे प्रेम असम्भव बनता है। प्रेम लज्जा चाहता है। निर्लज्ज बनकर सामने आ उसका दावा करने से वह नहीं पाया जायगा। सुधा यह क्या है? तुम ढीठ हो!

लेकिन रात के बारह बजे, अकेली, अँधेरी और गहन निर्जनता को आमने-सामने करके धीर-शान्त भाव से अपने आप में अकेली खड़ी होनेवाली यह सुधा—क्या है? वह सुधा ढीठ ही है?

पर सुबोध सोना चाहता है। वह यहाँ, नैनीताल अब नहीं रहेगा। कह देगा कि उसे जाना है, यहाँ जाना है, वहाँ जाना है, बहुत से काम हैं। बेशक यहाँ दिन फ़िजूल जा रहे हैं। आगे एम० ए० के लिए भी उसे तैयार होना है। उसके आगे जो ज़िन्दगी पड़ी है, उसके लिए भी तैयार होना है। यह क्या झमेला है और यह क्या ज़िन्दगी है कि नैनीताल में आराम से दिन कट रहे हैं? नहीं-नहीं, मैं यहाँ से जल्दी ही चला जाऊँगा।

नींद आख़िर उसे आई। सवेरे देर में वह जगा। जागते देर न हुई कि उसे नौकर ने कहा कि चाय पर आपका इन्तज़ार हो रहा है। उसने जल्दी-जल्दी हाथ मुँह धोया और चाय पर पहुँचा।

सब कुछ यथावत् था। दादा थे, कृपाशंकर थे, एक मेहमान एडीशनल जज थे और यथाविधि सुधा अपने काम पर था!

दादा ने कहा—क्या बात है, आज देर से जागे?

सुबोध ने क्षमा माँगा—हाँ, कुछ देर हो गई।

कृपाशंकर ने कहा—पापा, कल हम विन्सर गये थे। अच्छी फ़िल्म थी।

पापा ने कहा—अँ, हाँ, फ़िल्म अच्छी है। कौन सी फ़िल्म है?

सुधा ने कहा—बैठिये—

सुबोध को अब मालूम हुआ कि वह आकर भी रुका रह गया था, बैठा न था। क्यों रुका रह गया था?

सुधा ने कहा—बैठिये, बैठिये। मैं देर तक थोड़े ही सोई हूँ कि आप मुझे इलज़ाम दें—कहकर वह कुछ मुस्कराई।

सुबोध को यह अच्छा नहीं लगा। वह कुर्सी पर बैठ गया और सुधा ने जो प्याला उसके सामने किया उसको चुपचाप लेकर पीने लगा।

बातें चल रही थीं। लेकिन सुधा को बातों में शामिल होने का अवकाश न था। उसने परोसने का काम अपने ज़िम्मे ले लिया था। और सुबोध इसलिए नहीं बोला कि न तो उसे सूझ पड़ा कि क्या बोले और न यही मालूम हुआ कि क्यों बोले। किन्तु थोड़ी देर गुमसुम रहने के बाद सुबोध ने कहा—अब मैं जाऊँगा। पिता जी का ख़त आया है।

पापा और कृपाशंकर दोनों ही ने इस बात को सहज भाव से टाल दिया। कहा—अभी हफ़्ता भी तो हुआ नहीं अभी जाने की बात नहीं सुनी जा सकती।

सुबोध ने कहा कि उसको कई काम हैं। घर भी मुद्दत से नहीं गया हूँ। अब जाने ही दीजिये।

सुधा ने कहा—जाइयेगा। लेकिन चाय से क्यों नाराज़ होते हैं, वह ठंडी हो रही है।

सुबोध ने उस पर सुधा को देखा और चुपचाप प्याला उठा लिया। उसने मन में सोचा कि इसका बदला बिना चुकाये सचमुच उसे यहाँ से नहीं जाना चाहिए। यह लड़की मुझे यों बनायेगी ?

उसने पापा से कहा—मैंने हफ़्ते भर का प्रोग्राम यहाँ का बनाया था। उसमें बस दो रोज़—

'तो दो रोज़ तो अभी हैं। आगे फिर देखेंगे।'

चाय के बाद वह अपने कमरे में आ तो गया, लेकिन सोचने लगा कि आज के और सब कामों को पीछे डाल कर पहले यह चिट्ठी सुधा को वापिस कर देनी चाहिए। उससे कह देना चाहिए कि मेरा तुम्हारा कोई वास्ता नहीं है। मैं जानता हूँ कि तुम कुशल हो, तुम जानती हो कि मैं अ-कुशल हूँ लेकिन मैं जैसा हूँ वैसा ही ख़ुश हूँ। तुम संभ्रांत हो, सुसंस्कृत हो, लेकिन मुझे उस सबसे कुछ मतलब नहीं। हाँ, कुछ भी मतलब नहीं! मैं कम समझ हूँ लेकिन अपना मानापमान समझता हूँ। अपना अपमान मैं नहीं सहूँगा।

यह ठान कर वह सुधा से अभी निपटने के लिए चल दिया।

[क्रमशः]

जीवन सन्ध्या

[उषादेवी मित्रा]

सोने की प्याली में अंगूर का रस मौत उसे सौंप रही थी। उत्सव का कोलाहल नीरव था, अपरिचित पुकार से वह चौंक उठी थी, उस जीवन का पाठ उसे शेष करना था ; किन्तु फिर भी तीस साल के पुराने पथ में वह भटकने लगी, न जाने किस शीतल झरने के किनारे, महुए की छाँह में, अथवा मरुभूमि की चोर बालु में, या आग्नेय गिरि के प्रज्ज्वलित स्फुलिंगों में। अव्यक्त यन्त्रणा से केसर बाई का केसर-सा रंग, अनिंद्य सुन्दर आकृति नीली पड़ रही थी। वह जानती थी, समझती थी, स्व-इच्छा से नहीं ; परन्तु पारिपार्श्विक स्थिति ही उसे समझाने में बाध्य कर रही थी कि कुछ मिनटों के लिए वह इस चुम्बक भरी पृथ्वी में और है, किन्तु फिर भी एक छोटी—किन्तु आशा का अमर आश्वासन उसके चहुँओर की वायु के भीतर घूमने-फिरने लग गया। उस 'किन्तु' ने धूम मचा दी—किंतु इतनी जल्दी ?

अरे, वह कैसे जाय और अपने को कहाँ रख जाय ? उस रूप, यौवन को किसके घर धरोहर रख आवे ? ऐसा धनी संसार में है ही कहाँ और कौन ?

न संध्या, न रात्रि, अभी तो जीवन का मध्याह्न है—सुवर्ण रेखांकित, लीलायित, सुगम्भीर ग्रीष्म मध्याह्न—वही वैशाख द्विप्रहर जहाँ कितने ही पपीहरा उस दीप्त शिखा के चहुँओर मँडराकर तृष्णा की वार्ता सुनाया करते—प्यास, प्यास। यन्त्रणा से केसर की आँखों तले काली लकीर पड़ चुकी थी। हाथ-पैर ऐंठ रहे थे, किन्तु फिर भी उसका सारा चित्त लौट पड़ रहा था उसी अतीत की ओर जहाँ तबलों और सारंगी के बीच में तरुणी के कण्ठ से बाँसुरी का रव निकलकर जल-स्थल को प्लावित करना चाहता था ; जहाँ अनेक प्रशंसा, अनेक लालसा, अनेक प्यार, अनेक प्रेम विचित्र वर्ण और नूतन-नूतन छन्द से वह पाया करती, देखा-सुना करती थी।

एक बार, केवल एक बार तो वह जी उठे, फिर से अपने जीवन के उन आवेशमय पलों को प्रत्येक लोगों में अनुभव तो कर ले, आकण्ठ पी तो ले। उसने अभी जीवन को भली-भाँति उपलब्ध ही कहाँ किया है ?—हाँ, अपने ही जीवन को।

वह तो एक स्वप्न का टुकड़ा था, सिनेमा का चित्र था, जो कि इने-गिने मिनटो में होकर निकल गया ; बस।

मार्बल टेबिल पर पड़ी, डाक्टरों की ओर, औज़ारों की ओर केसर कभी देख लेती थी।

भय से आँखें बन्द हो जातीं, मानो मौत से विनय करती हो—अरे कठोर, अरे निर्मम ! कुछ तो दया कर, मुझे अपने जीवन से परिचय निबिड़ तो कर लेने दे !

वह था मेडिकल कॉलेज का ऑपरेशन रूम। विख्यात बाईजी केसर के अपेन्डिसाईटिस ऑपरेशन की तैयारियाँ हो रही थीं। फ़िफ़्थ इयर के मेडिकल छात्रों से लेकर सिविल सर्जन तक वहाँ उपस्थित थे। कितने ही घण्टों के बाद केसर की चेतना लौटी। कौन जाने उस अचेतन अवस्था में भी वह मृत्यु से जीवन की भीख माँग रही थी या नहीं। ऑपरेशन हो चुका था, डाक्टर लोग चले गये थे, केवल कुछ विद्यार्थी वहाँ उपस्थित थे।

मैं मृत्युलोक में आ गई—बस इतना ही, इससे अधिक केसर में विचारने की शक्ति उस समय नहीं थी। क्लोरोफ़ार्म की क्रिया केसर के मस्तिष्क में तब भी चल रही थी। आँखें बन्द किये-किये उसने हाथ-पैर हिलाने चाहे, किन्तु कुछ न कर पाई। उसे लगा—यमदूत उसे बाँधकर लाये हैं और तभी तो पेट में कुछ चुभ-सा रहा है ! जलन है—बहुत जलन।

पाप !—जड़ता कुछ हटने लगी—पाप ! क्या वह पापिनी है ? कदाचित् जीवन में प्रथम या द्वितीय बार प्रश्न उठा—क्या वह पापिनी है ? अरे—सच ? किन्तु ऐसा कुत्सित सन्देश किसी ने उसे नहीं दिया। नहीं, मन में भी नहीं। कभी एक दिन यदि उसे कोई सतर्क कर देता तो उसकी स्थिति ऐसी होती ही क्यों ? केसर उन बन्द पलकों के भीतर अनुभव करने लगी—उसका शरीर किसी वस्तु से बँधा हुआ है और कृष्णकाय, व्याघ्र-से नख, लम्बे दाँत वाले यमदूतों के उल्का-से नेत्र उसके मुँह पर गड़े हुए हैं। ज़रा हिली नहीं कि बबूल के काँटे उसकी आँखों में वे चुभा देंगे—वही आँखें जिनकी अनोखी छवि अब भी उसके ड्रेसिंग रूम के बृहत् दर्पण पर छपी होगी, जिन आँखों की नशीली चितवन को देखकर वह स्वयं ही मोहित हुआ करती थी; दिन रात में हज़ार बार दर्पण में देखकर भी वह अतृप्त रह जाती थी। नहीं, वह आँखें न खोलेगी. अभी यह घसीट कर न जाने किस दुर्गन्धपूर्ण कूप में उसे फेंक देंगे। केसर ने ज़ोर से आँखें मींच लीं। उस मुद्रित नेत्र के भीतर न जाने कैसी-कैसी विभीषिका मूर्त हो उठी।

अब जी कैसा है श्रीमती ?—कोमल स्वर से अवनी ने पूछा।

आप व्यर्थ डर रही थीं, दिन भर न जाने ऐसे कितने ऑपरेशन होते रहते हैं और रोगी अच्छे होकर घर लौट जाते हैं।—दूसरा बोला।

विस्मय, कौतुक से केसर ने इस बार नेत्र खोले। अरे—यह क्या, कहाँ गये वे नरक के भयानक दूत ? यह तो पारिजात फूल-से सुगंधित, सभ्य कार्तिक जैसे युवक हैं, जिनके सिर से लेकर नाख़ून तक में यौवन का युवराज निबिड़ होकर आलिंगनाबद्ध है। पल भर में केसर का हृदय मचल पड़ा—उस यौवन को दोनों हाथों में समेटकर गेंद की तरह खेलने के लिए।

सब बातों को समेटकर वह तभी-तभी पी गई और वर्तमान में जीवित हो उठी। अपने प्रति ध्यान गया, दिन भर यों ही पड़ी न जाने कैसी कुत्सित हो गई होगी। इशारे से नर्स को बुलाया, कहा—राजेश्वरी को बुला दो। राजेश्वरी उसकी दासी थी, साथ आई थी। द्वार के बाहर से नर्स उसे लिवा लाई। केसर ने दासी से कुछ कहा, बहुत धीरे कहा—छोटा दर्पण, पाउडर लेकर वह सामने खड़ी हो गई। सरोज मुँह फेर कर हँसने लगा और अवनी विस्मय से खड़ा कुछ सोचने लगा।

(२)

केसर बहुत-कुछ अच्छी थी, उठकर बैठ सकने की ख़ुशी से वह बावली हो रही थी। और धीरे-धीरे कभी वह चल भी सकेगी, कभी घर पर भी पहुँच जायगी, उसी घर में। केसर के

चहुँओर मिलने की हवा बह रही थी, खोने की नहीं। पुनर्जन्म के प्रातःकाल में वह सुवर्ण रेखा, वह मदिर-प्याला, उसके जीवन का वह रजत-शुभ्र पूर्णिमा का प्रकाश, वह विरामहीन ख़ुशी और गाढ़ी हो रही थी—रन्ध्रहीन, छिद्रहीन।

अस्पताल के कमरे में, तकिये के सहारे बिस्तर पर वह बैठी थी। डाक्टरों के अनजान में घर से थोड़ा-सा शराब मँगाकर पी ली थी। रंगीन नशे से उसका मन स्वच्छ, हलका हो गया था।

अपनी ओर सरोज को आते देखकर वह मुसकराई—

'आइये मिस्टर सरकार और खान्डेकर।'

'कहिए श्रीमती, अब तो घर जाने की ख़ुशी है न ?'

'बैठिये। अभी कहाँ की ख़ुशी ? महीना-पन्द्रह दिन तो अभी यहीं रहना है।'

'देखते-देखते थोड़े से दिन निकल जायँगे और फिर भारत-कोकिला कुहुक उठेगी। आपका वह रेकर्ड—'जब से बिछुरे बालमा' बहुत ही सुन्दर है। लो, अवनी भी आ गया। क्यों भाई, वह रेकर्ड फ़र्स्ट क्लास है न ?'

अवनी कुछ झेंपा, कुछ शर्माया, फिर बोला—मुझे तो 'पिया' वाला रेकर्ड अच्छा लगता है।

क्यों ?—कौतुक से खान्डेकर ने पूछा।

उसमें एक आहत चीत्कार है, करुण पुकार है।—वह बोला, इस तरह मानो लज्जा का लड़कपन उसके कंठ में दबा बैठा हो।

खान्डेकर ज़ोर से हँसा।

अवनी के लाज-रक्त मुख की ओर देखकर केसर को दया-सी आ गई।

'आजकल आप दोनों के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं।'

केसर उस प्रसंग को बदलना चाहती थी।

'वक़्त मिलता नहीं। कौन-सी किताब आप पढ़ रही थीं ?'

'शेक्सपियर।'

'अरे ! आप उसे पढ़-समझ लेती हैं ?'

असीम विस्मय से अवनी स्तब्ध हो रहा। इस वेश्या के विदुषी होने का विचार तो कभी वह न कर सका था न।

यों ही कुछ समझ लेती हूँ।—अवहेलना के साथ केसर बोली।

तो आप दोनों मुर्दों को चीरने-फाड़ने में लगे रहते होंगे ?—केसर ने फिर कहा।

'हाँ श्रीमती। आज सबेरे भी तो एक स्त्री के शव को चीर रहे थे।'

'क्या वह सुन्दरी थी ?'

प्रश्न सुनकर तीनों विस्मित हुए।—बाईजी जानना क्या चाहती हैं ?

हाँ ; थी तो सुन्दर,—ढिठाई से खान्डेकर बोला।

'आप भी कैसे कठोर हैं ! ईश्वर की श्रेष्ठ कृति उस रूप को राक्षस की तरह नष्ट-भ्रष्ट करते हाथ काँपते नहीं, ज़रा-सा अनुताप, सहानुभूति—क्या कुछ भी नहीं होता ?'

'किन्तु वह शव था। यदि ऐसा न करें तो हम सीखें कैसे ? डाक्टरों का नाम पृथ्वी से लुप्त हो जायगा न ?'

केसर खिलखिला पड़ी—उससे सीख ही क्या सकते हैं आप ?

'आप कहती क्या हैं ?'

'सुनो-सुनो, जल्दी मत करो भाई, ज़रा मुझे भी तो कुछ कह लेने दो—' केसर ज़रा रुकी और फिर कहने लगी—

'उसके मस्तिष्क को, हृदय को, नसों को चीर कर टुकड़े-टुकड़े कर आपने क्या देखा ? कुछ भी नहीं। उसके स्थान में यदि आप मेरे इस हृदय को चीरते, उन रन्ध्रों में झांक कर देखते तो अनमोल वस्तुएँ मिल जातीं, और उसे देखने, समझने के बाद आप एक अदना डाक्टर ही न रहते वरन् एक प्रसिद्ध आविष्कारक बन बैठते। इसी से तो कहती हूँ, उस बेचारी को चीर कर क्या लाभ हुआ ?'

'आपके हृदय को ?'

'हाँ, मेरे हृदय को। इस हृदय के प्रत्येक टुकड़े में ऐसी वस्तु मिलती जिसकी तुलना जगत में शायद ही हो। केवल कवि-कल्पना, भावुक की भावुकता नहीं, वरन् कितने ही जीवित प्रेम तुम्हें मिल जाते—न जाने कितने छन्द, कितने वर्ण, कितने भाव—अभिव्यक्ति में। एक अंश में तुम्हें वह मिलता, जिसे नारी का मन, सौन्दर्य कहते हैं। रामधनुष रङ्ग की साड़ी पहने छलना भी एक अंश में मिल जाती। स्नेह की प्रत्येक मूर्ति को तुम देख लेते—माता से लेकर सखी तक। अभिज्ञता का प्रधान पुरुष भी यहाँ निर्जीव नहीं है। और निर्लज्जता के नग्न शरीर पर तो एक जाली की साड़ी तक न पाते। फैशन, प्रसाधनों के अंश तो भरे ही पाते—आँख के काजल से लेकर महावर तक, पाउडर, साबुन, सेन्ट, साड़ियों के तो न जाने कितने वर्ण, गन्ध, जातियाँ होंगी। दुर्भिक्ष पीड़ित—उस बेचारी अत्याचार-दलित वृद्धा को भी वहाँ आप देख पाते। और देखते एक मज़बूत, स्वच्छ दर्पण—ठीक हृदय के बीच में उसमें देख पाते एक अरूप सुन्दरी को—अनेक रूप, अनेक रंग, अनेक भाव, माधुर्य, अनेक विलासिता, विचित्र नवीन-नवीन रूपों में !'

उन युवकों ने सिवा उसके मुखपर विमूढ़ दृष्टि निबद्ध करने के कुछ भी नहीं किया।

(३)

केसर को घर लौटे प्रायः एक महीना बीतने को चला था। दुर्बल शरीर में वह कहीं मुजरा करने नहीं जा सकती थी।

चुपचाप बैठी वह ग़लीचे पर शराब पी रही थी। अवनी भीरु बालक-सा कमरे में आकर घुसा। वह ऐसी चकित हुई कि एकदम उठकर खड़ी हो गई। अप्रस्तुत भाव से अवनी बोला—इधर बाज़ार—हाँ, यों ही निकल आया।

'अच्छा किया आपने, बैठिये न।'

संकुचित अवनी को उसने हाथ पकड़कर अपने निकट बैठा लिया—कहिये, चीर-फाड़ वैसा ही चल रहा है न ?—इतना कहकर केसर ज़ोर से हँसी।

अवनी भी हँसा। हँस सकने से उसका हृदय कुछ हलका हो गया। चोर की तरह अवनी ने कमरे के चहुँओर देखा। सुन्दर सजा हुआ कमरा, चाँदी के इत्रदान, गुलाब-पाश रखे थे। गुलदस्तों में ताज़े गुलाब, रजनीगन्धा की सुगन्ध से कमरे की वायु सुगन्धित हो रही थी।

रेशम के पर्दे द्वार पर लहक रहे थे। एक ओर तबला, सारंगी रखे थे। घर में एक सपना-सा मँडरा रहा था। और उसी सपने में बैठी थी, वह अपूर्व सुन्दरी, पहाड़-पर्वतों में रहने वाली परी-रानी गुलबकावली-सी बाई केसरबाई। वह खिलखिला पड़ी—क्या सोच रहे हो ?

लज्जित कुंठा से अवनी बोला—आप तो मज़ाक उड़ाती हैं ।

'ऐसा नहीं। वह आपके मित्र अच्छे हैं न ?'

'वे चले गये।'

'कहाँ ?'

'शादी करने। देश।'

'ऐसा क्या ? आप अविवाहित हैं ?'

अवनी चुप रहा—एक अपराधी-सा। उसे लगा शादी करके उसने भारी अपराध किया है !

केसर मुस्कराई—घर में कौन-कौन हैं ?

'माँ, दो बहन, और और—'

'और पत्नी ! बहनें क्वाँरी हैं क्या ?'

'हाँ।'

'मेरी इस जिज्ञासा से आप असन्तुष्ट तो नहीं हो रहे हैं ?'

'नहीं, नहीं, आप पूछिए न।'

'वहाँ ज़मींदारी होगी। नहीं ? फिर चलता कैसे है ?'—अपने अनजान में केसर पूछ बैठी।

'यहाँ पढ़ने के सिवा मैं ट्यूशन भी कर लेता हूँ और जिस दिन ड्यूटी नहीं रहती उस दिन कुछ लिख भी लेता हूँ।'

केसर चुपचाप उठकर भीतर चली गई, कुछ देर के बाद चाँदी के थाली में फल, मिठाई लेकर पहुँच गई। अनुरोध-उपरोध से अवनी को सब खाना पड़ा।

बस, उसी दिन से अवनी रोज़ आता रहता। केसर उससे संस्कृत पढ़ने लगी थी। महीने के अन्त में वह उसे चालीस रुपये दे देती। पढ़ती तो थोड़ी देर, बातें करती देर तक। कितनी ही विचित्र प्रेम-कहानियाँ सुनाती। अपने प्रेमियों की बातें विचित्र वचन-विन्यास से सुनाती, जिन्हें सुनते-सुनते अवनी अपने को भूल जाता, रोमांचित हो उठता, मुग्ध हो जाता। उसे लगता, उस कथा का विजयी महाराज, दूसरा कोई नहीं है, वह है, वही, वही। कभी उसे ऐसा लगता—उसके चहुँओर की हवा में बहुत प्रेम, बहुत प्यार, बहुत चुम्बन, बहुत मोहनस्पर्श घूम-फिर रहे हैं। वह उनींदा हो जाता।

उस घर की उन्मत्त वायु उसे चुम्बक की तरह खींचा करती। घर-बाहर वह बेचैन हो उठता। सन्ध्या समय एक आकर्षण-शक्ति उसे खींचकर यहाँ तक ले ही आती। कभी जरा-सी कुछ चेतना आ जाती, तो लगता, एक अजगर उसे निगल रहा है। वह भागना चाहता, निकलना चाहता, किन्तु निकल न पाता।

और केसर...वह अपने में फूली न समाती थी। इन दिनों न जाने कैसा एक स्नेह उसके मन-प्राण को आच्छादित किए रहता था। दिन का कोलाहल जब नीरव हो जाता तब वह बनाव-शृंगार शेष कर सन्ध्या की प्रतीक्षा में बैठी रहती। अपने चहुँओर की भीड़ को हटा देती, रहती मात्र वह और उसका शिक्षक अवनी।

रात हो चुकी थी। वे एक दूसरे के सामने बैठे थे। पुस्तक पर से दृष्टि हटकर अवनी की दृष्टि कब केसर के मुँह पर गड़ गई थी—इस बात को वह स्वयं ही न जान पाया था। केसर ज़रा मुसकराई—घर जाना नहीं है ?

'मेरा घर तो यही है बाईजी !'

केसर का मुख एक अपूर्व प्रतिभा से दीप्त हो उठा। अवनी केसर के कन्धे से लग गया—'मुझे कहाँ जाने कहती हो, यहाँ से मैं जाऊँ कैसे?'

धीरे-धीरे उसके सिर पर हाथ फेरकर केसर बोली—यह घर तो तुम्हारा ही है भाई। अब अपनी बहन को नग्न न करो। अन्ततः दुनिया में एक को भी अपना कहकर, भाई कहकर जानने, पहचानने दो।

क्रोध, लज्जा, अपमान से अपना सब-कुछ अवनी बिसर गया—यह कौन-सा छल है बाईजी? मेरी नसों में आग लगाकर, पल-पल मुझे ध्वंस के छोर तक खींचकर अब अच्छा स्वांग रचती हो! दुनिया में तुम वेश्याओं ने केवल रुपए ही पहचाने हैं। तुम्हारे पास प्रेम तो एक खिलौना है। वेश्या, वेश्या के सिवा और तुम हो ही क्या? बहन की कौन कहे, प्रेयसी भी तुम नहीं हो सकतीं! वेश्या—घृणित, नीच वेश्या!

विवर्ण, स्तब्ध केसर केवल चुपचाप उस लज्जावनत, अल्पभाषी युवक के कटु, अश्राव्य मन्तव्यों को सुनती रह गई। आज किस आघात ने अवनी जैसे नम्र व्यक्ति को कटुभाषी बना दिया है?

इस विचार में आकर केसर बार-बार सिहरने लगी। लज्जा, मारे लज्जा के वह धरती में गड़ी जाती थी। वेश्या, घृणित वेश्या है वह, इस बात को जानती न थी, ऐसा नहीं था; वह जो कुछ है सो वह भली-भाँति जानती थी, किंतु फिर भी—शब्द ऐसे भयानक, ऐसे कुत्सित हो सकते हैं, इसकी तो वह कल्पना भी न कर सकी थी। नहीं, कभी एक दिन भी नहीं। आड़ में न कहकर यदि किसी ने उसके मुँह पर ही कर दिया तो इससे होता क्या है? किसी के सती कहने से वह वेश्या से परिवर्तित होकर सती-साध्वी बन तो न जावेगी? फिर इसमें हानि क्या है? किन्तु इतना विचारने के बाद भी न जाने क्यों उसे लगा, उसके नारीत्व का अपूर्व सौंदर्य लुट गया, सब माधुर्य किसी ने चूस लिया। और अब एक नग्न रमणी को उसके सामने खड़ा कर दिया गया है, जिसका प्रत्येक अंग गलित कुष्ठ से कुत्सित हो रहा है।

'क्या सोच रही हो? अब कौन-से कौशल, छल के विचार में हो? किंतु मुझपर अब तुम्हारा मन्त्र न चलेगा बाईजी, समझीं?'

एक बार, केवल एक बार केसर धीरे से कहना चाहती थी, समझाना चाहती थी कि वेश्या के हृदय में भी माँ, बहन का स्नेह आविर्भूत होकर कभी जाग पड़ता है; विनय करना चाहती थी कि अन्धे न बनकर कभी उस ओर भी देखना सीखो। पाप चाहे न करो, किन्तु पापी को क्षमा करना सीखो।। उसे शुद्ध सुन्दर बनाने की तूलिका अपने हाथ में उठा लो और सीखो उसकी रक्षा करना—घर के कोने में उसे विश्राम का स्थान, आदर और ज़रा-सा स्नेह देकर। किन्तु केसर कह कुछ न पाई और अवनी घृणा से उसे देखता निकल गया।

(६)

छः वर्ष पीछे की बात, किन्तु ऐसा लगता है—अभी उस दिन की तो बात है। छः वर्ष के बाद केसर के राजप्रसाद-तुल्य अट्टालिका के द्वार पर एक सुन्दर, चमकीली कार आकर लगी। सुपरिच्छेद धारी युवक उतर पड़ा; किन्तु पहले की नाईं स्वागत के लिए उस द्वार पर दरबान नहीं था, न कोई हँसती, इठलाती दासी आई। देर तक युवक द्वार खटखटाता रहा। उत्तर किसी ने न दिया। भीतर का कोलाहल उसे सुन पड़ रहा था, वह कान लगा कर सुनने लगा। स्त्री-कण्ठ

की मोटी, बारीक आवाज़ें आ रही थीं। एक बार उसने अपने हाथ की भारी थैली की ओर देखा। खड़े-खड़े वह ऊब गया तो लौटने लगा।

द्वार खुला, नौकर उसके पास से होकर चला।

सुनो, सुनो।—आग्रह से उसने पुकारा।

'कहिए'—नौकर रुका।

'बाईजी से मैं भेंट करना चाहता हूँ।'

'यहाँ बाईजी कोई नहीं है।'

'अरे—जाते कहाँ हो, सुनो तो भाई।'

'जल्दी कहिए, मुझे बाज़ार की देर हो रही है।'

'इसमें कौन रहता है?'

'यह पतिताश्रम है। जाने कितनी स्त्रियाँ पलती हैं।'

'कह सकते हो केसर बाई कहाँ गई?'

नौकर चौंका, कुछ सहमा-सा—'क्या आप उन्हीं से मिलना चाहते हैं?'

'बड़े बोदे हो तुम, कहता जो आ रहा हूँ, बाईजी से मिलना है।'

नौकर चिढ़ा—'बाई-वाई यहाँ कोई नहीं है। सीधे क्यों नहीं कहते केसरजी से मिलना है। अच्छा, आईए।'

नीचे के कमरे में उसे बैठाकर नौकर चला गया। अवनी ने विस्मय से देखा, कमरा वही पहले का है, किन्तु उन काश्मीरी गलीचे-काउच आदि का कहीं पता तक नहीं है। एक साधारण तख़्त और कई बेञ्च इधर-उधर बिछी हैं। सामने की दीवार पर महात्मा गान्धी का बड़ा-सा आयलपेंटिंग लटक रहा है और उसके चहुँओर अनेक देशनायकों के चित्र हैं। दूसरी दीवारों पर रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, राम, लक्ष्मण से लेकर प्रत्येक तीर्थ के छोटे-बड़े चित्र हैं। चारो ओर की आलमारियों में किताबें भरी हैं।

'आप किसे पुकार रहे हैं महाशय?'

अवनी ने चौंक कर सिर उठाया, थान पहने अलंकारशून्य एक स्त्री उसके सामने खड़ी थी। एक बड़ा-सा चन्दन का टीका ललाट पर लगा था। उस सन्यासिनी को देख कर वह प्रभावित हो उठा।

'मैं बाईजी से मिलने आया हूँ—केसर बाई से।'

स्त्री भीतर जाते-जाते लौटी, पूछा—क्या कोई प्रयोजन है?

अवनी अवाक् रहा—यह पूछती क्या है? बाईजी के घर आने का भी प्रयोजन कोई पूछता है? कुछ इतस्ततः होकर अवनी बोला—है, रुपये के लिए एक दिन इस घर से मैं दूर किया गया था, आज उसी रुपये के बल पर मैं उसे ख़रीदना चाहता हूँ।

स्त्री मुसकराई—तो आप जाइए।

'अरे ठहरो तो, मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।'

'आपका सन्देशा उनसे कह ँगी। आप जा सकते हैं। जिस दिन इसका समय होगा, रुपये की ज़रूरत पड़ेगी उस दिन वे आपसे ज़रूर मिल लेंगी। उनकी होकर मैं आपको वचन देती हूँ।'

नाविक-गान

[बैजनाथसिंह 'विनोद']

घुमड़ आये नभ में घनघोर,
तरंगित जीवन-सिन्धु विशाल।
न तट का पता न तम का अन्त,
क्षुब्ध सागर की लहर कराल।

पथिक साहस न यहाँ तू हार।
सबल हाथों में दृढ़ पतवार।

अरे, ओलों की अविरत मार,
छपक-लहरों की जिह्वा लाल।
नाव डगमग, यात्री भयभीत,
मृत्यु हो बनने चली निहाल।

कुशल नाविक मत हिम्मत हार।
सबल हाथों में दृढ़ पतवार।

बन्धु इतने साधन ले साथ,
नाव पतवार, आत्मविश्वास।
भूल आशा को न हो निराश,
बढ़ा चल है यह मुक्ताकाश।

सिन्धु देगा रत्नों का हार।
सबल हाथों में दृढ़ पतवार।

असफलता में सफलता

[मोतीचन्द्र चौधरी]

संसार में सफलता को सभी ने सराहा है। सफल होने ही पर मनुष्य का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है। चित्रकार, मूर्तिकार, योद्धा या राजनीतिज्ञ, इन सभी का नाम इतिहास के पृष्ठों पर तभी अंकित होता है जब इनकी कृतियाँ सफल होती हैं। पर अगर ध्यान करके देखा जाय तो असफल जीवन से भी एक विलक्षण सौंदर्यानुभूति होती है। सफलता मनुष्य को जीवन के उच्च आदर्शों पर बैठा देती है जहाँ बैठकर वह सफलता का सन्देश मनुष्य-मात्र को सुनाता है, पर वह सफलता उसे मिली कैसे? इसका यही उत्तर है कि असफलता से। दुनिया में हज़ारों जीवन असफल होकर नष्ट हो गये हैं, पर क्या यह कहा जा सकता कि उनकी असफलता का कोई मूल्य ही नहीं? उन असफल जीवनों की घटनावशेष स्मृतियाँ सफलता के इच्छुकों के लिये घोर अंधकार में दीपक का कार्य करती हैं। वे असफल जीवन की भूलों से अपने को बचाते हुए सफलता के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। वे भूलें उनकी पथ-प्रदर्शिका होती हैं। भला फिर असफल जीवन को किसी हद तक हम सफल क्यों न मानें? यह ठीक है कि असफल जीवन में सफलता न मिलने से मनुष्य को सुख नहीं मिलता, पर असफलता दूसरों को कंटकाकीर्ण रास्ते से बचाती है इसलिए इसका महत्व सफलता के बराबर नहीं तो उससे कुछ ही घटकर है।

असफल जीवन का इतिहास पर कितना प्रभाव था इसकी याद आते ही भूत के निविड़ अन्धकार में छिपी हुई घटनाएँ तथा मूर्तियाँ आलोकित हो उठती हैं और हाथ उठाकर यह कहती-सी प्रतीत होती हैं कि 'लो देखो, हम असफल रहे हैं। हम शत्रु से हारे हुए हैं। हमारे धार्मिक सिद्धान्तों को किसी ने नहीं माना, हमारे राजनीति के प्रयोग खाली गये! फिर भी क्या तुम कह सकते हो कि हमारी बातें असफल रहीं, क्या इनमें सफलता का कोई अंश नहीं? क्या उन असफल सिद्धान्तों का इतिहास पर कोई प्रभाव नहीं?' विचार करने पर पता चलता है कि उन सिद्धान्तों का इतिहास पर अवश्य प्रभाव रहा है। स्थिति, समय, अथवा मूर्खता से उस समय वे असफल हुए, पर उन्होंने रास्ता दिखला दिया, अपनी भूलें भी सामने रख दीं, अब भविष्य के लोगों का कार्य है कि उनकी असफलताओं को अपना मार्गदर्शक बनाएँ। इन असफल व्यक्तियों की हालत उन वैज्ञानिकों की-सी है जो मरकर अपने सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध करते हैं। या उनकी तुलना उन गौरीशंकर के यात्रियों से की जा सकती है, जो निरन्तर हिमाच्छादित, मनुष्य-पदों से अस्पृश्य, गिरि-गुहाओं को लाँघकर उस पर्वत-शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं

जहाँ आज तक उनको असफलता ही मिलती रही है ; सैकड़ों ने अपनी जानें खो दीं, स्वदेश से हज़ारों कोस दूर अंग्रेज़ और जर्मन यात्री हिमाच्छादित गर्तों में गिरकर सर्वदा के लिए चुप हो गये। उनके प्रयत्न असफल हुए। पर उन्होंने गौरीशंकर का रास्ता बतला दिया। क्या उनका यह असफल प्रयत्न किसी सफल प्रयत्न से कम है? क्या हम उन वीरों को विक्टोरिया क्रास पाये हुए किसी सफल वीर से कम स्थान दे सकते हैं?

भारतीय इतिहास में महाराज पुरु की कथा अमर है। सिकन्दर ने हमला किया। कुछ राजे उससे मिल गये। पुरु का बल बहुत घट गया। पर उसने सिकन्दर की सेना से मोर्चा लिया। ख़ूब लड़ा पर असफल रहा। सेना पराजित हो गई। पर इस असफल टक्कर ने विजेताओं का मुख भारत से फेर दिया। अगर पुरु आम्भीक की भाँति सिकन्दर से संधि कर लेता, तो मुमकिन था कि उसको सिकन्दर बहुत बड़ा पद देता (उसने पुरु से हारने पर भी उसका राज्य लौटा दिया था) पर नतीजा यह होता कि आक्रमणकारियों के लिए आगे का रास्ता साफ़ हो जाता और कौन कह सकता है कि उत्तर भारत में बौद्ध-विहारों की जगह ज़ियस के मन्दिर न बनते। यह उसी असफलता का सुपरिणाम है कि शताब्दियों बाद तक मध्यदेश यवनों से बचा रहा। भारतीयों को पुरु की हार ठीक नहीं लगती और सेना का ठीक न होना तथा हाथियों की अव्यवस्था इत्यादि इसके कारण बतलाए जाते हैं। ठीक भी है; अपनी हार किसको अच्छी लगती है, पर विशाल हृदय सिकंदर को पुरु की असफलता में भी एक विलक्षण सौंदर्य दिखलाई दिया। उसने पुरु को मुक्त कर दिया। एक की असफलता ने दूसरी की सफलता पर पानी फेर दिया।

अंतिम गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त विपत्ति के बादलों से घिरे हुए सिंहासन पर बैठे। ख़ूब लड़े। विपत्तियों की तृण भर भी परवाह न की, कभी-कभी लड़ते लड़ते उनको ज़मीन पर सोना पड़ता था। इतने पर भी उनको हूण-युद्ध में असफलता मिली। गुप्त साम्राज्य की विचलित कुल लक्ष्मी को एक ठेस लगी और सदियों का बना साम्राज्य ढेर हो गया। पर क्या इस असफलता में भी स्कन्दगुप्त की एक विलक्षण सफलता नहीं दीख पड़ती? साम्राज्य नष्ट होने के तो बहुत से बाहरी और भीतरी कारण हो सकते हैं। पर स्कंदगुप्त ने अपनी ओर से साम्राज्य को बचाने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। चींटियों की तरह लाखों हूणों को रोकना असंभव था। हूणों में विलक्षण बल और उत्साह था, इसी से स्कंदगुप्त हारे। पर इसी हार ने स्कंदगुप्त के गुण सब पर विदित कर दिये। इसी असफलता ने यह दिखला दिया कि आपत्तियों से घिरे रह कर भी एक महापुरुष कैसे बिखरती हुई राजशक्ति को सदुपायों से रोके रह सकता है। स्कन्दगुप्त की असफलता का यही संदेश है। और इसी संदेश को लेकर यशोवर्धन और बालादित्य ने हूणों का थोड़े ही समय में मूलोच्छेद कर दिया। क्या फिर भी हम कह सकते हैं कि स्कन्दगुप्त की असफलता में असफता का अंश नहीं था?

इतिहास में ऐसे असफल प्रयोगों में एक विलक्षण करुणा और वीरता की छाप लगी रहती है जो सफल प्रयोगों से कहीं अधिक प्रभावशाली होती है। अधिकतर इतिहास में यह देखा गया है कि सफल राजाओं के पास ऐसे साधन होते हैं, उनको संयोग से ऐसे मंत्री और सेना भी मिल जाते हैं कि सफलता उनके सदुपयोग से राजा की चेरी बनी रहती है। पर ज़रा इन असफल राजाओं की ओर देखिए जो अकेले जनसमुदाय के विरोध को सहते हुए भी अपने विचार पर दृढ़ रहते हैं? अपने प्रियों को वे एक-एक कर आँखों के सामने कट जाते देखते हैं, उनका हृदय रोता है, राज्य का विस्तार क्षण-क्षण में कम ही होता जाता है, उनको यह भलीभाँति विदित होता है कि विजय की आशा मृगमरीचिका की भाँति है, फिर भी वे मैदान में डटे रहते हैं। उनके

शरीर की धज्जियाँ उड़कर पंचभूतों में मिल जाती हैं। इतिहास में वे असफल पागल कहे जा
हैं ; पर क्या उनके सिद्धान्त व्यर्थ जाते हैं ? नहीं। उनको तो आत्मविश्वास रहता है कि कभी
कभी उनका प्रयोग सफल होगा ही, क्योंकि कालोत्ययं नि निखधिर्विपुला च पृथ्वी, उनके हृद
में यह बात बैठ-सी जाती है। भविष्य में उनका कोई समानधर्मा होगा जो उनके असफल उद्यो
को समझेगा।

राजपूत इतिहास के पन्ने उलटिए। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजपूत असफल रहे। इस
लिए कि वे एक साथ नहीं लड़ सकते थे। उनकी युद्ध-क्रिया समय के पीछे थी। मुसलमानों
उनको बारबार हार खानी पड़ी। पर राणाप्रताप को ही लीजिए। वे हारे। मुगलों ने उनका पीछ
वन-वन, पहाड़ियों-पहाड़ियों में किया। हिंसक पशु के पीछे लगे हुए शिकारियों की तरह उन
दशा थी। रात में न सोना मिलता था न दिन में चैन। पर फिर भी वह डटे रहे। अन्तिम सम
तक अकबर की सत्ता स्वीकार नहीं की। इतिहास कह सकता है कि वे असफल रहे, क्यों
युद्ध में जीते नहीं, पर मनुष्यता पुकार पुकारकर कहती है कि जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए अप
सुखों को लात मार दी, वन-वन भटके फिरे, जिनके पास न खाने को अन्न न पहिने को व
रहा हो, ऐसे वीर उस सफल वीरों से लाख गुने अच्छे हैं जो फौजों से घिरे रह कर क्षण-भर
एक स्वतंत्र देश की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं। अगर आज-दिन उस असफलता
सफलता की रेख न होती तो उदयपुर के राणा हिन्दू-कुल-सूर्य न कहे जाते। अकबर की फौज
दुर्गाबाई को हरा दिया, पर इससे क्या उनका गोंडवाना के इतिहास में कम स्थान रहेगा ? उन्हें
लड़ते-लड़ते अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये। बस यही उनकी सफलता थी।

असफल जीवन में कभी-कभी एक विलक्षण वीरता का भाव होता है। अकबर ने
दरबार में दो राजपूतों से अपनी वीरता दिखलाने के लिए कहा—झट उन्होंने अपनी तलवारें म्य
से बाहर कीं और एक दूसरे पर टूट पड़े। क्षण भर में दोनों के दोनों ढेर हो गए। लोग
सकते हैं कि उनका यह प्रदर्शन असफल रहा। बहादुरी के मानी यह नहीं होते कि हम निर
मर जायँ। पर सोचने की बात है कि अगर उनका यह प्रयोग असफल रहता तो भला
दो मामूली सिपाहियों का नाम इतिहास में कैसे आता और अकबर के मुख से भी उ
लिये 'वाह-वाह' कैसे निकल पड़ता ? अमरसिंह राठौर ने शाहजहाँ के दरबार में गँवार शब्द सु
ही सुनाने वाले के दो टुकड़े कर दिए और घण्टों वे अकेले हाथ शाही फौज से लड़ते रहे। अ
में मारे गये। क्या वे असफल रहे ? क्या अपनी कुरबानी से यह आदर्श लोगों के सामने न
उपस्थित कर दिया कि अपमान का बदला यों लेना चाहिये ! धर्म के क्षेत्र में भी असफलता
महत्व दिखलाई देता है। अगर यह कहा जाय कि किसी बड़े आचार्य को उसके जीवन काल
सफलता मिली है तो यह ठीक नहीं, वे असफल हुए हैं और बार-बार उन्होंने कठिनाइयों
सामना करते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया है। उनके जीवन-काल की असफल
में ही भविष्य की सफलता छिपी हुई थी। ईसा ने उपदेश दिया, मनुष्यमात्र में एकता का
फूँका, प्रेम को प्रधानता दी, गाल के एक तरफ़ थप्पड़ खाने पर दूसरा गाल मोड़ देने की शि
दी, पर अपने जन्म में उनको सफलता न मिली। अपने उपदेशों का बदला उनको अपने
से चुकाना पड़ा। पर क्या कोई भी कह सकता है कि उनका जीवन असफल रहा ? बड़े-बड़े ध
सुधारक अगर असफलता से घबरा जाते तो शायद एक भी संसार का धर्म न चल सकत
बौद्ध या जैन धर्मानुयायी अगर उस समय के वैदिकों के डर से घबरा जाते और दृढ़तापूर्वक
उपदेशों का प्रचार न करते तो आज दिन इन धर्मों का लेशमात्र भी बाक़ी न बचता

सत्यता में सिद्धान्त को ही लेकर धर्म प्रचार नहीं हो सकता। उसके लिए पशु-बल तथा असफलता से न घबराने की आत्म-शक्ति भी चाहिए।

भारतवर्ष में तो भक्ति-मार्गवालों ने असफलता को सफलता की सीढ़ी बना लिया था। आत्मा परम पुरुष में अपना सर्वस्व अर्पण कर देने के लिए प्रस्तुत है पर इतने से ही तो वह अगम्य-लक्ष पर नहीं पहुँच सकता? इस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए महान् त्याग और भगवान् में दृढ़ भक्ति की आवश्यकता होती है। सूरदास की तरह नित्यप्रति रटना पड़ता है—'भरो सो इन दृढ़ चरनन करो।' इसी भरोसे से किसी-न-किसी दिन उनके दर्शन या झलक मिल जाती है पर असफलता मिलने से भक्त ज़रा भी नहीं घबराता प्रत्युत उसका हृदय और भी व्याकुल होकर द्विगुण उत्साह से उसकी खोज में संलग्न हो जाता है और कविता का एक अपूर्व प्रवाह बहने लगता है। इस प्रवाह में भाव-विश्लेषण नहीं होता, न किसी वस्तु विशेष का वर्णन ही होता है। इसमें होता है केवल उपालम्भ या करुणोत्पादक दीनता, जिनसे प्रेरित होकर भगवान् धीरे-धीरे निकट आते हैं। ब्रजभाषा की सर्वश्रेष्ठ कविताएँ इसी असफलता से प्रेरित होकर निकली हैं। मीराबाई में निराशा ने इस असफलता का अच्छा उदाहरण पेश किया है। बादल चमक रहा है, बिजली कौंध रही है, मालूम होता है, इसी कारण नन्दनन्दन मेरे पास नहीं आये। और तो कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता क्योंकि मीरा ने तो डण्डे की चोट पर गोविन्द को मोल ले लिया था—

'माई रे मैं तो गोविंदों लीनो मोल!'

फिर मिलन में मीरा को असफलता क्यों? मीरा झट आप-ही-आप जवाब देती है। उसके अन्तस्थल से कविता का प्रवाह झर-झराकर बहने लगता है, वह गाती है—

> नँदनंदन बिलमाई, बदराने घेरि आई,
> इत घन बरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई।
> उमड़-घुमड़ चहुँदिसि आया, पवन चलै पुरवाई,
> दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुनाई।
> मीरा के प्रभु गिरिधर नागर चरण कँवल चितलाई॥

उसके प्रभु इसलिए नहीं आये कि वे उससे नाराज़ हैं, पर इसलिए कि पानी बरस रहा है, आने में तकलीफ़ होगी। और फिर न भी आये तो क्या, मीरा का चित्त तो उन्हीं चरणों में लगा है।

संसार में चारों ओर असफलता का राज्य देखकर पद्माकर ने भी पुकारा। निराशा और असफलता के निविड़ अन्धकार में उसे आलोक दिखलाई दिया। उसे विश्वास हो गया कि सफलता मिलेगी। उनकी इस संबन्ध में उक्ति सुनिये—

> प्रलय पयोनिधि लों लहरैं उठन लागी लहरा त्यों उठन लागे पौन पुरवैया को,
> भार भरी झाँझरी बिलोके मझधार पड़ी धीर न धरात पद्माकर खिवैया को।
> कहाँ आर कहाँ पार सूझत न ओर छोर कोई ना दिखात है रखैया मेरी नैया को,
> बहन न पैहैं घेरि घाट ही लगैहैं ऐसो अमित भरोसो मोको मेरे रघुरैया को।

अगर असफलता ऐसे भावों का उद्रेक कर सकती है, तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह हज़ारों सफलताओं से कहीं बढ़कर है।

कला या यों कहिये मूर्ति और चित्रकलाएँ भी इसी नियम के अन्तर्गत हैं। शाक्त वातावरण, राजकृपा अथवा और किसी विशिष्ट कारण से कला चमक उठती है, सुन्दर चित्र, भावमयी मूर्तियाँ बनने लगती है। फिर ऐसा युग आता है कि लोगों का जोश ठंढा पड़ जाता है और कला में न्यूनता बोध होने लगती है; चित्र अपने प्राथमिक अवस्था पर आने लगते हैं, मूर्तियाँ सौंदर्य-हीन हो जाती हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये असफल कृतियाँ हैं इसलिए कि वे आनेवाले युग के लिए ज़मीन तैयार करने में लगी हैं। पुराने खंडहरों को जैसे बराबर करके नई इमारत बनाई जाती है उसी प्रकार प्राचीन कला की भग्नावशेष अनुश्रुतियों को बराबर करके, नये सिद्धान्तों को लेकर, आनेवाली कला की भित्ति खड़ी होती है। क्या खँड़हर बराबर करनेवाले और नींव भरनेवाले असफल कहे जा सकते हैं? चित्र-विद्या-विशारद कोहारों को नीची दृष्टि से देखते हैं और उसकी कारीगरी को कोहारी हाथ कहते हैं। पर उससे वे असफल नहीं कहे जा सकते क्योंकि अच्छे चित्रकारों की कृतियाँ तो हम लोग देखते हैं, जन-साधारण की रुचि तो कोहारों से ही बनती है; वे उन्हीं के चित्रों को देखकर प्रसन्न होते हैं। जिस वस्तु से लोगों में रसोत्पत्ति हो वह असफल कैसी। बंगाल के आधुनिक चित्रकारों के प्रति लोगों का कथन है कि उनके चित्रों में प्रमाण की कमी है। पर किस कला की आधुनिक अवस्था में प्रमाण की कमी नहीं है? उनकी सफलता तो इसमें है कि उन्होंने पुराने खंडहर पर नई इमारत बनाई, अब उसका अलंकरण दूसरों पर मुनहसर है।

नारदजी की कैलास-यात्रा

[स्व० सुब्रह्मण्य भारती]

नारदजी कैलास पधारे। नन्दिकेश्वरजी ने उनसे कहा—नारदजी, अब शिवजी से मिलने का यह मौक़ा नहीं है। भगवान् देवी के साथ बातें कर रहे हैं और एक पहर बाद ही उनके दर्शन हो सकते हैं। ज़रा देर बैठकर कोई नई बात सुनाइये।

नारदजी उनकी दाईं ओर बैठ गये। इतने में गणेशजी भी आ पहुँचे।

एक भूत को, जो पास ही खड़ा था, नन्दिकेश्वरजी ने आज्ञा दी—तीस गाड़ी भर मोदक, तीन सौ घड़े भर खीर और एक गाड़ी भर पान सुपारी जल्दी लाओ।

एक क्षण में भूत सब चीज़ें लेकर उपस्थित हुआ। गणेशजी ज़रा आराम करने लगे। नारदजी ने एक मोदक खाया और आधा कटोरा पानी पिया। नन्दीजी पास पड़े हुए दो बोरे रुई के बीज, दो बोरे दाने, दो बोरे उड़द और दो-तीन गट्ठे हरी-हरी घास—इतनी चीज़ें एक तिनके की तरह हड़प गये और थोड़ा-सा पानी पीकर बैठ गये।

अब बातचीत शुरू हुई।

गणेशजी ने पूछा—कैसे पधारे, महाराज! अभी हाल में किसी के कान तो नहीं काटे? कोई झगड़ा तो नहीं मचा?

नारद ने कहा—नहीं स्वामी, मैं अब उस काम को छोड़ देनेवाला हूँ। देव और असुरों में झगड़ा खड़ा करने का काम क़रीब-क़रीब बन्द है। मनुष्यों में ही थोड़ा बहुत चल रहा है।

गणेशजी—हाल की कोई घटना सुनाइये।

नारद—विपुप्पुरम् में एक सेठ है, बड़ा ही मक्खीचूस। तंजाबूर में एक शास्त्री है, बड़ा ही घमण्डी। मैंने सोचा, सेठ का ख़र्च बढ़ा दिया जाय और ब्राह्मण का घमण्ड टूट जाय। छः महीने पहले मैंने यह बात सोची थी। कल ही मामला ख़त्म हुआ। पहले, ब्राह्मण को विपुप्पुरम् लिवा लाया।

गणेशजी—कैसे?

नारद—सेठ के स्वप्न में जाकर कहा कि 'तंजाबूर में फलाँ गली में फलाँ नाम के एक शास्त्री हैं उन्हें बुलाकर अनुष्ठान कराओ तो तुम्हें बच्चा पैदा होगा।' वैसे ही ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि सेठ के पास जाओ तो तुम्हें बहुत-सा धन मिलेगा और तुम्हारे नाम का ढिंढोरा

पिट जायगी।' सेठ के ख़त लिखने के पहले ही ब्राह्मण विपुरपुरम् में सेठ के घर आ पहुँचा। सेठ की सन्तान-प्राप्ति के लिए उसने हवन शुरू कर दिया। ब्राह्मण ने ज़्यादा पैसा माँगा। सेठ ने आधे में ही हवन को बन्द करा दिया और ब्राह्मण को घर जाने के लिए कह दिया।

पास की गली में एक ठाकुर रहता था। उसने ब्राह्मण से प्रार्थना की कि शास्त्रीजी महाराज, आप एक साल तक मेरे यहाँ ठहरकर मुझे भगवद्गीता सुनाने की कृपा कीजिये। इस ठाकुर और सेठ का पहले से ही मनमुटाव था। ठाकुर ने सेठ पर नालिश की थी कि सेठ ने तीस हज़ार अशर्फ़ियाँ उधार ली थीं। बाद में पूछने पर उसने कह दिया कि उधार चुका दिया गया। सेठ पर विश्वास होने के कारण उसकी सही न ली गई थी। अदालत में फ़ैसला हो गया कि सेठ के पक्ष में पैसा चुकता होने का कोई ठीक आधार नहीं मिलता इसलिए ठाकुर को उधार ख़र्च सहित चुकाया जाय।

एक दिन एक किसान जो सेठ के खेत में काम कर रहा था उसके पास शराब के लिए पैसा माँगने आया। उसने सेठ से कहा—सुना, सेठ साहब! मेरी स्त्री एक दिन कह रही थी—उस दिन काली माई का आवेश हुआ था तो उसने कहा कि सेठ पर कोई ब्राह्मण टोना करनेवाला है। सेठ ने सोचा—यह वही तंजावूरवाला ब्राह्मण होगा, और हो सकता है कि ठाकुर के घर बैठा वही मुझ पर टोना करता हो। इसीलिए तो अदालत में ठाकुर की जीत हुई और मेरी हार।

ठाकुर के घर में वह और ब्राह्मण क्या-क्या बातें कर रहे हैं यह जानने के लिए सेठ ने एक जासूस तैनात किया और उसको तीन अशर्फ़ियाँ देना तय हुआ। जब जासूस ठाकुर के यहाँ गया, तो वहाँ वेदान्त की चर्चा हो रही थी। ब्राह्मण कह रहा था—ब्रह्म ही सत्य है; बाक़ी सब जादू है।

जासूस यह सुनकर सेठ के पास आकर बोला—महाराज, वे लोग आप पर जादू चलाने की बातें कर रहे हैं।

सेठ ने पूछा—तुम क़सम खाकर कह सकते हो?

भेदिये ने कहा—क्यों नहीं? मैंने ब्राह्मण के मुँह से 'जादू' शब्द को निकलते हुए अपने कानों सुना था। अगर मेरी बात झूठ हो, तो मेरी स्त्री ने जो क़र्ज़ लिए हैं, उन्हें गणेशजी चुकावेंगे।

नारदजी इस प्रकार कहे जा रहे थे कि बीच में गणेशजी बोल उठे—अरे दुष्ट! उसकी स्त्री के क़र्ज़ मैं चुकाऊँ! अच्छा, मैं इसके लिए प्रबन्ध करूँगा।

फिर नारद ने कहा—

उस जासूस की बात पर सेठ को विश्वास हो गया और उसने निश्चय किया कि किसी तरह अपने दुश्मन और उसके दोस्त ब्राह्मण के दाँत खट्टे करना ज़रूरी है। उसने एक चोर को बुलाकर पेशगी के तौर पर सौ अशर्फ़ियाँ दीं और कहा—तुम उस ठाकुर के घर में चोरी करो और उस ब्राह्मण की चोटी काटकर हमें ला दो।

अब तक सेठ के गन्दे कपड़े और बदसूरती को देखकर चोर समझ रहा था कि वह ग़रीब है। पर जब उसने सेठ से एक सौ अशर्फ़ियाँ पाईं, तो वह समझ गया कि यह कोई बड़ा भारी धनी है। बस अब क्या था, दूसरे ही दिन रात को सेठ के घर में चार चोर घुसे और उसका सब माल-मता उठा ले गये।

सेठ से जो धन पाया था, उसके बदले में कुछ-न-कुछ उसे देना था। इसलिए चोर ने

ब्राह्मण की चोटी काटकर सेठ को ला दी। उस चोटी को सेठ ने अपनी उसी पेटी में, जिसमें से सोने की अशर्फ़ियों की चोरी हो गई, बन्द कर बड़ी हिफ़ाज़त के साथ रख लिया। ब्राह्मण का गर्व दूर हुआ और उसने रातोरात, बिना किसी से कहे-सुने, तंजावूर की राह ली। अगले दिन वह घर पहुँचा और रो रहा था कि—हा दैव! मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है, फिर भी न जाने क्यों मुझे यह अपमान सहना पड़ा? तब मैं एक भिखारी के वेष में सड़क पर यों गाता आया—

> 'विद्या-निधि अपने को समझा, गर्वित होकर तुमने।
> विद्याहीन भले पुरुषों को, खूब छकाया तुमने॥'

नारदजी इस प्रकार बोलते गये कि बीच में नन्दिकेश्वर ने पूछा—क्योंजी, यह बात सच है या कल्पित?

नारद ने कहा—कल्पित ही है।

गणेशजी क्रुद्ध होकर बोले—वाह! आप तो ऐसे कह रहे थे मानो कोई सच्ची घटना हुई हो! मैं, इस ख़्याल से कि यह एक सच्ची घटना है, आपकी कहानी तब से कान देकर सुन रहा हूँ। यह आप क्या दिल्लगी कर रहे हैं?

नारद—दिल्लगी नहीं जी, यों ही एक झूठी कहानी कह दी।

गणेशजी—क्यों?

नारद—नन्दिकेश्वरजी ने समय काटने के लिए एक कहानी सुनना चाहा; आपने जो पूछा था—उसे भी उसमें शामिल कर लिया।

गणेशजी नाराज़ होकर बोले—मेरे प्रश्न को खेल समझकर आपने नन्दी को ख़ुश किया। एँ, क्यों नन्दी, यह कैसी बात है? मालिक का बेटा मैं हूँ या तुम?

नन्दीजी ने मुँह बनाते हुए कहा—गणेश तुम्हें कितने भी मोदक दें, कभी याद नहीं रहती। द्वारपाल का काम मेरा है। तुम्हें और कोई काम न हो तो काम में डटे हुए लोगों की खोपड़ी क्यों खा जाते हो? कुमारजी कभी ऐसा काम नहीं करते। इसीसे तो देवीजी उन पर हमेशा प्रसन्न रहती हैं। इसी में कुशल है कि तुम अभी यहाँ से चले जाओ। नहीं तो देवीजी से कह दूँगा।

तब नारद हँसते हुए बोले—देवों में झगड़ा मचाने का काम मैंने एक दम बंद नहीं कर दिया है।

गणेश और नन्दी लज्जित हुए और नारद के सिर पर योंही हँसी में दो मुक्के मारे।

नारदजी ने हँसकर कहा—कल सवेरे बृहस्पति भगवान् से बातें कर रहा था। उन्होंने कहा था कि आज मेरे जन्म-नक्षत्र में उनका ग्रह प्रवेश करता है और उसके फलस्वरूप नन्दी और गणेश मेरे सिर पर मुक्के मारेंगे। मैंने कहा—आपका यह ग्रह-बल मेरा बाल बाँका नहीं कर सकता। यह शर्त ठहरी कि अगर आप दोनों मुझ पर मुक्का जमा दें तो मैं उनके पास से दस हज़ार पंचांग मोल लूँ और न हो तो मेरे लिए देव-लोक में छः संगीत-सभाओं का आयोजन वह करें। अब उन्हीं की जीत हुई। दस हज़ार पंचांग मोल लेने हैं।

गणेशजी को दया आई और उन्होंने पूछा—दस हज़ार पंचांगों का दाम क्या होगा?

नारद ने कहा—यही, बीस हज़ार अशर्फ़ियाँ होंगी।

गणेशजी ने नारद को बीस हज़ार अशर्फ़ियाँ देने के लिए एक भूत को आज्ञा दी। भूत ने ख़ज़ाने से अशर्फ़ियाँ लाकर नारद को दीं और गणेशजी के धर्मखाते हिसाब लिख दिया।

तब गणेशजी ने नारद से पूछा—यह शर्त की बात सच है या यह भी झूठ?

झूठी ही तो है!—कहते हुए नारदजी अशर्फ़ियों की गठरी वहीं पटककर नौ-दो ग्यारह हुए।

मूल तमिष से का० श्री० श्रीनिवासाचार्य द्वारा अनूदित।
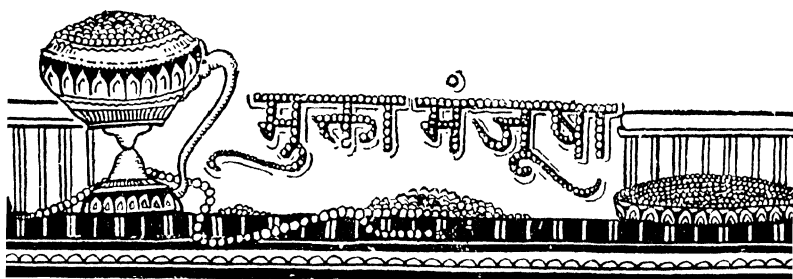
हिन्दी

जीवन का व्यवसाय

इस स्तम्भ में हम पहले भी कई बार श्रीमती महादेवी वर्मा के 'चाँद' में प्रकाशित अग्रलेखों से उद्धरण दे चुके हैं। श्रीमती वर्मा के शब्दों का मूल्य तो पाठक ही आँकें, हमें तो लगता है कि वे अमूल्य हैं। 'अपनी बात' स्तम्भ के अन्तर्गत जून, १९३७ के 'चाँद' में आपका लेख 'जीवन का व्यवसाय' प्रकाशित हुआ है। श्रीमती वर्मा ने अपने इस लेख में वेश्यावृत्ति का विवेचन किया है। पूरा लेख ही विचारों की एक सुन्दर माला है। उसका अधिकांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं। पूरा लेख अभी छपा नहीं है। अगले अंक में हम उसमें से और भी उद्धरण पाठकों सम्मुख रखेंगे। आशा है यह उद्धरण पाठकों को विचारोत्तेजक भोजन प्रदान करेगा—

'आदिम युग से ही स्त्री ने पशुबल में अपने आपको पुरुष से दुर्बल पाया। प्रकृति ने केवल उसके शरीर को ही अधिक सुकुमार नहीं बनाया वरन् उसे मनुष्य की जननी का पद देकर उसके हृदय में अधिक समवेदना, आँखों में अधिक आर्द्रता तथा स्वभाव में अधिक कोमलता भर दी। मातृत्व के कारण उसके जीवन का अंश संघर्ष से भरे विश्व के एक छिपे कोने में बीतता रहा। पुरुष चाहे उसे युद्ध में जीत कर लाया, चाहे अपहरण कर, चाहे उसकी इच्छा से उसे प्राप्त कर सका; चाहे अनिच्छा से; परन्तु उसने प्रत्येक दशा में स्त्री को अपनी भावुकता का अर्घ्य देकर पूजा। स्त्री भी नारियल के कड़े छिलके के भीतर छिपे जल के समान पुरुष की बाह्य कठोरता के भीतर छिपी स्निग्ध प्रवृत्ति का पता पा गई थी। अतः उसने सारी शक्ति केवल उसकी कोमल भावना को जगाने में लगा दी। उसने न अपनी भुजाओं में शक्ति भरने और उस शक्ति के प्रदर्शन से पुरुष को चमत्कृत करने का प्रयत्न किया और न अपनी विद्याबुद्धि से पुरुष को पराजित करने का विचार किया। वह जानती थी कि इन गुणों के प्रदर्शन से पुरुष में प्रतिद्वन्द्विता की भावना जागेगी परन्तु वह पराजित होने पर भी वशीभूत न हो सकेगा, प्रतिद्वन्द्वियों की हार-जीत में किसी प्रकार का भी आत्म-समर्पण सम्भव नहीं।

'इसी से आदिम युग की नारी ने निरर्थक प्रतिद्वन्द्विता का भाव न रख कर अपने केशों में फूल उलझाये, कानों में कलियों के गुच्छे सजाये और अपने सम्पूर्ण स्त्रीत्व के बल पर उसने बर्बर पुरुष को चुनौती दी। उस युग का कठोर पुरुष भी कोमल स्त्रीत्व के सम्मुख कुण्ठित हो उठा। तब से न जाने कितने युग आये और चले गये, कितने परिवर्तन पुराने होकर नए परिवर्तनों को स्थान दे गये परन्तु स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्ध में जो तब सत्य था वह अब भी सत्य है। स्त्री ने न शारीरिक बल से और न विद्याबुद्धि से पुरुष को जीता परन्तु फिर भी जय उसी की रही। क्योंकि पुरुष ने अपने नीरस जीवन को सरस बनाने के लिए उसकी मधुरता खोजी और उसका अधिक-से-अधिक मूल्य दिया।

'परन्तु नारी के कर्तव्य की चरम सीमा उसके प्रेयसी होने ही में समाप्त नहीं होती; उस पर मातृत्व का गुरु भार भी है। धीरे-धीरे वह सन्तान की असीम वात्सल्यमयी जननी बनकर, पुरुष को आकर्षित करनेवाली रमणी सुलभ विशेषताओं को भूलने लगी। उसके स्त्रीत्व के विकास तथा व्यक्तित्व के विकास तथा व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए सन्तान साध्य है और रमणीत्व साधन मात्र। इसीलिए प्रत्येक रमणी माता बन कर एक परिवर्तित व्यक्ति बन जाती है। यह सत्य है कि प्रत्येक रमणी मातृत्व का अंकुर छुपाये हुए है, परन्तु यह संशयात्मक है कि प्रत्येक पूर्ण माता रमणीत्व से शून्य नहीं।

'वास्तव में माता होकर उसकी इच्छा, भावना तथा चेष्टा में ऐसा परिवर्तन हो जाता है जो सूक्ष्म होकर भी स्पष्ट है और सीमित होकर भी जीवन भर में व्यापक है। जब स्त्री प्रेयसी से पत्नी तथा पत्नी से माता के रूप में परिवर्तित हो गई तब उसके प्रति विशेष कर्तव्य के बन्धन में बँधे हुए पुरुष ने देखा तथा अनुभव किया कि वह स्त्री से अधिक महान् हो जाने के कारण क्रीड़ा की वस्तु मात्र नहीं रह गई। पुरुष ने स्त्री के मातृ-रूप के सम्मुख मस्तक झुकाया, उस पर हृदय की अतुल श्रद्धा चढ़ाई अवश्य, परन्तु पूजा-अर्चा से उसके अन्तस्तल की प्यास न बुझी। उसे ऐसी स्त्री की भी कामना रही जो केवल मनोविनोद और क्रीड़ा के लिए होती, जो जीवन के आदि से अन्त तक केवल प्रेयसी ही बनी रह सकती और जिसके प्रति पुरुष कर्तव्य के कठोर बन्धन में न बँधा होता। पुरुष की इसी इच्छा का परिणाम हमारे यहाँ की वार-वनिताएँ हैं, जिन्हें जीवन भर केवल स्त्री और प्रेयसी ही बना रहना होता है।

'उनके जीवन का विकास एकाङ्गी होता है। उनके हृदय की कल्याणमयी सुकोमल भावनाएँ प्रायः सुप्त ही रहती हैं और उनकी जीवनी शक्ति प्रकाश देने तथा जगत् में उपयोगी काय करनेवाली विद्युत् न होकर ऐसी विद्युत् होती है जिसका पतन वृक्षों के पतन का पूर्वगामी बन जाता है।

'उनके मन तथा शरीर दोनों को नित्य नवीन ही बने रहने का अभिशाप मिला है। उनके नारीत्व को दूसरों के मनोरञ्जन मात्र का ध्येय मिला है तथा उनके जीवन का तितली जैसे कच्चे रङ्गों से शृंगार हुआ है, जिसमें मोहकता थी, परन्तु स्थायित्व नहीं। वह संसार का विकृत प्राणी मानकर दूर रखी गई। परन्तु विनोद के समय आवश्यक भी समझी गई। जैसे मनुष्य-समाज हानि पहुँचानेवाले पवित्र पशु-पक्षियों को भी मनोरञ्जन के लिए कठघरों में सुरक्षित रखता है।

'पुरुष ने ऐसी, केवल मनोरंजन के लिए जीवित रहनेवाली, नारी के प्रेयसी भाव को और अधिक मधुर बनाने के लिए उसे भावोद्दीपक कलाओं की आराधना का अधिकार दिया। ऐसे अस्त्रों से सुसज्जित होकर वह और भी दुर्जेय हो उठी। उसने फूल जैसे हल्के चरणों से देवता के सम्मुख तन्मयता भरा लास दिखाया, कोकिल से मीठे स्वरों में बँधे संगीत से मानव समुदाय को बेसुध करना सीखा तथा पुरुष की दुर्बल सुप्त प्रवृत्तियों को जगाने का अधिक-से-अधिक मूल्य माँगा और पाया। पुरुष ने उसे अपने कल्याण के लिए नहीं स्वीकार किया, वरन् बाह्य संसार के संघर्ष तथा शुष्कता से क्षण भर अवकाश पाने के लिए मदिरा के समान उसके साहचर्य्य का उपयोग किया। प्रश्न हो सकता है कि क्या स्त्री पत्नी के रूप में पुरुष के संघर्षमय जीवन को अधिक सरल और सह्य न बना सकती थी? अवश्य ही बना सकती थी और बनाती रही है, परन्तु वह माता होकर जो स्निग्ध स्नेह दे सकती है वह उत्तेजक नहीं है। और प्रायः पुरुष ऐसी उत्तेजना चाहता था, जिससे वह कुछ क्षणों के लिए संज्ञाशून्य-सा हो जावे।

'गङ्गाजल मदिरा से अधिक कल्याणकारक तथा पवित्र है, परन्तु कोई भी अपने

आपको भूलने की इच्छा रखनेवाला उसकी पवित्रता पर ध्यान न देगा। स्त्री पत्नी बनकर पुरुष को वह नहीं दे सकती जो उसकी पशुता का भोजन है। इसीसे पुरुष ने कुछ सौन्दर्य की प्रतिमाओं को पत्नीत्व तथा मातृत्व से निर्वासित कर दिया। वह स्वर्ग में अप्सरा बनी और पृथ्वी पर वाराङ्गना बनी। राजकार्य से ऊबे हुए भूपालों की सभाएँ उससे सुसज्जित हुईं, युद्ध में प्राण देने जानेवाले वीरों ने तलवारों की झनझनाहट सुनने के पहले उसके नूपुरों की रुनझुन सुनी, अति विश्राम से शिथिल लक्ष्मी के कृपा-पात्रों के प्राण उसकी स्वरलहरी की कम्पन से कम्पित हुए और कर्तव्य के दृढ़ बन्धन में बँधी गृहिणी उसके अक्षय व्यावसायिक स्त्रीत्व के आकर्षण से सशङ्कित हो उठी। आँधी के समान उसका स्त्रीत्व बादल की छवि लेकर आया परन्तु ध्वंस तथा धूल छोड़कर अज्ञात दिशा में बढ़ गया।

'पुरुष के लिए वह आदिम युग की बन्धनहीन, कर्तव्य के ज्ञान से शून्य तथा समाज रहित नारी-मात्र रही। पुरुष को आकर्षित करना उसका ध्येय तथा पराभूत करना उसकी कामना रही। मनुष्य में जो एक पशुता का, बर्बरता का अक्षय अंश है उसने सर्वदा ऐसी ही नारी की इच्छा की। इसीसे ऐसी रूप-व्यवसायिनी स्त्री की उपस्थिति सब युगों में सम्भव रही। स्त्री के विकास या उसकी शक्तियों के विस्तार के लिए ऐसा जीवन कितना आवश्यक या उपयुक्त है, इस पर पुरुष ने प्रायः विचार नहीं किया। विचार करने की उसे आवश्यकता भी नहीं थी। उसके पास त्याग, बलिदान तथा आत्मसमर्पण का मर्म जाननेवाली एक पत्नी थी ही। माता और बहिन के स्नेह से भी उसके प्राण स्निग्ध थे। फिर वह इस रूप की हाट में उत्तेजना बेचनेवाली कलामयी नारी के हृदय की भूख क्योंकर समझता; उसे भी अपनी पूर्णता के लिए सौन्दर्य के विक्रय के अतिरिक्त और कुछ चाहिए, यह कैसे मान लेता। यदि यह रूपसी भी माता बनकर वात्सल्य का वितरण करने लगती तो फिर पुरुष नारी का केवल प्रेयसी रूप कहाँ और किसमें देखता, उत्तेजना की मदिरा कहाँ और कैसे पाता!

'उसने कहीं इस स्त्री को देवता की दासी बनाकर पवित्रता का स्वाँग भरा, कहीं मन्दिर में नृत्य कराकर कला की दुहाई दी और कहीं केवल अपने मनोविनोद की वस्तु-मात्र बनाकर अपने विचार में गुण-ग्राहकता ही दिखाई।

'यदि स्त्री की ओर से देखा जाय तो निश्चय ही देखनेवाला काँप उठेगा। उसके हृदय में प्यास है, परन्तु उसे भाग्य ने मृगमरीचिका में निर्वासित कर दिया है। उसे जीवन भर आदि से अन्त तक सौन्दर्य की हाट लगानी पड़ी, अपने हृदय की सारी कोमल भावनाओं को कुचलकर, सारी आत्मसमर्पण की इच्छाओं का गला घोंटकर रूप का क्रय-विक्रय करना पड़ा—और अन्त में उसके हाथ आया निराश, हताश, एकाकी अन्त।

'उसने क्या खोया और क्या पाया, इसका विचार करने का संसार ने उसे अवकाश ही न दिया और यदि देता भी तो सम्भव है वह तब अपना हानि-लाभ जानने की बुद्धि नहीं रखती। जीवन की एक विशेष अवस्था तक संसार उसे चाटुकारी से मुग्ध करता रहता है, झूठी प्रशंसा की मदिरा से उन्मत्त करता रहता है, उसके सौन्दर्य-दीप पर शलभ-सा मँडराता रहता है, परन्तु उस मादकता के अन्त में, उस बाढ़ के उतर जाने पर उसकी ओर कोई सहानुभूति भरे नेत्र भी नहीं उठाता। उस समय उसका तिरस्कृत स्त्रीत्व, उसके लोलुपों के द्वारा प्रशंसित रूप-वैभव का भग्नावशेष क्या उसके हृदय को किसी प्रकार की सान्त्वना भी दे सकते हैं! जिन परिस्थितियों ने उसका गृह-जीवन से बहिष्कार किया, जिन व्यक्तियों ने उसके काले भविष्य को सुनहले स्वप्नों से ढँका, जिन पुरुषों ने उसके नूपुरों की रुनझुन के साथ अपने हृदय के स्वर मिलाये और जिस समाज ने

उसे इस प्रकार हाट लगाने के लिए विवश तथा उत्साहित किया, वे सब क्या कभी उसके एकाकी अन्त का भार कम करने लौट सके ?

'यह सम्भव नहीं था कि उसने अपने सुनहरे दिनों के साथियों पर विश्वास न किया हो, उनके प्रत्येक वाक्य में सच्ची सदिच्छा न देखी हो, परन्तु उसके वे अनुभव अन्त में मिथ्या ही निकलते हैं।'

• • •

राजस्थान के लोक-गीत

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के अप्रैल १९३७ के अंक में उपर्युक्त शीर्षक से श्री सूर्यकरण पारीक का एक बड़ा ही सुन्दर और विचारपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। लेख बड़ा है। श्री पारीक ने राजस्थान के लोक-गीतों की चर्चा विस्तार से की है। लोक-गीतों की आज उपयोगिता क्या है, इस विषय में श्री पारीक के विचार देखिए—

'गीत-साहित्य के उद्धार और अध्ययन से वर्तमान युग में क्या लाभ हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। विकास के इस युग में जब हमारी आगे को बढ़ी हुई आकांक्षाएँ नया ज्ञान, नई भावनाएँ और नये मार्गों की ओर झुकी हुई हैं, तब प्राचीन काल के इन मुर्दा चित्रों और बासी संस्कृतियों को ग्रहण करने से क्या प्रयोजन ? पर विचार कर देखा जाय तो बात ऐसी नहीं है। व्यतीत काल के उन सरल, स्वाभाविक और निश्छल मनोभावों में हमें सत्यं, शिवं, सुन्दरं की अपार निधि मिलती है, जो समय की सीमा का उल्लंघन करती हुई स्थायी रूप में सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित है; जिसको सर्वथा त्याज्य समझकर ठुकरा देना अथवा भुला देना मूर्खता ही नहीं जातीय आत्मघात होगा।

'लोक-गीतों में व्यक्त जीवन कितना स्वस्थ, कितना स्वाभाविक, कितना सुन्दर, कितना निर्मल, पुष्ट और सजीव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। जिस काल के परिचायक ये गीत हैं, वह वास्तव में कितना मधुर और पूर्ण रहा होगा, यह कल्पना ही हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन की अनेक विषम जटिलताओं और संतापों का शमन कर सकती है। जिस काल में प्रत्येक समाज और व्यक्ति के दैनिक कार्यों में मधुर संगीत का आलाप ध्वनित होता था, वह काल वास्तव में स्वर्गीय काल था। गाँव में हमारी माताएँ और बहिनें आज भी ब्राह्म मुहूर्त में उठकर झाड़ू देती हुई, दूध दुहती और दही बिलोती हुई, गाय-भैंसों की सेवा करती हुई—गाती हैं। वे चक्की पीसती हुई गाती हैं, जलाशय अथवा कुएँ से जल लाती हुई गाती हैं। उनके गीतों में घरेलू जीवन के आदर्श प्रेम की भावनाएँ तरंगित होती हैं। स्त्रियाँ ही क्यों, हमारे गाँव के भाई भी किसी दैनिक कार्य को संगीत की लय के सहारे बिना नहीं करते। कुएँ से जल खींचते, हल चलाते, कपड़ा बुनते, मज़दूरी करते, खेत निराते, धान कटाते और खेत को जाते-आते गीत की टेर लगाते सुनाई देते हैं। गीतों का इतना घना सामंजस्य उनकी दिनचर्या में हुआ है। फिर पुत्रोत्पत्ति, षोडश-संस्कार, उपनयन, विवाह, त्यौहार, देवपूजा, ऋतुओं और पर्वों पर तो सुमधुर संगीत की सरिताएँ किनारों तक उतरा कर बहती हैं। भारतीय-जीवन और संस्कृति का संगीत के बिना कल्पना करना ही असंभव है। यह कहने से हमारा आशय यह नहीं है कि हमारा प्राचीन जीवन सब अंगों में सर्वोत्कृष्ट था और उस में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं थी। वह जैसी भी दशा में रहा हो, गीत उसके साथ छाया की तरह लगा था।'

• • •

चरित्र-चित्रण की कला

हिन्दी साहित्य में चरित्रों के लिखने की ओर लोगों का ध्यान नहीं है। परन्तु चरित्र-चित्रण भी साहित्य का एक आवश्यक अंग है। जून १९३७ की 'वीणा' में चरित्र-चित्रण पर एक सारगर्भित लेख प्रकाशित हुआ है जिसका कुछ अंश हम यहाँ देते हैं—

'जीवन-चरित्र लेखक के मार्ग में प्रथम और प्रमुख कठिनाई है मनुष्य की मृत्यु के विषय में धारणा। किसी क्रियावान् व्यक्ति की शारीरिक मृत्यु उसके आस-पास के लोगों के दिल पर इतना गहरा सदमा पहुँचा देती है कि उनके हृदय से उसके विषय की सारी बातें बदल जाती हैं। वह घर जहाँ उसकी आवाज़ और पद-ध्वनि गुञ्जित होती थी, और अब नहीं, वे किताबें, वह कुरसी, वह क़लम यहाँ तक कि प्रत्येक वस्तु जिससे मृत पहले सम्बन्धित था, उनके मन में एक करुण प्यार प्रवाहित कर देती है और परिणाम यह होता है कि उस व्यक्ति की प्रत्येक चीज़ में, प्रत्येक बात तथा प्रत्येक कार्य में श्रद्धा,आदर और पवित्रता झलकने लगती है। उसके विषय में तनिक भी ख़राब सोचना असभ्य प्रतीत होता है। ऐसे समय हमारे लेखक महोदय अपना काम शुरू करते हैं, और ज्योंही उन्होंने अपने चरित्रनायक के गुणावगुणों पर पूरा-पुरा प्रकाश डालने की कोशिश की, चारों ओर से उन पर 'निन्दा' की सृष्टि प्रारम्भ हो गई। मृत-व्यक्ति के सम्बन्धियों की श्रद्धा और प्यार शत् शत् धाराएँ होकर आग बनकर बरस पड़ते हैं। उन्हें यह तनिक भी सह्य नहीं कि उनका एक दिवंगत सम्बन्धी ऐसे अन्यायपूर्ण और हास्यास्पद ढंग से चित्रित किया जाय। फिर इन स्मृतियों पर 'रोमान्स' अपने रङ्ग बिखरा देता है। 'रोमान्स' और 'सत्य' में तो पुराना झगड़ा चला आता है और अधिकाधिक मनुष्यों को 'रोमान्स' से बहुत प्यार है। वे आदर्शवादिता चाहते हैं। इसीलिए जब तक आदमियों के दिमाग़ में यह बात नहीं बैठ जाती कि अगर कोई व्यक्ति इस क़ाबिल है कि उसके विषय में कुछ लिखा जाय तो वह इस क़ाबिल भी है कि जो कुछ लिखा जाय साफ़-साफ़, ठीक-ठीक और सच-सच हो, तब तक वह कला लेखकों के हाथ ग़ुलाम बनकर रहेगी। इससे उज्वलता की आशाएँ व्यर्थ हैं। समझ में नहीं आता कि लेखक इस बात पर विचार क्यों नहीं करते कि उनके चरित्र-नायक की क्या इच्छा है। शायद कोई भी व्यक्ति अपना 'रोमांटिक' चित्रण न चाहेगा। तब फिर सत्य और अनुपात की अवहेलना कर वे ज्योतिपूर्ण, गौरववान् और पूर्णरूपेण शक्तिवान् व्यक्तित्व प्रदर्शित करना क्यों पसन्द करते हैं, जब शक्ति और कमज़ोरी, महानता और लघुता मनुष्य के जीवन में निरपवाद निहित हैं? इन शब्दों का मतलब यह तनिक भी नहीं कि एक व्यंग चित्र-सा बन जाय जिसमें सफ़ेद और काले की सीमा का कोई निश्चित अनुपात ही न हो वरन् विरोधी बातों का आनुपातिक वृत्तान्त ऐच्छित है।

'दूसरी कठिनाई जो लेखक के सामने आती है वह है—किसकी जीवनी लिखी जाय और किसकी नहीं। अभी तक यह केवल प्रसिद्धि-प्राप्त मनुष्यों तक ही सीमित है, पर यह तो निरी अ-कलात्मक बात है। कुछ आदमी ऐसे हैं जिन्होंने काम के लिए नाम का बलिदान कर दिया है, जिन्होंने अपने जीवन की सारी संचित शक्ति कार्य की, चाहे वह कोई भी हो, पूर्ति में लगा दी है और अन्त में जिनके पास जीवन के सुचारु विकास के लिए कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। ऐसी विभूतियों का केवल ऐतिहासिक महत्व ही है और वे इतिहास की पुस्तकों में वर्णित करने योग्य भले ही हों जीवनी लिखने के विषय नहीं। अन्य कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जिन्होंने सभी दिशाओं में अपनी प्रतिभा का प्रकाशन किया है, किन्तु किसी एक ही कार्य में उल्लेखनीय सफलता नहीं पाई। ऐसे ही आदमियों ने दूसरों की नसों में उत्साह और जोश प्रवाहित किया है, उनके जीवन

पर अपनी अमिट छाप अंकित कर दी है। ऐसे ही लोगों के मुँह से आशाप्रद, उपदेशभरी, महान् संदेशयुक्त बातें निकली हैं, किंतु कठिनाई सिर्फ़ यही है कि कोई इन्हें लिख न सका अथवा अधिक साफ़-साफ़, किसी ने लिखने का प्रयत्न ही नहीं किया। ऐसे मनुष्यों की स्मृतियाँ तो युगों तक क़ायम रखने की चीज़ें हैं क्योंकि इन्होंने ही हमें वह सिखाया जिसकी हमें ज़रूरत है।

एक सफल चरित्र-लेखक के विषय में ये विचार अच्छे हैं—

'सच्चा चरित्र-लेखक अपने विषय को सत्यता से, आँखों से और कानों से खींचेगा। वह वही चित्रित करेगा, जिसे वह वास्तव में देखता है, वह नहीं जिसे वह सोचता है कि देखता है। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक नौसिखिया चित्रकार जो कुछ बनाता है उसे समझ-बूझकर बनाता है—उसके विषय में तर्क करके, उसके विषय में अपनी धारणा निश्चित करके। एक अनुभवी चित्रकार जैसी वस्तु देखता है वैसा ही उसका प्रतिरूप अङ्कित कर देगा। उसके लिए प्रतिरूप केवल रंगों का खेल है। यह तो हमारे विचार हैं, जो उस चित्र को देखकर अपनी धारणा तैयार करते हैं।'

मराठी

गत महीने में पूने के सोन्यामारुती के मामले ने बड़ा तूल पकड़ा था। सत्याग्रह में बड़े-बड़े लोगों ने भाग लिया। मंदिर की छोटी-सी घंटी बजाने का जन्मसिद्ध हक़ उन्हें चाहिए था। लोकशाही मन्त्रि-मंडल होते हुए भी वह न मिल सका।

हिंदू संस्कृति और हिंदुत्व का अभिमान रखने वाले बैरिस्टर सावरकर जिस मासिक के हमेशा के लेखक हैं उस 'किर्लोस्कर' मासिक के सम्पादकीय स्तम्भ में इस विषय का बड़ा ही विदारक विश्लेषण किया गया है। हम उसके आवश्यक अंश को नीचे उद्धृत करते हैं—

'भारत की इस स्थिति में कोई ग़ैर दाने फेंककर मुर्ग़ियाँ लड़ा रहा है इसमें शक नहीं। पर उपाय क्या है? लड़ मरें तो दाने फेकनेवाले की विजय होगी। न लड़ें तो प्रतिद्वन्दी मुर्ग़ी सर पर चढ़ बैठेगी। बड़ा कठिन पेंच है। दाना फेंकनेवाला धूर्त है। उसे दोनों मुर्ग़ियों से कुछ तो छिपाना है।...हम इस दाने की आशा में क्यों फँसे हैं? स्वराज्य न मिले तो हमारा काम चल सकता है लेकिन स्वधर्म की रक्षा करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं पर सोन्यामारुती ने बता दिया है कि ये दाने पुष्टिकर होने पर भी स्वराज्य मिले बिना अपने हाथ में न आयेंगे।...रूढ़ि और धर्म के परंपरागत हक़ को हम जन्मसिद्ध हक़ कह सकते हैं या नहीं? जिससे हम सुखसे ज़िंदा रह सकते हैं वे जन्मसिद्ध हक़ हैं।......पर हनुमानजी के मंदिर की घंटी बजाने का हक़, चौक बाज़ार में चाहे जितना चिल्लाने का हक़, बाज़ार के बीच में पीपल या वट के वृक्ष को क़ायम रखकर यातायात की असुविधा बनाये रखने का हक़, चार पैर का जानवर होने पर भी उसे पवित्र मानकर गाने बजाने के साथ उसकी बारात निकालने का हक़, और उसका मलमूत्र शरीर में मलने का हक़, अपने ही रक्त-मांस के लोगों को मंदिर प्रवेश निषिद्ध करने का हक़, इन्हीं सब बातों को हक़ कहना हो तो, तैरनेवाले को गले में पत्थर बाँधने का हक़, चलनेवाले को अपने पैर बाँध लेने का हक़, अपने साफ़ शरीर के कुछ भाग को तारकोल लगाने का हक़—इन्हें भी जन्मसिद्ध हक़ क्यों न कहा जाय?...ऐसे हक़ों के पीछे हम स्वराज्य के सवाल को कमज़ोर कर रहे हैं......'

[प्रमुख भारतीय भाषाओं की पुस्तकों की आलोचना 'हंस' में होती है ; किन्तु सभी भेजी हुई पुस्तकों की आलोचना अनिवार्य नहीं है । स्कूल और कॉलेज की पाठ्य-पुस्तकें, नोटिस, छोटे-छोटे पैम्फ़लेटों की आलोचना नहीं होती । समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों की पहुँच की सूचना नहीं दी जाती है और न उस विषय में कोई जवाबदेही ही हो सकती है। पुस्तकों की समालोचना की कोई प्रत्यालोचना प्रकाशित नहीं की जाती ।]

—सम्पादक, 'हंस'।

चार अध्याय—लेखक, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर । अनुवादक, श्री धन्यकुमार जैन । प्रकाशक, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन । मूल्य १॥) । पुस्तक सुगठित है और खूब स्वच्छ छपी है ।

'चार अध्याय' श्री रवीन्द्रनाथ की सबसे हाल की रचना है । उसमें चार अध्याय हैं । भूमिका को एक उप-अध्याय कहिए । भूमिका से पाठक के समक्ष दो पात्र उपस्थित होते हैं— इन्द्रनाथ और एला । दो ये और तीसरे अतीन । ये तीन ही पुस्तक के प्रमुख पात्र हैं । इन्द्रनाथ पुस्तक के पहले अध्याय को बनाकर फिर सूत्रधार के समान अधिकांश नेपथ्य में ही रहते हैं । मानो लेखक उनकी महिमा को अपनी आलोचना से छूना नहीं चाहते । तमाम पुस्तक में इन्द्रनाथ को किसी जगह भी पाठक के निकट नहीं किया गया है । मानो लेखक उन्हें ससंभ्रम अभ्यर्थना के साथ स्वीकार करते हैं । उनसे लेखक के मन की दूरी है । मानो उनके प्रति लेखक में रोमांस की भावना भी है । दूसरे पात्र अतीन और एला हैं जो लेखक की अपनी भावसृष्टियाँ हैं, उनके वश में हैं और जिनके द्वारा लेखक अपने मंतव्य का प्रभाव पाठक पर छोड़ना चाहते हैं ।

एला पहले पिता की छाया में फिर चाचा के घर पलती है । माता की कठोरता का पिता प्रतिकार नहीं करते । यह नहीं कहा जा सकता कि सह लेते हैं, क्योंकि यह कठोरता उन्हें छूती भी नहीं मालूम होती । एला को यह नहीं पचता । माता के देहान्त पर एला चाचा के घर आती है । उस घर की गृहिणी के लिए वह अभ्यर्थनीय नहीं है । वहीं से उसमें अपने बल पर इस दुनिया में रहने की इच्छा जागती है । तभी इन्द्रनाथ उसके जीवन में प्रवेश करते हैं । इन्द्रनाथ के व्यक्तित्व में सम्मोहन है, अधिकार है । उनकी वाणी में मानो एक दूरागत संदेश ध्वनित होता है । एला स्वल्प परिचय पर ही उनसे कह बैठती है—'मुझे आप अपना कोई काम नहीं दे सकते ?'

इंद्रनाथ ने एक नए हाईस्कूल के संचालन का काम बताया । पूछा—तैयार हो ?
एला इस विश्वास पर घबरा गई । क्या वह इतने के योग्य है ?
इन्द्रनाथ ने सुनाया—तुम नव युग की दूती हो, नव युग का आह्वान है तुम में ।
एला ने सुना । पर—

इन्द्रनाथ ने कहा—तुम समाज की नहीं हो, देश की हो।

एला ने भी प्रतिज्ञा की कि वह देश की है।

एला फिर परिवार से टूट जाती है। स्त्रियों के हृदय को थामे रखनेवाले और सूत्रों को भी समेटकर मानो उन सबको एक महाप्रयोजन के अर्थ विसर्जित कर देने का संकल्प उठाती है। वह क्रांति-दल में दीक्षित होती है।

उस दल के मध्य उससे स्थूल कर्म की प्रत्याशा नहीं है। प्रयोजन यह है कि वह अपने अप्रतिभ यौवन-प्रदीप्त स्त्रीत्व से दल के बालकों में युवा भावनाएँ जगाए। उनमें चाह भरे, उन्हें सुलगा दे; और बस। न अपने स्त्रीत्व को तृप्त करे न सामने सुलगे हुए पौरुष को स्नेहजल के छींटों से थोड़ा भी भेद करे।

किंतु उस क्रांति-दल में ही आ पड़ता है अतीन। वह अंतू (अतीन) इस दल में आया है तो पीछे का अपना सब-कुछ तोड़कर। सहारा पीछे अपने लिए कहीं नहीं छोड़ा है, सब-का-सब इसमें कूद पड़ा है। कहीं भी इधर-उधर और नहीं वह हिलगा है। पर क्या सचमुच वह क्रांति के लिए क्रांति-दल में आया है? कौन जाने? जिस मुख के द्वारा क्रांति का आह्वान उसे प्राप्त हुआ वह मुख ही उसे खींच लाया है। उस मुख से पुकार हुई, और अतीन सब छोड़ चल पड़ा। उस मुख से हुई, इससे आगे और क्या प्रमाण उस पुकार की सचाई का अपेक्षित है? बस, अतीन उसी क्षण से अपना न रहा, सर्वशः उस आह्वान का हो रहा। वह राष्ट्र के स्वातंत्र्य का आह्वान था, पर मुख्य बात यह थी कि एला के मुख से उसका गुंजार उसने सुना था। अतीन सोता कैसे रहता? वह उठा और उसी प्रकार के अनुसंधान में हो लिया।

इंद्रनाथ का शासन निर्मम है। अयोग्य पर उनका कुछ आग्रह नहीं है। सब कड़ाई योग्य को ही झेलनी पड़ती है। जो समर्थ है, वह स्वतंत्र नहीं है। जो असमर्थ है, धक्का देकर उसे अपनी असमर्थता में मरने दो। पर जो समर्थ है वह आये और जले। जलता ही रहे, बुझे नहीं। जलने से बचने की बात भी नहीं सुनी जायगी।

एला से यही चाहा जाता है। वह जलती रहे, बुझे नहीं। जलाती रहे, बुझने न दे। ठंडक की एक बूँद की भी ज़रूरत नहीं है।

एला तत्पर है। वह समर्थ है। वह जलेगी, और नहीं बुझेगी। वह जलती रहेगी और नहीं बुझना चाहेगी।

पर क्या इसमें एला को आत्मलाभ हो रहा है? क्या उसमें उपलब्धि की शांति है? कौन यह जानता है? एला भी यह नहीं जानती। स्वयं विसर्जन में और कष्ट की अनुभूति में एक प्रकार का जो रस मिलता है, उसी को ले लेकर एला चल रही है। मानो कहीं और यथार्थ है तो वह नहीं जानती, वह नहीं जानेगी। यहीं यथार्थ है, यहीं सच है—बस आँख मींच कर यही यह वह जानेगी।

पर हठात् इस अन्तू के लिए उसके मन के किस निभृत कोने में से यह क्या मधु-सा झर निकला है? वह क्यों, वह क्यों? नहीं, एला! वह मधु हो, पर झूठ है। वह विष है। वही बाधा है। राष्ट्र कुछ और माँगता है, उनसे जो पहचानते हैं। राष्ट्र बलि माँगता है।

एला अपने से जूझती रही। जपती रही, वह बलि है, वह बलि है।

इधर अन्तू के लिए कहीं भी कुछ और सार नहीं है। राष्ट्र होगा सत्य, पर प्रेम के मार्ग से ही पाकर वह सत्य है, अन्यथा वह भी सत्य नहीं है। उसके भीतर जो अलख जगी है वह तो एला को लेकर है। राष्ट्र यदि है तो वह भी उसी एला में है।

पर मन मन है। स्त्री स्त्री है और एला स्त्री है। एला का मन बर्फ़ की शिला नहीं है, वह तो शुद्ध जल ही है। बर्फ़ है, तब भी प्रतिक्षण गल-गल रहा है। जल का बर्फ़ होना प्राकृतिक अवस्था नहीं है। जल का प्राकृतिक गुण बहना ही है। सो एला का मन कब तक पत्थर बना बर्फ़ ही रहता जब कि उसके द्वार पर पंचाग्नि तपता हुआ एक जोगी अलख जगा रहा है। वह गलती गई, पिघलती गई, यहाँ तक कि उसमें कुछ कठिन शेष न रह गया और वह द्रवित होकर सब-की-सब बह पड़ी। अब उसके पास पछतावा ही पछतावा था, आँसू ही आँसू थे।

तब अंतू की पारी थी। जो कुछ उसके पास प्राणमय था, चैतन्य था, जो स्नेहकोष था, वह सब अशेष भाव से एला के प्रणय-द्वार पर ही बूँद-बूँद जलाता रहा है। अब जब उस प्रणय-मंदिर के कपाट खुले हैं तब उस आराधक के पास शेष क्या बचा है? कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं। राह भी उसकी अब समाप्त हो गई है। उसके पास का समय भी अब सब चुक गया है। जो था, बीत चुका। अब अपनी अराधना को सफल देखने का अवसर भी उसके पास नहीं है। चलाचल मची है। वह कहाँ रुके? कैसे रुके? जान पड़ता है कि यह सफलता उसकी सारी अराधना पर एक व्यंग है, विडम्बना है!

यहीं आकर पुस्तक समाप्त हो जाती है।

रवीन्द्र कवि हैं और जब वह दार्शनिक हैं तब भी कवि हैं। इसलिए दार्शनिक वह पूरे नहीं हैं। राह में ही कविता कर जाते हैं। कवि सूक्ष्म में चलता है। उसका वाहन कल्पना है। उपन्यास में स्थूल का आधार पकड़े बिना गुज़ारा नहीं। एला और अतीन शुद्ध-तत्त्व (Abstract) नहीं हैं। एक नारी है, दूसरा पुरुष है और दोनों व्यक्ति हैं। व्यक्ति हैं, अर्थात् परिस्थितियों से स्वतंत्र नहीं हैं। परिस्थितियों से टूटकर नहीं, उनके बीच में ही उनकी मुक्ति है।

पुस्तक के एला और अतीन इतने अधिक आत्मा (Soul) हो गए हैं कि उनका व्यवहार-वर्तन सामाजिकता के तल से उठकर भावुकता के तल तक पहुँच गया है। रविबाबू के भीतर का कवि व्यक्ति में निगूढ़ भावुकता को इतनी सघन सहानुभूति से देखता है कि वह भावुकता अपने स्थान पर निगूढ़ नहीं रह पाती, ऊपर भागती है। और यह संदेहास्पद है कि इस प्रकार उस भावुकता की क़ीमत बढ़ती है। उपन्यास की दृष्टि से तो निश्चय घटती ही है।

पुस्तक का समूचा वातावरण रहस्यमय है। रहस्यमय हो, इसमें हरज नहीं है। पर वह रहस्य पात्रों का हृदयस्थित हो, तब तो ठीक। तब वह शुद्ध प्रेरक होता है। और हरेक जीवित पुस्तक में वह अनिवार्य है। पर परिस्थितियों में भी यदि कुछ गूढ़ता रखी जाती है, तो पुस्तक के पाठक से दूर पड़ जाने की संभावना है। इसमें पुस्तक की प्रेरणा कम हो जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में परिस्थिति-परिपाक में निरी सरलता नहीं है, उसमें कुछ चक्कर है। अतः इंद्रजाल के प्रति हमारा क्षोभ होता है, वैसे क्षोभ से भी हम उसे ग्रहण करना चाहते हैं। यह कवि की ख़ूबी हो, पर दार्शनिक उपन्यासकार की तो त्रुटि भी है।

यों तो यह अनुवाद है, पर रविबाबू की भाषा ने इधर आकर एक नवीन ढङ्ग पकड़ा है, यह इस पुस्तक से भी पता लग जाता है। भाषा में मर्म अधिक हो गया है, प्रवाह कम हो गया है। वेग अब भी है, पर अर्थ-गुरुता से भाषा बेहद भरी है। उसमें बाँकपन ज़्यादा है, असाधारणता ज़्यादा है। शब्दों में कहीं-कहीं उनकी समाई से अधिक सार भर गया है। वहाँ लेखक आर्टिस्ट से अधिक, परम-विज्ञ है।

अनुवाद हार्दिक है। अनुवादक के अधिकार का पहला लक्षण यह है। पर कहीं कहीं उस हार्दिकता की अधिकता के कारण स्खलन भी हो गये हैं और अधिक बात-चीत-पन आ

गया है। घरेलूपन के साथ शील (dignity) भी निभना चाहिए। वह शील निभा तो है ही, पर थोड़ी सावधानता और रखी जा सकती है।

२१ वें पृष्ठ में है—'मगर तुम्हें यदि शेर भी खाता और तुम 'डरपोक' न होतीं तो उसी वक्त उसे मार देतीं, दुविधा न करतीं।' यहाँ 'डरपोक' शुद्ध नहीं हो सकता। मैं बँगला नहीं जानता, फिर भी 'डरपोक' शब्द एला के चरित्र (तत्सम्बन्धी इन्द्रनाथ की धारणा) से इतना असंगत है कि मूल में निश्चय से भाव वह नहीं हो सकता।

२७ वें पृष्ठ पर 'फ़िलहाल' सड़क के किनारे मेरी उस सामने की टेबिल पर ही तीन-चारेक लड़के वीर-रस का प्रचार कर रहे थे।' इस वाक्य में 'फ़िलहाल' का प्रयोग ग़लत है। अर्थ के लिहाज़ से तो ग़लत है, ध्वनि की संगति के लिहाज़ से कुछ अनुपयुक्त है।

पुस्तक में रविबाबू के जीवन-दर्शन की झलक है ही। प्रवृत्तियों को दबाने से नहीं चलेगा, उनके भोग के लिए भी अवकाश आवश्यक है। नहीं तो वे पहले दबेंगी, फिर भड़केंगी। राष्ट्र स्वयं में आदर्श नहीं है, वह स्वयं में आराध्य नहीं है। स्वधर्म और स्वप्रकृति के इनकार पर राष्ट्र-सेवा और राष्ट्र-निर्माण न होंगे। अपने को पहचानना होगा और अपने को पूर्ण करना होगा। अपने को खोकर कुछ न पाया जायगा।

यह स्थान नहीं है कि समस्त पुस्तक से जो उन्होंने कहना चाहा है उसकी विवेचना की जावे। उसका अवकाश लेख में हो सकता है। संक्षेप में आग्रही स्वदेशवाद और आतंकवाद को उन्होंने निरुत्साहित किया है और मानव-हृदय को भूल न जाने की आवश्यकता दिखलाई है। उनकी सहानुभूति स्पष्ट है और उन सहानुभूतियों का प्रवाह पुस्तक में सर्वाधिक अतीन की ओर है। अतीन एक प्रकार उनके काव्य-दर्शन का प्रतिनिधि है। वह भावुक है, आवेगशील है, सच्चा है। वह स्वभाव से वीर है, उसकी वीरता भयजनित नहीं है; पर वह क्या सचमुच अपनी प्रकृति में सम्पूर्णता की ओर बढ़ रहा है? यह और इस प्रकार के प्रश्न हैं जिनको यहाँ नहीं उठाया जा सकता, क्योंकि यहाँ उन्हें सुलझाया नहीं जा सकता।

जैनेन्द्रकुमार।

सामयिक

सुहृद् संघ, मुजफ्फरपुर

मई महीने के अन्त में मुज़फ्फरपुर में 'सुहृद् संघ' का वार्षिकोत्सव हुआ था। संघ हिन्दी की एक सजीव साहित्यिक संस्था है। उसके वार्षिकोत्सव का समारोह दर्शनीय होता है। इस वर्ष उत्सव के साथ साहित्य-परिषद्, कवि-सम्मेलन और हास्य-परिहास सम्मेलन भी हुए।

इस बार हमें वहाँ जाने का अवसर मिला। जो वहाँ देखा, वह और जगह कम देखने में आता है। मुज़फ़्फ़रपुर कोई बड़ी जगह नहीं है लेकिन वहाँ के युवकों की साहित्य-रुचि और उत्साह सराहनीय है। राजनीति को लेकर उत्साह देखने में आता है, पर साहित्य भी वैसा ही जीवित विषय हो, हिन्दी प्रान्तों में यह बात बिहार में ही मिली।

और भी विशेषता यह मालूम हुई कि सभी श्रेणी के लोग उसमें दिलचस्पी ले रहे थे। करनेवाले युवक थे, साथ सब थे। और वह दिलचस्पी ऊपरी नहीं थी जैसा कि सार्वजनिक मौक़ों पर हुआ करता है, बहुत कुछ वास्तविक थी। बड़ी समस्याओं के प्रति वहाँ जागरुकता थी, चाव था। यह अभिनन्दनीय बात है। लोक-कर्म के साथ साथ मानसिक परिधि-विकास की भी आवश्यकता है। इस आवश्यकता को सांस्कृतिक कहिए। जो रोज़मर्रा के सवाल हैं उनसे आगे होकर और सवाल भी है। देखने में हम उनको टाल सकते हैं, पर अमल में उनको नहीं टाला जा सकता। साहित्य उन्हीं गहरे सवालों को लेता है। और जीवन से उखड़कर नहीं, जीवन पर मज़बूत जमे रहकर हम जितनी गहराई में जा सकें, उतना ही अच्छा है। इस लिहाज़ से राजनीति के साथ-साथ साहित्यिक जागरण बहुत ज़रूरी है। इससे वर्तमान समस्याओं को मूल से पकड़ने की प्रवृत्ति बढ़ेगी और जीवन में सामंजस्य बढ़ेगा।

साहित्यिक सभाओं और समारोहों को तात्कालिक वाह-वाह का वातावरण पैदा करके सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उनकी कार्यवाही का कुछ स्थायी प्रभाव अवश्य छूटना चाहिए, और यह तभी होगा जब प्रत्येक के अपने अन्तरंग को उस अवसर पर उद्दीपन प्राप्त होगा। यानी ऐसे समय विचारोत्कर्ष आवश्यक है। मुझे जान पड़ा है कि संघ का स्थायी की ओर भी ध्यान है और यह परम सन्तोष का विषय है।

एक निर्देशक प्रस्ताव

उसी समय की गई साहित्य-परिषद् ने निम्न-लिखित प्रस्ताव भी पास किया है—

हिन्दी-भाषा तथा साहित्य की अभिवृद्धि, प्रौढ़ता और उसके व्यापक प्रचार को दृष्टि में रखते हुए यह साहित्य-परिषद् प्रस्ताव करती है कि—

(क)—राष्ट्र और समाज के सामूहिक स्वार्थ पर ध्यान रखते हुए उच्चतर उद्देश्य के लिए मानव-जीवन को प्रेरित करनेवाले साहित्य का निर्माण किया जाय।

(ख) भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अनुरूप साहित्य में पुनर्जीवन की प्रतिष्ठा की जाय।

(ग) हिन्दी भाषा की व्यापकता बढ़ाने के उद्देश्य से उसके अन्तर्प्रान्तीय स्वरूप में प्रगति की जाय।

प्रस्ताव देखने में सीधा-सादा है पर उसे महत्वपूर्ण भी मानना चाहिए। पहली बात इस प्रस्ताव से यह प्रगट होती है कि साहित्य की प्रगति के बारे में प्रस्ताव निर्माता कुछ निश्चित संकल्प रखते हैं और रखना चाहते हैं। यह अपने आप में एक ज़रूरी बात है। साहित्य की गति-विधि को इस दृष्टि से देखने और उसे एक दिशा देने के प्रयास की आवश्यकता है।

प्रस्ताव में काफ़ी गुंजायश विवाद और अर्थ-भेद की है। शंकाएँ उठ सकती हैं जिनका जवाब प्रस्ताव में नहीं है। मैं मानता हूँ कि प्रस्ताव की यह अपूर्णता है। पर मैं यह भी जानता हूँ कि उस अपूर्णता में भी शक्ति है। इसमें कई दृष्टिकोण अपनी भिन्नता रखते हुए भी समाविष्ट हो जाते हैं। प्रस्ताव में क, ख, ग तीनों अंश ज़रूरी हैं।

'क' द्वारा साहित्य से तीन माँगें की गई हैं—

(१) राष्ट्र तथा समाज के सामूहिक स्वार्थ का ध्यान, (२) उच्चतर उद्देश्य की उपस्थिति, (३) मानव-जीवन को प्रेरणा देने की क्षमता।

राष्ट्र और समाज का सामूहिक स्वार्थ क्या है और उद्देश्य उच्च क्या है—इस पर विचार को फैलने का अवकाश है। उसकी हद नहीं बाँधी गई है। उसके संबंध में शर्त प्रस्ताव में कोई नहीं है। यानी उन दोनों बातों का निर्णय अन्ततः लेखक के अपने ऊपर छोड़ दिया गया है।

तीसरी बात मानव-जीवन को प्रेरणा देने की है। इसका निर्णायक लेखक नहीं पाठक है। जो प्रभावित नहीं करती, प्रेरित नहीं करती, वह सुघड़ हो, सुन्दर हो, प्यारी-प्यारी हो। इस प्रस्ताव के अनुसार उसकी आवश्यकता नहीं है। यह एक स्पष्ट (Positive) कथन है और स्पष्ट है इसलिए उपयोगी है। मैं भी सहमत हूँ कि साहित्य से प्रेरणा की माँग करना ज़रूरी है।

(ख) में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की अनुरूपता और जीवन की प्रतिष्ठा साहित्य से चाही गई है।

'जीवन की प्रतिष्ठा' के सम्बन्ध में तो मत-भेद की कोई बात ही नहीं है; पर 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अनुरूपता' ज़रा विवादास्पद विषय हो जाता है। वह सभ्यता-संस्कृति क्या है? क्या वह अपर्याप्त नहीं सिद्ध हो रही है? क्या जो कुछ पुराना चला आ रहा है, भारतीय संस्कृति के नाम पर उस सब की रक्षा करनी होगी? क्या सुधार और निर्माण भी आवश्यक नहीं हैं? यदि आवश्यक हैं तो उससे भारतीय सभ्यता क्या ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण बनी रहेगी? और क्यों हम सोचें कि वह अक्षुण्ण न रहे? आदि आदि शंकायें उठ सकती हैं।

उन सब का निराकरण प्रस्ताव की भाषा नहीं करना चाहती। प्रस्ताव के अनुसार लेखक अपने लिए यह सवाल उठा सकते हैं और अपने लिए उसका जवाब पा सकते हैं। प्रस्ताव में माँग इतनी ही है, और इतनी माँग पर ज़ोर है, कि साहित्य में जो कुछ भी दिया जाय वह ऐसा हो कि भारत के क्रमिक विकास और उसके अन्तरंग में खप जाय। नहीं खपता, तो इस प्रस्ताव के अनुसार बेशक वह निषिद्ध है।

प्रस्ताव की इस (ख) धारा से किसी भी प्रकार के आवश्यक विधायक, उचित और सजीव साहित्य पर प्रतिबंध लग जाता है, ऐसी मेरी प्रतीति नहीं है।

तीसरी (ग) धारा है—कि हिन्दी के अन्तर्प्रान्तीय स्वरूप में प्रगति की जाय। 'यह बात' काफ़ी गोल है फिर भी इस तथ्य की द्योतक है कि हिन्दी साहित्यकार को अपने दृष्टिकोण में प्रांतीय अथवा स्थानीय नहीं होना होगा। कम-से-कम उसे अन्तर्प्रान्तीय तो होना ही चाहिए। 'अन्तर्प्रा-

न्तीय हिन्दी' का स्वरूप क्या है, इस बारे में फ़ैसला देने की स्पर्धा प्रस्ताव ने नहीं की है। केवल एक प्रकार की अन्तर्प्रान्तीयता की, अर्थात् प्रांत को अपने प्रभाव से लाँघ जाने की शक्ति की माँग साहित्य से करके यह प्रस्ताव संतुष्ट हो जाता है।

आशा करनी चाहिए कि और जगह होनेवाली साहित्यिक सभाएँ साहित्य की गति-विधि के बारे में कुछ-न-कुछ अपना मंतव्य बनायेंगी, प्रगट करेंगी, और फिर उस पर कटिबद्ध भी होंगी।

हिंदी का साहित्यिक-क्षेत्र अव्यवस्थित है, केन्द्रहीन है। उसमें व्यवस्था और केन्द्रीयता इसी प्रकार हलके-हलके आयेगी।

आत्मनिवेदन

श्रीमती शिवरानी देवीजी ने 'हंस' का संपादन विश्वासपूर्वक मुझ पर डाल दिया है। उनके विश्वास के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। उससे विमुख होना कायरता होती। उसकी रक्षा मुझे लाज़िम थी। पर मुझे यह प्रमाणित करना होगा कि उस विश्वास की मैं कितनी रक्षा करता हूँ। इसमें मैं 'हंस' के कृपालु पाठकों से सहानुभूति की भीख माँगता हूँ। उसमें योग देने चलने से पहले मैं पाठकों की उस संबन्ध में इन पंक्तियों द्वारा अनुमति भी माँगता हूँ।

अनुमति के आगे पाठकों की करुणा भी मुझे चाहिए। संपादकीय अनुभव मेरा शून्य है। त्रुटियाँ अनेक हैं। वे एक-एककर सामने आवेंगी। तब पाठक की दया और धैर्य ही मेरे काम आवेंगे। यह जो मैं पाठक के सामने आकर प्रस्तुत हूँ, वह इसी भरोसे कि पाठक मेरी त्रुटियों को सँभाल देंगे। मैं सचमुच सँभलना चाहता हूँ।

एक बात का वचन पाठक मुझसे ले लें। वह वचन मुझे बल देता है। वह यह कि संपादक की हैसियत से मैं अपने को पूरी तरह पाठक के अधीन रखूँगा। जो मन में होगा, पहले पाठक के आगे उपस्थित करूँगा फ़ैसला उसी से लूँगा। हमारे बीच कोई ओट, कोई दुराव न रहेगा और पाठक जो नहीं चाहेगा, 'हंस' के मामले में संपादक भी उसको नहीं चाह सकेगा।

मेरा विश्वास है कि एक संस्कारी पत्र की अदालत पाठक है। सच्चा स्वामी उसका पाठक ही है। और पत्र की सफलता इसमें नहीं है कि वह कितना पढ़ा जाता है, सच्ची सफलता इसमें है कि वह किस भाव से पढ़ा जाता है। संख्या नहीं, पाठक की श्रद्धा एक पत्र की सच्ची पूँजी है। जिसने पाठकों की अमित संख्या पाई, पर पाठक के मन का प्रेम तनिक भी नहीं पाया, मैं मानता हूँ कि ऐसे पत्र का जीवन सब कुछ होकर भी, असली अर्थ में निष्फल है। उसमें सार नहीं है, आडम्बर फिर चाहे कितना भी हो। और प्रेम पाये बिना, परिग्रह के सहारे, कोई कभी कुछ बना है? पर प्रेम पाने के लिए पत्र का कोई किसी तरह का अपना स्वार्थ नहीं होना चाहिए। पाठक का मंगल ही उसका व्रत हो। उससे इधर-उधर किसी भी और तरह का लगाव (vested interest) होना ठीक नहीं है। वैसा होने से पत्र अपने दायित्व से गिरता है और, चाहे अन-जाने में ही हो, समाज का अलाभ भी करता है।

'हंस' को इसी विश्वास के आधार पर ऊँचा उठाने की इच्छा है। 'हंस' का जब तक सम्पूर्णतया समर्पित जीवन नहीं है तब तक उसे चैन नहीं होना चाहिए। उसका लक्ष्य वही हो, उसी ओर वह बढ़े। अपने प्रयत्नों को उस दिशा में ही रखने की प्रतिज्ञा करना चाहता हूँ।

प्रेमचन्दजी आज स्वर्गीय हैं। 'हंस' उन्होंने बनाया। अपना तन काट कर उसे पाला। उसके बारे में उनकी अभिलाषाओं को जानने का मुझे मौक़ा मिला है। वे ऊँची थीं, पवित्र थीं। पर 'हंस' अनुकूल पनप नहीं रहा था इससे वे अभिलाषाएँ उठती थीं, तो दबे भाव से। पंख खोल कर उड़ने का उन्हें अवसर नहीं आया। पर मैं कहता हूँ कि उन इरादों की ऊँचाई तक 'हंस' चाहे कभी न पहुँचे, पर उसे बढ़ना होगा उसी ओर। बढ़ना होगा, निराश आँखों से उस ऊँचाई को देखकर पस्त नहीं बैठ रहना होगा। बढ़ते-बढ़ते थक जाय तो थक जाय, मर जाय तो मर भी

भले जाय ; पर अपनी प्रकृति छोड़े तो हंस कैसा ? और मैं पूछता हूँ, कोई उड़ता है तो क्या इसीलिए कि वह चाँद को छू ही लेगा या आसमान को नाप ही डालेगा ? नहीं। उड़ना इसलिए होता है कि वह और करे भी क्या ? उसका यही धर्म है, यही बस है।

अपने जीवन में 'हंस' के संबंध की अपनी आकांक्षाओं को प्रेमचन्दजी किस हद तक पूरा कर सके ? शायद किसी भी हद तक नहीं कर सके। वह नहीं पूरा कर सके तभी तो और भी हमें और सचेष्ट होना है। प्रेमचन्दजी अपनी आशाओं के साथ झुक सकते थे, क्योंकि जीवन की और दिशाओं में वह उसकी क़ीमत चुका देते थे। इधर वह व्यवहार में झुकते थे तो अपनी पुस्तकों में चरित्रादर्श निर्माण करने में उतने ही निर्मम भाव से ऊँचे चढ़ जाते थे। सब तो वैसे निर्मम सृष्टा हैं नहीं। इसलिए उनकी अभिलाषाएँ हमारे लिए तो संकल्प होना चाहिए। उनकी इच्छा हमारा व्रत होना चाहिए। और जो वह करना चाहते रहे पर नहीं कर सके वह ही हमें करके छोड़ना चाहिए, क्योंकि हम ऋण-ग्रस्त हैं।

'हंस' प्रेमचन्दजी की थाती है। प्रेमचन्द स्वर्गीय हैं तो उनके 'हंस' की आँखें, चाहे वह रहे धरती पर हो, उस स्वर्ग की ऊँचाई पर क्यों न लगी रहें ? वे वहीं लगी रहेंगी। उसकी प्रेरणा ही यह है। यह उसके अस्तित्व की शर्त है।

'हंस' के द्वारा हम चैतन्य का संचार चाहते हैं। हम आत्मनिरीक्षण और आत्म-संस्कार की वृत्ति अपने में और अपने से बाहर जगाना चाहते हैं। सब बातों में पहली बात यह है। चैतन्य जागा कि फिर सब तरह की आशा आगे रखी है।

'हंस' के इस संपादकीय स्तंभ को इसी आत्मनिरीक्षण और आत्मसंस्कार के निमित्त काम में लाने की इच्छा है। हम अपने बारे में शिथिल नहीं होना चाहते। पाठकों से भी ताकीद है कि वे हमें शिथिल न होने दें। न हम भरसक पाठक की शिथिलता से आँख बचावें। सच्ची मित्रता की यही खूबी है। दोनों एक दूसरे के दोषों पर कड़ी निगाह रखें। दोनों परस्पर ऐसे ही पूर्ण लाभ दे सकते हैं।

हिंदी के और मासिक पत्रों की होड़ 'हंस' नहीं कर सकता। न अनुकरण ही कर सकता है। उसका मार्ग चारों ओर नहीं जाता। इसमें सन्देह है कि जो चहुँओर जाना चाहता है वह मार्ग भी है। 'हंस' के ऊँचाई की तरफ़ ही चढ़ना है। उसे एक लक्ष्य के प्रति समर्पित रहना है। उसके ज़िम्मे एक ज़िम्मेदारी है। उस ज़िम्मेदारी के लिहाज़ से उसकी राह सँकरी है। और 'हंस' को उस राह पर ही चलना है, डिगना नहीं है।

उस दृष्टि से 'हंस' की कुछ मर्यादा है। 'हंस' को भी उन्हें जान रखना चाहिए। और पाठकों-सहायकों को भी उस मर्यादा का मान रखना चाहिए। 'हंस' एक संस्था है, दुकान नहीं है। अर्थ यह नहीं कि उसका कोई धनी-धोरी नहीं है, आशय यह कि उसमें निजी स्वार्थ नहीं है। दुकान गाहक को लुभा सकती है, उसे गाहकी से वास्ता है। संस्था के पास कोई लोभ से खिचकर आवे तो भी संस्था को उसे सावधान कर देना चाहिए। संस्था का उद्देश्य सेवा है। सेवा का घोष नहीं, सेवा की साधना। यों तो सेवा को मुँह पर रखकर भीतर के स्वार्थ को साधा जा सकता है। बात यह कि अपने को छलना कठिन नहीं होता। मानव-बुद्धि बड़ी लचकीली है। तर्क असंख्य होते हैं और मन को चुप करना बहुत तरह संभव है। 'हंस' उस ओर से सावधान रहना चाहता है। सावधान रहने का उपाय एक ही है कि व्यक्ति अपनी आलोचना से एक क्षण के लिए भी विमुख न हो, और बाहर निगाह रखे तो बस अपने लक्ष्य

पर। ऐसा व्यक्ति भी संस्था होता है। ऐसी संस्था शक्ति होती है। राह यह कठिन है। पर उसे छोड़ दूसरी राह और कौन है?

'हंस' के लिए तो दूसरी कोई राह है ही नहीं। 'हंस' की महत्त्वाकांक्षाएँ साहित्यिक हैं, यानी आत्मार्पण की हैं। वे महत्त्वाकांक्षाएँ किसी भी और तरह की नहीं हैं, यानी संचय संग्रह की नहीं हैं।

इस दृष्टि से 'हंस' के रंग-रूप में परिवर्तन भी आवश्यक हो सकता है। वे परिवर्तन परिस्थिति के अनुसार और पाठकों की अनुभूति के साथ शनैः-शनैः होंगे।

विचार है कि 'हंस' के सम्पादकीय स्तम्भ में प्रमुखता से ऐसी ही अन्तरंग चर्चा हो। इसमें हंस-यात्रा के सब साथी मानो एक जगह मिलकर 'हंस' के गुण-दोष, आशा-आकांक्षा और उसके वर्तमान-भविष्य पर विचार विमर्श किया करें। विनय है कि पाठक उसमें पूरक भाग लें। वृत्तविवेचन जब और जितना आवश्यक हो दूसरे (सामयिक) स्तम्भ के अन्तर्गत किया जाय।

'हंस' को एक सम्मिलित सार्वजनिक तीर्थ-यान ही हम मान लें। उस तीर्थ की ओर यदि वह स्वयं नहीं बढ़ता है और यात्रियों को नहीं ले चलता है तो उसके चलने का कोई अर्थ नहीं है। यह तो हो सकता है कि उसकी गति धीमी हो और सहयात्री उसे विशेष संख्या में न मिलें; पर यात्रा का मार्ग यदि 'हंस' भूला तो सबका कर्तव्य होगा कि ठीक दिशा उसको सुझा दें। फिर भी न हो, तो किनारा लेकर उसे भटक-भटककर डूबने के लिए छोड़ दें।

'हंस' की अपनी इस विशेष स्थिति के कारण नीति भी कुछ भिन्न होगी। अनुरंजन उसका लक्ष्य न होगा। इस लिहाज से उसमें चित्र न पायेंगे। साज-सज्जा भी विशेष न होगी। सामग्री स्वास्थ्यकर और पोषक होगी, स्वादिष्ट आरम्भ में चाहे कम भी लगे। असल में आज कुछ-कुछ हमारा स्वाद बिगड़ा हुआ है। बेमिर्च चीज़ बेस्वाद भी लगती है। पर मिर्चीला स्वाद स्वाद नहीं, विषय है। 'हंस' उस तरह के रस से नीरस रहेगा।

वह वाद-विशेष का पोषक नहीं होगा। सत्य वादातीत है। सत्य शुद्ध चैतन्यमय है। उसका वर्ण उज्ज्वल है—कोई रंग उसमें बाधक नहीं, सब रंग उसमें साधक हैं। पर स्वयं वह किसी रंग से रंगीन नहीं। उस दृष्टि से सत्य निर्गुण है और सत्यशोधक एकाकी। सत्य शुद्ध चिन्-रूप है। चैतन्य की क्षीणता में सब कर्म निष्प्राण हैं। स्रोत में जीवन शक्ति चाहिए; उससे मुरझाए हुए मानव-व्यापार सब हरे-भरे हो उठेंगे। अन्धकार को हटाने का उपाय ज्योति जगाना है। इसी ज्योति और जीवन-शक्ति के जागरण में 'हंस' योग देना चाहता है—ज्ञान-परिज्ञान से भी पहले, विवेचना-आलोचना और क्रांति और सुधार से भी पहले, और उन सभी के अर्थ मानसिक स्फूर्ति और विवेकोदय की आवश्यकता है। 'हंस' का वही लक्ष्य है, वही निष्ठा है। उसीके लिए वह रहना चाहता है और उसी में आप सबके सहयोग को आमंत्रित करता है।

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस, बनारस।

मचन्द का स्मारक
अगस्त १९३७
सम्पत्ति-परिग्रह का अभिशाप—एडवर्ड कारपेंटर
बालशिक्षा— भगवानदीन
गांगेय— स्व० सुब्रह्मण्य अय्यर
सतीश— सुन्दरलाल गर्ग
उपयोगिता— जैनेन्द्र कुमार
चिट्ठी— रमणभाई महीपतराम नीलकंठ
मानव-जीवन की पूर्णता— हरिभाऊ उपाध्याय
संस्कार— रवीन्द्रनाथ ठाकुर
मुक्ता-मंजूषा, नीर-क्षीर, सामयिक, इत्यादि इत्यादि...
: सम्पादक :

लेख-सूची

१. सम्पत्ति-परिग्रह का अभिशाप—[एडवर्ड कारपेंटर] ११८७

२. बालशिक्षा—[भगवानदीन] ११८६

३. प्रेम (कविता)—[दिनकर] ११६४

४. काल और शैतान का रहस्य—[एडवर्ड कारपेंटर] ११६५

५. निरुपाय (कविता)—[उदयशंकर भट्ट]... ... ... ११६६

६. विधवा (कहानी)—[कुमारी पी० मालती] १२०१

७. राजकुमार का देशाटन (कहानी)—[जैनेन्द्रकुमार] १२०६

८. जागृति (कविता)—[रामकुमार वर्मा] १२१३

६. गांगेय (कहानी)—[स्व० व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर] १२१४

१०. सतीश (कहानी)—[सुन्दरलाल गर्ग] १२१७

११. हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी (निबन्ध)—[डाक्टर ताराचन्द] ... १२२१

१२. गीत (कविता)—[नेमिचन्द्र जैन] १२३३

१३. अश्रु-गीत (कविता)—[आरसीप्रसाद सिंह] १२३४

१४. उपयोगिता—[जैनेन्द्रकुमार] १२३६

१५. एक प्रश्न (धारावाहिक उपन्यास)—[जैनेन्द्रकुमार] १२४४

१६. चिट्ठी (कहानी)—[स्व० रमणभाई महीपतराम नीलकण्ठ] ... १२५३

१७. कहानियों में करुण (निबन्ध)—[प्रो० देवराज उपाध्याय] ... १२६०

१८. आभार (कविता)—[शम्भूदयाल सक्सेना] १२६५

१६. मानव-जीवन की पूर्णता—[हरिभाऊ उपाध्याय] १२६६

२०. संस्कार (कहानी)—[रवीन्द्रनाथ ठाकुर] १२६८

२१. मुक्ता-मंजूषा—[विविध] १२७३

२२. नीर-क्षीर— ,, ,, ... १२८५

२३. सामयिक—[टिप्पणियां] १२८८

२४. हंस-वाणी—[सम्पादकीय] १२६२

हंस

ास्त १९३७ वर्ष—७ : अंक—११ श्रावण १९९४

संपत्ति-परिग्रह का अभिशाप

[एडवर्ड कारपेंटर]

क्या वे मेरी नहीं हैं, प्रभु जी कहते हैं, सदा वर्तमान पहाड़ियाँ ? (जहाँ 'फ़र'-वृक्षों की फुनगियों से मैं घाटियों तक का दृश्य देखता हूँ ।)

हरी-भरी गोचर-भूमियाँ, धूसर और धौली गैयों सहित, और छोटी-छोटी नदियाँ, बाँधों और पनचक्कियों सहित,

और बढ़ती हुई सुकोमल फ़सलें, और सेब के चमकते हुए फूलों से भरी पहाड़ी खोहें—

राज-सिंहासन-सम अपने पहाड़ी चबूतरों से अपनी भूमियाँ देखता हुआ—

क्या वे मेरी नहीं हैं जहाँ मैं निवास करता हूँ, और मेरी संतान के लिए ?

तुम अपने कीचड़-काँदे से उन्हें कब तक गंदा करते रहोगे और अपने अधिकारों और अपनी मिल्कियत की बातों से ?

तुम अपने लिए कब तक मकान बनाते रहोगे, उनमें अपने आप को और अपने माल असबाब को छिपाये रखने के लिए ?—अपने आप को अपने भाई बहिनों और मुझसे जुदा जुदा रखने के लिए ?

सावधान, क्योंकि मैं आँधी-तूफ़ान हूँ ; मैं तुम्हारे मिल्कियत के अधिकारों की रत्ती-भर परवाह नहीं करता ।

बिजली और मेघ गर्जन, बाढ़ों और अग्निकांड, इन रूपों द्वारा मैं तुम्हारे खेतों को बरबाद और नष्ट-भ्रष्ट कर दूँगा ;

तुम्हारे प्रथम-जात को मैं तुम्हारे घर में ही बधकर डालूँगा, और तुम्हारी धन-संपत्ति को कोरी विडंबना बना दूँगा ।

तुम जो दिन-प्रति-दिन, घंटा प्रति-घंटा इस बात को याद नहीं रखते, यह तुम्हारी मूर्खता है ; तुम जीवित तो रहना चाहते हो ।

फिर भी एक दूसरे से उन चीज़ों की छीना-झपटी करते हो जो मैंने तुम सबके लिए बनाई हैं ।

जानो कि मैं एक भी ऐसा न रहने दूँगा जो अपना द्वार सबके लिए खोल न दे, अन्यों के साथ वैसा ही बर्ताव करता हुआ जैसा मैंने उसके साथ किया है।

पेड़ जो संध्या कालीन आकाश की भूमि पर अपना शाखा-जाल बिछा देते हैं; संग-मरमर जो लाखों बरस पहले ही मैंने धरती के भीतर तैयार कर रखा है; ढोर जो असंख्य पहाड़ियों पर चरते-फिरते हैं—वे मेरे हैं, मेरे सब बाल-बच्चों के लिए—

यदि तू उन को अपना ही बना लेता है, अपने ही काम में लाता है, तो तु शाप-ग्रस्त है।

तो संपत्ति-परिग्रह का अभिशाप तुझे चिमट जायगा; भार ग्रस्त मस्तक और दुख-पूर्ण हृदय सहित, थका माँदा, आनन्द अनुभव करने में असमर्थ, हँसी-खुशी से कोसों दूर,

तू एक अनजान की भाँति टक्करें मारता फिरेगा, उस देश में जिसे मैंने तेरे आनन्द के लिए बनाया था।

तेरी भूमि पर रहनेवाली छोटी से छोटी चिड़िया तक शाखा-जाल के बीच स्वच्छन्दता पूर्वक चहकेगी,

हलवाहा खेत में तान उड़ाएगा,

किन्तु तू थका-माँदा और अकेला रह जायगा। मनुष्यों के बीच जाति-च्युत और विदेशी की भाँति,

क्योंकि मेरे इन बाल-बच्चों में से क्षुद्र-तम से भी जिस प्रकार तूने अपने आप को जुदा कर रखा है, उसी प्रकार तूने अपने आपको मुझ से जुदा कर रखा है।

मैं, लोक-आत्मा, प्रभु सर्वसाधारण, यह कहता हूँ और गिरिराज मेरे सिंहासन हैं।

अनुवादक—डा० रामकृष्ण

बालशिक्षा

[भगवानदीन]

यह बिलकुल ठीक है कि गर्भ में रहते हुए भी बच्चे पर माँ के विचारों का असर पड़ता है और वह पेट में रहते-रहते ही बहुत कुछ बन बिगड़ लेता है। पर वह सब इस लेख का विषय नहीं है। इस लेख का विषय है, उस वक्त की शिक्षा से जब कि बच्चा जन्म लेकर इस दुनिया से अपना नाता जोड़ता है। जन्म के बाद की शिक्षा से ही माता के अलावा किसी दूसरे का संबंध हो सकता है। इसी शिक्षण के सम्बन्ध में एक आदमी अपने अनुभवों को दूसरों के लिए छोड़कर जा सकता है और स्वतंत्रतापूर्वक विचार भी कर सकता है।

इस सम्बन्ध में अपने कुछ अनुभवों को लिखने से पहले मैंने उनके आधार पर जो सिद्धान्त बनाए हैं उनको भी लिख देना चाहता हूँ।

(१) ख़ास हालतों को छोड़कर सारे बालक ऐसे जन्मते हैं कि वे बड़े होकर सभी कामों के योग्य हो सकते हैं, यदि उन्हें ठीक ढंग से शिक्षा दी जाय।

(२) भिन्न-भिन्न बालकों में भिन्न-भिन्न प्रकार की आदतें होने में उनके माता-पिता कारण न होकर उनके मस्तिष्क पर पड़े वे प्रभाव हैं जो गहरे असर कर गये हैं।

(३) बालक की सब क्रियाओं के पीछे ज्ञान की प्यास छिपी रहती है। अगर हम संतोष के साथ उसके कामों में प्रेमपूर्वक योग देते रहें तो हम बहुत जल्द उसे ख़ासा योग्य बना सकते हैं।

(४) किस उम्र तक बालकों की बुरी आदतें छुड़ाई जा सकती हैं, यह तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता किन्तु यह ज़रूर कहा जा सकता है कि बुरी आदतें आसानी से छुड़ाई जा सकती हैं।

बालकों की शिक्षा में संतोष और बर्दाश्त की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। इसलिए महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा योग्य अध्यापक सिद्ध हो सकती हैं।

बालक की तुलना पत्थर से नहीं की जा सकती। जिस तरह पत्थर की जैसी चाहें वैसी मूर्ति बनाई जा सकती है वैसे ही बालक जैसा चाहे वैसा आदमी बनाया जा सकता है। यह ठीक है, पर बनाना नहीं चाहिए। पत्थर भावना शून्य है उसे परिवर्तन की ज़रूरत नहीं। मनुष्य को पग-पग पर देवता और दानव का रूप धारण करना पड़ता है। इसलिए किसी बालक को किसी ख़ास प्रकार का मनुष्य बना देना बड़ी भारी भूल होगी। शिक्षालय चीज़ें बनाने के कारख़ाने नहीं हैं। पर आजकल लोगों की प्रवृत्ति उन्हें कारख़ानें बनाने की ओर ही हो रही है।

बालक मिट्टी या मोम के समान भी नहीं है। मिट्टी की कोई चीज़ बनकर सूखने के बाद दूसरी चीज़ में आसानी से तबदील नहीं हो सकती। इसलिए बालक को किसी ख़ास तरह का आदमी बना कर पका देने में न उसी का लाभ है और न समाज का। बालक की तुलना यदि ज़रूरी ही समझी जाय तो शायद पानी से की जा सकती है, क्योंकि वह बर्तन के बदलते ही आकार बदल लेता है, पर यह भी कुछ ठीक नहीं जँचती। ज़रूरत ही क्या कि उसकी तुलना किसी चीज़ से की जाय। बालक की शिक्षा में सिर्फ़ एक ही बात का विचार रखना चाहिए। वह यह कि उसको यह ज्ञान करा देना चाहिए कि उसके अन्दर एक ज़बरदस्त ताक़त काम कर रही है। वह उस ताक़त को अपने बस में करके दुनिया के रंगमंच पर ज़रूरत पड़ने पर जी-चाहे नाटक खेल सकता है और ख़ुश रह सकता है।

इसलिए ऊपर की बात की पूर्ति के लिए हमको उसे किसी ख़ास काम के लिए तैयार न करके सिर्फ़ उसकी उस ताक़त से दोस्ती करा देनी चाहिए जो उसके अन्दर मौजूद है। इसके लिए हमें महज़ यह करना होगा कि हम उसको किसी काम के करने से न रोकें। हाँ, यह ज़रूर बताते रहें कि वह काम किस वक्त, कहाँ, कैसे और किस लिए किया जाता है।

यहाँ मैं अपना अनुभव दर्ज करना उचित समझता हूँ।

किसी एक गाँव में मेरे एक मित्र रहते थे। मैं एक दिन उनका मेहमान हुआ। हम दोनों बैठे बालकों की शिक्षा पर ही बात चीत कर रहे थे। मैं उनसे यह कह रहा था कि ऐसा कभी नहीं होता कि बालक कहना न माने। वे दलीलों के साथ मेरी बात का खंडन कर रहे थे। अभी हम अपनी बात ख़तम भी न कर पाये थे कि उनका पाँच वर्ष का बालक हाथ में कुल्हाड़ी लिए उसी कमरे में दाख़िल हुआ और कमरे के फ़र्श की एक ईंट कुल्हाड़ी से उखाड़ने लगा। बाप के कई बार मना करने पर भी न वह वहाँ से हटा और न वह अपने काम से बाज़ आया। अब क्या था, उसको मेरी बात के खंडन के लिए यह प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया, और लगे कहने, देखिए यह कहना न मानने वाला लड़का आपके सामने है। मैं बोला—ठहरिए, मुझे भी इस पर परीक्षण करने दीजिए, मुझे पूरी आशा है कि दो बार में वह मेरा कहना ज़रूर मान लेगा।

वह बोले—दो बार नहीं दस बार कहिए, यह बड़ा ज़िद्दी है। कभी किसी की नहीं सुनता! उनकी इस बात का कोई जवाब न देकर मैंने उस लड़के की ओर देख कर कहा—बेटा, कुल्हाड़ी से ये ईंट नहीं उखाड़ते इससे लकड़ी चीरी जाती है। जाओ वह सामने लकड़ी पड़ी है उसे चीरो! जैसे ही यह शब्द उसके कान में पड़े वह ख़ुश होता हुआ दौड़ा और बाहर पड़ी हुई लकड़ी पर आज़माइश करने लगा। मैंने फ़ौरन ही अपने मित्र से कहा—अब आप जाइए और उसको कुल्हाड़ी चलाना सिखाइए, यह काम भी तो उसको किसी दिन सीखना होगा। मेरे कहने पर वे लड़के के पास गये और कुछ देर तक उसे कुल्हाड़ी चलाना सिखाते रहे। कुल्हाड़ी थी भारी। लड़का जल्दी ही थक गया और कुल्हाड़ी छोड़ भागा और किसी दूसरे खेल या मेरे लफ़्ज़ों में, पाठ में लग गया।

मेरे मित्र ने आकर मुझसे पूछा कि आपने दो बार की शर्त क्यों लगाई। मैंने जवाब दिया कि उस समय मेरे मन में दो ही बातें पैदा हुईं वे यह कि या तो लड़का कुल्हाड़ी का इस्तेमाल सीखना चाहता है ईंट उखाड़ना। इसी लिए मैंने उसको पहली सलाह या, आपके लफ़्ज़ों में पहला हुक्म यह दिया कि कुल्हाड़ी से ईंटें नहीं उखाड़ी जातीं बल्कि लकड़ी चीरी जाती है और यह कि तुम जाओ और वह लकड़ी चीरो। अगर वह मेरी इस सलाह को न मानता तो दुबारा मैं उसे यह सलाह देता कि फ़र्श की ईंट नहीं उखाड़ते। देखो सामने पुरानी दीवार है, उसकी

ईंट उखाड़ो और यह कि ईंट कुल्हाड़ी से नहीं उखाड़ी जाती, बसूली से उखाड़ी जाती है, जाओ और घर में हो तो लाओ। यह सम्भव हो सकता है कि यह दोनों ही विचार उसके मन में न होते तो वह दो बार में भी मेरा कहना न मानता। मैं फिर कुछ और सोचता और उससे अपनी बात मनवा कर रहता।

सिद्धान्त नम्बर दो के बनाने में मुझे नीचे लिखी घटना से बड़ी सहायता मिली है। ऐसी घटनाएँ मेरे सामने कई आ चुकी हैं पर मैं उनमें से सिर्फ़ एक को ही लिखना काफ़ी समझता हूँ।

मेरे आश्रम में एक-वैद्य जी थे। उनका एक चार वर्ष का लड़का था। वह आश्रम में दाख़िल नहीं था किन्तु खेलने के लिए आश्रम में रोज़ ही आया करता था। उसमें एक ख़ास आदत थी। वह यह कि वह जो चीज़ पाता था उसी को फेंक देता था फिर चाहे वह खड़ाऊँ हो, दवात हो, किताब हो या घड़ी जैसी क़ीमती चीज़ हो। उसके आश्रम में आने पर 'धर्मा आया' 'धर्मा आया' का शोर मच जाता था। क्योंकि धर्मेन्द्र उसका नाम था। वैद्य जी का पुत्र होने की वजह से उसे कोई आने से नहीं रोकता था और छोटा होने की वजह से मुझसे उसकी शिकायत नहीं की जा सकती थी। क्योंकि आश्रम का ऐसा नियम था कि कोई बड़ा विद्यार्थी अपने अध्यापकों से या किसी बड़े से छोटे की शिकायत न करे। मारने पीटने की एक दम मनाई ही थी। तब अध्यापक और विद्यार्थी सभी हैरान थे कि इस मनुष्याकार बन्दर से कैसे बचा जाय। उसके हमले विद्यार्थियों और अध्यापकों पर समान रूप से होते। दोनों ही उससे तंग आ गए थे। उन्हें यह भी विश्वास था कि मैं या तो उसकी यह आदत छुड़ा सकता हूँ या ऐसा कोई इंतज़ाम कर सकता हूँ जिससे कि वे उससे छुटकारा पा सकें। पर वे यह न सोच सकते थे कि यह बात मुझ-तक कैसे पहुँचाई जाय; क्योंकि शिकायत के रूप में मैं उनकी बात सुनने के लिए तैयार न था। और न मैं कोई प्रतीकार ही करता। आख़िर सबने मिलकर यह तरकीब निकाली कि किसी तरह उसको मेरी कोठरी में भेजा जाय। मगर उस शरीर लड़के को किसी बात पर राज़ी करना आसान न था। तो भी पाँच-सात रोज़ बार बार बहकाए जाने पर एक दिन वह मेरी कोठरी की तरफ़ दौड़ा और उसके दौड़ते ही सारे विद्यार्थियों ने मुझे आवाज़ देकर कहा—आपकी कोठरी में धर्मा, आपकी कोठरी में धर्मा। मैं अपनी कोठरी के दरवाज़े पर खड़ा था। मैंने उसे बिल्कुल भी नहीं रोका। वह भी एक दम कोठरी में दाख़िल हुआ और तख़्त पर चढ़ कर मेरी मेज़ से वी० टाइमपीस झपटी और उसे फेंका ही चाहता था कि मैंने अपनी चादर, जिसे ओढ़े हुए था, उसके सामने फैला दी। उसने घूमकर दूसरी ओर घड़ी फेंकना चाहा पर मैं भी जल्दी से उसी ओर मुड़ गया और घड़ी चादर में ही लेली। मैंने उस घड़ी को उसके सामने बहुत ही धीरे चादर से उठाया और मेज़ पर रख दिया। मेज़ पर रखते ही वह फिर घड़ी की ओर झपटा और फिर उठाकर फेंकने लगा। मैंने फिर पहले ही जैसे किया। उसने एक बार और उस क्रिया को दोहराया। चौथी बार उसने उस घड़ी के साथ मुझ से भी ज्यादा अच्छा बर्ताव किया। दूसरे दिन मैंने उसको घड़ी में चाबी लगाना सिखा दिया और फिर महीनों वह ठीक १२ बजे मेरी घड़ी में चाबी लगाया करता था।

मैंने यह यों किया कि मैं यह समझता था कि इस लड़के ने चीज़ों के साथ बर्ताव करने का पहला सबक़ जिस किसी से सीखा है वह इसकी इस आदत से बिल्कुल मिलता जुलता रहा होगा। इसलिए उसकी आदत छुड़ाने के लिए सिवाय इसके क्या हो सकता था कि मैं दूसरा सबक़ और भी ज्यादा गहरा उसके दिमाग़ की स्लेट पर आँक दूँ। क्या यह काम गुस्से से हो सकता था? गुस्से से उसको रोका जा सकता था। मगर सबक़ नहीं सिखाया जा सकता था।

यह सिद्धान्त यों तो सर्वमान्य है कि बच्चों में ज्ञान की ज़बरदस्त प्यास होती है, पर इसके मानने में बहुतों को झिझक हो सकती है कि उनके हर उचित अनुचित काम में सीखने की ही इच्छा रहती है। पर यह बात है ठीक। उदाहरण के लिए अभी मेरे सामने दो लड़कियाँ बैठी हुई दंगा कर रही हैं। स्नेह ने निर्मला पर एक लोटा पानी डाल दिया और दौड़कर बाबूजी के कमरे में बाबूजी के पास जा बैठी। निर्मला ने बदला लेने के लिए अक़्ल पर ज़ोरआज़माई की। बहुत देर उसके बाहर आने की ताक में बैठी रही। लोटे में पानी भर कर उसको डराकर बाहर निकालने की कोशिश में लोटा उड़ेलने का खिलवाड़ करने लगी। पर स्नेह न डरी न उठी। वह ख़ूब समझती थी कि यहाँ फ़र्श पर निर्मला पानी गिराने की हिम्मत नहीं कर सकती। निर्मला थक कर चल दी। आख़िर उसे एक तदबीर सूझी। वह अपने भीगे हुए कपड़े को और भिगो लाई और उसे स्नेह के कपड़ों पर निचोड़ दिया। स्नेह ने शोर मचाया। निर्मला की माँ ने बिना कुछ पूछे-ताछे निर्मला के दो चपत जमा दिये। इस तरह की बातें घर में नित्य ही होती रहती हैं पर इन सब का परिणाम बालक पर क्या होता है, इसे कौन जानने की कोशिश करता है। इसी अवसर पर एक बुद्धिमान माता उसको पुचकारती और ऐसी सूझ के लिए शाबाशी देती तो उस बालिका के ज्ञानमार्ग से भारी अड़चन दूर कर देती।

बालकों की कुछ ऐसी क्रियाएँ जो माता-पिता के काम में बाधा डालती हैं शरारत के नाम से पुकारी जाती हैं। आख़िर उनको और नाम भी क्या दिया जाय ? इन शरारतों को दूर करने का काम अध्यापकों को सौंपा जाता है। वे डंडे की शरण लेते हैं। और बहुत जल्द कामयाब हो जाते हैं। कामयाबी उन्हें उसी हद तक होती है जिस हद तक वे अपने डंडे से बालक को डरा पाते हैं। उस हद के परे बालक की शरारत ज्यों-की-त्यों मौजूद रहती है। वे ही शरारतें यदि निदान जानकर प्यार से दूर की जातीं तो न बालक का कुछ बिगड़ता और न अध्यापक को फिर उसी से पैदा हुए दूसरे रोग की दवा करनी पड़ती। इस संबन्ध में मेरा अनुभव सुनिये।

फ़िरोज़ाबाद (आगरा) में एक इत्रफ़रोश रहता था। उसका एक लड़का था जिसकी उम्र थी सात वर्ष। उसमें और बुरी आदतों के होते हुए एक आदत यह भी थी कि जो गाहक उसके बाप की दूकान पर आता था उसको वह चपत मारकर भगा देता था। इस वजह से दूकान क़रीब-क़रीब बन्द होने को आ चुकी थी। वह था बाप का इकलौता लड़का। इसलिए बाप यह सब कुछ बरदाश्त करने के लिए तैयार था। अचानक एक दिन उसके पिता की मुझसे भेंट हुई। और बातों-बातों में उसका ज़िक्र करते हुए वे बोले कि क्या मैं उसे ठीक कर सकता हूँ। मैंने कहा—हाँ, मैं कोशिश करूँगा। लेकिन एक शर्त है कि उसके और मेरे बीच में आप दख़ल न देने का वायदा करें। वे राज़ी हो गये और मैं दूसरे दिन दोपहर के दो बजे उनकी दूकान पर पहुँचा। लड़का मौजूद मिला। उसने जैसे ही मैं बैठा, मेरे सिर पर एक चपत रसीद किया। मैं चुप रहा। उसने फ़ौरन मेरा साफ़ा उतार कर सड़क पर फेंक दिया। मैं फिर भी कुछ न बोला। उसने कहा,—खड़े हो जाओ। मैं खड़ा हो गया। वह बोला,—अचकन उतारो। मैंने झट उतार ली। हुक्म दिया,—इसे फेंक दो। मैंने फेंक दी। फिर हुक्म मिला,—कुर्ता उतारो। मैंने उतार दिया। अब कहा,—फेंक दो। मैंने फेंक दिया। इसी तरह उसने मुझको फिर उन सब को उठा लाने और पहनने का हुक्म दिया। यह सब हुक्म वह बड़ी तेज़ी से देता जाता था और मुझे एक क्षण के लिए भी ख़ाली नहीं रहने देता था। आख़िर उसके हुक्मों का अंत हुआ और कुछ सेकिन्डों के लिए वह ठहरा। मैंने मौक़ा पाकर फ़ौरन उससे कहा—अब आप दूकान से नीचे उतर जाइये। उसने सधे सिपाही की तरह मेरा कहना माना। उसके बाद उससे बोला—अब

आप सीधे घर चले जाइये और कहीं न रुकिये। उसने वैसा ही किया और दौड़ता हुआ घर भाग गया। उसका बाप बोला—आपने जादू कर दिया।

मैंने कहा—जादू की कोई बात नहीं है। मैंने जब उसकी इतनी बात मानी है तो वह मेरी क्यों न मानता। मैंने यह भी कहा कि मैं विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि आप भी इसकी कोई बात नहीं मानते। उन्होंने उस ग़लती को स्वीकार किया।

बरस दिन के बाद वे मुझे फिर कहीं मिले और लड़के की बड़ी तारीफ़ करते थे और कहते थे कि वह अब ख़ातिरदारी का पुतला हो गया है।

पर क्या कोई शरारती लड़के को ठीक करने के लिए इतना सहनशील होना पसंद करेगा।

प्रेम

[दिनकर]

प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !
पल भर चमक बिखर जाते जो मना कनक-गोधूलि-लगन सखि !
प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !

प्रीति नील, गम्भीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को निज सुख में नित मूक-मगन सखि !
प्रीति नील गंभीर गगन सखि।

प्रीति न पूर्ण-चंद्र जगमग सखि !
जो होता नित क्षीण, एक दिन विभा-सिक्त करके अग-जग सखि !
प्रीति न पूर्ण-चन्द्र जगमग सखि !

दूज-कला यह लघु नभ-नग सखि !
शीत, स्निग्ध, नव रश्मि छिड़कती बढ़ती ही जाती पग-पग सखि !
दूज-कला यह लघु नभ-नग सखि !

मन की बात न श्रुति से कह सखि !
बोले प्रेम विकल होता है अनबोले सारा दुख सह सखि !
मन की व्यथा न श्रुति से कह सखि !

कितना प्यार ? जान मत यह सखि !
सीमा, बन्ध, मृत्यु से आगे बसती कहीं प्रीति अहरह सखि !
कितना प्यार जान मत यह सखि !

तृणवत धधक-धधक मत जल सखि !
ओदी आँच धुनी विरहिणि की, नहीं लपट की चहल-पहल सखि !
तृण-सी धधक-धधक मत जल सखि !

अन्तर्दाह मधुर-मंगल सखि !
प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे जो सुलग रहा तिल-तिल पल-पल सखि !
अन्तर्दाह मधुर मंगल सखि !

काल और शैतान का रहस्य

[एडवर्ड कारपेंटर]

संसार भर में क्या एक भी ऐसा प्राणी है जो दिव्य-सौन्दर्य-संयुत होना नहीं चाहता ?
जो सर्वगुण सम्पन्न शरीर नहीं चाहता ?—नहीं चाहता अचूक निपुणता, बज्र-वीर्य, गिरि-शिखरस्थ धूप के समान उज्ज्वल पारदर्शक मन ?
जो सर्वदा प्रेम-विकीर्ण करते रहना नहीं चाहता, और नहीं चाहता कि जहाँ हो, जहाँ पहुँचे, वहीं सुख दे और स्वीकृति पावे ?
तो सुनो, इस सिद्धि का रहस्य तुम्हारे पास है, अत्यन्त निकट।
तुम ही वह पुरुष हो ; यह सिद्धि तुम्हारे पास है, अत्यन्त निकट—तुम्हारे, अन्ततंम प्रदेश में।
किंतु काल-विस्तार में यह प्रकट होगी, प्रस्फुट होगी।
धन-सम्पत्ति के संग्रह द्वारा नहीं, किन्तु जो कुछ तुम्हारे पास है उसे दे डालने से ही तुम सौंदर्य-संयुत हो सकोगे ?
तुम्हें अपने आवरण उतार डालने चाहिएँ, यह नहीं कि नए-नए धारण किये जाओ ?
कपड़े-पर-कपड़े मढ़ते जाने के द्वारा तुम अपने शरीर को स्वस्थ और बलिष्ठ नहीं बना सकोगे। बना सकोगे उनको परित्याग करके।
अपने सूचना-संचय को बढ़ाते चले जाने के द्वारा तुम अपने मन को सुन्दर बना सकोगे।
तुम जो भोजन लेते हो वह तुम्हें जीवनी-शक्ति प्रदान नहीं करता है किंतु तुम स्वयं ही भोजन को जीवनी-शक्ति में परिणत करते हो।
जीवन-क्रिया अनवरत बाहर निकलना और घूँघटों का परे हटाना है, जिससे वह जो प्रच्छन्न है प्रकट हो सके।
बच्चा अपनी माता के शरीर से बाहर निकलता है और उस शरीर से समय पाकर एक अन्य बच्चा।
अब जो शरीर तुम्हें प्राप्त है जब वह झड़ पड़ेगा, तब तुम पाओगे कि उसके नीचे पहले ही से एक अन्य शरीर तैयार था, और उसके नीचे फिर एक और।
काल-विस्तार में जो अंतिम प्रकट होता है, सदा वही प्रथम और सबका कारण होता है, और वह नहीं जो पहले प्रकट होता है।

(२)

प्रत्येक प्रातः स्वतंत्रता को स्वतंत्र-रूप से जीतना होता है,
प्रत्येक प्रातः तुझे अपनी शक्ति स्वतंत्र रूप से संसार पर प्रयुक्त करनी चाहिए जिससे तू अव्यक्त में से उस उपवन का निर्माण कर सके जिसमें तू विचरता है।

[देख, मैं तुझे प्यार करता हूँ—मैं तेरे ही उपवन में तेरी प्रतीक्षा करता हूँ, और सायंकाल तक पेड़-पौदों के बीच ठिठका रहता हूँ ;

मैं तेरे लिए वीणा का सुर साधता हूँ ; मैं तेरे लिए अपने शरीर को तैयार करता हूँ, निर्मल जल में अदृश्य रहकर स्नान करता हुआ]

(३)

मनुष्य-मानव-शरीर-आश्चर्यमय है : इसे समझना, वश मे करना, इसे प्रति दिन स्वतंत्र-रूप से निर्माण करना, यही तो वस्तु मात्र को वश में करना है।

जीभ और जो कुछ उससे प्रादुर्भूत होता है, कथित और लिखित शब्द, भाषाएँ, आज्ञाएँ, अनुशासन, पृथ्वी-व्यापी तार-बर्की ;

आज्ञा देनेवाली, संचालन करनेवाली आँखें ; पैर और जो कुछ उनसे सूचित होता है—वह पथ जिसपर वे अब बरसों-बरस यात्रा करते हैं ;

शरीर की वासनाएँ, पेट और भोजन के लिए हाय-हाय प्रेम-वश दोलायमान छतियाँ, लिंग, माँसल जाँघें, साभिमान उन्नत ललाट और गरदन, तगड़ी पीठ, दृढ़ या काँपते हुए घुटने।

शरीर की असंख्य आकृतियाँ और जो कुछ प्रत्येक से सूचित होता है।

मनुष्य-मनुष्य के बीच का प्रत्येक संबंध—गिड़गिड़ाने का हो कि बलात्कारमय, कामुक, अश्लील, विशुद्ध, सम्मान-योग्य, न्यायोचित, दयापूर्ण और चाहे जैसा भी हो।

हाथों की विभिन्न मुद्राएँ, स्वार्थ-वश धन ग्रहण करते समय और तथा दान देते समय और।

एक उँगली भंगिमा में इस प्रकार के तनिक प्रभेद के कारण ही समाज में जो-जो शाखा प्रशाखाएँ और संस्थाएँ बन जाती हैं।

गरदन की गर्वोद्धत या दासता-मय बनावट के जो-कुछ परिणाम होते हैं।

मनुष्य के शरीर का जो कोई भाग उसके वश में नहीं होता है उसपर जो-जो बुराइयाँ पैदा होती हैं, जो-जो दुष्ट-वृत्तियाँ छूट निकलती हैं—जीभ के एक मरोड़ से या आँख के एक दुष्टता पूर्ण कटाक्ष से या किसी भी अंग के अमनुष्योचित व्यवहार से—और समाज में भँवर पैदा कर देती है ; जो मनुष्य शुद्ध और बलिष्ट है उसके चारों ओर जो-जो भलाइयाँ जमा होने लगती हैं—वे डोरे जो दूर-दूर से उसकी उँगलियों के सिरों तक खींच लाते हैं, उसकी दृष्टि में वस्तुएँ जो रूप धारण करती हैं, उसके अंग संचालन मात्र से जितना प्रेम चारों ओर विकीर्ण होता है।

ऐसे-ऐसे आश्चर्य पूर्ण प्रभावों और परिणामोंवाले शरीर को उसके समस्त राग-द्वेषों और शक्तियों सहित अपने वश में करना और उसका स्वामी बनना, उसको सचमुच ही अपने अधिकार में ले आना यही तो वस्तु-मात्र को वशीभूत और अधिकृत करना है, यही तो सृजन करना है।

(४)

सृजन-कला को, किसी भी अन्य कला की भाँति, सीखना होता है।

धीरे-धीरे, अनेक बरसों के बीच, तू अपने शरीर का निर्माण करता है।

और इस वर्तमान शरीर को निर्माण करने की शक्ति जो अब तुझे प्राप्त है। जैसी कुछ हो। वह तूने भूतकाल में अन्य शरीरों में उपलब्ध की है।

इसी भाँति भविष्य में-भी तू इस शक्ति का उपयोग करेगा जो तू अब उपलब्ध कर रहा है।

किन्तु शरीर निर्माण की शक्ति में सब शक्तियों का समावेश है।

हताश न हो बैठ, क्योंकि अभी तक तू यदृच्छा के हाथ में खिलौना बना हुआ है और प्रकृति और भाग्य जैसा चाहते हैं वैसा तुझे नचाते हैं,

क्योंकि यदि तू यह इच्छा के वश में न होता, तो तू स्वयं अपना स्वामी होता; किन्तु क्योंकि अभी तक तू अपने राग-द्वेष और अपनी शक्तियों का स्वामी नहीं है इसलिए अनिवार्य-रूप से तुझे, उसी परिमाण में, किसी अन्य शक्ति के वश में रहना होगा।

और यदि तू उस शक्ति को यदृच्छा के नाम से पुकारता है तो ऐसा ही सही। यही तो वह देवता है जिससे तुझे मल्लयुद्ध करना होगा।

(५)

सावधान रह कि किस प्रकार तू अपने लिए यह चाहता है और वह चाहता है। मैं यह नहीं कहता कि चाह मत कर; किन्तु सावधान रह कि तू किस प्रकार चाहता है।

क्योंकि जो सिपाही लड़ाई पर जा रहा है वह यह होंस नहीं रखता कि कौन-कौनसे नए माल असबाब वह अपनी पीठ पर और ले जा सकता है, वह तो यह जानना चाहता है कि कौन-कौन से वह अपने पीछे छोड़ सकता है;

क्योंकि वह भली-भाँति जानता है कि प्रत्येक नई वस्तु जिसे वह स्वच्छन्दता पूर्वक प्रयोग नहीं कर सकता है उसके काम में रुकावट डालती है।

इसलिए यदि तू यश-कीर्ति या सुख चैन, या विषय-भोग या कोई अन्य वस्तु अपने लिये चाहता है तो जो वस्तु तू चाहता है उसका नाम-रूप प्रकट होगा, और तुझे चिपट जायगा—और उसे अपने साथ-साथ लिए तुझे फिरना होगा;

और वे नाम रूप और शक्तियाँ जिन्हें तूने आह्वान किया है, तुझे चारों ओर से घेर लेंगी और तेरे लिए एक नया शरीर निर्माण कर देंगी और अपने भरण-पोषण और भोग-तृप्ति के लिए हाय हाय मचाएँगी;

और यदि अब तू इस नाम-रूप को धता बताने में असमर्थ है तो तब तू उस शरीर को धता बताने में और भी असमर्थ रहेगा। यही नहीं तुझे तो उसे लिये-लिये डोलना होगा।

सावधान रह कि कहीं वह तेरी क़बर और क़ैदखाना ही न बन जाय—जब कि उसे तो तेरा आनन्द-भवन और विहार-भूमि होना चाहिए।

क्योंकि (यह बारंबार कहा जाता है) ऐसा कुछ भी नहीं जो स्वयं ही बुरा हो; क्योंकि किसी वस्तु के बुरा होने का एकमात्र कारण तो मनुष्य का उस पर पूर्ण अधिकार न होना है।

और ऐसा कुछ भी भला नहीं जो बुरा न बन जाता हो, यदि वह स्वयं मनुष्य पर अधिकार जमा बैठा है।

और कोई भी शक्तियाँ सुख-भोग या पीड़ा या सांसारिक वस्तु ऐसी नहीं है जो अन्ततः मनुष्य के लिए और उसके उपभोग के लिए न हो—या जिससे उसे भय मानना पड़े या जिसके लिए लज्जित होना पड़े।

त्यागी और भोगी वस्तुओं को भले और बुरे में विभक्त करते हैं। मानो वे बुराई मात्र को अपने से दूर फेंक देना चाहते हों।

किन्तु वस्तुएँ भले और बुरे में विभक्त नहीं की जा सकतीं; प्रत्युत सभी वस्तुएँ भली हो जाती हैं, जैसे ही पुरुष उनको वशीभूत कर लेता है।

और क्या तू देखता नहीं कि मृत्यु के बिना तू मृत्यु को कभी जीत ही नहीं सकता—

क्योंकि इन्द्रियों के विषयों का दास बन जाने के परिणाम स्वरूप जिस शरीर को तू ने

धारण कर रखा है और जिस पर तुझे स्वामित्व प्राप्त नहीं है, वह तो तेरे लिए एक क़बर ही बन गया होता, यदि मृत्यु द्वारा उसका विनाश अवश्यम्भावी न होता।

किन्तु अब तो पीड़ाएँ और यातनाएँ सहता हुआ तू इस क़बर के बाहर निकल आयेगा; और तू ने जो अनुभव कमाया है उसके प्रकाश में अपने लिए एक नया और अधिक उपयुक्त शरीर बनायेगा।

और बारम्बार ऐसा ही होता रहेगा; यहाँ तक कि समय आयेगा तब तू पंख फैलाकर उड़ निकलेगा और अपने शरीर में समस्त दैवी और दानवी शक्ति केन्द्रीभूत कर एक साथ धारण करेगा।

(६)

बस अंत में मैंने अपने सामने शैतान को प्रगट होते देखा—भव्य, सब प्रकार से पूर्ण।

पहले पैर, फिर चमकती हुई टाँगे, इस प्रकार वह झाड़ियों के बीच ऊपर से अवतीर्ण हुआ।

और वहाँ खड़ा हो गया, तना हुआ, श्याम-वर्ण, भावावेश से फूले हुए नथनों सहित, अंगार सी असह धूप में वह खड़ा था, और मैं पेड़ों की छाया में।

उसकी आँखों से फूटा पड़ता तेज भीषण और ज्वलंत था, और स्वप्नों और स्वप्नशीलों के प्रति तिरस्कार-पूर्ण (उसने पास पड़ी एक शिला छुई और वह वज्र-निनाद सहित फट गई)।

उसके श्यामल शरीर का प्रभाव भीषण और आकर्षक था, उसका विशाल सुघड़ पैर रेती में दृढ़ता-पूर्वक जमा था—उँगलियाँ उसकी एक-दूसरी से अलग चौड़ रही थीं।

'बाहर निकल', उसने ताने से कहा,—'क्या तू मुझसे भिड़ते हुए डरता है ?

और मैंने उत्तर तो न दिया, किन्तु उस पर चढ़ बैठा और प्रबल आघात किया।

और उसने तो मेरे ऊपर प्रहारों की झड़ी ही लगा दी, और अग्नि सम हाथों से मुझे ठोका-पीटा, जलाया और मार भी डाला।

और मैं प्रसन्न हुआ, क्योंकि मेरा शरीर वहाँ मृत पड़ा था; और मैं एक अन्य शरीर धारण कर फिर उस पर चढ़ बैठा।

और वह मुझ पर फिर पिल पड़ा और प्रहारों की झड़ी लगा दी और उस शरीर को भी मार डाला।

और मैं प्रसन्न हुआ और अन्य शरीर धारण कर फिर उस पर चढ़ बैठा—

और फिर अन्य और अन्य और फिर अन्य शरीर धारण करता गया, और उस पर सवार रहा।

और मैंने जो-जो शरीर धारण किये वे उसके सामने टिक न पाये, और मेरे लिए तो वे आग्नेय परिधानवत् ही थे, किन्तु मैंने उन्हें उतार कर फेंक दिया।

और एक शरीर में जो दुख-व्याधियाँ मुझे सहनी पड़ीं, वही अगले शरीर में मैंने शक्तिरूप में पाईं और प्रयुक्त कीं; और मेरा बल-विक्रम बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि अन्त में उसी के सदृश शरीर धारण कर उसके सामने खड़ा हुआ, गर्व और आनन्द से मत्त और उज्ज्वल।

तब वह रुका और उसने कहा,—मैं तुझे प्यार करता हूँ।

और आश्चर्य ! उसका रूप भी बदल गया, और वह पीछे की ओर झुका और मुझे अपने निकट खींच लिया।

और मुझे आकाश में उड़ा ले चला और मुझे उत्तुङ्ग वृक्षों और सागरों के ऊपर से, और चन्द्रमा के तले तथा पृथ्वी की गोलाई के चारों ओर उड़ाता ले चला—

यहाँ तक कि हम स्वर्ग में फिर जा खड़े हुए।

———

(अनुवादक डा० रामकृष्ण)

निरुपाय

[उदयशंकर भट्ट]

उड रहा है पंख खोले आदि मेरा—अन्त मेरा।
झूल उठता शून्य में मेरा हृदय, उच्छ्वास मेरा,

ढूँढ़ने जाऊँ कहाँ मैं? आँख में आलोक फीका,
पैर लरजाने लगे हैं, जी हुआ है भार जी का।
उग्र जग के क्रोध पूरित व्यंग्य को दिल खोल सहता
और जग के राग में इन आँसुओं को घोल रहता—
'पागलों के स्वप्न ने उड़ चन्द्रमण्डल आज घेरा!'
उड़ रहा है पंख खोले आदि मेरा—अन्त मेरा।

कौन यह हारिल, अरे तू थक सकेगा क्या न उड़ता!
और तेरा प्राण पंखों से कहीं कुछ कह न कुढ़ता!
तू उड़ा ही जा रहा है पंख पर अभिलाप लादे—
बादलों की छातियों को चीर देंगे क्या इरादे?
ओ, ठहर तुझसे कहीं ऊँचा चढ़ा मेरा अंधेरा
उड़ रहा नभ के शिखर पर आदि मेरा—अन्त मेरा।

बीन साधन, प्राण में ब्रह्माण्ड का भर तत्व लाया,
विश्व का स्मय, राग की लय, सुधा का अमरत्व पाया;
तारिका से झलक, शशि से हास, सौख्य विकास लाया;
उषा के चुम्बित अधर-सा बाल रवि का श्वास लाया;—
पर बिना पर कौन चित्रित कर रहा छिप-छिप चितेरा?
उड़ रहा है पंख खोले आदि मेरा—अन्त मेरा।

अरे, शत-शत बिजलियों को पीस डाला, पी गया मैं;
और यौवन की जलन पीकर गले तक, जी गया मैं;
मैं उठा आनन्द-सा डूबा हृदय-सा, आगया मैं,
जल रहा हूँ, फिर जलूँगा उषा में सन्ध्या निशा में—
दीप लेकर हाथ में अपना कथानक आप हेरा।
पंख फैला उड़ रहा है आदि बनकर अन्त मेरा।

यह सुधा, यह विष, प्रणयकी हार में किसने पिरोये?
यह जलन, यह शान्ति भर किसने हृदय के घाव धोये?
यह विरह का, यह मिलन का दौर यों कब तक चलेगा?
पुतलियों से छिपे दिल से यह जगत कब तक जलेगा?
—आँसुओं के तरल पारावार में अब तो बसेरा।
उड़ रहा है पंख खोले आदि मेरा—अन्त मेरा।

विधवा *

(कुमारी पी० मालती)

आनन्दपुर गाँव के सबसे संपत्ति शाली ब्राह्मण-परिवार में क्षयरोग ने अपना अड्डा जमाया था। वहाँ खिलने वाला एक एक मनुष्य-पुष्प इस रोग के कीड़े से नष्ट हो जाता था। अन्त में उस महान् परिवार की सारी संपत्ति भोगने के लिए तीन लोग बचे। वे हैं अन्नपूर्णा और उसके दो बेटे रामचन्द्र और हरिहर। बड़ा भाई रामचन्द्र बड़ा ही तन्दुरुस्त और हृष्ट-पुष्ट था। यौवन की छवि फैल जाने पर उस मुख पर एक असूयाजनक सौभाग्य की झलक दिखाई पड़ने लगी। जब रामचन्द्र 'डिग्री' लेकर मद्रास से लौटे तो उनकी माँ पुत्र को गाँव की एक न एक सुन्दर लड़की से ब्याह करने के लिए ज़िद करने लगी। जो पुत्र माँ की सारी आज्ञाओं का आँख मूँदकर पालन करता आता था वह माता की इस मुराद को पूरा करने के लिए तैयार नहीं हुआ। रामचन्द्र का विचार था कि परम्परा से जो रोग कुटुम्ब में स्थायी रहा था वह मुझे भी मिला होगा। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि मैं एक नासमझ युवती के जीवन और शायद अपनी सन्तान की तन्दुरुस्ती को मिट्टी में मिला नहीं दूँगा। उन्होंने आजन्म अविवाहित रहने का निश्चय कर लिया। अन्त में वंश का अस्तित्व कायम रखने के लिए और माँ की चिरसंचित इच्छा को पूरी करने के लिए छोटे भाई हरिहर को ब्याह करना पड़ा।

माँ ने अपनी रुचि के अनुसार वधू चुन ली। सबसे दरिद्र ब्राह्मण परिवार से उस ग्यारह वर्ष की बालिका को चुनने में न जाने अन्नपूर्णा किस मनोभाव से प्रेरित हुई थी। जो कुछ भी हो इस बड़े रईस परिवार की भावी रानी का मुकुट पहनने का महाभाग्य छोटी शारदा के सिर को ही हुआ। शारदा को अपना कहने के लिए एक मामा के सिवा और कोई रिश्तेदार नहीं था। यद्यपि रस्म के ख़िलाफ़ था तो भी मामा का आशीर्वाद लेकर उसी दिन शारदा अन्न-पूर्णा के इच्छानुसार ससुराल गई।

सारे गाँव में उस दिन उत्सव मनाया गया। परम्परा से जो कुटुम्ब उस गाँव की सारी विपत्ति का बोझ उठाये हुआ था उस परिवार के सुख-दुःखों में गाँव का बच्चा-बच्चा भाग लेता था। वधू के वेष में जब पहले-पहल शारदा ससुराल को रवाना हुई तब हरएक घर के सामने 'निर-परा'‡ दीप और दूसरी सजावटें देखकर वह हँस पड़ी। उस भोली-भाली हँसी ने उसी दिन शारदा

* एक मलयालम कहानी का अनुवाद

‡ एक मंगल सूचक सजावट।

को गाँववालों की आँख की पुतली बना दिया। उस वर्ष गाँव में जन्म लेनेवाली सभी लड़कियों का एक ही नाम था—शारदा।

(२)

अकालमृत्युओं के दुःख-बादल से छाए हुए उस कुटुम्ब के अन्तरिक्ष में शारदा चन्द्रमा की भाँति आनन्द और आशा फैलाती रही। उसके गहनों की झनझनाहट से महल की गंभीर निश्शब्दता का भंग होता था। बसंतागमन से फुलवाड़ी में जैसे नई स्फूर्ति और शोभा आ जाती है उसी प्रकार उस घर में आनन्द और उल्लास फैल गये। ब्याह के दूसरे दिन ही हरिहर उच्च शिक्षा पाने के लिए विलायत चले गये, और शारदा सहेलियों की मंडली बना बैठी। वह गाँव की कन्याओं के साथ खेलती-कूदती फिरती थी। शारदा और सहेलियाँ तितलियों की तरह फूलों के बीच खेलती रहीं, चिड़ियों की तरह गीत गातीं और मोरनियों की तरह नाचती फिरीं। शरद् के मेघ-खण्डों की तरह वे वृक्षों और टीलों की आड़ में आँख मिचौनी करतीं और सरिणियों की तरह बालू में खेलती-कूदती थीं। शारदा के आगमन से उस गाँव में एक अनिर्वचनीय आनन्द और उत्साह का प्रसार हुआ।

इस प्रकार मधुमास से सुन्दर चार बरस बीत गये। शारदा पंद्रह बरस की हो गई और यौवन की पहली सीढ़ी पर पदार्पण किया। एक दिन शारदा की सास ने उसका बाल सँवारते समय प्रेमपूर्वक उससे कहा—बेटी, अब इस प्रकार हमेशा बाहर जाकर खेला न करो। इससे भी शारदा की लीलाएँ बन्द न हुईं। अब वह गाँव में खेलने नहीं जाती थी पर गाँव महल में आता था। गाँव की नदी के बदले अब घर का सरोवर हो गया उन कन्याओं की लीला-भूमि।

(३)

एक दिन शाम को एक लम्बी डिग्री के साथ हरिहर घर लौट आये। दूसरे दिन मेंहदी लगाने के लिए शारदा दौड़ती हुई सखियों के पास नहीं गई। 'गोपिका' की वेष-सामग्रियाँ ज्यों-की-त्यों पड़ी रहीं, अचानक शारदा को 'शरम' आ गई।

(४)

अगले वर्ष जन्माष्टमी के दिन शारदा का एक बच्चा पैदा हुआ। लेकिन उस दिन वह विधवा थी। उस कराल रोग राक्षस ने एक और युवक को निगल लिया था। सिर्फ़ सोलह वर्ष! शारदा विधवा हो गई। दुनिया के एक अन्धकारमय कोने में जीवन बिताने लायक अमंगलकारी वस्तु! शारदा के आइने पर धूल और गहनों की पेटियों में मोरचा जम गया। सुफ़ेद साड़ी पहने हुए और भस्मलेपन किए वह बालिका सचमुच एक करुण दृश्य थी। जैसे धूएँ लगा हुआ काँच।

(५)

उस विशाल भवन में परम्परागत निःशब्दता जो थोड़े दिनों के लिए भंग हुई थी फिर व्याप्त हुई। सिर्फ़ बच्चे का रोदन ही गाँववालों को याद दिलाता रहा कि यह घर क़ब्र नहीं है। वर्षा ऋतु के इन्द्र धनुष की भाँति बालगोपाल (शारदा का बच्चा) की कोमलता दिनों दिन बढ़ती जाती थी। उस रईस परिवार की सारी आशाएँ उस कोमल लता पर लगी हुई थी। एक दिन अचानक बच्चे ने रामचंद्र की ओर देखकर बुलाया 'प्पा, प्पा'*। सचमुच लोगों के विचारानुसार वैसे विकारशून्य आदमी रामचन्द्र नहीं थे जैसे पहली दृष्टि में दीखता था।

* तमिल में बाप को 'अप्पा' कहते हैं।

उनके गंभीर हृदय की तह के किसी कोने में पड़ी हुई सारी कोमल भावनाएँ एक अविरल धारा की तरह उस बच्चे की तरफ़ बह निकलीं। बालन (बाल गोपाल को घर वाले 'बालन' कहा करते थे) हमेशा 'अप्पा, अप्पा' कहता हुआ रामचन्द्र के पीछे चलता था। रात को बालन उन्हीं के पास सोता था। वह रामचन्द्र को हाथी बनाकर उनके पीठ पर सवारी करता था। उनके कमरे की भित्तियाँ बालन के चित्रों से अलंकृत हो गईं। वह कभी कैंची लेकर माँ के सिर के बाल काटने के लिए उसके पीछे दौड़ता। कभी वह देवी का नैवेद्य पूजा के पहले ही खा जाता। रोज़ शाम को जब रामचन्द्र टहल कर लौटते तो बालन को कोई न कोई खिलौना ला देते थे। आज एक गुड़िया, कल एक टोपी, दूसरे दिन एक छोटी पैर गाड़ी। हमेशा गंभीर भाव से चलनेवाले बड़े रईस का यह परिवर्त्तन देखकर गाँववाले चकित हो गये। जिस प्रसन्नता से पक्षी अपनी सन्तान को साथ लेकर उनको उड़ना सिखाते हैं उसी प्रकार रामचन्द्र हमेशा बालक को साथ लिये फिरते थे।

(६)

एक दिन जब रामचन्द्र हजामत बना रहे थे तब फुलवाड़ी में एक बच्चे के रोने की आवाज़ सुनकर वे उस्तरा आदि मेज़ पर ही रखकर फुलवाड़ी की ओर दौड़े। उसी समय बालन भी दौड़ता हुआ दूसरे रास्ते से कमरे में आ गया। उसने मेज़ पर आइना और उस्तरा देखा। वह कभी कभी 'अप्पा' को उस्तरा लेकर आइने के सामने बैठते और कुछ देर बाद और सुन्दर होकर बाहर निकलते देखा करता था। एक दिन उसने रामचन्द्र के पास जाकर कहा—अप्पा मैं भी हजामत बनाऊँगा। रामचन्द्र ने हँस कर कहा—दो दिन बीतने दो तुम्हें जब मूँछ निकल आवें तब हजामत करना। वह पूरे दो दिन मूँछ निकलने की प्रतीक्षा करता रहा। लेकिन मूँछ न उगी। तो क्या मुझे कभी हजामत नहीं बनाना मिलेगा? बालन के धैर्य का अन्त हो गया। उसी समय ऐसा सुअवसर पाकर बालन का अंग फूले न समाया। उसने उस्तरे की ओर देखा, फिर चारों ओर देखा। कमरे में और कोई नहीं था। वह एक बड़ा प्रलोभन था। जब बालन ने फिर आइने की ओर देखा तो अपने गले में एक काला दाग देखा। कुछ दिन पहले जब उसको सहेली लीला उसको गले से लगा रही थी तब यकायक उसका गला छोड़ कर कहा था—छी, बालन के गले में कौए के पैर-सी एक काली चीज़ है। यह सुनते ही बालन लीला से रूठ गया था उसने दुहराया—कौए के पैर-सी एक काली चीज़। उसने उस्तरा हाथ में लिया और उस काली चीज़ को जड़ से उखाड़ने के लिए गले में ज़ोर से छुरी मारी। उसके मृणाल से कोमल कण्ठ की नसें कट गईं और सारा शरीर लहूलुहान हो गया। लौट आने पर जब रामचन्द्र ने यह दृश्य देखा तब मूर्च्छित होकर ज़मीन पर गिर पड़े।

(७)

वह एक प्रचण्ड आघात था। शारदा का हृदय टिठुर गया। अन्नपूर्णा कुछ दिनों के लिए अपनी देवी से भी रूठ गयी। पर सबसे सख़्त ठेस रामचन्द्र के हृदय पर ही लगी थी। उनका विश्वास था कि मेरी असावधानी से ही बालन की मृत्यु हो गई। वे स्वयं कहा करते थे —मैंने बालन को मारा, अपने बालन को मारा। वे कभी-कभी भोजन करते समय पागलों की तरह भोजन के सामने से जल्दी उठकर बाहर दौड़ जाते थे। कई लोगों का विचार था कि वे आत्मघात करेंगे। किन्तु जिनको राम चन्द्र के असीम मातृ-प्रेम का परिचय मिला था उन लोगों ने इस बात पर विश्वास नहीं किया। बाहर जाकर लौटते समय अब भी रामचन्द्र एक न एक खिलौना लाते थे। क्या उन्होंने सोचा था कि घर आते ही आँखों में नटखटपन की वह

ज्योति और ओठों पर सुन्दर मुस्कान लेकर गले से लगाने के लिए बालन दौड़ आवेगा ? अभागा रामचन्द्र ! उस घर के द्वार पर हमेशा टूटी हुई मुरलिया, छोटे-छोटे खिलौने, गुड़ियाँ आदि पड़ी हुई दीख पड़ती थीं। स्त्रियाँ यह सोचकर कि रामचन्द्र का दुःख बढ़ न जाय, अपनी व्यथा प्रकट नहीं करती थीं। वे घण्टों बैठे बालन की 'फोटो' देखते रहते थे। लेकिन जिस प्रकार बिना पानी का कुआँ देखकर प्यास से थके हुए आदमी की प्यास और बढ़ जाती है उसी प्रकार उस निर्जीव वस्तु ने बालन का कमल-मुख देखने की उनकी लालसा को और बढ़ा दिया।

रामचन्द्र को बचपन से ही ऐसा विचार हुआ करता था कि हमारे परिवार के ऊपर एक बड़ी भारी विपत्ति की छाया लटक रही है। किन्तु उन्होंने कभी नहीं सोचा था कि वह विपत्ति ऐसी निठुर होगी। बालन का वह गुलाब-सा कपोल एक बार और चूमा होता, उसकी मणिनाद-सी हँसी एक बार और सुनी होती, बादलों के बीच से दौड़ते हुए आनेवाले बालचन्द्र की तरह माँ के आँचल को कुचलने के बाद उसका दौड़ आना एक बार और देखा होता...। बालन की मीठी बात-चीत और उसके सुन्दर मुख को सुने और देखे बिना उस कमरे में रहने से दम घुटकर वे बाहर भाग जाते। लेकिन उसका फ़ोटो देखकर अपना लालच मिटाने के लिए दूसरे ही मिनिट फिर हाँफते हुए कमरे में आ जाते।

(८)

उस दिन शाम को वे बाहर से लौटे आ रहे थे। एक छोटा-सा सोने का कंगन हाथ में पकड़े थे। उस समय शारदा पूजा के कमरे से आ रही थी। उनके हाथ में बालन का वह कँगन देखकर उसकी आँख से एक बूँद आँसू टपक पड़ा। एक पल ज्यों की त्यों खड़ी रही। फिर जल्दी से अन्दर चली गई। रामचन्द्र ने शारदा की आँसू भरी दृष्टि देखी। उनके हृदय में एक बड़ी भारी तृष्णा भभक उठी। उन्होंने शारदा में अपनी एक खोई हुई वस्तु देखी। पर वह क्या है ? किधर है ? वे रात भर सो न सके। ओस पड़े हुए कुवलय सी वे श्यामल और अश्रुभरी आँखें ! उसी प्रकार की आँखें उन्होंने और कहाँ देखी है ? कई अव्यक्त रूप उनके हृदय की आँखों के सामने आते जाते रहे, अन्त में एक रूप उनके हृदयनेत्र के सामने आ गया। उस ✱ बालन को हजामत बनाने न देने से अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसने 'अप्पा' की ओर देखा था। आह वही चितवन ?

(९)

पाँच छः बरस पहले रामचन्द्र ने विवाह-मण्डप में ही पहले पहल शारदा को देखा था। घर और गाँव के कार्यों में लगे हुए रामचन्द्र ने सखियों के साथ खेलनेवाली शारदा को देखा था ज़रूर लेकिन विधवा होने के बाद उन्होंने शारदा को कभी नहीं देखा था। घर के किसी कोने में बैठ कर जप करनेवाली उस विधवा की ओर आँख उठाकर कौन देखता है ! फिर लजीला रामचन्द्र क्या देखे।

एक दिन शाम के वक्त घर लौटते समय रामचन्द्र ने संयोगवश शारदा को देखा था। बालक की स्मृति जगानेवाली सभी वस्तुओं से रामचन्द्र को ख़ास प्रेम था। वहाँ के माली का एक लड़का था जो बालन की तरह नटखट था। एक दिन उन्होंने इस लड़के को एक चाँदी का घोड़ा उपहार दिया। पड़ोस की लीला ने एक दिन कहा था—बालन के कानों में ताटंक पहनाया जाय तो बहुत अच्छा लगेगा। इस सूचना मात्र के लिए उन्होंने लीला को एक रत्नजटित 'ड्रोप्स' की जोड़ी ख़रीद दी थी। उन्होंने कभी यह न समझा था कि बालन रूप में उसकी माँ की परछाँह है। जब बालन की आँखों सी वे बड़ी बड़ी आँखें उन्होंने देखीं तो एक बार और

देखने की इच्छा प्रबल हो उठी। जिस प्रकार मरुभूमि के पथिक की प्यास दो बूँद पानी मिलने से बढ़ जाती है उसी प्रकार उन आँखों को एक बार देखने से उसको फिर देखने की लालसा उत्पन्न हो गई। ओस की बूँदों से भागे हुए कुवलय सी वे आँखें उनके मनको जलाने लगीं। दूसरे दिन भी उन्होंने 'संयोगवश' शारदा का दर्शन किया। उनका मन कह रहा था कि तुम अनुचित कार्य कर रहे हो। जब रामचन्द्र कॉलेज में पढ़ते थे तब उनके उच्च आदर्श और हृदय-बल को देखकर सहपाठी लोग चकित हो जाते थे। रामचन्द्र ने इस अवसर पर अपने सारे हृदय-बल को काम में लाने की कोशिश की किन्तु सब व्यर्थ हुई। वह रोज़ शारदा का दर्शन करने लगे। कभी आरती के समय और कभी नहाकर लौटते समय वह शारदा को देख लेते थे।

(१०)

मुँह अँधेरे नदी के हिमशीतल पानी में नहाते समय और घर में देवी के सामने प्रणाम करते समय शारदा की एक ही प्रार्थना थी। अपने बच्चे के जीते उसको अपने से अधिक प्यार करनेवाले और उसकी मृत्यु पर अपने से अधिक दुःख करनेवाले उसके ज्येष्ट रामचन्द्र को कोई हानि न पहुँचे। वह रोज़ खुद उनके कमरे को साफ़ कर देती और सुन्दर फूलों से सजाती थी। रामचन्द्र हर रोज़ उसको एक बार दूर से देखने का अवसर निकालते थे।

देखते-देखते वह अपने खोए हुए बालक का सजीव रूप उसकी माँ में देखने लगे। सास की आज्ञा से आरती का सामान लिए पूजा के कमरे में जानेवाली शारदा में, उन्होंने, नहाने के लिए माँ की बुलाहट सुनकर अर्धसम्मति से जानेवाले बालक का दर्शन किया। भीगे कपड़े पहन कर भस्मलेपन करके देवी की प्रतिमा के सामने निश्चेष्ट पड़ी हुई शारदा ने उनको, आइने के सामने पड़े हुए बालक के पीले मुख और क्लान्त शरीर की याद दिलाई। उन्होंने शारदा के मुद्रित ओठों में, उस निःशब्द चेष्टा में, पीले मुख और क्लान्त शरीर को भूमि पर छोड़ कर उड़ना चाहनेवाली एक सुन्दर आत्मा का दर्शन किया।

(११)

एक दिन अन्नपूर्णा ने पुत्र के शादी न करने से, कुल को होनेवाले डरावने भविष्य के बारे में बात-चीत की।

रामचन्द्र ने कहा—क्यों माँ, अगर हमारे कुल का अन्त ही हो जाय, तो भी हमारा सारा धन सत्कार्यों में लगाया जा सकता है।

'चन्द्र का कहना सच है' माँ ने मंजूर कर लिया।

'गाँव में इतने ग़रीब ब्राह्मणों के रहते हमारे धन का उपयोग अच्छी तरह हो जायगा।'

'क्यों ब्राह्मणों को दें?' उन्होंने पूछा—हमारे राज्य में कितनी अच्छी-अच्छी संस्थाएँ हैं जो धन के अभाव से डाँवाडोल हैं। देखो हाल ही में ट्रिचूर में जो विधवा-मन्दिर खोला गया है, वह कितनी अभागिनी युवतीविधवाओं का दुबारा ब्याह......

'चन्द्र' अन्नपूर्णा ने करुणा-दृष्टि से बेटे की ओर देखा। वह हँसते हुए बोले—नहीं अम्मा, घबराओ नहीं, तुम्हारी सेवा करने के लिए एक और बहू आ जायगी। किन्तु अन्नपूर्णा यह सुनने के पहले ही रूठकर कमरे से चली गई थी। कड़ी हृदय-व्यथा के साथ वह जल्दी ही अपने कमरे में चली गई। अगर फिर कर देखा होता तो देख लेती—झूठी हँसी से खुले हुए ओठों पर एक बून्द आँसू टपक पड़ा है। देखती, पानी और बिजली लिए वर्षा के मेघ-खण्ड-सी अपने बेटे की दशा।

(१२)

शारदा समझ गयी कि रामचन्द्र उससे प्रेम करने लगे हैं। कुछ दिनों पहले अगर उन्हीं के मुख से शारदा ने यह बात सुनी होती तो यही समझती 'बेचारे! पागल हो गये हैं?' पर अब वह ख़ूब समझती थी कि रामचन्द्र के हृदय में मेरे प्रति असीम प्रेम है। समझ कर, शारदा के मन में ऐसी एक भावना उत्पन्न हुई जिसे वह ख़ुद साफ़ समझ नहीं सकी। वह भावना डर या दुःख नहीं थी। वह बिल्कुल असंतोषकारी भी नहीं थी। तो भी शारदा समझती थी कि मेरे हृदय में ऐसा विकार उत्पन्न नहीं होना चाहिए। उसने जी जान से उस भावना को मिटाने की कोशिश भी की। लेकिन मिटाने की कोशिश करते-करते वह दस गुने ज़ोर से सारे हृदय में फैल गई।

एक स्त्री जब पहचानती है कि उसको एक पुरुष प्यार करता है तब चाहे वह उस पुरुष से प्रेम न करे तो भी उसके हृदय में एक अवाच्य उमंग और उत्साह होता है। दुनिया की दृष्टि में शारदा एक स्त्री, पत्नी और माता हो चुकी थी लेकिन सचमुच वह अब तक एक स्त्री नहीं हुई थी। अच्छे कपड़े, गहने और फूल जिसमें मिले वह ब्याह शारदा को बहुत अच्छा लगा था। संपत्तिशाली घर, स्नेहमयी सास, अपनी हर एक आज्ञा पालने के लिए नौकर-चाकर इन सबको पाकर वह बहुत ख़ुश हुई। पर अपनी सबसे कम प्यारी सहेली से भी अधिक वह अपने विदूरवर्त्ती पति को प्यार नहीं कर सकी थी। पति के आने से शारदा को अपनी बाल्य-लीलाओं से हाथ धोना पड़ा था। उसका पति सुन्दर, शान्त और सुशिक्षित था। तो भी वह पति को अपनी स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाली जंज़ीर समझती थी। शारदा पति को शरद ऋतु के लीलामण्डप को ख़राब करनेवाली वर्षा और सरोवर की सलिल-लीलाओं को मिटानेवाला नक्र समझती थी। स्त्रीत्व के मीठे मधु से भर जाने के पहले पुरुष के निठुर हाथ ने उस फूल के दलों को उखाड़ दिया। इसके अतिरिक्त उस पर मातृत्व का बोझ भी लद गया। वह ऐसे निठुर पति को कैसे प्यार कर सकती थी? पति की मृत्यु पर सब को रोते देखकर वह भी रोई थी किन्तु जब उसके सोने के कंगने और गहने उतारे गये तभी वह विधवापन की कटुता समझ सकी। शारदा अपने बच्चे को बहुत प्यार करती थी। वह एक विधवा का अपने एकलौते बेटे के प्रति होनेवाला प्रेम न था। वह बच्चा उसे उसके बाल्य की याद दिलाता था। इसी से शारदा उसको प्यार करती थी। क्रमशः वह उस बालक को अपने हृदय के एक हिस्से की तरह गिनने लगी।

इसी अवसर पर वह वज्रपात हुआ। विधि ने शारदा के हाथ से बच्चे को ज़बरदस्ती छीन लिया। उसको जीवन से ही घृणा हो गई। वह ईश्वर और मज़हब से भी घृणा करने लगी। ईश्वर से भी कृपालु सास और उसके अभागे बेटे के लिए ही वह जीवन बिताती थी। जब वह दूसरों के लिए जीने लगी तब जीवन की ओर उसको श्रद्धा होने लगी। शारदा की जीवन-सरिता का प्रक्षुब्ध-सलिल फिर भी प्रशान्त होने लगा।

इसी बीच रामचन्द्र के प्रति उसको श्रद्धा होने लगी। जिस प्रकार बन्द कमरे में चन्दन-धूप लगाने से, उसकी सुगंधि से सारा कमरा भर जाता है उसी प्रकार धीरे-धीरे प्रेम की सुगन्धि से शारदा का सारा हृदय भर गया। शारदा ख़ूब जानती थी कि यह बूढ़ी सास के लिए बड़े रंज की बात है। ईश्वरीय क्रोध से वह ज़रा भी नहीं डरती थी। लेकिन अपनी स्नेहमयी सास पर उसको असीम श्रद्धा थी। इसलिए उसने रामचन्द्र के मार्ग से हट जाने का निश्चय किया। एक चतुर युवती की सारी चाल से वह उनकी आँखों के सामने से बिल्कुल हट गई।

(१३)

'धनु' महीने के 'तिरुवातिरा' ¶ के दिन रामचन्द्र का जन्म-दिन था। उस दिन अन्नपूर्णा सिर दर्द के मारे खाट पर पड़ी थी। उसने शारदा को बुलाकर कहा कि आज मेरे बदले तुम्हीं चन्द्र को भोजन परोस दो।

जब वह भोजन करने बैठे तब शुभ्र वस्त्र पहन कर शारदा भोजन परोसने लगी। रामचन्द्र ने सारी चीज़ें बड़े चाव से खा डालीं। उन्होंने एक बार भी परोसनेवाली की ओर आँख उठाकर नहीं देखा। कई दिनों से रामचन्द्र बहुत कम खाते थे। लेकिन आज उन्होंने पत्तल में डाली हुई सभी चीज़ें खा लीं। अन्त में जब शारदा खीर परोसने के लिए झुकी तो एकाएक उसकी बन्धी हुई वेणी खुलकर उनके गले में जा गिरी। शारदा ने घबरा कर उसी हाथ से बाल पकड़ कर पीछे बान्ध दिया। किन्तु उस केशावली के स्पर्शमात्र से उस युवक का सारा संयम हवा हो गया। उन्होंने आँखें उठाकर शारदा की ओर एक बार देखा। पुरुष की आँखों की वह दृष्टि कोई भी स्त्री उल्टी नहीं समझ सकती। शारदा उसी दम ऊपर अपने कमरे में चली गई और दरवाज़ा बन्द करके बिछौने पर पड़ी रही।

सन्ध्या तक शारदा उसी तरह पड़ी रही। पासवाले घर में स्त्रियाँ गाती-बजाती नाच रही थीं। वहाँ 'पुत्तिरुवातिरा' ‡ होने से स्त्रियाँ बड़े मज़े से 'कैकोट्टिकली'* खेल रही थीं। वे गा रही थीं—

प्रथम समागम लज्जितया पटु चाटुशतैरनुकूलं
मृदु मधुरस्मित भाषितया शिथिलीकृत जघनदुकूलं
श्लथकुसुमाकुल कुन्तलया नखलिखित घनस्तन भारं
चरणमणित मणि नूपुरया परिपूरित सुरत विधानं

वह कमरा खोलकर बाहर बरामदे में आ गई। बिदा लेनेवाली सूर्यदेव की अरुण रश्मियाँ पेड़ों के ऊपर पड़ रही थीं। अनार के पेड़के ऊपर तोते की जोड़ी बैठकर चहचहा रही थी। पासवाले घर का नृत्य अभी ख़त्म नहीं हुआ था। स्त्रियाँ और लड़कियाँ अच्छे कपड़े और गहने पहनकर ताल-मेल के साथ सुर मिलाकर गा रही थीं—

स्मर समरोचित विरचित वेशा
दलित कुसुम दर विलुलित केशा
हरि परिरंभण वलित विकारा
कुच कलशोपरि तरलित हारा

......शारदा के पीछे कोई आकर खड़ा हो गया। शारदा ने फिरकर नहीं देखा। वह मानो उनका ही स्वप्न देख रही थी। शारदा के पीले कपोलों में गुलाब की लालिमा छा गई, कनखियों में पहाड़ के पास पहुँचे हुए मेघ का सा रंग आ गया, सारे अंग में एक नई शोभा फैल गई। उसकी हृदय-वीणा बज उठी और यौवन के वेग से सारा हृदय आन्दोलित हो गया। उसी

¶ केरल का एक त्योहार।
‡ एक त्योहार जब केरल की स्त्रियाँ व्रत रखती हैं और आनन्द मनाती हैं
* केरल का खास नृत्य

समय स्नेहमयी अन्नपूर्णा का रूप उसके हृदय के नेत्रों के सामने आ गया। शारदा ने बड़ी मुश्किल से रामचन्द्र को याद दिलाया 'जेठ जी !'

रामचन्द्र के कानों पर ये शब्द वज्र से लगे। वह एकाएक काँप उठे। उनका हृदय मानों आग में जलने लगा। वे उसी दम दौड़ते हुए नीचे चले गये।

पलंग पर पड़ी हुई अन्नपूर्णा ने बेटे को ऊपर जाते देखकर धीमें स्वर में बुलाया था 'चन्द्र !' कुछ देर तक कोई जवाब न मिलने पर बूढ़ी धीरे-धीरे बेटे के कमरे की ओर चली गई। वह कमरे में जल्दी-जल्दी टहल रहे थे। 'चन्द्र !'-माँ की आवाज़ सुनकर उन्होंने सिर उठाकर देखा। कुछ देर तक वह पागलों की-सी शून्य दृष्टि से माँ को घूरते रहे। अन्नपूर्णा ने पूछा—तुझे क्या हो गया बेटा ? रामचन्द्र ने अपने को सँभाल कर सहज कोमल स्वर में कहा—कुछ नहीं अम्मा, तुम पलंग पर जाकर लेटो। मैं भी आता हूँ। रामचन्द्र ने माँ को खाट पर लिटा कर कंबल उढ़ा दिया और जाते-जाते माँ से कहा—माँ, मेरा ब्याह इसी सप्ताह में ठीक कर दो। तुम्हीं बधू चुन लो।

बूढ़ी होने पर भी अन्नपूर्णा बुद्धिमती थी। वह बेटे के मन की हालत ताड़ गई। इस-लिए रात भर सो न सकी। इसी चिन्ता में पड़ी यों ही लेटी रही।

(१४)

'आग......आग'

लोग झुण्ड-के-झुण्ड महल के सामने आ गये। शारदा का कमरा जल रहा था। दरवाज़े में अन्दर से ताला लगाया हुआ था। लकड़ी के टुकड़ों के जल-जलकर गिरने की आवाज़ आती थी। अन्दर जाकर शारदा को बचाने की हिम्मत किसी को भी नहीं हुई। इसी समय दौड़ते हुए रामचन्द्र आ गये। माँ के पास शारदा को न देखकर वे लपककर उसके कमरे की ओर बढ़े और किवाड़ पर ज़ोर से धक्का दिया। आधा जला हुआ किवाड़ इस धक्के से टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ा। धुएँ से कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था। एक लैंप के पास शारदा निश्चेष्ट पड़ी थी। उसके जले हुए शरीर को हृदय से लगाये हुए वह बाहर निकल आये।

(१५)

माँ बेटे दोनों गेरुए कपड़े पहने थे। कुटुंब के वकील साहब उनकी जायदाद की एक सूची बनाकर लाये थे। उन्होंने रामचन्द्र से पूछा—तब इन सब की क्या व्यवस्था करनी होगी ?

रामचन्द्र ने कहा—चारों ब्राह्मण-समाजों में बाँटी जायगी। है न माँ ?'

'ना,' अन्नपूर्णा ने जवाब दिया—यदि तुझे आपत्ति न हो तो मैं सारी सम्पत्ति ट्रिचूर के विधवा-मन्दिर को देना चाहती हूँ।

'अम्मा !' रामचन्द्र ने सजल नेत्रों से माँ की ओर देखा।

राजकुमार का देशाटन

[जैनेन्द्र कुमार]

आगे बढ़ने पर राजकुमार ने देखा कि एक बहुत बड़ा द्वार है। प्राचीन है, दृढ़ है। लोहे के दरवाज़े हैं और संतरी बैठे हैं। वहाँ गति शांत है, कोलाहल स्तब्ध है। आहट करते लोग वहाँ बचते हैं। कुछ-कुछ लोग रह-रह कर, गरदन झुकाए द्वार के भीतर चले जा रहे हैं। उनकी आँखें नीची, देह अल्प, चाल धीमी है। मानो वे किसी भार से झुके हैं। पर भार वे क़ीमती हैं, क्योंकि झुककर वे गर्वित भी हैं। और लोग दूर से आदर के भाव से इन्हें देख रहे हैं। इससे जान पड़ता है कि ये कुछ ख़ास आदमी होंगे।

भीड़ और शोर की इस दुनिया में यह ठंढा और मंद स्थान क्या है। और जगह भागा-भाग है, यहाँ गति धीमी है। और जगह तो छीन-झपट देखने में आई, यहाँ एक दूसरे से बोलता भी नहीं है। कुमार ने सोचा कि यह जगह क्या हो सकती है। और ये लोग भीतर क्या पाने यों सिर झुकाये जा रहे हैं?

एक पास के आदमी से कुमार ने पूछा—क्यों भाई, यह जगह क्या है?

'यह ज्ञान-मंदिर है। तुम अनजान मालूम होते हो।'

'हाँ भाई, मैं नया हूँ, इससे अनजान हूँ। इस ज्ञान-मंदिर में सब लोग नहीं जा सकते हैं?'

'सब लोग कैसे जा सकते हैं! जो बुद्धिमान हैं, वे ही जा सकते हैं।'

'बुद्धिमान् नहीं हैं, क्या ऐसे लोग भी होते हैं? वे लोग कैसे होते हैं!'

'कैसी बात आप करते हैं! मुझे ही देखो, मैं बुद्धिमान कहाँ हूँ। बस समझ लो, मेरे जैसे वे लोग होते हैं।'

'तो जो लोग जा रहे हैं, वे बुद्धिमान हैं। तो बुद्धिमान् लोग इतने ही हैं? क्यों भाई उनकी क्या पहचान है?'

'देखते तो हो। वे लोग धीमे चलते हैं और चश्मे की मार्फ़त देखते हैं। मैं इन सीधी आँखों से देख लेता हूँ, चश्मा लगाना भी नहीं जानता, इसी से मैं बुद्धिमान कैसे हो सकता हूँ!'

'और वे झुके हुए क्यों हैं? और दुबले क्यों हैं?'

'कह तो दिया, वे बुद्धिमान् हैं।'

सुनकर कुमार द्वार की ओर बढ़ा पर वहाँ द्वारपाल ने रोक दिया। उसने पूछा—

'कहाँजाते हो?'

'इसी ज्ञान-मंदिर में जाना चाहता हूँ।'

'टिकट!'

'टिकट क्या होता है, भाई?'

'जहाँ विद्या पाई, वहाँ का टिकट, यानी, सार्टिफ़िकेट है?'

'नहीं भाई। मैंने तो विद्या कहीं की भी नहीं पाई है।'

'तब हटो। यह ज्ञानमंदिर है।'

'भाई, मुझे अन्दर तो जाने दो। अंदर से थोड़ा भी ज्ञान साथ उठाकर मैं नहीं लाऊँगा। मैं प्रवासी हूँ अपना बोझ बढ़ाना नहीं चाहता हूँ। बस देखने आया हूँ।'

द्वारपाल ने कुमार को देखा और जाने कुमार में क्या देखकर मार्ग से हट गया और कुमार को भीतर जाने दिया।

अंदर कुमार ने देखा कि बीच में एक बड़ा हॉल है। उसका दर्वाज़ा छोटा है और वह चारों ओर से घिरा है। वहाँ दिन में भी अँधेरा है। तेल, मोम या बिजली की बत्तियाँ जल रही हैं। उनसे अँधेरा ही चमकदार हो रहा है। उस चमक में दीखता है कि चारों ओर किताबें चिनी हैं। किताब, किताब, किताब,—ऊपर नीचे वही वह हैं। उसके दाएँ-बाएँ भी कमरे बने हैं और वहाँ भी किताबें हैं। और सभी कहीं लोग कमर झुकाए सामने किताब खोले बैठे हैं। कोना-कोना ऐसे लोगों से घिरा है।

कुमार ने उनमें से एक व्यक्ति के पास जाकर कहा—भाई, माफ़ करना—

उस व्यक्ति ने गरदन उठाकर नाराज़गी के साथ चश्मे में से कुमार को देखा और ऐसी भाषा में कुछ कहा जिसे कुमार समझ नहीं सका।

कुमार ने कहा—माफ़ कीजिए। मैं आपकी बात समझा नहीं। मैं यह कहना चाहता था कि आप का स्वास्थ्य उपयुक्त नहीं है। आप बाहर कुछ हवा में घूमें तो क्या उत्तम न हो?

व्यक्ति ने जल्दी-जल्दी उसी भाषा में कुछ कहा जिसको कुमार फिर नहीं समझ सका।

कुमार ने कहा—आप जो कुछ बोलते हैं मैं समझ नहीं सका।

'तुम शिक्षित नहीं हो?'

'मालूम नहीं। मैं सिर्फ़ बोलने की बोली बोल सकता हूँ। आप की यह भाषा कौन है?'

'यह शिक्षित की भाषा है। ज्ञान की और पुस्तक की भाषा है। यों कहो कि तुम कुछ नहीं जानते। मुझे फ़ुर्सत नहीं है। मैं तुम से बात नहीं कर सकता। आश्चर्य है कि अब भी लोग स्वस्थ और सुंदर होना काफ़ी समझते हैं और ज्ञान नहीं प्राप्त करते। महाशय, मुझे आप पर खेद है।'

कुमार वहाँ से हट कर इधर-उधर घूमने लगा। घूमते-घूमते देखा कि एक कमरे में किताबें नहीं हैं, वहाँ क़ाग़ज़ ज़्यादह है। और वहाँ दो आदमी पढ़ नहीं रहे हैं, हँस-बोल रहे हैं। उन की कुर्सियाँ ऊँची हैं और वे निश्चिन्त जान पड़ते हैं।

कुमार को ये लोग समझ नहीं आये। उसने पास जाकर कहा—मैं देखता हूँ आप लोग औरों की भाँति यहाँ ज्ञान उपार्जन नहीं कर रहे हैं। यह क्या बात है।

वे दोनों ज्ञान-मंदिर के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष थे। अध्यक्ष ने पूछा—आप कमरे में बिना इजाज़त आ गये हैं। लेकिन आपको देखकर प्रसन्नता मालूम होती है। मैं सच कहता हूँ। पर आप रहते कहाँ हैं, जो ऐसा सवाल करते हैं।

कुमार—मैं दूर रहता हूँ। उसको जानने से आपका कुछ उपकार नहीं होगा। मैं यह जानना चाहता था कि क्या यहाँ विद्योपार्जन करने की स्वाधीनता है?

अध्यक्ष ने कहा—सुनिये। आप कहीं वहाँ रहते हैं जहाँ ज्ञान का आविष्कार नहीं हुआ है। लोग पढ़ें, इसके लिए एक पढ़ानेवाला भी तो चाहिए। मैं पढ़ानेवाला हूँ। पढ़ कैसे सकता हूँ। आप ही सोचिए।

कुमार—क्षमा कीजियेगा। लेकिन यहाँ अँधेरा किस लिए ज़रूरी है?

अध्यक्ष—मुझे आप पर अचरज है। प्रकाश में ज्ञान की क्या उपयोगिता है। वह अंधकार की ज्योति है। दिन में कोई दिया जलता है! इससे जहाँ दिया जले, वहाँ अँधेरा चाहिए वहाँ अँधेरा न हो तो ज्ञान वृथा ही न हो जाय।

कुमार—मैं समझा। प्रकाश आपको नहीं चाहिए—

अध्यक्ष—जी नहीं, प्रकाश आवश्यकता से कम ही चाहिए। इससे सत्य का प्रकाश नहीं चाहिए, विद्या का प्रकाश चाहिए। सत्य निरपेक्ष है निर्मम है। वह अंधा भी कर सकता है। और विद्या का प्रकाश आवश्यकता से अधिक हो ही नहीं सकता क्योंकि विद्या वैसी सत्य नहीं है। वह उपयोगी झूठ है। वह कृत्रिम प्रकाश है।

कुमार—लेकिन आप का ज्ञान—

अध्यक्ष—मेरा? मेरी बात छोड़िये। मैं तो पढ़ाता हूँ। पढ़ता था, तब पढ़ता था। वह बात गई। अब पढ़ता हूँ तो ऐसे जैसे परीक्षक को विद्यार्थियों की कापियाँ पढ़नी होती हैं। पढ़ना मेरे लिए काम है, शौक़ अब नहीं हो सकता। इससे मेरा सहन-शक्ति अधिक है। मेरा कमरा देखिए। यहाँ कहीं किताब हैं? चारों ओर की धूप मेरे यहाँ आती है। धूप को लाना नहीं होता, उसे बस आने देना होता है।

कुमार—क्या पढ़नेवालों को धूप और हवा नहीं चाहिए!

अध्यक्ष—ओः!, आप जानते नहीं। मैं उनकी भलाई चाहता हूँ। उनका स्वास्थ्य हल्का है। उन्हें यह जानने से क्या फ़ायदा कि उनका ज्ञान अज्ञान है। यह उन्हें न मिलेगा। उन्हें अभी यह बताने का समय नहीं है कि ज्ञान का अर्थ अपने अज्ञान को वहन करने में समर्थ होना है। क्या आप चाहते हैं कि वे समर्थ न बनें? खुले सत्य से वे मर सकते हैं। इसी से वह झूठ उन्हें दिया जाता है जो उनकी हालत में उन्हें उपयोगी हो। झूठ है, इसी लिए खुले में वह कैसे टिकेगा? खुले में कोई पढ़ेगा क्यों? जियेगा क्यों नहीं? हँसेगा क्यों नहीं?... एक बात और है। मुझे अपनी विशिष्टता प्रिय है। इसके लिए मुझे दोष नहीं दिया जा सकता। यह स्वभाव है। इसके बिना मानव मानव क्या। वह मेरी विशिष्टता उनकी ज्ञानमय मूर्खता पर ही टिकी है! वे मुझ जैसे हुए तो मैं उन जैसा हुआ। मैं उन जैसा होना नहीं चाहता। आप कहते हैं, मैं उन्हें खोलूँ। लेकिन मैं उन्हें उनकी भलाई में बाँधता हूँ, जिसकी आवश्यकता है और जो उन्हें प्रिय है।

कुमार—मैं समझा। आप अपनी समझ में प्रकाश में रहते हैं और क्योंकि प्रकाश के कष्ट को आप जानते हैं, इससे उस प्रकाश को झेलने के कष्ट से और सब को बचाना चाहते हैं। यही?

अध्यक्ष—ओः, बिल्कुल यही। मैं कृतज्ञ हूँ। मेरे भाव को आपने भाषा दे दी।

कुमार—आप अपना गुरुता जानते हैं।

अध्यक्ष—जाननी होती है। मैं अनुत्तरदायी कैसे हो सकता हूँ?

४

कुमार—किन्तु क्या आप अपने राज्य का विस्तार नहीं चाहते ?

अध्यक्ष—विस्तार ? मैं समझा नहीं।

कुमार—ज्ञान-मंदिर पर आपका राज्य है। यानी, वह राज्य-ज्ञान-मंदिर तक है। उससे बाहर राज्य आप नहीं चाहते ? क्यों नहीं चाहते ?

अध्यक्ष—ओः ! छोड़िये। आप कहना चाहते हैं कि मैं आत्मतुष्ट न रहूँ। शायद अभिप्राय है कि मैं समझूँ, मैं अभी अँधेरे में हूँ और ज्ञान-मंदिर से बाहर आकर प्रकाश खोजूँ। आप ठीक हैं। लेकिन कर्तव्य से विमुख मैं कैसे होऊँ। ज्ञानार्थियों को अनाथ करूँ ?

कुमार—मैं कुछ नहीं चाहता। लेकिन आप हँसते हैं, तो मैं सुझाऊँ कि कमरे के भीतर वह हास्य मुक्त नहीं होगा। बाहर जहाँ दरिद्रता फैली है और आपको अध्यक्ष कह सकने योग्य भी ज्ञान जहाँ नहीं है, वहाँ आप हँसिये-हँसाइये तो अधिक शांति पाइयेगा।

अध्यक्ष (विचलित)—आप कैसी बात करते हैं ! नहीं, नहीं, मुझे अपनी कुर्सी पर अविचलित रहना चाहिए। मैं अपने को गुरु समझना छोड़ूँ तो विद्यार्थियों का अहित होगा। जी नहीं, यह ज्ञान-मंदिर है। बताइये, आपको क्या पुस्तक मँगा दूँ। सब प्रकार के ज्ञान की पुस्तकें हमारे यहाँ हैं।

कुमार—पुस्तक ! मैं पढ़ना नहीं जानता। क्षमा कीजिये। (जाना चाहता है)

अध्यक्ष (साग्रह)—आप जायँगे ? तनिक ठहरिये न। बैठिये, बैठिये, कुर्सी पर बैठिये। मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। आप जैसे व्यक्ति पृथ्वी पर विरले मिलते हैं। आप यहाँ के नहीं हैं सुनिये तो—

कुमार—जी नहीं, मुझे जाने दीजिये। मैं अपढ़ हूँ—

अध्यक्ष—मुझे लज्जित न कीजिये। यहाँ ऐसे अपढ़ भाग्य से मिलते हैं। सभी तो पढ़ना चाहते हैं। बे पढ़े किसी से संतुष्ट नहीं रहा जाता। कौन संतोष के लिए पढ़ता है। कौन पढ़ने में स्थिरता पाता है ! लेकिन आप में वही बात पाता हूँ।

कुमार—प्रणाम ! मुझे अब जाने दें।

[कुमार चल देता है। अध्यक्ष अनायास अभ्यर्थना में खड़े हो जाते हैं और जाते हुए कुमार को विस्मय से देखते रहते हैं।]

जागृति

[रामकुमार वर्मा]

मैं जीवन में जाग गया।
धूमराशि-सा उठ कर, गिर कर,
सुख दुख का भय भाग गया ।। मैं जीवन० ।।

कोकिल कूक उठी क्षण भर में;
अनायास पंचम था स्वर में,
एक मधुर वर्षा मधु-गति से—
बरस गई मेरे अम्बर में,
स्पर्श, शब्द, रस, रूप गन्ध का,
क्या अनुराग विराग गया ? ।। मैं जीवन० ।।

दीप-शिखा वह हिल कर घूमी;
शलभ-राशि छवि-मद में झूमी;
नेत्र देखते रहे, दैत्य सो—
ज्वाला ने कोमलता चूमो,
और शलभ उस दीपक को—
जग में जलता ही त्याग गया !!
मैं जीवन में जाग गया।

गांगेय

[स्वर्गीय श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर]

[पूर्व-कथा—गंगदेश के राजा और राजा नन्नन् के बीच लड़ाई छिड़ती है और गंगदेश का राजा तथा उसके साथी लड़ाई में मारे जाते हैं। गंगदेश को अपने क़ाबू में कर और वहाँ के राजा का सबसे छोटा लड़का गांगेय को साथ लेकर, राजा नन्नन् अपनी राजधानी शेंगण्मा पहुँचकर राज कर रहा है। वह गांगेय को राज-प्रासाद में ठहराकर, अपने बेटे की तरह उसकी देख-रेख करता है और समुचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करता है। नन्नन् का उसको अपने यहाँ रखने का उद्देश्य यह था कि, उनके यहाँ रहने से गंगदेश की प्रजा बग़ावत न करेगी। नन्नन् की एकलौती बेटी माधवी गांगेय से प्रेम करती है।]

(१)

'प्रेम! यह क्या है? दिल तड़प रहा है शरीर द्रवीभूत हो रहा है!

'दक्षिण-पवन बदन को जला रहा है। कमल का फूल हाथ को तपा रहा है। खेलने में जी नहीं लगता। सखियों का सम्मेलन कड़ुआ लग रहा है। दिल सुनसान जगह चाहता है। लेकिन एकान्त में मन-ही-मन को खा रहा है!

'नींद आँखों से हट गई है। कभी-कभी अपने आपको भूलकर आँखें झपकते ही, स्वप्न में प्रेमी का रूप दीखकर मुझे सताता है!

'सुना है कि पिताजी ने गांगेय के साथ मेरा ब्याह कराने के लिए कहा है। क्या यह बात सच हो सकती है? गांगेय के उस बलिष्ट बाहु से मिलने का सौभाग्य क्या मुझे प्राप्त हो सकता है? उसकी बहादुरी, उसकी शकल को सोचते ही, मेरे दिल का हरक झंझावात-सा हो उठता है!

'लेकिन क्या गांगेय भी मुझे चाहता है?

'अगर न चाहता तो नीलमाला के द्वारा यह सुन्दर माला मेरे पास क्यों भेजता? पुरुषसिंह गांगेय के हाथों में, थोड़ी देर के लिए ही सही, रहने के सौभाग्य-प्राप्त हे फूलों! तुम्हारी तक़दीर क्या ही अच्छी है! तुम्हें अपनी छाती में रखूँगी।

'लेकिन, गांगेय के प्रेम के स्वरूप को बिना जाने ही, क्या इन फूलों को रखना ठीक

है ? नहीं, अभी इन्हें न रखूँगी। अरी माला, तुम्हें इस पुष्प-लता में टाँग दूँगी। जब मुझे गांगेय अपने प्राणों से भी अधिक चाहेगा, तब तुम्हें अपने गले में पहनूँगी। न हो तो, इस जन्म में इन फूलों का स्पर्श भी न करूँगी। सत्य है, यह ध्रुव सत्य है।

'गांगेय का आशय कैसे समझा जा सकता है ? हाँ; आज वह शिकार खेलने जायेगा। वहीं जाकर अपना मक़सद पूरा करूँगी। रे मन, तब तक सब्र कर! मुझे सता मत।'

इस प्रकार सोचती हुई, माधवी जँगल की ओर जा रही थी।

(२)

गांगेय और उसके साथी वन में शिकार खेल रहे हैं। तीर चलाने में, फाँस फेंकने में और भाला भोंकने में कौन गांगेय की समता रखता है ? हरिण और जंगली भैंसे तीर लगने से जहाँ-तहाँ मरे पड़े हैं। जंगल का एकच्छत्र सम्राट सूअर भी गांगेय के भाले से घायल होकर पड़ा है।

लेकिन गांगेय के मन में ख़ुशी नहीं है। उसे अपने देश का ख़याल हो आता है।

'कितने दिन परदेश में रहूँगा ? मेरी चिन्ता से माँ रोती होगी। चीर नदी के किनारे नन्नन् के हाथ हम हार क्यों खाए ? उस दिन हमारे वीरों की ताक़त कहाँ चली गई थी ? मैं क्यों उस दिन बचा था ? पिता की तरह, भाई की तरह, रण-भूमि में मर जाता तो ऐसे दुःख की बारी न आती!

'हाय! पहले-पहल उसने मुझे देश-निकाले का दण्ड दिया! क्या उसका जन्म इस संसार में, स्त्री-पुरुषों के बीच, नहीं हुआ ? रेगिस्तान की तरह सूखे हुए उसके दिल में रहम बिल्कुल न रहा ?

'यह देखो! ये काले बादल गंग देश की ओर जा रहे हैं! सवेरे जो हंस-मालाएँ उड़ती जा रही थीं, वे मेरी रत्न-पूर्ण जन्मभूमि की झीलों में नहाकर खेलती होंगी! सिर्फ़ मैं ही यहाँ आह भरे साँस छोड़ रहा हूँ।

'नन्नन् मुझसे प्रेम करता है—अपने पुत्र की तरह मेरी ख़ातिर करता है। लेकिन आख़िर मैं क़ैदी ही तो हूँ ? इस राज्य की सीमा का तो मैं उल्लंघन नहीं कर सकता ? अपनी जन्म-भूमि का ख़याल मेरे दिल को सता रहा है

'गंगदेश! तेरे टीलों को झरनों को, गुफाओं को, जंगलों को मैं फिर कब देखूँगा ! देवदारु, अगरु, चन्दन, कटहल और बाँस से खचाखच भरे हुए तेरे जंगलों में मैं चीतों और रीछों का शिकार कब करूँगा ? हाथी के बच्चों को खेलते-कूदते और हस्तिराज को हज़ारों हथिनियों के बीच वन के सरोवरों में जल-क्रीड़ा करते देखकर फिर कब मज़ा लूटूँगा ? गंग! क्या ही अच्छा है तुम्हारा सौन्दर्य! क्यों मैं तुमसे बिछुड़ा हूँ ?'

इस प्रकार गांगेय के मन में जन्म-भूमि की स्मृतियाँ उठ-उठकर उसे सता रही हैं।

(३)

एक नौजवान वीर गांगेय के पास आकर बोला—गांगेय, वहाँ उस बाग़ में चेरदेश का राजकुमार माधवी का मनन कर रहा है। चलो, सुनें।

गांगेय का मुख क्रोध से तमतमा उठा। आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। तलवार को खींचते हुए उसने कहा—मेरी माधवी की ओर ताकनेवाले चोर के अभी दो टुकड़े कर देता हूँ। बताओ, वह किधर है ?

गांगेय की बातें सुनकर युवक वीर ने मुस्कुराकर अपनी पगड़ी सिर से उतारी। उसी समय उसके बाल बिखर पड़े, मानो पूर्ण चन्द्र को काले बादलों ने घेर लिया है। जैसे बादल को चीरकर सौदामिनी-लता चमकती है, वैसे ही वीर-वेष को त्याग कर गांगेय के सामने माधवी खड़ी हुई !

वह कहने लगी—तुम्हारे प्रेम की मैंने जो परीक्षा की, उसके लिए मुझे माफ़ करो।

गांगेय की आँखों में आँसू भर आये।

'अरी मेरी प्रेम-पात्र सुन्दरी ! तुम्हें माफ़ करूँ ! भयंकर ज्वर-जैसे सूखे हुए मेरे हृदय में तुम्हारी एक स्मृति ही झरने से पैदा हुई सुन्दर फुलवारी-सी है। नन्नन् के सर्वस्व ! मेरे मन-रूपी क्षीर-सागर में उदित अमृत-कलश ! चमकती हुई सफ़ेद चाँदनी ! मेरा भाग्य सराहनीय है, जो तुम्हारा प्रेम मिला।

'लेकिन, मेरी माधवी, मैं यह भूल गया कि इस राजगृह का मैं एक बन्दी हूँ। क्या तुम्हारा पिता मेरे साथ तुम्हारा विवाह करायेगा भी ?...'

इस प्रकार गांगेय का वक्तव्य समाप्त न हुआ कि इतने में—'उसका पिता उसे तुम्हीं को सौंपना चाहता है'—कहता हुआ नन्नन् उसके सामने आकर खड़ा हो गया !

गांगेय भौंचक हो गया।

लेकिन माधवी धीरे-धीरे नन्नन् के पास जाकर खड़ी हो गई।

नन्नन् ने गांगेय से कहा—गांगेय, तुम्हारे वीर्य और शौर्य को सराहकर, मैंने जब तुम्हें अपना दामाद बनाना चाहा, तभी तुम दोनों के मन की एकता को देखकर मुझे सन्तोष हुआ। मैं शिकार खेलता इसी रास्ते आ रहा था कि तुम्हारी बातें मेरे कानों में पड़ीं और यह जानने के लिए कि यह कौन है, मैं यहीं खड़ा रहा। तुम्हारा देश-प्रेम देखकर मेरा मन पिघल गया। बन्दी बनाने की प्रथा बहुत बुरी है। मैंने तुम्हें बन्दी बनाकर जो सताया है, उसके बदले में मैं अपनी एकलौती बेटी माधवी और अपना देश तुम्हें अर्पण करता हूँ। शेंकणमा में छः महीने और गंगदेश में छः महीने रहकर, तुम दोनों राज्य का पालन करते रहो।

यह कहकर नन्नन् दोनों को राजमन्दिर में ले गया।

गांगेय माधवी का पाणिग्रहण कर, दोनों राज्यों को पाकर सुख से रहने लगा।

अनुवादक—श्रीनिवासाचार्य 'भारद्वाजीय'

सतीश

[सुन्दरलाल गर्ग]

'तुम चल रहे हो न ?'

'कहाँ ?'

'कहाँ ? क्यों, सुक्खा ने नहीं कहा, हम लोग नुमायश देखने जा रही हैं।'

'तो इसमें मेरे चलने का सवाल कहाँ आ जाता है ?

'हमारे साथ चलने में कोई हर्ज तो है नहीं।'

सतीश समझ नहीं पाया कि यह उर्मिला खड़ी २ कह क्या रही है ? उसने कहा—नहीं तुम जाओ, देख आओ। और फिर अपने लिखने में लग गया।

उर्मिला गई नहीं। खड़ी रही और थोड़ी देर बाद फिर कहा—अच्छा तो मैं जाऊँ ?

सतीश ने सर उठा कर देखा, उर्मिला अभी खड़ी ही है और पूछ रही है—अच्छा तो मैं चलूँगा ? सतीश ने एक बार उसके मुँह की ओर देखा फिर लिखने में लग गया। कहा कुछ भी नहीं।

'अच्छा तुम बिस्कुट की दूकान जो बना रहे थे, नुमाइश में किस तरफ है ? उर्मिला ने पूछा।

'आते हुए दाहिने हाथ को आठ दस दूकानें छोड़ कर ही है। क्यों, तुम्हें क्या करना है ?'

'एक दो पैकेट सत्तो बहन के बच्चे के लिए लेलूँगी। वह आज जा रही हैं न ? किस तरफ़ बताया तुमने ?'

जी में आया कि सतीश पूछ ले 'सत्तो, क्या जा रही है ,आज' पर, मुँह से निकला 'जाओ दूकान कोई नुमायश से बाहर थोड़े ही है। वहीं मिल जायगी।'

सुनकर उर्मिला को एक ठेस-सी लगी और वह धीरे धीरे चलने लगी। चलते-चलते फिर कहा—लौट आके भोजन बना लूँगी। जल्दी तो नहीं है ! कहीं जा तो नहीं रहे हो ?'

'भोजन मेरे लिए नहीं बनाना। शायद मैं बाहर चला जाऊँ। आज भूख भी नहीं है।'

उर्मिला ने पूरा सुना नहीं। पड़ोस की माताजी के यहाँ पहुँची और वहाँ से सब लोग प्रदर्शिनी के लिए रवाना हो गईं।

सतीश का लिखना छूट गया।

तब सतीश लिखने में ऐसा व्यस्त था कि उर्मिला की आड़ उसे अच्छी नहीं लग रही थी। अब सोचता है, कि क्या करे ?'

मानव अपने में अपूर्ण है। अपने से बाहर भी उसे किसी और की अभ्यर्थना रहती है। बहुतों में वह एक है। उसकी चाहना अमर है, अतृप्त है।

सतीश ने जो मार्ग अपने लिए निश्चित कर रखा है, उस पर वह चला जा रहा है, चला जा रहा है। वह भटकना नहीं है। साहित्य से उसे रुचि है! जो कुछ लिखता है, ख़ूब सोच-समझ कर ही। उसमें सतीश के व्यक्तित्व की गहरी छाप होती है। पिछले कुछ दिनों से सतीश ने कुछ नहीं लिखा और आज जब बे लिखे वह नहीं रह सका तो लिखने लगा। अब उसमें भी यह अटक आगई।

दो वर्ष के कुछ ही ऊपर हुए कि सतीश का विवाह उर्मिला से होगया था। माँ-बाप पहले ही इसे संसार के भरोसे अकेला छोड़ चुके थे। घर में दो ही प्राणी हैं। काम करने के लिए एक पहाड़ी नौकर है—सुक्खा!

ब्याह के बाद से ही सतीश का मन अच्छा नहीं रहता। सोचता है, क्या करे और क्या नहीं? कभी सोचता है कि कुछ करे ही नहीं और कभी उसे लगता है कि निषिद्ध क्या है? सब कुछ करने को ही तो है।

उर्मिला है गुड़िया के समान। पर, सतीश शायद वैसा बच्चा नहीं जो गुड़िया से मन बहला सके। वैसे नौका है, चल रही है। जल गमन की बहार है और डगमग भी करती जा रही है।

घर में एक प्राणी और है, तोता! उर्मिला को वह बड़ा अच्छा लगता है। वह उसे प्यार करती है, चुगा देती है, पानी पिलाती है, नहलाती है और 'बोल मेरे मिट्ठू राम राम' सिखाती है। सतीश सोचता है कि यह उर्मिला इसके पीछे क्यों इतना वक़्त ख़राब करती है?

सतीश बैठा बैठा कुछ समझ नहीं पाया कि क्या करे?

वह उठा, उठकर दावात क़लम को ताक़ में रख दिया और काग़ज़ पर जो कुछ लिखा था उसी को कुर्सी पर बैठा बैठा पढ़ने लगा। पढ़ने लगा, इतने में दरवाज़े पर से किसी की आवाज़ सुन पड़ी। कोई पुकार रहा है—'उर्मिला बहन!' 'उर्मिला बहन!' सतीश ने सर निकाल कर देखा, सत्यवती खड़ी है। गोद में एक छोटा बच्चा है।

देखते ही सतीश उठ खड़ा हुआ। बोला—आओ।

'मैं उर्मिला बहन से मिलने आई थी। कहाँ हैं?'

वह चुप।

'मैं आज जा रही थी। सोचा, चलो मिल आऊँ। नहीं है वह?'

'अच्छा किया जो आई, आओ, बैठो!' उसने एक मुड्ढा थोड़ा आगे खिसका दिया। 'वह तो नहीं है।'

'उनसे कहना......अच्छा तो मैं चलूँ? मुझे आज ही जाना है। रात की नौ वाली गाड़ी से जा रही हूँ। सब कुछ बाँधना-सौंधना है।'

सतीश क्या कहे?

'वह होती तो मिल लेती, अब वक़्त नहीं है कि फिर आ जाऊँ। सोचा था कि अब की गई गई न जाने फिर कब आ सकूँ?'

सुनते सुनते सतीश एक मूढ़े पर बैठ गया और दूसरे को थोड़ा और आगे बढ़ाकर बोला—बैठो! और सत्तो के मुँह की ओर ताकता रहा।

सत्यवती ने मूढ़े के पास आते-आते कहा—कबतक आ जायेगी वह? ज्यादा समय

मेरे पास नहीं है। वह जल्दी ही आ जाय तो ठीक। और कहते-कहते वह बैठ गई। बच्चे को नीचे ज़मीन पर उतार दिया। साड़ी के छोर को ज़रा सँभाल लिया।

'मुझे आए एक महीने से ऊपर ही हो गया। एक दिन मैं आई थी। उर्मिला बहन अकेली ही थी।'

'हाँ, मुझे उसने कहा था।'

'वह न जाने कब आयेगी? मुझे देर हो रही है।'

'इतनी जल्दी क्या है, खाना आज यहीं न खा लेना। वह अभी आती ही होगी।'

'मैं आज जा रही हूँ। अभी बहुत काम रखा है। मुझे जाने दो, सतीश!'

कुछ देर दोनों चुप बैठे रहे। फिर सतीश के मुँह से निकला—'तुम तो एक बार मिलने भी नहीं आईं, सत्तो!'

'कैसे आती, समय ही नहीं मिल पाता।'

'हूँ।'

'तुम्हीं न आ जाते देखने एक बार।'

वह चुप।

फिर कुछ सोच कर—तुम अच्छी तो रहती हो न...?

इतने में बच्चा रो उठा। रो उठा—अम्मा, हम घल चलेंगे। घोला लेंगे।

'अभी चलते हैं, मुन्नू! देखो रोना नहीं। मेरे अच्छे बाबू, हम तुमको घोड़ा देंगे।'

'नहीं, चलो, बस, हम घोला लेंगे। भूत पहनेंगे।'

'अच्छा, यह बताओ, तुम किसके बेटे हो?'

'टुमाले।' सत्तो ने उसे उठाकर सीने से चिपका लिया।

'तुम घोला लोगे? भूत पहनोगे? और क्या लोगे? तस्वीर?' सत्तो ने बच्चे की आँखों में आँखें डालते हुए कहा—बच्चा मचल पड़ा—

'हाँ हम तछ्वील लेंगे। घोला नहीं, हम तछ्वील लेंगे।' यह कहकर उसने एक बार सतीश की ओर देखा और देखता रहा।

सतीश की गर्दन नीचे झुक गई। उसने धीरे से बच्चे को अपनी ओर खींचकर पुचकारते हुए कहा—मुन्नू बाबू, घोड़ा लोगे। हम...

'नहीं नहीं, हम तछ्वील लेंगे।'

सत्तो चुप थी।

सतीश क्या कहे? सत्तो जब ससुराल गई थी, तब तस्वीर माँगी थी। तब थी नहीं तो क्या अब भी यही कह दें? इतना समय भी नहीं कि तस्वीर खिंच सके। सतीश बड़ी उलझन में पड़ गया।

इतने में बच्चा फिर बोल उठा—अम्मा, हम घल चलेंगे। यह तो देते ही नहीं।

सत्तो ने एक बार बच्चे की ओर देखा और फिर सतीश की ओर। फिर उठते-उठते बोली—अच्छा, तो जाऊँ मैं?'

'जाओगी।' सतीश जैसे नींद से जगा।'

'वह तो आई नहीं, मैं अब चलूँ।'

'जाती हो!' कहते कहते सतीश भी उठ खड़ा हुआ। उसके साथ साथ दरवाज़े तक आया और दरवाज़े का सहारा लेकर खड़ा हो गया।

'५

'कभी कभी एकाध पत्र ही दिया करो।'

'भेजूँगा।'

सत्तो चल पड़ी। जैसे उसे जाने की बहुत जल्दी है। अब वह रुक नहीं सकती। बस जल्दी जल्दी चल दो।

'अरे तुम अब आई। इतनी देर......'

'हाँ, तुम क्या नहीं रहे, इतनी देर। क्या करते रहे?'

'हाँ, यहीं था। सत्तो आज जा रही है। तुमसे......'

'नुमायश बड़ी अच्छी थी। बिस्कुट की दूकान तो मिली नहीं। तुमने ठीक से बताया ही नहीं।'

'लो, मैंने ठीक से बताया नहीं। सत्तो, तुमसे......'

'हाँ, मुझसे मिल लो। नुमायश में तो वह गई नहीं। सत्तो की माताजी हमारे साथ थीं। मैंने बच्चे के लिए दो एक खिलौने ले दिये।'

'तुम जाते वक़्त सत्तो के घर होकर गई थीं?'

'हाँ, उनके घर जाकर, सत्तो की माताजी के साथ ही गई थी। सत्तो बहन तो गई नहीं। उसे आज जाना है, सो काम बहुत बताया।'

सतीश चुप रहा, कहता क्या?

वह कुछ सोचता रहा, सोचता रहा। उसे लगा कि जैसे वह अपराधी है। उर्मिला के प्रति उसे क्षमा-प्रार्थी होना चाहिए। वह क्या है? उसका पति और उर्मिला उसकी पत्नी है। उसके बाहर वह कुछ भी नहीं। आगे चलने से पहले, यह सोच कर चलना होगा कि चलते चलते सामने कुँआ भी मिल सकता है और इसके लिए आँखें खोलकर चलना होगा। कुँआ आ जाने पर, कुँए को देखकर पीछे नहीं हटना होगा। विपत्ति को सामने पाकर पछताना कैसा? हिचकिचाहट कैसी? कुँए को सामने देखकर अधीर नहीं होना होगा, पीछे नहीं हटना होगा। उसे पार कर जाना होगा मार्ग निकालना होगा।

'मैं अब भोजन बना लूँ, तुम कहीं जा तो नहीं रहे हो?'

'नहीं, जा तो कहीं नहीं रहा हूँ।'

हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी

[डाक्टर ताराचन्द]

इधर हाल में 'लीडर' में कुछ ऐसे लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनका सम्बन्ध उस समस्या से है जो हिन्दुस्तानी की आधुनिक भाषाओं के और विशेषतः संयुक्त प्रान्त की भाषा के विकास से दिलचस्पी रखनेवालों का ध्यान आकर्षित कर रही है। समस्या नई नहीं है। वास्तव में उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही, जब कि जॉन बोथविक गिलक्राइस्ट ने कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में लल्लूलाल, सदल मिश्र, मीर अम्मन, मीर बहादुर अली, हैदरबख़्श हैदरी, क़ाज़िम अली जवान, मज़हर अली ख़ाँ विला, निहालचन्द, शेर अली अफ़सोस इत्यादि को इकट्ठा करके उनके द्वारा फारसी और ब्रजभाषा से अनुवाद करना शुरू किया था, अनुवाद के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली भाषा के नाम स्वभाव, मर्यादा और शैली की समस्या उपस्थित हो गई थी। इस समस्या की ओर उन्नीसवीं सदी भर लोगों का ध्यान आकर्षित होता रहा, और कुछ वर्षों में तो वादविवाद बहुत ज़ोर से चला। १८६० और १८८० के बीच जोन बीम्स और एफ़० एस० ग्राउज़ ने इस विषय पर शास्त्रीय पत्रिकाओं में विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने बीम्स का पक्ष ग्रहण करते हुए भाषा में फ़ारसी और अरबी के प्रभाव को क़ायम रखने के लिए अपील की, किन्तु राजा लक्ष्मण सिंह ने इसका विरोध किया और फ़ारसी तथा अरबी अंशों को हटाकर उनके स्थान पर संस्कृत के शब्दों को लाने के पक्ष में ग्राउज़ का समर्थन किया। यह बात भी मनोरंजक है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी संस्कृत के प्रभाव का पक्ष लेने में कमी नहीं रखी। सर जी० ए० ग्रियर्सन—जिन्हें सभी लोग भारतीय भाषा-विज्ञान का आचार्य मानते हैं—ने अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया'—के भाग ९ के पहले हिस्से में लिखा है 'दुर्भाग्यवश इस युग में सबसे प्रभावशाली अंग्रेज़ी संस्कृत मिश्रित भाषा के ही पक्ष में रहे हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों के द्वारा इसी संस्कृत मिश्रित हिन्दी का प्रयोग हुआ है और बाइबिल का अनुवाद भी उसी हिन्दी मे हुआ है। कुछ भारतीय लेखक जो ठेठ हिन्दी के पक्ष में थे इस भ्रमपूर्ण प्रयत्न के शक्तिशाली उदाहरण के मुक़ाबले में बहुत कम सफल हुए।'

बीसवीं सदी के आरम्भ से वही विवाद फिर ज़ोरों के साथ शुरू हो गया है। इस प्रकार यह विवाद जो लगभग डेढ़-सौ बरस से जारी है केवल सामयिक या महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इस समस्या के निर्णय पर बहुत से व्यावहारिक महत्व के परिणाम निर्भर हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इस समस्या पर बिना अनावश्यक आवेश और जहाँ तक सम्भव हो सके बिना गुटबन्दी के भाव के ग़ौर किया जावे।

नाम सम्बन्धी ग़लतफ़हमियाँ

प्रश्न के गुण-दोष पर विचार करने और दोनों विरोधी दलों के पृथक-पृथक दृष्टिकोण को समझने के पहले मुझे यह आवश्यक मालूम होता है कि जिन नामों का हम प्रयोग करें उनकी ठीक-ठीक परिभाषा दे दें, क्योंकि इस सम्बन्ध में बहुत कुछ ग़लतफ़हमी इस कारण होती है कि उन नामों के अर्थ के बारे में लोगों को भ्रम है। इस विषय में बहुत से नामों का प्रयोग हुआ है जिनमें से कुछ ये हैं—भाषा, हिन्दवी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी, ज़बाने-हिन्दुस्तान, देहलवी, खड़ी बोली, मध्यदेश की बोली, रेखता, ज़बाने-उर्दू-ए-मुअल्ला, उर्दू। इन सब नामों में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का प्रयोग अधिक होता है, और वास्तव में वादविवाद भी अब इन तीन नामों के प्रयोग के ही सम्बन्ध में है—

हिन्दी

सब से पहले हमें हिन्दी नाम को ही लेना चाहिए। जैसा कि भारतीय भाषा-विज्ञान के सभी विद्यार्थी जानते हैं हिन्दी या हिन्दवी नाम का प्रयोग कई विभिन्न अर्थों में हुआ है। उनमें से तीन जो अधिक महत्व रखते हैं नीचे दिए जाते हैं।

(१) हिन्दी या हिन्दवी नाम का प्रयोग साधारणतया भारतीय के अर्थ में हुआ है। भारतवर्ष के साथ जब मुसलमानों का प्रारम्भिक सम्पर्क हुआ तभी से उसका प्रयोग इसी अर्थ में होने लगा। लाहौर और दिल्ली के पास बसने के बाद जब मुसलमानों ने भारतीय आर्य भाषा को अपनाया तब उस भाषा के लिए हिन्दी या हिन्दवी नाम का प्रयोग हुआ इस प्रयोग के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। १२२८ में मोहम्मद औफ़ी ने कुछ कवियों की कविताओं का संग्रह किया। उन कवियों में उसने ख़्वाजा मसूद सआद सलमान नामक एक कवि का भी ज़िक्र किया है और लिखा है कि उसने हिन्दवी भाषा में एक दीवान लिखा था। अलाउद्दीन खिलजी (१२९५—१३१५) के शासनकाल में फ़ख़रुद्दीन मुबारक़ गजनवी ने एक शब्द-कोष तैयार किया जिनमें उसने फ़ारसी के शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची शब्दों को दिया। अमीर खुसरो (जिसकी मृत्यु १३६५ में हुई) ने भी हिन्दी और हिन्दवी नामों का प्रयोग किया। शाह मीरांजी शमसुल उश्शाक ने, जिनका देहान्त १४९६ में हुआ, अपनी रचनाओं की भाषा हिन्दी बतलाई है। दक्षिण भारत में भी हिन्दी शब्द का प्रयोग दक्खिनी के साथ-साथ आम तौर पर हुआ। नुसरती ने जो बीजापुर के शासक, अली आदिलशाह द्वितीय के दरबार में राजकवि था, अपनी हिन्दी कविताओं का ज़िक्र किया। दक्षिण में विकसित होनेवाली कविता को जब मुग़ल दरबार में आश्रय मिला तब दिल्ली के शायरों ने भी अपनी काव्य-भाषा के लिए हिन्दी नाम का ही प्रयोग किया। शायरों में शाह हातिम से लेकर ग़ालिब तक इस प्रयोग के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं और गद्य के सम्बन्ध में भी प्रारम्भिक लेखकों से लेकर सर सैयद अहमद खाँ तक अनेक उदाहरण मिलेंगे। इस प्रयोग के अनुसार हिन्दी का अर्थ वही है, जो आजकल उर्दू का है।

(२) हिन्दी शब्द का दूसरा प्रयोग प्रान्तीय प्रचलित भाषाओं के उस वर्ग के लिए होता है जिसे ग्रियर्सन ने 'टर्शियरी प्राकृत्स' (तीसरी प्राकृत) और डाक्टर एस० के० चटर्जी ने नई इण्डो-एरियन भाषाएँ कहा है। वह प्रदेश जहाँ इन भाषाओं का प्रयोग होता है पश्चिम में सरहिन्द से लेकर पूरब में बनारस तक, और उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ है। इन भाषाओं का प्रचार प्राचीन मध्यप्रदेश और उत्तरी और दक्षिण कोशल में है। वे भाषाएँ पश्चिमी हिन्दी और पूरबी हिन्दी इन दो शाखाओं से सम्बद्ध

हैं। इस प्रकार हिन्दी शब्द का प्रयोग निम्नलिखित मानी हुई प्रचलित भाषाओं के लिए होता है—बुन्देली, कनौजी, ब्रजभाषा, बाँगड़ू, ग्रिअर्सन द्वारा पुकारी जानेवाली हिन्दुस्तानी या बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा पुकारी जानेवाली खड़ी बोली या, शेख़ बाजन और अमीर खुसरो द्वारा पुकारी जानेवाली देहलवी, अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इन आठ भाषाओं के अतिरिक्त कुछ विद्वान राजस्थानी और मगही को भी इसी वर्ग में शामिल करते हैं। पं० सूर्य करण पारीक और श्री नरोत्तमदास स्वामी राजस्थानी के और श्री राहुल सांकृत्यायन मगही के पक्षपाती हैं। इस प्रकार पञ्जाब से लेकर बंगाल तक की सभी प्रचलित भाषाओं के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग होता है।

(३) तीसरे अर्थ में हिन्दी शब्द का प्रयोग विशेषतः हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली या देहलवी नाम से पुकारी जानेवाली साहित्यिक भाषा के लिए होता है। ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी उन सब प्रचलित भाषाओं से भिन्न है जो पश्चिमी और पूरबी हिन्दी के वर्गों में शामिल की जाती है, और उर्दू के समान है।

उर्दू

हिन्दी के लिए उर्दू नाम का प्रयोग शायद मुसहफ़ी ने ही पहले पहल किया था। १७५२ में तैयार किये गये अपने कविता संग्रह में मीर ने ज़बाने-उर्दू-ए मुअल्ला नाम का प्रयोग किया। क़ाइम की 'मख़ज़ाने निकात' (१७५४) में भी इस नाम का प्रयोग मिलता है। बाकर आगाह नामक दक्षिण के एक शायर ने १७७२ में, और अली इब्राहीम खाँ ने १७८३ में उर्दू शब्द का प्रयोग किया था। अता हुसैन तहसीन ने नौ तर्ज़ें मुरस्सा (१७७० या १७६७) में ज़बानेउर्दू-ए-मुअल्ला का उल्लेख किया है। १८०१ में लिखी गई पुस्तक 'बाग़ो-बहार' की भाषा को मीर अम्मन ने उर्दू कहा था। ध्वनि और व्याकरण के नियमों को देखते हुए उर्दू हिन्दी के ही समान है, अन्तर केवल बाहरी शब्दों के आने के कारण हो गया है।

हिन्दुस्तानी

वजही (१६३५) की रचनाओं में, फ़रिश्ता (जन्म १५६०) द्वारा लिखे हुए इतिहास में और अब्दुल हमीद लाहोरी (मृत्यु १६५४) के 'बादशाहनामा' में ज़बाने-हिन्दुस्तान नाम का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार मालूम होता है कि इस भाषा के लिए १६-१७ वीं सदियों में ज़बाने हिन्दुस्तान नाम काफ़ी प्रचलित था। टैरी (१६१६) और फ़ायर (१६७५) ने इसे 'इण्डोस्तान' नाम से पुकारा है और अमादुज़ी ने १७०४ में 'लिंगुए हिन्दोस्तानिका' के हस्तलिखित शब्द-कोष का ज़िक्र किया है। १७१५ में केटेलेयर ने लिखा 'हिन्दोस्तानिका' की सब से पहली व्याकरण पुस्तक और शब्द-कोष की रचना की अठाहरवीं सदी में हिन्दुस्तानी नाम का प्रचलन हुआ। जब १८०१ में मीर अम्मन ने 'बाग़ो-बहार' की रचना शुरू की तो उसने जान-बूझकर ठेठ हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया। उदाहरणार्थ 'अंग्रेज़ी-हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' और गार्सेंदतासी ने पेरिस में हिन्दी और हिन्दुस्तानी के इतिहास पर भाषण दिये। हिन्दुस्तानी नाम का प्रयोग खड़ी बोली के लिए किया गया है। बहुत से लेखकों ने इस नाम का प्रयोग उर्दू के लिए और कुछ ने आधुनिक हिन्दी के लिए किया है।

हिन्दुस्तानी की ग्रिअर्सन द्वारा दी गई परिभाषा नीचे दी जाती है ताकि उससे स्थिति

साफ़ हो जाये—'हिन्दुस्तानी मुख्यतः गंगा के दोआब के ऊपरी भाग की भाषा है और भारत वर्ष की राष्ट्र भाषा भी है, जो कि फ़ारसी और देव-नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है। उसके साहित्य में विशुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग कम होता है। और फ़ारसी तथा संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं होता। इस प्रकार उर्दू नाम हिन्दुस्तानी की केवल उस विशेष शाखा को दिया जा सकता है जिसमें फ़ारसी शब्दों का बहुधा प्रयोग होता है......और इसी प्रकार हिन्दी उस शाखा को कहेंगे जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।'

इस प्रकार मालूम हो जाता है कि हिन्दुस्तानी नाम नया गढ़ा हुआ नहीं है जिसकी मन्शा हिन्दी और उर्दू का स्थान लेना हो। हिन्दुस्तानी एक पुराना और प्रसिद्ध नाम है जो उस भाषा के लिए प्रयोग में आता है जिसके उर्दू और हिन्दी दो रूप हैं और जो इन दोनों का आधार है।

भाषा सम्बन्धी ग़लतफ़हमी

नाम के सम्बन्ध में ग़लत धारणा होने की वजह से भाषा के सम्बन्ध में भी अजीब ग़लतफ़हमी फैल गई है। भाषा और साहित्य के बड़े-बड़े इतिहासकारों ने भी हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में ग़लती की है। इस ग़लती का कारण यह है कि या तो साहित्य की विभिन्न धाराओं का उन्हें ज्ञान नहीं है या वे हिन्दी के उपरोक्त तीनों अर्थों को और विशेषतः दूसरे तीसरे को पृथक् पृथक् रूप से समझने में असमर्थ हैं। जब कुछ लोग हिन्दी के विकास की बात करते हैं तो वे इस बात का ख़याल नहीं करते कि हिन्दी का इतिहास राजस्थानी, ब्रज-भाषा और अवधी जैसी भाषाओं के इतिहास से भिन्न है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि हिन्दी और उर्दू के इतिहास में बहुत-सी समानता है।

हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली का, जोकि भारतीय आर्य-भाषाओं की ही एक शाखा से निकली है, मध्यदेश की अन्य भाषाओं से दसवीं सदी के लगभग अलग होने के बाद से अपना एक अटूट इतिहास है। जैसा कि सब लोग जानते हैं, गंगा के ऊपरी दोआब और आस-पास के हिस्सों में रहनेवाले लोगों की यही मुख्य भाषा थी और है। जब बारहवीं सदी के अन्त में मुसलमान दिल्ली में और उसके आस-पास बसने लगे तब उन्होंने इस प्रचलित भाषा को अपना लिया। इस प्रकार नए भाषा-भाषियों की ज़बान से कुछ नई ध्वनियाँ भी आ गईं। खड़ी बोली के व्याकरण सम्बन्धी नियमों में भी कुछ हलके और साधारण परिवर्तन हुए और मुसलिम विजेताओं की भाषा से उसमें कुछ बाहरी शब्द भी आ गये। इस प्रकार जो परिमार्जित भाषा पैदा हुई, साहित्यिक प्रयोग के लिए वही काम में आने लगी। कहा जाता है कि अमीर ख़ुसरो ने इस भाषा का प्रयोग चौदहवीं सदी में किया था, लेकिन उस समय का कोई पक्का सबूत नहीं मिलता, इसलिए यह बात निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती। लेकिन दक्षिण में खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों की भाषा बन गई और वहाँ चौदहवीं और अठारहवीं सदियों के बीच उस भाषा में एक सम्पन्न साहित्य का सृजन हुआ। दक्षिण के इस साहित्य में भाषा सम्बंधी दो विशेषताएँ हैं—भाषा में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है और साहित्य में केवल विदेशी बातों की भरमार नहीं है। दक्षिण के लेखक उचित ही अपने को हिन्दी के लेखक समझते थे। अपने गद्य और पद्य की भाषा को उन्होंने ठीक ही हिन्दी नाम दिया था।

इसके प्रतिकूल उत्तरी भारत में परिस्थिति बड़ी अजीब थी। यद्यपि खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी उत्तर भारत की ही भाषा थी किन्तु साहित्यिक भाषा के रूप में उसका विकास मुख्यतः

दक्खिन में ही हुआ। सत्रहवीं सदी से पूर्व उत्तर भारत में इस भाषा में पूरी तरह से लिखा हुआ कोई प्रमुख ग्रंथ मुश्किल से ही मिलेगा। जब तेरहवीं सदी में खड़ी बोली परिमार्जित होकर सामने आई तो उसे राजस्थानी जैसी प्रतिद्वन्द्वी भाषा से साहित्य के क्षेत्र में मुक़ाबला करना पड़ा। उस काल में राजस्थानी साहित्य के लिए लोकप्रिय भाषा थी; जैन ग्रन्थ और नरपति नल्ह आदि के काव्य भी उसी भाषा में मिलते हैं।

१४ वीं सदी में जब भक्ति की लहर फैलनी शुरू हुई तब उससे तीन-मतों का जन्म हुआ—निराकार-भक्ति, कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति। पहले मत के सन्त कबीर, नानक, दादू ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए अन्य प्रान्तिक भाषाओं के साथ खड़ी बोली का प्रयोग किया। सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण भक्तों ने अपने गीतों और भजनों में केवल ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। तीसरे सम्प्रदाय के सन्तों ने जिनके नेता गोस्वामी तुलसीदास थे, अपनी रचनाओं में अवधी भाषा का प्रयोग किया।

१४ वीं सदी तथा उसके बाद साहित्य की नदी दो धाराओं में प्रवाहित हुई, जिनमें एक अवधी थी और दूसरी ब्रजभाषा। केवल हिन्दू लेखकों ने ही इन भाषाओं का प्रयोग नहीं किया, मुसलमानों ने भी उन्हें अपनाया। रहीम, रसखान और रसलीन ब्रजभाषा के इतिहास में उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जैसे हिन्दू कवि, और सब लोग जानते हैं कि यदि मलिक मोहम्मद जायसी ने साहित्य की नींव न डाल दी होती तो कदाचित् अवधी रामचरित-मानस जैसे महान् ग्रन्थ की रचना से वञ्चित रहती।

इस काल में आधुनिक हिन्दी या संस्कृत-मिश्रित हिन्दुस्तानी की हालत डाँवाडोल रही। बोलचाल के लिए तो खड़ी बोली जीवित भाषा थी ही, लेकिन जहाँ तक साहित्य के संबंध हैं हिन्दी (फ़ारसी-मिश्रित हिन्दुस्तानी) ब्रजभाषा और अवधी ही क्षेत्र में थीं और अठारहवीं सदी के अन्त तक परिस्थिति ऐसी ही बनी रही; हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखनेवाले कुछ लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अठारहवीं सदी से पहले भी आधुनिक हिन्दी में साहित्य था, किन्तु ये प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। सोलहवीं सदी में गंगा भट्ट द्वारा लिखित १६ पृष्ठ की 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' एक छोटी-सी पुस्तिका को आधुनिक हिन्दी की पहली गद्य रचना बतलाया जाता है, और बहुत समय के बाद जटमल की 'गोरा बादल की बात' का नम्बर आता है। पहली पुस्तक मिश्रित ब्रजभाषा और खड़ी बोली में लिखी हुई है और दूसरी के बारे में सिद्ध हो गया है कि वह उन्नीसवीं सदी में लिखी गई थी और मूल राजस्थानी काव्य-ग्रंथ का अनुवाद है। कहा जाता है कि अठारहवीं सदी में दो या तीन पुस्तकें जैसे 'मंडोवर का वर्णन' 'चकत्ता की पातस्याही की परंपरा' और मिलती हैं जो खड़ी बोली में लिखी गई हैं। किंतु उनकी, साहित्यिक दृष्टि से, हिंदी (फारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी), ब्रज-भाषा और अवधी की गद्य-रचना से मुश्किल से ही तुलना की जा सकती है।

उन सब सदियों में फ़ारसी-मिश्रित हिंदी ही, न कि संस्कृत-मिश्रित हिंदी सभ्य समाज की भाषा थी—वह हिंदू समाज हो या मुसलिम। यहाँ तक कि १८७१ में भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने अग्रवालों की उत्पत्ति पर अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा था 'इनकी (अग्रवालों की) बोली—स्त्री और पुरुष सबकी—खड़ी बोली अर्थात उर्दू है।' जो बात अग्रवाल जाति के विषय में सत्य थी वह उत्तर भारत के और सभी लोगों के विषय में भी सत्य थी।

आधुनिक हिन्दी का जन्म

वास्तव में आधुनिक हिन्दी का युग उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से शुरू होता है। मुन्शी सदासुख लाल नियाज़ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी से पेन्शन लेने के बाद जब इलाहाबाद में निवास करना शुरू किया, तब उन्होंने श्रीमद्भागवत का स्वतंत्र अनुवाद किया और उसे 'सुखसागर' नाम दिया। उसी समय इन्शाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। इसके बाद गिलक्राइस्ट और फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के अंग्रेज़ प्रोफ़ेसरों ने सदल मिश्र और लल्लू लाल से हिंदुओं के वास्ते फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी अथवा हिंदी के स्थान पर दूसरा साहित्यिक माध्यम तैयार करने के लिए कहा। हेरिटेज आफ़ इण्डिया सीरीज़ में प्रकाशित 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में ओ० एफ़० ई० के लिखते हैं—'किंतु उर्दू का शब्दकोष ऐसा था जिसमें फ़ारसी तथा अरबी भाषाओं के, जिनका संबंध इस्लाम से था, अनेक शब्द ग्रहण कर लिये गये थे। हिंदी भाषा-भाषियों के लिए ऐसी सहित्यिक भाषा का होना जो हिंदुओं को ग्राह्य हो, उचित ही था। ऐसी भाषा उर्दू से फ़ारसी अरबी के शब्द निकालकर उनके स्थान पर संस्कृत और हिंदी के शब्द रखकर पैदा कर ली गई।' उन्होंने फिर कहा है कि 'लल्लू लाल की हिंदी वास्तव में एक नई साहित्यिक भाषा थी।' पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने १९२१ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्राचीन हिंदी पर एक लेख-माला लिखी थी। वह कहते हैं—'मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही में मिलती है, अर्थात 'खड़ी बोली' में पाई जाती है। खड़ी बोली या पक्की बोली या रेख़्ता या वर्तमान हिंदी के आरम्भ-काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है।' एम० जूलज़ ब्लाक ('मराठी भाषा का निर्माण' नामक पुस्तक के लेखक) ने श्री के और पं० गुलेरी के मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार 'लल्लू लाल ने डाक्टर गिलक्राइस्ट के कहने से 'प्रेम-सागर' लिखकर इस प्रथा को बदल दिया। क्योंकि उसके गद्य-भाग प्रायः उर्दू में ही हैं, जिनमें से फ़ारसी के शब्दों को निकालकर भारतीय आर्य शब्द रख दिये गये हैं।...नई भाषा हिंदुओं की आम भाषा बन गई।'

कुछ नए हिंदी-लेखकों ने हिंदी की उत्पत्ति के विषय में इस मत का विरोध किया है, लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम होता है उनके विरोध का अधिक समर्थन नहीं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक हिंदी (संस्कृत-मिश्रित हिंदुस्तानी) की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन से हम केवल एक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

वह यह कि यह भाषा केवल १३५ वर्ष पुरानी है, और शायद उतनी भी नहीं, क्योंकि यद्यपि सदल मिश्र और लल्लू लाल ने आधुनिक हिन्दी का श्रीगणेश किया किन्तु वह वास्तविक श्री गणेश न था क्योंकि हिन्दी पर फिर अन्धकार के दिन आए और वह अन्धकार १८५७ के गदर तक दूर न हुआ। उस अन्धकार को राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, बाबू हरिश्चन्द्र आदि ने सदैव के लिए दूर किया और आधुनिक हिंदी साहित्य के युग का आरम्भ किया।

ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए मैं निम्न-लिखित निष्कर्षों को पेश करता हूँ और मुझे विश्वास है कि उन्हें भाषा को शास्त्रीय रूप से अध्ययन करनेवाले ठीक मानेंगे—

(१) भारती आर्य-वर्ग की पूर्वी भाषा मगही का साहित्य आठवीं सदी से शुरू होता है जैसा कि श्री राहुल सांकृत्यायन ने दिखलाया है।

(२) उसी वर्ग की पश्चिमी भाषा, राजस्थानी में बारहवीं से उन्नीसवीं सदी तक बहुत बड़ा साहित्य है, लेकिन अब वह साहित्यिक भाषा नहीं रह गई है।

(३) उसी वर्ग की पश्चिमी भाषा ब्रजभाषा भी पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं सदी तक ख़ूब सम्पन्न रही है। आधुनिक हिन्दी के विकास के बाद वह गद्य-भाषा नहीं रह गई और अब पद्य-भाषा के रूप में भी क्षेत्र से हटती जा रही है।

(४) उसी वर्ग की पूर्वी भाषा, अवधी पन्द्रहवीं सदी में एक प्रमुख भाषा बन गई लेकिन उसे ब्रज भाषा के समान लोकप्रियता नहीं हासिल हुई। अब वह साहित्यिक भाषा नहीं रह गई है।

(५) चौदहवीं से उन्नीसवीं सदी तक पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी की अन्य शाखाएँ साहित्यिक माध्यम बनीं, लेकिन अब उन सब का प्रयोग समाप्त हो गया है।

(६) खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं। पहले के रूप का नाम उस भाषा का प्रयोग करने वालों ने हिन्दी रखा और अब उसे उर्दू कहा जाता है। चौदहवीं सदी से आज तक का उसका अटूट इतिहास है। दूसरे रूप का नाम आधुनिक हिन्दी है। साहित्य के लिए इसका प्रयोग उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ और ग़दर के बाद से उसने तेज़ी से उन्नति की है।

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का पारस्परिक सम्बन्ध

एक और ग़लतफ़हमी हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में है। किसी को इस विषय में सन्देह न होना चाहिए कि वास्तव में तीनों नाम एक ही भाषा के लिए हैं। भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को जानने के लिए यह आवश्यक होता है कि निम्न-लिखित बातों को ध्यान में रख कर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय—(१) ध्वनि सम्बन्ध विशेषताएँ। (२) व्याकरण अथवा शब्द-विन्यास की विशेषताएँ। (३) शब्द-कोष। इन तीनों में भी पहली दो बातें विशेष महत्व रखती हैं और तीसरी का महत्व साधारण है। भाषा-विज्ञान के सभी लेखक इस बात को मानते हैं कि भाषा में स्थायी चीज़ उसका व्याकरण होता है, जिसका यद्यपि समय के साथ कुछ रूपांतर होता रहता है किन्तु वह असलियत में अक्षुण्ण रहता है। ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ भी यद्यपि व्याकरण की भाँति स्थायी नहीं होतीं किंतु फिर भी वे काफ़ी स्थिर होती हैं। लेकिन भाषा का शब्द-कोष तरह-तरह की रुचियों पर निर्भर रहता है। ए० मेयीए जो आज भाषा सम्बन्धी सर्वप्रमुख विद्वानों में से हैं, कहते हैं—'उच्चारण और व्याकरण के क्रम स्थायी हैं, इन क्रमों के सारे अंग एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। ध्वनि और विन्यास के क्रम बाहरी प्रभावों को सहज में नहीं अपनाते...इसके विपरीत शब्द-कोष का कोई नियत क्रम नहीं। ज़्यादा से ज़्यादा उसके बारे में यह कह सकते हैं। कि शब्दों के छोटे-छोटे वर्ग होते हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक शब्द का अपना पृथक् अस्तित्व होता है। इस प्रकार भाषा की मर्यादा को कायम रखने की इच्छा अर्थात् समय के परिवर्तन के बावजूद भाषा के व्यक्तित्व को बचाये रखने की इच्छा ध्वनि और विन्यास द्वारा ही सफल होती है।' फ़ारसी में यद्यपि अरबी शब्दों की भरमार है, किन्तु फिर भी वह सेमेटिक भाषाओं के कुटुम्ब से पृथक् आर्यवर्ग में शामिल है। यद्यपि अंगरेज़ी पर लेटिन-प्रभाव बहुत काफ़ी मात्रा में है किन्तु फिर भी उसकी गिनती ट्यूटन कुटुम्ब में ही बनी हुई है, ऐंग्लो सैक्सन शब्दों को तरजीह देनेवालों और जॉनसन के अनुयायियों (लेटिन शब्दों का अधिक प्रयोग करनेवालों)

की दो शैलियों के कारण अंगरेज़ी दो भाषाओं में विभक्त नहीं हो गई है। इतने दूर न जाकर अपने देश की भाषाओं पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि सिन्धी और पञ्जाबी में भी यही सिद्धान्त काम करता दिखाई देता है। इन दोनों भाषाओं ने फ़ारसी और अरबी से काफ़ी शब्द लिए हैं, किन्तु अपने ध्वनि और विन्यास सम्बन्धी नियमों के नाते वे भारतीय आर्य-भाषाएँ हैं। शब्द कोश तो इतिहास, घटना-चक्र आदि पर निर्भर रहता है, जिसका उदाहरण गत महायुद्ध से मिल सकता है। युद्ध के समय इंगलैण्ड में उच्च घरानों ने जर्मन नामों को हटा कर अंगरेज़ी नाम धारण किए, इस प्रकार इंगलैण्ड के बादशाह के घराने का नाम हैनोवर के बजाय विन्डसर पड़ा। फ्रेन्च भाषा में, जो वैदेशिक शब्दों के विषय में सदैव सतर्क रहती है, अँगरेजी शब्द जैसे 'जेन्टिलमैन' और 'स्पर्ट' प्रवेश कर गए। रूस में शहरों के बाद आने वाला शब्दांश 'बर्ग' हटा दिया गया और उसके स्थान पर स्लाव लोगों का 'ग्राड' जोड़ दिया गया। इस प्रकार सेन्टपीटर्सबर्ग का नाम पेट्रोगाड हो गया, और जब भाग्य-चक्र ने पीटर्स के घराने को तबाह कर दिया तो पेट्रोग्राड का नाम लेनिन-ग्राड पड़ गया। ऐतिहासिक घटनाएँ, राष्ट्रीय आकर्षण और राष्ट्रीय विद्वेष तथा अन्य सामाजिक कारणों से शब्द-कोष सदैव प्रभावित होता रहता है।

इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए हम किस निर्णय पर पहुँचते हैं? हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी का ध्वनि-समूह एक है। तीनों में निम्नलिखित तीन तरह की ध्वनियाँ मौजूद हैं:—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के स्वर और व्यञ्जन, अर्वाचीन भारतीय आर्यभाषा के स्वर और व्यञ्जन तथा सेमेटिक भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ। इस बात को कभी-कभी थोड़ी सी हिच-किचाहट के साथ, व्याकरण के आचार्य मानते हैं। उदाहरणार्थ देखिए पं० कामता प्रसाद गुरु का हिन्दी व्याकरण डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का हिन्दी भाषा का इतिहास और मौलवी अब्दुल हक़ का क़वायदे उर्दू। ध्वनि-क्रम के अनुसार हिन्दी, उर्दू हिन्दुस्तानी एक हैं, किन्तु अन्य आर्य और सेमेटिक भाषाओं, जैसे संस्कृत, व्रजभाषा, अवधी और अरबी फ़ारसी से भिन्न हैं।

इन तीनों का व्याकरण भी क़रीब-करीब एक-सा ही है। ग्रियर्सन साहब लिखते हैं कि 'उर्दू और हिन्दी में इस्तेमाल होने वाली क्रिया और संज्ञा के रूपान्तरों में भी कोई ख़ास फ़र्क नहीं है'

'आधुनिक आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' में जे० बीम्स लिखते हैं कि 'जब दोनों भाषाओं के व्याकरण में कोई विशेष अन्तर नहीं, तब उर्दू और हिंदी को दो भिन्न भाषाएं बतलाना यह ज़ाहिर करना है कि लोगों को व्याकरण के प्रश्न पर तथा भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों के बारे में बड़ी ग़लतफ़हमी है।'

शब्दकोश का अन्तर

शब्द-कोष की दृष्टि से इन भाषाओं में पूरी समानता नहीं है। किसी भाषा में एक तो भाषा में बोले जाने वाले तद्भव शब्द होते हैं, दूसरे अन्य भाषाओं से लिये गये बाहरी शब्द होते हैं और तीसरे नए बनाये हुये शब्द होते हैं। जहाँ तक उर्दू और हिन्दी से सम्बंध है दोनों में प्रथम कक्षा के बहुत से समान शब्द हैं, उदाहरणार्थ सब क्रियायें सर्वनाम, बहुत से अव्यय आदि एक हैं।

फिर जहाँ तक संज्ञाओं और विशेषणों का प्रश्न है, दोनों ने संस्कृत, प्राकृत, फ़ारसी अरबी तथा अन्य भाषाओं से शब्द उधार लिए हैं। इस प्रकार कितने बाहरी शब्द लिये गये यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक ढंग पर बनाये गये शब्द-

कोष अभी नहीं मिलते। 'फरहंगे आसफिया' नामक प्रसिद्ध शब्द-कोष के संकलन-कर्त्ता मुन्शी सैयद अहमद देहलवी ने अपने संग्रहीत शब्दों का विश्लेषण किया है। कुल शब्दों की तादाद ५०००६ है, जिनमें से अरबी से लिये गये शब्द ७५८४, फ़ारसी से लिए गए ६०४१, संस्कृत से ५५४, अंग्रेजी से ५०० और अन्य भाषाओं से लिये गये शब्द १८१ हैं। बाकी तद्भव शब्द हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के अन्तर्गत संग्रहीत हिन्दी शब्द-सागर के पृष्ठों को यदि उलट कर देखें तो हमें मालूम होगा कि उन ७५८४ अरबी और ६०४१ फ़ारसी के शब्दों में प्रायः सब उस हिन्दी शब्द-कोष में मौजूद हैं। अब साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि जहाँ तक बाहरी शब्दों से ताल्लुक़ है वहाँ भी हिन्दी और उर्दू में इतना अधिक अन्तर नहीं जैसा कि कुछ लोगों का ख़याल है। जहाँ तक उपसर्ग और प्रत्यय से बने हुए शब्दों से ताल्लुक़ है मालूम होता है कि इन में भी बहुत कुछ समानता है।

यहाँ तक तो हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिन्दी और उर्दू के शब्द-कोषों में समानता है, पर यह भी जान लेना ज़रूरी है कि दोनों में विभिन्नता भी है और वह विभिन्नता बढ़ी है, और यदि उसकी तरफ़ ध्यान न दिया गया तो उसके बहुत बढ़ जाने की संभावना है। हिन्दी और उर्दू के लेखक दो दलों में विभक्त हैं। एक दल तो प्राचीन भाषाओं से तत्सम शब्दों को अधिकाधिक संख्या में लेने को उत्सुक रहता है और दूसरा दल उस संख्या को सीमित रखना चाहता है। हिन्दी और उर्दू के पहले दल वाले एक ही सी दलीलें पेश करते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी के कुछ लेखक संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करने में और फ़ारसी तथा अरबी शब्दों का बहिष्कार करने में निम्नलिखित दलीलें पेश करते हैं:—

(१) हिन्दी भारतीय आर्य भाषा है और उसका बंगला, मराठी, गुजराती आदि उसी वर्ग की भाषाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि ये सब भाषाएँ संस्कृत भाषा से अपने शब्द लें क्योंकि संस्कृत से उनका जन्म हुआ है। जितने ही अधिक तत्सम शब्दों का प्रयोग होगा और जितने ही अधिक संस्कृत मूलों का प्रयोग किया जायगा उतना ही अधिक ये सब प्रांतीय भाषाएँ निकट आती जायेंगी और हिंदी की लोक-प्रियता बढ़ेगी। इस प्रकार हिंदी अखिल भारतीय भाषा बन सकेगी।

(२) शब्दों में एक विशेष सांस्कृतिक वातावरण हुआ करता है। संस्कृत शब्दों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की झलक मौजूद है जब कि फ़ारसी और अरबी के शब्दों में विदेशीपन टपकता है। इसलिए किसी भी भारतीय भाषा में संस्कृत शब्दों का समावेश फ़ारसी तथा अरबी शब्दों से ज़्यादा अच्छा होगा।

इन दलीलों में सार है। यह नहीं, इनमें हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है। इसलिए इन तर्कों का सावधानी के साथ अध्ययन करना होगा।

जो लोग अरबी के शब्दों के लेने के पक्ष में हैं वे भी इसी तरह की दलीलें पेश करते हैं। इनके मतानुसार अरबी एक बहुत बड़े सम्प्रदाय की धर्म-पुस्तकों की भाषा है और उसमें उनकी परमप्रिय परम्पराओं का समावेश है। इसके साथ अरबी एक जीवित भाषा है जिसमें तेज़ी के साथ पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रभावों का समावेश हो रहा है और इसीलिए अरबी द्वारा आधुनिक विचार-धारा के अनुसार प्रयुक्त होनेवाले शब्द आसानी से मिल सकते हैं। सारे भारतवर्ष में अरबी धार्मिक सम्प्रदाय में काफ़ी पढ़ी जाती है और उसकी ध्वनियों से तथा उसके शब्दों से काफ़ी लोग परिचित हैं। खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी पर इसका काफ़ी प्रभाव पड़ा है, जिसके सबूत में खड़ी बोली का व्याकरण या उसकी ध्वनियां तथा उसकी शब्दावली को पेश

किया जा सकता है। पहले भी सूरदास ऐसे ब्रजभाषा के तथा तुलसीदास ऐसे अवधी के महान् कवियों ने अपनी कविताओं और गीतों में अरबी शब्दों का प्रयोग करने में आपत्ति नहीं की; और कवियों ने हज़ारों ऐसे शब्द भाषा में सम्मिलित कर लिए जो कि शब्द-सागर में देखे जा सकते हैं। इन तर्कों के सार में कोई अविश्वास नहीं कर सकता। लेकिन इन पर ध्यान से विचार करने के बाद इसी निर्णय पर आना पड़ता है कि इन दोनों के बीच का रास्ता ही ठीक होगा। हिन्दुस्तानी में संस्कृत शब्दों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानेवालों में जे० बीम्स और सर जी० ए० ग्रियर्सन की कोटि के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ही नहीं बल्कि राजा शिव प्रसाद, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० गिरधर शर्मा, पं० पद्मसिंह शर्मा और पं० अयोध्यासिंह ऐसे हिन्दुस्तानी विद्वान् भी मौजूद हैं।

यहाँ पर मैं केवल पं० गिरधर शर्मा की सम्मति उद्धृत करता हूँ—'संस्कृतमय बना कर आपने बंगाल, महाराष्ट्र आदि में हिन्दी का प्रचार शीघ्र कर लिया किन्तु वह केवल शिक्षितों की भाषा बन गई, सर्वसाधारण उसे बिलकुल न समझ सके तो क्या लाभ हुआ? लाभ क्या बड़ी हानि हो गई। हिन्दी भाषा में हिन्दी भाषा के शब्द ही प्रथम लेने चाहिएँ। फिर जब उनसे आवश्यकता पूरी न हो तब संस्कृत भाषा से सरल शब्द लेने चाहिएँ।

दूसरी ओर सैयद हुसेन बिलग्रामी, मौलवी वहीदुद्दीन सलीम और मौलवी अब्दुल हक़ ऐसे विद्वानों ने अरबी के पक्षपातियों के जोश को कम करने की कोशिश की है। मौलवी वहीदुद्दीन ने 'वज़ए-इस्तलाहात' नामक किताब में कहा है, 'हमको इस धोखे से बचना चाहिए और हिन्दी ज़बान के अलफ़ाज़ व हरूफ़ से जो हमारी ज़बान की फ़ितरत में दाख़िल है, नाक भौं चढ़ाना नहीं चाहिए। हम जिस तरह अरबी और फ़ारसी से इस्तलाहात लेते हैं, इसी तरह हिन्दी से भी बे तकल्लुफ़ वाजे इस्तहालात में काम लेना चाहिए।'

पड़ोसियों के बीच भेद की दीवारें

दुर्भाग्यवश ये वर्ग एक दूसरे से पृथक्-पृथक् काम कर रहे हैं और इसीलिए उनकी सलाह और चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया। इसका फल यह हुआ है कि हिन्दी और उर्दू शिक्षितों की भाषाएँ बनती जा रही हैं। और बोलचाल की भाषा से दूर हटती चली जा रही है। पड़ोसियों के बीच वे भेद की दीवारें खड़ी करती जा रही हैं। जब कि चाहिए यह था, वे उनके पारस्परिक संबंध बढ़ाने के लिए एक माध्यम बनतीं। उनकी उपादेयता कम होती जा रही है और उनकी लोकप्रियता भी घटती जा रही है।

सांस्कृतिक कारणों के आधार पर दिये जानेवाले तर्कों के महत्व को अवश्य बढ़ा दिया गया है। संस्कृत हमारे आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा कला-सम्बन्धी विचारों पर निर्भर रहती है। ये विचार एक अंश में मनुष्य की प्रकृति की शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने से पैदा होते हैं। उस संघर्ष के द्वारा ही मानव-समाज अपने जीवन के उपाय करता है। और दूसरे अंश में उन विचारों की उत्पत्ति मनुष्य के आन्तरिक संघर्ष से होती है जिसके द्वारा उसकी मनोवृत्तियों का एकीकरण होता है। इस प्रकार भौतिक और मानसिक कारणों से संस्कृति पैदा होती है। इसलिए संस्कृति एक ओर प्रादेशिक होती है, जैसे फ्रेंच, अंग्रेज़ी, चीनी, फ़ारसी इत्यादि और दूसरी ओर वर्गों के हिसाब से जैसे कुलीन और धनी लोगों की संस्कृति, मध्य श्रेणी के लोगों की संस्कृति और मज़दूरों और किसानों की संस्कृति। हम भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, किन्तु क्या उर्दू संस्कृति और हिन्दी संस्कृति कहना अर्थ-संगत होगा? उर्दू अर्थात् फ़ारसी मिश्रित

हिन्दुस्तानी का पहले भी हिन्दुओं के धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए प्रचार होता आया है। आज भी उसका इस उद्देश्य से प्रयोग हो रहा है कि जहाँ तक अनुमान होता है भविष्य में भी उसका प्रयोग इसलिए होता रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी मुसलमानों के लिए उपयोगी सिद्ध होती आई है, और क्यों न हो? जब चीनी, फ़ारसी, पश्तो, जावानी, अवधी, बँगला और अरबी से कुछ भी संबंध न रखनेवाली ऐसी ही अनेक भाषाओं का प्रयोग मुसलमानों के धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए ही हो सकता है, तब फिर हिन्दुस्तानी में संस्कृत के कुछ शब्दों के प्रयोग से धर्म पर क्या आफ़त बरपा हो सकती है?

भारतीय संस्कृति आधुनिक विकास की चीज़ है, जिसके विकास में इस महान् देश में रहनेवाली प्रत्येक जाति का कुछ न कुछ हिस्सा है। उस संस्कृति के आदर्श राष्ट्रीय हैं जो प्रान्त जाति और सम्प्रदाय की संकीर्णताओं के परे हैं। जिन भौतिक और सामाजिक अवस्थाओं में इस संस्कृति का जन्म हो रहा है। वे पहले जैसी नहीं हैं और हमारे आन्तरिक तथा बाहरी संघर्ष भी पहले जैसे नहीं हैं। पुराने विचार बदल रहे हैं और आवश्यकता अब एक नई व्याख्या और नई अभिव्यक्ति की है। समान संस्कृति के इस अभिनव की प्रेरणा से ही भारतवर्ष के साहित्य का निर्माण होना चाहिए, साहित्य की भाषा तमिल, तेलगू, गुजराती, बँगला, मराठी या हिन्दुस्तानी चाहे जो हो।

हम लोगों को उर्दू और हिन्दी के विभिन्न सांस्कृतिक वातावरण पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि हमें उस नीति के परिणामों पर भी ध्यान देना चाहिए जिसके द्वारा निम्न प्रकार से पारिभाषिक शब्द गढ़े जा रहे हैं—

अंग्रेज़ी	हिन्दी	उर्दू
एबसीसा	भुज	फ़ासला या मकतूआ
एब्सोल्यूट टर्म	परमपद	रक़म मुतलक़
एक्सेलरेट	गति वृद्धि करना	इसराए-हरकत
अलजबरा	बीज गणित	मजबूरी मुक़ाबला
ऑल्टरनेण्डो	एकान्तर निष्पत्ति	तबदील
एन्टिसिडेन्ट	पूर्वपद	मुक़द्दम

मैंने ये शब्द नागरी प्रचारिणी सभा बनारस द्वारा प्रकाशित पारिभाषिक कोष से तथा औरंगाबाद से प्रकाशित तरक्क़िए उर्दू के फ़ाइंग से लिए हैं। ये शब्द बीजगणित में प्रयुक्त हुए हैं, और इनसे देखा जा सकता है कि इन शब्दों के प्रयोग से हिन्दुस्तानी के दोनों रूपों में कितना अधिक अन्तर बढ़ता जा रहा है। जब तक हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती थी तब तक इस बात की अधिक चिन्ता न थी कि इन दो भाषाओं में कौन-कौन से पारिभाषिक शब्द थे। पर अब मध्य श्रेणी की शिक्षा हमारी निजी भाषा के माध्यम से दी जा रही है और शीघ्र ही उच्च शिक्षा भी इसी माध्यम द्वारा दी जायगी। ऐसी हालत में प्रत्येक अंग्रेज़ी परिभाषा के लिए हिन्दी और उर्दू में अलग-अलग शब्द होने से बंगाल को छोड़ सारे उत्तरी भारत में एक कठिन प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। अगर हिन्दी और उर्दू के विद्यार्थियों को एक दूसरे के शब्द समझ में नहीं आते तो इसका नतीजा यह होगा कि स्कूलों में दुहरी शिक्षा हो जायगी जिसके कारण या तो ख़र्च बढ़ जायगा और या शिक्षा दोषयुक्त हो जायगी। यूनिवर्सि-

टियों में यह मुसीबत और भी भीषण रूप धर लेगी। शोध, अध्ययन तथा शिक्षा प्रचार की समस्याएँ जटिल हो जायँगी। प्रश्न यह होगा कि या तो प्रत्येक यूनिवर्सिटी में अध्यापकों के दो दल रखे जाँय या प्रत्येक केन्द्र में दो यूनिवर्सिटियाँ खोली जाँय जिनमें उर्दू और हिन्दी में पृथक् पृथक् शिक्षा दी जाय।

सरकारी दफ़्तरों की तथा व्यवस्थापिका सभाओं की भाषा क्या होगी? यह प्रश्न पंजाब में आज उठ खड़ा हुआ है और शीघ्र ही युक्त-प्रान्त, बिहार और दिल्ली में भी उठ खड़ा होगा। फिर सार्वजनिक शिक्षा तथा आमोद-प्रमोद के साधनों, रेडियो, सिनेमा, नाटकों के भी सवाल उठते हैं। फिर प्रान्तीय व्यापार-व्यवहार के लिए कौन सी भाषा आयेगी? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि अंग्रेज़ी से निकट भविष्य में यह काम न चल सकेंगे।

यह बड़े खेद की बात है कि अपनी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्दों को न अपनाने के कारण एक ही भाषा के दो विभागों में बहुत बड़ा अन्तर होता जा रहा है और उसके कारण व्यावहारिक शिक्षा-सम्बन्धी तथा शासन-सम्बन्धी समस्याएँ अधिक से अधिक जटिल होती जा रही हैं।

जैसा कि मैंने पहले ही दिखलाने की कोशिश की है, हिन्दुस्तानी बनावटी भाषा नहीं है। हज़ार साल से यह स्वतन्त्र भाषा के रूप में चली आ रही है। इसमें बहुत अधिक साहित्य भी है। क्योंकि दक्षिण में गद्य या पद्य में जो कुछ भी लिखा गया है उसमें से बड़े हिस्से को मैं हिन्दुस्तानी में ही शामिल समझता हूँ। उत्तर में भी विदेशों की नक़ल करनेवालों का ज़ोर होते हुए भी बहुत सा साहित्य सीधी-सादी रोज़मर्रा की ज़बान में लिखा मिलता है। इसके उदाहरण किसी भी समय के दीवानों में मिल सकते हैं। हाली के 'मुनाज़ात-ए बेवा' और 'दरख़ास्त' ऐसी उर्दू के उदाहरण हैं जो कि भाव और मुहावरों दोनों में पूर्णरूप से हिन्दुस्तानी कहे जाने योग्य हैं। आधुनिक हिंदी में भी ऐसा साहित्य मौजूद है, जो बताता है कि हिन्दुस्तानी किस तरह लिखी जाय। इस स्थान पर केवल एक लेखक का नाम लूँगा। लेकिन वह लेखक आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में रचनात्मक कलाकारों में अद्वितीय है। मेरा मतलब मुन्शी प्रेमचन्द से है।

अन्तर को दूर करने के उपाय

वास्तव में बात यह है कि साहित्य में आधुनिक हिन्दी और उर्दू हिन्दुस्तानी की केवल दो शैलियाँ हैं और वैज्ञानिक ग्रन्थों में अन्तर केवल उद्धृत शब्दों में पड़ता है। मेरा मत है कि इस अन्तर को हटाना असम्भव नहीं है। केवल इसके लिए प्रबल इच्छा की आवश्यकता है। मेरा दृढ़ मत यह है कि अन्तर को दूर करना चाहिए और मैं उन लोगों के विचार के लिए जो दोनों भाषाओं का अन्तर दूर करना चाहते हैं कुछ तजवीज़ें पेश करता हूँ—

(१) यह प्रयत्न किया जाय कि उर्दू बोलनेवाले आधुनिक हिन्दी पढ़ें और हिन्दी बोलनेवाले उर्दू पढ़ें।

(२) उर्दू और हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों द्वारा व्यवहृत शब्दों का एक कोष बनाया जाय।

(३) हिन्दी और उर्दू के ध्वनि-विन्यास आदि से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों को एकत्र करके आधुनिक परिपाटी में एक व्याकरण की रचना की जाय।

(४) हिन्दी और उर्दू के लेखकों के व्यवहार के लिए पारिभाषिक शब्दों का एक कोष बनाया जाय।

(६) सरल हिन्दी तथा उर्दू में लिखे हुए गद्य और पद्य के संग्रह निकाले जायँ।

इन में से कुछ बातें, व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा की जा सकती हैं लेकिन कुछ के लिए सरकार की सहायता की आवश्यकता पड़ेगी उदाहरणार्थ स्कूलों में हिन्दी और उर्दू की शिक्षा शिक्षा-विभाग द्वारा ही प्रचलित कराई जा सकती है। पारिभाषिक-शब्दों का कोष जहाँ ये दोनों भाषाएँ प्रचलित हैं, उस क्षेत्र के विद्वानों के मतैक्य के बिना सम्भव नहीं। चूँकि इस प्रश्न से कई प्रान्तों और रियासतों के शिक्षा-कार्य का संबंध है, इसलिए इन जगहों की सरकारों के बिना यह समस्या हल नहीं हो सकती। लेकिन व्यावहारिक आवश्यकता को देखते हुए इन सरकारों का हस्तक्षेप उचित ही होगा। फ्रांस की एकेडमी जैसी ज़िम्मेदार संस्था की अनुपस्थिति में एक कमेटी ही बना दी जाय जिसमें सरकार के विश्वविद्यालय के साहित्यिक तथा वैज्ञानिक संस्थाओं के प्रतिनिधि शामिल किये जायें जो कि इन समस्याओं पर विचार कर के एक क्रियात्मक उपाय निकालें और पारिभाषिक शब्दों की समस्या को हल कर सकें।

अगर वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दों पर कोई समझौता हो गया तो हिन्दी और उर्दू के झगड़े की जड़ कट जायगी और एक ही स्थान में दो भाषाओं की उपस्थिति से जो कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं वे दूर हो जायँगी। तब हिन्दी और उर्दू का अन्तर मिट जायगा और भाषा और साहित्य का ऐक्य स्थापित हो सकेगा।

[भारत से]

गीत

[नेमिचन्द्र जैन]

बह चला अकेला,
टूटे सब प्रीति बन्ध, वह चला अकेला।
भूले सब स्नेह गान :
सरी तरु, तीर, मोड़,
तोड़े तिनके समान :
छोड़ नीड़ विहँग उड़ा, श्वेत पंख फैला। बह चला०
मन में भर अकथ घोर,
आशा में भिगो प्राण,
भूला पथ प्यार, पोर,
उड़ता जाता अधीर कहीं दूर अकेला। बह चला०
सपना है जगत एक,
पल में होता विलीन,
समझा सच उसे देख,
जोड़े नाते अनेक, क्या क्या नहिं झेला?
बह चला अकेला।

अश्रु-गीत

[आरसीप्रसाद सिंह]

कौन तुम मेरे नयन में ?

बादलों-से उमड़ आते
चिर-सजल पावस-गगन में ;
कौन तुम मेरे नयन में ?

तिमिर-अंचल में छिपाकर शुक्र-शिशु को प्यार करती,
दिवस-पथ-श्रम-क्लान्त जग में जब मलिन संध्या उतरती ;
आह, हाहाकार कर
उठते विकल प्रत्येक क्षण में !
कौन तुम मेरे नयन में ?

कल-कपोलों से ढुलक, मरु में अमर अस्तित्व खोने,
आज, रोने आ गये हो कौन तुम विरही सलोने ?
खोजते छवि किस प्रिया की
माधुरी-मय अश्रु-कण में ?
कौन तुम मेरे नयन में ?

लोचनों के वृन्तपर खिल तुम हृदय के फूल मेरे,
आप ही मुरझा गये क्यों ? देख लो ये मधुप घेरे !
सींचते हो वेदना की—
वल्लरी इस विश्व-वन में,
कौन तुम मेरे नयन में ?

मार्ग अश्रुत, जग अपरिचित, विरह की वंशी बजाकर,
प्रिय-पथिक, सहसा कहाँ तुम चल पड़े मुझको रुलाकर ?
मौन वह इंगित तुम्हारा—
हँस गया मेरे रुदन में !
कौन तुम मेरे नयन में ?

तुम अयाचित वर-सदृश दृग-द्वार पर उद्भ्रान्त आते;
मुक्त-कर जीवन-जटिल मुक्ता लुटा सुख कौन पाते ?
मृण्मयी शय्या तुम्हारी—
अन्त चिर केवल मरण में;
कौन तुम मेरे नयन में ?

मलय का वातास पथ में रुक रहा उच्छ्वास भर भर;
किस व्यथा से अलि, न जाने, विकल होता पत्र-मर्मर !
पलक भी लगने न देते
हाय, पल-भर भी शयन में;
कौन तुम मेरे नयन में ?

जल उठी आकाश-गृह में शोभना नक्षत्र-माला;
आज परदेशी कहाँ वह ? कौन-सी वह देव-बाला ?
झोपड़ी के दीप-सी स्मृति
टिमटिमाती शून्य-मन में !
कौन तुम मेरे नयन में ?

उपयोगिता

[जैनेन्द्र कुमार]

शायद चौथी क्लास में आकर अंग्रेज़ी की पहली किताब के पहले सबक़ में हमने पढ़ा—'परमात्मा दयालु है। उसने हमारे पीने के लिए पानी बनाया, जीने के लिए हवा, खाने के लिए फल-मेवा! आदि-आदि।

पढ़कर वह सीधी तरह हमें पचा नहीं। हम भोले नहीं थे। बच्चे तो थे, पर बुद्धिमान किसी से कम नहीं थे। पूछा—क्यों मास्टर जी, सब चीज़ें ईश्वर ने बनाई हैं?

मास्टरजी बोले—नहीं तो क्या?

जहाँ हम पढ़ते थे वहाँ हवा आधुनिक थी। बालकों में स्वतंत्र-बुद्धि जागे, यह लक्ष्य था। हमने कहा—तो उस ईश्वर को किसने बनाया है? और उस ईश्वर ने कहाँ बैठकर किस तारीख़ को ये सब चीज़ें बनाई हैं?

मास्टर जी ने कहा—पढ़ो-पढ़ो, बातें मत करो।

जी हाँ, वाहियात बात! पहली में नहीं, दूसरी में नहीं, तीसरी में नहीं, चौथी क्लास में हम थे। हमें धोखा देना आसान न था। और कुछ जानें न जानें, इतना तो जानते ही थे कि ईश्वर वहम है। यह भी जानते थे कि ईश्वर ने सभ्यता का बहुत नुक़सान किया है। वह पाखंड है, उससे छुट्टी मिलनी चाहिए। सो उस सबक़ पर हमने मास्टर जी को चुप करके ही छोड़ा। मास्टर जी की एक भी बात हमारे हाथों साबित नहीं बची, सब हमने काट-छाँट फेंकी। मास्टर जी झुँझलाकर तब इतना ही कह पाये—पढ़ो, पढ़ो।

मास्टरजी पर हमने दया की कि सबक़ आगे भी पढ़ा। लेकिन उस समय दो बातें हम निर्भ्रांत रूप में जान चुके थे:—

(१) कि ईश्वर कुछ नहीं है और उसने कुछ नहीं बनाया, और

(२) कि जो कुछ है हमारे लिए है। सृष्टि में सार हम हैं।

आज उस बात को पैंतीस-चालीस जाने कितने वर्ष हो गये हैं और आज जो मैं जानता हूँ वह है:—

(१) कि ईश्वर ही है, और

(२) कि हमारे लिए कुछ नहीं है। हम सबके लिए सेवक हैं। सृष्टि सार है, हम सेवक हैं।

इस वर्ष का वह (मैं) नवीन बालक पैंतालीस-पचास वर्ष के आज के मुझे जीर्ण बालक से अधिक अज्ञान था, यह मैं नहीं कह सकता। अज्ञानी मैं जैसा का वैसा हूँ। बीच में इतना अन्तर अवश्य पड़ा है कि पैंतीस-चालीस वर्ष के अनुभव का मैल मेरे सिर और चढ़ गया है। इस वर्ष के बालक में मन की स्वच्छता में भी समता नहीं है। इतने बरसों की दुनियादारी की मलिनता में मैं आज मलिन हूँ। बालक की भाँति मेरी बुद्धि कहाँ स्वतन्त्र है ?

इसलिए आप भला करें कि मेरी बात न सुनें। फिर भी अगर आप इस बात को सुनना गवारा करते हैं तो मैं विश्वास पूर्वक कह देता हूँ कि न खेलता पानी हमारे लिए है, न बहती हवा हमारे लिए है। न सूरज की धौली धूप, न चाँद की छिटकी चाँदनी तनिक भी हमारी हो सकती है। पहाड़ आस्मान में उजला माथा उठाये धूप से झकझकाता हुआ खड़ा है। फल से लदे पेड़ नम्र भाव से हौले-हौले झूम रहे हैं। खेतों में पौधों के शीर्ष पर पके अन्न की सुनहरी बालें झूमर सी लटक रही हैं। घास बिछी है, आकाश छाया है, बादल लहरा रहे हैं। यह सब कुछ है, पर यह मेरे बिना भी है। मेरे निमित्त नहीं है, मैं उनके निमित्त हूँ। सब सब के लिए है। और कुछ मेरे लिए नहीं है।

मैं यह विश्वासपूर्वक कहता हूँ। लेकिन यह भी कहता हूँ कि आप उसे विवेक पूर्वक ही स्वीकार करें।

पर ज़रा ठहरिये। इस बात चीत के आरम्भ से ही एक भाई मेरे पास बैठे हैं। शायद वह कुछ कहना चाहते हैं। इजाज़त दें तो उनकी बात सुन लूँ !

'हाँ भाई, क्या कहते हो ? कहो, कहो, सकुचाओ मत।'

'कहता यह हूँ' उन्होंने कहा—'कि आप बुड्ढे हो गये हैं। आपकी बुद्धि सठिया गई है। आप चौदहवीं सदी में रहते हैं। खेत में अनाज कौन बोता है ?—हम बोते हैं। किस लिए बोते हैं ?—अपने खाने के लिए बोते हैं। अगर उस अनाज के होने में कोई अर्थ है तो यह अर्थ है कि हम उसे खायें। जो है वह अगर हमारे लिए नहीं हैं तो किसके लिए है—'

यह भाई विद्वान् मालूम होते हैं। अच्छी समझदारी की बात कहते हैं। लेकिन—

'आप चुप क्यों हो गये ?' उन भाई ने टोककर कहा—आप बहक गये हैं—

मैंने क्षमा प्रार्थना पूर्वक विश्वास दिलाया—'मैं सुन रहा हूँ, सुन रहा हूँ।

'सुन रहे हैं तो सुनिये कि हमारे माथे में आँखें हैं। हमारे बाहुओं में बल है। आपकी तरह मौत की प्रतीक्षा ही हमारा काम नहीं है। प्रकृति का जितना वैभव है हमारे लिए है। इसमें जो गुप्त है इसलिए है कि हम उसे उद्घटित करें। धरती में छिपा जल है तो इसलिए कि हम उसे धरती को पोला करके उसके भीतर से सब कुछ उगलवा लें। आप कहिये कि कुछ हमारे लिए नहीं है—तो बेशक कुछ भी आपके लिए न होगा। पर मैं कहता हूँ कि सब कुछ हमारे लिए है—और तब कुछ भी हमारी मुट्ठी में आये बिना नहीं रह सकता।'

वह विद्वान् पुरुष देखने से अभी पकी आयु के नहीं जान पड़ते। उनकी देह दुर्बल है, पर चेहरे पर प्रतिभा दीखती है। ऊपर की बात कहते हुए उनका मुख, जो पोला है, रक्ताभ हो आया है। मैंने पूछा—भाई, आप कौन हो ? काफ़ी साहस आपने प्राप्त किया है।

'जी हाँ, साहस हमारा हक़ है। मैं युवक हूँ। मैं वही हूँ जो स्रष्टा होते हैं। मानव का उपकार किसने किया है ? उसने, जिसने निर्माण किया। उसने, जिसने साहस किया है।

निर्भीक साहसी होता है। वह आत्मविश्वासी होता है। मैं वही युवक हूँ। मैं वृद्ध नहीं होना चाहता।'

कहते-कहते युवक मानो काँप आये। उनकी आवाज़ काफ़ी तेज़ हो गई थी। मानो किसी को चुनौती दे रहे हों। मुझे नहीं मालूम हुआ कि यह युवक वृद्ध होने में सचमुच देर लगायेंगे। बाल उनके अब भी जहाँ-तहाँ से पक चले हैं। उनका स्वास्थ्य हर्षप्रद नहीं है और उनकी इंद्रियाँ बिना बाहरी सहायता के मानो काम करने से अब भी इंकार करना चाहती हैं।

मैंने कहा—भाई, मान भी लिया कि सब कुछ हमारे लिए है। तब फिर हम किसके लिए हैं?

युवक ने उद्दीप्त भाव से कहा—हम किसके लिए हैं? हम किसी के लिए नहीं हैं। हम अपने लिए हैं। मनुष्य सचराचर विश्व में मूर्धन्य है। वह विश्व का भोक्ता है। सब उसके लिए साधन हैं। वह स्वयं अपने आप में साध्य है। मनुष्य अपने लिए है। बाक़ी और सब कुछ मनुष्य के लिए है।

मैंने देखा कि युवक का उद्दीपन इस भाँति अधिक न हो जाय। मानव प्राणी की श्रेष्ठता से मानो उनका सिर चहक रहा है। मानो वह श्रेष्ठता उनसे मिल नहीं रही है, उनमें समा नहीं रही है। श्रेष्ठता तो अच्छी ही चीज़ है पर वह बोझ बन जाय यह ठीक नहीं है।

मैंने कहा—भाई, आपने नाश्ता किया है? ठहरो, मैं नाश्ता मँगाता हूँ।

युवक ने कहा—'नहीं नहीं' वह कुछ अस्थिर हो गया।

मैंने उनका संकोच देखकर हठ नहीं किया। कहा—देखो भाई, हम अपने आप में पूरे नहीं हैं। ऐसा होता तो किसी चीज़ की हमें ज़रूरत न होती। यानी सब चीज़ें हमारे लिए ग़ैरज़रूरी, अनुपयोगी हो जातीं। पूरे होने का लक्षण ही यह है कि हम कहें कि हमें कुछ ज़रूरत नहीं है। कोई वस्तु उपयोगी है, इसका अर्थ यही है कि हमारे भीतर उसकी उपयोगिता के लिए जगह ख़ाली है। सब कुछ हमें चाहिए—इसका मतलब यह है कि हम अपने भीतर बिल्कुल ख़ाली हैं। सब कुछ हमारा है—इसके माने हैं कि हम अपने नहीं हैं। सब पर अगर हम क़ब्ज़ा करना चाहते हैं तो आशय है कि हम पर हमारा ही क़ाबू नहीं है। हम पदार्थों के ग़ुलाम हैं। क्यों भाई, आप ग़ुलाम होना पसंद करते हैं?

युवक का चेहरा तमतमा आया। उसने कहा—ग़ुलाम! मैं सबका मालिक हूँ। मैं पुरुष हूँ। कौन पुरुष की बराबरी कर सकता है। सब प्राणी और सब पदार्थ उसके चाकर हैं। वह अधिष्ठाता है, वह स्वामी है। मैं ग़ुलाम! मैं पुरुष हूँ। मैं ग़ुलाम!!

आवेश में आकर युवक खड़े हो गये। देखा कि इस बार उन्हें रोकना कठिन हो जायगा। बढ़कर मैंने कंधे पर हाथ रखा और प्रेम से कहा—जो दूसरे को पकड़ता है, वह ख़ुद पकड़ा जाता है। जो दूसरे को बाँधता है वह ख़ुद को बाँधता है। जो दूसरे को खोलता है वह ख़ुद भी खुलता है। अपने प्रयोजन के घेरे में किसी पदार्थ को या प्राणी को घेरना ख़ुद अपने चारों ओर घेरा डाल लेना है। इस प्रकार स्वामी बनना दूसरे अर्थों में ग़ुलाम बनना है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि कुछ हमारे लिए नहीं है। इस तरह सबको आज़ाद करके अपनाने से हम सच्चे अर्थों में उन्हें अपना बना सकते हैं। अनुरक्ति में हम क्षुद्र बनते हैं, विरक्त होकर हम हीं विस्तृत हो जाते हैं। भाई, 'हाथ में कूँडी बगल में सोटा, चारो दिसि जागीरी में' चारों दिशाओं को अपनी जागीर बनाने की राह है तो यह है।

अब तक युवक धैर्यपूर्वक सुनते रहे था। अब मेरा हाथ अपने कंधे पर से झटक दिया

और बोले कि आपकी बुद्धि बहक गई है। मैं आपकी प्रशंसा सुनकर आया था। आप कुछ कर्तृत्व का उपदेश न देकर ये मीठी बहक की बातें सुनाते हैं। मैं उनमें फँसनेवाला नहीं हूँ। प्रकृति से युद्ध की आवश्यकता है। निरंतर युद्ध, अविराम युद्ध। प्रकृति ने मनुष्य को हीन बनाया है। यह मनुष्य का काम है कि उस पर विजय पाये और उसे चेरी बनाकर छोड़े। मैं कभी यह नहीं सुनूँगा कि मनुष्य प्रारब्ध का दास है।

मैंने कहा—ठीक तो है। लेकिन भाई—

पर मुझे उन युवक ने बीच में ही तोड़ दिया। कहा—जी नहीं, मैं कुछ नहीं सुन सकता। देश हमारा रसातल को जा रहा है। और उसके लिए आप जैसे लोग ज़िम्मेदार हैं—

मैं एक छोटा-सा आदमी कैसे इस भारी देश को रसातल जितनी दूर भेजने का श्रेय पा सकता हूँ, यह कुछ भी समझ में नहीं आया। कहना चाहा—सुनो तो भाई—

लेकिन युवक ने कहा—जी नहीं, माफ़ कीजिए। यह कह कर मुझे वहीं छोड़ वह विद्वान युवक तेज़ चाल से चला गया।

असल में इतनी बात बढ़ने पर मैं पूछना चाहता था कि भाई, तुम्हारी शादी हुई या नहीं! कोई बाल बच्चा है? कुछ नौकरी का ठीक-ठाक है या कि क्या? गुज़ारा कैसे चलता है? मैं उससे कहना चाहता था कि यदि यह दुनिया अजब जगह है, तो तुम्हें जब ज़रूरत हो और मैं जिस योग्य समझा जाऊँ उसे कहने में तुम्हें हिचकने की आवश्यकता नहीं है। तुम विद्वान हो, कुछ कहना चाहते हो। इसके लिए तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मुझे तुम अपना ही जानो। देखना भाई, संकोच न करना। पर उस युवक ने यह कहने का मुझे अवसर नहीं दिया, रोष भाव से मुझे परे हटा कर चलते चला गया।

उस युवक की एक भी बात मुझे नामुनासिब नहीं मालूम हुई। सब बातें युक्तोचित थीं। पर उन बातों को लेकर अधीर होने की आवश्यकता मेरी समझ में नहीं आई। मुझे जान पड़ता है कि सब कुछ का साथी बनने का इरादा करने से पहले खुद अपना मालिक बनने का प्रयत्न वह करें तो ज़्यादा कार्यकारी हो। युवक की योग्यता असंदिग्ध है पर दृष्टि उनकी कहीं सदोष भी न हो। उनके ऐनक लगी थी इससे शायद निगाह निर्दोष पूरी तरह न रही होगी।

पर वह युवक तो मुझे छोड़ ही गये हैं। तब यह अनुचित होगा कि मैं उन्हें न छोड़ूँ। इससे आइये युवक के प्रति अपनी मंगल कामनाओं का देय देकर हम अपनी बातचीत के सूत्र को सँभालें।

प्रश्न यह है कि अपने को समस्त का केन्द्र मानकर क्या हम यथार्थ में सत्य को समझ सकते अथवा पा सकते हैं?

निस्सन्देह सहज हमारे लिए यही है कि केंद्र हम अपने को मानें और शेष विश्व को उसी अपेक्षा में ग्रहण करें। जिस जगह हम खड़े हैं, दुनिया उसी स्थल को मध्यबिंदु मानकर वृत्ताकार फैली हुई दीख पड़ती है। जान पड़ता है धरती चपटी है, थाली की भाँति गोल है और स्थिर है। सूरज उसके चारों ओर घूमता है। स्थूल आँखों और स्थूल बुद्धि से यह बात इतनी सहज सत्य मालूम होती है कि जैसे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। अगर कुछ प्रत्यक्ष सत्य है तो यह ही है।

पर आज हम जानते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं है। जो यथार्थ है उसे हम तभी पा सकते हैं जब अपने को विश्व के केन्द्र मानने से हम ऊँचे उठे। अपने को मानकर भी लगभग अपने को न मानना आरंभ करें।

सृष्टि हमारे निमित्त है, यह धारणा अप्राकृतिक नहीं है। पर मानव अन्य प्राणियों की भाँति कल्पनाशून्य प्राणी नहीं है। उस धारणा पर अटक कर कल्पनाहीन प्राणी ही रह सकता है। पर वह धारणा यथार्थ नहीं हो सकती। मानव को तो यह जानना ही होगा कि सृष्टि का हेतु हम में निहित नहीं है। हम स्वयं सृष्टि का भाग हैं। हम नहीं थे, पर सृष्टि थी। हम नहीं रहेंगे पर, सृष्टि रहेगी।

सृष्टि के साथ और सृष्टि के पदार्थों के साथ हमारा सच्चा सम्बन्ध क्या है? क्या हो?

मेरी प्रतीति है कि प्रयोजन और Utility शब्द से जिस सम्बन्ध का बोध होता है वह सच्चा नहीं है। वह काम चलाऊ भर है। वह परिमित है, कृत्रिम है और बन्धन-कारक है। उससे कोई किसी को पा नहीं सकता।

सच्चा सम्बन्ध प्रेम का भ्रातृत्व का और आनन्द का है। इसी सम्बन्ध में पूर्णता है, उपलब्धि है और आह्लाद है। न यहाँ किसी को किसी की अपेक्षा है, न उपेक्षा है। यह प्रसन्न उदात्त, समभाव का सम्बन्ध है।

'पानी हमारे पीने के लिए बना है, हवा जीने के लिए, आदि—यह कथन सीमित दृष्टि कोण का है। अतः वह कथन पक्ष-सत्य ही है। ऊँचे उठकर उसकी सचाई चुक जाती है और वह असत्य हो सकता है। हमारे लौकिक ज्ञान विज्ञान शास्त्र जब तक इस यूटिलिटी की धारणा पर खड़े हैं तब तक मानना चाहिए कि वे ढहकर गिर भी सकते हैं। उनकी नींव गहरी नहीं गई। वे शास्त्र अभी सामयिक हैं और शाश्वत का उनको आधार नहीं है।

पानी हमारे पीने के लिए बना है, यह कहना पानी की अपनी सचाई को बहुत परिचित कर देना है। इसका अर्थ यह हो जाता है कि जब तक मुझे प्यास न हो तब तक पानी निरर्थक है। अपनी प्यास के द्वारा ही यदि हम पानी को ग्रहण करते हैं तो हम पानी को नहीं पाते, सिर्फ अपनी प्यास बुझाते हैं।

पानी की यथार्थता तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्यास बुझाने की लालसा और ग़रज की आँखों से पानी को न देखें, उससे कुछ ऊँचा नाता पानी के साथ स्थापित करें।

जिसने पानी के संबंध में किसी नवीन सचाई का आविष्कार किया, जिसने उस पानी को अधिक उपलब्ध किया और कराया वह व्यक्ति प्यासा न रहा होगा। पानी के साथ उसका संबंध अधिक स्निग्ध और आदरशील रहा होगा। वह पानी का ठेकेदार न होगा। वह उसका साधक और शोधक रहा होगा।

जिस व्यक्ति ने आरंभ में बताया कि पानी H_2O है, उसने हमसे ज़्यादा पानी की सचाई को प्राप्त किया। यह कहकर और यहीं रुक कर कि पानी हमारे पीने के लिए बना है हम उसकी भीतरी सचाई (उसकी आत्मा) को पाने से अपने को वंचित ही करते हैं।

स्पष्ट है कि पानी को H_2O रूप में देखने और दिखाने वाला आविष्कर्ता पीने के वक्त उस पानी को पीता भी होगा। पर कहने का मतलब यह है कि उस पदार्थ के साथ उस आविष्कर्ता का संबंध मात्र प्रयोजन का नहीं था, कुछ ऊँचे स्तर पर था।

प्रयोजन का माप हमारा अपना है। हम परिमित हैं, बहुत परिमित हैं। विश्व वैसा और उतना परिमित नहीं है। इसलिए विश्व को अपने प्रयोजनों की माप से मापना आस्मान को अपने हाथ की बिलाँद से नापने जैसा है।

पर सच यह है कि हम करें भी क्या ? नापने की माप हमारे पास अपनी बिसात ही है। जिस पर नापने की तबीयत से भी हमारा छुटकारा नहीं है। नाप-जोख किये बिना हमारे मन को चैन नहीं। नाप-नाप कर ही हम बढ़ेंगे। एकाएक मापहीन अकूल अनंत में पहुँच भी जाँय तो वहाँ टिकेंगे कैसे ?

बेशक यह ठीक है। नाप-नाप कर बढ़ना ही एक उपाय है। हमारे पास लोटा है तो लोटे-भर पानी कुएँ से खींच लें और अपना काम चलावें। ध्यान तो बस इतना रखना है कि न आस्मान बिलाँद जितना है, न कुएँ का पानी लोटा भर है। बिलाँद में आस्मान को न पकड़ें, न लोटे में कुएँ को समेटें।

प्रयोजन होना ग़लत नहीं है। दुनिया में प्रयोजन नहीं रखेंगे तो शायद हमें रोटी मिलने की नौबत न आयगी। पर प्रयोजन के हाथों सचाई हाथ आनेवाली नहीं है, यह बात पक्के तौर पर जान लेनी चाहिए।

जो कुछ है उसकी गर्दन पर अपने प्रयोजन का जुआ चढ़ाने से हमारी उन्नति की गाड़ी नहीं खिंचेगी। जीवन ऐसे समृद्ध न होगा। साहित्य को, कला को, धर्म को, ईश्वर को, सब कुछ को प्रयोजन में जोतने की चेष्टा निष्फल है। यह नहीं कि वे सब निष्प्रयोजन हैं, पर आशय यह कि उन सत्यों की सचाई प्रयोजनातीत है।

लोक कर्म में इस तथ्य को ओझल करके चलने से हम ख़तरे में पड़ सकते हैं। पर मनुष्य का धन्य भाग्य यह है कि उसकी मूर्खता की क्षमता भी परिमित है।

हमारे समाज में साठ वर्ष से ऊपर के वृद्धों की उपयोगिता कितनी है ? अगर वह तोल में उतनी मूल्यवान् नहीं है कि जितना उसके पालन में व्यय हो जाता है, तो क्या यह निर्णय किया जा सकता है कि उन सबको एक ही दिन में बड़े आराम के साथ समाप्त करके स्वर्ग रवाना कर दिया जाय ? समाज-व्यवस्था की बही यही कहेगी कि ऐसे इंतजाम में सुविधा हो जायगी। पर यह नहीं किया जा सता। यदि अब तक कभी यह नहीं किया जा सका तो निष्कर्ष यह है कि उपयोगिता-शास्त्र फिर अपनी उपयोगिता में किसी महत्तत्व का प्रार्थी है।
यह है कि उपयोगिता शास्त्र फिर अपनी उपयोगिता मे किसी महत्तत्व का प्रार्थी है।

एक बार एक आमिष भोजन के प्रचारक ने निरुत्तर कर देनेवाली बात सुनाई। उसने कहा कि अगर बकरे खाये न जाएँ तो बताइये उनका क्या किया जाय। कोई उपयोग तो उनका है नहीं। तिसपर वे इतने बहुतायत से पैदा होते और इतनी बहुतायत से बढ़ते हैं कि अगर उन्हें बढ़ने दिया जाय तो वे आदमी की ज़िंदगी को असंभव बना दें। फिर बढ़कर या तो वे भूखे मरें नहीं तो वे दुनिया की खाद्य सामग्री को खुद खा-खाकर ख़तम कर देंगे और फूलते जायँगे। ऐसे दुनिया का काम कैसे चल सकता है। इसलिए मांस खाना लाज़िम है।

यह लाज़िम होने की बात वह जानें। लेकिन मानव प्राणियों के प्रति दयार्द्र होकर बकरों को खा जाना होगा; यह बात मेरी समझ में नहीं आई। पर उनकी दलील का उत्तर भी क्या बनसकता है। उत्तर न भी बने पर यह निश्चित है कि वह तर्क सही नहीं है क्योंकि उस तर्क का परिणाम अशुद्ध है। मानव तर्क अपूर्ण है और मैं कभी यह नहीं समझता कि उस तल के तर्कों के आधार पर आमिष अथवा निरामिष भोजन का प्रचार प्रतिपादन हो सकता है।

अहं को केन्द्र और औचित्य प्रदान मान कर चलने में बड़ी भूल यह है कि हम बिसार देते हैं कि दूसरे में भी किसी प्रकार का अपना अहं हो सकता है। हम अपनी इच्छाओं का दूसरे पर आरोप करते हैं और जब इस में अकृतार्थ होते हैं तो खीझते झल्लाते हैं। असल में एक

तरह का यह हमारा बचपन ही है। हमारा मन रखने के लिए तमाम सृष्टि की रचना नहीं हुई है। और हम अपना मन सब में अटकाते हैं। ऐसे दुख न उपजे तो क्या हो?

छुटपन की बात है तब हमने पाठशाला में सीखा ही सीखा था कि धरती नारंगी के माफ़िक गोल है। सोचा करते थे इस तरह तो अमरीका हमारे पैरों के नीचे है और हमको बड़ा अचरज होता है कि अमरीका के लोग उल्टे चलते कैसे होंगे वे गिर क्यों नहीं पड़ते क्योंकि वे धरती पर पैरों के बल खड़े थोड़े ही हो सकते हैं, वे तो मानो धरती से नीचे की ओर अधर लटके हुए हैं उस समय हम अपने को बड़ा भाग्यशाली मानते थे कि हम भारतभूमि में पैदा हुए अमरीका में पैदा नहीं हुए नहीं तो उल्टे लटके रहना पड़ता!

आज भी जाने, अनजाने हममें से बहुतों का वही हाल है। जिन धारणाओं को पकड़ कर हम खड़े हैं, हमें जान पड़ता है कि सच्ची सचाई वही है, शेष सबके हाथों बस झूठ ही झूठ आकर रह गया है। पर जैसे कि ऊपर के उदाहरण में ऊँच-नीच की हमारी भ्रांत कल्पना ही परेशानी का कारण थी वैसे ही हमारी अहंकृत कल्पनाएँ हमारे वैर-विरोध का कारण होती हैं।

बराबर के चित्र में उ, को पृथ्वी का केंद्र मानिए। अ, ब, स, द, उस पृथ्वी पर चार अलग बिंदुओं पर खड़े हुए चार व्यक्ति हैं। क्या वे अपनी-अपनी जगह पर किसी तरह भी नीचे-ऊँचे या कम-अधिक हैं? असल में उनका अपनी ऊँच नीच की धारणा के हिसाब से दूसरे को नापना बिल्कुल ग़लत होगा। जिस धरती पर वे खड़े हैं उसका केंद्र (आत्मा) उ, है। उनकी सब प्रतीतियाँ, सब गतियाँ अंततः उस उ, बिंदु की अपेक्षा में निश्चित बनती है। वह उ, बिंदु सबसे समान दूरी पर है। वह सबको एक-सा प्राप्य अथवा अप्राप्य है। सब प्रकार का भेद उस केंद्र बिंदु उ, में जाकर लय हो जाता है। वहाँ से आगे कोई दिशा नहीं जाती। सब दिशाएँ वहाँ से चलती हैं। और वहीं समाप्त होती हैं। अ, उ, स, अपने आप में कोई रेखा नहीं है। कोई दिशा, कोई ऐसी रेखा नहीं हो सकती जिसके एक सिरे पर वह (जीवन का) केन्द्र बिंदु विराजमान न हो। इसलिए अ, उ, स, चाहे एक सीधी रेखा दीख पड़ती हो, पर वैसा है नहीं। वृत्त की परिधि पर के सब बिंदु मध्याकर्षण द्वारा उ के प्रति आकृष्ट हैं। उस आकर्षण के ऐक्य के कारण ही पृथ्वी थमी हुई है। उ, सबका स्रोतबिंदु है। वहाँ जाकर किसी की भिन्न सत्ता नहीं रहती। इस प्रकार अ, और स, इन दो बिंदुओं से प्रतिकूल दिशाओं में चलनेवाली दोनों रेखाएँ उ में ही गिरती हैं। और वे दोनों असल में प्रतिकूल भी नहीं हैं, दोनों अनुकूल हैं, क्योंकि दोनों अपने केंद्र की ओर चल रही हैं।

चित्र से प्रकट है कि किस प्रकार अ, ब, स, द, अपने-अपने विशिष्ट बिंदुओं को (अहं को) केंद्र मानलें तो उन व्यक्तियों का जीवन भ्रांत ही हो जायगा और उस जीवन को कोई दिशा न प्राप्त होगी।

हमारे लौकिक शास्त्र और लौकिक कर्म बहुधा इसी अहं-चक्र में पड़कर विफल हो जाते हैं। अपने घर के घड़े के पानी में जो हम आस्मान का अक्स देखते हैं उसी को आस्मान और उतने ही को आस्मान का परिमाण मान लेते हैं। अगर हम यह भूल न करें तो उस आस्मान के प्रतिबिंब से बहुत लाभ उठा सकते हैं। पर अक्सर इतनी समझ हमें नहीं होती और हम अपना अलाभ अधिक कर डालते हैं।

यह भी विचारना चाहिए कि हमरे घर के घड़े में प्रतिबिंबित होना आस्मान की सार्थकता नहीं है। उसकी सत्ता का हेतु यह नहीं है। अपने में बिम्ब धारण करना तो उस घड़े के पानी का गुण विशेष है। उतना ही आकाश का धर्म और अर्थ मानना उस महा रहस्यमय आकाश से प्राप्त हो सकनेवाले अगाध आनन्द से अपने को वंचित कर लेना है। दूसरे शब्दों में वह मानव की महान् मूर्खता है।

पर इस अनंत शून्याकाश को मैं कहाँ बाँध कर रखूँ? उसमें देखूँ तो कैसे देखूँ? आँखें वहाँ ठहरती ही नहीं। वह अति गूढ़ है, अति शून्य है। अपने घड़े के भीतर के उसके प्रतिबिम्ब में मैं बिना कंपन के झाँक तो सकता हूँ। यह नील-धवल महाशून्याकाश ही तो मुझसे नहीं जाना जाता। कैसे जानूँ? मैं तो अपने घड़े के पानी में ही उसे उतार कर देखूँगा।

मैं ज़रूर वैसा करूँ। वही एक गति है। और वही उपयोगिता की उपयोगिता है।

इससे आगे उपयोगिता को दौड़ाना टट्टू को हवा में भगाना है। ऐसे टट्टू मुँह के बल गिरेगा और सवार की भी ख़ैर नहीं है।

दिल्ली नगर में बच्चों के लिए दूध की ज़रूरत है और सावन के ये बादल फिर भी पानी ही बरसाते हैं। आकाश क्यों सूना खड़ा है, क्यों नहीं गुच्छे-के-गुच्छे अंगूर टपका देता! हमें ज़रूरत अंगूरों की है और आकाश निरुपयोगी भाव से कोरा का कोरा खड़ा है। ये बादल, आस्मान दोनों बेहयाई के साथ निकम्मे हैं। उनसे कोई वास्ता मत रखो। जो उनसे सरोकार रखते हैं, उनका बाइकाट कर दो। ये तारे; रात में चमकनेवाली वह दूधिया आकाश गंगा; वह बर्फ़ीली चोटियाँ; वह मचलती हवा; वह प्रातः सायं क्षितिज से लगा कर बिखर पड़नेवाले रङ्ग-बिरंगे रंग;—ये सब वृथा हैं। हमको पैसे की सख़्त ज़रूरत है, रोटी की बेहद भूख है। और इन सब चीज़ों से न रोटी मिलती है, न कौड़ी हाथ आती है। वे अनुपयोगी हैं। मत देखो उनकी तरफ़। इंकार कर दो उन्हें। उनसे समाज का क्या लाभ? और हम हिसाब के खाते में लाभ चाहते हैं, लाभ!

तो ऐसी पुकार, कहना होगा कि निरी बौखलाहट है। वह उपयोगिता की भयंकर अनुपयोगिता है।

एक प्रश्न

धारावाहिक उपन्यास

[जैनेन्द्रकुमार]

लेकिन इन्हीं दिनों सुधा में कुछ परिवर्त्तन हो गया था। पहले वह पढ़ती बहुत थ बग़ीचे की भेंटवाले उस रोज़ से पढ़ना बस बहुत कम हो गया था। एकान्त में बग़ीचे में आ पौधों की क्यारियों में खुरपी से धरती ढीली करती थी। कभी उनमें पानी देती थी, कभी बेका माली के हाथ में से बड़ी-सी कैंची लेकर मेंहदी की ऊपर उठी हुई फुनगियों को काटने लग थी। यह कुछ न करती तो टहलती थी। टहलने तो इधर वह बहुत ही लगी थी। यह सब का वह ऐसे करती थी, जैसे चोरी से करती हो। यह न चाहती थी कि कोई देखे। और वह परिव भी कुछ इस प्रकार रहने का आदी हो गया था कि एक से दूसरे को मतलब न था। सब दायरे अपने अलग-अलग थे। पापा अपने काम से और अपने मित्रों से काम रखते थे; कृप शंकर को अपनी व्यस्तताओं और अपनी मित्रताओं से वास्ता था और सुधा आज़ाद थी वह अपने को जैसे चाहे भरे। सब लोग मिलते थे तो खाने के समय या किसी विशेष अवसर उपस्थित होने पर। सो इस परिवर्तन की ओर किसी का लक्ष्य नहीं गया।

सुधा अपने कमरे में नहीं मिली तो सुबोध झल्ला आया। उसे लगा जैसे किसी सोच समझ कर उसकी अवज्ञा की हो। उसने स्थिर किया कि अब मैं उस ओर मुँह भी न करूँगा। मैं उधर गया तो उसी के भले के लिए गया था। मैं अपने साथ उसे किसी प्रकार आशा के बन्धन में नहीं रखना चाहता। वह अपने कमरे में आकर कुछ व्यस्त हो उठा। उस मानो अपना यथास्थान सामान देखकर सान्त्वना पाई और जहाँ-तहाँ फैले कुछ फालतू कपड़ों इकट्ठा करके तहाकर रख दिया। सोचने लगा कि जब चाहूँगा, तब जाने में मुझे देर न लगेगी। मेरा यहाँ कुछ फैला नहीं है, मैं अपने में ही समाया हूँ। अपना सब कुछ समेटकर च पड़ने में कोई बाधा मुझे रोक न सकेगी, मेरी गति अबाध रहेगी। और इसी सूत्र के सहारे बढ़ बढ़ते वह सोच उठा कि मैं इस कमरे से बाहर, इस कोठी से बाहर, इस सड़क के पार नैनीताल के छोर पर जो मुक्त निर्जनता है, अभी उसमें चला जाऊँगा। वहीं घूमूँगा और क्यों एक दो घण्टे वहीं रहूँगा। यह सोच कर उसने बूट पहन लिया बिरजिस कस ली, कन्धे ,'बाइनोक्युलर' लटकाया सिर पर हैट रखा और चल दिया।

सुधा अभी बग़ीचे में खुरपी लिये काम कर रही थी। कोठी से बाहर जाते हुए रास्ते पर से वह पूरी दिखाई पड़ती थी। बिल्कुल सफ़ेद सारी थी, उसपर रंगीन किनारा तक न था। शायद किनारे पर सिली हुई कुछ बेल थी। सुबोध जाते-जाते देखकर अनायास ठिठक गया उसे सुधा से कहना-सुनना कुछ न था। वह इतना ही चाहता था कि इसको मालूम हो जाय कि मैं उसके कमरे में गया था और अबसे वह अभागिनी है। इसी आशा में वह ठिठका रह गया।

सुधा अपने काम में ऐसी लगी थी कि उसे पता नहीं लगा। इसपर सुबोध तनिक अधिक निश्चित क़दमों से कोठी के बड़े दरवाज़े की ओर बढ़ता गया। पर दरवाज़े में ख़याल आया कि साथ में वह बंदूक़ ले ले तो कैसा है। काम यद्यपि उसका कुछ नहीं है पर वेश उससे पूरा हो जायगा। वह लौट कर भीतर चला। आशा थी कि अब भी सुधा चलेगी। नहीं चेती,तो द्रुत गति से सीधा घर में गया और ढूँढ कर बन्दूक़ पीठ से लटका लाया।

इस बार सुधा का ध्यान गया। उसे सुबोध की यह मुद्रा कुछ अनुकूल न मालूम हुई। थोड़ी कौतुकपूर्ण भी लगी। विशेषतया उस मुद्रा के कारण ही सुधा वहीं से बोली—कहाँ जाते हैं ?

सुबोध ने कहा—ज़रा जाता हूँ।

सुधा बोली—ठहरिये तो। बात सुनिये। कहाँ जाते हैं ?

सुबोध ठहरा तो, बात भी सुनी। पर कहाँ जाता है, इसका कुछ उत्तर न दिया।

सुधा बग़ीचे के इस किनारे तक बढ़ आई। बोली—शिकार के लिए जाते हैं ?

'नहीं'

'तब ?'

'योंही जाता हूँ'

'अच्छी बात है......एक बात सुनियेगा ?'

सुबोध ने उसकी ओर देखा। मानो उसे रुकना नहीं चाहिए। काम ज़रूरी है, वक़्त तंग है। बोला—जल्दी कहो, तो कह सकती हो।

सुधा ने मेंहदी की बाढ़ के पीछे से कहा—कुछ देर बैठियेगा नहीं ?

सुबोध बोला—बात कहो, क्या कहना है ?

'आप कब जा रहे हैं ? जल्दी जा रहे हैं ?'

'हाँ' जल्दी जाने की सोचता हूँ। यहाँ मन नहीं लगता।

क्षण के कुछ भाग तक रुककर सुधाने पूछा—तो—आपने क्या सोचा है ?

सुबोध सचमुच कुछ नहीं समझा। पूछ बैठा—क्या ?

सुधा ने कहा—राह में खड़े होकर क्या मुझसे ऐसी बातें करवाओगे ? दो मिनट के लिए यहाँ नहीं आ सकते हो ?

सुबोध ने कहा—क्या है ? क्या है ? और कहता हुआ वह अनायास बग़ीचे के भीतर चला गया।

सुधा वहाँ से हट कर बग़ीचे के भीतर चली गई। और उसने पीछे की ओर देखा भी नहीं। पीछे-पीछे कमर से बंदूक़ लटकाये सुबोध चला। एक एकान्त स्थान पर पहुँच कर जहाँ संगमर्मर की एक बेंच पड़ी थी सुधा खड़ी हो गई। सुबोध भी आकर वहाँ खड़ा रह गया।

'बैठो'

सुबोध आपत्ति शून्य भाव से वहीं बैठ गया। पास में एक शहतूत का वृक्ष खड़ा था। उसमें नए नए पत्ते आ रहे थे और वह बहुत सघन था। अभी वह बालक ही था, पत्ते सिर से कुछ ही ऊपर रह जाते थे। सुधा ने एक हाथ से उसके तने का सहारा ले लिया। फिर कहा—जाते हो, तो जाओ। लेकिन—तय क्या किया है?

सुबोध ने कठिन होकर कहा—क्या मतलब?

सुधा बोली—मैं विवाह के बारे में पूँछती हूँ।

'विवाह?'

'मैंने पहले दिन जो कहा था उसे वापिस मैं नहीं लूँगी। फिर भी उसे भूल जाने को कहती हूँ। मुझे अस्वीकार कर दोगे तो रंज मुझे न होगा। योग्य मैं तिरस्कार के ही हूँ। मुझे स्वीकार करोगे तब—लेकिन तब की बात मैं नहीं करूँगी।

सुबोध इस सुधा को, सुधा की इस अवस्था को देखता रह गया। उसने कहा—मैं अभी तुम्हारे कमरे में गया था। तुम नहीं मिलीं। चिट्ठी तुम्हारी यह है। अब तुम्हारा मेरे पास कुछ नहीं है—

हाथ से सुबोध ने जो चिट्ठी बढ़ाई वह सुधा ने आगे बढ़कर चुपचाप ले ली। लेकर फिर एक डग पीछे हो वह उसी शहतूत के तने का सहारा लेकर खड़ी हो गई। फिर बोली—मेरा कुछ अब तुम्हारे पास नहीं है!—शायद नहीं है। लेकिन आज एक बात कहती हूँ। आगे बढ़कर जो लड़की इस तरह विवाह की बात कहती है वह गड़कर मर क्यों न गई, अगर यह बात सोचते हो तो ज़रूर सोचो। मैं गड़कर मरी नहीं हूँ और तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। लेकिन गड़कर मरना आसान है, निर्लज्ज होना, सुबोध! उतना आसान नहीं है। अगर इस बात को तुम समझ सको तभी इस बात को सुनना। नहीं तो मन में से इसे बिल्कुल निकाल डालना।

सुबोध ने कहा—मुझको जाने दो—सुधा ने वृक्ष के तने पर से अपना हाथ हटा लिया। वह सीधी खड़ी हो गई। बोली जाओ।

सुबोध गुम-सुम बैठा रहा। थोड़ी देर बाद उसने बड़ी कोशिश के साथ कहा—मैं तुम्हें प्रेम नहीं करता हूँ।

वृक्ष से अलग अपने आप में खड़ी हुई सुधा ने कहा—मैं जानती हूँ। कहकर वह अत्यंत मंद स्मित से मुस्करा गई।

'मैं जानती हूँ। जानती हूँ तभी मैंने यह कहा। जो मुझे प्रेम करता है, वह मुझसे विवाह नहीं कर सकता। तुम मुझसे प्रेम नहीं करते हो, तभी शायद विवाह कर सको। सुबोध, मैं तुमसे प्रेम कभी नहीं माँगूँगी, आगे वह बोल नहीं सकी। रो भी नहीं सकी। उसका चेहरा राख-सा सफ़ेद पड़ गया। वह कुछ ऐसी अपलक, निस्पंद दृष्टि से देखती रह गई कि मानो आँखों की ज्योति लुप्त हो गई हो।

सुबोध घबरा उठा। बोला—सुधा! क्या बात है? यह क्या है? कहते कहते वह खड़ा हो गया। उसने उसे अपने दोनों हाथों में थाम लिया। बोला—सुधा, सुधा!!

सुबोध का चित्त बेबस हो आया वह करुणा से भीग गया। उसे और कुछ न सूझा तो अपने पार्श्व में सुधा को सँभाल कर वह उसे सिर पर धीरे धीरे थपकने लगा।

सुधा कुछ देर में प्रकृतिस्थ हो गई। तब वह बहुत ही लज्जित और भीरु भाव से अपने को सुबोध से अलग करके बोली—मैंने आप को कष्ट दिया। आप जा सकते हैं। मेरी

चिन्ता आप बिल्कुल न कीजियेगा। मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं जाती हूँ। कहकर प्रणाम करके वह चली गई।

सुबोध उसको जाते हुए देखता रहा। वह ओझिल हो गई, तब भी थोड़ी देर बैठा रहा। अनन्तर उठकर कमर की बन्दूक सँभालता हुआ कोठी से बाहर निकल गया।

(६)

अगले दिन उसने पापा से कहा—इजाज़त होतो मैं अब यहाँ से जाना चाहता हूँ।

पापा ने कहा—अच्छी बात है, लेकिन तुम्हारे पिताजी का पत्र आया था। मैंने उनको जवाब तो दे दिया था लेकिन तुम समझदार हो। तुम्हारी राय भी ज़रूरी है अब आगे क्या करने का विचार है?

'अभी तो एम० ए० पढ़ूँगा'

'ज़रूर एम० ए० करना चाहिए लेकिन अकेले कब तक रहोगे?'

सुबोध ने कहा—जीवन में स्थिर होने से पहले आप ही सोचिये मैं विवाह कैसे करूँ।

पापा मुस्कराये, बोले—ठीक तो है। लेकिन स्थिर होने में विवाह से मदद भी मिलती है। ख़ैर वह छोड़ो। प्रश्न तुम्हारा समय का ही है, वह ठीक है। लेकिन यह क्यों समझते हो कि तुम पर बोझ पड़ेगा या पढ़ाई में हर्ज होगा? ख़ैर, मैं समझा। और तो तुम्हें कुछ नहीं कहना?

पापा क्या समझ गये यह सुबोध ने नहीं समझा। बोला—मैं अभी कुछ नहीं कह सकता।

पापा ने निश्चित भाव से मुस्करा कर कहा—अच्छा-अच्छा। हम लोग सब देख रहे हैं। लेकिन अभी तुम पाँच-सात रोज़ और ठहरो न। सुधा ने जाने का विरोध नहीं किया? फिर भी—

सुबोध की कुछ समझ में न आया कि क्या कहे। भाग्य जब किसी के बारे में कुछ निर्णय करता है तो क्या उससे पूछता-ताछता है। यहाँ यहाँ हो रहा है किन्तु विवाह को क्या भाग्य के हाथ में ही रहने देना चाहिए? क्या वह निरी घटना है, दायित्व नहीं है? यदि दायित्व भी है तो यह अभिभावक लोग इस भाँति सहज भाव से निश्चिंत क्यों हो जाते हैं? विवाह होगा हमारा, करेंगे वह; यह क्या बात है?

कल जब वह बंदूक कंधे पर डाले जंगल में कहीं एकान्त खोजने चला गया था तब उस एकान्त में उधेड़-बुन करने के बाद उसने अपने मन में इतना ही स्थिर कर पाया था कि इस झमेले के बीच में से वह अपने को हटा लेगा। संकट टलेगा। उसको मालूम होता था कि एक तरह से यह भीरुता का उपाय है। सुधा की अवस्था से उसे विमुख नहीं होना चाहिए। वह किसी बड़ी तकलीफ़ में मालूम होती है। उसे सहायता चाहिए। मुझसे वह क्या किसी सहायता की आशा न करे? लेकिन ओंह, मुझसे उस बारे में कुछ नहीं हो सकता। विवाह नहीं किया जायगा। प्रेम क्या है? वह कुछ भी हो। लेकिन सुधा को क्या मैं प्रेम—मैं कुछ नहीं जानता। मैं यहाँ से चला जाऊँगा!

सुधा के बारे में उसकी कल्पना उसे जाने कहाँ तक ले जाती थी। सुधा को बड़ा कष्ट है। वह कष्ट क्या है? वह कष्ट क्यों है?

नहीं-नहीं; मैं अब यहाँ से चला जाऊँगा।

इस समय पापा के सामने बैठकर उसने सब बातों के बाद फिर यही कहा—जी, अब तो इजाज़त ही दीजिये। मैं अब घर जाऊँगा। माँ याद करती होगी।

पापा ने कहा—अच्छी बात है, जाना। और उसी समय पापा ने खड़े होकर आवाज़ दी—सुधा! ओ सुधा!

सुधा आवाज़ पर नहीं आई। असल में इस समय वह घर पर नहीं थी, बग़ीचे में थी। हमने कहा कि उसका पढ़ना लिखना अब बहुत कम हो गया था। हाथ को किसी काम काज में लगाये बिना जैसे उसे चैन ही न पड़ता था। इसी से वह समय-असमय बाग़ में चली जाती थी। फूल उसे प्यारे लगते थे लेकिन वह उन्हें तोड़ती नहीं थी। उनकी पौधों की जड़ों को पानी देना उसे अच्छा लगता था। पौधों में कली आती थी, वह खिलती थी। फूल हँसने लगता था और धीमे-धीमे अपनी सुरभि को बिखरा कर और यौवन को लुटाकर फिर वह अपनी डाली पर ही मुर्झाकर सूख जाता था। वह अन्य किसी के विशिष्ट उपयोग में न आता था।

सुधा को यह सब कुछ बुरा नहीं लगता था; बल्कि कुछ अनुकूल ही मालूम होता था।

वही सुधा जब दो-तीन आवाज़ों पर न आई तो पापा व्यस्त हो गये। नौकर से कहा—देखो तो सुधा कहाँ है। उन्हें यहाँ आने को कहो।

थोड़ी देर में जब सुधा आई तब वह अप्रत्याशित रूप से हलकी मालूम होती थी। इधर वह बहुत ही सादा रहने लगी थी तिस पर इस समय अपने सम्बन्ध में वह और भी असावधान थी। पापा ने कहा—आओ। कहाँ थीं?

'बाग़ में थी।'

'अच्छा, क्या और कपड़े नहीं हैं? लड़कियों पर सफ़ेद रंग का कपड़ा मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता।

सुधा मुस्कराई—तो कौन-सा रंग अच्छा लगता है?

सुधा को सुबोध की ओर देखने की रुचि नहीं होती थी, शायद साहस नहीं होता था। उसने आग्रह पूर्वक कहा—पापा आप कोई एक रंग बतला दें जो आपको अच्छा लगता है तो मैं उसी रंग का कपड़ा पहनूँ। लेकिन आपको कभी नीला भाता है, कभी आसमानी, कभी धानी, कभी लाल। मैं इसी लिए तो सफ़ेद पहनती हूँ।

पापा ने कहा—अच्छा-अच्छा। खड़ी क्यों हो, बैठ जाओ। लो, इधर आ जाओ। अब सुनो, सुबोध जाने को कह रहा है।

सुधा के लिए अब असंभव था कि सुबोध को न देखे। वह सामने ही बैठी थी। सुबोध को एक नज़र देख कर फिर सुधा ने पिता से पूछा—कब जायेंगे?

पिता ने कहा—यह तो ठीक मालूम नहीं। सुबोध जानता होगा। लेकिन तुम दोनों समझदार हो, हित-अनहित समझते हो। झूठी लज्जा अच्छी नहीं होती। तुम जानते हो, मैं क्या चाहता हूँ? असल में मैं कुछ नहीं चाहता। मैं जवान लोगों को ख़ुश देखना चाहता हूँ। ज़िन्दगी में एक दिन आता है कि विवाह होता है। उस दिन का सामना करने से किसी को बचना नहीं चाहिए, भागना नहीं चाहिए। पहले लोग उस दिन को जल्दी बुलाने की कोशिश करते थे, वह ग़लती थी अबके लोग उस दिन के सिर पर आ जाने पर भी उसे टालना चाहते हैं। यह भी उसे टालना चाहते हैं। यह भी ग़लती है। दोनों से अनर्थ होता है। ज़िन्दगी का सामना करने से बचना कैसा? बच नहीं सकते। भाई, बात यह है कि मेरी उमर पकने पर आई। लेकिन

मैं कहता हूँ कि ज़िन्दगी सुख-सुख सुख के पीछे भागने से नहीं बनती। इस तरह ज़िन्दगी नहीं चलती। क्योंकि जिसके पीछे भागते हो वह सुख नहीं होता, वह तृष्णा होती है। जवानी में मैं भी जवान रहा हूँ। जीने के लिए थोड़ी मूर्खता चाहिए, मैं यह जानता हूँ। लेकिन ज़िन्दगी में जो आये उससे डरना नहीं होगा। उसे स्वीकार करना होगा। मैं इतनी दूर बढ़ आया हूँ कि मौत अब मुझसे बहुत दूर नहीं हो सकती। मौत जब आयेगी तब आ ही जायगी। जैसे मैंने ज़िन्दगी ली वैसे ही मौत भी ले लूँ तो अपने को सार्थक जानूँ। मैं ईश्वर को नहीं जानता। जानने के लिए ठहरना भी नहीं चाहता। लेकिन जहाँ से चलकर और बनकर ज़िन्दगी मुझतक आगई है उसी अमित भाग्य के कोष में से अगर कुछ आता है तो इंकार करने वाला मैं कौन हूँ। आपदा-सम्पदा सबको स्वीकृति के भावसे लेना होगा। तुम लोग समर्थ हो, पढ़े-लिखे हो। मुझसे कुछ ज़्यादा ही हो। अब तुमसे विवाह की बात कहता हूँ तो इसी अर्थ में कहता हूँ। विवाह सुख नहीं है। विवाह धर्म है। पर धर्म—मैं ठीक नहीं जानता। विवाह विधान है। मनुष्य की तृष्णा को वहाँ स्थान नहीं हो सकता। इसी लिए तृष्णा भावसे विवाह को मत लेना। तुम दोनों के इस समय एक दूसरे से कहाँ तक बचना चाहिए, मैं नहीं जानता। लेकिन विवाह के प्रश्न को लेकर तो एक दूसरे से हटने की आवश्यकता तुम्हें बिल्कुल नहीं है। लज्जा बुरी बात नहीं है लेकिन लज्जा को कभी बस में भी करना होता है। सुबोध, मेरी ओर से तुम जा सकते हो कल परसों जब चाहे जा सकते हो लेकिन मेरे लिए जैसे तुम आज हो वैसे ही सदा रहो, यह मैं चाहता हूँ। नातेदार के रूप में ही मैं तुमको ग्रहण करूँगा, ऐसी बात नहीं है। समझते तो हो। इस लिए इस घर में आये हो तो इस घर के लोगों को भली प्रकार जान लो। आगे तुम्हारी इच्छा। इतने के बाद नातेदारी के बिना भी तुम इस घर के प्रति कभी पराये न रहोगे यह जान लेना।

यह कहते-कहते बीच ही में पापा कब उठ खड़े हुए यह उन्हें पता न चला। लजाकर बोले—लो, मैं तो एक ख़ासा व्याख्यान ही दे गया। अच्छा अब मैं जाता हूँ। जवानों के बीच में बूढ़ों का काम नहीं कहते हुए कुर्सियों के बीच से अपना रास्ता बनाकर पापा चले गये।

उनके जाने के बाद काफ़ी देर तक सन्नाटा रहा। कोई कुछ नहीं बोला। सुधा मुँह छिपाये बैठी थी। सुबोध भी असमंजस में था। सुधा के भीतर जैसे बड़ी विद्रोह की जलन हो रही थी। कर्त्तव्य, कर्त्तव्य, कर्त्तव्य—वह इससे तंग आ गई है। पाप के बाद क्या कर्त्तव्य है! क्या आत्मघात कर्त्तव्य नहीं है! उससे छोटा और क्या कर्त्तव्य हो सकता है? पर जब रात को सूने में, अँधेरे में, तारों भरे आसमान के नीचे के खुले शून्य में वह एकटक देखती रही है तब मानो जान पड़ा है कि सब कुछ जी रहा है और मौत किसी भी भाँति किसी के लिए भी कर्त्तव्य नहीं हो सकती। ऐसे समय उसका मन उच्छ्वास से भर भर आया है। वह पीड़ा मौत से भी अधिक दुःख उसे दे रही है। फिर भी मानो घूँट की भाँति भीतर बैठकर, पल भर में उसकी सारी देह में व्यापकर उसे संजीवनी भी दे जाती है। बग़ीचे में फूल जब वह देखती है, घास देखती है, लहराता पानी देखती है, लिपटती बेल और झूमते पेड़ देखती है, जब यह नीला आसमान और उसकी गोद में रुपहले सुनहले-बादलों की लहराती पाँति देखती है तब उसके जी में होता है कि नहीं, मौत धर्म नहीं है।

लेकिन फिर यह आदमी के मुँह से कर्तव्य-कर्तव्य-कर्तव्य की बात क्या निकलती है। लौकिक कर्तव्य सब झूठ है। मेरा कर्त्तव्य मौत है, लेकिन जीते व्यक्ति के लिए मौत कभी कर्त्तव्य नहीं हो सकती। यह लौकिक कर्तव्य सब झूठ है। विवाह कर्तव्य नहीं है कुछ भी नहीं है। यह सब पाखंड है।

और भीतर ही भीतर जलती हुई सुधा वहाँ सुबोध के सामने गुमसुम बैठी रही।

थोड़ी देर बाद सुबोध ने एक भारी साँस ली और वह उठा। बोला—मैं जाऊँ?

सुधा वैसे ही मुँह छिपाये बैठी रही उसके मन में हुआ कि जाओ, जाओ। एक से लाख बार जाओ। यहाँ से सब के सब चले जाओ। अरे, मुझे बख्शो। जीता रहने दो।

सुबोध ने कहा—सुधा, मुझे बता सकती हो मैं क्या करूँ?

सुधा नहीं बोली।

सुबोध सीधा खड़ा हो गया। वह चल भी पड़ा। लेकिन फिर ठिठककर बोला—सुधा मेरे बारे में भूल मत करना। मैं अत्यंत अपात्र हूँ। तुम लोगों ने इस स्वर्ग में किस पशु को बुला लिया है, तुम को नहीं मालूम। मेरी अयोग्यता तुम सब लोगों के बीच में आकर मुझे और भी चुभती है। मैं किसी योग्य नहीं हूँ। इसी से मैं यहाँ कैसे टिका रह सकता हूँ। किसी के स्नेह का मैं पात्र नहीं। स्नेह का प्रतिदान मैं नहीं दे सकता। सब कुछ मेरे भीतर सूख गया है। सुधा, मैं तुम लोगों को प्रणाम करके जाना चाहता हूँ। लो तुम चुप हो! मेरी उपस्थिति तुम्हें कष्ट देती है। यह सब मैं समझ सकता हूँ। सुधा, मैं तुम्हें कष्ट न दूँगा।

इस स्थल पर मानो उसने आशा की कि सुधा बोले। पर सुधा के मन में हो रहा था कि इस समय यह सुबोध न होता तो इसी सामने की संगमर्मर की मेज़पर ज़ोर-ज़ोर से ठोककर वह अपना माथा फोड़ ही लेती। तब कुछ चैन पड़ता।

सुधा कुछ नहीं बोली तो सचमुच सुबोध को दुःख हुआ। कुछ रोष भी हुआ। जैसे अपमानित किया गया हो। फिर वह वहाँ नहीं रुका और मुँह लटकाये हुए चला आया। सुधा जड़वत् निश्चेष्ट बैठी रही। उसको कुछ भी सूझता न था। उसके भीतर जैसे सब कुछ निस्पंद सुन्न पड़ गया था। फिर एकाएक कपाल पर दुहत्थड़ मार कर वहीं मेजपर सिर टिका कर फफक-फफक कर रोने लगी।

(७)

लेकिन यह उसने बहुत अनुचित किया। थोड़ी देर में जाने किस काम से महाराजिन बाहर आई। आकर आगे बढ़ कर बोली—क्या है बिटिया?

और सुधा सुनकर चेत उठी। अपनी कमज़ोरी पर उसे बहुत लज्जा आई। महाराजिन से उसका हुकुम का नाता है। वही उसपर करुणा करे यह सुधा को अत्यंत ग्लानिकर हुआ। उसने खिँझकर पूछा—क्यों क्या काम है!

महाराजिन को अपनी करुणा का प्रवाह एक दम रोक लेना पड़ा। बोली—मेहमान बाबू क्या अभी जा रहे हैं? उनके लिए खाना बनेगा?

सुधा ने विमनस्क भाव से पूछा—तुमसे किसने कहा?

वह कपड़े लत्ते बाँध जो रहे हैं। मैंने पूछा, बाबू अभी जाते हैं। बोले, हाँ, अभी जाता हूँ। मैंने कहा—दो रोज ठहरो न। बोले—ज़रूरी काम है। सो उनके लिए खाने को बनेगा? मैं कहती हूँ बेटी बाबू को दो रोज़ और रोक लेने को कहो न।

सुधा ने बड़ी कठिनाई से अपने गुस्से को रोकते हुए कहा—तुम्हें दुनिया की क्यों फ़िकर होती है? कुछ बनाना होगा तो मैं खुद बता दूँगी। जाओ, अपना काम करो।

महाराजिन तो चली गई, लेकिन सुधा को बहुत, बहुत, बहुत, बुरा मालूम हुआ। वह सोचने लगी कि इन भले आदमी को इतना नहीं सूझा कि नौकरों के सामने हँसी न

करावें। अपने साथ दूसरे का मज़ाक़ करवाते हैं। उसे सारा दोष सुबोध का मालूम हुआ। जाना हो तो जायें लेकिन तमाशा बनाकर क्यों जाते हैं।

सुधा तभी उठकर सुबोध के कमरे में आई। सुबोध सचमुच सामान ठीक करने में लगा था। उसने एकदम आज ही जाना ठान लिया था। सोचा था, पापा न भी होंगे तो क्या। वह अपने आप उनकी अनुपस्थिति में ही चल देगा। वह अपात्र है, उसे यहाँ से टल जाना चाहिए। उसका सामान भी यहाँ सुरक्षित नहीं है।

सुधा ने आते ही कहा—यह आप क्या कर रहे हैं? अभी चले जा रहे हैं क्या?

सुधा को इस तरह अपने कमरे के दर्वाज़े पर पाकर सुबोध को विस्मय हुआ, बोला—हाँ, सोचता तो हूँ।

'पापा से पूछ लिया?'

'वह तो हैं नहीं। आयेंगे तब आप मेरी ओर से क्षमा माँग लेना।'

'मैं? मैं आपके लिए ज़िम्मेदार हूँ? नहीं। माफ़ी मुझसे न माँगी जायगी लेकिन आप से यह पूछती हूँ कि आप मेरी हँसी उड़वाने पर क्यों तुले हैं? अभी महाराजिन ने कहा कि मैं आपको क्यों खदेड़े दे रही हूँ। ऐसी बात आप क्या सोच कर महाराजिन से कहते हैं? मैं आपको खदेड़ रही हूँ? मुझे इतना आपके साथ वास्ता नहीं। बोलिये, मैंने आपसे क्या कहा? आप जाते हैं तो बेशक जा सकते हैं। लेकिन किसी को बदनाम करना अच्छा नहीं होता। आप चाहे जो हों, औरों को भी अपनी इज़्ज़त प्यारी होती है।'

सुबोध घबरा गया। बोला—क्या बात है? क्या है?

सुधा तैश में भरी हुई बोली—क्या बात है? बात कुछ नहीं है, लेकिन इज़्ज़त सबकी होती है। नौकरों के सामने आप किसी को रुसवा करेंगे तो इसमें उसे ख़ुशी नहीं होगी। आप क्या सोचकर ऐसा कहते हैं? आपका मुझ पर इतना अधिकार नहीं है। मेरा कुछ कुसूर है, तो मैं उसको जान लूँगी और समझ लूँगी। आप दंड देनेवाले कौन होते हैं? मैं पहले ही से कम दंड नहीं पा रही हूँ। मेरा जी जला बैठा है। मेरा कौन है? कोई नहीं। आप हमदर्द बनते हैं? क्या यह हमदर्दी है? मुझे ऐसा हमदर्द नहीं चाहिए। मुझे कोई हमदर्द नहीं चाहिए। मरना अकेला है तो जी भी अकेली लूँगी। नहीं जी सकूँगी तो मर जाऊँगी। इससे आगे तो और कुछ नहीं है? लेकिन सच बताइये, मैं आपको खदेड़ती हूँ? बेशक मैं आपको रोकती नहीं हूँ। रोकनेवाली मैं कौन होती हूँ? लेकिन आप पापा के महमान हैं और यह झूठ है कि मैं पापा के महमान को खदेड़ सकती हूँ। आप क़सम खाकर कह सकते हैं कि आपके जाने में मेरा कुसूर है? कुसूर मैंने बहुत बड़े बड़े किये हैं लेकिन उनका दंड आप मुझे बिना सुने कैसे दे सकते हैं?

सुबोध की घबराहट बहुत बढ़ गई, वह आगे बढ़ आया और दोनों बाँहों में सुधा को लेकर एक कुर्सी तक ले आया। उसमें बिठा दिया और बोला—क्या बात है? मैं कुछ भी नहीं समझा। मुझे साफ़-साफ़ बताओ।

सुधा ने मानो उसकी ओर चीख़कर कहा—मैं क्या बताऊँ? मुझे तुम सब लोग मार क्यों नहीं देते?

सुबोध आकर कुर्सी की बाँह पर बैठ गया। उसने बड़े आश्वासन से एक हाथ सुधा के सिर पर रखा। बोला—सुधा, सुधा!

सुधा ने ज़ोर से उस हाथ को झटका देकर हटा दिया। धक्का देकर सुबोध को भी कुर्सी से दूर कर दिया और एकाएक कमरे के बाहर जाने लगी।

सुबोध ने जल्दी से बढ़कर उसकी राह रोक ली और फ़ौरन दर्वाज़े की अन्दर से चटख़नी लगा ली।

सुधा की साँस तेज़ी से आ-जा रही थी। उसकी आँखें फैली थीं। वह जंगली हिरनी-सी मालूम होती थी। बोली—क्या...क्या? मुझको मारोगे? लो, मारो!

सुबोध बड़े प्रेम से बोला—सुधा, सुधा!

सुधा मानो होश हवास खो बैठी थी। बोली—मैं सब जानती हूँ। लो, तुम मुझे मार डालो। मैं दुनिया के सामने कह सकती हूँ, मैंने तुमको नहीं खदेड़ा।

सुबोध ने उसे अंक में भर लिया। प्रेम से बोला—सुधा, सुधा!

सुधा ने उसी भाँति उसे धक्का देकर अलग कर दिया। बोली—मुझको मत छुओ! मैं—'सुधा...सुधा' नहीं हूँ। मैं जो हूँ, तुम नहीं जानते हो। मुझको तुम मत छुओ, अलग रहो। हाँ, अब कहो क्या कहते हो?

सुबोध ने कहा—सुधा, क्या बात है? तुम भूल करती हो। मैंने किसी से कुछ नहीं कहा।

सुधा धीमे धीमे ठंडी पड़ गई। बोली—तुमने नहीं कहा कि मैं खदेड़ रही हूँ? क़सम खाकर कहो कि तुमने नहीं कहा।

'मैं कैसे कह सकता हूँ! क़सम खाकर कहता हूँ, मैंने नहीं कहा।'

सुधा बोली—नहीं कहा होगा। लेकिन तुमने यह सोचा भी नहीं? सचसच कहना।

सुबोध बोला—तुमको क्या हुआ है, सुधा? तुम कैसी बात कहती हो? मैं ऐसा सोच सकता हूँ?

सुधा ने कहा—अच्छा, दर्वाज़ा खोल दो, मुझे जाने दो।

सुबोध ने कहा—यह वादा करो कि अभी जाकर पलँग पर सो जाओगी, तो दर्वाज़ा खोल सकता हूँ।

सुधा क्षण भर चुप रही फिर बोली—क्यों वादा करूँ?

सुबोध ने संदिग्ध भाव से कहा—थोड़ा आराम करने से तुम्हारी तबियत ठीक हो जायेगी।

सुधा ने अपलक भाव से सुबोध को देखकर कहा—मेरी तबियत में कुछ ख़राबी है जिसे ठीक करना चाहते हो?

सुबोध बोला—मैं नहीं जानता। वादा करोगी तब दर्वाज़ा खुलेगा।

तब सुधा जाने किस भाव से बोली—सुबोध, मेरी तबियत की क्यों फ़िक्र करते हो? वह फ़िक्र के लायक़ नहीं है।

सुबोध ने दरवाज़े की ओर बढ़कर कहा—अच्छा खोलता हूँ। लेकिन वादा तुमने नहीं किया।

सुधा बोली—तुम वादा लिये बिना नहीं खोलोगे?

सुबोध ने कहा—ऐसे वक्त ज़रा आराम करना ठीक होता है।

सुधा ने तभी एकाएक पूछा—तो तुम अभी आओगे?

सुबोध ने कहा—अभी तो नहीं आऊँगा।

सुधा बोली—तो मैं भी वादा करती हूँ, अभी जाकर सो जाऊँगी।

सुबोध ने दर्वाज़ा खोल दिया। पूछा—तो कल तो आ सकूँगा न?

सुधा दरवाज़ा खुलते ही चल दी। बोली—मैं नहीं जानती। [क्रमशः]

चिट्ठी

[स्व० रमणभाई महीपतराम नीलकंठ]

छुट्टी का दिन था और मैं आँगन में हिंडोले पर बैठा, एक उपन्यास पढ़ रहा था। इतने में नौकर ने आकर कहा—कोई मिलने आये हैं। मैंने उन्हें अन्दर लाने का इशारा किया। वह आये। अपने सामने पटे पर बैठाकर मैंने उनसे पूछा—कहिये, कैसे तकलीफ़ की? उन्होंने मेरे हाथ पर एक चिट्ठी रख दी। पत्र की लिखावट अनजानी थी, लिखनेवाला भी अपरिचित-सा मालूम हुआ। पत्र में लिखा था—'आपको याद होगा, पिछले साल मैं आपसे आनन्द स्टेशन पर मिला था। दो चाय बेचनेवाले आपके सामने अपनी चाय की तारीफ़ कर रहे थे, तब मैंने कहा था, सामने टेबल पर चाय की जो दूकान है, उसकी चाय इन दोनों से अच्छी है। जिन भाई के हाथ मैं यह पत्र भेज रहा हूँ, वे अपनी रामकहानी आपको सुनायेंगे ही, कृपा होगी, यदि सुनकर भरसक आप इनकी मदद कीजियेगा।' पुनश्च—'यह भाई मेरे एक रिश्तेदार हैं।' यह चायवाला क़िस्सा मुझे बिलकुल याद न पड़ता था; फिर भी मैंने देखा कि इतनी-सी पहचान पर इतना बड़ा बोझ लादा जा रहा है। तत्काल मुझे रघुवंश की यह पंक्ति याद आई—'सम्बन्ध-माभाषण पूर्वमाहुः' (बातचीत के साथ तुरन्त ही मित्रता हो जाती है।) और मैंने आये हुए सज्जन से अपनी रामकहानी सुनाने को कहा। वह बोले—

'साहब, छगनलाल मेरा भांजा होता है। वहिवटदार साहब उसकी तरक्की के लिए सिफ़ारिश नहीं कर रहे हैं। इस जगह वह ढाई साल से काम कर रहा है। पिछली मर्दुमशुमारी के वक़्त उसे पिंजारों के मुहल्ले में काफ़ी गालियाँ खानी पड़ी हैं; मगर वहिवटदार साहब के दिल में गिरदावर ने झूठ-मूठ ही यह बात बैठा दी है कि छगनलाल रिश्वतख़ोर है; जब कि असलियत यह है कि गिरदावर ख़ुद वह जगह अपने मित्र अमथालाल के बेटे छोटालाल को दिलाना चाहता है; और ज़ाहिरा वह यह दिखाने की कोशिश कर रहा है कि अमथालाल से उसे कोई मतलब नहीं है; लेकिन यहाँ आने से पहले जब गिरदावर सावली में रहता था, उसके और अमथालाल के बीच सिर्फ़ तीन घरों का अन्तर था। उसका यह कहना सरासर झूठ है कि वह दस घर दूर रहता था। मैं हुज़ूर के सामने मय सबूत अपनी बात साबित करने को तैयार हूँ।'

मैंने कहा—मगर मुझे इस सबूत की ज़रूरत ही क्या है?

'ज़रूरत तो इसलिए है कि आप वहिवटदार साहब से कह सकते हैं कि गिरदावर से अमथालाल की दोस्ती है।'

'यह आपका काम है। आप उनको इसका यक़ीन दिला सकते हैं।'

'हुज़ूर नायब फ़ौजदार साहब से पूछेंगे, तो वे भी इसकी ताईद करेंगे।'

'किस चीज़ की ताईद करेंगे?'

'यही कि सावली में गिरदावर अमथालाल के घर से तीन घर दूर रहता था। उन दिनों नायब फ़ौजदार साहब ऊँट की चोरी की तहक़ीक़ात के लिए वहाँ गये थे। चारणों का कहना है, रावलों का ऊँट था, और बनजारे चुरा ले गये थे।'

'आख़िर यह सब बातें आप मुझसे क्यों कहते हैं?'

'जी, वहिवटदार साहब को आप एक चिट्ठी लिख दीजिये, कि छगनलाल रिश्वतख़ोर नहीं है, और बाल बच्चोंवाला है; उसकी तरक़्क़ी की सिफ़ारिश की जाय।'

'वे किस गाँव के वहिवटदार हैं और उनका नाम क्या है?'

चिट्ठी चाहनेवाले ने नाम और गाँव दोनों बताये।

मैंने कहा—भई, मैं न तो उन्हें जानता हूँ, न उनसे कभी मिला हूँ।

'लेकिन हुज़ूर को तो वे ज़रूर जानते होंगे। कौन है, जो न जानता हो? सिर्फ़ इतना लिख दीजिये कि छगनलाल रिश्वत नहीं खाता है, और बाल-बच्चेवाला है, इस वास्ते उसकी सिफ़ारिश की जाय। मुझ ग़रीब का बड़ा काम होगा।'

'सुनिये, न मैं छगनलाल को पहचानता हूँ, न कभी उसके गाँव गया हूँ। मैं कैसे लिख दूँ कि छगनलाल रिश्वत नहीं लेता? और यह दिखाने के लिए कि वह बाल-बच्चोंवाला है, आप उसके बच्चों को वहिवटदार साहब के सामने ले जाइये और खड़ा कर दीजिये। क्या आप समझते हैं मैंने उसके बच्चों को देखा है?'

'जी, गिरदावर ने झूठी चुगली खाई है, और छगनलाल बेचारा नाहक़ मारा जा रहा है।'

'सुनिये साहब, मैं न तो आपको जानता हूँ न वहिवटदार साहब को जानता हूँ; न गिरदावर से मेरी पहचान है, और न छगनलाल से। फिर मैं कैसे इस मामले में दरम्यान-गिरी करूँ?'

'हुज़ूर! यह सारी माया अमथालाल की फैलाई हुई है। छोटालाल को जगह दिलाने के लिए वह अफ़सरों की ख़ुशामद किया करता है। उस ऊँटवाली चोरी में भी उसने बड़ी चालें चली थीं। उसके चाचा भी बड़े चालबाज़ आदमी हैं।'

'होंगे; मगर मुझे इससे मतलब?'

'मगर हुज़ूर! गोविन्दलाल जी ने आपके नाम चिट्ठी दी है। आपके सिवा अब मेरा और कोई सहारा नहीं है।'

'मैं नहीं जानता, गोविन्दलालजी से मेरी कब मुलाक़ात हुई थी। हाँ, यह उनकी मेहरबानी है कि उन्होंने मुझे याद किया। हाँ, तो आप उनके क्या लगते हैं?'

'जी, उनकी लड़की के लड़के की मँगनी मेरे मामा से होने जा रही है।'

'बहुत ख़ूब! तो मैं आपकी बातें सुन चुका! खेद है, मैं कोई चिट्ठी नहीं दे सकता।'

'लेकिन हुज़ूर मेरा भांजा रिश्वतख़ोर नहीं है, और बाल-बच्चेवाला है।'

'तो क्या मैं कहता हूँ कि वह रिश्वतख़ोर है, और बाल-बच्चेवाला नहीं है?'

'मगर हुज़ूर एक चिट्ठी......।'

'चिट्ठी का नाम न लीजिये और अब ख़तम कीजिये।'

छगनलाल की प्रामाणिकता के बारे में और उसकी बढ़ी हुई गृहस्थी के बारे में बहुतेरी आग्रह-भरी बातें सुनने के बाद आख़िर मैंने उन्हें बिदा किया।

और, मैं फिर से उपन्यास पढ़ने बैठा। अभी आधा सफ़ा भी नहीं पढ़ पाया था कि एक दूसरे मुलाक़ाती आ पहुँचे। इधर मैंने उनसे चिट्ठी ली और पढ़ने लगा उधर पटे पर बैठे ही बैठे गरदन उठाये, उन्होंने हाथ के इशारे से लोगों को बुलाना और चिल्लाना शुरू किया—'ए जगा भाई! ए भगा भाई! ए भगा भाई! आओ, अन्दर आओ!' और उन्होंने दरवाज़े पर खड़े पाँच-छः आदमियों को आँगन में बुला लिया, और वे सब आकर उनके साथ पटे पर बैठ गये। मुझे जो चिट्ठी दी गई थी, वह मेरे एक परिचित की थी। मैंने इस परिचय को सकारण समझा और उनसे आने की वजह पूछी। पहले आनेवाले ने कहा—साहब, हमारे गाँव में सरकार मुंसीपालटी (म्युनिसिपैलिटी) क़ायम करना चाहती है।

मैंने कहा—बड़ी अच्छी बात है।

सब एक साथ बोल उठे—वाह, अच्छी बात क्या है? सरकार नए-नए कर लगायेगी और हम व्यापारी मारे जायँगे।

'भई, गाँव में सड़कें बनेंगी; रोशनी लगेगी; मदरसा न हुआ तो वह क़ायम होगा; दवाख़ाना बनेगा। बिना कर लगाये ये सब कैसे होंगे?'

'मगर साहब, हमें इनमें से किसी की ज़रूरत नहीं है। एक मदरसा चलता है, सरकार चाहे, उसे भी तोड़ दे। लड़के पड़ोस के गाँव में जाकर पढ़ आयेंगे। लेकिन यह मुंसीपालटी न होनी चाहिए। हमारा गाँव तो वैसे ही टीलों-टेकरों वाला है; मुंसीपालटी उसमें और क्या करेगी? अब तक उसके बिना चला है, तो अब क्यों न चलेगा? सरकार हमें परेशान करती है।'

'आख़िर आप लोग मुझे ये सारी बातें क्यों सुना रहे हैं?'

'जी, इसलिए कि आप दीवान साहब के नाम एक चिट्ठी लिख दें, ताकि वे हमारे गाँव में मुंसीपालटी क़ायम न करें।'

'भला यह कैसे हो सकता है? राज तो दीवान साहब चलायें, और मैं यहाँ बैठा उन्हें चिट्ठियाँ लिखूँ कि ऐसा कीजिये, और ऐसा न कीजिये? उनके राज-काज में दख़ल देने का मुझे क्या हक़ है?'

'जी, आप दीवान साहब को लिखिये कि यह गाँव मुंसीपालटी के लायक़ नहीं है। मुंसीपालटी से गाँव में झगड़े बढ़ेंगे। इसलिए मुंसीपालटी क़ायम न होनी चाहिए।'

'क्या आप यह ठीक समझते हैं कि योजना बनवाकर, मौक़े की जाँच करवाकर और रिपोर्ट के काग़ज़ात पढ़कर जो राय दीवान साहब ने क़ायम की है, उसे चिट्ठी पढ़कर वे बदल दें? इन बातों का फ़ैसला तो वही न कर सकता है, जिसके माथे हुकूमत का बोझा हो? माफ़ कीजिये, मैं इस मामले में अपनी कोई राय नहीं दे सकता।'

'मगर साहब, पंडित...जी ने कहा था, जाते ही आपकी चिट्ठी हमें मिल जायगी।'

'कहा होगा; लेकिन आप मुझे इतनी आज़ादी तो देंगे न कि किस मामले में कैसी राय देना और क्या करना, इसका निर्णय मैं ख़ुद कर सकूँ?'

आख़िर किसी तरह बड़ी अनिच्छा के साथ, यह डेपुटेशन बिदा हुआ, और जाते-जाते उन सब तकलीफ़ों का ब्यौरा मुझे सुना गया, जिनकी कल्पना उसने म्युनिसिपैलिटी के साथ कर रखी थी।

अभी मैं उपन्यास का एक पृष्ठ ही पढ़ पाया था कि इतने में एक बोहरा जी को साथ

लिये एक सज्जन आये और कहने लगे—'दयाशंकर जी ने कहा है, इन बोहराजी की बात सच है और इनका 'केस' इस योग्य है कि इनकी सिफ़ारिश की जा सकती है।' यह सन्देश सुनाकर वह तो चले गये और बोहराजी को मेरे पास बतौर बख़्शिश के छोड़ गये। जब बोहराजी से पूछा, तो पता चला कि वह किसी अदालत में अपील करने जा रहे थे, और उस अदालत के न्यायाधीश के नाम उन्हें मेरी चिट्ठी की ज़रूरत थी।

मैंने कहा—अदालत को मैं कोई सिफ़ारिश नहीं कर सकता।

'हुज़ूर, मैं तो ऐसी चिट्ठी चाहता हूँ कि इन्साफ़ मिले।'

'ऐसी चिट्ठी का मतलब यह होगा कि आमतौर पर अदालत इन्साफ़ नहीं करती है, मगर इस मामले में उसे इन्साफ़ करना ही होगा!'

'जी, ऐसी बात नहीं है; जज साहब तो हमेशा इन्साफ़ ही करते हैं।'

'तब आप मुझसे चिट्ठी क्यों चाहते हैं?'

'महज़ इसलिए कि आपकी चिट्ठी पाकर वे दायें-बायें का थोड़ा ख़याल रखेंगे और मुझ ग़रीब की परवरिश हो जायगी!'

'तो मैं उन्हें यह लिख दूँ कि वह आपके साथ रियायत करें और बेइन्साफ़ी से काम लें?'

'नहीं हुज़ूर, ऐसा नहीं; फिर भी इन्सान को दायें-बायें में थोड़ा फ़र्क़ तो करना ही पड़ता है।'

'इन्साफ़ करनेवाले के लिए तो दायाँ वह है जो सच्चा है, और बायाँ वह है, जो झूठा है। यह कैसे हो सकता है कि आपका 'केस' झूठा मालूम होने पर भी जज साहब आपको दायाँ समझें और मेरी सिफ़ारिश पर आपके साथ रियायत करें?'

'साहब तो बोले थे, आप मुझे ज़रूर ऐसी चिट्ठी लिख देंगे।'

'बोले होंगे; साहब बड़े आदमी हैं। पर मुझे ताज्जुब होता है कि उन्होंने कैसे ऐसी सिफ़ारिश की। आप यह समझ लीजिये कि इन्साफ़ के मामले में मैं कभी किसी जज को चिट्ठी नहीं लिखता हूँ, न किसी की सिफ़ारिश करता हूँ।'

आख़िर दायें-बायें के फ़र्क़ की अपनी फ़िलासफ़ी को कई तरह से फिर-फिर समझाते हुए बड़ी नाउम्मेदी के साथ बोहराजी लौट गये। मैंने फिर उपन्यास हाथ में लिया। अभी दो-चार सतरें भी नहीं पढ़ पाया था कि इतने में एक मुहर्रिर आकर खड़ा हो गया। इसके साथ मेरी पुरानी पहचान थी और यह सरकारी नौकरी से मुअत्तल किया गया था। यह अपनी मुअत्तली का सारा क़िस्सा मुझे विस्तार से सुना चुका था, और उस हुक्म में जो नुक़्स रह गया था, उस पर मुझसे दलीलें भी कर चुका था। मैं फिर उसी पुराण को सुनने के लिए तैयार हो गया। परन्तु अबकी उसने एक नया ही सिलसिला छेड़ा। वह बोला—

'अपनी पहली नौकरी से तो साहब अब मैं बाज़ आ गया हूँ। मैंने उसका ख़याल तक छोड़ दिया है। मेरे लिए यही बस होगा कि आप मुझे कहीं दूसरी नौकरी दिला दें। बच्चू तो आपकी दया से मदरसे में नौकर हो ही गया है; मैंने भी इन्जिनियरिंग खाते में अपने लिए दरख़्वास्त दी है। कृपा कर आप इञ्जीनियर साहब के नाम एक चिट्ठी इस आशय की लिख दें कि उनके दफ़्तर में मेरे लायक़ कोई जगह हो, तो मुझे रख लें। और अगर बड़े साहब से आपकी पहचान हो, तो एक चिट्ठी उनके नाम भी लिख दें। और यदि रेवेन्यू कमिश्नर या मिनिस्टर साहब से आप का परिचय हो तो उनके नाम भी एक चिट्ठी लिख दीजिये, ताकि वह अपने सभी मातहत अफ़-

सरों को इस मतलब की हिदायत कर दें कि उनके दफ़्तर में ७४) की जगह ख़ाली होते ही सबसे पहले वह जगह मुझे दी जाय। और जंगल खाते के किसी अफ़सर से आपकी पहचान हो, तो उन्हें भी एक चिट्ठी लिख दीजिये, ताकि ख़ाली होते ही मुझे कोई जगह वहाँ मिल जाय। और अगर तुरन्त कोई जगह ख़ाली न हो, तो मेरे लिए नई जगह क़ायम की जाय। आपके लिखने की देर है ; मुझे विश्वास है वे ज़रूर नई जगह क़ायम कर देंगे। और नमक-विभाग के अफ़सर को तो आप पहचानते ही हैं, एक चिट्ठी उन्हें भी लिख दीजिये कि यह मेरा आदमी है, इसे जगह ज़रूर दीजिये ; और कोई इसके ख़िलाफ़ कुछ कहे भी तो उस पर ग़ौर न कीजिये।'

'मैं तो सोचता हूँ, सब से बेहतर यह होगा कि मैं तुम्हें गवर्नर जनरल, यानी बड़े लाट के नाम एक चिट्ठी लिख दूँ !'

'जी, आप क्या लिख देंगे ?'

'मैं लिख दूँगा कि इस आदमी को सरकारी ख़ज़ाने से एक लाख रुपये दिला दीजिये, क्योंकि रुपयों के अभाव में यह बहुत दुःखी रहता है।'

'साहब, आप तो मज़ाक़ करते हैं, और मैं ग़रीब मारे बेकारी के परेशान हो रहा हूँ।'

'तो भले आदमी ! इन सब बड़े-बड़े अफ़सरों के नाम मुझसे ऐसी बेक़ायदा चिट्ठियाँ लेकर तुम मुझे उल्लू बनाने की जो कोशिश कर रहे हो, उसका भी तुम्हें कुछ ख़याल है ? सोचो तो, इस तरह की चिट्ठियों का क्या मतलब हो सकता है ?'

'जी, लिख देने में आपका क्या बिगड़ता है ? मेरे तक़दीर में होगा, तो कहीं-न-कहीं चिपक जाऊँगा।'

'तुम सोचते हो, लगे सो तीर नहीं तुक्का है ही। मगर तुम्हें इसका ख़याल नहीं है कि लोग मुझे क्या कहेंगे ?'

'तो साहब, इस उमर में अब बेकार होकर मैं कौन धन्धा करूँ ? यह भी कोई इन्साफ़ है कि लोग किसी मुअत्तल आदमी को कहीं नौकरी ही न दें ? परमात्मा को भी तो कोई कहनेवाला नहीं है, कि वह लोगों को ऐसी दुर्बुद्धि क्यों देता है ?'

'अच्छा तो सुनो, मैं सोच रहा हूँ कि और सब बातें छोड़कर तुम्हें परमात्मा के नाम ही एक चिट्ठी लिख दूँ कि इस आदमी को स्वर्ग में स्थान दीजिये। मैं नहीं जानता, इसने कोई पुण्य भी किया है या नहीं, मगर मैं इसे जानता हूँ, क्योंकि यह मेरा परिचित है। फिर तो तुम्हें इस दुनिया के झंझटों की कोई पर्वा ही न रहेगी, तुम अपना सीधे स्वर्ग में जाकर परमात्मा को आड़े हाथों लेना और उनसे पूछना कि लोग क्यों तुम्हारे साथ ऐसा अन्याय करते हैं !'

'नहीं साहब, अभी तो मुझे बहुत जीना है। ज़्यादा नहीं, तो सिर्फ़ ऐसी ही एक चिट्ठी लिख दीजिये, जिससे सड़क खोदनेवालों की हाज़िरी लेने की अस्थायी नौकरी ही मुझे मिल जाय। चिट्ठी में इतना और समझाकर लिखियेगा कि मैं किसी रिश्वत के मामले में मुअत्तल नहीं हुआ हूँ। आप तो जानते ही हैं, कि बिला छुट्टी ग़ैरहाज़िर रहने के क़ुसूर में मैं मुअत्तल किया गया हूँ।'

आख़िर मुझसे एक चिट्ठी लेकर वह चला गया। और सूरज के डूबते ही जैसे चाँद उग आता है, ठीक वैसे मुहर्रिर के पीठ फेरते ही एक ठेकेदार आ धमके। आपने म्युनिसिपैलिटी के लिए मदरसे का एक मकान बना देने का ठेका लिया था। लेकिन इमारत में चूने की जगह मिट्टी लगाई थी ; पक्की लाल ईंटों की जगह अधपकी अमरसी ईंटें चुनी थीं ; मलबारी साग के बदले बलसाडी साग की लकड़ी लगाई थी ; समूचे पटियों की जगह जोड़वाले पटिये जड़े थे, मोटी

सलाखों की जगह पतली सलाखों का और स्क्रू की जगह कील का उपयोग किया था ; और शर्त के मुताबिक़ नींव भी गहरी नहीं खोदी थी। इन और ऐसे कई कारणों से म्युनिसपैलिटी आपका हिसाब नहीं कर रही थी।

मैंने पूछा—क्या म्युनिसिपैलिटी की ये शिकायतें झूठी हैं ?

'हुज़ूर, बात ऐसी है कि जो दूसरे ठेकेदार मुझसे जलते हैं, उनकी गुमनाम दरख़्वास्तों पर ग़ौर करके म्युनिसिपैलिटी ने ये शिकायतें तैयार की हैं।'

'लेकिन आख़िर किसी ने इन शिकायतों की सच-झूठ की तहक़ीक़ात तो की होगी न ?'

'जी हाँ, सो तो हुई है। म्युनिसिपैलिटी के कहने से सरकारी इञ्जनेर खाते के ओवरसियर ने तहक़ीक़ात की है।'

'तो उन्होंने अपनी रिपोर्ट में क्या लिखा है ?'

'यही कि मकान बिल्कुल रद्दी बना है और गिरा देने के क़ाबिल है।'

'मतलब यह कि उन्हें ये शिकायतें सच मालूम हुई हैं।'

'जी हाँ, लेकिन यह सब मेरे दुश्मनों के फैलाये हुए जाल का नतीजा है।'

'नतीजा चाहे जिसका हो, जब आपने कण्ट्राक्ट के अनुसार इमारत नहीं बनाई, और एक कमज़ोर इमारत बनाकर खड़ी कर दी, तो म्युनिसिपैलिटी आपको पैसा किस लिए दे ?'

'साहब, मैं ग़रीब बिला क़सूर पिट रहा हूँ। मुझे अपने साहूकारों के बिल चुकाने हैं और कारीगरों और मज़दूरों को रोज़ी देनी है। अगर म्युनिसिपैलिटी पैसा न देगी, तो मैं ये रक़में कैसे चुका पाऊँगा ?'

'आख़िर जैसा किया है, वैसा ही न पाओगे ?'

'साहब, मैंने कुछ भी तो नहीं किया। सभी ठेकेदार यही न करते हैं ? मगर कहावत है कि जो छींके पर चढ़ता है, वही चोर कहलाता है। अगर कण्ट्राक्ट के अनुसार सब काम किये जायँ तो कण्ट्राक्टर कमाये क्या और खाये क्या ? हमें तो बीच के छोटे-मोटे लोगों को भी राज़ी रखना पड़ता है, और होड़ा-होड़ी में ठेके की बोली भी कम बोलनी पड़ती है। इसलिए ज़ाहिर है कि बिला चश्मपोशी के यह धन्धा चल ही नहीं सकता, हुज़ूर।'

'जनाब, आपका यह नीतिशास्त्र आप ही को मुबारक हो। तो अब कहिये, मैं इसमें क्या कर सकता हूँ ?'

'अगर आप म्युनिसिपल सेक्रेटरी के नाम एक चिट्ठी लिख दें तो मेरा काम बन जाय।'

'क्या लिख दूँ, कि म्युनिसिपैलिटी का नुक़सान करके भी आप इन्हें रुपया दे दीजिये।'

'जी हाँ, सेक्रेटरी साहब चाहें, तो सब-कुछ कर सकते हैं।'

'आख़िर वे क्या चाहेंगे, भले आदमी ! आपकी बनाई इमारत पर उनके इंजीनियर ने रिपोर्ट की होगी, ख़ुद सेक्रेटरी साहब ने भी अपनी रिपोर्ट दी होगी और सरकारी ओवरसियर की रिपोर्ट भी उन्हें मिली होगी ; इन सब को भूलकर वे कैसे चाहेंगे कि आपको रुपया दिला दें !'

'हुज़ूर, सुना है, सब काग़ज़ात एक ही फ़ाइल में हैं।'

'होंगे, इससे मतलब ?'

'अगर वह फ़ाइल उड़ा दी जाय, तो मैं दूसरी अच्छी रिपोर्टें पेश कर सकता हूँ।'

'आपको यह कहते शरम आनी चाहिए। क्या मैं सेक्रेटरी साहब को यह लिखूँ कि वे आपके लिए जालसाज़ी करें ?'

'हुज़ूर, मैं बिलावजह मारा जा रहा हूँ। बाल-बच्चोंवाला हूँ गरीब हूँ। अर्ज़ है कि आप कोई सिफ़ारिश न कीजिये, सिर्फ़ एक चिट्ठी लिख दीजिये। मैं आपकी चिट्ठी लेकर सेक्रेटरी साहब से मिलूँगा। आप जो चाहिये, लिखिये, मगर चिट्ठी दीजिये ज़रूर!'

'मैं जो चाहूँ, लिख दूँ न?'

'जी हाँ।'

तुरन्त नोट पेपर लेकर मैंने एक चिट्ठी लिखी और ठेकेदार को पढ़कर सुनाई। मैंने लिखा था—

'जो ठेकेदार यह चिट्ठी लेकर आपकी सेवा में पहुँच रहे हैं, उनकी माँगें इतनी अनुचित हैं कि मैं कभी सिफ़ारिश कर ही नहीं सकता। लेकिन कहावत है कि गरज़ बावली होती है और स्वार्थ अन्धा। यह ठेकेदार उसका एक नमूना हैं। इनकी बातें सुनकर आपको जहाँ गुस्सा आयेगा, वहाँ काम की भीड़ में थोड़ा मनबहलाव भी हो जायगा।'

सुनते ही ठेकेदार चिल्ला उठे—हुज़ूर, ऐसी चिट्ठी!

'क्यों, आपने नहीं कहा था, मैं जैसी चाहे चिट्ठी लिख दूँ?'

'जी, मेरा मतलब यह था कि ऐसी लिखिये, जिससे मेरा कुछ फ़ायदा हो।'

मैंने कहा—अब आप यहाँ से चलदीजिये; नहीं, मैं पुलीस को इत्तिला करके अभी आपका बन्दोबस्त करवा देता हूँ। इतनी दग़ाबाज़ी!

सुनकर सिटपिटाता हुआ कण्ट्राक्टर चला गया और वह 'चाहे जैसी' चिट्ठी मेरे पास ही पड़ी रही।

उस दिन चिट्ठी के उम्मीदवारों की यह चढ़ाई शाम तक जारी रही। एक के बाद एक, चिट्ठी के ये उम्मीदवार आते ही रहे। बस समझिये एक ताँता-सा बँध गया। कोई नौकरी के लिए, कोई तबादले के लिए, कोई मकान किराए पर उठा देने के लिए, कोई वर-कन्या की सगाई के लिए, कोई मुफ़्त में मोतिया-बिन्द कटवाने के लिए, कोई व्यापार में भागीदार बनाने के लिए, कोई दीवार में दरवाज़ा बैठवाने के लिए, तो कोई रसोइया माँगने के लिए। मुझे शक हुआ, कहीं मेरे दरवाज़े पर किसी ने 'साइनबोर्ड' तो नहीं लगवा दिया कि 'यहाँ सिफ़ारिशी चिट्ठियाँ लिखी जाती हैं!' मैं उठकर चबूतरे पर गया और देखा, पर वैसा कोई 'साइनबोर्ड' दिखाई न पड़ा।

सुबह उठते ही मैंने सोचा था, आज छुट्टी का दिन है, थोड़ा आराम करेंगे, उपन्यास पढ़ेंगे, और दिन में कुछ देर सो लेंगे; मगर 'मन की मन ही माँहि रही'। सूरज अस्ताचल की ओर झुक रहा था, और मैं स्वर्गीय मणिशंकर * कृत 'वसन्त-विजय' के एक श्लोक को कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ यों गुनगुना रहा था—

> 'घेली बनी बधी सृष्टि चीट्टीमां हाल न्हाय छे,
> हाय! एवज आ मारा हे यामां कैंक थायछे।'

अगर किसी को चिट्ठी लिखने का यह हक़ मुझसे खरीदना हो तो मैं उसे एक पैसे में बिना किसी दावे के ताहयात बेचने को तैयार हूँ।

अनुवादक—काशिनाथ त्रिवेदी।

* गुजरात के एक लब्धकीर्ति कवि—

कहानियों में करुणा

[प्रो० देवराज उपाध्याय एम० ए०]

कहानी भाव सापेक्ष होती है। वह कहानी जिसमें हृदय-तत्व का अभाव हो और जो सहृदय पाठक के हृदय के कोने में पड़ी हुई भाव-लहरी को उद्बुद्ध न कर देती हो, श्रेष्ठ कहानी की उच्च श्रेणी में प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। कला की सार्थकता इसी में है कि वह हमारे जीवन के उपकरणों को इस तरह सजाकर रखे जिसे हम अपना समझ सकें, जिसका हम उपभोग कर सकें तथा जो हमारे जीवन के धरातल को ऊँचा उठावे। यदि हम चाहते हैं कि हमारी कहानी कलापूर्ण हो, कला की कसौटी पर वह सफल आये, तो यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी अभिव्यक्ति ऐसी हो जो हमारे हृदय की सम्पत्ति हो जाय तथा आँखों की राह होकर सीधे हृदय में उतर आये।

मालूम होता है कि हमारे आधुनिक लेखकवृन्द अपने हृदय की तह में इस बात को महसूस करते हैं और यही कारण है कि आज-कल हिन्दी-साहित्य में एक भाव-प्रवणता की बाढ़-सी आ गई है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य को गीति-काव्यों तथा कहानियों का युग कहा जाता है। इसके कई कारण हैं। पर उनमें से एक कारण यह भी है कि आज-कल का समाज अपने पूर्ववर्ती कवियों के शारीरिक सौन्दर्य के स्थूल वर्णन के अत्याचार से ऊब-सा गया है और अपनी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी कर वहाँ के सूक्ष्म सौन्दर्य को देखना चाहता है। भावों की वेग-शीलता, भावनाओं की तीव्रता तथा रागात्मक तत्व की प्रवाहिता, subjective element की प्रधानता ही गीतिकाव्य का प्राण है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कहानियों तथा गीति-काव्यों का प्रचार परम्परा से आती हुई वर्णन-प्रणाली की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। जहाँ एक की दृष्टि आकाश में उड़ती हुई चीलों की तरह ज़मीन पर पड़ी हुई चीज़ों पर ही लगी रहती थी, वहाँ दूसरे की दृष्टि चकोर की तरह है, जो इस धरातल पर रहकर भी व्योमस्थित चन्द्र-मण्डल की शोभा का प्यासा रहता है। यों भी कह सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य की ये प्रवृत्तियाँ प्राचीन रूढ़िवाद के साँकल में आबद्ध साहित्यात्मा के विद्रोह की आवाज़ है।

परन्तु इस प्रतिक्रिया की लहर के साथ-साथ हमारे यहाँ बहुत से कूड़ा-करकट का भी समावेश हो रहा है। बहुत से हमारे साहित्यिक इन बातों को देखकर सशंक हो उठे हैं और हिन्दी-साहित्य के भविष्य के संबंध में तरह-तरह की शंका प्रगट करने लगे हैं। परन्तु यह डरने की तो बात नहीं। जब समुद्र का मंथन होता है उस समय दोनों ही चीज़ें निकलती हैं, हलाहल-

विष और अमृत। विष को पान करने के लिए महाकाल शिव हैं और अमृत-पान के लिए हम लोग जैसे छोटे छोटे जीव। हमारा कर्तव्य यही है कि हम शांतचित्त हो सहृदयता-पूर्वक अपने साहित्य की गति-विधि का निरीक्षण करें, साथ-ही-साथ इन त्रुटियों की ओर भी निष्क्रिय उपेक्षा-भाव न रखें।

यहाँ हमारा संबंध कहानियों से है। अतएव यह विचारणीय प्रश्न होना है कि वे कौन-कौन से साधन हैं या कौन-कौन से ऐसे तरीक़े हैं, जिनका उपयोग कहानी-लेखक अपनी कहानियों को मार्मिक, हृदय-स्पर्शी तथा कलात्मक बनाने के लिए करते हैं और उनके प्रयोग में उन्हें कहाँ तक सफलता मिलती है।

प्रणय और करुण ये दो ऐसे भाव हैं जिनकी परिधि के अंदर सारे विश्व के प्राणी समाविष्ट हैं। कोई सत्ताधारी या मनुष्य नाम धारण करनेवाला जीव शायद ही हो जिसका अनुभूति-खण्ड एक बार इन भावों के पुलक स्पर्श से स्पंदित न हुआ हो। थोड़े शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि ये विश्व के चिर परिचित भाव हैं। हम प्रणय की सत्ता से विभोर हो जाते हैं, करुण भावों से हिल जाते हैं। अतएव वह कला जिसमें सजीवता है, जो जीवन की अभिव्यक्ति को ही अपना कथ्य रखती है, उसमें चिरव्यापी इन चिरंतन भावों की झलक पाई जाती है। यही कारण है कि किसी भी साहित्य में चाहे वह अंग्रेज़ी साहित्य हो, फ्रेंच हो, जर्मन हो, सब में कलाकारों की अधिकांश कृतियाँ इन्हीं भावनाओं के चरणों में समर्पित होती हैं।

यूरोपीय साहित्य में यथार्थवाद के प्रचार के साथ-साथ हमारे यहाँ भी इसका समावेश ज़ोरों पर होता दिखलाई दे रहा है। अब वह ज़माना नहीं है, जब लेखक अपनी कोठरी में बैठे-बैठे कामी उमंगें और पात्रगण बेचारे असहाय रूप में घटनाओं के घात-प्रतिघात पर लुढ़कते फिरते जायँ। अब तो ऐसे पात्रों की सृष्टि हो रही है जो मनुष्य हों, मानव-जीवन के भावों, भावनाओं की अभिव्यक्ति जिनमें हो सके। परन्तु जीवन की भद्दी नक़ल, अंधी फ़ोटोग्राफ़ी से ही कला प्रस्फुटित नहीं होती। यह कहना सहज एवं लुभावनेवाला प्रतीत होता है कि कला प्रकृति तथा जीवन के कार्य-कलापों का दर्पण है। यदि इसी कथन को सच्चा मान लिया जाय तो कला की आवश्यकता ही नहीं दिखलाई पड़ती, उसकी उपयोगिता ही नष्ट हो जाती है। कारण कि प्राकृतिक व्यापारों तथा जीवन की हलचलों को प्रत्यक्षरूप से हम देख सकते हैं और उन पर मनन कर सकते हैं। कला, जो प्रकृति का दर्पण है, या छाया है, हमें प्रकृति से कुछ अधिक दे ही नहीं सकती; क्योंकि वास्तविक चीज़ नक़ल से, छाया से कहीं अधिक प्रभविष्णु तथा सजीव होती है। जब असल हमारे सामने मौजूद है तब हम नक़ल पर जावें क्यों? परन्तु बात तो यह है कि हम कला पर इसलिए रीझते हैं कि वह वास्तविक प्रकृति या वास्तविक जीवन से परे 'कुछ और' सामग्री देती है और इसी 'कुछ और' में कला की सार्थकता है। उदाहरण के लिए किसी नाटक को लीजिये। नाटक के पात्रों के व्यवहार तथा उनकी उक्तियों के बारे में अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वे जीवन के अनुरूप हैं; पर सच पूछिये तो वास्तविक जीवन में हमें ऐसे पात्र या मनुष्य कहाँ मिल सकेंगे जिनकी एक-एक बात—जो कुछ वे करते हैं या कहते हैं—मनोरंजक है, आकर्षक है, हृदय को भोजन-सामग्री देती है, जिनका पतन वैसाही महत्वपूर्ण है जैसा उनका उत्थान। वास्तविक जीवन की बातें जब हमारे अनुभूति-खण्ड के पवित्र मार्ग से होकर लेखनी में आती हैं तभी उनमें साहित्य की योग्यता आती है। इसीलिए आरिस्टोटल ने कहा है कि कला जीवन की अनुकृति नहीं, बल्कि conception of life (जीवन-धारणा) की अनुकृति है। कला का बाहरी दुनिया से सीधा अप्रतिहत लगाव या सम्बंध

नहीं है। हाँ, यह बात ठीक है कि लेखनी या कलाकार को वह उत्तेजना, जिसकी प्रेरणा से उसकी लेखनी या तूलिका चंचल हो उठती है, दुनिया से ही मिलती है; परन्तु कल्पना और अनुभूति के बल पर। अतएव यह कह सकते हैं कि साहित्य इसी imaginative impulse (कल्पना-भावना) को भाषा में साकार रूप देता है। वास्तविक जीवन के रूप की कल्पना संभव है, परन्तु इससे भी अधिक प्रभविष्णु एक संभाव्य जीवन की कल्पना करना है। तब ही कल्पना उस प्रेरणा का रूप धारण करेगी जिसके द्वारा हृदय से साहित्य-गंगा का पतितपावन स्रोत फूट पड़ेगा।

आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य में ऐसे-ऐसे नए लेखकों की संख्या बढ़ रही है जिनमें इस imaginative impulse का अभाव है, जिसके सम्पर्क से रचना में जीवन आता है। ऐसे लेखकों के पात्र मानो प्राण जैसी बहुमूल्य चीज़ को अपनी हथेली पर लिये फिरते हैं। एक विष की डिबिया, तेज़ कटार इनके पास रहती है। इनकी जल-समाधि के लिए एक वेगवती नदी पास ही में बहती रहती है। आँसू, वेदना, दर्द, आह-ऊँह इत्यादि के तो ये भण्डार ही हैं। निराश प्रेम या वियोग की असह्य पीड़ा से इन्हें राजयक्ष्मा-जैसे भयानक रोग में पड़, तिल-तिल कर प्राण दे देना पड़ता है। ये लेखक समझते हैं कि कहानी को दुःखान्त बना देने से, पात्रों को दारुण विपत्तियों की निर्दय चोटों से जर्जरित कर देने से, कलेजे के घाव के खुरंट को उखाड़ कर लाली दिखलाने से ही पाठकों में करुणा या सहानुभूति का संचार हो जायगा। माना कि दिल में दर्द होने से ही मनुष्य कलेजा थाम लेता है; पर कलेजे को थाम लेने से ही दिल में दर्द भी पैदा नहीं हो जाता। एक कारुणिक कहानी की सफलता बहुत अंशों में ऐसे पात्रों या घटनाओं के चुनाव पर निर्भर करती है जिनमें यह क्षमता हो कि वे हृदय में एक मीठा दर्द, एक मीठी अनुकूल-वेदना पैदा कर सकें। बहुत-सी ऐसी कहानियाँ होती हैं जिन्हें हम infliction कह सकते हैं, जिनको पढ़कर हृदय को आघात-सा पहुँचता है, तथा मन विकार-ग्रस्त हो जाता है, एक विद्रोह-सा होने लगता है।

यहाँ थोड़ा-सा यह विचार कर लेना असंगत नहीं होगा कि कारुणिक या दुःखान्त कहानियों को पढ़कर पाठकों के हृदय में ऐसी सहानुभूति का संचार क्यों होता है, जिसमें आनंद का पुट रहता है। क्या कारण है कि हम दूसरों की दारुणता में, विपत्ति में, अपने लिए आनंद का उपकरण प्राप्त करते हैं। एक कवि की उक्ति याद आ रही है—

'कैसा अनर्थ है वे यों, दुख देख-देख इतरायें,
मैं हूँ जब बैठा रोता, आँसू पर गीत बनायें!'

परन्तु विचार कर देखने से पता चलता है कि यह मनुष्य की उदारता है जो इस रूप में प्रकट होती है। जिस तरह कार्य-क्षेत्र में किसी दुःखी व्यक्ति की दुर्दशा को देखकर मनुष्य उदारता से प्रेरित हो सहायता के लिए कटिबद्ध हो जाता है और आनंद प्राप्त करता है, उसी तरह भाव-क्षेत्र में वह पात्रों को सहानुभूति प्रदान कर मानसिक सेवा करने का सुख उठाता है। करुण कहानियों को पढ़कर हमारे हृदय की संचित मानवता की घनीभूत पूँजी का द्वार खुल जाता है। हम खुल कर उसे दुनिया के समक्ष वितरण करने लगते हैं और एक ऐसे भावराज्य में पहुँच जाते हैं जहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं है, साम्य का ही विस्तार है। परन्तु, हम बिना समझे-बूझे ही अपने कोष को नहीं लुटा देते; देश, काल और पात्र का भी ध्यान रखते हैं। एक कहानी यों पढ़ी थी—'एक बालक के पास एक बड़े-से कड़ाह में दूध रखा हुआ था। बालक दूध पीने के लिए वहाँ गया; परन्तु दुर्भाग्यवश उसी में डूब कर मर गया।' इस कहानी को पढ़कर हमें उस बालक की दुर्दशा पर तरस तो अवश्य आता है, परन्तु हम घटना की आकस्मिकता से इतने ओत-

प्रोत हो जाते हैं कि उसके घटाटोप में करुणा बेचारी एक कोने में दुबकी पड़ी रह जाती है। घटना को मर्मन्तुद होने से, दुःखान्त होने से ही उसमें वह रस नहीं आ सकता, जिसे पढ़कर हृदय की विषमता दूर हो जाय तथा भाव-राज्य में साम्य-बोध की स्थापना हो जाय। यह घटना बालक के निकट सम्बंधियों एवं माँ-बाप के लिए बड़ी ही कारुणिक, दुःखद हो सकती है, परन्तु इसमें वह शक्ति नहीं जो लोगों के हृदय में घर कर बैठ जाय। इसके ludicrous की भावना रसबोध के बीच में मार्ग रोक कर खड़ी हो सकती है।

बहुत से कहानी-लेखक अपने अभिप्रेत भावों की अभिव्यक्ति के लिए घटनाओं की अन्तर्निहित शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास रखते हैं। वे अपने पात्रों को अपने से दूर की चीज़ समझते हैं, उनके दुःख या सुख को, भावों के चढ़ाव-उतराव को अपना नहीं समझते। मानो उनकी शुद्ध बुद्धि निर्लिप्त-सी होकर केवल साक्षी रूप में सब दृश्यों को देखकर वर्णन करती जाती है; परन्तु साहित्य में इस ब्रह्मज्ञान से, स्थितप्रज्ञता से काम नहीं चलता। यह बात मालूम होनी चाहिए कि घटना में कोई स्वयंभू शक्ति नहीं होती जिसका अवलम्ब लेकर वह साहित्य-क्षेत्र में खड़ी हो सके। उसमें तो यह शक्ति तभी आती है जब वह लेखक की कल्पना में घुलमिल कर उसकी भावनाओं का एक अंग हो जाय, जब लेखक पात्रों की नींद सोवें, उन्हीं की नींद जागें। अथवा यों कहिये कि उनके पीछे लेखक का subjective sanction हो। 'चाँद' के १९३६ जनवरी वाले अंक में श्री लक्ष्मीनाथ श्रीवास्तव की एक 'अतृप्त' शीर्षक कहानी निकली थी। उसमें चार पात्र हैं। लेखक महोदय अपनी कारुणिक दुनिया की सृष्टि में इस तरह सतर्क हैं कि उन्हें इधर-उधर देखने की क़तई फ़ुर्सत नहीं। एक-पर-एक पात्र आते हैं और मृत्यु की गोद में समर्पित होते जाते हैं। कभी-कभी किसी नवजात शिशु या निरीह बालक के अकाल ही कालकवलित होने की बात सुनकर ईश्वर के चरणों में यह प्रार्थना करने की इच्छा होती है कि हे भगवन्! यदि तेरी यही इच्छा थी तो इसे दुनिया में भेजा ही क्यों? कुछ दिन तो और छोड़ देते। ठीक इसी तरह लेखक महोदय से यह प्रार्थना करने की इच्छा होती है कि भगवन्! पात्रों की इस तरह निर्दयतापूर्वक हत्या करने से आपको कौन-सा सुख मिलता है? मनुष्य हो, कुछ भी तो दया मन में लाओ!

कहानी यों है—'शैल एक निर्धन बालक है। लीला से प्रेम होता है; परन्तु प्रेम को वैवाहिक बंधन में परिणत करने में माता-पिता बाधक होते हैं। लीला बीमार पड़ती है। तार से लीला की अवस्था सुनकर जब शैल उसके घर पहुँचता है तब उस समय 'हरे बाँस की रथी बन चुकी थी।, कहानी प्रारंभ होती है—'वह अभागा था'......जिस दिन उसका जन्म हुआ 'उसकी माँ की गोद ठंडी हो गई' कुछ दिनों के पश्चात् सुनता है कि 'बाबू माँ के पास चले गये।' लीला से प्रेम और वियोग। विरह में 'वह रो उठता'—लीला की मृत्यु। कहानी समाप्त होती है। 'माता गईं, पिता गये, प्यारी लीला भी छोड़ गई, मैं कैसा अभागा हूँ—शायद वह सोच रहा था।' हमारे जानते शायद इस अंतिम पैराग्राफ़ में कहीं करुणोत्पादकता का बीज दबा पड़ा है, पर उसको लेखक भावोत्कर्ष (emotional significance) नहीं दे सका है। इसके बदले में कहानी कुछ अशोभन घटनाओं का जमघट बन कर रह गई है। यदि हम स्व० प्रेमचन्दजी के 'सुहाग के शव' 'कामना तरु' 'रानी सारंधा' इत्यादि कहानियों को एवं जैनेन्द्रजी की 'फ़ोटोग्राफ़ी' 'दिल्ली में', 'अपना अपना भाग्य' इत्यादि कहानियों को देखें तो पता चलेगा कि लेखक की कल्पना का अवलम्ब पाकर किस तरह वे खड़ी हो सकती हैं। वहाँ भी मृत्यु आती है, लोगों को उठा ले जाती है, परन्तु मनमाने रूप में नहीं। यदि दुःखमयी घटनाओं के कोरे वर्णन से ही लोगों के हृदय

हिलने लगते या आँसुओं की धारा बहने लगती, तब एक ऐसा भूकम्प होता या ऐसी प्रलयंकरी बाढ़ आती जिसमें सारे-के-सारे समाचार-पत्र तहस-नहस हो बह जाते। नहीं, कोरी घटना को भावस्रोत (emotional life) से होकर साहित्य में आना पड़ता है।

साहित्य-साधना में संयम की बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ती है। यह सर्वसाधारण के अनुभव की बात है कि दैनिक-जीवन में हम उस मनुष्य के प्रति उच्च भाव नहीं रखते जो बहुत ही वातुल हो, अपने सुखों या दुःखों को बहुत चढ़ाकर वर्णन करता हो; बल्कि ऐसे पात्र के प्रति विरक्ति हो जाती है। जो मनुष्य त्यागी हो, अपने हृदय की आह या पीड़ा को दबाकर रखता हो, जिसमें तितिक्षा हो उसे ही सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं या उसके प्रति अपनी अमूल्य श्रद्धा के दो फूल अर्पित करते हैं। ठीक उसी तरह कहानियों के पात्र से भी हम इस मानवोचित शालीनता (manly reserve) की आशा रखते हैं। परन्तु लेखकगण इस प्रवाह में आकर इस पर ध्यान नहीं देते। यहाँ तक कि शेक्सपियर जैसे महान् लेखक ने शाइलक से कभी-कभी अपने हृदय की विवृति कराई है कि वह शाइलक- tragic figure के बदले comic figure हो गया है। साहित्य किसी न किसी रूप में अतीन्द्रिय suggestive रहेगा ही। अतएव कहानी-लेखक को भी साहित्य की इसी वृत्ति से अधिक काम लेना चाहिए। एक इशारे मात्र से किसी धारा विशेष की ओर पाठक की भावना को उन्मुख कर देने से उस क्षेत्र में कल्पना को अप्रतिहत या अगाध गति मिलती है। मनुष्य को इस उन्मुक्त वातावरण में अधिक आनंद मिलता है, बनिस्बत उसके, जहाँ पर वर्णनाधिक्य द्वारा कल्पना के पैर बाँध कर सँकरी गलियों में नकेल के सहारे उसे भटकाया जाता है। उपयुक्त अवसर पर परिस्थिति के बीच का एक ही शब्द इतना प्रभविष्णु हो सकता है जितना सैकड़ों वाक्यों के समूह नहीं। बल्कि कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि पात्रों के हृदय के बेतहाश उद्गारों तथा वेदना की विवृत्ति पढ़कर जी मिचलाने-सा लगता है। Daudet ने एक कहानी लिखी है 'The Death of Damphin'. लेखक ने राजकुमार की करुण अवस्था के दिग्दर्शन कराने में कितने संयम से, गंभीरता तथा त्याग से काम लिया है! परन्तु उसमें कितना suggestion है, कितनी अपील है। राजकुमार के सर पर मृत्यु नाच रही है। परन्तु सभासदों ने उसको अपनी चाटुकारिता के द्वारा इस तरह भुला रखा है, आनंद और विलास की ऐसी दुनिया उसके सामने खड़ी कर रखी है जिसके कोलाहल के सामने आती हुई मृत्यु के पैरों की चाप सुनाई नहीं पड़ती। उसकी यह अज्ञानावस्था, उसका यह भोलापन स्थिति-गांभीर्य को और भी पुँजीभूत कर देता है। पर जब तलवार सर पर खड़ी दिखाई देती है, बेचारा असहाय हो चारों ओर देखता है; देखकर उफ़ भी नहीं करता। केवल दीवाल की ओर देख अपनी दशा पर रो पड़ता है। चुपचाप दीवाल की ओर देखकर रो पड़ने में suggestion द्वारा व्यथा की जो घनता व्यक्त हुई है वह क्या शब्द-बाहुल्य से हो सकती? ऐसे अवसरों पर लेखकों को सविस्तार वर्णन का प्रलोभन-सा हो जाता है जिसे रोकना चाहिए।

एक कहानी पढ़ने को मिली थी। एक महाशय अपनी स्त्री की मृत्यु के दुःख से कातर हो अपने व्यथाभार को हलका करने के लिए सुरा देवी का सेवन करने लगे। पहले वे बड़े पवित्राचरण के मनुष्य थे। उनका पुराना मित्र उनसे मिलने आता है। उनमें एक भयंकर परिवर्तन पाकर इसका कारण पूछता है। इस पर महाशयजी अपनी विरह-दशा का इतना जबरदस्त वर्णन करते हैं, अपने आहत हृदय का ऐसा विस्तृत तथा रंगारंग (melodramatic) वर्णन करते हैं कि हँसी-सी आने लगती है। यहाँ यदि लेखक चाहता तो एक-दो वाक्यों में हृदय में तूफान पोसने वाली गंभीर मुख-मुद्रा को दिखलाकर, एक दर्द भरी आह से उसके भग्न हृदय की

झाँकी दिखा suggestion के सहारे करुणा का सुन्दर रूप उपस्थित कर सकता था।

अन्त में यही कहना है कि दुखान्त या कारुणिक कहानियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है और भावनाओं के सूक्ष्म रूपों की अभिव्यक्ति का काफी स्थान है। अतएव सफलता और असफलता की उतनी ही गुन्जायश है।

आभार

शम्भूदयाल सक्सेना।

प्रेम रुचिर है मेरा बाले, रूप रुचिर है तेरा,
हृदय रुचिर है उसका जो है तेरा चारु चितेरा;
वाणी उसकी रुचिर प्रिये है जिसने लेकर गाया,
मेरा प्रणयगीत सुन जिसको, तेरा जी भर आया।
उस कवि के कृतज्ञ हैं दोनों मैं-तुम मेरी रानी!
जिसकी वाणी ने प्रस्तुत की अपनी मिलन-कहानी।

मानव-जीवन की पूर्णता

[हरिभाऊ उपाध्याय]

बहुत कम लोग ऐसे हैं जो कभी इस बात का विचार करते हैं कि मानव-जीवन क्या है और उसकी पूर्णता के क्या मानी हैं? किसी साहित्य-सेवी से आप पूछिये कि आप साहित्य-सेवा क्यों करते हैं, तो वह या तो यह जवाब देगा कि मुझे साहित्य-सेवा प्रिय है, या यह कहेगा कि मुझे लिखने का शौक है; कोई शायद यह भी कहे कि जीविका के लिए; परन्तु शायद ही कोई यह उत्तर देगा कि मानव-जीवन को पूर्णता की तरफ़ ले जाने में सहायक बनने के लिए। मनुष्य आमतौर खाने-कमाने या मौज-मज़ा करने में निमग्न है, इससे भिन्न या आगे के जीवन के बारे में विचार करने की झंझट में वह नहीं पड़ता। साहित्य-रचना हो, कला-कृति हो, देश-सेवा हो, चाहे सरकारी नौकरी या स्वतंत्र धन्धा हो, इनके करनेवालों में विरले ही ऐसे होंगे जो जीवन को, जीवन-विकास को, लक्ष्य करके इन कामों में पड़े हों। उदर-पूर्ति और आमोद-प्रमोद में ही उनके जीवन का सारा व्यापार सीमित रहता है। उनके सुख या आनन्द की कल्पना इससे आगे नहीं जाती। शारीरिक या भौतिक सुख से आगे बढ़े भी तो मानसिक आनन्द में जीवन की इति श्री मान लेते हैं। एक मनुष्य की तरह जीवित रहने, मानवोचित गुणों, शक्तियों की वृद्धि और विकास, मनुष्यता के विरोधी या विघातक दोषों, दुर्गुणों और कमज़ोरियों का ह्रास करना इन बातों का कोई स्वतंत्र महत्व और स्थान है—इसकी तरफ़ बहुत कम लोग ध्यान देते हैं। वास्तविक लक्ष्य को भूलकर जीवन के किसी एक अंग को पकड़े बैठे रहते हैं, जिससे उनका जीवन एकांगी, संकुचित और क्षुद्र बना रहता है। जब हमारी आकांक्षा ही उच्च और पूर्ण नहीं है तो न हमारी वृत्ति उदार और विशाल हो सकती है, न विचार ही दूरगामी, व्यापक और चतुर्मुख हो सकते हैं; और न कर्म ही शुद्ध, दृढ़, मुक्त और प्रगतिशील हो सकते हैं।

जिस प्रकार किसी बीज में सारा पौधा, पुष्प, फल और फिर नये बीज समाविष्ट रहते हैं उसी प्रकार मानव-जीवन के बीज—आत्मा—में उगने, बढ़ने, फूलने-फलने और फिर नए बीज निर्माण करने का गुण, प्रवृत्ति और क्रिया छिपी रहती है। ज़रूरत है अनुकूल परिस्थिति और वातावरण की, उचित संगोपन और लालन-पालन की। अतएव मनुष्य को ध्यानपूर्वक लगन के साथ जो कुछ करना है वह तो इतना ही है कि बाह्य परिस्थिति को अनुकूल बनावे। इसका यह अर्थ हुआ कि वह बुराई में से अच्छाई, असत् में से सत्, अन्धकार में से प्रकाश को पाने और पकड़ने का प्रयत्न करे। इसी का नाम जीवन-संघर्ष है। छोड़ने और पाने के प्रयत्न का नाम ही संघर्ष

है। जीवन में, प्रकृति में पल-पल में निरंतर संघर्ष है, इसीलिए प्रगति, विकास और वृद्धि है। इसका अंतिम परिणाम है पूर्णता।

संघर्ष में मनुष्य कई बार थक जाता है, हार जाता है, निराश और उत्साहहीन हो जाता है। इसका कारण यह है कि वह असत् और अन्धकार के बजाय सत् और प्रकाश से भिड़ जाता है, जिसे छोड़ना है उसी को ग्रहण करने लगता है। यह भ्रम और अज्ञान ही उसकी थकान और हार के मूल में होता है। जब मनुष्य भटक जाता है, विकास की विशालता की ओर से संकोच और क्षुद्रता की ओर आने लगता है, मुक्तता से बन्धन में पड़ने लगता है तब भी, दर असल, वह चुनाव में ही गलती कर जाता है।

सही चुनाव मनुष्य उसी अवस्था में कर सकता है जब वह वस्तुओं और व्यक्तियों को अपने शुद्ध, असली रूप में देख पावे, देखने की प्रवृत्ति रखे। इसके लिए बुद्धि का निर्मल और भेदक होना ज़रूरी है। भेदकता निर्मलता का ही परिणाम है। बाहरी आवरण कई बार भ्रमोत्पादक और गुमराह कर देने वाला होता है। विभिन्न तो वह होता ही है। अतएव जिसे अन्तर्दृष्टि नहीं है वह चुनाव में अक्सर ग़लती कर जाता है और ग़लत जगह संघर्ष कर बैठता है, जिसका परिणाम होता है पराजय और निराशा।

जब हम असत् और अन्धकार से संघर्ष करते हैं तब हम बन्धनों से मुक्तता की ओर जाते हैं, क्योंकि असत् और अन्धकार ही तो बन्धन हैं। बन्धन से मुक्ति पाने की क्रिया ही संघर्ष है। असत् से सत् की, अन्धकार से प्रकाश की विजय का ही नाम शान्ति है। सत् और असत् के चुनाव में जो अन्तर्द्वन्द्व होता है, वही अशान्ति है। चुनाव के पहले और ग़लत चुनाव के पश्चात् अशान्ति होती है। चुनाव सही हुआ है तो संघर्ष में उत्साह, बल और प्रसन्नता रहती है और शान्ति मिलती है। जिस कर्म के आदि, मध्य, और अन्त में प्रसन्नता रहती है वह सत्कर्म है और वही शान्ति दे सकता है। कर्म का ही दूसरा नाम है संघर्ष। जगत् अनन्त चेतन, निरंतर गतिशील परमाणुओं से बना है। आप साँस भी लेंगे तो उन परमाणुओं के व्यापार में कुछ धक्का लगता है। यही संघर्ष है। आप चलेंगे और दौड़ेंगे तो परमाणुओं पर, वस्तुओं पर और व्यक्तियों पर, स्थूल और सूक्ष्म रूप से और ज़्यादा प्रतिघात होगा। आपकी गति जितनी तीव्र होगी उतना ही तीव्र प्रतिघात अर्थात् संघर्ष होगा। अत्यन्त तीव्र और तुरन्त परिणामदायी संघर्ष का नाम क्रान्ति है। क्रान्ति क्रिया है और शान्ति परिणाम है। परम शान्ति का ही दूसरा नाम जीवन की पूर्णता है। पूर्णता में ही परम शान्ति है। सत् के अखण्ड प्रकाश और संप्राप्ति को ही जीवन की पूर्णता कहते हैं।

संस्कार

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

चित्रगुप्त महाराज ऐसे अनेक पापों का, जो स्वयं पापी को भी मालूम नहीं होते, हिसाब अपनी बही में मोटे-मोटे अक्षरों में लिखते हैं। उसी तरह ऐसे भी पाप हैं, जिन्हें केवल मैं ही पाप समझता हूँ, और कोई नहीं। जिसकी चर्चा करने जा रहा हूँ वह इसी किस्म का एक पाप है। चित्रगुप्त के पास सफ़ाई देने के पूर्व इधर-उधर स्वीकार करने से अपराध की मात्रा हल्की हो जायगी।

घटना कल शनिवार के दिन की है। उस दिन हम लोगों के महल्ले के जैनियों के घर कोई पर्व था। मेरे मित्र नयन मोहन के यहाँ हमारा निमंत्रण था—मैं अपनी स्त्री कलिका को मोटर में लेकर बाहर हुआ।

मेरी स्त्री का नाम कलिका मेरे श्वशुर का दिया हुआ है, मैं उसके लिए ज़िम्मेवार नहीं। नाम के उपयुक्त उसका स्वभाव नहीं, मतामत में वह पूर्ण रूप से परिस्फुटित है। बड़ा-बाजार में जब वह विलायती कपड़े पर पिकेटिंग करने के लिए निकली थी, तो उसके दल के लोगों ने भक्तिवश उसका नाम ध्रुवव्रता रख दिया था। मेरा नाम गिरीन्द्र है। उस दल के लोग मुझे मेरी स्त्री के पति के नाम से ही जानते हैं, मेरे अपने नाम की सार्थकता के प्रति कोई लक्ष्य नहीं करता। विधाता की कृपा से पिता की कमाई के कारण मेरी भी थोड़ी सार्थकता है। उसके प्रति दल के लोगों की नज़र केवल चन्दा वसूलने के समय पड़ती है।

स्त्री के साथ स्वामी का स्वभाव वैषम्य होने से ही दोनों का सुन्दर मेल होता है, जैसे सूखी मिट्टी के साथ जल-धारा मिलने से। मेरा स्वभाव एकदम ढीला-ढाला है, किसी बात पर हठ नहीं करता। मेरी स्त्री का स्वभाव बिल्कुल इसके प्रतिकूल है, जिस बात को पकड़ लेती है किसी तरह छोड़ती नहीं। हमारे इस वैषम्य के कारण ही शान्ति-रक्षा होती है।

केवल एक जगह हमारे बीच ऐसा असामंजस्य है, जो अभी तक दूर नहीं हो सका

है। कलिका का विश्वास है कि मैं देश-प्रेमी नहीं। उसके अपने विश्वास पर उसका अटल विश्वास है; यही कारण है कि मैंने अपने आन्तरिक देश-प्रेम के जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे उन लोगों की निर्दिष्ट देश-भक्ति के लक्षणों से नहीं मिलते और इसलिए मैं किसी प्रकार उसे कायल नहीं कर पाता।

लड़कपन से ही मैं किताबों का प्रेमी हूँ, नई पुस्तक की ख़बर पाते ही ख़रीद लाता हूँ। मेरे शत्रु भी स्वीकार करेंगे कि मैं उस किताब को पढ़ भी लेता हूँ। मित्र गण ख़ूब अच्छी तरह जानते हैं कि मैं जो पढ़ता हूँ, उसे लेकर तर्क-वितर्क भी करना नहीं छोड़ता। इसी आलोचना की चोट से मित्र लोग मुझसे धीरे-धीरे किनारा काटने लगे हैं और अब केवल वनविहारी नाम का एक आदमी शेष रह गया है, जिसे लेकर मैं रविवार को अपनी बैठक जमाता हूँ। मैंने उसका नाम कोणविहारी रख दिया है। छत पर बैठकर उसके साथ गप मारते-मारते कभी-कभी रात के दो बज जाते हैं। जिस समय हम लोग इस नशे में डूबे हुए थे, वह हमारे लिए सुदिन न था। उस ज़माने की पुलीस किसी के घर में गीता देखकर ही सिडीशन का प्रमाण पाती थी। उस समय के देश-भक्त भी किसी के घर विलायती किताब के पन्ने मुड़े हुए देखते तो उसे देश-विद्रोही समझते। वे लोग मेरी गणना काले रंग के लेप चढ़ाये हुए दो पैर वाले गोरे जानवर की श्रेणी में करते थे। सरस्वती का वर्ण सफ़ेद होने के कारण उन दिनों के देश-भक्तों के हाथ, उनको पूजा पाना भी मुहाल हो गया था। जिस तालाब में सरस्वती का श्वेत कमल खिलता है, उस तालाब के जल से देश को भस्मसात् करनेवाली अग्नि बुझती नहीं, बल्कि बढ़ती है, इस प्रकार की भी अफ़वाह उड़ी थी।

सहधर्मिणी के सुन्दर दृष्टान्त और उसके बराबर के तकाज़े पर भी मैं खद्दर नहीं पहनता। इसका कारण यह नहीं कि मैं खद्दर में कोई दोष पाता हूँ, गुण नहीं; या मैं वेशभूषा का शौकीन हूँ। बात बिल्कुल इसके विपरीत है। स्वदेशी आचरण के विरुद्ध मैंने अनेकों अपराध किये हैं, पर परिच्छन्नता उसके भीतर नहीं। मैला, मोटा-झोटा साज जैसे-तैसे पहनने का ही मुझे अभ्यास है। कलिका से मन नहीं मिलने के पूर्व चीना बाज़ार के चौड़े थुथनवाले जूते पहनता, उसमें रोज पालिश लगाना भूल जाता, मोजा पहनना भार मालूम पड़ता, कमीज़ के बदले कुरता पहनने में आराम मालूम होता और उस कुरते में एक दो बटनों की कमी होने पर भी उसका ख़याल न करता, इन सब कारणों से कलिका के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद होने की आशंका हो रही थी। वह कहती—देखो, तुम्हारे साथ कहीं भी बाहर जाने में मुझे लाज लगती है। मैं कहता—मेरे साथ जाने की आवश्यकता ही क्या है, मुझे छोड़कर ही तुम बाहर जा सकती हो।

आज युग-परिवर्तन हो गया है, पर मेरा भाग्य नहीं बदला। आज भी कलिका कहती है—'तुम्हारे साथ बाहर जाने में मुझे शर्म मालूम पड़ती है।' उस समय वह जिस दल में थी उसकी वर्दी मैंने नहीं पहनी, आज जिस दल में वह घुसी है उसकी वर्दी भी मैं नहीं ग्रहण कर पाता। मेरे कारण मेरी स्त्री की लज्जा का विषय ज्यों-का-त्यों रह गया। यह मेरे स्वभाव का ही दोष है। चाहे किसी भी दल का क्यों न हो, मुझे उसका वेश धारण करने में संकोच मालूम पड़ता है। किसी भी प्रकार मैं इस संकोच को दूर नहीं कर पाता। दूसरी ओर कलिका मतान्तर नाम की वस्तु को ख़तम नहीं कर पाती। जिस प्रकार झरने की धारा मोटे पत्थर को बार-बार घूम-फिरकर आवाज़ करती हुई धक्का देती रहती है, उसी प्रकार अपने से भिन्न-रुचि व्यक्ति को चलते-फिरते दिन-रात बिना धक्का दिये कलिका नहीं रह सकती। भिन्न मत नाम के पदार्थ का स्पर्शमात्र ही

मानो उसके स्नायुओं में दुर्निवार रूप से सनसनी पैदा करता है, उसे एक बार ही छटपटा देता है।

कल चाय के निमंत्रण में जाने के पूर्व मेरे खद्दर-विहीन वेश को लेकर कलिका ने जो एक हज़ार-एक बार आलोचना की थी, उसमें उसके कंठ-स्वर के माधुर्य का एकदम अभाव था। बुद्धि का अभिमान रहते, बिना तर्क किये, मैं उसकी भर्त्सना को कैसे शिरोधार्य करता! आदत आदमी को व्यर्थ की चेष्टाओं में भी प्रोत्साहित करती है। इसीलिए मैंने भी कलिका को एक हज़ार एक बार चिढ़ाते हुए कहा—स्त्रियाँ ब्रह्मा की दी हुई आँखों के ऊपर काले किनारे के मोटे घूँघट तान, आचार के साथ गठ-बंधन कर लेती हैं। मनन की अपेक्षा मानने में ही उन्हें आराम मिलता है। जीवन के सभी व्यवहारों को रुचि और बुद्धि के स्वाधीन क्षेत्र से दूर हटाकर संस्कार के ज़नानखाने में पर्दानशीन बनाने में ही उनको सुख मिलता है। हमारे आचारजीर्ण देश में खद्दर पहनना, माला-तिलकधारी धार्मिकता की तरह एक संस्कार में ही परिणत हो रहा है; इसीलिए स्त्रियों को इसमें इतना आनन्द आता है।

कलिका क्रोध से चंचल हो उठी। उसकी आवाज़ सुनकर बग़ल के घरवाली दासी ने समझा, मालूम होता है स्त्री को पूरे वज़न का गहना देने में पति ने धोखा दिया है। कलिका बोली—देखो, देश का कल्याण उसी दिन होगा जिस दिन खद्दर पहनने की पवित्रता जन साधारण के संस्कार के साथ गंगास्नान की तरह बँध जायगी। विचार जब स्वभाव के साथ मिलकर एक हो जाता है तभी वह आचार बन जाता है। चिन्ता जब आकार में दृढ़बद्ध होती है तभी वह संस्कार होती है, तब मनुष्य आँखों के संकेत मात्र से समझकर काम करता है, आँखें खोलकर दुविधा नहीं करता चलता।

ये अध्यापक नयनमोहन के आप्त वाक्य हैं, इनमें से 'कोटेशन-मार्क' का ह्रास हो गया है, कलिका इन्हें स्वचिन्तित समझती है।

'गूंगे का शत्रु नहीं होता'—जिस पुरुष ने कहा था, वह निश्चय ही अविवाहित था। मुझे कोई जवाब न देते देख कलिका दुगने झुँझलाहट के साथ बोली—'वर्णभेद को तुम ज़बानी अग्राह्य बताते हो; पर उसके प्रतिकार के लिए कुछ करते नहीं। हमलोगों ने खद्दर पहन कर उस भेद के ऊपर अखण्ड सफ़ेद रंग बिछा दिया है। आवरण भेद को दूर कर वर्णभेद की छाल छुड़ा दी है।' कहने जा रहा था—'जब से मुसलमान का बनाया मुर्गी का शोरबा खाया तभी से वर्णभेद को ज़बानी अग्राह्य किया। किन्तु वह तो मुखस्थ वाक्य नहीं, मुखस्थ कार्य है—उसकी गति भीतर की ओर है। कपड़े से वर्ण-वैषम्य को ढाँकना दिखावटी है, उससे ढँक दिया जा सकता है मिटाया नहीं जा सकता।' किन्तु तर्क को प्रकट रूप से पेश करने का साहस न हुआ। मैं केवल भीरु पुरुष भर हूँ, चुप लगा गया। मैं जानता हूँ, हम दोनों आपस में जो तर्क आरम्भ करते हैं, उन्हें कलिका धोबी के घर के कपड़े की तरह अपनी मित्र-मंडली के यहाँ से अच्छी तरह कचार कर लाती है। दर्शन के प्रोफ़ेसर नयनमोहन के पास से प्रतिवाद संग्रह कर अपने दीप्तनयन—नीरव भाषा में हमसे कहती है—कैसा छकाया!

नयन के यहाँ न्योते में जाने की मेरी किंचित्मात्र भी इच्छा न थी। मैं अच्छी तरह जानता हूँ, हिन्दू कल्चर संस्कार तथा स्वाधीन बुद्धि, आचार और विचार का आपेक्षिक स्थान क्या है, और उस आपेक्षिकता में हमारे देश को और देशों की अपेक्षा श्रेष्ठता क्यों दी गई है। इन सब को लेकर चाय के टेबिल पर गर्म चाय के भाप की तरह सूक्ष्म आलोचना से हवा के आर्द्र

तथा आच्छन्न होने की शीघ्र संभावना रहती है। इधर सुनहले पत्र-लेख से मण्डित अखण्ड पत्रवती नवीन पुस्तकें दूकान से ताज़ी आकर मेरे तकिये के किनारे प्रतीक्षा कर रही हैं। केवल विवाह के समय, सबसे आरम्भ में, वधू के चारों ओर वर सात बार भाँवरें भरता है, फिर उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है। उस समय दोनों की आँखों पर से पर्दा हटा दिया जाता है और वे एक दूसरे को पहले-पहल देखते हैं। इसको 'शुभ दृष्टि' कहते हैं। बंगाल में यह प्रथा प्रचलित है। शुभ-दृष्टि भर हुई है, किन्तु अभी तक उनके वाउन कवर का अवगुंठन-मोचन भी नहीं हो पाया। उनके संबंध का मेरा पूर्वानुराग प्रति मुहूर्त भीतर-ही-भीतर प्रबल हो रहा है। तब भी बाहर जाना पड़ा; कारण, भुवलता के इच्छावेग पर आघात पहुँचने से वह उसके बोलने में तथा न बोलने में ववंडर का रूप धारण करता है जो मेरे लिए स्वास्थ्यकर नहीं।

घर से थोड़ी दूर बाहर हुए हैं। जहाँ पर रास्ते के किनारे पानी-कल के आगे खपड़े के मकान के बगल में मोटी तोंदवाले पछाहीं हलवाई की दूकान में तेल से बने अनेकों प्रकार के अपथ्य पदार्थों की सृष्टि हो रही है, उसके सामने आकर देखता हूँ—खूब शोर-गुल। हमारे पड़ोसी सभी मारवाड़ी नाना प्रकार के बहुमूल्य पूजोपचार लेकर यात्रा के लिए अभी-अभी निकले हैं। इस समय इस जगह पर रुकना पड़ा। मारो-मारो की आवाज़ मुझे सुनाई पड़ी। मैंने सोचा किसी 'पाकेटमार' को दण्ड दिया जा रहा है।

मोटर का हार्न बजाते-बजाते उत्तेजित जनता के बीच में जाकर देखता हूँ कि हमारे महल्ले के बूढ़े मेहतर को लोग बे तरह पीट रहे हैं। अभी थोड़ी देर पहले वह रास्ते के कल पर से स्नान कर, साफ़ कपड़ा पहन, दाहिने हाथ में एक बालटी पानी और बगल में झाड़ू लिए सड़क से जा रहा था। बदन पर चेक की मिरजई पहने, भींगे हुए केश को सँवारे हुए, उसका बायाँ हाथ पकड़े उसका आठ-नव वर्ष का नाती उसके साथ जा रहा था। दोनों के ही शरीर देखने में सुन्दर तथा सुगठित थे। उनमें से किसी के साथ या किसी वस्तु के साथ उसका स्पर्श हो गया होगा। इससे इस निरन्तर मार की सृष्टि हुई है। नाती रो रहा है और सबसे अनुनय कर रहा है कि दादा को मत मारो। बूढ़ा हाथ जोड़कर कह रहा है—'देखा नहीं, समझ में नहीं आया, कसूर माफ़ कीजिये।'—अहिंसा व्रती पुण्यार्थियों की क्रोधाग्नि और भी प्रबल हो उठती है। वृद्ध के त्रस्त नेत्रों से अश्रु-बूँदें टपक रही हैं और दाढ़ी से रक्त धारा।

मुझसे और सहा नहीं गया। उन लोगों के साथ झगड़ा करना मेरे लिए सम्भव न था। निश्चय किया, मेहतर को गाड़ी में बैठाकर दिखाऊँगा कि मैं धार्मिक लोगों के दल का नहीं हूँ।

मेरी चंचलता देख कलिका मेरे मन का भाव समझ गई। ज़ोर से मेरा हाथ दबाते हुए उसने कहा—क्या कर रहे हो, वह तो मेहतर है!

मैंने कहा—मेहतर है तो क्या वे उसे बेक़सूर मारेंगे?

कलिका ने कहा—उसी का तो दोष है, रास्ते के बीच से होकर वह आता ही क्यों है? बग़ल से जाने में क्या उसकी मानहानि होती?

मैंने कहा—मैं यह सब नहीं जानता, मैं उसे गाड़ी में बैठाऊँगा ही।

कलिका बोली—तब मैं अभी यहीं पर ही गाड़ी से उतर जाऊँगी। मेहतर को गाड़ी में बैठने नहीं दे सकती। डोम-चमार होता तो मानती भी पर यह तो मेहतर है।

मैंने कहा—देखती नहीं स्नान कर धोया कपड़ा पहने हुए है। इन लोगों में से कइयों से यह साफ़-सुथरा है।

ठीक है, पर है यह मेहतर।—कहते हुए उसने 'शोफर' को आदेश दिया—गंगादीन गाड़ी ले चलो।

मेरी हार हुई। मैं कापुरुष ठहरा। नयनमोहन ने समाज तत्व घटित एक अच्छी युक्ति सोची थी। वह मेरे कानों तक पहुँची नहीं, उसका जवाब भी मैंने नहीं दिया।

अनुवादक—गुप्तेश्वर
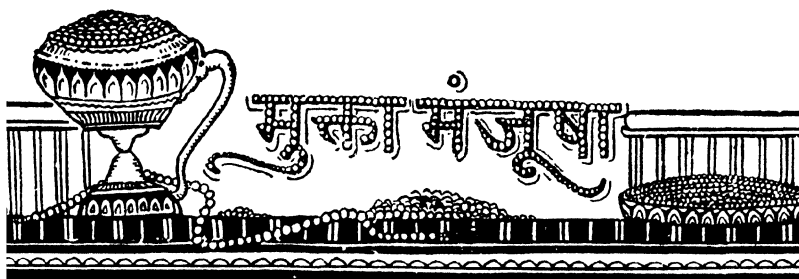
हिन्दी

भाषा और लिपि का सवाल

[पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस विषय पर अंग्रेज़ी में एक पुस्तिका लिखी है। गांधी जी ने उक्त पुस्तिका से कुछ आवश्यक बातें चुनकर पाठकों की जानकारी के लिए 'हरिजन-सेवक' में दी हैं। वे ही शायद इस पुस्तिका की मुख्य बातें हैं और हम वह हिस्सा पाठकों के सम्मुख रखते हैं :—

(१) सरकारी काम और सार्वजनिक शिक्षा के लिए विभिन्न प्रान्तों में उन भाषाओं का प्रयोग होना चाहिए जो वहाँ की प्रमुख प्रचलित भाषाएँ हों। इसके लिए इन भाषाओं को सरकारी तौर पर स्वीकृत किया जाना चाहिए—हिन्दुस्तानी (जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों ही शामिल हैं), बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, आसामी, सिन्धी और किसी हद तक पश्तो तथा पंजाबी भी।

(२) हिन्दुस्तानी भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी और उर्दू दोनों ही अपनी-अपनी लिपि के साथ सरकार-द्वारा स्वीकृत की जानी चाहिएँ। सरकारी सूचनाएँ दोनों ही लिपियों में प्रकाशित होनी चाहिएँ। अदालतों या अन्य सरकारी दफ़्तरों में अर्ज़ी पेश करनेवाला व्यक्ति किसी भी लिपि (हिन्दी या उर्दू) का प्रयोग कर सकता है, उससे दूसरी लिपि में उस दरख़्वास्त की नक़ल न माँगी जाय।

(३) हिन्दुस्तानी प्रान्तों की भाषा सार्वजनिक शिक्षा के माध्यम के लिए हिन्दुस्तानी होगी, इसलिए दोनों लिपियों का प्रयोग होगा। लिपि का चुनाव ख़ुद विद्यार्थी या उसके संरक्षक-द्वारा होगा। विद्यार्थी को दोनों लिपियाँ सीखने के लिए मजबूर न किया जाय, लेकिन माध्यमिक शिक्षा में उसे उसके लिए प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

(४) राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी हो और देवनागरी व फ़ारसी दोनों लिपियों को स्वीकार किया जाय। इसलिए हिन्दुस्तान भर की किसी भी अदालत या सरकारी दफ़्तरों में अर्ज़ियाँ हिन्दुस्तानी में (दोनों लिपियों में से चाहे जिस लिपि में) पेश की जा सकेंगी और किसी दूसरी भाषा या लिपि में उनकी नक़ल या अनुवाद देने की कोई ज़रूरत न होगी।

(५) देवनागरी, बँगला, गुजराती और मराठी लिपियों में एकरूपता और उसके मेल से एक ऐसी संयुक्त लिपि बनाने का प्रयत्न किया जाय, जो छापेख़ाने, टाइपराइटर तथा अन्य प्रकार के यंत्रों के प्रयोग के उपयुक्त सिद्ध हो।

(६) सिन्धी लिपि को उर्दू लिपि में मिला दिया जाय, उसे जहाँ तक सम्भव हो सके सरल और छापेख़ाने, टाइपराइटर तथा अन्य प्रकार के यंत्रों के प्रयोग के उपयुक्त बनाया जाय।

(७) दक्षिण-भारतीय भाषाओं की लिपियों को देवनागरी लिपि के समान बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। अगर यह काम सम्भव जान पड़े, तो दक्षिण-भारत की विभिन्न भाषाओं (तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम) के लिए एक लिपि बनाने की कोशिश की जाय।

(८) रोमन लिपि में अनेक लाभ होते हुए भी, कम-से-कम फ़िलहाल तो, अपनी देशी भाषाओं के लिए उसका प्रयोग हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसलिए लिपियों की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए—देवनागरी, बँगला, गुजराती और मराठी के योग से बनी एक लिपि; उर्दू और सिन्धी के लिए एक लिपि; और अगर दक्षिण-भारतीय भाषाओं की विभिन्न लिपियों को देवनागरी के समीप नहीं लाया जा सकता हो, तो सब दक्षिणी भाषाओं के लिए एक लिपि।

(९) जिन प्रान्तों में हिन्दुस्तानी बोली जाती है वहाँ अगर हिन्दी और उर्दू में भेद बढ़ता भी जा रहा है, और अगर उनका विकास भी जुदा-जुदा दिशाओं में हो रहा है, तो किसी प्रकार की आशंका की कोई वजह नहीं है। उनके विकास में किसी प्रकार की बाधाएँ भी उपस्थित न की जानी चाहिएँ। जब भाषा में नए और गूढ़ विचारों का समावेश हो रहा है तो किसी हद तक यह स्वाभाविक ही है। दोनों भाषाओं के विकास से हिन्दुस्तानी भाषा की उन्नति ही होगी। बाद को जब संसार की अन्य शक्तियों का प्रभाव पड़ेगा, या राष्ट्रीयता का उस दिशा में दबाव पड़ेगा, तो दोनों भाषाओं का सामञ्जस्य अनिवार्य हो जायगा। सार्वजनिक शिक्षा बढ़ने के साथ भाषा में समानता और सामंजस्य का प्रादुर्भाव होगा।

(१०) हमें इस बात पर ज़ोर देना चाहिए कि हमारी भाषाएँ साधारण जनता की भाषाएँ बने। लेखकों को चाहिए कि वे जनता की समस्याओं पर लिखें और जो कुछ वे लिखें वह सरल भाषा में हो, जो जनता की समझ में आ सके। दरबारी और कृत्रिम शैली तथा लच्छेदार भाषा के प्रयोग को प्रोत्साहन न मिलना चाहिए, और सरल तथा ओजपूर्ण शैली का विकास होना चाहिए। ऐसी शैली के विकास से दूसरे फ़ायदों के अलावा एक यह भी फ़ायदा होगा कि हिन्दी और उर्दू में समानता बढ़ जायगी।

(११) जैसे अंग्रेज़ी में प्रारम्भिक और मुख्य शब्दों को चुनकर 'बेसिक इंगलिश' (आधार-भाषा) तैयार की गई है, वैसे ही हिन्दुस्तानी के लिए भी एक आधार-भाषा तैयार की जानी चाहिए। यह भाषा सरल होनी चाहिए, जिसमें व्याकरण के बन्धन कम-से-कम हों, और लगभग एक हज़ार शब्द हों। वह सम्पूर्ण भाषा हो, जो साधारण बोलचाल और लिखने के कामों के लिए पर्याप्त हो; साथ ही वह हिन्दुस्तानी के ही अन्तर्गत हो, और हिन्दुस्तानी के अध्ययन के लिए प्रारम्भिक भाषा के रूप में रहे।

(१२) इस आधार-भाषा को तैयार करने के अलावा हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू) में, और अगर सम्भव हो तो अन्य भाषाओं में भी, वैज्ञानिक, राजनैतिक तथा अर्थशास्त्र या अन्य विषयों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होनेवाले विशेष शब्दों को निश्चित कर लेना चाहिए। जहाँ आवश्यक समझा जाय, ऐसे शब्दों को विदेशी भाषाओं से ले लिया जाय और उन्हें तत्सम रूप में ही भारतीय भाषाओं में रख लिया जाय। बाक़ी और विशेष शब्दों के लिए देशी भाषाओं से ही लेकर शब्द-सूची तैयार कर लेनी चाहिए, ताकि वैसे शब्दों के लिए एक निश्चित और समान शब्द-कोष का निर्माण किया जा सके।

(१३) सार्वजनिक शिक्षा के विषय में सरकार की नीति यह हो कि विद्यार्थी की मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम होगी। प्रत्येक प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक शिक्षा का माध्यम प्रान्त की भाषा को ही रखा जाय। अगर किसी प्रान्त में दूसरी भाषावाले विद्यार्थियों

का बहुत बड़ा वर्ग हो, तो उन्हीं की मातृभाषा में प्रारम्भिक शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाय, बशर्ते कि उनकी शिक्षा का प्रबन्ध सुविधापूर्वक किसी शिक्षा-केन्द्र से हो सके। अगर दूसरी मातृ-भाषावाले विद्यार्थियों का वर्ग काफ़ी बड़ा है, तो माध्यमिक शिक्षा भी उन्हें अपनी मातृभाषा में मिल सके। जिस प्रान्त में वे रहते हैं उस प्रान्त की भाषा का अध्ययन एक पाठ्य-विषय के रूप में अनिवार्य किया जा सकता है।

(१४) जिन प्रान्तों में बोलचाल की भाषा हिन्दुस्तानी न हो, वहाँ माध्यमिक शिक्षा में हिन्दुस्तानी की आधार-भाषा की शिक्षा होनी चाहिए। लिपि का चुनाव विद्यार्थियों के ऊपर ही छोड़ा जा सकता है।

(१५) उच्च शिक्षा का माध्यम प्रान्त की भाषा को ही रखना चाहिए। लेकिन साथ ही हिन्दुस्तानी (लिपि कोई-सी भी हो) तथा एक वैदेशिक भाषा का अध्ययन अनिवार्य हो। कला-कौशल की उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में इन भाषाओं के अनिवार्य अध्ययन की आवश्यकता नहीं है, हालाँ कि इनका ज्ञान हो तो अच्छा ही है।

(१६) विदेशी भाषाओं और प्राचीन भारतीय भाषाओं के अध्ययन का प्रबन्ध माध्यमिक शिक्षा के साथ साथ हो, लेकिन कुछ विशेष पाठ्यक्रमों को छोड़कर उनकी शिक्षा अनिवार्य न हो।

(१७) प्राचीन साहित्य तथा आधुनिक विदेशी भाषाओं की साहित्यिक पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया जाय, ताकि हमारा देशी भाषाओं का अन्य देशों के सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित हो सके और उससे हमारी देशी भाषाओं को शक्ति मिले।

• • •

जीवन का व्यवसाय

'चाँद' में उपर्युक्त शीर्षक में वेश्यावृत्ति का विवेचन करते हुए धारावाही रूप से श्रीमती महादेवी वर्मा के विचार निकल रहे हैं। विचार बड़े गम्भीर और जीवित हैं। अगले अंक की तरह जुलाई के अंक से लेकर उनके विचारों की सुन्दर माला पाठकों के सामने हम रखते हैं—

'इन स्त्रियों ने, जिन्हें गर्वित समाज पतित के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है, पुरुष की वासना की वेदी पर कैसा घोरतम बलिदान दिया है, इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुरुष की बर्बरता, रक्त-लोलुपता पर बलि होनेवाले युद्ध-वीरों के चाहे स्मारक बनाये जावें, पुरुष की अधिकार-भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रज्ज्वलित चिता पर क्षण भर में जल मिटनेवाली नारियों के नाम चाहे इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रह सकें, परन्तु पुरुष की कभी न बुझनेवाली वासनाग्नि में हँसते-हँसते अपने जीवन को तिल-तिल जलानेवाली इन रमणियों को मनुष्य जाति ने कभी दो बूँद आँसू पाने का अधिकारी भी नहीं समझा। न समझना ही अधिक स्वाभाविक था, क्योंकि इन्हें सहानुभूति का पात्र समझना, इनकी दयनीय स्थिति तथा इनके कठिन बलिदान का मूल्य आँकना पुरुष को उसकी दुर्बलता का स्मरण करा देता है। चाहे कभी किसी स्वर्णयुग में बुद्ध से अम्बपाली को करुणा की भीख मिल गई हो, चाहे कभी ईसा से किसी पतिता ने अभय सहानुभूति माँग ली हो, परन्तु साधारणतः समाज से ऐसी स्त्रियों को असीम घृणा और तिरस्कार ही प्राप्त हुआ।

'यह सत्य है कि युगों से हमारी विनोद-सभाएँ तथा विवाह आदि पवित्र उत्सव इनके बिना शोभाहीन समझे जाते रहे। प्राचीनकाल में तो देवताओं की अर्चना में भी नर्तकियों की

आवश्यकता पड़ जाती थी। परन्तु इन सब आडम्बरों की उपस्थिति में भी उस जाति को समाज से कोई सहानुभूति नहीं मिल सकी। उसे अपने घर के द्वार समाज के कुत्सित व्यक्ति के लिए भी खुले रखने पड़े और भागने का प्रयत्न करने पर समाज ने उसके लिए सभी मार्ग रुद्ध कर दिये। उसकी दशा उस व्यक्ति के समान दयनीय हो उठी, जिसे घर के सब द्वारों में आग लगा कर धुएँ में घुट जाने के लिए विवश किया जा रहा हो। कभी कोई ऐसा इतिहासकार न हुआ जो इन मूक प्राणियों की दुःखभरी जीवनगाथा लिखता, जो इनके अँधेरे हृदय में इच्छाओं के उत्पन्न और नष्ट होने की करुण कहानी सुनाता, जो इनके रोम-रोम को जकड़ लेनेवाली शृङ्खला की कड़ियाँ ढालनेवालों के नाम गिनाता और जो इनके मधुर जीवनपात्र में तिक्त विष मिलानेवाले का पता देता। क्या यह उन स्त्रियों की सजातीय नहीं हैं, जिनकी दुग्ध-धारा से मानव-जाति पल रही है? क्या यह उन्हीं की बहिनें नहीं हैं, जिन्होंने पुरुष को पति का पद देकर अकुण्ठित भाव से परमेश्वर के आसन पर आसीन कर दिया? और क्या यह उन्हीं की पुत्रियाँ नहीं हैं, जिनके प्रेम, त्याग और साधना ने झोपड़ों मे स्वर्ग और मिट्टी के पुतलों में अमरता उतार ली है?

'पतित कही जानेवाली स्त्रियाँ भी मनुष्य-जाति से बाहर नहीं हैं, अतः उनके लिए भी मानव-सुलभ प्रेम, साधना और त्याग अपरिचित नहीं हो सकते। उनके पास भी धड़कता हुआ हृदय है, जो स्नेह का आदान-प्रदान चाहता रहता है; उनके पास भी बुद्धि है, जिसका समाज के कल्याण के लिए उपयोग हो सकता है और उनके पास भी आत्मा है, जो व्यक्तित्व में अपने विकास और पूर्णता की अपेक्षा रखती है। ऐसे सजीव व्यक्ति को एक ऐसे गर्हित व्यवसाय के लिए बाध्य करना, जिसमें उसे जीवन के आदि से अन्त तक, उमड़े हुए आँसुओं को अञ्जन से छिपा कर, सूखे हुए अधरों को मुस्कराहट से सजाकर और प्राणों के क्रन्दन को कण्ठ ही में रूँधकर धातु के कुछ टुकड़ों के लिए अपने आपको बेचना होता है, हत्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

'हमारे समाज ने कुष्ट के रोगियों के लिए भी आश्रम बनाये, विक्षिप्तों के लिए भी चिकित्सालयों का प्रबन्ध किया, परन्तु इनके कल्याण का कोई मार्ग नहीं ढूँढ़ा। उसने अपने वासना-विक्षिप्तों को निर्वासित नहीं किया वरन् उनके सुख के लिए स्वस्थ मन और शरीरवाली स्त्रियों को गृह की सीमा से निर्वासन-दण्ड दे डाला। यह अन्याय ही नहीं, निष्ठुर अत्याचार भी था। जिस समाज में इतनी अधिक संख्या में व्यक्ति आत्महनन के लिए विवश किये जाते हों, अपने स्वस्थ और सुन्दर शरीर को व्याधिग्रस्त, कुरूप तथा निर्दोष मन को दूषित बनाने के लिए बाध्य किये जाते हों, उस समाज की स्थिति भी स्पृहणीय नहीं कही जा सकती। कोई भी निष्पक्ष इतिहासकार या समाज-शास्त्र-वेत्ता बता सकेगा कि मनुष्य का असंयम और उसकी बढ़ी हुई विलास-लालसा ही समय-समय पर मनुष्य-जाति के पतन का कारण बनती रही है। मदिरा से भी कभी किसी की प्यास बुझी है!

'आदिम मनुष्य की पशुता नैसर्गिक बन्धनों में बँधी हुई थी, परन्तु आज के मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति सर्वथा स्वतंत्र है। उसके कृत्रिम जीवन के समान उसकी प्रवृत्तियाँ और विकार भी कृत्रिम होकर पहले से अधिक भयंकर हो उठे हैं। वह अपने जीने के अधिक साधन ही ढूँढ़ कर सन्तुष्ट नहीं हो सका है, वरन् उसने दूसरों को नष्ट करने के असंख्य उपायों का आविष्कार भी कर लिया है। यदि वह अपने शरीर के फोड़े को नश्तर से अच्छा करना सीख गया है तो उसके साथ ही सुई जैसे यन्त्र द्वारा दूसरे के शरीर में विष पहुँचाकर उसे नष्ट करना भी जान गया है। इसी से आज की पतित स्त्री की स्थिति प्राचीनकाल की नर्तकी की स्थिति से भिन्न और दयनीय है। आज असती मेनका से साध्वी शकुन्तला की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, जिसे भरत

जैसे राजर्षि की जननी होने का सौभाग्य मिला था ; आज वाराङ्गना वसन्तसेना का अनन्य प्रेम स्वप्न है, जिसे पाकर कोई भी पत्नी अपने स्त्रीत्व को सफल कर सकती थी। वर्तमान समाज जिस स्त्री को निर्वासन-दण्ड देना चाहता है, उसके फूटे कपाल को ऐसे लोहों से दाग देता है जिसका चिह्न जन्म-जन्मान्तर के आँसुओं से भी नहीं धुल पाता। किसी दशा में भी न वह, न उसकी तिरस्कृत संतति इस कलंक-कालिमा से छुटकारा पाने की आशा कर सकती हैं। वह ऐसी ढालू राह पर निरवलम्ब छोड़ दी जाती है, जहाँ से नीचे जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं रहता।

'कुछ व्यक्तियों का मत है कि यह स्त्रियाँ अपनी जीविका के लिए स्वेच्छा से इस व्यवसाय को स्वीकार करती हैं और किसी भी दशा में अपनी स्थिति में परिवर्तन नहीं चाहतीं। संभव है, सौ में एक स्त्री ऐसी मिल जावे जो मन में ऐसे व्यवसाय को अपमान का कारण न समझती हो, परन्तु उसके जीवन का इतिहास कोई दूसरी ही कहानी सुनायेगा। परिस्थितियों ने उसके हृदय को इतना आहत किया होगा, समाज की निष्ठुरता ने उसकी इच्छाओं को इतना कुचला होगा, मनुष्य ने उसे इतना छला होगा, कि वह आत्म-गौरव को आडम्बर और स्नेह तथा त्याग को स्वप्न समझने लगी होगी। स्नेह ही मनुष्यता के मन्दिर का एकमात्र देवता है। वही प्रतिमा खण्ड-खण्ड होकर धूल में बिखर जाती है, तब उस मन्दिर का ध्वंस हुए बिना नहीं रहता। जैसे प्रतिमा के बिना मन्दिर किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है, उसी भाँति स्नेह-शून्य मनुष्य किसी भी श्रेणी में रखा जा सकता है। स्त्री के हृदय से जब स्नेह का बहिष्कार हो जाता है, उसकी कोमलतम भावनाएँ जब कुचल दी जाती हैं, तब वह भी कोई और ही प्राणी बन जाती है। जीवन का आदर्श और उस तक पहुँचने की साधना जितनी सत्य है, उस साधना के मार्ग में समय समय पर मिलनेवाली बाधाएँ भी उससे कम सत्य नहीं। उचित तो यही था कि स्त्री और पुरुष दोनों को अपनी भूलों को सुधारकर साधना के पथ पर अग्रसर होते रहने की सुविधाएँ मिलती रहतीं, परन्तु पुरुष के अधिक सबल और समाज के निर्णायक तथा विधायक होने के कारण ऐसा न हो सका।

'परन्तु समाज का आदर्श तो स्थिर रखना ही था, इसलिए स्त्री पर साधना का भार और भी गुरु हो उठा। उसकी भूलें अवश्य समझी गईं, उसकी स्वभावगत मानवीय दुर्बलताओं को दूर करने के लिए कठिनतम बन्धनों का आविष्कार किया गया तथा उसकी कामनाओं को केवल समाज के कल्याण में लगाने के लिए उन्हें दुर्वह संयम से घेरा गया। स्त्री ने साहस से हँसते-हँसते अपने भार को वहन किया। उसने कभी किसी भी त्याग या बलिदान के सम्मुख कातरता नहीं दिखाई, किसी भी बन्धन से वह भयभीत नहीं हुई और समाज के कल्याण के लिए उसने अपने सारे जीवन को बिना विचारे हुए ही चिर निवेदित कर दिया। परन्तु वह भी त्रुटियों से पूर्ण मनुष्य ही थी। समाज ने इन विचलित दुर्बल नारियों को दूसरी बार प्रयत्न करने का अवसर देने की उदारता नहीं दिखाई, वरन् उन्हें पतन के और गहरे गर्त की ओर ढकेल दिया।

'उनकी असंख्य बहनों द्वारा किये हुए बलिदान ही उनके दोषों और क्षणिक अस्थिरता का प्रक्षालन कर सकते थे, परन्तु समाज ने उन दुर्बल नारियों का एक समाज बना डाला। इन अबलाओं को समाज के कुष्ट-गलित अंग के समान घृणित व्यक्तियों ने अपने मनोविनोद का साधनमात्र बना रखा। इन्हें अपनी जीविका के लिए शरीर और आत्मा दोनों को किस प्रकार मिट्टी के मोल बेचना पड़ा, यह करुण-कहानी सभी जानते हैं। कितनी ही छोटी-छोटी भूलों, कितने ही तुच्छ दोषों के दण्डस्वरूप उन स्त्रियों को समाज से चिरनिर्वासन मिला है, जो

सुयोग्य पत्नियाँ और वात्सल्यमयी माता" बन सकती थीं। उन्हें आकण्ठ पंक में डुबाकर हम अब यह कहते हुए भी लज्जित नहीं होते कि यह स्वेच्छा से ऐसा घृणित व्यवसाय करने आती हैं। हमने स्त्री के चारों ओर विलासिता और प्रलोभनों के जाल बिछाकर उसे साधना के शिखर तक पहुँचने का आदेश दिया है। उस पर यदि कभी वह अपने पथ पर क्षण भर रुककर उन प्रलोभनों की ओर देख भी लेती है, तो हम उसे शव के समान, मांसभक्षी जन्तुओं के सम्मुख फेंक देते हैं जहाँ से वह मृत्यु के उपरान्त ही छुटकारा पा सकती है। इस पर भी हमें अभिमान है कि हम उस मनुष्य जाति के सदस्य हैं, जो सहानुभूति और प्रेम का आदान-प्रदान करने के कारण ही पशुओं से भिन्न है।'

मराठी

वर्तमान मराठी वाङ्मय के कुछ ललित कण—

गत दो वर्षों से वर्तमान मराठी-साहित्य के कलाकारों में कला की सर्वसम्मत परिभाषा निर्धारित करने के लिए विद्वत्तापूर्ण विवाद चल रहा है। फलतः मराठी साहित्यकारों के दो दल हो गये हैं और इन दोनों दलों के नेता दो प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। एक दल 'छाया' के प्रसिद्ध लेखक वर्तमान मराठी जगत की सर्व-श्रेष्ठ विभूति विष्णु सखाराम खाण्डेकर के मतानुसार कला में उपयोगितावाद का सामंजस्य पाता है और दूसरा दल अत्यन्त लोकप्रिय ललित उपन्यासकार प्रोफेसर नारायण सीताराम फड़के के सिद्धान्तानुसार कला को ही कला का अन्तिम लक्ष्य मानता है। इस वर्ष के जून मास की ७, ८ और ९ तारीखों को मध्य भारतीय मराठी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से सुप्रसिद्ध मराठी कलाकार श्री गजानन त्र्यम्बक माड़खोलकर ने खाण्डेकर के पक्ष का बहुत ही सुन्दर और तार्किक समर्थन किया था। उनके भाषण के कुछ बहुमूल्य वाक्य इस प्रकार हैं—

'यदि ऐतिहासिक सत्यों का निरूपण किया जाय तो यह कभी नहीं कहा जा सकता कि किसी भी युग की कला देश और काल की सामूहिक उपयोगिता से भिन्न रही है। कला को ही कला की अन्तिम वस्तु माननेवाले 'कलावादी' व्यक्तियों ने कला को अप्सरा के रूप में देखने की चेष्टा की है। यदि उनका अर्थ कला के अमर, उन्मेषशाली और सौन्दर्यमय स्वरूप से है तो मैं भी उनसे सहमत हूँ; किन्तु देवेन्द्र के संकेत पर नृत्य करनेवाली अप्सरा को भी महर्षि के तपोभंग और राजर्षि के अनुनय के लिए मृत्युलोक में आना पड़ता था। विश्व की किशोरावस्था में वह अप्सरा देवदासी थी, धीरे-धीरे वह राजदासी हुई और आज वह अर्थदासी हो गई है।

• • • •

'संसार की भिन्न-भिन्न कलाओं की अपेक्षा ललित लेखन कला का सम्बन्ध समाज से अत्यन्त घनिष्ट है। शिल्पी की कलावस्तु निर्जीव, ठोस पाषाण रहती है; चित्रकार की तूली भी प्राणहीन तरल रंगों का संचय करती है; किन्तु मनुष्य के भावों को वाणी पर उतारकर उनका प्रदर्शन करनेवाला साहित्यिक, समाज का इतिहास कहनेवाले, देश और काल द्वारा निर्धारित शब्दों को सजाता है। साहित्यिक की वस्तु पर सारे समाज का अधिकार रहता है क्योंकि शब्दों की उत्पत्ति और उनका अर्थ-निरूपण समाज पर ही निर्भर रहता है।

• • •

'कला जीवन का केवल यथार्थ स्वरूप नहीं है ; वह निरी विनोद-सामग्री नहीं है। वह एक मात्र अलंकार भी नहीं है। यदि वह केवल यथार्थ स्वरूप होती तो मनुष्य उसके द्वारा रागात्मक विश्राम प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करता, यदि वह केवल नग्न-विनोद की सामग्री होती तो मनुष्य उससे स्फूर्ति-प्राप्ति की आशा नहीं करता और यदि वह केवल अलंकार होती तो मनुष्य जीवन-संग्राम में उससे सहायता की आशा नहीं करता। कला तो इन सभी विशेषताओं का एकीकरण कर जीवन के प्रगति-पथ की सहचरी है। उसके सहारे हम अपने पथ का निरूपण और परिवर्तन करते हैं। वह कर्महीन विनोद-वस्तु नहीं, किन्तु आवश्यक, उद्बोधन-मंत्रिणी है। वह जीवन का केवल अलंकरण नहीं है. वह तो जीवन के सम्मुख अत्यन्त जाज्वल्यमान आदर्श की रेखा खींच देती है और उसके सहारे मानव के कर्तव्य-पथ को अङ्कित करती है।.........
कलाकार जीवन की छाया—चित्रकार नहीं है, वह नवीन जीवन का निर्माता है। वह वस्तु-जगत पर अपने साहित्य को अवलम्बित कर अपर-सृष्टि की रचना करता है!

• • •

'उद्बोधन का अर्थ है, जाग्रति, विकास और क्षोभ। कलाकार जानता है कि उसके और सम्पूर्ण मानव समुदाय के भावों में साम्य है और इसीलिए वह अपनी कलाकृति से उन भावों का उद्रेक करता है। टालस्टाय के 'पुनर्जन्म' और हार्डी के 'अज्ञात जूड' उपन्यासों से हमें सुख का विधान नहीं मिलता, किन्तु मन और बुद्धि का जागरण, विकास और क्षोभ की क्रियाओं द्वारा उनसे हमारे हृदय में भाव और बुद्धि में विचार का संचालन होता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' सदृश सुखान्त नाटक से जो सुख का उद्वेग होता है, वह केवल आनन्दकारक, शृंगार और शान्ति के प्रकरण से नहीं होता। उसके पठन से उद्वेलित कल्लोलों की सृष्टि सुख के साथ ही उदात्तता और उच्चता रखती है और हृदय और मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ता है, वह विकास है।

• • •

'कला को विज्ञापन का साधन मानना भी भूल है। कला का सौन्दर्य और सामर्थ्य, भाव की तीव्रता, गूढ़ता और विभिन्नता पर अवलम्बित है। यदि कला का उपयोग किसी सिद्धान्त की साधना के लिए किया जाय तो उससे वस्तुओं की प्राप्ति असम्भव है।

• • •

[श्री माडखोलकर, मराठी वाङ्मय के सामर्थ्यशाली उपन्यासकार, कहानी-लेखक, समालोचक और कवि हैं और वर्तमान युग के सर्वोत्कृष्ट ललित-साहित्य-लेखकों में उनका विशेष स्थान है। समालोचक की भूमिका में उन्होंने 'आधुनिक कविपंचक' 'विलापिका' और 'विष्णु कृष्ण चिपलूनकर' नामक पुस्तकें लिखी हैं। 'मुक्तात्मा' 'भंगलेले देउल' और 'शाप' इनके प्रसिद्ध उपन्यासों में हैं। इनकी प्रत्येक रचना में भारत के अरुणोन्मुख राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति रहती है। आजकल ये नागपुर के प्रसिद्ध मराठी साप्ताहिक 'महाराष्ट्र' के व्यवस्था-सम्पादक हैं। इनके उक्त भाषण से हमें यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता है कि आजकल जहाँ मराठी, बंगाली आदि प्रान्तीय साहित्य प्रगति-पथ पर बढ़े चले जा रहे हैं, वहाँ भाषा-प्रसार की उलझन में हिन्दी-साहित्य गतिबद्ध क्यों हो गया है ?]

• • • •

निद्रित-कलिका

(प्रो० भवानीशंकर के एक गीत का अनुवाद)

झूम झुक - झुक स्वप्न - सुख में,
हो गई तन्द्रिल कली !

दिशि कलंकित हो न पाई,
निशि, दिवस तन पर न छाई,
भार ले किस प्यार का
यह सो गई फिर भी भली !

क्या नवल यौवन दृगों पर,
यक्षिणी कोई अगोचर,
अनिल में चल, बोल अलि में,
छू गई निज अंगुली !

सोगई अब साँझ - स्वर में ;
पी उषा के छवि - प्रहर में—
तुहिन - कण की वारुणी जो
प्रात - प्याली में ढली !

विश्व - स्वर ने आश त्यागी,
सुप्त, पर कलिका न जागी,
पल्लवों पर गीत बन - बन,
चुप हुई विहगावली !

सकुच मुग्धा - सी लजाकर
विकल उत्कण्ठा हृदय - धर
डूब निज नव केलि-सुख में,
यह परी खुद ही छली।

वायु भर संगीत के स्वर,
मदिर चुम्बन-कम्प धर - धर,
जब अधर पर राग लाती,
क्यों न सोये यह कली ?

[प्रो० भवानीशंकर पंडित नागपुर के हिसलप कॉलेज में मराठी के अध्यापक हैं। मध्य-प्रान्त के तरुण मराठी कवियों और समालोचकों में उन्हें उच्च स्थान दिया जाता है। यह रचना इनके कविता-संग्रह 'पिचलेला पावा' से ली गई है। इनकी कविता अभिव्यक्ति-प्रधान है। ये अपने आपको मराठी के सर्व श्रेष्ठ कवि भास्कररावजी ताम्बे का शिष्य मानते हैं।]

• • •

निंदिया

(कविवर आ० रा० देशपाण्डे 'अनिल' की 'अंगाई' कविता का भावानुवाद)

सखि, गगन में तारिकादल ज्योति का सन्देश लाया,
औ' हमारे युगल उर में प्रणय का मधु ज्वार आया।
वाटिका के कुसुम, जीवन में सुरभि का कम्प लाते,
सजनि, अपने अधर श्वासों का मिलन-संगीत गाते।
ज्योति में खद्योत-दल की तरु-लता झुक झूम जाते,
बाहुओं को गूँथ हम-तुम प्रेम की माला बनाते।
अग अपने व्योम औ' क्षिति, क्षितिज के तट पर मिलाते,
आज आलिंगन हमारे प्राण का परिरम्भ लाते।
गुल्म-बन्दी पवन, अस्फुट राग में निज मुक्ति गाता,
हृदय कहता सुख-कथा पर कण्ठ अपना खुल न पाता।
रात्रि के रति-बिन्दु हिमकण बन धरा पर उतर आये,
आज आँखों में हमारी ज्योति के दृग-बिन्दु छाये।
फूल अलसाये, उठा जग झिल्लियों के मोद का स्वर,
सजनि, अब हम-तुम न जागें, तिमिर बन छाया प्रबल स्मर।

[श्री आत्मारावजी देशपाण्डे 'अनिल' मराठी के सर्व प्रतिष्ठित रहस्यवादी भावुक कवि हैं। इनमें प्रेम और दर्शन का सुन्दर सम्मेलन करने की शक्ति है तथा इस क्षेत्र में इनकी बराबरी बहुत ही कम मराठी कवि कर सकते हैं। इनकी सहधर्मिणी सौभाग्यवती कुसुमावती देशपाण्डे, बी० ए० (लन्दन) भी मराठी की अत्यन्त लोकप्रिय कहानी-लेखिका और चित्रकार गिनी जाती हैं। इस तरुण भावुक दम्पति से वर्तमान मराठी-साहित्य का बहुत उपकार हुआ है।]

—विनायक अम्बादास गिजरे, गुलाबप्रसन्न शाखाल

गुजराती

काला हीरा

'कुमार' के वर्ष १४ अंक ४ में उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत 'कोयले की कथा' कही गई है। इसकी बनावट में थोड़े से अणुओं का परिवर्तन करने से ही यह हीरे के रूप में बदल जाता

है। इसी से विज्ञानियों ने इसे 'काले हीरे' का नाम दे रखा है। विज्ञान ने इससे बड़ा लाभ उठाया है। भूस्तर शास्त्र ही क्यों, भौतिक और रसायन शास्त्र भी इसके ऋणी हैं। यह उन वनस्पतियों से बना है जो युगों पहले पृथ्वी के गर्भ में दफ़नाई हुई हैं। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम इसकी उत्पति, इतिहास, स्वरूप और बनावट का दिग्दर्शन कराते हुए लेख का सारांश यहाँ देते हैं—

क्रम-क्रम से बननेवाले पृथ्वी के स्तर ही हमारे ग्रहों का क्रमिक इतिहास हैं। इस इतिहास का एक काल 'कार्बोनिफरस' के नाम से पहचाना जाता है, जो अत्यन्त उत्पात् का काल था। उस समय जल को स्थल में और स्थल को जल में परिणत करनेवाले भूकम्पों की परम्परा प्रचलित थी। नई-नई जीव-सृष्टि के उत्पन्न और विनाश के उस युग में एक ओर मूसलाधार वर्षा होती थी, तो दूसरी ओर तापमान भी उच्चतम बिन्दु पर पहुँच जाता था। परिणाम यह हुआ कि पचास फ़ीट से भी ऊँचे सिजिलेरिया, लेपिडेडेन्ड्रोन और कलेमाइट पेड़ों के जंगल-के-जंगल पानी से भर गये और उन वृक्षों के साथ असंख्य जीवित जानवर और हमारी कल्पना से परे, उस युग के कितने ही राक्षसी प्राणियों को जल-समाधि लेनी पड़ी। धीरे-धीरे सूक्ष्म कीटाणुओं द्वारा ये पदार्थ सड़ने लगे। कालान्तर में उसी सड़े हुए पदार्थ पर पृथ्वी का एक-पर-एक स्तर चढ़ता गया। सबसे पहले रेती, फिर सलेटिया पत्थर (शेल), पश्चात् चूने वगैरह का तह उस पर जमा। ऊपर के तहों का बोझा पाकर उस सड़े हुए पदार्थ में से जानवरों की चर्बी, तेल और अशोष जल ऊपर उठा और बालू ने उनको सोखा। वह सड़ा हुआ कीचड़ शनैः शनैः दबता और कठोर होता गया। युगों के दबाव और उष्णता ने इस प्रकार कोयले का स्तर बनाया। कोयले की एक फुट मोटी तह बनने में पाँच सौ वर्षों का समय लगता है। पेन्सिलवानिया में कोयले की तह की मोटाई चार हजार फ़ीट और नोवास्कोटिया में आठ हज़ार फ़ीट पाई गई है। इससे अनुमान किया जाता है कि यह स्तर-रचना कार्बोनिफ़रस-युग में ही हुई है।

कोयले में सत्तर से नब्बे प्रतिशत कार्बन का अंश है और शेषांश में चूना, गंधक, लोहा, फ़ास्फ़रस, रेती इत्यादि। इसे हम तीन जातों में विभक्त कर सकते हैं—पिटकोल (जिसे हम जलाते हैं), अन्थ्रेसाइट और लिग्नाइट (भूरा कोयला)। पिटकोल की अनेक जातियाँ हैं जो इनकी ज्वाला के रंग से पहचानी जाती हैं। अन्थ्रेसाइट तेज़ होता है और इसकी ज्वाला में लाल प्रकाश होता है और धूआँ कम। लिग्नाइट कोयले का कच्चा स्वरूप है। इसकी खदानों में से पेड़ों के कच्चे धड़ मिलते हैं, जिससे अनुमान किया जाता है कि भूस्तर के तीसरे युग में इसकी रचना हुई होगी।

कोयले की कार्य-शक्ति उसकी बनावट और उसमें मिले हुए रसायन पर निर्भर करती है। इसमें से 'टार स्पिरिट' निकाला गया है, जिसका उपयोग वार्निश के काम में होता है। कोयले को नौ से बारह सौ डिग्री सेन्टीग्रेड तक गरम करने पर वह प्रवाही पदार्थ बनता है जिसे हम 'कोलटार' कहते हैं और उसमें कोयले के सभी तत्व, जैसे—बेन्ज़ीन, नप्थेलीन, कार्बोनिकएसिड, पीरिडाइन, आदि पाये जाते हैं। 'टीअर गैस' जो मानव-जाति का संहार करने के काम में लाया जाता है, कोयले से ही पैदा किया गया है। इसके द्वारा हमें अमोनियाँ लिकर, पानी से हलके तेल, पानी से भारी तेल, क्रीओसोट, और अन्थ्रेसीन जैसे पदार्थ मिल जाते हैं। इसके द्वारा प्राप्त बेन्ज़ीन, पेट्रोल के साथ मोटर के काम में आता है, नाइट्रिक एसिड का प्रयोग साबुन में किया जाता है, टोलवीन में से युद्ध में काम आनेवाला टी० एन० टी० नामक दाह्य पदार्थ पैदा किया जाता है, और फ़ेनोल तथा नप्थेलीन जन्तुनाशक औषधियों के काम में आता है। क़िस्मों की बनावट

में काम आनेवाले हाइड्रोक्वीनोन भी इसी का एक उद्भूत अंग है। इनके अतिरिक्त बूट-पालिश, मोमबत्ती और ग्रामोफ़ोन के रेकार्डों की बनावट में भी इसका विशेष महत्व है।

इतना सुखास्पद होते हुए भी आज कोयला मनुष्य-जाति के लिए निराशा का विषय हो गया है; क्योंकि इसकी पैदाइश दिन पर दिन कम होती जा रही है। अमेरिका म जिस परिमाण में कोयला निकल रहा है, यदि उसी परिमाण में निकलता रहा, तो दो हज़ार वर्ष में समाप्त हो जायगा। इसी तरह बृटेन को जितना कोयला मिलता है, बराबर मिलता रहा तो साढ़े चार सौ वर्ष तक चल सकता है।

थोड़े ही समय के बाद कोयले के अभाव का प्रश्न समस्त साम्राज्यों के सामने उपस्थित होगा। उस समय का वातावरण कैसा होगा—यह अभी से कैसे कहा जा सकता है?'

अंग्रेज़ी

श्रीमती सोफ़िया वाडिया ने पी० ई० एन् संस्था की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन पर जो भाषण दिया उसमें आधुनिक प्रगति में आध्यात्मिकता के स्पर्श की आवश्यकता और साहित्यकार के महत्व पर बहुत ही मार्मिक विचार प्रगट किये हैं। उन्होंने कहा—

'यह सच ही है कि लाखों स्त्रियाँ और पुरुष जीवन में बिना निश्चित लक्ष्य के रहते हैं। उन्हें ध्येय का ध्यान नहीं रहता। तो भी किसान हो और चाहे वेश्या ही हो, हर कोई अपने भीतर कुछ-न-कुछ विचार रखता है और उन्हीं को लेकर जीता और काम करता है। पर होता यह है कि उस बारे में वह स्वयं अज्ञान में होता है। वे विचार बाहरी वातावरण और सांसारिक घटनाओं की रुकावटें होते हुए भी समय-समय पर अपना स्वत्व दिखाने में असफल नहीं होते। वे धार्मिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक प्रभावों को जाने-अनजाने ग्रहण करते ही हैं। राजनीति का भी सीधा प्रभाव पड़ता है। अब राष्ट्रीयता जनता का धर्म हो गया है, ख़ास तौर पर पश्चिमी भागों में और जल्दी ही यह सम्पूर्ण भारत का भी धर्म बना जा रहा है। राजनीतिज्ञ जनता के ऊपर अपना प्रभाव डालते हैं। उत्कट डिक्टेटर हों, या साम्राज्यवादी, जनता उन्हें विधायक मानने को उद्यत होती है। आज उनके अनुयायी, धर्माचार्यों और कवि, लेखकों से भी कहीं अधिक हैं। राजनीतिज्ञों का बल और प्रभाव इतना ज्यादा है कि उनके सामने धर्माचार्य और कवि कुछ भी नहीं रहते। राजनीतिज्ञ भलाइयों और बुराइयों को तौलने की तुला धार्मिक-प्रचारकों को देता है, वह वैज्ञानिक को विषैली गैस, और ख़तरनाक बम तैयार करने की आज्ञा देता है। उसने कवियों और नाटक-लेखकों को भी अपनी पैदा की हुई ज़रूरतों की पूर्ति करने के लिए आज्ञा देनी शुरू कर दी है और बहुत से देशों में उसे सफलता भी मिली है।

'दूसरे, हमारा युग ठीक ही विज्ञान का युग कहा जाता है। राजनीतिज्ञ का प्रभाव सीधा पड़ता है; पर वैज्ञानिक का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य की बुद्धि और मस्तिष्क को इतना और इस ढंग से सुझा दिया है कि उन्होंने अपने उद्धार और विकास के लिए विज्ञान पर निर्भर रहना सीख लिया है। विज्ञान ने जीवन की, धन-धान्य की ओर झुकी हुई दशा पर अधिक ज़ोर दिया है और उसने मनुष्यों में ऊँचे रहन-सहन की इच्छा पैदा कर दी है।

'पर महायुद्ध से वैज्ञानिक परिणामों पर निर्भर रहने का दुष्फल सामने आ गया है।

वैज्ञानिक आविष्कारों की बहुलता निष्फल है। उनकी व्यर्थता प्रमाणित इस बात से है कि सब सुख-सुविधा और आविष्कारों के होते भी सुख-चैन में वृद्धि नहीं हुई है। मनुष्य प्रत्येक देश में बेकार के कारण बड़े दुःख उठा रहे हैं; लेकिन वह चीज़ों की गहराई में देखने के ज्ञान को प्राप्त करते हुए इस बात पर आते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान और आविष्कारों की और अधिक ज़रूरत है। रोटी और कपड़ा बहुतायत से पैदा किये जाते हैं, फिर भी वे भूखों को प्राप्य नहीं हैं। और इससे भी अधिक, जब वे प्राप्य बना दिए जाते हैं और ऊँचा रहन-सहन हो जाता है, तब मनुष्य और अधिक चीज़ों की आवश्यकताएं अनुभव करता है, जिससे वह अपने अवकाश के समय को जो कि ज्ञान की बढ़ती और वैज्ञानिक आविष्कारों से उसे ज़बरदस्ती मिल जाता है, इस्तेमाल कर सके और आराम पा सके। मनुष्य अपने जगने के १६ घंटों में रोटी, मक्खन, और मुरब्बा खाते ही नहीं रह सकता, और इसीसे प्रवाह में परिवर्त्तन होता है।

'क़लम के धनी अधिकतर आदर्शवादी हैं। क़लम की शक्ति चाहे मनुष्यों के ज्ञान में सीधी ही न घुसे जैसा कि राजनीतिक वक्ता का शब्द घुसता है; चाहे वह इतनी जल्दी उत्तर पैदा न कर सके, जैसा कि एक वैज्ञानिक का शब्द करता है; किन्तु वह जाति के हृदयों में स्थायी जगह बना लेती है, क्योंकि क़लम का प्रभुत्व मनुष्यों के जीवन को मधुर और उच्चाकांक्षी बनाने में बहुत ज़्यादा है।

'एक विचारों की क्रांति चल रही है, यद्यपि आर्थिक और राजनीतिक झगड़ों के कारण वह कुछ धुँधली-सी पड़ रही है। मनुष्य अधिक पैसों के लिए नहीं झगड़ रहे हैं—वे अपने हृदयों को प्राचीन विश्वासों और विचारों से छुड़ाने के लिए झगड़ रहे हैं; वे एक नई सामाजिक संस्था के लिए लड़ रहे हैं जिसमें वर्ग-स्पर्द्धा और देश-देश की शत्रुता दूर हो जाय। वह रहने का एक ऐसा ढंग पैदा करना चाहते हैं जिसमें उनके जीवन के सभी अंग अपना-अपना ठीक भाग लें; जिसमें उनके मस्तिष्कों की प्रेरणा और उनके हृदयों की उच्चाभिलाषाएँ भी सम्मिलित हों।

● ● ●

'नवचेतन और नवीन संस्कार पैदा करनेवाले कवियों, उपन्यासकारों तथा अन्य व्यक्तियों को यह तो तै कर लेना चाहिए कि उनके उद्देश्य का ढंग क्या होगा; लेकिन अगर वे सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को, देश-धर्म आदि का अन्तर रहते हुए भी, प्रोत्साहन देने के काम को सचाई से करते हैं, तो वे अवश्य ही उनमें आध्यात्मिकता जगायेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले हमको साहित्य के नाम पर से वह धब्बा मिटाना पड़ेगा जो कि भद्दी और गौरवहीन बातों से पड़ गया है। अनर्गलता को विचारों की स्वतंत्रता नहीं समझना चाहिए। लालसा पवित्र प्रेम की नहीं समझी जानी चाहिए। और न इन्द्रिय-विषयों को आदमी की सच्ची भूख का अंश समझा जा सकता है।

अपने भाषण का अंत करते हुए श्रीमती वाडिया ने स्पष्टता से कहा—

'१. मानव की आध्यात्मिकता।'

'२. सम्पूर्ण मानव-जाति का ऐक्य।'

'३. सामंजस्य और संतुलन का अमोघ और अडिग न्याय-शासन'—भारतवर्ष की ये दार्शनिक सचाइयाँ हैं, जो कि, जैसा हम विश्वास करते हैं, सबके जीवन को प्राणमय, ओजस्वी, उपयोगी और परिपूर्ण बना सकती हैं।'

[प्रमुख भारतीय भाषाओं की पुस्तकों की आलोचना 'हंस' में होती है ; किन्तु सभी भेजी हुई पुस्तकों की आलोचना अनिवार्य नहीं है। स्कूल और कॉलेज की पाठ्य-पुस्तकें, नोटिसें, छोटे-छोटे पैम्फ़लेटों की आलोचना नहीं होती। समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों की पहुँच की सूचना नहीं दी जाती है और न उस विषय में कोई जवाबदेही ही हो सकती है। पुस्तकों की समालोचना की कोई प्रत्यालोचना प्रकाशित नहीं की जाती।]

—सम्पादक, 'हंस'।

विजनवती—लेखक, इलाचंद्र जोशी। प्रकाशक, श्री ज्ञानपाल सेठिया, अर्चना-मंदिर, बीकानेर। सुन्दर स्वच्छ छपाई। मूल्य २)।

यह क्रान्तिकाल है। सामाजिक क्षेत्र, राजनैतिक क्षेत्र और साहित्य-क्षेत्र सब ओर क्रान्ति की भावना उमड़ रही है। क्रान्ति के इस प्रवाह को अवरुद्ध करनेवाली शक्ति इस समय टिक नहीं सकती। हमें ज्ञात है कि हमारे साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाली क्रान्ति भावना पर कितने बड़े-बड़े आक्रमण हुए, पर वे सब निष्फल हो गये। क्रान्ति-युग की लहर उन्हें पदाक्रान्त करती हुई चली जा रही है। उसे पद-पद पर नया जीवन, नवस्फूर्ति और नवीन आलोक प्राप्त होता जा रहा है। दश वर्ष पहले का युग और आज का दिन सदियों के फ़ासले पर खड़े हैं। यह चाल साधारण वेग की परिचायक नहीं हो सकती। यही कारण है कि हम प्रवाह-क्षेत्र से तटस्थ व्यक्ति जो तर्क और जो समालोचनाएँ लेकर हमारे सामने आते हैं वे हमें दक़ियानूसी और पुराणपंथी प्रतीत होती हैं। वे हमारी श्रद्धा को आकर्षित नहीं कर पातीं ; और हम अपने पथ पर दौड़े जा रहे हैं। हमारे समस्त रोम-रन्ध्रों में क्रान्ति की नई उच्छ्वास, नूतन उल्लास और अभिनव आकांक्षा भर गई है। हमारी समस्त अभिव्यक्तियों में उसकी रंगीन किरणों का जाल गुँथा हुआ है।

इसीलिए हमारी नूतन साहित्य-सरिता अपनी पृथक् वर्णच्छाया के साथ कलकल करती बहती जा रही है। उसके अंचल का धानी रंग, उसके अङ्ग-विन्यास की छटा, उसका मुखरित हास्य, उसके पैरों की नृत्य-भंगिमा, सब कुछ अपूर्व हैं। वह चिरन्तन काल से अपनी तटसीमा में बहनेवाली भगवती मन्दाकिनी से सर्वथा भिन्न है। 'पन्त' और 'प्रसाद' की आरम्भिक रचनाओं में उसने जन्म लिया था। वह अब शिशु क्रीड़ाओं से मुक्त होकर विचरण करने लगा है। उसकी वयःपरिणति की सूचना हाल की कई रचनाओं में मिलती है।

ऐसी ही रचनाओं में 'विजनवती' का स्थान आता है। इसके रचयिता श्री इलाचंद्रजी जोशी वर्तमान युग की रसधारा में अच्छी तरह अवगाहन कर चुके हैं। उनकी लेखनी में वह ज्वाला है जो क्रान्तिकाल के लिए सर्वथा उपयुक्त है। 'विजनवती' में आप देखेंगे कि कवि की आत्मा उन्मत्त भाव से नृत्य कर रही है। आदर्शों की सीमा को अतिक्रम करके वह भीम वेग से पदाक्षेप में निरत है। उसके रुद्र-नृत्य में, उसकी मन्द्रध्वनि में, पैरों के नीचे की पृथ्वी कंपायमान हो रही है। आरम्भ से अन्त तक 'विजनवती' की प्रायः समस्त कविताएँ अपनी इस ऊर्जस्विता से जगमग हो रही हैं।

प्रमुख वर्तमान कवियों से श्री जोशी जी की अभिव्यञ्जना शैली पृथक है, यद्यपि उसमें युग-भावना का वैसा ही प्राधान्य है। उनकी कविता भी विषाद-भावना में तल्लीन, वियोग-व्यथा से व्यथित, एकाकी जीवन के मर्मोच्छ्वासों के भार से लदी हुई है। जीवन के समारम्भ की समस्त

चेष्टाओं, हर्षोत्फुल्ल भावभंगियों और भावविभोर लास्य-लीलाओं का बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से चित्रण करके वे जब जीवन के परिणाम की ओर निर्देश करने चलते हैं, और इस प्रकार जब चिरान्धकारमय, चिर विषादपूर्ण क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और अपने साथ पाठक को लेते जाते हैं, तब वह अभिभूत हो जाता है। इटालियन कवि दान्ते की जैसी प्रतिभा का आभास उसे होने लगता है। फूलों और परियों के प्रदेश में क्रीड़ा करनेवाली उनकी कवि-दृष्टि बड़ी तत्परता से चिर विभीषिका-पूर्ण घृणित गलित रौरव का चित्र खींचने लगती है। अपने इस भावावेश में भी जहाँ तहाँ उन्होंने मौलिक दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, जहाँ उनकी विचारधार का रुख मालूम होता है। उनकी रचनाओं में इस विविधता का दर्शन उनकी व्यापक अनुभूति और विस्तृत अध्ययन का परिचायक है। उनकी रचनाओं का पदविन्यास मौलिक और परिस्थिति-परिचायक होता है।

'महाश्वेता' शीर्षक कविता में नारी-जीवन के कई पहलुओं का बड़ा हृदयहारी चित्र है। 'राजकुमार' और 'शकुन्तला' ये दो रचनाएँ बहुत लम्बी हैं। कवि का उनके प्रति विशेष मोह झलकता है। 'नृत्य' और 'नरकनिवासी' अनोखी रचनाएँ हैं। 'सेविका' की ये पंक्तियाँ कानों में गूँजती रह जाती हैं—

मेरे इस निर्जन निकुञ्ज में, आओ आओ परदेसी!
नये सिकोरे में शीतल जल तुम पी जाओ परदेसी।

अपने निवेदन में कवि ने 'विजनवती' के सम्बन्ध में लिखा है, 'मेरी 'विजनवती' यद्यपि अभी दशवर्षीया कुमारी है तथापि वह ऐसी अनुभूति-प्रवण है कि इस सुकुमार अवस्था में भी वह आवश्यकता से अधिक संकोचशील जान पड़ती है और अत्यन्त शंकित तथा कम्पित पगों से काव्य-साहित्य के प्रांगण में आई है।' 'विजनवती' की अनुभूति-प्रवणता में सन्देह नहीं है। ऐसी सजीव रचना के लिए जोशी जी को बधाई।

अर्चना-मन्दिर, बीकानेर से 'विजनवती' का प्रकाशन देखकर एक बात ध्यान में आती है कि हिमालय के अञ्चल में जन्मी और भागीरथी के तट पर पोषित जोशीजी की इस 'विजनवती' ने संयोग से मरुस्थल को पसन्द किया या उसके भीतर जो एक ओर अविरल रसधारा प्रवाहित है और दूसरी ओर उद्दाम हाहाकार हिलोरें ले रहा है, उसका सामञ्जस्य मिलाने के लिए उसने अपने को इस अवस्था में प्रकट किया है। जो हो, पर उसकी वाह्य अवस्था से उसकी अन्तर्दशा की छाया मिलती अवश्य है। यदि संयोग ही ऐसा आ पड़ा है तो भी वह उसकी मनोदशा के प्रतिकूल नहीं है। अस्तु।

—शम्भूदयाल सक्सेना

• • •

लोपामुद्रा—मूल लेखक, कन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी, मूल गुजराती से हृषिकेश शर्मा द्वारा अनूदित। प्रकाशक श्री कन्हैयालाल मुन्शी, बम्बई; विक्रेता, सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली। मूल्य १)।

गुजराती में 'लोपामुद्रा' चार भागों में है। पहला भाग उपन्यास के रूप में है और शेष तीन नाटक के रूप में हैं। प्रथम भाग में कथानक की शुरुआत है। कथानक ऋग्वेद के प्रसंग से लिया गया है। और जैसा कि श्री मुन्शी ने अपनी भूमिका में लिखा है 'इस काल का मानव-स्वभाव समझना भी कभी-कभी मुश्किल हो जाता है।' सर्वथा सत्य है। किन्तु श्री मुन्शी ने उस समय के वातावरण के चित्रण का जो प्रयत्न किया है उसमें वे सफल हुए हैं, ऐसी प्रतीति होती

है। यह प्रथम भाग 'विश्वरथ' है, क्योंकि इस भाग में इस बड़ी कथा के नायक विश्वरथ का ही परिचय हम विस्तार से पाते हैं। इस भाग में पाँच अध्याय हैं—बाल्यकाल, गुरु के आश्रम में, भरतों का राजा विश्वरथ, शंबर के पुर में, शंबर-कन्या। विश्वरथ ही इन सब में प्रमुखता से उपस्थित है। शंबर के पुर में पहुँचने के बाद से ही कथा में प्रवाह और हलचल का आविर्भाव होता है। विश्वरथ का चरित्र इस प्रथम खण्ड को देखते हुए अच्छा बन पड़ा है। अभी तो कथानक की शुरुआत है इसलिए यह निर्णय तो नहीं किया जा सकता कि पूरे कथानक के अंतर्गत कोई एक चरित्र सफल हुआ है या नहीं ; परन्तु प्रत्येक पात्र का परिचय हम यहाँ पा जाते हैं, और शायद प्रत्येक से हम कुछ आशाएँ भी रखने लगते हैं जो शायद या नहीं वे पूर्ण भी करेंगे, हम नहीं कह सकते। किन्तु यह निश्चित है कि कथा में प्रवाह है, रोचकता है और चरित्रों का विकास भी दीखता है। अब आगे के भागों के देखने के पश्चात् ही अधिक विस्तार से इस कथा के गुण और दोष पर प्रकाश डाला जा सकता है।

यह हमारा निवेदन है कि 'लोपामुद्रा' के और तीन भाग भी हिन्दी में अवश्य प्रकाशित होने चाहिएँ।

—'सुशील'।

• • •

आजकल—लेखक तथा प्रकाशक—श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार, आशा-निकेतन, १२ ए, रैपरोड, लाहौर ; पृष्ठ-संख्या १४३ ; मूल्य—अजिल्द १), सजिल्द १।)

वर्त्तमान युग में संसार की वर्तमान धाराओं से अलग रहना किसी भी देश के लोगों के लिए सम्भव नहीं है। अपने देश में भी अब इस बात की आवश्यकता समझी जाने लगी है कि इस समय दुनिया में विज्ञान की जो उन्नति हो रही है तथा राजनीति, समाज-शास्त्र आदि के सम्बन्ध में जो नए-नए परीक्षण और अनुभव प्राप्त किये जा रहे हैं, उनकी जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य देशों में तो स्कूल के विद्यार्थियों में साधारण ज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है, किन्तु इस बात की ज़रूरत महसूस करते हुए भी अपने देश में स्कूलों में साधारण ज्ञान का अच्छा प्रबन्ध करना तो दूर की बात रही, इस सम्बन्ध की अच्छी पुस्तकें भी नहीं हैं। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अब पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान साधारण ज्ञान-सम्बन्धी स्कूल के छात्रों के उपयुक्त पुस्तक लिखने की ओर आकर्षित होने लगा है। प्रस्तुत पुस्तक शायद हिन्दी में अपने ढंग की पहली ही है तथा इसके विद्वान् लेखक, हिन्दी-संसार के अपरिचित नहीं हैं। इसमें संसार की वर्त्तमान विचार-धारा, नए-नए वैज्ञानिक, मानवोपयोगी कहे जानेवाले आविष्कारों, देश की वर्त्तमान राजनैतिक और शासन और नागरिकता सम्बन्धी बातों का संक्षेप और सरल भाषा में वर्णन किया गया है। पुस्तक साधारण ज्ञान-सम्बन्धी बातों की जानकारी प्राप्त करने के लिए बड़ी उपयोगी है और हिन्दी का साधारण ज्ञान रखनेवाले लोगों तथा स्कूल के ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियों को तो यह पुस्तक अवश्य ही पढ़नी चाहिए। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का बिल्कुल ही अभाव है। अतः लेखक ने इस विषय की प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए यह पुस्तक लिखकर हिन्दी का उपकार किया है। असावधानी के कारण प्रूफ़ की ग़लतियाँ अत्यधिक रह गई हैं, जो ऐसी पुस्तकों में बिल्कुल ही नहीं रहनी चाहिए। आशा है दूसरे संस्करण में यह सुधार की जायँगी।

—वासुदेव झा।

सामयिक

कांग्रेस और मंत्रिपद

आख़िर सन् '३७ में कांग्रेस के भारतीय शासन में हाथ बटाने का अवसर आया। सन् '८६ में कांग्रेस जन्मी और धीमे-धीमे उसने एक आलोचक का स्थान लिया। आलोचना पहले मित्र-भाव से होती थी, फिर रोष-भाव से भी होने लगी। उसके अनन्तर कांग्रेस एक ऐसी जमात बन गई जो शासन के प्रति खुलकर अविनयी होना भी जान गई। पर सन् '१८ से उसने एक नया रुख़ पकड़ा। शासक-वर्ग के मुक़ाबिले में वह शासितों की प्रतिनिधि-संस्था होकर सामने आई। '१८ के बाद से सन् '२० तक सचमुच वह अपना प्रतिनिध्यात्मक-रूप बनाने और पाने में समर्थ हुई। सन् '२० से अप्रैल सन् '३७ तक भारतीय शासन और नेशनल कांग्रेस आमने-सामने दो विरोधी शक्तियों की भाँति डटे रहे।

इस सब काल में कांग्रेसी जेल का मेहमान था। वह अपराधी था, अभियुक्त था और शासक-वर्ग की निगाह में शत्रु था। सन् '३७ में एक हो साथ वह कांग्रेसी अफ़सर दिखलाई देने लगा है और अब वह स्वयं शासन में हाथ बटा रहा है। छः, अब सात, प्रान्तों में कांग्रेस-मिनिस्ट्री है और वह मिनिस्ट्री शासन को यथा-शक्ति शासितों के हितानुकूल बनाने की कोशिश कर रही है।

इस परिवर्त्तन के सम्बन्ध में गांधी जी ने अपने मन्तव्य को कई लेखों द्वारा साफ़ किया है। गांधी जी वह व्यक्ति हैं जो सन् '१८ से अब तक की कांग्रेस प्रगति के मन्त्र-दाता रहे हैं। उनका कहना प्रामाणिक ही नहीं, स्थिति को समझने की दृष्टि से पूर्ण भी है। पहले शासक और शासित अलग-अलग ही नहीं, बल्कि विरोधी भी थे। उनमें सम्बन्ध था तो हुकूमत का। हुकूमत, यानी पुलिस और फ़ौज और मशीन-गन और हवाई जहाज। उनमें संबंध हिंसा का था। सद्भावना नहीं थी, गहरा अविश्वास था परिणाम यह था कि शासक मदान्ध हो सकते थे और शासित दरिद्र और पस्त। यह अवस्था ग़लत थी और ग़ुलामी की थी। कांग्रेस ने इसी को सुधारने का कर्तव्य उठाया।

लड़ाइयाँ हुईं और जाने कितनों को जेल हुई, कितनों के सिर फूटे, कितने मरे। विरोध यहाँ तक बढ़ा कि वह खुली शत्रुता भी हो गई। एक के लिए विद्रोह धर्म हो गया, दूसरे को निरंकुश दमन ही एक कर्तव्य दिखाई देने लगा। इस युद्ध में शासकों की ओर हिंसा और हिंसा के सब प्रबल अस्त्र थे। पर गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस के पास अहिंसा का ही हथियार था, और संकल्प हो की टेक थी।

गांधीजी का कहना है कि अगर शासक और शासित का सम्बन्ध थोड़ा भी विश्वासपूर्ण या स्नेह-पूर्ण नहीं है, तो हमने कुछ भी नहीं पाया है। स्वराज्य वही है, जहाँ शासितों का अपना ही शासन है। शासक और शासित का अलगाव कम से कम होकर एक दिन बिलकुल ही मिट जाना चाहिए।

आज का शासन-विधान जो है, और जिस दृष्टि से बनाया गया है, वह दोनों ही खरे नहीं हैं, निश्चित रूप में खोटे हैं। फिर भी शायद बड़ी दुनिया के लोकमत को प्रभावित करने के लिए उस विधान में फ्रैंचाइज़ को पहले से काफ़ी अधिक व्यापक बना दिया गया था और

कांग्रेस को मानों चुनौती दी गई थी कि अगर वह राष्ट्र की प्रतिनिधि है तो इस नए व्यापक फ्रैंचाइज़ पर अपने उस दावे को प्रमाणित करे। कांग्रेस ने उस दावे को प्रमाणित किया, और इस भाँति किया कि उसको टालने का अवकाश हो ही नहीं सकता था। शासकों की नीयत कुछ हो, लेकिन कांग्रेस-प्रतिनिधियों को शासितों की हित-दृष्टि से ही विधान-द्वारा मिली हुई ज़िम्मेदारी को निबाहना था और निबाहना है।

यह नहीं समझा जा सकता और नहीं समझा जाना चाहिए कि स्वराज्य मिल गया है; क्योंकि शासक अब भी अपने को शासक मानता है। और शासितों के प्रतिनिधि कांग्रेस के हाथ में बहुत ही परिमित सत्ता है। तनिक भी अधिकार जब तक शासित-वर्ग के अपने हाथों से बाहर रहता है, जब तक राजा-प्रजा के प्रति पूरे अर्थों में उत्तरदायी नहीं होता, तब तक स्वराज्य तो है ही नहीं।

इसीलिए एक बात देखी जा सकती है और उसके अर्थ को बहुत अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। वह यह कि कांग्रेस की कार्यकारिणी-समिति में मन्त्रि-मण्डल का कोई भी सदस्य नहीं रहने दिया गया है। अपने मन्त्रियों के द्वारा ६—७ प्रान्तों का शासन यद्यपि कांग्रेस ही के हाथ में है, पर यह स्पष्ट समझ लिया जावे कि कांग्रेस किसी भाँति भी इन मंत्रि-मंडलों के हाथ में नहीं है, जो शासकों के काम में हाथ बटा रहे हैं; प्रत्युत उन लोगों के हाथ में है जो शासितों के साथ अधिकाधिक अभिन्न होने की कोशिश कर रहे हैं।

यह बात अत्यन्त महत्व-पूर्ण है और कांग्रेसी मंत्रियों में से प्रत्येक को इसके सच्चे आशय और अभिप्राय को खूब समझ लेना चाहिए।

शासन अब तक पराया है। पराये देश के आदमी करते हैं, इसलिए ही परायापन नहीं है, क्योंकि शासक-वर्ग में भारतीयों की ही अधिक संख्या है। पर पराया शासन, विदेशी शासन तो वह इसलिए है कि उसके संचालन की नीति स्वदेश में से नहीं प्राप्त की जाती। जहाँ स्वदेश का हृदय है, आत्मा है, और जो स्वदेश की बुद्धि है, शासन की नीति उसी में से प्राप्त करनी होगी। इस दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि कांग्रेस-मिनिस्ट्री का वर्तन और कर्तव्य-पालन कुछ इस ढंग का होना चाहिए कि भारतीयतापन में अंग्रेज़ियत कम हो। समझा जा सकता है कि यह समय दो जीवन-नीतियों की तुलना और संघर्ष का समय है। और यह मंत्रियों के ज़िम्मे है कि वह शासन को धीरे-धीरे भारतीय आवश्यकताओं, हितों और भारतीय संस्कृति के अनुकूल ढालें।

गाँधी जी ने इस बात को बार-बार स्पष्ट किया है और यह सच ही है कि अगर कांग्रेसी सरकारी मंत्री शासित लोगों के बजाय अर्थात् भारतीयों के बजाय शासकों अर्थात् अंग्रेज़ों या अंग्रेज़ी-हिन्दुस्तानियों को अपना अंग बनायेगा अथवा समझेगा तो वह सच्चे स्वराज को उतना ही दूर कर देगा।

असल में तो स्वराज का अर्थ यह हो जाता है कि सबसे बड़ा शासक हो, सबसे अधिक शासित भी हो, अर्थात् वह अफ़सर तो हो ही नहीं, नैतिक-भावों से भरा हुआ सार्वजनिक सेवक हो। अन्ततः शक्ति उस शक्ति के लिए होड़ करने वालों के हाथों में नहीं, पर उन व्यक्तियों के हाथों में आनी होगी जिनके पोज़ीशन का आधार नैतिक बल है। स्वराज वह है जहाँ शासक और शासित के बीच में कोई भी पुलीस नहीं है, लेकिन पूरा विश्वास है। हमारी कल्पना है कि कांग्रेसी मंत्रियों को इस बात का ध्यान है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दी-साहित्य

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन किस अंश में साहित्यिक और किस अंश में व्यावसायिक हो, यह आये साल चर्चा का विषय बन जाता है। यों तो इस पर बात नहीं भी उठती, पर नये वर्ष के सभापति के चुनाव को लेकर विवाद चल पड़ता ही है। साहित्यिक कहते हैं, सम्मेलन साहित्यिक होना चाहिए, जो कि नहीं है। सम्मेलन के सूत्रधार मौन-पूर्वक इस विवाद को ग्रहण करते हैं, मानो जो हो रहा है, परिस्थितियों को देखते, वही सम्भव और वही उचित है। साहित्यिक आलोचना करते हैं और उन आलोचनाओं में ख़ासा उत्साह भी मालूम होता है, पर सम्मेलन-सम्बन्धी काम से दूर रहते हैं।

हमें मानना होता है कि साहित्य-सम्मेलन पर्याप्त साहित्यिक नहीं है। सम्मेलन के अधिकारी इस ओर ध्यान दे सकते हैं और उन्हें देना चाहिए। नहीं तो वे कर्तव्य से च्युत होते हैं। और अपने अधिकार की पात्रता प्रमाणित नहीं करते। लेकिन यह कहते-कहते भी हमें ख़याल है कि आलोचना उसी को करनी चाहिए जो किसी स्पष्ट और निश्चित परामर्श या योजना देने की तैयारी रखता हो और उसके निमित्त कुछ करने को भी तैयार हो।

'विशाल भारत' में श्री मैथिलीशरण गुप्त का जो पत्र छपा है उसमें इस विषय पर दिलचस्प चर्चा है। यह सच बात है कि किसी भी काम का व्यवसाय और व्यवस्था-पक्ष पहले सम्मुख आता है। वह किसी भाँति गौण नहीं है। सार्वजनिक कार्यों में शायद प्रमुख पक्ष वही है; पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि भावना-पक्ष भी किसी प्रकार अप्रधान नहीं है। आदर्श बहुत ज़रूरी है और किसी व्यवहार की उपयोगिता तभी है, जब वह आदर्शानुगामी है। साहित्यिक का आदर्श से निकट का नाता है, यह तो असंदिग्ध ही है।

मैथिलीशरणजी सम्मेलन जैसी सभाओं से अपने को बचाये रखना चाहें, यह समझ में आता है। फिर भी सम्मेलनवाले उनके इस तरह बचे-बचे रहने के अधिकार का सम्मान ही करते रहें, यह आवश्यक नहीं है। बल्कि यह बात कुछ समझ में भी कम आती है।

कई प्रश्न हैं, जिनका महत्त्व सामाजिक अथवा साहित्यिक जीवन में कम नहीं है। वे प्रश्न अधिकांश विचारात्मक हैं। कुछ प्रबन्ध और व्यवस्था से भी किंचित सम्बन्ध रखते हैं। जो बातें विश्व के मनीषियों के मस्तिष्कों को जाग्रत रख रही हैं और परेशान कर रही हैं, क्या उन बातों के सम्बन्ध में समूचे हिन्दी के सम्मेलन को प्रमाद-ग्रस्त ही मान लिया जाय। अगर नहीं, तो इस विषय में जागरूकता के चिह्न क्यों सम्मेलन में प्रगट नहीं होते हैं?

हिन्दी की एक साहित्य-परिषद्

मैथिलीशरणजी के उस पत्र में एक और काम की बात का संकेत है। साहित्यिक विषयों की चर्चा कहाँ हो? क्या साल में एक बार सम्मेलन के मौके पर साहित्य-परिषद् हो जाना साहित्य की समीचीन प्रगति के लिए पर्याप्त है? या कि शेष साल-भर सन्नाटा रहना ठीक है? बहुत पहले से हम अनुभव करते हैं कि साल के बारहो महीने कर्म करती हुई जीनेवाली एक हिन्दी की समर्थ साहित्य-परिषद् की आवश्यकता है। अभी तक वह इच्छा ही है; लेकिन समय की आवश्यकता तो वह है ही। और उसे शीघ्र योजना का रूप ले लेना चाहिए। इस विषय में साहित्यिक लोग पत्रों में चर्चा चलाकर परिषद् की एक सुचारु योजना सामने ला सकते हैं।

स्वर्गीय श्री रामदास गौड़

श्रीरामदास गौड़ भी आखिर हमारे बीच में से चले गये। इनका अवसान असामयिक नहीं तो और क्या है? क्योंकि न उनकी बीमारी की ख़बर ही सुन पड़ी थी और न वह इतने वृद्ध ही थे। हिन्दी के गिनती के प्रामाणिक साहित्यिकों में उनका उल्लेखनीय नाम था। उन्होंने आपदा को निमन्त्रित करके भी अपने स्वाभिमान और स्वातंत्र्य को सुरक्षित रखा। उनका जीवन आराम का जीवन न था, पर सचाई का जीवन अवश्य था। विज्ञान में वह सच्चा रस लेते थे और उसके लिए बहुत कुछ उन्होंने सहा और खोया। शिक्षा विषयक उनकी सेवाएँ नगण्य नहीं हैं। वह साहित्य-रसिक थे, धार्मिक थे और सार्वजनिक कार्यों से विरक्त और विमुख न थे। क्या विचित्र भाग्य है कि हिन्दी ने ज्यों ही उन्हें मंगलाप्रसाद-पारितोषिक दिया त्यों ही उन्हें खो भी दिया! हम उनके शोक-संतप्त-परिवार को सहानुभूति भेंट करते हैं।

क्षमा-प्रार्थना

इस अंक के निकलने में बहुत देर हो गई। उसके लिए वर्तमान सम्पादक ज़िम्मेदार है। मुख्यता से ज़िम्मेदारी उसकी है और उसके लिए 'हंस' के कृपालु पाठकों से क्षमा की प्रार्थना उसी की ओर से आवश्यक है। अब अक्टूबर के महीने तक अंक समय पर निकलने लगेगा। देर इस कारण हुई कि 'हंस' की आगामी नीति के बारे में निश्चय कर लेना था। साधनों की कठिनाई भी थी; पर साधनों की अपर्याप्तता का जैसे-तैसे मुक़ाबिला किया जा सकता है, मन का अनिश्चय तो दूर होना ही चाहिए था। इन पंक्तियों द्वारा यह प्रकट करना है कि अब 'हंस' शीघ्र-से-शीघ्र यानी अक्टूबर महीने से ठीक समय पर निकलेगा।

सम्पादन और व्यवस्था

पत्र के सम्पादन और उस पत्र की व्यवस्था में क्या संबन्ध हो, यह एक विचारणीय प्रश्न है। पिछले दिनों इस प्रश्न पर कई पहलुओं से विचार करना पड़ा है।

जिस प्रकार जीवन एक है, व्यक्ति का व्यक्तित्व एक है, उसी तरह एक पत्र का जीवन भी एक और इकट्ठा है। वचन में और कृति में अन्तर नहीं होना चाहिए; उसी तरह यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि पत्र में जिन विचारों का स्वागत किया जाय और मुख्यता से जिन भावनाओं का प्रचार किया जाय, वे विचार और भावनाएँ ख़ुद उस पत्र के जीवन पर भी लागू हों। नहीं तो उन विचारों और भावनाओं का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। इस तरह अनजान में दंभ तक उतर आना पड़ता है। लेकिन दूसरा पक्ष यह है कि पत्र का जीवन भावनाओं और विचार का ही जीवन नहीं है। उसमें स्थूल भी बहुत कुछ है। उसमें वास्तविकता का और धन का भी उपयोग होगा। बिना पैसे के पत्र नहीं चल सकता। आदर्श की बातें पत्र में रह सकती हैं, लेकिन काग़ज़ और छपाई वग़ैरह की ज़रूरत आदर्श से कैसे पूरी होगी। आदर्श ठीक; लेकिन अगर पत्र निकालना है तो आदर्श को बातों तक ही रखना होगा।

हम स्वीकार करें कि व्यवसाय और व्यवस्था की दृष्टि बहुत आवश्यक है। उसको आँख से ओझल करने से काम नहीं चल सकता। जो काम पैसे से होगा वह काम बेशक पैसे से लेना होगा। पैसे के अभाव में वह काम अधूरा पड़ा रह जायगा।

लेकिन पत्र के जीवन की सार्थकता जभी है, जब वह किसी नैतिक और सामाजिक उपयोगिता का उद्देश्य सामने रखता है। नहीं तो एक पत्र को जीने और जीते रहने का कोई हक़ नहीं है।

हम यह मानते हैं कि एक पत्र की मूल प्रेरणा नैतिक ही होनी चाहिए। उस प्रेरणा की नींव के ऊपर ही समूची व्यवसाय-बुद्धि-द्वारा निर्माण का कार्य उठाना होगा। नींव वैसी नहीं है, तो उस पर पत्र को खड़ा करना अपने को छलना है।

आज-कल साधारणतः पत्रों की दो मद्दों से आमदनी है—एक ग्राहकों से, दूसरी विज्ञापनदाताओं से।

पत्र की अपनी पूँजी वे शब्द हैं जिनको लेकर वह पाठकों के पास पहुँचता है। ग्राहक उन्हीं के लिए ग्राहक है। वह किसी और बात का पैसा नहीं देता। विज्ञापनदाता का उन शब्दों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं होता। उसे उस सब साहित्यिक सामग्री की परवा नहीं है। उसे पत्र के शब्दों से नहीं, अपने माल की बिक्री से संबंध है।

अब प्रत्येक पत्र को जानना चाहिए कि वह क्या चाहता है। विज्ञापन-दाता को चाहता है, अथवा पाठक को चाहता है। पाठक से हृदय का, भावना का नाता बनेगा ; विज्ञापन-दाता से पैसे का संबंध ही होगा ; उसमें किसी प्रकार के आदर्शों की गंध न होगी।

हमारा अभिप्राय है कि वह पत्र जो सांस्कृतिक भावनाएँ और नैतिक उद्देश्य रखता है, अपनी साहित्यिक साख को सबसे महत्वपूर्ण वस्तु मानेगा। पाठक का हित उसकी पहली और अंतिम चिन्ता का विषय होगा। उसकी वही पूँजी है, वही लगन है और जिसका उस ओर ध्यान नहीं है, वह सच्चे पत्र के जीवन के लिए अनावश्यक होना चाहिए।

इन विचारों के अनुसार पत्र के चलाने में साफ़ तौर पर एक बड़ा संकट खड़ा हो जाता है। ऐसा करना विज्ञापन-दाताओं की उपेक्षा को निमंत्रित करना है। उनकी उपेक्षा के भरोसे पत्र का अस्तित्व ही संकट में समझा जा सकता है। इस भाँति पत्र की आमदनी का सबसे बड़ा द्वार लगभग बंद हो जाता है।

पत्र निकालना आजकल एक व्यवसाय ही है। वह दुहरा धंधा है। पैसा मिलता है, शक्ति बढ़ती है। और ऐसा भी जान पड़ता है कि सेवा का और परोपकार का भी कार्य हो रहा है। निस्संदेह आधुनिक जीवन में दैनिक, साप्ताहिक समाचार-पत्र और मासिक-पत्र सार्वजनिक जीवन के बड़े ज़रूरी अंग हैं और उनके हाथ में सत्ता भी है।

लेकिन हमारे विचार में आजकल के समाचार-पत्र शुद्ध आशीर्वाद नहीं हैं। आज के इस सभ्यताभिमानी युग के व्याधि-चिह्न भी वह हैं। उनकी शक्ति में जो सत्य है, उसे स्वीकार करके अपनाना चाहिए ; लेकिन इससे अन्यथा जो है, जो असत्य है, पत्र के जीवन में सदा उसके प्रलोभन से बचकर चलना चाहिए। नहीं तो जो पत्र लोक-जीवन के निर्माण में और उत्थान में मदद दे सकता है, वही, लोभ में फँसने पर, घातक बन सकता है।

'हंस' के संचालन में जान-बूझ कर यह निश्चय किया है कि अपने शब्दों की साख के बल पर ही उसे जीने की कोशिश करनी होगी, उसी के बल पर उसे पाठकों की अधिक-से-अधिक संख्या पानी होगी। इसके अतिरिक्त और किसी भी हलके उपाय से वह काम नहीं ले सकेगा। इस भाँति जान-बूझकर वह विज्ञापन-दाताओं की कृपा से वंचित रहने को उद्यत रहेगा।

इसमें भारी हानि दीखती है। दीखता है, ऐसे शायद पत्र का जीवन भी दुर्लभ बन जायगा। पैसा कहाँ से आयगा ? दिखावे से दूर रहकर ग्राहक भी बनने से रहे। क्या दीखता नहीं है कि अच्छी साहित्यिक पुस्तकें कितनी बिकती हैं ? हज़ार दो हज़ार का एक-एक संस्करण बरसों रखा रह जाता है। यह तो हिन्दी में अच्छे साहित्य की बिक्री का हाल है। अच्छे-अच्छे मासिक-पत्र बढ़िया लेख देते हैं, चित्र देते हैं. विज्ञापन लेते हैं। कसर वे क्या बचा छोड़ते हैं। लेकिन फिर भी वे टोटा दे रहे हैं। ऐसी हालत में यह सरासर ग़लती नहीं तो क्या है, कि आप चित्र न दें, विज्ञापन न लें, फिर भी पत्र निकालें ; तिस पर आशा करें कि वह पत्र चल जायगा !

पर आशा हमें है। आशा से अधिक विश्वास तक है कि पत्र को चलना चाहिए। और अगर नहीं चलता है तो हमारी समझ में नहीं आता है कि वह क्यों मर तक न जाय। जीवन या तो सार्थक हो, चाहे फिर वह स्वल्प ही क्यों न हो। अगर वह जीवन अनर्थकारी है,

तो ऐसे जीने से क्या फ़ायदा! उससे मौत ही भली। इसलिए हम यह मानते हैं कि इस भाँति यदि 'हंस' का जीवन सम्भव नहीं बन सकेगा तो उचित है कि वह मर जाय। लेकिन ऐसा जिस रोज़ होगा, वह रोज़ हिन्दी के अभाग्य का भी होगा।

इसी तरह के विचार रखने के कारण और उस पर अनुगमन करने की सुविधा की प्रतीक्षा में इन कुछ महीनों में 'हंस' के अंक निकलने में देर होती गई है। दो-एक अंक इसी दुविधा में दुबले भी रह गये हैं। लेकिन अब आगे किसी ऐसे कारण की आशंका नहीं है। अब वे पुष्ट, समर्थ और यथा समय निकलेंगे।

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस, बनारस।

HANS : Regd. No, A. 2038.

सितम्बर १९३७

प्रेमचन्द के समस्त कृतियों की (सरस्वती प्रेस तथा दूसरे प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित) सूची—

उपन्यास

सेवासदन	२॥)
प्रेमाश्रम	३॥)
वरदान	१)
प्रतिज्ञा	१॥)
रंगभूमि [दो भाग]	५)
ग़बन	३)
कर्मभूमि	३)
निर्मला	२)
गोदान	४)
कायाकल्प	३)
मंगलसूत्र [अन्तिम अपूर्ण]	१)

कहानियाँ

सप्तसरोज	॥)
प्रेमपचीसी	२॥)
प्रेमपूर्णिमा	२)
नवनिधि	॥।)
प्रेमप्रसून	१=)
अग्निसमाधि	१।)
प्रेरणा	१।)
प्रेमतीर्थ	१॥)
पाँच फूल	॥।)
कफ़न	२)
समरयात्रा	१)
मानसरोवर [भाग १]	२॥)
[,, २]	२॥)
[,, ३] [प्रेम प्रतिमा और प्रेम प्रमोद]	२॥)

नाटक

कर्बला	१॥)
संग्राम	१॥।)
प्रेम की वेदी	॥।)

अनुवाद

टाल्स्टाय की कहानियाँ	१।)
सुखदास	॥=)
अहंकार	१)
न्याय	२।)
हड़ताल	२)
चाँदी की डिबिया	१॥)
आज़ाद कथा [हास्य]	४॥)
पिता के पत्र पुत्री के नाम	१॥)
सृष्टि का आरम्भ	॥।)

बालोपयोगी

कुत्ते की कहानी	॥।)
जंगल की कहानियाँ	।=)
राम चर्चा	२)
मनमोदक	॥।)

संकलन

गल्प-समुच्चय	२॥)
गल्प-रत्न	१)

जीवनी

महात्मा शेखसादी	॥)
दुर्गादास	॥)
	७६।=)

'हंस' के ग्राहकों को २ अमूल्य सुविधाएँ

(१) कमीशन २५) सैकड़ा १६॥।-)॥
कुल ५६॥)॥
रजिस्ट्री—।)॥
५६॥।-)

(२) रेल खर्च माफ़

किन्तु—(१) हर एक दशा में सेट का पूरा मूल्य अडवांस में मनीआर्डर से आना चाहिये ; वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

(२) ग्राहक नम्बर अवश्य दिया जाना चाहिये।

पता—सरस्वती-प्रेस, [प्रकाशन विभाग] बनारस।

हंस

सितम्बर १९३७ वर्ष—७ : अंक—१२ भाद्रपद १९९३

अभिसार

[एडवर्ड कारपेंटर]

निरभ्र ग्रीष्म प्रभात में, पहाड़ी भूमि के ऊपर, दस मील, घास भरे ढालों पर और फूलते हुए गेहूँ के खेतों के पास से,

और जल-सोतों के ऊपर से, वह डग बढ़ाये चला जाता है—

एक नवयुवक, दुबला-पतला, उत्कंठित नेत्रों सहित, अपने हाथ में फूलों का एक बड़ा गुच्छा लिये ।

बड़े-बड़े गुलाब, लाल और सफेद कुटिया के बगीचे में चुने हुए ।

और मधुर गंधमय 'लैन्डस्लव' और शोख़ गेंदा और 'मिग्नोनेट' और नरगिस,

सब के सब छलछलाती आँखों की क्षीण-दृष्टि में काँपते हुए, और सुगंधित स्मृतियों के वातावरण में डूबते हुए—

भरे हृदय सहित वह ले जा रहा है ;

और जाते-जाते अपनी अन्तरात्मा मे उसे बुला रहा है, जिसे वह इतना प्यार करता था—

संसार की अन्य सब स्त्रियों से अधिक प्यारी—उसकी माता, जिसने उसे कोख में धारण किया था ।

अन्ततः वह नगर के निकट पहुँचकर, कब्रिस्तान में,

बनी हुई उसकी क़ब्र पर उन्हें श्रद्धा-पूर्वक चढ़ा देता है । और यही उसके अभिसार का ध्येय है । यही वह ध्येय है जिसकी पूर्ति के लिए उसने छलछलाती आँखों सहित छोटे-से बगीचे मे फूल चुने थे, जिसके लिए वह पहाड़ी भूमि पर दौड़ा आया ।—

बस यही—इसका अर्थ क्या, इससे लाभ क्या ?

वहाँ क़ब्र के अन्दर, सचमुच ही, एक आकारशून्य, पहचान न पड़नेवाली ढेरी, उसकी देह, पड़ी हुई है, जिसका शिरोभाग एक ओर ढुल गया है—

इस संसार से बिदा हुए उसे तीन बरस बीत चुके हैं—न तो सुनती है, न देखती है, न कुछ भी समझती है, जड़-अचेतन किसी भी मिट्टी के ढेले के समान ।

जो फूल वह लाया है, वे धूप में । क़ब्र के ऊपर पड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं ;

चारों ओर अत्यन्त साधारण मटमैला दृश्य है—उजाड़ क़ब्रिस्तान, पत्थर, दीवारें, मकान ।—

इस सबसे लाभ क्या ? ये जड़ वस्तुएँ जो न देखती हैं और न सुनती,

वे जड़ ही वस्तुओं को क्या संदेश दे सकती हैं ?

फिर भी, वह सुनता है और देखता है ।

एक सहज-सरल बालक, बिन-सीखा, जो आचार और धर्म कहाता है, उसकी परवाह न करनेवाला,

वह देखता है और सुनता है, ऐसी-ऐसी बातें जो पंडितों से छिपी हुई हैं ;

वह त्रिकालातीत रूपों की झलक देखता है,

धर्म-पुस्तकों, मत-मतान्तरों और धर्म-मन्दिरों का उसे पता नहीं,

और आधुनिक विज्ञान जो कुछ जीवन और मरण और अणु-परमाणुओं के नृत्यों और द्रव्य के अपरिवर्तनशील नियमों के विषय में बखानता है,

और प्रोफ़ेसरों और विशेषज्ञों ने जो-जो अनुल्लंघनीय सीमाएँ और बाधाएँ अपनी कल्पना से ही बना डाली हैं—

उसके लिए इन सबका अस्तित्व तक नहीं ।

वह तो इतना ही जानता है कि वह आती है, जिसे वह प्यार करता है और पूजता है—

आती है और फूलों को स्वीकार करती है,

एक हलके कोहरे के रूप में धूप में उसके पास खड़ी हो जाती है, उससे आँखें मिलाती है और फिर उसे छूती है ।

और उसका हृदय अपनी गहराइयों तक काँप उठता है, जैसे वह फटा जाता हो ; फिर आँसू छलकने लगते हैं, पृथ्वी घूमने लगती है, सूरज टूक-टूक हो जाता है ।

पत्थर, मकान और ठोस आकाश विलीन हो जाते हैं, और कहीं अधिक आश्चर्य-पूर्ण वह आत्मा का स्पन्दन प्रकाश से अधिक वेगवान्, शब्द से अधिक शक्तिशाली, संसार के आर-पार सपाटा भरता है, चट्टानों और क़ब्रों को भेद जाता है और उसे (माता को) ईश्वर के चरणों तक पहुँचा देता है ।

[अनुवादक—रामकृष्ण ।]

मध्ययुग के सन्तों की सहज-साधना

[क्षितिमोहन सेन]

कबीर, दादू इत्यादि के मत से साधना सहज होनी चाहिये। प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम-साधना का कोई विरोध न होना चाहिये। आज की वैज्ञानिक भाषा में अगर कहना हो तो इस प्रकार कह सकते हैं—पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारों ओर वृहत्तर वार्षिक गति के मार्ग में अग्रसर कर देती है इसी प्रकार दैनिक जीवन शाश्वत जीवन को सहज ही अग्रसर कर देगा। सूर्य के चारों ओर वार्षिक गति के मार्ग में उसे खूब अच्छी तरह चलना है, यही सोचकर पृथ्वी यदि अपनी दैनिक गति बन्द कर दे तो उसकी सब गति ही समूल नष्ट हो जाय!

दैनिक गति के साथ शाश्वत गति का जो यह सहज योग है उसी को ये सन्त 'सहज पन्थ' कहते हैं। नदी के भीतर इन दोनों जीवनों का पूर्ण सामञ्जस्य है। नदी प्रति दंड, प्रति पल अपने दोनों किनारों पर अगणित कार्य करती चलती है और साथ-ही-साथ अपने को असीम समुद्र में निरन्तर निमज्जित कर रही है। उसका दंड-पल-गत जीवन उसके शाश्वत जीवन के साथ सहज योग से युक्त है। इसमें से एक को छोड़ने से दूसरा निराश हो जाता है। इसीलिए भक्त कबीर ने कहा है, 'संसार और गृहस्थ जीवन को छोड़कर साधना नहीं हो सकती है। साधना में किसी प्रकार की 'ऐंचा-तानी' अर्थात् खींच-तान नहीं है। साधना में दैनिक और नित्य लय में कोई विरोध नहीं है।'

कबीर ने यह सत्य समझा था, इसीलिए संन्यासियों के शिरोमणि होकर भी वे गृहस्थ थे। दादू भी वैसे ही थे। कबीर की वाणी में सहज-धर्म के सम्बन्ध में अनेक बातें भरी पड़ी हैं। इन संतों के मत से सहज-पंथ ही सत्यपथ है। भक्त सुन्दरदास ने अपने 'सहज आनन्द' ग्रंथ मे लिखा है—

सहज निरंजन सब में सोई। सहजै सन्त मिलै सब कोई॥
सहजै शंकर लागे सेवा। सहजै सनकादिक गुरु देवा॥
सोजा पीपा सहज समाना। सोना धना सहजै रस पाना॥
जन रैदास सहज कों बंदा। गुरु दादू सहजै आनन्दा॥

इस मत में हिन्दू-मुसलमान सम्प्रदायों में प्रसिद्ध बाह्य-आचार और नियम केवल व्यर्थ के आडम्बर हैं। इन सब बाह्य प्रक्रियाओं को छोड़कर आत्मा और परमात्मा के नित्य सहज-

योग में ही नित्य सहज ज्ञान और सहज आनन्द विराजमान है। नारद प्रभृति ऋषियों से लेकर कबीर, रैदास, दादू प्रभृति साधकों तक सभी सहजपंथ के साधक थे (सुन्दर-सार १११)। इसी-लिए दादू कहते हैं—नदी की तरह अपने को दैनिक और शाश्वत साधना के क्षेत्र में सहज ही छोड़ दो। साधना के लिए संसार के कृत्यों को बाधा देकर, रोककर शक्ति संचय करने न जाना क्योंकि ऐसा करने से वह कृत्रिम और मिथ्या हो जायगा। नदी की तरह सबको तृप्त करने के द्वारा ही नित्य सहज योग के आनन्द से भीतर ही भीतर पूर्ण हो उठो और परमानन्द लाभ करो। (दादू-माया के अंग १०४, १०६ साखी का सार-मर्म)

नाना प्रकार का कृत्रिम वेश बनाकर मनुष्य अपनी तपस्या दिखाना चाहता है। इसमें एक प्रकार की दीनता, वैराग्य और तपस्या प्रगट करने का भाव है। यह साधारण विलासिता से कहीं अधिक प्रचण्ड विलासिता है क्योंकि लोग समझते हैं कि इसमें सचमुच की दीनता और वैराग्य-साधना प्रगट हो रही है; किन्तु असल में उससे दीनता, वैराग्य और तपस्या का प्राणहीन, मोहपूर्ण आडम्बर ही प्रकट होता है। विलासिता के आनन्द से भी वह साधक को व्यर्थ के आडम्बर से भर देता है। साधक को वह दिन-पर-दिन व्यर्थ बनाता है। इसीलिए वह और भी भयंकर है। इसीलिए दादू कहते हैं—नाना प्रकार का वेश बनाकर सभी अपने को दिखाना चाहते हैं। अपने आपको मिटाकर जो साधना होता है उस ओर कोई जाता ही नहीं—

सब दिखलावैं आपकूँ नाना भेख बनाइ।
आपा मेटन हरि-भजन तेहि दिशि कोई न जाइ॥

(दादू, भेख-अंग, ११ साखी)

इस सम्बन्ध में दादू के शिष्य रज्जबजी ने बहुत अच्छा कहा है कि, 'योग के भीतर भी एक तरह का भोग रहता है और भोग के भीतर भी एक तरह का योग रह सकता है। इसी-लिए कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई-कोई तो वैराग्य में डूब मरता है और कोई गृहस्थ-जीवन में ही तर जाता है।

एक जोग में भोग है एक भोग में जोग।
एक बूड़हिं बैराग में इक तिरहिं सो गृह-भोग।

(माया मधि-मुक्ति अंग ४)

भगवान् नित्य निरंतन विश्व-सेवा में निरत रहते हैं। उनके उद्यम का अन्त नहीं। मनुष्य के लिए मुश्किल यह है कि उद्यम करने जाकर वह यंत्र की तरह चलने लगता है, जड़ की भाँति अपने को अभ्यास के अचेतन मार्ग में छोड़ देता है। यदि इस जड़ता से जागृत रहकर मनुष्य नित्य सेवा-निरत भगवान के साथ रहता और उद्यम करता जाय तो फिर उद्यम ही धन्य हो जाय। इसी उपलक्ष में उनकी संगति मिल जाया करती है और जिस प्रकार उनका संग मिल जाय वही परम साधना है। दादू कहते हैं कि उद्यम यदि कोई सचमुच करना जाने तो उद्यम का कोई दोष नहीं। साईं के साथ रहकर यदि उद्यम किया जाय तब तो उस उद्यम में ही आनन्द है—

ऊदिम औगुन को नहिं जे करि जाणै कोइ।
ऊदिम में आनन्द है जे साईं सेतिं होइ॥

(दादू, बेसास अंग, १० साखी)

सब प्रकार का जागरण ही सहज और सत्य भाव से होना चाहिये। अनेक समय फल-लोभी मनुष्य अपना स्वरूप न समझकर ही दूसरों को जगाने के लोभ से केवल उपदेश सुनाकर सारे जगत् को अविलम्ब जगा देना चाहते हैं। आत्मोपलब्धि करने के लिए इन्तज़ार करने की देरी यह सब आदमी नहीं सह सकते हैं। साधक लोग इन्हीं को 'काल-कृपण' कहते हैं। दादू कहते हैं—'एक अचरज यह देखा कि लोग आत्मतत्त्व को समझते नहीं, जाते हैं दूसरों को जगाने। ऐसा करके वे किस रास्ते जाते हैं?' (दादू, गुरु अंग ११८ वीं साखी)

आत्मोपलब्धि तो हुई हो नहीं, लेकिन बात बनाने आ गये। दो-चार पद या साखी रचना कर ली गई और फिर मन में ऐसा अनुभव होने लगा कि संसार में मैं ही तो एक ज्ञानी आदमी हूँ—

दादू द्वै द्वै पद किए साखी भी द्वै चारि।
हमको अनमय ऊपजी हम ज्ञानी संसारि॥

(दादू, साँच को अंग, ६४ साखी)

बहुतों के लिए यह रास्ता मृत्यु का रास्ता है, क्योंकि अपने विषय में अतिमात्र सचेतनता साधक को समूल नष्ट कर देती है।

जो साधक सहज-पथ में चलता है, वह खुद ही अच्छी तरह नहीं समझ पाता कि वह कितनी दूर तक अग्रसर हो चला है। परमात्मा में निमग्न होने के कारण वह अपनी बात भली-भाँति सोचने का अवसर ही नहीं पाता। अपने संबंध में 'अतिचेत' (over conscious) होना ही न-होने का लक्षण है। सहज-पथ के पथिक का लक्षण ही है—अपने विषय में अचेत रहना। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य खूब अच्छी तरह जानता है कि पृथ्वी पर बैठकर वह समझ ही नहीं सकता कि प्रचण्ड वेग में वह अग्रसर हो रहा है। लेकिन बैलगाड़ी के आरोही को पद-पद पर अपनी गति के सम्बन्ध में सचेतन रहना पड़ता है। उस युग के साधना-मर्मज्ञ इस बात को जानते थे। दादू ने कहा है—मनुष्य जब उड़कर चलता है तो कहता है कि रास्ते में ही हूँ; (राहगीर होकर साधना के मार्ग में चल रहा हूँ;) हे दादू! जो कहता है कि मैं पहुँच गया हूँ, मेरे ही रास्ते चलो, उसने कभी रास्ता देखा ही नहीं—

मानुष जब उड़ चालते कहते मारग माहिं।
दादू पहुँचे पंथ चल कहैं सो मारग नाहिं॥

(दादू, उपज अंग, १५ साखी)

ज्ञान की अपेक्षा अनुभव (realization) अधिक गंभीर बात है। जब किसी वस्तु को दूर रखकर, स्वातन्त्र्य को हटाये बिना ही देखा जाता है तब वह 'ज्ञान' होता है; और अपने को किसी भाव में निमज्जित करके आनन्द-रस में मँज जाने को 'अनुभव' कहते हैं। 'ज्ञान' खूब सुनिर्दिष्ट सीमा में बँधा हुआ है इसीलिए अपने को शब्दों से प्रकाशित कर सकता है; किन्तु 'अनुभव' अपने आनन्द-रस में अपनी सीमा खो देता है इसीलिए अपने को शब्दों के द्वारा कुछ भी प्रकट नहीं कर पाता। अनुभव के अनिर्वचनीय भाव से अनिर्वचनीय संगीत की सृष्टि होती है। भाषा वहाँ हार जाती है। इसीलिए दादू कहते हैं—ज्ञान-लहरा जहाँ से उठती है, वहीं वाणी का प्रकाश होता है। अनुभव जहाँ नित्य उत्पद्यमान है (जहाँ पर उसकी उत्पत्ति का

विराम नहीं, बीज से वृक्ष की तरह उसका जीवन्त-विस्तार जहाँ निरन्तर चल रहा है) वहीं संगीत ने वास किया है—(दादू, परचा अंग, २६ साखी)

उन्हीं में डूबकर सहज होना होगा। हम लोग खुद समझ-बूझकर बोलने जायँगे, वही कृत्रिम हो जायगा। भगवान् के निकट अपने को मिटा देने पर हमारे भीतर से जब वे अन्तर के भाव ढाल देते हैं तभी यथार्थ संगति उत्पन्न होता है। वंशी जिस प्रकार अपने को सूनी करके ही उनके निश्वास को बजा देने का अवसर पाती है, उसी तरह साधक अपने भीतर की अहमिका को लोप करके ही अपने को उनके संगति-प्रकाश का योग्य आधार बना देता है। दादू ने कहा है—

'तुम कुछ रचना मत करो, तुम्हारे भीतर होकर ही चलने दो उनकी रचना। तभी सत्य साखी और सत्य संगीत होगा।'

उनके असीम आनन्द में डूबने पर उनको स्वतंत्र करके जानने का सुयोग खो देना पड़ता है, तब अपार आनन्द का अनुभव मिलता है। आनन्द के उस अनुभव का प्रकाश तो वाक्य से नहीं किया जा सकता।

प्रकाशहीन वही भाव दिन-रात तब मन को भाराक्रान्त किये रखता है। अन्तर के भीतर वह प्रकाशातीत अपार पूर्णता ही वेदना की तरह निरन्तर मन को व्यथित करती रहती है।

पारन देवैं अपना गोप गुंज मन माहिं। *

(दादू, हेरान अंग १३ साखी)

---

* इसी व्यथा में संगीत का नित्य उत्स विराजमान है।

नीति के दोहे

[भ० भगवानदीन]

जल दीपकवत् जल, भले, जिससे होय प्रकाश
धुँआ न कर तू सुलग कर, कर न देह का नाश ॥ १ ॥
चमके चमकाये सुधी, ज्ञान प्रदीप जगाय
दीपक चमके आप ज्यों, औरन को चमकाय ॥ २ ॥
टिमटिमाय काटै अगर, क्या काटे सौ साल
काट चमक कर दस बरस, जैसे जरे मसाल ॥ ३ ॥
तू प्रतीत के तेल से जरा ज्ञान की ज्योत
चारित की चिमनी लगा, कर विशुद्ध उद्योत ॥ ४ ॥
कैसे समझे तू उसे, जो इक धुन में मस्त
उदय हो रहा रात्र हृदय उसका, तेरा अस्त ॥ ५ ॥
अपने को जाने सदा, तू अपने को भूल
पृथ्वी को भूले बिना, नभ नहिं चढ़ती धूल ॥ ६ ॥
गो गीता के दुग्ध तू, बछड़ा बन ही लेय,
लठमारी पाँसे नयह, नहीं पसेरी देय ॥ ७ ॥
बड़ा अटल घबराय नहिं, ओछा उर उफनाय ।
दूध उफनता, घी नहीं, चाहे सब जल जाय ॥ ८ ॥
महापुरुष के साथ रह, लघु बढ़कर बतराय ।
जल ज्यों घी के साथ रह, दूना शोर मचाय ॥ ९ ॥
संगठितों का एक ही, लाखों लेय मिलाय
फुटक दही की एक ही, सेरों दूध जमाय ॥ १० ॥
हँसे पड़ौसी आप ही, देख-देख करतूत ।
पिता पुत्र में सूत नहि, चले बाँधने भूत ॥ ११ ॥

युवापने में धर्म का, कर जाओ कुछ काम
बूढ़े होकर क्या करो, चुसे चुसाये आम ॥ १२ ॥
टक्कर लेहीं पाप से, संत महंत अरु पंथ,
यदि नहिं लें तो व्यर्थ, ज्यों बस्तन बँधे गिरंथ ॥ १३ ॥
खंडित है पंडित नहीं, जो नहिं सत्य बताय
आग राख है जब न वह, चमके या चमकाय ॥ १४ ॥
छोटे हो तो डर नहीं, जो तुमको निज ज्ञान
छोटा गज तो नाप दे, लम्बे-लम्बे थान ॥ १५ ॥
दुःख अग्नी गिर फूलते, वीर देह को भूल
रोटी गिर ज्यों आग में जाती दुगुनी फूल ॥ १६ ॥
दो कौड़ी का आदमी, वर्दी में टर्राय
पोली, पर बजने लगे, ढोलक जब मढ़ जाय ॥ १७ ॥
मालिक नौकर की सदा बुद्धी रखते मंद,
तेली जैसे बैल की आँखें रखता बंद ॥ १८ ॥
पैसा दे, कुछ चाहता ; शिक्षा दे बेलाग।
हँसता तुमसे द्वेष है, रोता तुमसे राग ॥ १९ ॥
ऊँचे होकर ही रहें, जो नबि चलत सदीव
ऊँची जायँ हवेलियाँ, जिनकी गहरी नींव ॥ २० ॥

बहता फूल

[उषादेवी मित्रा]

नर्मदा नदी उस दिन अपने मन की बात संगीत में प्रकाश करने लगी। कदाचित् वह उसका गान न हो, रोदन हो, या तो मिटती हुई सृष्टि के लिए करुण विलाप हो, या जो कुछ रहा हो ; परन्तु बात यह है कि उसके उस रोदन या गान से उसका तन फूल रहा था और फूलता चला जा रहा था। अन्त तक वह फट पड़ी और उसके तट पर बसा हुआ मड़ला शहर एक दम विमूढ़ हो रहा। उसे सोचने-विचारने का समय भी तो नहीं मिला।

उस जल-स्तम्भ के नीचे असहाय शिशु की भाँति मड़ला मर मिटा—मर मिटा। न कहीं घर-मकान का चिह्न, न कहीं ज़रा-सी हरियाली ; जीव जन्तु की आहट भी नहीं। ऊपर बादलों से घिरा आकाश और नीचे जल। जल और जल, अथाह जल। जन-सेवक सचेत हुए। बाढ़-पीड़ितों की सहायता की पुकार चहुँओर गूँजने लगी।

उस बाढ़ को देखने के लिए जबलपुर शहर नर्मदा-तट पर उमड़-सा पड़ा। किन्तु कहाँ नर्मदा और कहाँ नर्मदा का तट। चहुँओर अथाह जल।

सिरीराम बढ़ई का पिता भूराराम भी दो चार साथियों के साथ बाढ़ देखने चल पड़ा। पत्नी लखिया के टोंकने पर कह दिया—चार-छः घण्टे मैं घर पर न रहूँगा तो क्या हुआ सिरी तो है। वह मिस्त्रियों का काम देखेगा। फिर वाद-प्रतिवाद की प्रतीक्षा किये बिना ही वह चल पड़ा। भूरा के मन में कुछ तो बाढ़ देखने की लालसा थी कुछ थी पाने की। एक बार उसे बाढ़ से एक क़ीमती लकड़ी मिल गई थी, जिसकी उसने आलमारी बनाकर ज़्यादा दाम पर बेंच दी थी। और एक लकड़ी का ढोल बनाया था जो कि घर में रखा है, औसर-काम में निकाला जाता है। वैसी ढोलक शहर में है भी एक।

पहुँचते-पहुँचते भूरा पहुँच ही तो गया। संध्या हो चुकी थी। देखनेवाले प्रायः लौट चुके थे।

जल देखकर वह और उसके साथीगण चकित हो रहे थे। ऐसी बाढ़ उन लोगों ने जीवन में नहीं देखी थी। तो भी जल उतार की ओर रहा, बढ़ते समय जाने कैसा रहा होगा।

'अरे बापरे !'—कहता अचानक भूरा पीछे कूदा।

'क्या है—क्या है ?'—कहते सब पीछे ही रह गये।

'मुरदा !' बोला भूराराम और फिर ज़रा सामने हटकर उसे देखने भी लगा।

'चलो-चलो, लौटो भूरा भाई!'—सब लोग कहने लगे।

उन सब की बातें अनसुनी-सी कर भूराराम वहीं पर बैठकर हिला-हिलाकर शव की परीक्षा करने लगा—कैसी अच्छी लड़की है। अरे भैया मरी नहीं है। देखो तो!

परन्तु साथी दूर ही खड़े रामनाम जपने लगे। भूरा ने न द्विविधा की न संकोच। उस बेसुध लड़की को हाथों पर उठा लिया, फिर चुपचाप चलने लगा। रेल के पुल को पार करने के बाद ताँगा मिल गया। किराये पर ताँगा लेकर भूराराम बैठ गया, कुछ साथी और बेसुध लड़की भी उस पर रहे।

घर पहुँच कर आनन्द-अधीर स्वर से भूराराम चिल्लाने लगा—अरे सुन तो सिरिया की माई, दौड़ जल्दी, दुलहिन को सँभाल आकर।

लखिया दौड़ी-दौड़ी आई और उस अर्द्धमृत शरीर को देखकर स्तब्ध रह गई।

'खड़ी क्या ताक रही है? पानी—पानी ला। बच्ची के मुँह पर छिड़क, अभी होश में आजावेगी।'

लखिया झुँझलाई—कहाँ से मुर्दा उठा लाये हो? अब जलाओ जाकर, मैं भी देखती हूँ जलाने का ख़र्च, ताँगे का किराया कौन देता है।

परन्तु यह सब सुनता कौन? अपनी खुशी में मस्त भूराराम लड़की को लेकर भीतर चला गया, चारपाई पर सुलाकर उसके हाथ-पैर सेंकने लगा। और जब धीरे-धीरे लड़की ज़रा हिलने लगी तब लखिया का असन्तोष बिल्कुल ही जाता रहा। उसने लपककर दूध गरम किया और उसके मुँह में डालने लगी। सिरीराम भी पहुँचा और भावी पत्नी का रूप देख-कर आनन्द-विभोर हो गया। उस बाड़े के प्रायः सब व्यक्ति एकत्रित हो गये और उस अचेतन शरीर में जीवनी लाने की चेष्टा करने लगे। बाड़ा बड़ा था। उस बाड़े में कई घर गृहस्थ रहते थे। उन सबके भीतर भूराराम की अवस्था अच्छी थी। तीन कोठे, दालान, थोड़ा-सा आँगन उसने किराये पर ले लिया था। कई बढ़ई नौकर रखे थे। अच्छे-से-अच्छा काम वह करता था। परिवार छोटा था। वह, पत्नी और युवक पुत्र सिरीराम। बस तीन व्यक्ति थे। बाड़ा था हरिसिंह का। बाड़े के सामने द्वितल अट्टालिका में हरिसिंह का स्त्री-परिवार रहता था। काम-काज के अवसर पर उस घर की स्त्रियाँ खिड़की पर खड़ी बाड़े की ओर देखा करतीं। उन दुखी अशिक्षितों के आचार, नियम, काम-काज को देख-देख कर शायद परिहास से हँसतीं, शायद दया से नेत्र भर उठते, या तो उनकी कठोर समालोचना करतीं; किन्तु इन सब बातों के लिए बाड़े में रहनेवालों के मन में न उत्सुकता थी न सन्तोष-असन्तोष। वे सब अपने-आप में मस्त रहते। नाच-रंग, काम-काज, मार-पीट चलता रहता। हाँ, यदि कभी किसी बहू की दृष्टि ऊपर की ओर उठती तो ज़रा-सा घूँघट ज़रूर काढ़ लेती और बस।

उस दिन भी अट्टालिका की खिड़की खाली न थी। कौतुक, उत्कण्ठा से स्त्रियाँ खिड़की पर खड़ी उस मृतप्राय लड़की को निहार रही थीं।

(२)

पुष्प ने आँखें खोलीं। उसे कुछ भी स्मरण न आया। लगा—मानो एक स्वप्न उसे चहुँ ओर से जकड़े हुए है। कभी वह स्वप्न उसे जल का एक बुद्बुद् बना देता है, कभी मीन-सुन्द-रियों से परिचय कराने को उत्सुक होता है, कभी जल की चादर पर उसे थपकियाँ दे-दे कर सुलाने के लिए उत्सुक होता है और कभी यमदूतों के हाथ पर उसे समर्पित करता है।

पुष्प को आँख खोलते देखकर बाड़ेवाले हल्ला कर उठे—है, है, अभी है। अभी आँखें खोली थीं।

पुष्पलता ने ज़ोर से आँखें दबा लीं, जाने कैसा विचित्र स्वप्न है। वृद्ध पिता के आहार के बाद उसने भोजन कर लिया था और फिर सो गई थी। उसके बाद ही से तो स्वप्न आरम्भ हो गया। एक गर्जन-सा कुछ रहा और फिर स्वप्न—स्वप्न। उस गर्जन का पेट चीर कर निकल पड़ा—भीषण, भयानक, अद्भुत सपना। जल के तल-देश में वह चली गई। वहाँ जाने कैसे-कैसे विचित्र जीवों को उसने देखा और दूसरे पल मानो ऊपर किसी ने उसे फेंक दिया। जल में वह डूबने लगी। श्वास रुक गई। फिर एक सहारा-सा उसे मिला, कोई चीज़ मिल गई, कठिनाई से उसने उसे पकड़ लिया। बस। फिर बीच का कुछ स्मरण नहीं। अब तो यमदूत उसे घेरे खड़े हैं।

अचानक पुष्प को लगा—वह मर गई है और यमदूत उसे ले जाने को आये हैं। कैसे मज़े में उसके दिन कट रहे थे। माँ को तो वह जानती न थी, न और किसी को। पिता और वह। दोनों आराम से रहते थे। मैट्रिक की परीक्षा उसने दी थी। रिज़ल्ट अभी निकला न था। पिता उसे बहुत चाहते थे, कैसा प्यार किया करते थे। पिता की बात याद आ जाने से उसे रोना आ गया। उन्हें छोड़कर वह कैसे रहेगी? पुष्प रो पड़ी—रो पड़ी।

अत्यन्त दया से लखिया कहने लगी—रोती क्यों है बिटिया। घबरा मत, मैं तुझे बहू बना लूँगी। मेरा सिरिया अच्छा रहे, तुझे दुःख काहे का।

पुष्प अवाक् रही—यह तो मनुष्य की तरह बोलते हैं, मनुष्य-से लगते हैं।

भूराराम खिसियाना—लगी हाय-हाय करने। पहले उसे खाने-पीने को तो दे दे, फिर बहू बनाना। अभी तो कह रही थी, सड़ा मुरदा उठा लाये हो और अब बहू बनाने बैठ गई।

लखिया क्या जवाब देने में कम थी! कहने लगी—कौन बनाता है उसे बहू? मेरा सिरिया-सा लड़का बिरादरी-भर में है कहाँ? बिरादरी वाले मुँह बाये बैठे हैं कि कल उसे दामाद बनावें। सिरिया के लिए अच्छी-से-अच्छी लड़की है। जाने कहाँ से मुर्दा उठा लाये, जात-पाँत का कुछ ठिकाना नहीं।

'बस-बस चुप रह। रहने दे अपनी जात-पाँत। मैं तो इसीको बहू बनाऊँगा। ऐसी खूबसूरत लड़की है भी बिरादरी-भर में। कच्चो-पक्की रोटी देकर बिरादरी में मिल जाऊँगा।'

'मैं परजात के घर काहे लड़का ब्याहूँ?'

'चुप रह, बकवाद मत कर। इसे खाने-पीने को दे। अरे सिरीराम, जा तो बेटा, दुकान से एक लाल चुनरी लेता आ। हलके मोल की न लेना।'

किसी ने कहा—क्या करते हो चौधरी, बड़े घर की लड़की जान पड़ती है। माँ-बाप का पता पूछकर इसे घर भिजवा दो।

'किसके घर भेजूँ? क्या इसके माँ-बाप, कुटुम-परिवार कोई बचे होंगे? सुना नहीं, मड़ला शहर बाढ़ में डूब गया। वहीं से यह बहकर आई है। न मानो इसीसे पूछ लो।'

पुष्प एक दम चिल्लाकर रोने लगी।

(३)

परन्तु मनुष्य का एक समय ऐसा भी आता है जब कि वह सब कुछ सह लेता है। रोते-विलपते किसी तरह पुष्प ने भी सह लिया। एक दिन उसने जाना कि उसके अपने लोग बाढ़ में बह गये। बाप, छोटा भाई और वह—बस तीन प्राणी तो थे ही, अब शेष बची वह। चलो छुट्टी मिली।

भूराराम जैसे अपढ़, नीच जाति के साथ रहते उसकी आत्मा संकुचित होती थी, किन्तु फिर भी करती क्या ?

इस निराले चाल-चलन, रहन-सहन में आकर वह एक दम घबरा उठी। उसे लगता, घुट-घुटकर रुक-रुककर उसकी श्वास चली जायगी, चली जायगी। उस पर विवाह की बात उसे और भी खाये जा रही थी।

भूराराम का परिवार उसके साथ बहुत ही सदय व्यवहार करता, वह चुनरी पहनती, कुरता पहनती और उनके साथ बैठकर बातें करती। सिरीराम एक भक्त की भाँति उसका मुँह निहारता। लखिया उसकी देह पर उबटन मलती। और पुष्प ? वह सिरीराम के साथ प्रभु-भृत्य-सा व्यवहार करती। सबके कपड़े सी देती, चिट्ठी-पत्री बाँच देती डरता-डरता सिरीराम कहता—मुझे अँगरेज़ी पढ़ा देगी, बिपती ?—

वह अवज्ञा से मुँह फेर लेती। अपने उस नूतन नाम बिपती पर विद्रोह करने को खड़ी हो जाती; किन्तु फिर भी रुकती। मन उसका द्वितल की खिड़की पर लगा रहता। धनी युवक हरिसिंह वहाँ आकर खड़ा हो जाता और वे एक दूसरे को देखते रहते।

शादी की तैयारियाँ हो चुकी थीं। सिरीराम फूला न समाता था। पुष्प उसकी पत्नी होगी। पुष्प का जी क्रन्दन से भर उठा। सब कुछ तो वह सहती चली आ रही है; किन्तु इस असम्भव बात को वह कैसे सह ले। आँगन में पैर फैलाकर वह रोने बैठ गई। बाड़े की स्त्रियाँ उसे धिक्कारने लगीं। ऐसे समय हरिसिंह बीच में आकर खड़ा हो गया, ऊपर की खिड़की पर स्त्रियों की भीड़ लग गई।

हरिसिंह ने कहा—कैसा अन्धेर कर रहे हो चौधरी ? ज़बरदस्ती किसी की शादी करनेवाले तुम कौन होते हो ? दूसरे ज़ात की लड़की पर अत्याचार करना, बहू बनाना ! नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

भूरा तनकर खड़ा हो गया—मैं उसका सब कोई होता हूँ। मुर्दा उठाकर जब चला था तब कहाँ थे आप लोग ? तब कोई खड़ा न हुआ। बही चली जा रही थी। मैं उठा लाया, फिर मैं उसका अधिकारी कैसे न हुआ ?

बात बढ़ गई। और दोनों ओर लाठी तन गईं। सिरीराम ने हाथ उठाया—ठहरो ! जरा मेरी भी कुछ सुन लो।

'कहो, क्या कहना चाहते हो ?'

'बिपत अगर खुशी से जाना चाहती है, अगर वह शादी से नाराज है, तो उसे इनके साथ जाने दो दादा, क्यों रोकते हो ?'

पुष्प ने कृतज्ञ नेत्र उठाये। भूरा तमतमा रहा और लखिया ने अपना सिर पीट लिया—मैं अपनी बहू को पराए के घर क्या जाने दूँ ?

सिरीराम म्लान हँसी हँसा—बहू ? ऐसी औरत को लेकर मैं क्या करूँगा भाई ?

'क्या बोला सिरिया ?'

'साफ़ तो कह रहा हूँ। जो औरत हम से मुँह फेरे रहे, हम पर जुल्म करे, ऐसी को लेकर मैं क्या करूँगा ? वह मेरे काम की नहीं है।'

पुष्प अवाक् रह गई। यह अशिक्षित कहता क्या है ! वह उसके काम की नहीं ? तो पुष्प अब तक यही जानती थी, यही विश्वास था कि शादी में आपत्ति केवल उसी की ओर से उठ सकती है। उसे पाकर तो वह लोग कृतार्थ हो जायँगे। बस यही तो था वास्तविक न ? फिर

बीच में से यह कैसे क्या हो गया ? एक भृत्य-तुल्य व्यक्ति भी उसके पत्नीत्व को अस्वीकार कर गया, और ऐसे—अनायास !—पुष्प का आत्मसम्मान क्षुब्ध होने लगा। उसका अभिमान धूलि में लोटकर सिर पीटने लगा।

अन्ततः उसे लेकर हरिसिंह घर चला गया।

हरिसिंह की माँ-बहन प्रसन्न हुईं। कहने लगीं—हमारे जात की लड़की है। अच्छे से अच्छा लड़का मिल जायगा। अच्छा किया जो इसे उन चमारों के हाथ से छीन लाये। बढ़ई का काम सीख लिया तो भूरा को घमण्ड हो गया। अब तो देख-सुनकर हरि इसकी शादी कर डालो।

छोटी बहन कह उठी—देखने-सुनने को क्या है ? भैया तो हैं ही। यह भाभी बन जायँगी। अम्माँ, तुम भैया से शादी कर दो।

हरिसिंह मुस्कराने लगा। और पुष्प की लजीली आँखें नीची हो गईं।

(४)

पुष्प के दिन सुख से कट रहे थे। सुन्दर वस्त्र पहनती, हारमोनियम बजाती, सज-धजकर मोटर पर घूमती। खिड़की की ओर जब कभी झाँकती तो उसका मन जाने कैसा उदास हो जाता। लखिया बैठी गेहूँ बीना करती, भूरा आरी चलाया करता, और सिरीराम ? नहीं, वह कभी भूलकर भी खिड़की की ओर नहीं देखता। पुष्प थी सुख से। बस केवल रात उसे बड़ी उत्कण्ठा, भय से काटनी पड़ती। हरिसिंह रात में जब शराब पीकर आ जाता था तो धूम मचाने लगता था।

कई महीने बीते। पुष्प नित नवीन आशा से प्रभात की प्रतीक्षा करती; किन्तु उस दिन के बाद कभी उसने शादी की चर्चा न सुनी।

अचानक एक दिन उसने कुछ बातें सुन लीं। हरिसिंह की बहन माँ से कह रही थी—पुष्प की शादी भैया से कर दो अम्मा।—माता कठोर स्वर से कह उठी—पागल हुई है ? पानी में बहकर आई लड़की कहीं इस घर की बहू बन सकती है ? वह कहती है तो क्या हुआ। मैं कैसे मान जाऊँ कि वह धरमसिंह की लड़की है। हरि की शादी यमना की बहन से करूँगी।।

'तो यह कहाँ जायगी माँ ?'

'सो मैं क्या जानूँ ? देखा जायगा पीछे। यदि कोई ग़रीब शादी कर ले तो हो जायगा।'

'परन्तु मैं कहे देती हूँ, भैया इसके सिवा दूसरी से शादी न करेंगे।'

'चल, चुप रह। मेरी बात के ऊपर बात करनेवाला वह कौन होता है ? यदि हुआ तो एक रखैल-सी वह रह जायगी। बस।'

'वेश्या बनकर रहेगी पुष्प ? माँ क्या कहती हो ?'

'चुप-चुप।'

पुष्प सिहर उठी। इसके बाद ही से माता हरिसिंह की शादी की जल्दी करने लगी। लड़की सुन्दरी थी।

हरिसिंह ने सब कुछ सुना और चुप रह गया।

पुष्प उस दिन स्कूलों में घूमती फिर रही थी नौकरी की तलाश में। भटकती फिरने लगी। सब स्कूलों में ज़रूरत थी ग्रेजुएट की। सर्दी, धूप में वह मारी-मारी फिरने लगी। जब कहीं कुछ नहीं मिल सका तो उसने अपनी अंगूठी बेच डाली और बाज़ार में पान की दूकान खोल ली। बैठने की देर थी कि दूकान पर भीड़ लग गई।

पैसों की वर्षा-सी होने लगी; परन्तु उन पैसों को छूते—जिनके साथ कितनों के कुत्सित हास-परिहास जड़ित रहते—उन पैसों को छूते—उसका जी छोटा पड़ जाता।

वहाँ से, हरिसिंह के घर से पुष्प भाग तो आई, किन्तु अब करे क्या, जाय कहाँ? और फिर वहाँ से भागती नहीं तो करती क्या? वहाँ वह रह ही कैसे सकती थी? हरिसिंह की शादी थी, बस उसी रात वह भागी। नहीं नहीं, वह और कुछ नहीं देख सकती थी, नहीं देख सकती थी। तो, जब उस घर में शहनाई मिलन-गीत अलापने में लगी थी तब पुष्प अपने विच्छेद-कातर, व्यथा से भरे हृदय को लेकर अपने ही अनजान में भाग निकली।

जब कहीं कुछ नहीं हो सका तो दूकान खोल बैठी; परन्तु दुकान पर बैठना उसके लिए कठिन ही नहीं वरन्, एक प्रकार से असम्भव-सा हो गया। उस लालसापूर्ण कुत्सित दृष्टि के नीचे वह भय, आतंक से काँपने लगी। आँसू से उसकी श्वास भारी हो गई। विचारने लगी—इतनी बड़ी दुनिया में क्या उस अभागिनी के लिए मुट्ठी-भर चना भी नहीं है?

एक व्यक्ति कह उठा—रँगीली पानवाली, क्यों मुफ़्त में मिहनत करती हो? तुम्हें कमी किस बात की है? मेरे घर चली चलो, मैं तुम्हें सिर-माथे पर रखूँगा।

पुष्प रो पड़ी—रो पड़ी, सिसक-सिसककर वह रोने लगी। ठीक उसी समय किसी बलिष्ट हाथ के प्रहार ने उस व्यक्ति को धराशायी कर दिया। विस्मित पुष्प ने सिर उठाया।

सिरीराम को उस व्यक्ति की छाती पर चढ़ा पाया। भीड़ लग गई। सिरीराम उठा, अपने शरीर की धूलि झाड़ी, बोला—अब सावधान रहना। इतने ही पर इस वक्त छोड़े देता हूँ। फिर आगे कभी ऐसा हुआ तो धरती में तुम्हें गाड़ दूँगा। फिर एक सम्राट्-सा अकड़ता चल दिया। लौटकर उसने पुष्प की ओर देखा भी नहीं।

लोगों के पूछने पर सिरीराम मिनट भर के लिए रुका, बोला—जो औरत हमें जन्म देती है, उसी का यह नीच अपमान कर रहा था तो मैंने ज़रा-सी सज़ा दे दी।

दूसरे दिन से पानवाली दुकान पर बैठी न मिली।

प्रभात होने में देर थी। रात अँधेरी नहीं, उजेली थी। और उस उजेली रात में सिरीराम के द्वार पर आकर खड़ी हो गई पुष्प। धक्का दिया। आहट पाकर सिरीराम उठा। आँखें मलता बाहर निकल आया।

पुष्प को देखा, सहज स्वर से बोला—अभी तक जाग रही हो बिपती! जाओ सो रहो, मैं बाहर पड़ रहूँगा।

वह ऐसे बोला मानो पुष्प उसकी आजन्म परिचिता हो और जन्म-जन्मान्तर से वह दोनों साथ रहते आ रहे हों, बीच में कहीं कुछ हुआ ही न हो।

पुष्प अवाक् रही। बार-बार वह रोमाञ्चित होने लग गई—ऐसे उदार, स्नेहशील को वह नीच जाति के, अपढ़, असभ्य के विचार से, घृणा से दूर हटाये बैठी थी?

पुष्प ने कहा—सोने के लिए मैं नहीं आई हूँ।

'क्या अभी चली जाओगी? कहना है कुछ?'—उसने पूछा।

'जाऊँगी कहाँ? दुनिया के किसी कोने में तो जगह न मिली। तुम्हारे द्वार पर लौट आई हूँ। मेरे लिए थोड़ी-सी जगह होगी यहाँ?'

'घर तो तुम्हारा यही है बिपती। इस घर में अगर तुम्हें जगह न मिल सकेगी तो मुझे ही कैसे मिल सकेगी?'—सिरीराम शान्त स्वर से बोला।

गहरे विस्मय से पुष्प ने उसे देखा और फिर देखा। इसके बाद धीरे-धीरे भीतर चली गई।

और कोई नहीं, प्रेमी ही जान पाता है

[एडवर्ड कारपेंटर]

और कोई नहीं, प्रेमी ही अन्ततः जान पाता है, मृत्यु क्या है ?

• • • •

अपने शरीर को धरती को दे डालना, पेड़ों की जड़ों द्वारा ऊपर उठना, और फिर धूप का आनन्द लूटना—पत्तियों के रूप में हवा में तैरते हुए ;

पहाड़ों के निर्जन पार्श्वों पर, काइयों और दलदली पौधों के सङ्ग महीनों ताक में बिता देना, वनों में साँप की चितकबरी छतरियों के नीचे दुबके रहना, और आते-जाते यात्री को निहारना ;

वसन्त में शाहबलूत की शिराओं में उन्मत्त वेग से प्रधावित रस के साथ खिंचे चले जाना, और उसकी बड़ी-बड़ी उज्ज्वल कलियों के रूप में फूट निकलना ;

जीवन-संकुल पृथ्वी के अंतस्तल में जो आश्चर्यपूर्ण विचार, जो सवेग-धावमान, भविष्य-आभास-रूप स्वप्न प्रवाहित होते रहते हैं, उनकी झाँकी पाना—जैसे स्वप्न में देख रहे हों ;

नए और विचित्र रूप में जीवन की प्रेरणा अनुभव करना !

• • • •

जागना और उठ बैठना ;

धरती पर विचरते हुए पशुओं से घुल-मिल जाना ;

उनसे एकाकार हो जाना और उनको अन्तस्थ भी पाना—स्वेच्छा-पूर्वक वही रूप धारण कर लेना जो वे अबोध दशा में धारण किये हैं ;

दक्षिणी दीवार से चिपटे हुए दो अबाबीलों में से एक होना, चहचहाते हुए घोंसले का स्थान निश्चय करते हुए, कुंडली बाँधे चट्टान पर बैठा धूप-सेंकता साँप होना ;

अपने वेग और शक्ति, अपने स्वभाव और स्वभाव-नियत कर्म में आनन्द लेना ;

नर-नारियों के शरीरों में प्रविष्ट हो जाना, उनके केश-पाश के रूप में सज्जित होना, और उनकी आँखों में से बाहर ताकना-झाँकना ;

उनके अन्दर चिर-अभ्यस्त आदतें बनना, उनके मुख में मधुर भोजन बनना, कड़वा जहर बनना ; जो वे सोचते हैं, वे विचार बनना, जो देखते हैं, वे स्वप्न बनना ;

उनको अत्यन्त अनिष्टता-पूर्वक आलिङ्गन कर लेना ;

विचार-मात्र की भी अपेक्षा अधिक घनिष्ठ आलिङ्गन करना ;

छूना और चौंका देना—आँधी-तूफ़ान को भेदकर सुनाई पड़नेवाली दूरस्थ संगीत-ध्वनि के समान ; नवीन अप्रत्याशित आदर्शों के रूप में प्रकट होना ;

• • • •

धरती में दबे पड़े रहना ; वस्तु-मात्र की भूमि में गड़े पड़े रहना ; मिट्टी में पड़े रहना, जहाँ से समस्त मानव-जीवन उगता है और जहाँ फिर समा जाता है ;

जैसे आनन्दमय स्वप्न में सुनाई पड़ रही हों, इस प्रकार असंख्य वाणियों की ध्वनि सुनना ;

समस्त युगों को पार कर निकटतर आते हुए असंख्य कदमों की ध्वनि सुनना ;

देखना, किन्तु स्वयं न दिखाई पड़ना ;

सुनना किन्तु वह जिसे किसी कान ने नहीं सुना है ;

निष्पक्ष निर्दोष आँख से प्रत्येक प्राणी को देखना ; सबको दर्पण दिखाना ;

इतना स्वाभाविक प्रतिबिम्ब दिखानेवाला दर्पण होना कि समस्त मनुष्य और वस्तुएँ उसमें अपने आपको देखने और अपने अङ्ग को जानने के लिए दौड़े चले आवें ;

तय्यार माल देना और कच्चा माल लेना ;

पहुँचवाला होना, छिपी हुई कड़ी होना ; वह जीवन होना जो प्रकट नहीं होता ;

दुःख-मुक्त रहकर प्रेम करना ; संसार-भर को न्हवाने के लिए, उसके घावों को भरने के लिए प्रेम को पठाना ;

और कोई नहीं, केवल प्रेमी ही अन्त में यह जान पाता है, मृत्यु क्या है ?

[अनुवादक—रामकृष्ण ।]

अनुसरण

[रामचन्द्र तिवारी]

'क्यों लीला, तुम कवियित्री हो और वे चित्रकार! तुम्हारी उनकी अच्छी खासी निभेगी।'—विमला ने चाय के प्याले में एक चम्मच शक्कर डालकर हिलाते हुए कहा।

'हाँ, जान तो ऐसा ही पड़ता है, परन्तु भविष्य तो ईश्वर की भाँति अदृश्य है। इसी से डर-सा प्रतीत होता है।'—लीला ने नीची गर्दन किये चाय में दूध डालते हुए कहा।

लीला कैप्टेन धीरेन्द्र की बहिन है। धीरेन्द्र वायुयान के एक विशेषज्ञ हैं। आपने अपना समस्त जीवन वायुयान-सुधार को समर्पण कर दिया है। यद्यपि धीरेन्द्र की अवस्था अधिक नहीं तथापि उनका विषय परिचय इतना घनिष्ट है कि जिस समय प्रोफेसर वर्मा की मृत्यु उनकी वायुयान-दुर्घटना में हुई तो उसका कारण जांचने के लिए विशेषज्ञ कमेटी बैठाई गई। धीरेन्द्र उस कमेटी के एक सदस्य थे।

विमला एक उत्साही विद्यार्थिणी है। वह धीरेन्द्र के कार्य में सहायता दे, वायुयान-यात्रा को अधिक सुरक्षित बना, यात्रियों का जीवन निरापद करने में हिस्सा बँटाना चाहती है।

'कहीं कोई ईश्वर से डरता है?'

'कोई चाहे डरे या न डरे, इस विषय में मेरे मस्तिष्क में कभी कोई विचार नहीं आते। फिर मनुष्य को यह तो निश्चय ही नहीं कि उसका ईश्वर से आज-कल में पाला पड़नेवाला है, इसलिए वह ईश्वर की विशेष चिन्ता नहीं करता। परन्तु यह मुझे आशा है कि विवाह के दूसरे दिन ही मेरी मृत्यु नहीं हो जायगी, इस दशा में भवितव्य के विषय में एक प्रकार की आशंका होना स्वाभाविक ही है।'

'मेरा छोटा मस्तिष्क इतने गूढ़ विषय को ग्रहण करते हुए कुछ घबराता-सा है। परन्तु फिर भी मैं कहूँगी कि हम जो कुछ करना चाहते हैं, उसे हमें उपयुक्त समय में ही करना चाहिये।'

लीला ने चाय का एक घूंट ले विमला की ओर देखा। उसकी आँखें कह रही थीं कि मैं तुम्हारी बातों का अर्थ समझती अवश्य हूँ, परन्तु यदि तुम उसे खोलकर कहो तो मुझे अधिक प्रसन्नता होगी। मैं अपने और कैलाश के विषय में अधिक-से-अधिक चर्चा सुनना चाहती हूँ।

'मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय तुम और वह दोनों एक दूसरे को प्रेम करते हो। परन्तु इस प्रकार के प्रेम पर किसी का अधिकार नहीं होता। कोई नहीं कह सकता कि यह बे-पेंदो का लोटा कब किधर लुढ़केगा। विवाह के बन्धन से रहित प्रेम एक तटहीन सरिता है। जिधर ढलान पायेगी झुककर उधर ही बह निकलेगी। विवाह से उसके किनारे ऊंचे हो जाते हैं और जब तक कोई बाढ़ न आये वह अपने मार्ग पर ठीक बहती रहती है।'

मैं भी कभी-कभी ऐसा ही सोचती हूँ। और यही विचार उनके हैं। परन्तु जब तक दादा का विवाह नहीं हो जाता मैं कुछ नहीं कर सकती। वे अपने कार्य में इतने व्यस्त रहते हैं कि उनकी देख-रेख करनेवाला एक मनुष्य अवश्य चाहिये।'—कहकर लीला ने एक घूँट चाय का लिया। विमला अपने कुत्ते टाइगर से खेलने लगी। टाइगर खूब बड़ा, सुन्दर और ईमानदार कुत्ता है।

'हाँ, एक उपाय हो सकता है।'—लीला ने विमला की ओर देखते हुए कहा। वह उसके चेहरे पर का भाव पढ़ना चाहती थी।

'क्या?'

'यदि तुम दादा की सेवा का भार अपने ऊपर ले लो...'

'यह किस प्रकार सम्भव है?'—विमला ने शांत भाव से उत्तर दिया।

'यदि तुम दादा से विवाह कर लो तो मुझे छुट्टी मिल जायगी।'

'तुम्हारे दादा से विवाह! यह कैसे हो सकता है?'—विमला ने अपने मुख पर आश्चर्य तथा प्रश्न पोतकर कहा।

'अधिक बनो नहीं विमला। क्या तुम्हें दादा का मन नहीं मालूम? वे स्वयं इसका स्वागत करेंगे।'

'तो क्या मैं समझूँ कि तुम उनकी ओर से मुझसे प्रस्ताव कर रही हो?'

'प्रस्ताव नहीं, परन्तु एक प्रकार से समझ सकती हो।'

'अभी इस प्रकार विचार करने का समय नहीं जान पड़ता। मैं......'

इसी समय चिक उठाकर धीरेन्द्र अन्दर आये, और एक कुर्सी सरका मेज के पास बैठ गये। उन्होंने पैर फैला और हाथ पसारकर अँगड़ाई ली।

विमला ने एक प्याले में चाय उँडेली, लीला ने उसमें शक्कर डाली और धीरेन्द्र सीधे बैठ उसमें दूध डालते हुए बोले—विमला, सब ठीक हो गया है। यान चार दिन में परीक्षा के योग्य हो जायगा।

'बड़ी प्रसन्नता का विषय है।'—विमला ने उत्तर दिया।

'दादा, आप अपने स्वास्थ्य का भी तो ध्यान रखिये। मनुष्य-जाति का उपकार करने में यदि आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया तो आपके उपकार का क्षेत्र बहुत सीमित रह जायगा।'

'मनुष्य-जाति का उपकार! क्या कहती हो लीला! तुमने अब तक मुझे नहीं पहचाना। मैं किसी का उपकार नहीं करना चाहता। मैं किसी पर एहसान नहीं करता। मुझे एक प्रकार का उन्माद हो गया है। मैं बिना वायुयान के विषय में सोचे, और कुछ किये, शान्त नहीं रह सकता। मैं जाति-सेवा में अमर नहीं होना चाहता। मैं केवल चाहता हूँ कि कोई मुझे मेरे उन्माद से पृथक न करे। मुझे इसमें बड़ा आनन्द आता है।

बढ़ते-बढ़ते मैं स्वयं इसमें लीन हो जाऊँगा, ऐसा मुझे आभास होता है। परन्तु वह दिन अभी बहुत दूर है।'—उनके मुख पर एक विचित्र तेज झलकने लगा।

'आप चाय पीजिये।'—विमला ने कहा—टेनिस खेलने चलियेगा न ?

'अवश्य'—कहकर धीरेन्द्र ने चाय का प्याला अपने मुँह से लगाया।

• • • •

'आज मिस विमला बड़े फ़ार्म में थीं।'—कैलाश ने हाथ का रैकेट घुमाते हुए कहा।

'ओह, आज तो इन्होंने कमाल कर दिया। मैं इनकी एक भी गेंद न छू सकी।'—लीला विमला की ओर देखकर बोली—जिस दिन विमला और दादा एक साथ हो जाते हैं, उस दिन ये विशेष अच्छा खेलती हैं।

'मेरा भी अनुभव कुछ ऐसा ही है।'—कैलाश ने संध्या के धुँधले प्रकाश में धीरेन्द्र का मुख ध्यान से देखते हुए कहा।

धीरेन्द्र किसी विचार में मग्न, नीची गर्दन किये मौन चले जा रहे थे। उनके ऊपर इस वर्तालाप का कोई प्रभाव न पड़ रहा था।

'जोड़ी तो अच्छी खासी रहेगी!'—लीला ने विमला का हाथ दबाकर कहा, कैलाश की उपस्थिति ने लीला को अधिक स्वतंत्रता दिला दी थी।

कैलाश ने कुछ न कहा। वह कुछ अनमना-सा हो रहा था। धीरेन्द्र और विमला की जोड़ी उसे कुछ खटकती-सी जान पड़ी।

'लीला,'—विमला ने गम्भीरता से कहा—प्रत्येक बात का समय तथा स्थान होता है।

'अच्छा,'—लीला विमला को चिकुटी काटकर बोली—ठीक समय और स्थान पर अब इसकी चर्चा की जायगी ?

वे चारों क्लब-रूम में पहुँचे। नौकर से ठण्डा सोडा मँगवाया और एक-एक ग्लास लेकर कुर्सियों पर बैठ गये।

'कहिये कैप्टन धीरेन्द्र, आपके यान का क्या हाल है ?'—कैलाश ने पूछा।

'बहुत अच्छी तरह काम चल रहा है, शीघ्र ही तैयार हो जायगा। उसके बाद केवल उसकी परीक्षा बाक़ी रह जायगी। वायुयान की बात सुनकर धीरेन्द्र का उत्साह बढ़ा था। परन्तु अन्तिम वाक्य बोलते समय उनका मुख-मण्डल गम्भीर हो गया।

'ज्यों-ज्यों यान बनकर तैयार हो रहा है, दादा की गम्भीरता बढ़ती जाती है।'

'चलो लीला चलें, कल प्रातःकाल बड़ा आवश्यक कार्य है।'—कहकर धीरेन्द्र उठ खड़ा हुआ।

'मिस विमला कल जल्दी आइयेगा।'—उन्होंने चलते-चलते कहा।

लीला उठकर खड़ी हुई और रैकेट लिये जाकर गाड़ी में बैठ गई।

भाई-बहिन के चले जाने के पश्चात कैलाश बोले—क्यों मिस विमला, तुम्हारा धीरेन्द्र के विषय में क्या विचार है ?

'कैसा विचार ?'

'यही, उनके जीवन के विषय में।'

'वे एक अत्यंत भावुक कलाकार हैं।'

'कलाकार ! यह तो विचित्र ही कही ।'—कैलाश ने विचित्र प्रकार का मुख बनाते हुए कहा ।

'क्यों, इसमें आपको क्या विचित्रता जान पड़ी ?'

'धीरेन्द्र एक उन्मादित व्यक्ति हो सकते हैं, परन्तु कलाकार होने का दावा नहीं कर सकते ।'—उनके स्वर में दृढ़ता थी ।

'क्यों, कलाकार में ऐसी क्या वस्तु होती है जो उनमें नहीं पाई जाती ? आप उन्हें उन्मादित इसलिए समझते हैं क्योंकि उनके भावों की गम्भीरता साधारण कलाकार से कहीं अधिक है ।'

'हो सकता है ।'—उनकी दृढ़ता घट गई थी ।

'क्या आप कवि को सर्वश्रेष्ठ कलाकार नहीं मानतीं ?'

'हां, सब बातें समान होने पर सफल कवि को लोगों ने उत्तम कलाकार माना है ।'—उन्हें अब इस वार्तालाप में कोई रुचि न रह गई थी ।

'कवि क्या करता है ? क्या श्रेष्ठ कार्य एक कल्पना निर्माण कर उसका पीछा नहीं करता ? क्या उसकी समस्त कला, समस्त शक्तियाँ उस आदर्श को प्राप्त करने की ओर नहीं लग जातीं ? जो कवि इस चेष्टा में अपने आपको जितना भुला देता है, क्या वह उतना ही सफल नहीं होता ? बिलकुल यही बात वैज्ञानिक के साथ है ।'

'अच्छा भाई, धीरेन्द्र कलाकार हैं, कवि हैं, सब कुछ हैं, खैर जाने भी दो !'—उन्होंने उकताकर कहा—चलो, मैं तुम्हें मार्ग में उतारता जाऊँगा ।

'धन्यवाद,'—कहकर विमला उठ खड़ी हुई ।

दोनों चुपचाप द्वार की ओर चले । कैलाश एक गहरे सोच में निमग्न थे । वे गाड़ी में जाकर बैठ गये । कोचवान ने गाड़ी हाँकी ।

'मिस विमला, मन कितना चंचल है, क्या तुम्हें इसका कुछ अनुमान है ?'—कैलाश ने कुछ भरे स्वर में पूछा ।

'कोई विशेष नहीं ।'—विमला ने उत्तर दिया । वह सोच रही थी कि यह किसकी भूमिका है ।

'विशेषतया भावुक लोगों को तो अपने मन पर कम अधिकार होता है । कलाकार अपनी सफलता के लिए बहुत कुछ अपने मन की चंचलता पर ही निर्भर रहता है ।'

'हो सकता है ।'—विमला ने गम्भीर होकर उत्तर दिया ।

'उसका मन, जिधर सौंदर्य की अधिकता पाता है, जिस स्थान को अपने आदर्श के निकटतम पाता है, वहीं जा पहुँचता है ।'—उसके स्वर में कुछ उतावलापन झलक रहा था ।

विमला चुप थी ।

'विमला !'—उन्होंने सामने बैठी हुई विमला के हाथ पर हाथ रखते हुए कहा ।

'कहिये ।' वह बिल्कुल स्थिर बैठी थी ।

'क्या तुम मुझे प्यार कर सकोगी ?'—वे उत्तर पाने के लिए उतावले हो रहे थे ।

विमला ने धीरे से अपना हाथ उनके हाथ के नीचे से निकाला और स्वस्थ होकर बोली—यह तो कोई कठिन बात नहीं जान पड़ती ; परन्तु...'

'परन्तु क्या ?' उनकी उत्सुकता और भी बढ़ गई थी ।

'परन्तु आपको मेरे प्रेम का मूल्य देना होगा।'

'वह मूल्य क्या होगा?'

'भलीभाँति सोच लीजिये। कहीं आपको अधिक न जान पड़े।'

'नहीं, मैं प्रत्येक मूल्य देने को तैयार हूँ।'—वे शीघ्रातिशीघ्र मूल्य जानना चाहते थे।

'वह है लीला के साथ विवाह!—आपको लीला के साथ विवाह करना होगा!'

कैलाश किसी ऐसी बात की आशा नहीं कर रहे थे। वे इससे बचना चाहते थे। बोले—यदि हम-तुम विवाह करना चाहें तो क्या उस अवस्था में भी मुझे लीला के साथ विवाह करना होगा?

'अवश्य, आप उससे विवाह किये बिना मुझसे विवाह का प्रस्ताव नहीं कर सकेंगे।'

'परन्तु लीला से विवाह कर लेने पर क्या तुम मुझसे विवाह कर सकोगी?'

'पूर्णतया तो नहीं कह सकती। परन्तु आपके प्रस्ताव के सफलता की अधिक आशा है।'

'तो तुम्हारा प्रेम प्राप्त करने का एक मात्र उपाय......'

'लीला के साथ शीघ्रातिशीघ्र विवाह ही है,'—विमला ने बात काटकर कहा।

इसके बाद दोनों चुपचाप गाड़ी में बैठे रहे। दोनों ही अपने-अपने विचारों में लगे हुए थे।

गाड़ी आकर होटल के सम्मुख ठहर गई। विमला गाड़ी से उतरकर अन्दर चली गई।

• • • •

'मिस विमला, कल का दिन मेरे जीवन में बड़े महत्व का होगा।'—धीरेन्द्र ने हाथ में क़लम उठाते हुए कहा।

वह अपनी लैबोरेटरी में एक कुर्सी पर बैठे हुए कल का कार्य-क्रम बना रहे हैं। मेज़ की दूसरी ओर एक कुर्सी पर विमला बैठी हुई है। दोनों के मुख गम्भीर हैं। धीरेन्द्र एक काग़ज़ पर कुछ चिन्ह बनाते जा रहे हैं। उनका वायुयान तैयार हो गया है। आज विमला और वह जाकर उसका निरीक्षण कर आये हैं। सब सुन्दर बना है। वह आवश्यकता से अधिक मज़बूत बनाया गया है। उसके इंजन बहुत बलिष्ट हैं।

'मैं कल प्रातःकाल दिल्ली से नौ बजे चलूँगा। लगभग दो घण्टे में हिमालय के पास पहुँच जाऊँगा और उसके बाद ढाई सौ मील प्रति घण्टे की चाल से उड़ता वायुयान उस पर्वत से टकराकर भूमि पर गिर पड़ेगा।'—उनके मुख पर एक ज्योति दौड़ गई।

'उड़ने से पहले उसके धक्का पानेवाले यन्त्र की पुनः परीक्षा की जानी चाहिये।' विमला ने कुछ सोचते हुए कहा।

'हाँ, यदि उसने धोखा नहीं दिया, तो विमला......' वे उसकी ओर फटी हुई आँखों से देखते रह गये। वे कह रहे थे, कि तुम्हारे साथ रहने को कुछ और दिन मुझे मिल जायँगे।

'धोखा देने की आशा तो नहीं है। उसमें सर्वोत्तम सामान लगाया गया है।'—विमला ने नीची गर्दन कर कहा—परन्तु फिर भी मैं एक बार उसे और देख लूँगी।

'लेकिन विमला, वहाँ जाकर टकराना ही तो हमारा कार्य नहीं है। हमें इसके अतिरिक्त और भी तो काम करना है।'—उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा।

विमला उनके मुख की ओर देख रही थी।

'हमें विभिन्न चालों और ऊँचाइयों पर यह नापना है कि उस यंत्र पर कितना दबाव पड़ता है। जब तक हम इसका पता नहीं लगा सकते, उसका सुधार नहीं किया जा सकता।'

'यह तो नितान्त आवश्यक है। मैंने इसके लिए पहिले से ही एक तालिका तैयार कर रखी है, जिसमें केवल उचित संख्या के सम्मुख दबाव लिख देने से वह पूर्ण हो जायगी।'

'अच्छा किया, इससे मुझे बहुत सहायता मिलेगी।'—उनका मुख फिर गम्भीर हो गया। वे बोले—देखो विमला, मेरा-तुम्हारा सम्बन्ध कैसा है, यह तुम्हें मालूम है। मैं तुम्हें किस दृष्टि से देखता हूँ, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।'—विमला एक-टक उनके मुख की ओर देख रही थी। वे काग़ज़ पर कुछ रेखाएँ खींच रहे थे और उन्हीं में मग्न जान पड़ते थे।—'तुम जानती हो कि इस परीक्षा में मेरे जीवन-नाश की सम्भावना निन्यानबे प्रतिशत है, यह मैं जानता हूँ; परन्तु मैं अब तक जिस विचारधारा के अनुसार कार्य करता आ रहा हूँ, उसका यही न्याययुक्त अन्त है। बिना इस अन्तिम कार्य के वह नितान्त अधूरी और निरर्थक है। इसलिए प्राण देकर भी यह करना ही होगा।' उन्होंने विमला की ओर देखा।

विमला ने आँखें नीची कर लीं। वह गम्भीरता से उनके शब्द सहन करती चली गई। उसके भीतर एक तूफ़ान आया हुआ था।

'मेरे मरण के पश्चात् तुम इस 'लैब' की स्वामिनी बनोगी। यान के यंत्र में जो कमी जान पड़े उसे पूरी करना और फिर यदि......'

'क्या कोई दूसरा मनुष्य यान लेकर इस परीक्षा के लिए नहीं जा सकता?'—विमला ने गर्दन ऊँची उठाकर कहा। उसके मुख पर शान्ति विराजमान थी। उसकी दोनों आँखें धीरेन्द्र के मुख पर जमी हुई थीं।

'मैं मानता हूँ कि मैं अधिक स्वार्थी हूँ। यह जोखिम लेने का अधिकार सर्व-प्रथम मेरा है। मैं किसी भाँति, किसी दशा में इसे दूसरे को देने के लिए तैयार नहीं हूँ।'

'नहीं, इस प्रश्न को मैं दूसरे दृष्टिकोण से देखती हूँ। यदि आप जीवित रहते हैं तो इस यंत्र में जो कमी होती है वह भली-भाँति पूर्ण कर सकते हैं—और इसी कार्य के लिए आपको अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिये।'

'इस यन्त्र का पूर्ण होना मुझे अत्यन्त सुखप्रद होगा; परन्तु...।' वे थोड़े रुके, फिर बोले—मैं इस समस्या को सामाजिक समस्या उतना नहीं समझता, जितना अपनी व्यक्तिगत समझता हूँ। मेरा व्यक्तिगत सन्तोष सामाजिक हानि-लाभ से मेरी दृष्टि में अधिक ऊँचा है। जो समस्या मेरे जीवन की समस्या है, उसे मैं दूसरे के हाथ में कदापि नहीं छोड़ सकता।'

विमला चुप थी।

'टकराने के बाद यदि यान में आग न लगे तो हमें अपने आपको पर्याप्त सफल समझना चाहिये?'

'क्यों नहीं ?'—विमला ने कुछ उत्साह से कहा।

'मैं चाहता हूँ कि लीला का विवाह कैलाश के साथ जल्दी ही हो जाना चाहिये; तुम इसका प्रबन्ध करना।'

'मैं भी यही चाहती हूँ।'

धीरेन्द्र ने सन्तोष, प्रसन्नता और निराशा-भरी दृष्टि से विमला को देखा। वह बहुत समय तक उसे देखते रहे। विमला ने आँखें नीची कर लीं। उन्होंने आँखें हटाईं, एक लम्बी साँस ली और बोले—विमला, तुम जाकर यान को एक बार और देख लो, मैं तब तक कुछ लिख लूँ।

विमला उठकर खड़ी हो गई।

• • • •

धीरेन्द्र संध्या-समय रोज़ से एक घण्टा पहले सो गये। उन्हें खूब गहरी नींद आई। लीला के हृदय की आज विचित्र दशा थी। उसका अत्यत प्यारा और श्रद्धा का पात्र भाई आज अपने उन्माद में लीन होने जा रहा है। परन्तु धीरेन्द्र को इस प्रकार शांति से सोते देख उसे कुछ शांति अनुभव होती। वह उस प्रकृति पर आश्चर्य करती और श्रद्धा से झुकी जाती थी। उसे ऐसा भाई पाने का गर्व था।

दूसरे दिन प्रातःकाल धीरेन्द्र रोज़ से देर में उठे। उन्होंने बड़ी शांति से कपड़े पहिने। कैलाश भी इसी समय आ पहुँचा।

'मिस विमला नहीं आईं ?'—कैलाश ने पूछा।

'शायद वह एरोड्रोम पर ही मिलेंगी।'—धीरेन्द्र ने उत्तर दिया। वे बहुत प्रसन्न थे और हँस-हँसकर लीला तथा कैलाश की बातों का उत्तर दे रहे थे। तीनों जने कार में बैठकर एरोड्रोम पहुँचे। उस समय साढ़े आठ बजे थे।

कार से उतरकर वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ उनका यान रखा गया था। उन्होंने देखा, वह स्थान रिक्त है। उन्हें अत्यंत आश्चर्य हुआ। उन्होंने तुरन्त दफ्तर में जाकर पूछा।

मैनेजर ने कुर्सी से उठकर उत्तर दिया,—मिस विमला यान को आठ बजे परीक्षा के लिए ले गई हैं; और आपके लिए यह पत्र दे गई हैं।—यह कहकर मैनेजर ने एक दराज़ से एक लम्बा लिफ़ाफ़ा निकाल धीरेन्द्र के हाथ में रख दिया। उस पर मुहरें लगी थीं। धीरेन्द्र ने तुरन्त लिफ़ाफ़ा फाड़ डाला और उसमें से एक पत्र निकालकर पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

'श्रीयुत कैप्टेन धीरेन्द्र, नमस्कार।

पत्र प्रारभ करने से पहले, मैंने आपके जो अपराध किये और कर रही हूँ, उसके लिए क्षमा माँगती हूँ। मैंने आपको अपना जो परिचय दिया है, वह अशुद्ध है। मैं वास्तव में ट्रावनकोरवासी प्रोफ़ेसर साहनी की कन्या हूँ। जिन दिनों कैप्टेन वर्मा वहाँ अपने यान पर परीक्षा कर रहे थे, हम उनके पड़ोस में रहते थे। पहिले मैं उत्सुकता के कारण उनकी 'लैब' में गई; फिर हम मित्र बन गये और उसके बाद वह मैत्री प्रेम में परिवर्तित हो गई। हमारा विवाह हो गया होता, यदि मैं दो-तीन मास के लिए बीमार न पड़ जाती। इन्हीं दिनों यान-दुर्घटना में कैप्टेन वर्मा की मृत्यु हो गई। जब मैं स्वस्थ हुई और मैंने यह

समाचार सुना तो मैं दुःखी रहने लगी। मेरा विचार हुआ कि मैं भी वायुयान-सम्बंधी कार्य में लगूँ।

'मैं वायुयान से विशेष परिचय पाने की चेष्टा करने लगी। इन्हीं दिनों मुझे आपके नये वायुयान का समाचार मिला। मैंने पिताजी से आपके पास आने की आज्ञा माँगी। वे इस पर राजी न हुए। मैं पुनः बीमार पड़ गई। अच्छे होने पर डाक्टरों की सम्मति लेने के पश्चात् मुझे यहाँ आने की आज्ञा मिल गई, और मैंने यहाँ आकर आपके साथ कार्य करना प्रारम्भ किया।

'आप मेरे कार्य से सदा सन्तुष्ट रहे और सदा मेरा उत्साह बढ़ाते रहे, इसके लिए मैं आपको हृदय से धन्यवाद देती हूँ। मैंने कितनी रात जाग, तर्क-वितर्क कर, यह निश्चय किया है कि आपका जीवित रहना केवल आपकी समस्या के लिए ही नहीं, वरन् लीला के लिए भी अत्यंत आवश्यक है। और मेरे लिए मि० वर्मा का अनुसरण करने का इससे बढ़कर कोई दूसरा मार्ग नहीं है। मेरी मृत्यु बिल्कुल उन्हीं की भाँति होगी, इसकी मुझे बड़ी प्रसन्नता है। साथ ही मैं यह भी नहीं देख सकती कि मेरे जीवित रहते कोई दूसरा मनुष्य इस दिशा में अपने प्राणों की बाजी लगाये, क्योंकि अधिकार सर्वप्रथम मेरा है। परन्तु आप इससे यह न समझें कि मैं केवल मरने के लिए यान को लिये जा रही हूँ। मैं यान के सब प्रकार के निरीक्षण लिखने के पश्चात् ही उसकी अन्तिम परीक्षा लूँगी। मेरे निरीक्षण की सीमा आपकी प्रस्तावित तालिका से कहीं विस्तृत होगी।

'मि० कैलाश ने मुझसे प्रतिज्ञा की है कि वे लीला से विवाह कर लेंगे, इसलिए आपसे मेरा अनुरोध है कि आप शीघ्रातिशीघ्र दोनों का विवाह कर दें।

'सब मित्रों को पुनः प्रणाम।

आपकी—

विमला।'

धीरेन्द्र ने पत्र पढ़ा। उनके चेहरे का रंग उड़ गया। वे पागल की भाँति दो-चार क़दम चले, फिर फ़र्श पर पैर मारकर बोले—विमला, मैं तुम्हें सबके लिए क्षमा कर सकता हूँ; परन्तु यह अवसर छीनने के लिए कदापि क्षमा नहीं कर सकता।

लीला तथा कैलाश ने उन्हें पकड़कर कुर्सी पर बैठाया। मैनेजर ने जल मँगाया, धीरेन्द्र ने मुख धोया, फिर मैनेजर से बोले—आप तार-घर को फ़ोन कीजिये कि मेरे नाम का तार फ़ौरन एरोड्रोम आना चाहिये।

मैनेजर ने आज्ञा का पालन किया।

धीरेन्द्र ने दूसरा यान निकलवाया और उड़ने के कपड़े पहनकर उसके पास बैठ गये। मैनेजर तार-घर से सूचना की प्रतीक्षा करने लगा और दो मनुष्य कैप्टेन के साथ जाने को तैयार होने लगे।

सब लोग स्तब्ध थे। धीरेन्द्र को प्रत्येक क्षण दिन के बराबर प्रतीत हो रहा था। वे अत्यंत गम्भीर थे।

लगभग साढ़े दस बजे एक तार उन्हें मिला। वह एक जंगल के अफ़सर का था। इसे कैप्टेन ने पहले ही इस कार्य की सूचना दे दी थी। वह घटनास्थल के पास ही उपस्थित था। उसने मृत व्यक्ति को स्त्री देख तुरन्त कैप्टेन को तार दिया।

• • • •

दो घण्टे पश्चात् धीरेन्द्र अपने यान की परीक्षा कर रहे थे। विमला का देह यान से बाहर निकाला गया। उसका कुत्ता भी यान से कूद उसके पैरों को चाटने लगा। यान का ऊपरी आवरण नष्ट हो गया था। इञ्जिन टूट गये थे। परन्तु पेट्रोल की टंकी सुरक्षित थी। यात्रियों के स्थान को कोई हानि न पहुँची थी। उन्होंने देखा कि चालक का स्थान धक्का पानेवाले यंत्र से पृथक् कर लिया गया है। इसके पश्चात् उन्होंने एक फायर-प्रूफ़ बक्स खोला और उसमें से एक काग़ज़ निकालकर पढ़ा। पहले भाग के पढ़ने पर उनके मुख पर प्रसन्नता के चिह्न दिखाई देने लगे ; परन्तु उसके अन्त में लिखा था—

'मिस्टर धीरेन्द्र,

मैं अन्तिम बार क्षमा माँगती हूँ। इस समय यान चार सौ मील की चाल से चल रहा है। मैंने अपनी सीट आपके यंत्र से पृथक् कर ली है। सामने पर्वत-श्रेणी दिखाई पड़ रही है। एक क्षण में...पुनः क्षमा-प्रार्थना—

आपकी,

विमला।'

धीरेन्द्र लौटकर विमला के शव के पास आये। वह जिस यान में आये थे वह उसके पास रखा हुआ था। टाइगर गम्भीर हो उसके सिरहाने बैठा था। उन्होंने एक पता देकर जंगल के इन्स्पेक्टर से कहा—आप प्रोफ़ेसर साहनी को तार दे दीजिये कि मैं विमला का शव लेकर आ रहा हूँ।

वे शव को ध्यान से देखने लगे। उन्होंने उसके हाथों का चुम्बन किया और फिर उसके पैर छूकर बोले—विमला, मैं तुम्हें अपने हृदय के कोने-कोने से क्षमा करता हूँ।

प्रवास-पत्र

[श्रीकृष्ण सक्सेना]

प्रिय...

आज दसवाँ दिन है, पर इस प्रवास का किनारा ही कहीं नहीं दीखता है। जब देखता हूँ, इसी जहाज में हूँ। चारों ओर पानी है, पानी है, और पानी है। धरती दीखने की भी आशा मानो नहीं है। भारत से चलते वक्त घड़ी की घड़ी मुझे कुछ प्रोग्राम में परिवर्तन करना पड़ा। नतीजा यह कि आखिर इस धीमे जहाज को पकड़ सका।

अब पच्चीस तारीख से पहिले पोर्ट सईद पहुँचने की उम्मीद नहीं है और वहीं से यह खत डाला जायगा।

जीवन यहाँ इतना इकसार और बेरस है कि सहा मुश्किल से जाता है। छोटी-मोटी असुविधाएँ अलग। भाई, मैंने खूब जतन कर देखा है, चाहा है, लिखूँ। मन मारकर लिखने की कोशिश करता रहा हूँ। तुमने लिखने का अनुरोध किया था न? पर जतन सब अकारथ गये और लिखने के नाम दो पंक्ति नहीं लिख सका। अब मैं इस नतीजे पर आता जाता हूँ कि जहाँ तक मेरा संबन्ध है, अपने साथ मुझे झगड़ना नहीं चाहिये। बलात्कार व्यर्थ है और स्वय अपने को झुकाकर तोड़ना ठीक नहीं है। इस तरह के झगड़े से कुछ हाथ नहीं आया, निष्फलता ही हाथ आई। पहिले झल्लाहट होती थी, फिर थकान हो आती थी। देख लिया कि मुझे अपने को बस जीवन के तल पर यों ही छोड़ देना चाहिये कि जो शक्ति सत् है वही मुझे पीछे से चलाये। मैं स्वयं होकर अपने ही चलने में बाधा न रहूँ यही ठीक है। और मैं देखता हूँ कि जब मैं ऐसा करता हूँ तभी काम कर पाता हूँ, नहीं तो खिजलाहट ही हाथ लगती है। यह नहीं किया. वह नहीं किया, यह करूँ, वह करूँ—इस बारे में चिन्ता करना छोड़ बैठा हूँ। समय अनन्त है और सबके लिए समय है। और अपने समय में पहुँचकर कोई काम होने से न बचेगा। यह बात मुझे अब निरी कहावत नहीं मालूम होती, यह गहरी सचाई है। इसलिए मैं अपने से निराश नहीं हूँ।

धन्धों की और खबरों की दुनिया से एकदम कटकर मैं अलहदा हो गया हूँ। जान पड़ता है कि आदमी सब-कुछ का आदी हो सकता है। अखबार नहीं है, लेकिन यहाँ मुझे यह पता भी नहीं चला कि अखबार नहीं है। पर मनुष्य प्राणी है और उसे भी कहीं जड़ जमाकर फैलना पड़ता है। और क्या बिना धरती के जड़ जमती है?

मैंने जहाँ-तहाँ का कुछ पढ़ा है। पर वह नहीं, जो पढ़ना चाहा या पढ़ना चाहता था। पढ़ा है, तो और ही कुछ। यहाँ मैंने ये किताबें देख डाली हैं :—

(१) के० टी० शाह—प्रौविंशल ऑटोनोमी।

(२) शॉ—दो भाग, गाइड टु सोशलिज़्म।

(३) अनातोले फ्रांस—जीवन और पत्र।

(४) रूसो—ऐजूकेशन।

इन किताबों ने मुझे खासा व्यस्त रखा और अब व्यग्र बना दिया है। मैं नहीं जानता बुद्धि में क्षुब्ध तरङ्गों का उठना कितना अच्छा है और कितना अच्छा नहीं है। पर वह है अनुभव स्फूर्तिदायक।

यहाँ जहाज पर कुछेक चीजों से मुझे बड़ी तृप्ति मिली। कल का सूर्यास्त वेला का दृश्य अब भी ताज़ा है। पच्छिम की ओर नए-निकोर ताँबे के पैसे का-सा सूरज समुन्दर के सोते पानी में धीमे-धीमे गिरता जा रहा है। और तभी सामने पूरब में से उठ रहा है चाँद जो सफेद है, चिकना है, और ठंढा है। ओह, वह दृश्य—वह तो समुन्दर के बीच में ही दीख सकता है। सच कहता हूँ, ऐसे दृश्य के लिए देवता भी तरसें। और अगले सबेरे फिर वही क्रम। लेकिन इस बार सूरज उग रहा था, चाँद डूब रहा था। चाँद ज्यों-ज्यों मलीन मुख से छिपता जाता था, सूरज ईश्वर के प्रदीप्त भाल के समान उद्योत फेंकता उठता आता था।

और फिर समुन्दर की भींगी-भींगी हवा जो सब रोगों की दवा है, क्या रोग दैहिक क्या मानसिक। हवा चाहिये तो समुन्दर की छाती पर आओ।

और भाई, जहाज़ के काम करनेवाले इतालियन आदमियों के भरे डील-डौल और उनकी निरंतर मेहनत पर मुझे रह-रहकर ईर्ष्या होती थी। जी में होता था कि उनकी देह, उनके पुट्ठे और उनके-जैसे अनथक परिश्रम का कुछ भाग मुझे भी क्यों न मिला? उतना नहीं, तो मैं उनका दसवाँ हिस्सा ही सहिष्णु और बलवान होता। हरेक को कुल मिलाकर दो पौंड प्रति सप्ताह मिलते हैं। मैं भी कप्तान से कहनेवाला हूँ कि कुछ महीने के लिए क्या मुझसे भी वे छोटा-मोटा काम नहीं ले सकते? वैसा मजबूत न सही, थोड़ा-बहुत काम तो मैं कर ही सकूँगा। मैं सच, कुछ अपने शरीर से काम करना चाहता हूँ, कुछ धोना, बुहारना, ढोना। कुछ न कुछ करना चाहिये। जी होता है रात-दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिये। कुछ काम मिल गया तो क्या लुत्फ़ रहेगा! मुझे यक़ीन है, कप्तान मुझे इन्कार नहीं करेंगे। वह आदमी खूब है। और फिर सचमुच क्या मैं बिल्कुल ही निकम्मा आदमी थोड़े हूँ। आखिर कुछ मतलब का तो मैं भी निकल ही सकता हूँ। झाड़ू दे सकता हूँ, 'केबिन' और 'डेक' धो सकता हूँ। और मुझे चाहिये क्या? रहने को जगह मिल जाय, खाना-कपड़ा मिल जाय तो बस बहुत। और जब-तब एकाध अतिरिक्त पौंड जो मिल गया, फिर तो कहना क्या।

जहाज़ के और यात्री—बस कुछ न पूछो। किसी में सोच-विचार ही नहीं है। वे अपनी इज्ज़त में बन्द मालूम होते हैं। मैं अकेला हूँ, बिल्कुल अकेला और अपने-आप में कुल-का-कुल। बस मैं एक हूँ। और कभी-कभी ही अनेक में पहुँचकर मैं अपनी एकता का परिहार करता हूँ।

अपने बारे में लिखना, क्या हाल है? सब हाल-चाल लिखना। सुना?

हाँ, बम्बई में चलते वक्त 'सावित्री-सत्यवान' खेल देखा था। उस कहानी पर अपने विचार मैं तुम्हें लिखता हूँ। खेल देखकर कितनी तबीयत हुई थी कि कहीं पास तुम होते और कहानी पर मैं तुमसे खुलकर बात कर सकता। अब चलो, लिखकर ही सही।

उस कहानी का असल में भाव क्या है? यथार्थ-रूप से अर्थ क्या है?

जो शाश्वत काल-सत्य है, जिसमें फेर-फार और अपवाद कोई नहीं है, उसी को क्या एक व्यक्ति की संकल्प-शक्ति झुका सकती है? व्यक्ति-धर्म के आगे क्या समष्टि-नियम टूट जायगा? नहीं, तो हम उस 'सावित्री-सत्यवान' की कहानी को कैसे समझें?

क्या यह सच नहीं है कि परमात्म-सत्य, सार्वभौम सत्य में व्यक्तिगत धर्मों का तमाम अनैक्य समा जाता है? जिसको हम काल-देवता कहें, यम कहें, वह सार्वभौम सत्ता का ही तो भाग है। तो ऐसी अवस्था में उनमें विरोध कहाँ है, द्वन्द्व कहाँ है?

क्या तमाम भौतिक व्यापारों में और उनके द्वारा एक सचेतन आत्मा का विकास ही सम्पन्न नहीं हो रहा है, जो सब द्रव्यों से अविरोधी है? तब जिसे भौतिक कहते हैं, वह भौतिक रहा ही कहाँ? और रहा भी तो एक सीमा तक ही तो।

'सावित्री-सत्यवान' में मैं समझना चाहता हूँ कि सावित्री के सतीत्व-बल से यम देवता का फिर मुड़कर आना क्या अर्थ रखता है? देवताओं द्वारा जो वृत्तियाँ व्यक्त हो रही हैं और मानव-संकल्प द्वारा जो अभिप्राय चरितार्थ हो रहा है, उन दोनों में परस्पर क्या संबंध है? यमराज से अधिक क्या एक सती स्त्री में सचाई समझी जाय?

खैर, इस गहनता से बचें।

हाँ, अपने श्री भगवतीचरण वर्मा से इलाहाबाद में मिलना हुआ था। घंटों साहित्यिक गपशप होती रही...। मैं सोचता हूँ, कल्पना के लिए क्या विचार नहीं चाहिये? देखा जाता है कि विचार के बिना भी कल्पना चलती है। मैं तो अपनी बात जानता हूँ, मैं सबल विचार चाहता हूँ। कल्पना के राग में अधिक आनन्द मुझे नहीं आता। तुम्हारी भी बात उठी। तुमको वह बनावटी आदमी समझते हैं...।

आगे देखो कब लिखता हूँ। मुझे बराबर तुम्हारे लिखने के आग्रह का ख्याल है।

जवाब में खुलासा पत्र लिखना।

सप्रेम तुम्हारा,
सक्सेना।

संघर्ष के बाद

['विष्णु']

अतुल भोजन करके उठा तो माँ बोली—तू निर्वाण के पास गया था, बेटा ?

अतुल ने कहा—नहीं ।

माँ नहीं बोली, कुछ सोचने लगी ।

अतुल ने ही फिर कहा—वहाँ जाने से क्या होगा, माँ ? भइया मेरी बात नहीं सुनेंगे।

न जाने क्यों माँ की आँखें डबडबा आईं । आँचल से आंसू पोंछकर वे इतना ही बोलीं—तो क्या मुझे ही जाना पड़ेगा उसके पास ?

अतुल झिझका नहीं । बोला—अगर भाभी को घर न ला सकीं, तो जाने से क्या होगा, माँ ?

माँ का साहस टूट गया । वे चुपचाप चली गईं । मणि भी माँ-बेटे की बातें सुन रही थी । माँ की यह असहायावस्था उससे न देखी गई । कहा उसने—कुछ तो करना ही होगा, नहीं तो माँ का जीवन संकट में जान पड़ता है ।

अतुल ने मणि को देखा, मानो कहते हों, क्या तुम इन बातों को नहीं समझतीं ? बोले—माँ जब भाभी को घर में नहीं रखना चाहतीं, तब भइया कैसे आवें ?

'लेकिन आप अपने भइया को समझाते क्यों नहीं ? बहू के लिए भी कोई माँ को छोड़ता है ?'

'भइया में एक दोष है, मणि । वे जो एक बात कह देते हैं, उसे करना जानते हैं । मैं ऐसा नहीं हूँ । अगर मैं भी ऐसा ही होता तो तुम्हें राजरानी के पद पर न ला बिठाता ।'

मणि ने जाना वे हँसी कर रहे, हैं, उसी से खिन्न होकर बोली—आप वहाँ जाते ही कब हैं ? माँ का दिल दुखाने के लिए तुम दोनों भाइयों ने एका कर लिया है ।

अतुल ने इस बार लम्बी साँस छोड़कर कहा—यही तो अच्छा है, मैं भइया से एका नहीं कर सका, मणि । परन्तु इन बातों से क्या । मैं कुछ भी नहीं कर सकूँगा ।

और वे चले गये । मणि उनकी ओर देखती खड़ी रह गई, जैसे वह स्वयं अचरज की साकार प्रतिमा बन गई हो । वह देखने में अधिक गोरी-चिट्टी नहीं है, परन्तु परमात्मा ने जो स्वरूप उसे दिया है वह बिरले को ही मिलता है । वह बड़े घर की लाड़ली बेटी और बड़े घर की मुँहचढ़ी बहू भी है । जब माँ अपने बड़े बेटे निर्वाण को विवाह के लिए विवश न कर सकी तो अतुल को लेकर ही

वह मणि को अपने घर ले आई थी। इसी बीच में निर्वाण कायस्थ-कुल की एक बंगाली बालिका को परिणय-बंधन में बाँध लाये। पैत्रिक सम्पत्ति का सारा भाग छोटे भाई के नाम करके वे म्यूनिस-पल-ऑफिस में काम करने लगे। हृदय पर पत्थर रखकर माँ ने इस अनहोने परिवर्तन को देखा और पंख-हीन पत्ती की भाँति तड़पकर रह गई। उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश में न-जाने कब से बेटे की ममता फलती-फूलती आ रही थी। वही अब कसक बनकर टीसने लगी।

● ● ●

अपनी बात की इस प्रकार अवहेलना होती देखकर लाड़िली बहू मणि खीज उठी। मन ही मन पति को खरी-खोटी सुनाकर उसने एक महा भयंकर प्रतिज्ञा कर डाली—मैं आज जीजी के पास जाकर इस बात का निर्णय करूँगी और देखूँगी बड़े भइया किस प्रकार माँ की ममता को ठुकराते हैं।

तब शीघ्र ही घर का काम सँभालकर इसने जाने के लिए चादर ओढ़ ली। माँ उस समय सो रही थी। नौकर से कह गई—कह देना, आनन्दी बाबू के घर गई हैं।

नौकरने कहा भी—टमटम ले आऊँ?

परन्तु उसने किराये का ताँगा ही ठीक समझा। बोली—कल्याण टोले में निर्वाण बाबू का घर है। वहीं चलो।

तब शहर की चिरपरिचित सड़कों पर चक्कर काटकर बाजारी ताँगा खड़-खड़ ध्वनि से उस सुनसान दुपहरी को जगाता हुआ कल्याण टोले के सामने आ खड़ा हुआ। 'हटो', 'क्यों', 'बचकर मेरे खिलाड़ी—' ऐसा बोलने के लिए वहाँ कौन था? कुत्ते भी सड़क से हटकर साये में पड़े थे। इसी से अब वह बोला—फिर भी आना होगा, बहूजी?

'नहीं!'—और वह निर्वाण बाबू की बैठक में जा खड़ी हुई।

हेमांगिनी उर्फ़ हेमा ने ताँगे को अपने द्वार पर देखा तो अचरज से सोचने लगी—इस वक्त कौन आया?

और जब मणि ठीक उसके सामने आ पहुँची तो वे दोनों ही चौंक पड़ीं।

मणि ने हेमा के जैसा सुन्दर रूप कभी नहीं देखा था। जो उसे एक बार देख लेता था फिर भूलता नहीं था, अपितु बार-बार देखने की चाह मन को व्याकुल करती रहती थी। बड़ी-बड़ी काली आँखें और उनमें शैशव का भोलापन। चेहरे पर पत्नीत्व के कारण अनजान में पैदा हो गई लज्जा की लाली और उसके साथ अल्हड़पन की हर वक्त रहनेवाली हँसी। बङ्गाली रीति से गुँथे हुए बाल और चिट्टा रंग। ऐसी स्त्री कितनी सुन्दर होगी, वही जाने जिसने देखी हो। इसी से मणि चौंकी थी।

हेमा भी चौंकी थी। क्योंकि बिना किसी झिझक के मणि उसके सामने ऐसे जा खड़ी हुई मानो बहुत दिनों का जाना-पहचाना माँ-बाप का घर हो।

आगन्तुक का स्वागत कैसे करे, इस बात को भूलकर हेमा ने अंचल गले में डालकर मणि को प्रणाम करने की चेष्टा की, तब मणि हँस पड़ी—प्रणाम तो मुझे करना चाहिये था, जीजी! मैं तो नाते और उमर सब ही में तुमसे छोटी हूँ।

तब हेमा के मन में एक अस्पष्ट-सा 'कुछ' उठा पर वह बोली नहीं।

मणि ही ने पूछा—तुमने मुझे पहचाना नहीं, जीजी?

हेमा अचरज से व्याकुल ही होती रही...।

मणि अब खिलखिला पड़ी—मैं तुम्हारी देवरानी तो हूँ, जीजी।

हेमा मानों ठगी गई। बोली—अरे, तुम हो मणि ! आज देखा है ! आओ आओ, छोटी दीदी, आज किधर भूल पड़ीं ?

और वे कमरे में आकर बैठ गईं। मणि ने एक ही दृष्टि में उस कमरे की तुलना अपने कमरे से कर डाली। मणि का कमरा सुन्दर था ; परन्तु हेमा का कमरा सादगी और स्वच्छता में उसके कमरे से कहीं अच्छा था, यह निर्णय करके मणि को सुख और दुःख दोनों ही हुये।

कुछ देर तक वे यों ही बातें करती बैठी रहीं। मणि किसी प्रकार भी निर्णय नहीं कर सकी, अपनी प्रतिज्ञा कैसे पूरी करूँ।

हेमा बार-बार कोई-न-कोई घरेलू प्रश्न कर बैठती थी—माँ कैसी है ? अतुल बाबू कैसे हैं ? क्या करते हैं ?

और मणि संक्षेप में कहती—अच्छी हैं, अच्छे हैं। ज़मीन्दारी का काम देखते हैं।

फिर सोचने लगती—क्या करूँ। वे सच ही तो कहते हैं। मैं कुछ भी नहीं कर सकूँगा। भला ऐसी भोली-भाली जीजी से इतनी कड़वी बात कोई कैसे कहे। ध्यान फिर आता—कुछ भी हो, यह तो करना ही होगा। माँ की बात है।

इसी उधेड़बुन में वह खीझ-सी आई ; पर हेमा खीझने देती तब न। बहुत दिनों के बाद एक आत्मीय मिला था।......

तभी सहसा मणि बोली—एक बात कहती हूँ, जीजी !

जीजी नहीं बोली, हृदय में जो गाँठ-सी बँधती आ रही थी, और भी जटिल होती गई...

मणि कहती रही—पिछले जन्म में तुम-हम लोगों की दुश्मनी थी, जीजी !

जीजी गुम ! अन्दर का अस्पष्ट 'कुछ' जैसे स्पष्ट हो चला। गाँठ भी ढीली पड़ने लगी...

मणि और भी निर्द्वन्द्व हुई—यदि तुम दुश्मन न होतीं तो माँ-बेटे में, भाई-भाई में इस प्रकार द्रोह न पैदा करतीं। एक हरी-भरी गिरस्ती को बरबाद न करतीं !

जीजी अब भी चुप थी। उसके लिए सब स्पष्ट हो उठा था। कल्पना प्रत्यक्ष होकर सामने ही आ खड़ी हो गई थी।

मणि अधिक नहीं बोली। वह मानो अब बाट देखती थी। वह कुछ अधीर भी हो आई और उठना चाहने लगी।

जीजी अब उसके पास आकर बोली—लेकिन मेरा तो इसमें कुछ भी दोष नहीं, मणी !

मणि यह सुनकर उठ गई और चल पड़ी, बोली—है क्यों नहीं, जीजी ? तुम न होतीं तो बड़े भइया हम लोगों को छोड़ न देते।

ना-समझी की इस बात पर हेमा हँस पड़ी—अच्छा, लेकिन तुम जा क्यों रही हो !

मणि नहीं रुकी।

तब हेमा ने सुनाकर कहा—अच्छा होता ये सब बातें उनसे कही जातीं !

मणि ने सुना और मुड़कर बोली—तुम कह दोगी न जीजी !

और मणि चली ही गई।

• • • •

सब कुछ भूलकर हेमा सोचने लगी—मैं ही क्यों ? उनसे कोई नहीं बोलता। वे ही तो मुझे लाये थे। उस दिन उनके घर की ब्राह्मणी न जाने क्या-क्या कह रही थी। जो आती है, कुछ-न-कुछ सुना जाती है......

उसे दुःख हुआ। आँखों में आँसू भर आये।

उस समय सन्ध्या भागी आ रही थी। सूरज की तेजी घटने लगी। प्रकाश भी मन्द हो चला। घड़ी की सुइयों ने एक करवट ली। छः बज गये और निर्वाण ऑफिस से लौट आये।

हेमा ने अचरज से देखा—वे अकेले नहीं थे, अतुल भी था। उसकी छाती के भीतर धुकर-धुकर होने लगी। मन ही मन उसने कहा—आज क्या होनेवाला है, प्रभो!

कुछ देर बैठकर अतुल लौटे तो हेमा सामने आ खड़ी हुई। रोते-रोते उसकी आँखें लाल हो रही थीं। हँस-मुख चेहरा मुरझा गया था, जैसे अनन्त शोक-सागर में गहरी डुबकी लगाई हो।

अतुल चौंक पड़ा—अरे, तुम हो भाभी! पर तुम रो क्यों रही हो?

सँभलकर हेमा बोली—तुम लोग मुझसे क्या चाहते हो, अतुल बाबू?

अतुल को और भी अचरज हुआ—मैं तो कुछ भी नहीं चाहता, तुम कह क्या रही हो?

'यही कि तुम यहाँ क्यों आये थे?'

'चुंगी के बारे में कुछ पूछना था।'

साड़ी का छोर हाथ में थामे-थामे हेमा न-जाने क्या सोचकर बोल उठी—अच्छा, तो रोटी खाकर जाना।

अतुल हँस पड़ा—बस, यही बात है। मैं बैठा हूँ, लाओ। क्या खिलाती हो? नेकी के लिए पूछना नहीं पड़ता, भाभी।

तब हेमा निर्वाण के पास पहुँची। बोली—सुनते हो, मैंने अतुल को खाना खाने के लिए कहा है।

निर्वाण कुछ घबराकर बोले—क्या अतुल हमारे घर खाने के लिए तैयार है?

'हाँ!'—कहकर हेमा रसोईघर में चली गई।

तब दोनों भाइयों ने एक साथ ही भोजन किया। कई बार दोनों की आँखें भीगीं और सूख गईं। कई बार दोनों की छाती के भीतर अनेक भावनाएँ पैदा हुईं और मिट गईं, मानो नदी की तरंगें एक दूसरे को नष्ट करती हुई अनन्त की ओर बह चली हों।

अन्त में अतुल बोला ही—बहुत दिनों के बाद इकट्ठे बैठकर खाना खाया है, भइया।

निर्वाण ने कहा—हाँ, बहुत ही दिन बीत गये; पर अतुल! तुम माँ से तो न कहोगे न?

अतुल बोला—नहीं कहूँगा।

और भइया कुछ और न कहें, ऐसा सोचकर भाभी को प्रणाम करके बोला—अब चलता हूँ, भाभी। परन्तु जब तुम खाना खिलाने के लिए बुलाओगी तो मना नहीं करूँगा।

हेमा हँस पड़ी। जाना उसने—प्रकृति में भिन्न होकर भी दोनों भाई कितने पास हैं। वे लोग इस बात को नहीं पहचान पाये हैं। मैंने जाना है, तब क्यों भय खाऊँ।

और उसकी आँखों में हर्ष के आँसू भर आये।

• • • •

आज ब्राह्मणी ने आते ही मणि को सूचित कर दिया है—निर्वाण को हैजा हुआ है।

अतुल बोले—मैं तो जानता था, दिन-दुपहरी में काम करना पड़ता है, बीच में जल-पान करने तक को नहीं मिलता। न जाने इतने दिन तक भाभी उन्हें कैसे जीवित रख सकीं।

माँ ने भी सुना। उनका दिल रो पड़ा। वह उसी समय जाने को तैयार हुईं; परन्तु अतुल की अन्तिम बात सुनकर ठिठक गईं। इसी अभागिन ने मेरे बेटे को छीना है! क्यों नहीं वह उसे बचा सकेगी?

वह नहीं गई, परन्तु दिल नहीं माना, ब्राह्मणी को बुलाकर बोली—तुम अभी जाकर देखो, क्या हाल है उसका।

और वह रो पड़ी। बार-बार यही ध्यान आया—क्या वे बिना हेमा के निर्वाण को अपने घर ला सकेंगी? अपने बेटे को खूब जानती थीं वे।

उधर मणी ने अतुल से कहा—तुम वहाँ नहीं जाओगे क्या?

'नहीं।'—अतुल का संक्षिप्त उत्तर था।

'भाई को मरते देखकर भी तुम्हारा दिल नहीं पसीजता?'

'भइया को तुम जानती होतीं तो ऐसा न कहतीं। मेरे डाक्टर को वे पास भी नहीं आने देंगे।'

'परन्तु अपने आदमी से ढाढ़स तो होगा ही।'

'भाभी से बढ़कर उनका अपना कौन है? उनके होते हमें कुछ भी करने का अधिकार नहीं है।'

मणि अब नहीं बोली।

अतुल ही बोले—तुम ही वहाँ क्यों नहीं चली जातीं?

मणि ने आँचल से आँसू पोंछकर कहा—उस दिन नादानी से मैं जीजी को न-जाने क्या-क्या कह आई थी। क्या मैं अब वहाँ जा सकूँगी?

'तो फिर उनका भगवान् मालिक है। अपना काम करो।'

अतुल अपना काम करने लगे। मणि भारी मन लेकर उठ गई।

• • • •

निर्वाण रोग-मुक्त हुए।

चार रात रोगी स्वामी के पलंग की पट्टी से लगकर हेमा ने उनकी रक्षा की थी। संसार वालों ने नहीं जाना, उन पर क्या बीती। उनके पास आता भी कौन था। हिन्दू-धर्म के अछूतों से बढ़कर उन लोगों की दशा थी। अपने आँचल को गले में डालकर वह बार-बार ऊपर की ओर देखकर कह उठती—मेरी लाज तुम्हारे ही हाथों में है, मेरे प्रभु!

उसकी लाज तो बच गई, परन्तु वह न बच सकी। अनवरत परिश्रम और रोगी की परिचर्या के कारण उसे खाट की शरण लेनी पड़ी।

निर्वाण स्वयं निर्बल थे। पास पैसा नहीं था। आड़े वक्त का कोई साथी भी नहीं था। किसी के आगे गिड़गिड़ाने का, सबको अपनी अवस्था सुनाकर आँसू बहाने का उनका स्वभाव नहीं था। इन बातों का वही परिणाम हुआ जो होना चाहिये था। हेमा धीरे-धीरे घुलने लगी।

और तभी एक दिन हेमा ने निर्वाण से कहा—अब मैं नहीं बचूँगी।

हठी निर्वाण इन बातों को सुनने का आदी नहीं था, रो पड़ा।

'छिः! छिः!!'—हेमा बोली—पुरुष भी कहीं रोते हैं! जब आप बीमार थे, मैं तो एक बार भी नहीं रोई थी।

निर्वाण बोला—लेकिन हेम! तुम्हारे बिना नहीं जी सकूँगा, यह जानता हूँ।

हाथ पकड़कर हेमा बोली—माँ के पास चले जाना...और उसका गला भर आया।

सहसा निर्वाण को कुछ ध्यान आया। हेमा से बोला—अभी आऊँगा। और वह अपने

पुराने ख़ान्दानी डाक्टर के पास दौड़ा गया। घर रास्ते में पड़ता था। जी में आया, कहता चलूँ—अब वह मर रही है, माँ! एक बार चलकर देख लो।

अतुल ने भी देखा—भइया हैं। पर दोनों मौन रहे। निर्वाण नहीं रुका। डाक्टर के पास जाकर रो पड़ा—डाक्टर चाचा! आज वह मर रही है। एक बार चलकर देख भर लो। मैं जन्म भर तुम्हारी नौकरी करूँगा।

गोद में खिलाये हुए अपने मित्र के लड़के को रोता देखकर डाक्टर चाचा हड़बड़ा उठे—अरे तुम हो निर्वाण! तुम पहले क्यों नहीं आये? अतुल ने भी तो कुछ नहीं कहा। चलो, मैं देखता हूँ, निरंजन बाबू के घर पर विपत्ति के ये बादल कितने दिन और छाये रहेंगे?

• • • •

सन्ध्या को जब अतुल लौटे तो कहने लगे—भाभी ने जान लगाकर भइया को तो बचा लिया, परन्तु भइया में इतनी जान कहाँ जो भाभी की रक्षा कर सकें। पैसा पास नहीं। अजीब आदमी हैं, जो कह दिया वह करके ही दिखावेंगे।

मणि सब सुन रही थी। घबराकर बोली—क्या तुम वहाँ गये थे?

'नहीं।'

इतने ही में माँ ने आकर कहा—क्या सच ही निर्वाण की बहू नहीं बचेगी, अतुल?—उनकी आवाज़ भारी थी। जी भरा आ रहा था।

'सुना तो ऐसा ही है।'—अतुल बोला।

अब माँ रो पड़ी—तो अतुल, तू एक बार मुझे वहाँ ले चल!

अतुल ने कहा—अभी चलो, माँ! परन्तु तुम्हारे पहुँचने से पहले ही भाभी वहाँ से चल देगी!

'नहीं, अतुल!'—माँ ने अद्भुत दृढ़ता के साथ कहा—मैंने कितने ही पाप क्यों न किये हों, परन्तु उसका इतना भयंकर दण्ड भगवान् मुझे देंगे, ऐसी मुझे आशा नहीं है।

अतुल, माँ और बहू को लेकर जब निर्वाण के घर पहुँचे तो डाक्टर हेमा की परीक्षा कर रहे थे और निर्वाण सन्तोषपूर्ण व्यग्रता से उनके सामने खड़े थे। उसने किसी को नहीं देखा।

चुपचाप उसकी पीठ पर हाथ रखकर माँ बोली—अब तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं। बाहर जाओ, बैठक में अतुल है।

निर्वाण ने आश्चर्य से मुड़कर देखा—माँ सामने खड़ी थी। छाती पर सिर रखकर फफकार उठा—मुझे माफ़ कर दो, माँ! ओ माँ!......

किसी तरह छाती दबाकर माँ ने उसे बाहर भेजा और बहू का सिर अपनी गोद में रखकर बोली—मैं तुम्हारी सास हूँ, हेमा! अब तुम्हें मरने की ज़रूरत नहीं।

मणि पागल-सी उन्हें देखती रही। बोलने के लिए उसे वाणी भी नहीं मिली। फिर डाक्टर की ओर देखकर माँ बोली—देवर! हमारे ख़ान्दान के लिए तुमने जो भी किया उसकी विवेचना करने का समय अब नहीं। हेमा को अगर बचा सके तो समझना मेरा जो कुछ भी है तुम्हारा है। परन्तु इन सब झगड़ों से सदा परे रहनेवाले अतुल की आँखों से आँसू की जो बूँदें टपक पड़ी थीं उन्हें शायद किसी ने भी नहीं देखा।

अचरज

['अज्ञेय']

आज सवेरे
अचरज एक देख मैं आया।
एक घने पर धूल भरे-से
अर्जुन - तरु के नीचे
एक तार पर बिजली के वे सटे हुये बैठे थे,
दो पक्षी छोटे-छोटे।

घनी छाँह में जग से अलग; किन्तु परस्पर सलग,
और नयन शायद अधमीचे।
और उषा की धुँधली-सी अरुणाली थी सारा जग सींचे।

छोटे, इतने क्षुद्र कि जग की
सदा सजग आँखों की एक अकेली झपकी—
एक पलक में—वे मिट जायें, कहीं न पायें,—
छोटे, किन्तु द्वित्व में इतने सुन्दर—
जग हिय ईर्ष्या से भर जावे;
भर क्यों—भरा सदा रहता है—
छल-छल छलक-छलककर उमड़ा आवे।

—सलगप्रणय की आँधी में मानो भूले दिनमान,
विधि का करने से आह्वान।
मैं जो रहा देखता, तब विधि ने भी सब कुछ देखा होगा—
वह विधि, जिसके अधिकृत उनके मिलन-विरह का लेखा होगा—

किन्तु रहे फिर भी वे सटे हुए, संलग्न—
आत्मता में ही तन्मय, तन्मयता में सतत निमग्न!
और—बीत चुका जब मेरे जाने समय युगों का—
आया एक हवा का झोंका—

काँपी तार—झरा दो कण नीहार—
पर तब भी तो उनके उर के भीतर
कोई खलिश नहीं थी—कोई रिक्त नहीं था—
नहीं वेदना की टीसों को स्थान कहीं था।

तब भी तो वे सहज परस्पर
पर से पंख मिलाये
वाताहत तम की झकझोर में भी अपने चारों ओर
एक प्रणय का निश्चल, वातावरण जमाये
उड़े जा रहे थे, अतिशय निर्द्वन्द्व—
और विधि देख रही—निस्पन्द!

लौट चला आया हूँ फिर भी प्राण पूछते जाते हैं
क्या यह सच था? और नहीं उत्तर पाते हैं—
और कहे ही जाते हैं—
कि आज मैं
अचरज एक देख आया।

———

सत्य, शिव, सुंदर

[जैनेन्द्रकुमार]

'सत्यं शिवं सुन्दरं'—यह पद आजकल बहुत लिखा-पढ़ा जाता है। ठीक मालूम नहीं, कौन इसके जनक हैं। जिनकी वाणी में यह स्फुरित हुआ, वह ऋषि ही होंगे। उनकी अखंड साधना के फल-स्वरूप ही, भावोत्कर्ष की अवस्था में, यह पद उनकी गिरा से उद्गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालांतर में सस्ता नहीं पड़ जाता? यही हाल ऋषि-वाक्यों का होता है।

किन्तु महत्तत्व को व्यक्त करनेवाले पदों को सस्ते ढंग से नहीं लेना चाहिये। ऐसा करने से अहित होगा। आग को जेब में रखे फिरने में खैर नहीं है। या तो जो जेब में रख ली जाती है वह आग ही नहीं है, या फिर उसमें कुछ भी चिनगारी है तो जेब में नहीं ठहरेगी। सबको जलाकर वह चिनगारी ही प्रोज्ज्वल बनी दमक उठेगी।

'सत्यं शिवं सुंदरं' पद का प्रचलन घिसे पैसे की नाईं किया जा रहा है। कुछ नहीं है, तो इस पद को ले बढ़ो। यह अनुचित है। यह असत्य है, अनीतिमूलक है। शब्द क़ीमती चीज़ हैं। आरम्भ में वे मानव को बड़ी वेदना की कीमत में प्राप्त हुए। एक नये शब्द को बनाने में जाने मानव-हृदय को कितनी तकलीफ़ झेलनी पड़ी होगी। उसी बहुमूल्य पदार्थ को एक परिश्रमी पिता के उड़ाऊ लड़के की भाँति जहाँ-तहाँ असावधानी से फेंकते चलना ठीक नहीं है। अकृतज्ञ ही ऐसा कर सकता है।

'सत्यं शिवं सुदरं' पद से हम क्या पायें, क्या लें, यह समझने का प्रयास करना चाहिये। उस शब्द की मारफ़त यदि हम कुछ नहीं लेते हैं और हमारे पास देने को भी कुछ नहीं है तो उस पद के प्रयोग से आसानी से बचा जा सकता है। ऐसी अवस्था में बचना ही लाभकारी है।

महावाक्यों में गुण होता है कि वे कभी अर्थ से ख़ाली नहीं होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थ को खींच निकालकर उन शब्दों को खोखला नहीं बना सकता। उन वाक्यों में आत्मानुभव की अटूट पूँजी भरी रहती है। जितना चाहो उतना उनसे लिये जाओ। फिर भी मानो अर्थ उनमें लबालब भरा ही रहता है। असल में वहाँ अर्थ उतना नहीं जितना भाव होता है। वह भाव वहाँ इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आदि-स्त्रोत से सम्बन्ध है। इसीलिए ऐसे वाक्यों में जब कि यह ख़ूबी है कि वे पंडित के लिए भी दुष्प्राप्य

हों, तब उनमें यह भी खूबी होती है कि वे अपंडित के लिए भी, अपने वित्त-मुताबिक़, सुलभ होते हैं।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदों का सार, अपने सामर्थ्य जितना हो हम पा सकते हैं, दे सकते हैं। यहाँ जो 'सत्यं शिवं सुन्दरं' इस पद के विवेचन का प्रयास है, उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धि के परिमाण का द्योतक मानना चाहिये।

सत्य, शिव, सुन्दर—ये तीनों एक वज़न के शब्द नहीं हैं। उनमें क्रम है, और अन्तर है।

सत्य-तत्व का उस शब्द से कोई स्वरूप सामने नहीं आता। सत्य सत्य है। कह दो, सत्य ईश्वर है। यह एक ही बात हुई। पर वह कुछ भी और नहीं है। वह निर्गुण है। वह सर्व-रूप है, संज्ञा भी है, भाव भी है।

सत् का भाव सत्य है। जो है वह सत्य के कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टि से असत्य कुछ है ही नहीं। वह निरी मानव-कल्पना है। असत्, यानी जो नहीं है। जो नहीं है उसके लिये यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। इसलिये 'असत्य' शब्द में निरा मनुष्य का आग्रह ही है, उसमें अर्थ कुछ नहीं है। आदमी ने काम चलाने के लिए वह शब्द खड़ा कर लिया है। यह कोरी अयथाथता है।

इस तरह 'सत्यता' शब्द भी यथार्थ नहीं है। वह शब्द चल पड़ा तो है, पर केवल इस बात को सिद्ध करता है कि मानव-भाषा अपूर्ण है।

जो है वह सत्। जो उसको धारण कर रहा है, वह सत्य।

अब 'शिव' और 'सुन्दर' शब्दों की स्थिति ऐसी नहीं है। शिव गुण है, सुन्दर रूप है। ये दोनों सम्पूर्णतया मानवात्मा द्वारा ग्राह्य तत्व हैं। ये रूप—गुणातीत नहीं हैं। रूप गुणात्मक हैं। ये यदि संज्ञा हैं तो उनके भाव जुदा हैं,—शिव का शिव-ता और सुन्दर का सुन्दर-ता। और जब वे स्वयं में भाव हैं तब उन्हें किसी अन्य तत्व की अपेक्षा है—जैसे 'यह शिव है' 'वह सुन्दर' है। 'यह' या 'वह' उनके होने के लिए ज़रूरी हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

ऊपर की बात शायद कुछ कठिन हो गई। मतलब यह कि सत्य निर्गुण है। शिव और सुन्दर उसी के ध्येय रूप हैं। सत्य ध्येय से भी परे है। वह अमूर्तीक है। शिव और सुन्दर उसका मूर्तीक स्वरूप है।

निर्गुण, निराकार, अन्तिम सचाई का नाम है सत्य। वही तत्व मानव की उपासना में सगुण, साकार स्वरूपवान बनकर शिव और सुन्दर हो जाता है।

सत्य की अपेक्षा शिव और सुन्दर साधना-पथ है, साध्य नहीं। वे प्रतीक हैं, प्रतिमा हैं। स्वयं आराध्य नहीं हैं, आराध्य को मूर्तिमान करते हैं।

शिव और सुन्दर की पूजा यदि अज्ञेय सत्य के प्रति आस्था उदित नहीं करती, तो वह अपने आप में अह-पूजा है। वह पत्थर-पूजा है। वह मूर्ति-पूजा सच्ची भी नहीं है।

सच्ची मूर्ति-पूजा वह है, जहाँ पूजक के निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस मूर्ति की सचाई मूर्ति से अतीत भी हो।

इस निगाह से शिव और सुन्दर मंज़िलें हैं, मक़सूद नहीं हैं, इष्ट-साधन हैं, इष्ट नहीं हैं। इष्ट भी कह लो, क्योंकि इष्टदेव की राह में हैं। पर यदि राह में नहीं हैं; तो वे अनिष्ट हैं।

लेकिन यहाँ हम कहीं गड़बड़ में पड़ गये मालूम होते हैं। जो सुन्दर है, वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है? और शिव तो शिव है ही। वह अनिष्ट हो जाय तो शिव ही क्या रहा?

बात ठीक है। लेकिन शिव का शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धि पर स्थगित है। सुन्दर का सौंदर्य-निरूपण भी मानव-भावना के तावे है। मानव-बुद्धि अनेकरूप है। वह देश-काल में बँधी है। इसलिए ये दोनों (शिव, सुंदर) अनिष्ट भी होते देखे जाते हैं। इतिहास में ऐसा हुआ है। अब भी ऐसा हो रहा है।

सत्य स्वयं-भू है, एक है, उसे आलंबन की आवश्यकता नहीं है। सब विरोध उसमें लय हो जाता है। उसके भीतर द्वित्व के लिये स्थान नहीं है। वहाँ सब 'न'कार स्वीकार है।

शिव और सुन्दर को आलंबन की अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव संभव है। अशिव को पराजित करनेवाला शिव। यही बात सुन्दर के साथ है। असुन्दर यदि हो ही नहीं तो सुन्दर निरर्थक हो जाता है। दोनों बिना द्वित्व के संभव नहीं हैं।

संक्षेप में हम यों कहें कि सत्य अनिर्वचनीय है। उस पर कोई चर्चा-आख्यान नहीं चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्र की अन्तरात्मा है।

और जिन पर बात-चीत चलती और चल सकती है, वे हैं शिव और सुन्दर। हमारी प्रवृत्तियों के व्यक्तिगत लक्ष्य ये ही दो हैं—शिव और सुन्दर।

सत्य अनन्त है, अकल्पनीय है। अतः हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते हैं, वह सब एकांगी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं।

इस स्वीकृति में से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो प्रेम। उसी को फिर अहिंसा भी कहो, विनम्रता भी कहो।

यदि मूल में प्रेम की प्रेरणा नहीं है तो शिव और सुन्दर की समस्त आराधना भ्रांत है। सुन्दर और शिव की प्राप्ति के अर्थ यात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्म में दीक्षित हो ले।

प्रेम कसौटी है। सुन्दर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उसपर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा, वह खरा है। जो खोटा निकलेगा, वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्ति को इस शर्त को पूरा करना होगा। जो करती है, वह विधेय है, जो नहीं करती, वह निषिद्ध है। सुन्दर के नाम पर अथवा शिव के नाम पर जो प्रवृत्ति प्रेम-विमुख वर्तन करेगी वह मिथ्या होगी, दूसरे शब्दों में वह अशिव होगी, असुन्दर होगी चाहे तात्कालिक 'शिव'-वादी और 'सुंदर'-वादी कितना भी इससे इनकार करें।

असल में मानव की मूल वृत्तियाँ मुख्यत: दो दिशाओं में चलती हैं—एक वर्तमान के हृदय की ओर, दूसरी पारलौकिक। एक में आनन्द की चाह है, दूसरे में मंगल की खोज है। एक का काम्यदेव सुन्दर है, दूसरी का आराध्यदेव शिव है।

यम-नियम, नीति-धर्म, योग-शोध, तपस्या-साधना, इनके मूल्य में शिव की खोज है। इनकी आँख भविष्य पर है। साहित्य-संगीत, मनीषा-मेधा, कला-क्रीड़ा इनमें सुन्दर के दर्शन की प्यास है। इनमें वर्तमान को थाह तक पा लेने की स्पर्द्धा है।

आरम्भ से दोनों प्रवृत्तियों में किंचित् विरोध-भाव दीखता आया है। शिव के ध्यान में तात्कालिक सौन्दर्य को हेय समझा गया है। यही क्यों, उसे बाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीय को हाथ से छोड़कर मंगल-साधना की बहक में पड़ना निरी मूर्खता और विडम्बना समझी गई है। तपस्या ने क्रीड़ा को गर्हित बताया है और उसी दृढ़ निश्चय के साथ लीला ने तपस्या को मनहूस क़रार दिया है। दोनों एक दूसरी को चुनौती देती और जीतती-हारती रही हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुन्दर में सत्य की अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। दोनों सत्य के दो पहलू हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पर अपने-आप में सिमटते ही दोनों में अनबन हो रहती है। और इस तरह भी वे दोनों एक प्रकार से परस्पर सहायक होते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरे के लिये अंकुश (Check) रखते हैं।

मनुष्य और मनुष्य-समाज के मंगल-पक्ष को प्रधानता देनेवाले नीति-नियम जब-तब इतने निर्मम हो गये हैं कि जीवन उनसे संयत होने के बजाय कुचला जाने लगा है। तब इतिहास के नाना कालों में, प्रत्युत प्रत्येक काल में, जीवन के आनन्द-पक्ष ने विद्रोह किया है और वह उभर पड़ा है। इधर जब इस भोगानन्द पक्ष की अतिशयता हो गई है तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-क़ानून फिर उभरें और जीवन के उच्छृङ्खल अपव्यय को रोककर संयत कर दें।

इस कथन को पुष्ट करने के लिए यहाँ इतिहास में से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। सब देशों, सब कालों का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। स्वयं व्यक्ति के जीवन में इस तथ्य को प्रमाणित करनेवाले अनेकानेक घटना-संयोग मिल जाँयगे। फिर भी, वे प्रमाण प्रचुर परिमाण में किसी को स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, साहित्य-संगीत, मठ-मंदिर, दर्शन-संस्कृति और इधर समाज-नीति और राज-नीति के क्रमिक विकास के अध्ययन में जगह-जगह प्राप्त होंगे।

व्यक्तित्व के निर्माण में प्रवृत्ति का और निवृत्ति का समान भाग है। जहाँ शिव प्रधान है—वहाँ निवृत्ति प्रमुख हो जाती है। वहाँ वर्तमान को थोड़ा-बहुत कीमत में स्वाहा करके भविष्य बनाया जाता है। जहाँ सुन्दर लक्ष्य है, वहाँ प्रवृत्ति मुख्य और निवृत्ति गौण हो जाती है। वहाँ भविष्य पर बेफ़िक्री की चादर डालकर वर्तमान के रस को छक कर लिया जाता है। वहाँ ज्ञान लक्ष्य नहीं है, प्राप्ति भी लक्ष्य नहीं है, मग्नता और विस्मृति लक्ष्य हैं। वहाँ सुख की सँभाल नहीं है, काम्य में सब कामनाओं समेत अपने को खो देने की चाह है। पहली साधना है, दूसरा समर्पण है।

आरंभ में जो संकेत में कहा वही यहाँ स्पष्ट कहें कि आनन्द-हीन साधना उतनी ही निरर्थक है जितना साधना-हीन आनन्द निष्फल है। वह सुन्दर कैसा जो शिव भी नहीं है, और शिव तो सुन्दर—सुंदर है ही। इस दृष्टि से मुझे प्रतीत होता है कि सुंदर को फिर शिव-ता का ध्यान रखना होगा। और शिव को सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है, तो वह सुन्दर तो है ही।

अर्थात्, जीवन में सौंदर्योन्मुख भावनाओं का नैतिक (शिवमय) वृत्तियों के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओं को खिझाती हुई, उन्हें कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुन्दर की लालसा में लहकना चाहती हैं वे कहीं न कहीं विकृत हैं। सुन्दर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे

आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं, वह 'सुन्दर' नहीं हैं। केवल छद्माभास है, सुन्दर की मृग-तृष्णिका है।

सामान्य बुद्धि की अपेक्षा से यह समझा जा सकता है कि शिव को तो हक़ है कि वह मनोरम दीखे; पर सुन्दर को तो मंगलसाधक होना ही चाहिये। जीवन का संयम-पक्ष किसी तरह भी जीवानन्द के मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनन्द विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाज की अपेक्षा में देखें तो क्या दीखता है? स्वभावतः लोग जिनका जीवन रंगीन है और रंगीनी का लोलुप है, जिनके जीवन का प्रधान तत्व आनन्द और उपभोग है, जो स्वयं सुन्दर (!) रहते और सुन्दर की लालसा लिये रहते हैं, जो बे-फ़िक्री से निरे वर्तमान में रहते हैं और जिनमें शिव-तत्व पर्याप्त नहीं है—ऐसे लोग समाज में किस स्थान पर हैं?

दूसरी ओर वे, जिनमें जीवन का प्राण-पक्ष मूर्च्छित है, विधि-निषेधों से जिनका जीवन ऐसा जकड़ा है कि हिल नहीं सकता और तरह-तरह के आंतरिक रोगों को जन्म दे रहा है, जो इतने सावधान हैं कि उनमें स्वाभाविकता और सजीवता ही नहीं रह जाती, जो पाबंद हैं कि मानो जीते-जागते हैं ही नहीं—ऐसे लोग भी भला किस अंश तक कृतकार्य समझे जा सकते हैं?

दोनों तरह के व्यक्ति संपूर्णता से दूर हैं। फिर भी, यह देखा जा सकता है कि आत्म-नियमन की प्रवृत्ति आनन्दोपभोग की प्रवृत्ति से किसी क़दर ऊँची ही है। जहाँ वह जीवन को दबाती है और उसे बढ़ाने में किसी प्रकार से सहायता नहीं देती, वहाँ वह अवश्य अयथार्थ है और सच्ची प्राण-शक्ति को अधिकार है कि उसको चुनौती दे दे। फिर भी, प्रत्येक सौन्दर्याभिमुख, आनंदोत्सुक प्रवृत्ति का धर्म है कि वह नैतिक उद्देश्यों का अनुगमन करे।

अर्थात् वे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जिनका लक्ष्य सुन्दर है, उन वृत्तियों के साथ समन्वय साधें जिनका लक्ष्य कल्याण-साधन है। यानी, कलानीति-समन्वित हो। और इसके बाद, कला और नीति दोनों ही धर्म-समन्वित हों। धर्म का आशय यहाँ मतवाद नहीं;—'धर्म' अर्थात् प्रेम-धर्म।

'सत्यं, शिवं, सुन्दर' यह व्याख्यात्मक पद ही नहीं है, सजीव पद है। जीवन का लक्षण है, गति। इस पद में गति है, उद्‌बोधन है। सुन्दर की ओर फिर सुन्दर से क्रमशः शिव और सत्य की ओर प्रयाण करना होगा,—यह ज्वलंत भाव उसमें भरा है। यों भी कह सकते हैं कि सत्य को शिव-रूप में उतारकर ध्यान में लाओ, क्योंकि यह सरल है। और शिव को भी सुन्दर रूप में निहारो, क्योंकि यह और भी सहज स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर की मर्यादा है, शिव की भी मर्यादा है। और दोनों ही की मर्यादा है सत्य। सत्य में सब-कुछ अपनी मर्यादाओं समेत मुक्त हो जाता है।

गीतिका

[आरसीप्रसादसिंह]

थी अभी तो बालिका ;
गिर पड़ी भू पर सुरभि-
अभिमानिनी शेफालिका !

जब खुले छवि के विलोचन ;
नैश के भुज-पाश में
आबद्ध था जग का तपोवन !
लख सकी न प्रभात
यौवन का अनङ्ग-कुमारिका !

जागरण का पुलक कम्पन ;
सुन पड़ा मधुपावली का
कुंज में न अनन्त गुञ्जन !
रह गई तृष्णा-कुलित ही
शरत - वन की वीथिका !

नव-वधू का प्रथम परिचय ;
एक क्षण ही तो किया
सीमन्तिनी ने प्रणय-अभिनय !
बन न पाई फिर किसी के
कंठ की वर-मालिका !

रख कपोलों पर किरण-कण ;
(पूर्व का अमिताभ उदयन)
एक कंचन के शिलीमुख ने
लिया ज्यों अधर चुम्बन !

किस कुटिल विधि ने किया
खंडित सुहाग-मृणालिका !

सरकारी नौकरी की सफलता का भेद

[रामनारायण विश्वनाथ पाठक]

क्या कहा ? मैं पेंशन क्यों नहीं लेता और क्यों अपनी मुद्दत बढ़ाता रहता हूँ ? और, मुझे मुद्दत मिलती क्यों है ?

क्या आपकी तरक्क़ी रुक रही है ?

अच्छा, यह बात है ! यों ही पूछ रहे हैं आप—जिज्ञासा तृप्त करने को ?

देखते नहीं, मुझ-जैसा नमकहलाल और नियमित नौकर सरकार के पास और कौन है ? आप तो हमेशा ही देर करके आते हैं, फिर भला आप कैसे जानेंगे कि मैं ऑफिस में चपरासी से भी पहले आ जाता हूँ ! नौकरी करते हुए मुझे इतने साल हो चुके हैं, मगर कभी 'कैज़्युअल' या हक़ की छुट्टी तक नहीं ली है । सोचिये तो, सारा दिन घिस-घिस करता रहता हूँ—इतना लिखता हूँ कि लिखते-लिखते मुँह टेढ़ा हो गया है । और आप लोग हैं कि कभी बीड़ी के बहाने, तो कभी चाय के बहाने काम छोड़कर बाहर चले जाते हैं ; समय गँवाने के लिए गप-शप लड़ाते हैं, गप-शप लड़ाने के लिए दोस्तियाँ पैदा करते हैं और फिर सब दोस्त मिलकर हँसी-ठठोली में वक़्त गुज़ार देते हैं । यहाँ सिर्फ़ एक बार पाख़ाना जाने को उठना पड़ता है, नहीं, आप देखते ही हैं, सारा दिन काम में जुटा रहता हूँ । ज्योंही काम ख़तम हुआ, साहब के पास जाकर दूसरा काम माँग लाता हूँ और जब कुछ भी नहीं मिलता, तो साहब के निजी पत्रों की नक़ल कर देता हूँ, उनके प्राइवेट पत्र लिख देता हूँ ; मगर एक मिनट को भी बेकार नहीं बैठता । सत्याग्रह-आन्दोलन के दिनों में जब आप लोग अपनी फ़ाइलों में छिपाकर 'नवजीवन' पढ़ा करते थे, मैं कभी सिर उठाकर देखता भी था ? फिर क्यों न सरकार मेरी क़द्र करे ?

क्या कहा ? यह एकनिष्ठा मैंने कैसे प्राप्त की ? आप इसका कारण जानना चाहते हैं ? इतना धैर्य आपके अन्दर है ? अच्छा तो सुनिये ।

पैंतीस वर्ष की उम्र में मैं विधुर हुआ । उस समय मेरे परिवार में मुझे छोड़कर मेरी बूढ़ी माँ थी और बालक छोटू था—यानी हम कुल तीन प्राणी थे ।

आज जात-बिरादरी में मैं ख़ासा इज़्ज़तदार और प्रतिष्ठित समझा जाता हूँ ; उस समय भी मेरी यही हैसियत थी । पत्नी के स्वर्गवास के बाद मेरे घायल हृदय की मरहम पट्टी के लिए कई लोग आये । हमारे जुगों पुराने इस संसार में सान्त्वना और समवेदना आदि की सब प्रकार रूढ़ि सिद्ध हो चुकी है । कोई कहता—अररर ! इन आठ दिनों में तो साहब आप सूखकर पत्ता

हो गये हैं ! कोई दिलासे की आवाज़ में कहता—आप किसी तरह की चिन्ता न करें, आपकी बिरादरी में लड़कियों की कौन कमी है ? और कोई समझाता—आप घबराइये नहीं, कल ही छोटू की नई माँ आ जायगी, और घर का सारा काम सँभाल लेगी। यों अनेक प्रकार से लोग आ-आकर मुझे ढाढ़स बँधा जाते थे।

क्या कहा ? मगर साहब मैं पूछता हूँ—आप बीच में क्यों बोल उठते हैं ? अच्छा ? आप जानना चाहते हैं, सरकारी नौकरी की सफलता से मेरी इस बात का क्या संबन्ध है ? सुनिये, आप बीसवीं सदी में रहते हैं। नये ज़माने की नई-से-नई फ़ैशनों के अनुसार आप अपने कपड़े बनाते हैं ; आपके बाल, आपके बूट और आपकी मूँछें सभी इस बात की साक्षी हैं। फिर भी आश्चर्य है कि आप एक छोटी-सी बात नहीं जानते—यह कि हर एक आदमी के 'कैरियर' की सफलता का आधार उसकी अर्द्धाङ्गिनी होती है। मैं आपको यही दिखाना चाहता हूँ कि मेरी सफलता का सारा श्रेय मेरी पत्नी को है। कृपाकर अब बीच में न बोलियेगा।

तो मैं क्या कह रहा था ? अच्छा, समझा। आप सोचते होंगे, मैंने तुरन्त ही अपने ब्याह की स्वीकृति दे दी होगी। जी नहीं, मैं उन लोगों में हूँ, जो नये 'एटिकेट'—शिष्टाचार को मानते और पालते हैं। मैं देखता हूँ, आपके चेहरे पर अविश्वास की छाया झलक रही है। शायद आप सोचते हैं, मैं नये ज़माने का आदमी नहीं हूँ। मगर याद रखिये कि मैं भी एक ग्रेज्युएट हूँ। जिन दिनों में ग्रेज्युएट हुआ था, मुझमें आपसे कई गुना ज़्यादा उत्साह था। हर्बर्ट स्पेन्सर और गोवर्धनराम जैसे महान् लेखकों की अमर रचनाएँ मैंने पढ़ी थीं। मैंने पूर्व और पश्चिम का तुलनात्मक अध्ययन किया था, उनकी समानता और विषमता के रहस्य को समझा था ; और मैं चाहता था कि अपने जीवन में इन दोनों का एकीकरण करूँ। मैं अच्छी तरह जानता था कि हमारे यहाँ ब्याह के सम्बन्ध में जो शिष्टाचार इस समय प्रचलित हैं, वह पश्चिम से बिल्कुल उलटे हैं। पश्चिम में स्त्री शादी से इनकार करती है, और पुरुष शादी का प्रस्ताव करता है—हमारे यहाँ पुरुष इनकार करता है, और स्त्री को इनकार या स्वीकार का कोई मौक़ा ही नहीं मिलता। मैंने भी विवाह से इनकार ही किया। हम लोग जो कि सुशिक्षित हैं, पुराने लोगों की तरह इतने हृदयहीन नहीं होते, कि स्त्री के मरने के बाद तुरन्त ही प्रकट रूप में ब्याह के लिए सम्मति दे दें।

मुझे ढाढ़स बँधानेवाले लोगों में कई रूढ़ि-प्रिय सज्जन भी थे ; मगर यह नहीं कि उनमें सब बुद्धिहीन ही थे। मेरी इनकारी पर उन्होंने मुझसे पूछा—आख़िर आप ब्याह से इनकार क्यों करते हैं ? मैं तो सच्चे दिल से 'ना' कह रहा था, इसलिए मैंने पूरे आत्मविश्वास के साथ जवाब दिया—जी, मेरा लड़का काफ़ी बड़ा है और होशियार भी है। अब मुझे शादी से क्या मतलब है ? लेकिन सत्य के लिए मुझे मान लेना चाहिये कि मेरी यह दलील टिक नहीं सकी। वे बोले—साहब, इस लड़के को सँभालने के लिए तो आपको एक साथी की ज़रूरत है। आप अपनी गुज़र तो किसी तरह कर लेंगे, लेकिन बेचारा बालक माँ के अभाव में यों सूखेगा। मैंने दलील बदलते हुए कहा—अब मैं पैंतीस बरस का हो चुका। इस उम्र में मैं फिर ब्याह नहीं कर सकता। बस मेरे कहने भर की देर थी—जवाब पर जवाब दिये जाने लगे। किसी ने कहा—जानते नहीं, उनके पिता पैंतालीसवें में ब्याहे थे। उस ब्याह से उन्हें सात लड़के हुए, और लड़कों की माँ इतनी भाग्यशाली थी कि अहिवात लेकर मरी। दूसरे ने कहा, इनके मामा पचास की उम्र में ब्याहे थे और उनके फूफा साठवें में घोड़े पर चढ़े थे। इनमें से हर एक का पारिवारिक जीवन बहुत सुखी रहा था। तीसरे ने कहा—यही क्यों, ऐसे पचासों उदाहरण मैं पेश कर सकता हूँ। मतलब एक स्वर से सबों ने यही राय दी कि आप घबराते क्यों हैं, सब कुछ अच्छा ही होगा।

मैंने सोचा, कौन कहता है कि हिन्दू आशावादी नहीं हैं? लेकिन अन्त में दो महाशयों के सामने मुझे हार मान लेनी पड़ी। एक ने पूछा—भाई साहब, कौन कहता है कि आपकी उम्र बहुत ज़्यादा हो गई है? जनाब, यह तो आपकी ख़ानदानियत का सबूत है कि छोटी उम्र में आपका ब्याह हो गया और बाल-बच्चे भी हुए। वरना ब्याह की असल उम्र तो यही है। अंग्रेज़ों को देखिये, इस उम्र में तो वे लोग कुँवारे रहते हैं। दूसरे साहब बोले—भाई साहब, अपनी बुढ़िया माँ का तो कुछ ख़्याल कीजिये। औरतों की सेवा औरतें ही अच्छी तरह कर सकती हैं। आप क्या ख़ाक करेंगे! अब लीजिये, पूर्व और पश्चिम दोनों आदर्शों के अनुसार सिद्ध हो गया कि मुझे ब्याह ज़रूर करना चाहिये। क्या बड़ी उम्र में ब्याह करना पश्चिम का आदर्श नहीं है? और माता-पिता के खातिर ब्याह करना, या परमार्थ के लिए अपने को इस बन्धन में डालना हम पूरबवालों का आदर्श नहीं है? बात आपके गले उतर रही है न? सरस्वतीचंद्र ने माता-पिता को प्रसन्न रखने के लिए ही ब्याह किया था न? बस यही तो हम लोगों का आदर्श है। अजी, तो आप हँस क्यों रहे हैं? मालूम होता है, हिन्दुओं के ब्याह का रहस्य आप नहीं जानते। सुनिये, पहले ब्याह के लिए हिन्दुओं को किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती; और दूसरे ब्याह के लिए हर बात कारण बन जाती है।

किन्तु अभी कठिनाइयों का अन्त न हुआ था—कठिनाइयाँ बाहरी भी थीं, आन्तरिक भी थीं। शायद आप नहीं जानते; मगर मेरे जीवन का एक मुख्य नियम यह है कि एक बार सिद्धान्त निश्चित हो जाने पर मैं 'डिटेल्स' (तफ़सील) की बिल्कुल पर्वाह नहीं करता—उनका कोई ख़ास आग्रह नहीं रखता। अभी यद्यपि मेरे हृदय की व्यथा शान्त न हुई थी और मेरी स्वर्गीया पत्नी को मरे केवल तेरह दिन हुए थे, तथापि अपने इस नियम के अनुसार, तेरहवीं के दिन ही मुझे अपनी जाति के प्रसिद्ध शास्त्री श्री पूरनराम की सुपुत्री के साथ ब्याह की सम्मति दे देनी पड़ी—यद्यपि शास्त्रीजी की इस कन्या की उम्र मेरी उम्र के आधे से भी कम थी। आपको यह भी जान लेना चाहिये कि इस कन्या का पता मेरे उन मित्रों ने ही लगाया था, जो मुझसे समवेदना रखते थे और उन्हीं से मुझे यह भी मालूम हुआ था कि शास्त्रीजी ने अपनी लड़की को अत्यन्त सावधानी के साथ वह सारी शिक्षा दी है, जो एक आदर्श हिन्दू-गृहिणी और धर्म-पत्नी के लिए आवश्यक है। उसे श्री० डाह्याभाई घोलसाजी के सतीत्व-सम्बन्धी सभी गीत कण्ठाग्र थे। वह प्रतिदिन सावित्री और सत्यवान् के चरित्र का पाठ करके ही भोजन करती थी। सती-चरित्र के दोनों भाग आद्योपान्त पढ़ चुकी थी और सती के धर्म को भलीभाँति समझती थी।

आख़िर एक दिन इसी शास्त्री-कन्या के साथ मेरा शुभ विवाह हो गया। क्या कहा? मेरी पत्नी का नाम क्या है? वाह, यह प्रश्न आपने क्योंकर पूछा? मैं पूछता हूँ, आपको बीच में बोलने का अधिकार ही क्या है? यही प्रश्न था, जिसके कारण मेरे जीवन की वह भयंकर घटना घटित हुई थी। आप शायद यह समझते होंगे कि मैं कट्टर-पन्थी हूँ और इसीलिए अपनी पत्नी का नाम लेते शरमाता हूँ। जी नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। लीजिये, मैं वही सब सुनाता हूँ ताकि आपको यकीन हो।

विवाह हुए कोई दो महीने बीते होंगे। उस दिन घर पर मेरे एक पुराने मित्र आ पहुँचे। आते ही उन्होंने मुझे बधाई दी। फिर हम खाने बैठे। मेरी श्रीमतीजी खाना पका रही थीं—अलबत्ता, जैसा वह पकाना जानती थीं। बस मेरे मित्र ने भी मुझसे यही प्रश्न पूछा। मैंने कहा—विमला। लेकिन विमला कहते ही श्रीमतीजी को ऐसी मूर्च्छा आई, मानो वज्रपात हुआ

हो। उनका सिर चूल्हे में जा गिरा ; मुँह झुलस गया। तुरन्त ही मैंने उन्हें उठाकर खटिया पर सुलाया और अपने मित्र को डॉक्टर के पास भेजा।

आप पूछते हैं—मूर्च्छा क्योंकर आई ? वाह, इतना भी आप नहीं समझे ? हमारी श्रीमतीजी सती जो हैं। पर भई आपने बड़ी जल्दी की। असल चीज़ तो मैंने आपको सुनाई ही नहीं है। आप नाहक़ बीच में पूछ बैठते हैं। अगर शुरू से सारा क़िस्सा मुझे कहने दिया होता, तो फ़ौरन आपकी समझ में आ जाता कि मूर्च्छा क्यों आई ?

सुनिये। धनतेरस के दिन सुबह उनका गौना हुआ। वह मेरे घर पधारीं। मैं अपने कमरे में बैठा हुआ था। वह सीधी मेरे पास आईं, और दोनों हाथ जोड़कर बहुत ही भक्ति-भाव से मुझे प्रणाम किया। मैंने सोचा—आजकल दिवाली का त्यौहार है ; शायद इसीलिए इन्होंने आकर मेरे पैर छुये हैं ; यह भी हो सकता है कि प्रथम मिलन के अवसर का यह कोई सनातनी शिष्टाचार हो ! ख़ैर !

रात को सोते समय श्रीमतीजी फिर आईं और बोलीं—स्वामीनाथ ! सुनते ही मैं चौंक पड़ा—फिर मन में अतिशय ही जुगुप्सा, धिक्कार और घृणा के विचार आने लगे। ख़ुद मेरी ही समझ में न आया कि मैं किसका और क्यों तिरस्कार कर रहा हूँ ? मैं सोचने लगा—कदाचित् इसलिए ऐसा हुआ हो कि 'स्वामीनाथ' शब्द संस्कृत-साहित्य में कभी प्रयुक्त नहीं होता है। लेकिन यह तो कोई बात नहीं है। इससे भी ज़्यादा ग़लत और अश्रुतपूर्व शब्द सुनता हूँ, पर कभीं दिल में ऐसे ख़याल नहीं आये हैं।

क्या कहा ? अच्छा, आप यह कहना चाहते हैं कि आपने कई बार इस शब्द को सुना है, मगर आप पर इसका कोई असर नहीं हुआ है। तो आपने इसे कहाँ सुना है ? 'नाटक में।' ओह हो ! नाटक में तो मैं भी सुन चुका हूँ ; किन्तु ऐसी कई बातें हो सकती हैं, जो नाटक में अच्छी दिखती हैं, मगर जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य को चक्कर में डाल देता है। नाटक में जिन स्त्रियों के नृत्य, हाव-भाव और कटाक्ष पर आप इतने लट्टू हो जाते हैं, वे ही स्त्रियाँ यदि आपके पास आयें, तो आप ज़रूर भाग खड़े हों ! ऐसी स्त्रियों के पास जो पुरुष, पुरुष के नाते, सिर्फ़ खड़ा रह लेता है, उसे मैं मुँह माँगा पुरस्कार दे सकता हूँ ! कला के विषय में आपके कैसे ही विचार क्यों न हों, मेरा अपना तो यह निश्चित मत है कि कला में जो सुन्दर दिखाई पड़ता है, व्यवहार में—इस दुनिया के प्रत्यक्ष व्यवहार में, वही भयङ्कर से भयङ्कर है। 'डूँगर' की तरह कला भी दूर ही से सुहावनी लगती है।

लेकिन इस समय इस चर्चा में जितना समय मैं आपको दे सका हूँ, उतना उस समय मेरे पास नहीं था। अपनी श्रीमतीजी के पहले शब्द पर मैं विचार कर ही रहा था कि इतने में उनकी वाक्यधारा बह चली। वह बोलीं—स्वामिन् ! दासी के योग्य कोई काम क्यों नहीं बताते ? आज्ञा कीजिये, मैं उसे सिर आँखों पर उठाने को तैयार हूँ। अपने कॉलेज-जीवन में स्त्रियों की स्वतंत्रता के पक्ष में मैंने भाषण तो कई बार किये थे ; फिर भी संसार के सभी पुरुषों की तरह, मेरे मन को पुरुषों की स्वाभाविक उच्चता के बारे में कभी कोई शंका नहीं हुई थी। लेकिन स्त्री के मुख से निकले हुए इन दासतापूर्ण उद्गारों को सुनकर तो मैं दंग ही रह गया। मेरी समझ में न आया कि स्त्री पर मेरा क्या आधिपत्य है ? लेकिन उनका आग्रह ज़बर-दस्त था। उन्होंने फिर गद्गद् कण्ठ से कहा—प्राणनाथ ! दासी को आज्ञा कीजिये, मैं उसे सिर आँखों पर उठाने को तैयार हूँ। अब, एक ओर उनका यह आग्रह था, दूसरी ओर मेरा मन था, जो उनके प्रत्येक प्रश्न से उसी तरह भयभीत हो उठता था, जिस तरह किसी अकल्पित और

अदृष्ट भय से मनुष्य भयभीत हो उठता है। वह एक अजीब मनस्थिति थी, जिसमें मेरा मन मुझ ही से दूर भागता फिरता था। मैं स्वयं निर्णय नहीं कर पाता था कि मुझे किस चीज़ की आवश्यकता है। और अब निर्णय तो तुरन्त ही कर लेने की ज़रूरत थी, क्योंकि बात गद्‌गद् कंठ से बढ़कर सिसकियों तक आ पहुँची थी। मेरे क्षोभ का पार न था। फिर भी क्षोभ और आश्चर्य से जितनी बुद्धि मुक्त रह सकी थी, उसी का उपयोग करके मैंने कहा—सुनो, कल ऑफिस जाने से पहले मेरे कोट को भली-भाँति ब्रश करके रखना। वह बोलीं—इस कृपा के लिए कृतज्ञ हूँ, किन्तु मैं तो आपकी कोई प्रत्यक्ष सेवा की अभिलाषिणी हूँ। मेरा क्षोभ और भी बढ़ा। इतने में उन्होंने फिर पूछा—प्राणनाथ ! मैं आपके पैर दबाऊँ ? सिर पर हाथ फेरूँ ? पंखा झलूँ ? अब मेरा मन उसी प्रकार क्षुब्ध हो उठा, जिस प्रकार नींद में भयंकर स्वप्न देखकर अथवा सोते में किसी को छाती पर बैठे देखकर होता है। लाख कोशिश करने पर भी मैं निर्णय न कर सका कि इस समय मेरे शरीर को किस चीज़ की आवश्यकता है। लेकिन विलम्ब के लिए अब अवकाश न था। आँसू टपकने लगे थे। भयंकर स्वप्न देखकर जैसे हम नींद में चौंक उठते हैं, उसी तरह चौंककर मैंने कहा—अच्छा, पैर दबाओ। और पैर दबने लगे ; किन्तु न जाने क्यों उनके स्पर्श से मेरे पैर सिकुड़ते थे, खिंचते थे ; पर मुझमें यह साहस न था कि उन्हें एकबारगी समेट लूँ, फलतः अब पैर नहीं खिंचते थे, बल्कि ज्ञानतंतु खिंचने लगे थे।

जब मैंने देखा कि अब सती को सन्तोष हो चुका होगा, मैंने उनसे सो जाने के लिए कहा। और वह तुरन्त ही अप्रतिम कृतार्थता का अनुभव करती हुई सो गईं ; पर मुझे विचारों ही विचारों में सारी रात नींद न आई। और सच तो यह है कि कोई खास विचार भी न थे, क्षोभ ही क्षोभ था। आखिर सवेरा होते-होते थकावट के कारण मुझे नींद लग गई, और उस नींद में मन को अभी कुछ शान्ति मिली ही थी कि इतने में पैरों में किसी विलक्षण स्पर्श का अनुभव करके मैं जाग पड़ा। देखता क्या हूँ, कि मेरे पैरों को खोल करके मेरी श्रीमतीजी उन पर अपना मस्तक टिकाये पड़ी थीं। अब मेरे मन में क्षोभ के साथ भय का भी संचार होने लगा। मेरी आँखों के सामने एकाएक अनन्त प्रातःकाल खड़े हो गये ; और यह सोचकर कि प्रतिदिन प्रातः मुझ पर इसी प्रकार का 'ऑपरेशन' होता रहेगा, मैं सिर से पैर तक सिहर उठा। कला में अनन्तता कदाचित् आपको सुन्दर प्रतीत होती हो, किन्तु मेरे लिए उसका यह प्रथम और प्रत्यक्ष अनुभव तो अत्यन्त ही भयावना सिद्ध हुआ !

लेकिन जब मनुष्य भय के स्वरूप को जान लेता है, तो उसका क्षोभ कम हो जाता है। और वह उसके प्रतिकार का उपाय करने लगता है। अतः सारा दिन मैं इसी का विचार करता रहा। स्थिति यह थी कि विचारों में कोई प्रगति न होती थी, उलटे वही एक भयंकर दृश्य पुनः-पुनः आँखों के सामने आकर खड़ा हो जाता था। आखिर मैंने निश्चय किया कि एकबार हृदय को कठोर करके यह संकट टालना ही चाहिये। बस, उसी रात को साफ़ शब्दों में मैंने कह दिया कि उनसे न मैं अपने शरीर की कोई सेवा लूँगा, न सुबह उन्हें पैर छूने दूँगा। उस रात मैंने सोचा—मेरी तदबीर काम कर गई है, क्योंकि वह न तो सिसकीं, न रोईं ; और सुबह भी बिना पैर छुये ही उठकर चली गईं। लेकिन असल में युक्ति सफल न हुईं थी। क्योंकि तीसरे दिन माताजी ने मुझसे कहा—बेटा ! बहू दो दिन से न कुछ खाती है, न पीती है ; और सारा दिन काम करती रहती है। मैं तुरन्त ही ताड़ गया। उस रात मैंने फिर अपनी देवीजी से कहा—सती ! मैं तुम्हारे सतीत्व से अत्यन्त प्रसन्न हूँ ! तुम आज से मुझ पर पंखा झल सकती हो। मैंने उन्हें प्रातः चरण-स्पर्श की भी अनुमति दे दी। फिर क्या था ? सब काम यथावत् होने लगे।

एक दिन मैंने सोचा, अब कोई नई तरकीब ढूँढनी चाहिये। दो-तीन दिन तक सिर्फ़ इसी का मैं विचार करता रहा। आखिर एक तरकीब सूझ ही तो गई। उस रात मैं हाथ में किताब लिये, इस तरह आसन मारकर बैठा, मानो अभ्यास में डूबा हुआ हूँ। सती आईं, किन्तु मैंने उनकी ओर नहीं देखा। आते ही उन्होंने यथानियम सेवा की याचना की। मैंने कहा—सती ! तुम जानती हो, मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अपनी माँ की सेवा करूँ ; लेकिन पढ़ाई का काम इतना अधिक है कि मुझसे उनकी सेवा नहीं हो रही है, और मैं पाप में फँस रहा हूँ। यदि तुम चौबीसो घण्टे उनकी सेवा किया करो, तो मैं इस पाप से छूट सकता हूँ। रात को भी उन्हें सेवा की ज़रूरत रहा करती है ; इसलिए मेरी सलाह है कि तुम रात उन्हीं के पास सोया करो। यदि तुम न करोगी, तो यह सब मुझे करना होगा। मैंने ये बातें अत्यन्त भक्ति-भाव से कहीं और सती ने इनको स्वीकार कर लिया। वह तुरन्त उठकर माँ के पास गईं। माँ को वैसे ही पैर दबवाने का बड़ा शौक़ था। उनका शौक़ पूरा हुआ ; मेरे सिर से एक आफ़त टली।

मैंने देखा, मेरी इस योजना में सचमुच ही एक अनोखा न्याय था। अपने लिए तो मैंने ब्याह किया नहीं था ; ब्याह तो माँ के लिए था। अतः आप देखते हैं कि मैंने अपने धर्म का पालन किया और धर्म ने मुझे एक संकट से बचा लिया।

लेकिन जिस तरह मैं मातृधर्म के लिए विवाह-सूत्र में बँधा था, उस तरह सती भी अपने लिए नहीं, मेरे लिए नहीं, बल्कि सतीत्वधर्म के लिए विवाह-सूत्र में बँधी थी। अतएव यह संभव न था कि वह अपना धर्म छोड़ देतीं। सवेरा होते ही वह आईं, और मुझे शिरसा प्रणाम करके चली गईं। मैं फिर सोच में पड़ गया। मैं सोचता चला, सोचता चला। इस बीच मुझे अनुभव होने लगा कि जिस प्रकार अंग्रेज़ी हुकूमत हिन्दुस्तान को अपनी जाल में चौतरफ़ा जकड़े हुए है, उसी प्रकार सती भी मेरे जीवन को चहुँओर से जकड़ लेना चाहती है। मैंने देखा कि सती रोज़ मेरी थाली में खाना खाती हैं, और जानबूझकर इतना परोस देती हैं कि मुझे जूठन छोड़नी ही पड़ती है ; जिस दिन सती को मेरी जूठन नहीं मिलती, वह अन्न ग्रहण नहीं करतीं। एक दिन की बात है, जाति में ज्यौनार थी—सती को वहाँ मेरी पत्तल न मिली ; बस बिना खाये-पिये घर लौट आईं। एक ओर यह था, दूसरी ओर मेरा घर मेरे बहुतेरे पड़ोसियों के लिए एक आकर्षण की वस्तु बन गया था। सती सारा दिन सतीत्व के गीत गाती रहती थीं। अड़ोस-पड़ोस की बहुतेरी स्त्रियाँ, अपने पतियों की भेजी हुई, रोज़ दोपहर को सती के पास आती थीं और अपने स्वामियों के आदेशानुसार सती से सतीधर्म और उच्च संस्कारों की दीक्षा लिया करती थीं। सती भी रोज़ बड़े भक्ति-भाव से उन्हें सती-चरित्र और सावित्री-चरित्र की कथाएँ सुनाया करती थीं। और जब मैं इस पूजा से बचने के लिए घर छोड़कर दूर किसी के घर जा बैठता, तो वहाँ भी मुझे—

'उदित है सखि, सृष्टि का शृंगार-हार !'

की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। जिस गीत को आप आज भी स्त्री-भाव से, पुरुष-भाव से या दोनों के मिश्र भाव से तल्लीन होकर गाते हैं, न जाने क्यों, मुझे उसका अन्तिम प्रास ऐसा प्रतीत होता है, मानो छाती कूटते समय औरतें दीर्घ स्वर से 'हाय ! हाय !' चिल्ला रही हों। फलतः मुझे वहाँ भी कोई सुख न मिलता था, तिस पर पड़ोस के कुछ मित्र प्रायः मुझे सुनाकर और कभी-कभी प्रत्यक्ष मुझी को सम्बोधन करके मेरे भाग्य की सराहना करने लगते थे। जिस चीज़ से आपको

गहरी नफ़रत हो, उसी के लिए कोई आपकी प्रशंसा करे, और आप उसे समझा भी न सकें कि वह कैसे आपके गले पड़ गई है, तो सोचिये, उससे बढ़कर और क्या विषमपरिस्थिति आपकी हो सकती है।

प्रतिदिन उषः-पादवन्दन मेरा होता ही था। उससे बचने का कोई उपाय मैं अभी तक सोच नहीं पाया था। मैं डर ही रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि मैं इसका आदी बन जाऊँ। इतने में मुझ पर एक नया वज्रपात-सा हुआ। हमारे विवाह की पहली मासिक तिथि आई। उस दिन की पादवन्दन-विधि से ही मुझे पता चल गया था कि आज सती सदा से जल्दी उठी हैं, और जब मैंने जागकर देखा तो घर में एक नया ही समारम्भ पाया। ख़याल हुआ, शायद सत्यनारायण की कथा या ऐसा ही कोई व्रत होगा। किन्तु जब मैं पैर धोने लगा, सती मेरे पास आईं और अत्यन्त दीन भाव से बोलीं—प्रभो!—दिन के माहात्म्य से आज मैं 'स्वामीनाथ' और 'प्राणनाथ' मिटकर प्रभु बन गया था—आज तो इसका लाभ मुझे मिलना चाहिये! मुझ पर इतना अनुग्रह अवश्य कीजिये! कुछ देर तक तो बात मेरी समझ ही में न आई। फिर धीमे-धीमे मुझे भान हुआ कि आज सारा दिन मेरे सिर क्या-क्या बीतनेवाला है! और यह मैं अच्छी तरह जानता था कि यदि अनुग्रह न किया तो उत्तर में किस प्रकार का आग्रह होनेवाला है। मैं बिना बोले-चाले अन्दर गया। सती ने मुझे आसन दिया। मैं आसन पर बैठा। उन्होंने ताम्रपात्र में मेरे पैर रखे और फिर जिस प्रकार धीमे-धीमे भगवान् को आचमनी से पंचामृत स्नान कराया जाता है, उसी प्रकार मेरे पैरों को पंचामृत-स्नान कराया गया; और फिर सती ने उस तीर्थोदक का पान किया। तत्पश्चात् मेरी आरती उतारी गई। जब तक ये क्रियाएँ होती रहीं, मैं नाना प्रकार की शंकाओं और तिरस्कार-भावनाओं में डूबा रहा। सोचता था, कहीं मैं पागल न हो जाऊँ। किसी भी आदमी को पागल बनाने का सरल-से-सरल नुस्ख़ा यह है, कि उसके पैर पूजे जायँ। इस नुस्ख़े का ही यह प्रताप है कि आज शिक्षक भिक्षुक बने हैं; राजा बन्दर, और धर्मात्मा परमात्मा के रूप में विचर रहे हैं!

इस पूजन-विधि ने मुझे नये सिरे से चिन्तित कर दिया। प्रातःवन्दन तो एक एकान्त की चीज़ थी; जब कि यह तो एक सार्वजनिक उत्सव का रूप ले रही थी। और जब मासिक-तिथि का यह समारंभ था, तो वार्षिक-तिथि का क्या रूप होगा, मैं सोच नहीं सका! उसकी तो कल्पना मात्र से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते थे। आख़िर मैंने इसका भी कोई उपाय ढूँढ़ निकालने का निश्चय किया और अपनी सारी विद्वत्ता एवं कल्पना का उपयोग करके एक रास्ता निकाल ही तो लिया। रात जब सती मेरे पास आईं, तो मैंने कहा—सती! जिस प्रकार मैं तुम्हारा प्रभु हूँ, उसी प्रकार परमात्मा मेरे प्रभु हैं। जिस प्रकार तुम अपने प्रभु की पूजा करती हो, उसी प्रकार मुझे भी अपने प्रभु की पूजा करनी चाहिये। लेकिन जितनी देर तक तुम मेरी पूजा करती हो, उतनी देर तक मैं ईश्वर में अपना ध्यान नहीं लगा पाता हूँ। इसके लिए मैंने एक उपाय सोचा है। जिस प्रकार परमात्मा को हम मूर्ति के रूप में पूजते हैं, उसी प्रकार तुम भी मेरी मूर्ति का पूजन किया करो। मैं तुम्हें अपनी एक तस्वीर देता हूँ—तुम रोज़ स्नान करके उसकी पूजा किया करो और ब्याह की मासिक तिथि के दिन भी उसी की पूजा होने दो। इससे तुम्हारा और मेरा दोनों का कल्याण होगा। बात सती के गले उतर गई। उस दिन से वह मेरे फोटो की पूजा करने लगीं और अपने फोटो पर चन्दन, अक्षत, पुष्प आदि चढ़ते देख मैं भी निश्चिन्त हो गया।

इस प्रकार एक बहुत बड़ी चिंता तो दूर हो गई, यद्यपि कभी-कभी कुछ विघ्न तो आ ही जाते थे। एक दिन छोटू ने मेरा फोटो देखने को लिया, वह उसके हाथ से गिरा और फूट गया। सती को जब पता चला तो वह सारा दिन अमंगल की आशंका से व्यथित रहीं। काँच के

अखिडत आवरण को हटाकर मुझे उनकी शंका मिटानी पड़ी और समझाना पड़ा कि परमात्मा उनकी पूजा में काँच के इस पारदर्शक आवरण को भी पसंद नहीं करते थे, इसी कारण आज यह आवरण हट गया है। अब तो सीधे फ़ोटो पर ही सब संस्कार होने लगे। एक तरह वही मेरी आत्मा का सच्चा फोटो बन गया। आज यदि आप उस फ़ो कोठो देखें, तो उस पर चन्दन, अक्षत और घी आदि की इतनी परतें चढ़ी पावेंगे कि उसे पहचानना मुश्किल हो जायगा; ठीक वही दशा आज मेरी आत्मा की भी हो रही है।

अब आप समझे होंगे कि सती को मूर्छा क्यों आई थी। कहिये,अब भी नहीं समझे? मालूम होता है, आप मुझसे ज़्यादा बुद्धिमान नहीं हैं। शुरू दिन मैं भी कुछ नहीं समझ पाया था; लेकिन मुझे परेशान देखकर स्वयं सती ने मेरी सहायता की थी। जैसे ही उनकी मूर्छा दूर हुई, वह बोलीं—यदि आपके सिर में दर्द होने लगे, तो मुझे बैठाकर मेरी गोद में सिर रख दीजियेगा और सो जाइयेगा। जब यमराज आयेंगे तो मैं देख लूँगी। सुनकर पहले तो मैं घबराया, फिर समझ में आया कि सती को सावित्री का सत् चढ़ा है। लेकिन यह पता न चल सका कि कौन-से नारद ने मेरी मृत्यु की भविष्यवाणी की थी। आख़िर सती ने ही सन्देह मिटाते हुए कहा—धर्म का सिद्धान्त है कि जो पति-पत्नी एक दूसरे का नाम लेते हैं, उनकी आयु कम होती है। तब मैं समझा कि यह 'केस' किसी डाक्टर के बस का न था। मेरे मित्र तो पहले ही डाक्टर को लिवाने को चले गये थे। लेकिन जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, भय का स्वरूप जान चुकने पर ही आपको उसका उपाय मिलता है। मैंने तुरन्त एक नया श्लोक रच डाला; पुराने को कहाँ ढूँढ़ता-फिरता? ख़ुद ही श्लोक बनाया और ख़ुद ही सती को सुना दिया। श्लोक का अर्थ यह था कि जिसका नाम लिया जाता है, उसी की आयु कम होती है। जो नाम लेता है, उसकी नहीं। सुनकर सती को बहुत सन्तोष हुआ। आप उस श्लोक को सुना चाहते हैं? नहीं? मालूम होता है, आपके धैर्य का बाँध टूटने पर है। अच्छा, तो घबराइये नहीं, शेष कथा मैं शीघ्र ही समाप्त किये देता हूँ। क्या कहा? अभी धैर्य नहीं छूटा है? तो शायद आप संस्कृत नहीं जानते होंगे। तो ख़ैर कोई बात नहीं।

अब हमारा साधारण व्यवहार ठीक चलने लगा था। मुझे यदि चिन्ता थी, तो यही कि माताजी दिनोंदिन वृद्ध और क्षीण होती जा रही हैं, कहीं दैव-योग से वे देव-लोक को सिधार गईं, तो सारी पूजा-विधि का भार फिर मुझी पर आ गिरेगा। अब मेरे सामने यह बात स्पष्ट होने लगी कि जिस प्रकार स्मृतिकार चौबीस घण्टों की दिनचर्या का निर्देश करते हैं, उसी प्रकार मुझे भी अपने जीवन की एक व्यवस्था तैयार कर लेनी चाहिये; लेकिन अभी तक मैं सब प्रकार की इन्द्रियों और विधियों का क्रम ठीक नहीं कर पाया था। इतने में एक नई घटना घटित हुई, जिससे मुझे अपने सामने का मार्ग स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। मुझे कार्यवश बाहर जाने की ज़रूरत हुई। मैंने सोचा, इसी बहाने कुछ दिन सती के प्रभाव से स्वतंत्र रहने का अवसर मिलेगा; लेकिन यह कैसे सम्भव था कि सती के धर्म में किसी ऐसे अवसर के लिए कोई नियम ही न हो! सती ने मेरे ट्रंक में नमक और हल्दी की गाँठ आदि अनेक चीज़ें रखीं; रवाना होते समय श्री गजानन गणपति का और अगस्त्य मुनि का स्मरण करने को कहा और अन्त में सब सूचनाएँ दे चुकने के बाद मेरे हाथ पर एक सुन्दर डिबिया रख दी। मैंने सोचा डिबिया में मेरे सौभाग्य का कुंकुम् या ऐसा ही कोई पदार्थ होगा; किन्तु सती को इतना अवकाश ही कहाँ था, जो वह अपने सौभाग्य के सिवा दूसरे के सौभाग्य की भी चिन्ता करतीं! सती ने डिबिया खोली; मूँग का एक दाना मुझे दिखाया और कहा—सुबह उठकर, दतौन करने के बाद, प्रति दिन इसमें से

एक मूँग खा लिया कीजियेगा; फिर आपके भोजन में कितनी ही देर क्यों न हो, मेरे नियम में बाधा न पड़ेगी। शायद आप इसका मतलब न समझे हों; किन्तु मैं तो अब सती के साथ इतने लम्बे समय तक रह चुका था कि उनकी इस सूचना का रहस्य तुरन्त समझ गया। आपको मालूम होना चाहिये कि सती मेरे खाने से पहले कभी खानान हीं खाती थीं, अतः किसी भी रीति से अपने इस नियम का भंग न होने देने की यह एक अमोघ धार्मिक विधि थी।

अब मेरे मन में सारे जीवन की एक फ़िलॉसफ़ी तैयार हो गई। उसके विधि-विधान भी बन गये। और माताजी के देहान्त ने उनको व्यवहार में परिणत कराने का अवसर भी प्राप्त करा दिया! मैंने तुरन्त ही तबादले के लिए प्रार्थना की। और, तबादला हो गया। अब जब से यहाँ आया हूँ, मेरा जीवन एक धारा में बह रहा है। एक बार सूर्य-चन्द्र की गति में फ़र्क़ पड़ सकता है; किन्तु हमारे नियमों में कदापि फ़र्क़ नहीं पड़ता। आप उन नियमों को सुनियेगा? ज़रूर सुनिये। क्योंकि मेरे अब तक के जीवन का सारा रहस्य इन नियमों में ही तो है।

पहला नियम यह कि जहाँ तक बने, सती को सती-धर्म में ही लगाये रहना। अपनी तसवीर की पूजा के अतिरिक्त मैंने उन्हें अपने नाम का पुरश्चरण करना भी सिखा दिया है; और वह जानती हैं कि इसी पुरश्चरण के प्रभाव से अच्छी ख़ासी तरक्की के साथ हमारा तबादला यहाँ हुआ है; उनका यह भी विश्वास है कि जो वेतन बढ़ता चला जा रहा है, पेन्शन के बदले नौकरी की जो मुद्दत बढ़ रही है, और बूढ़ा होते हुए भी मैं जो जी रहा हूँ, सो सब इसी का प्रताप है।

दूसरा नियम यह कि मुझे घर में कम-से-कम रहना चाहिये। आपको यह जानकर ख़ुशी होगी कि इन दोनों नियमों की समुचित व्यवस्था हो गई है। सती के सतीत्व से मुझे बहुत बढ़िया नौकरी मिली है। साहब का मुझ पर अटूट विश्वास है, अपने सभी ख़ानगी काम वे मुझे सौंपते हैं। यही कारण है कि मुझे सबसे पहले ऑफ़िस में जाना पड़ता है, और सबसे पीछे आना पड़ता है। कभी-कभी तो घर जाने की भी फ़ुरसत नहीं मिलता!

यहाँ एक उपव्यवस्था का उल्लेख कर देना भी आवश्यक समझता हूँ। सती को अपने सतीधर्म का इतना अधिक काम रहता है कि रसोई हमेशा कच्ची-पक्की ही बनती है। परिणाम यह हुआ है कि मुझे संग्रहणी-जैसा एक रोग लग गया है। इस स्थिति में मेरे लिए यह आवश्यक था कि मैं अपने भोजन की स्वतंत्र व्यवस्था करूँ। हमारा यह रसोइया हमें रोज़ सुस्वादु भोजन और सुन्दर मिठाइयाँ बनाकर देता है, और आप सब तारीफ़ कर-करके उसकी बनाई चीज़ें खाते हैं; पर शायद आपको मालूम नहीं कि इस संस्था का श्रेय मुझको है—मैं ही इसका जन्मदाता हूँ। उधर सुबह उठकर मूँग खा लेने की व्यवस्था से सती के सतीधर्म को कोई आँच नहीं आती!

तीसरा नियम यह है कि किसी से मित्रता न करो। शायद आप समझते होंगे कि मैं इस डर से मित्रता नहीं करता कि कहीं मित्र लोग मेरी धर्मपत्नी को देखकर मुझसे जलने लगें! लेकिन विश्वास रखिये कि मेरी पत्नी को कोई देखता ही नहीं;—ख़ासकर उस दिन से जब चूल्हे के सामने उन पर सतीत्व ने सवारी की थी—यदि भूले-भटके कोई देखे भी तो उसे सारे कपाल पर रेलवे की भयसूचक बत्ती की तरह, बड़े-बड़े चत्ते ही दिखाई पड़ेंगे; लेकिन चूँकि मित्रों के कारण हमारे पारस्परिक धर्म-पालन में बाधा पड़ती है, और मित्रों की स्थिति भी शोचनीय हो जाती है, इसलिए हमारा तीसरा नियम यह है कि मित्रता न करो!

अलबत्ता, मित्र के नाते आप लोगों से बातचीत करने में जो समय जाता है, उससे

मेरे हाथ हल्के होते हैं, और थोड़ा आराम भी मिलता है ; किन्तु सती की कृपा से संग्रहणी का जो वरदान मुझे मिला है, वह भी लगभग यही काम करता है। उससे थकावट कम होती है, और मित्र बनते ही नहीं। तिस पर भी इस डर से कि कहीं कोई मित्र न बन जाय, मैं अपना सारा समय लिखने में ही बिताता हूँ।

मेरी कथा अब समाप्त होती है ; लेकिन यह क्या ? आप इतने घबराये-से क्यों दिखाई पड़ते हैं ? क्या आप मुझे दुःखी समझते हैं ? नहीं, नहीं ; मुझे किस बात का दुःख है ? घर में सौभाग्यवती सती है, छोटू विद्यालय में पढ़ रहा है, सौतेली माँ के रहते भी दोनों कभी आपस में लड़ते नहीं हैं, छोटू क्वचित् ही छात्रालय से घर आता है, मेरे पास सरकारी नौकरी है, अच्छा-ख़ासा वेतन मिलता है, साहब की कृपा-दृष्टि है, नौकरी की अवधि बढ़ती चली जाती है, और धैर्य तो इतना गँठ गया है कि असहयोग ही नहीं, असहयोग का बाप भी आये, तो अपने राम का रोआँ फड़कनेवाला नहीं है !

अनुवादक, काशिनाथ त्रिवेदी ।]

शीशे का जादू

[वामन चोरघड]

मैं छः वर्ष का भी नहीं था उस समय। स्कूल में अभी जाने ही लगा था। भाई अँग्रेज़ी की दूसरी कक्षा में पढ़ता था। एकाध नया शब्द उसे मालूम हुआ कि उसका पुनः-पुनः उच्चारण करने में तथा उसका अर्थ बहिन को और मुझे बतलाने में उसे बड़ा आनन्द आता था।

अभी उसने अपनी पुस्तक का 'रामू और न्यायाधीश' पाठ सीखा ही था। घर आते ही उसने मुझसे कहा—अपने से बड़े आदमी को यदि प्रणाम करना हो तो अँग्रेज़ी में उसे 'गुडमॉर्निंग' कहते हैं।

बस! माताजी को, बहिन को और भैया को सुबह और शाम मैंने 'गुडमॉर्निंग' करना शुरू कर दिया। पिताजी ही बच रहे थे। कारण.........!

• • • •

जूलिया काफी ऊँची थी, ख़ूब गोरी, साथ ही ख़ूबसूरत। साइकिल पर इधर से उधर इठलाती हुई घूमा करती थी हमेशा। बड़े आदमी की लड़की, पिता ज़िलाधीश। उसको किस बात की कमी रहेगी? उसका बँगला बिल्कुल शहर के बाहर बहुत दूर था। संध्या समय घूमने के लिए जाते वक्त वह शहर की ओर—शहर में नहीं—आया करती थी।

एक बार शाम को जूलिया आ रही थी। मैं जा रहा था। मैंने उसकी ओर देखा। उसने मेरी ओर। मैंने उसे 'गुडमॉर्निंग' किया; क्योंकि वह मुझसे बड़ी, मेरी बहिन के बराबर—शायद अधिक सुन्दर थी।

सौन्दर्य की ओर मनुष्य स्वभावतः देखता है। उसने केवल हँसकर मेरी ओर देखा।

वह मुझे इतनी सुन्दर दिखाई देती थी कि मुझे उससे हमेशा बोलने की इच्छा होती थी।

वह मुझे आते हुए दिखती थी। मैं उसे जाते हुए दिखता था। न जाने कितने दिन तक हमारा 'गुडमॉर्निंग' चला।

एक गुरुवार को संध्या समय यों ही मुझसे मिली, हमेशा का गुडमॉर्निंग समाप्त होने पर वह उसी दिन, उसे न जाने क्या हुआ—साइकिल से नीचे उतरी और मेरे पास आई।

'तुम्हारा नाम क्या है?'

ऍं! अरे, इसे हिन्दी आती है? मैं आश्चर्य से उसकी ओर सिर्फ़ देखता रहा। उसने फिर एक दफ़ा पूछा।

'क्षितीन्द्र'—मैंने उत्तर दिया।

'हमारे घर आओगे ?'

मैं 'हाँ' न कह सका। और 'नहीं' कहना मेरे लिए एकदम ही मुश्किल हो गया। उसने मुझे साइकिल पर बैठाया और साइकिल अपने बँगले की ओर घुमा दी।

उसका वह झब्बू कुत्ता बड़ा अच्छा था। नीचे उतरते ही वह हमारे पास आया। जूलिया ने मुझे संतरे दिये, पेपरमेंट दी और कुछ देर गप-शप करने के बाद उसने मुझे दो-तीन फ़र्लाङ्ग की दूरी पर स्थित हमारे बँगले के पास लाकर छोड़ दिया।

जूलिया से मेरा परिचय हो गया। मुझसे हिन्दी बोलने की योग्यता उसने अपने बूढ़े सिपाही जीतन से प्राप्त कर ली थी।

● ● ● ●

आज मैंने एक नई बात सीखी थी। 'सिस्टर' माने बहन।

जूलिया सन्ध्या-समय मिलनेवाली ही थी। उसकी भाषा थी अंग्रेज़ी! मैंने उससे पूछने का निश्चय किया।

हमेशा की तरह हम एक हरियाली पर जाकर बैठे। मैंने एकदम उससे पूछा—

'जूलि! सिस्टर माने क्या?'

'क्यों? क्या मालूम?'—उसने झटपट उत्तर नहीं दिया। कुछ देर ठहरकर उसने कहा—

सिस्टर माने भाई! मुझे मालूम हुआ कि यह उत्तर देते समय वह मुस्किरा रही थी।

'भाई!—' मैंने उसे खिजाया।—'अरे! सिस्टर माने बहन'—मैंने गलती सुधारते हुए कहा।

'छिः, कभी नहीं। सिस्टर माने भाई।'—उसने कहा। मैं सामने ही बैठा था। उसने मेरी ओर देखकर नाक चढ़ाई। उसके मस्तक पर ख़ूबसूरत बल पड़ गये। उसने मेरे गाल पकड़े, मुझे पास में खींचकर भई, भई—अरे भाई कहते हुए वह मुझे चूमने लगी।

ऐसी घटना होने पर मैं खुशी से ऐंठ जाता था। घर में बहिन ने जरा कुछ कहा कि मैं कहा करता था—'अरे जा! मुझे अब तुम्हारी ग़रज नहीं है!' और सचमुच।—गरज का समय केवल स्नान करने पर बाल सँवारने के वक्त आता था, बस वही।

● ● ● ●

जूलिया के घर जाने की अब मुझे आदत पड़ गई थी। मैं हमेशा छुट्टी के दिन उसके यहाँ जाया करता था।

वह मुझे कभी-कभी रोते हुए दिखती थी। वह लगातार रोया करती थी। बीच में ही मैं जब पहुँच जाता था तब मुझे पास में खींचकर और रोया करती थी।

कुछ देर रोने के बाद थक जाती थी बिचारी। फिर हम घूमने जाते थे।

वह क्यों रोती थी, यह मैं उस समय उसके बतलाने पर भी नहीं समझता था। अब अच्छी तरह समझता हूँ। जूलिया के बहन नहीं थी, भाई नहीं था और माता बहुत ही जल्दी उसे छोड़कर चल बसी थी। जो कुछ था, वह था पिता।

वह भी बिचारा कर्तव्य से, जवाबदेही से बँधा हुआ था और कई बार जूलिया की आँखों के आँसू उसे खुद अपने हाथों से पोंछने की अपेक्षा टेबल पर के स्याही-सोख से ही पोंछने पड़ते थे।

संसार में प्रेम से कर्तव्य श्रेष्ठ है। उसका संबन्ध पेट से है।

● ● ● ●

मैं जूलिया के पास न जाऊँ तो वह मेरे पास आकर मुझे ले जाती थी। अन्यथा मैं उसके पास जाया ही करता था।

कल भैया ने कॉपिंग पेंसिल से मेरी जीभ रँग दी थी। मज़ाक के लिए यह तो अच्छी चीज़ है, इसलिए रोकर मैंने भैया से वह पेन्सिल माँग ली। अब जाकर मज़ाक किस से किया जाय? सारा सम्बन्ध जूलिया से ही था।

उस दिन उसे अच्छा नहीं मालूम हो रहा था। अतः मुझे जीतन बुलाकर ले गया। वह लेटी थी। उसने मुझे पास बुलाया। बिलकुल मज़बूत पकड़ के रखा और हमेशा की तरह मेरे कपोल एँठ दिये। हँसते हुए बच्चे को रुलाने में ही बहुतों को मज़ा आता है। उसी तरह मेरे गाल नोंच-नाचकर उन्हें गुलाबी हुए देखकर उसे आनन्द आता था।

उस दिन भी वह हँसी।

'जूलि! तुझे एक तमाशा दिखाता हूँ! तू देख! भला?'—मैं उसके दाहने गाल के पास मुँह ले गया। उस पर मुँह से भाप छोड़ दी। उसकी आँखों पर एक हाथ रखा और धीरे से वह पेंसिल निकालकर मैंने उसका नाम लिखा। उसके पीले गुलाबी गाल पर वह खूब गहरा उभरा। मैं हँसने लगा। फिर पास का शीशा लेकर उसका 'रूप' दिखाया।

उसने वह रूप देखा। 'हुँ:' करके छींक दिया। मेरे हाथ से आइना लिया और अपने गाल पर मेरा गाल रखकर वह उसमें देखने लगी। हम दोनों एक ही रंग के थे। वह बुख़ार के कारण कुछ फीकी पड़ गई थी। बहुत देर तक हम वैसे ही रहे। वह हँसी, और एकदम उसकी आँखों में आँसू भर आये। वह रोई इसलिए मैं भी रोया।

उस दिन रात को मैं वहीं रहा। मेरे घर जीतन कहकर आया था। उस रात को उसने बहुत-सी बातें कहीं। मेरी बहिन कैसी है। वह मुझ पर कैसे नाराज़ होती है। तुम मुझ पर क्रोध नहीं करतीं। तुम अच्छी हो...! फिर कहानी—एक था चन्दा। उसके यहाँ विवाह था। सब सितारे उसके घर गये... !

कहानी कहते-कहते ही मुझे नींद आ गई।

इसी तरह कई दिन बीत गये। मुझे जूलि के बिना अच्छा नहीं मालूम होता था। और उसे छितिन् के बिना चैन नहीं पड़ता था—किन्तु... !

एक दिन जूलिया की मौसी आई और उसे दूर—बहुत दूर—जिस देश का उस समय मुझे भूगोल तक मालूम नहीं था—ऐसे स्थान में ले गई। मैंने उसे एक सुन्दर फूल का चित्र इनाम में दिया। और उससे एक जादू का आइना मुझे मिला था। उस दर्पण में कोई भी वस्तु बहुत बड़ी दीख पड़ती थी।

अब उसके देश का भूगोल शिक्षक मुझे पढ़ाते हैं। वे कहते हैं—इस जगह थेम्स नदी पर लंदन शहर बसा है!

'सर, वहाँ जूलिया का घर होगा न?'—मुझे यह पूछने की इच्छा न जाने कितनी बार हुई। पर...फिर सोचा कि कभी न पूछूँ।

वर्ष के बाद वर्ष जाते हैं। मुझे अब सब समझ में आ रहा है। भाई के न रहने से बहिन क्यों रोती है? बहिन के अभाव में भाई क्यों उदास रहता है? आदि सब बातें समझ में आ रही हैं और अब मुझे ऐसा जब कभी मालूम होता, उस समय जूलिया आँखों के सामने आ जाती है।

अठारह वर्ष की रूप-सुन्दरी ऊँची कितनी ही लड़कियाँ साइकिल पर जाती हुई मुझे दीख पड़ती हैं। एक समय जूलिया भी ऐसे ही जाया करती थी। और मेरी ओर देखकर

हँसते हुए मुझे अपने साथ ले जाती थी। ये दूसरी लड़कियाँ मेरी ओर देखती तक नहीं।

• • • •

जूलिया कहाँ होगी? उसे मेरी याद आती होगी क्या? उसके कपोलों पर कई बार रखा हुआ गाल! उससे कही हुई बातें...! इन सबकी याद न होगी क्या उसे? एक भी प्रश्न का उत्तर मुझसे निश्चित रूप से देते नहीं बनता और ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर मन की स्थिति बहुत ही दयनीय हो जाती है।

जुलि! मैं तुझे नहीं भूला। सदा के लिए तूने मेरे दिल में एक मूक व्यथा पैदा की है। लेकिन...उसमें भी मज़ा है। दुःख में ही पिछला सुख याद आता है। और धीरे-धीरे उसका मूल्य बढ़ता जाता है। फिर यों भी मालूम होता है कि वह अमूल्य है।

मेरी बहिन भी अब मुझसे दूर चली गई है। मैं समझता हूँ कि वह मुझे खूब पत्र भेजे, पर वह—उसे क्या काम रहता है, पता नहीं—कभी-कभी बहुत देर कर देती है उत्तर भेजने में!

जूलिया की याद एकदम ऐसे ही मौक़े पर आती है। ऐसी याद आने पर मैं टेबल पर सिर रखकर निस्तब्ध पड़ा रहता हूँ। कुछ समय योंही बीत जाता है। फिर अनायास हाथ जेब में जाता है और वह जूलिया का दिया हुआ शीशा ले आता है। दूसरा हाथ टेबल पर पड़े हुए कागज पर लिखता है—जूलिया!

उस दर्पण को मैं अच्छी तरह पकड़ता हूँ। फिर उन अक्षरों पर रखता हूँ। फिर उसे ऊपर उठाता हूँ। उस शीशे का जादू शुरू होता है। वह काग़ज़ जैसे-जैसे दूर होता जाता है वैसे-वैसे ही वे अक्षर बड़े होते जाते हैं।

'जूलिया!'

'जूलिया!'

'जूलिया!'

और फिर वे इतने बड़े होते हैं कि फिर वहाँ कुछ भी नहीं दीखता।

अनुवादक, श्रीराम शर्मा।

द्वादशी

[रामचन्द्र तिवारी]

उपजाये भगवान, सकल सृष्टि, जिन निर्मई।
भाव वृन्द-मृदु-तान, जन-मन-हिय थिर ह्वै बसहु ॥ १ ॥
पागल ढूँढ़े पेड़ चढ़ि, कस करियत बकवास।
टेरत-टेरत थकि रही, कोमल नान्ही घास ॥ २ ॥
शांति-शांति चिन्तन करें, रे पागल मदहोस।
यह[1] छाँड़े वह[2] देख तो, तोसों कितने कोस ? ॥ ३ ॥
अरे विश्व-प्रेमी ठहर, कर तो तनिक विचार।
पगले तू निज प्रति करै, किस विधि, कितना प्यार ? ४ ॥
ढूँढ़त पावत एक नहिं, सब दिशि अधिक अँधेर।
करि प्रकाश लखु सामुहें, पर्यो रतन को ढेर ॥ ५ ॥
छाया पकरन धावतो, दै प्रकाश को पीठि।
मूरख दीपक ओर चल, पुनि दै पाछे दीठि ॥ ६ ॥
दिया बुझाये होत का ? रे कायर सौ पोति।
निज हिय आँखिन आँजिये, सहै सत्य-सी ज्योति ॥ ७ ॥
कर पद सब जकड़े अहैं, नैन न राह सुझाहिं।
धर्म-कुण्ड कँह छाँड़ि चल, विद्या-सागर पाँहि ॥ ८ ॥
बूड़्यो चिन्ता सिंधु में, पागल जे घबराय।
पैरत से निर्द्वन्द ह्वै, निज पन दियो भुलाय ॥ ९ ॥
रे अदृश्य तेरो पतो, केहि विधि पायो जाय ?
दुर्ग अँधेरो, द्वार पै, क्षीण दीप लहराय ॥१०॥
ढँपी तुपी अँधकारमय, सत्य पवन नहिं लाग।
कैसे नहिं कड़्वो धुवों, दै अतन्र की आग ? ॥११॥
पागल सुधि कर, चेत तो, रे बाती के खेल।
दीपहु माटी भो चहै, जात सिरानो[3] तेल ॥१२॥

---

१ चिन्तन। २ शांति। ३ खत्म होना।

मानव-जीवन का मर्म

[अमेरिका के दार्शनिक विलियम ड्यूरंट की Meaning of life नामक पुस्तक में से 'जीवन का अंतिम हेत्वर्थ क्या ?' इस प्रश्न पर विश्व के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के उत्तर नीचे अनुवादित करके दिये जाते हैं।]

पं० जवाहरलाल नेहरू का पत्र

'प्रिय मि० ड्यूरंट,

आपके पत्र में प्रस्तुत किये गये प्रश्न बड़े मनोरंजक पर साथ-ही-साथ ज़रा भयंकर भी हैं, क्योंकि आपके पत्र के आरंभ के अंश के साथ बहते चलें तो ऐसा लगने लगता है कि सचमुच, यह सारा संसार का आल-जाल एकदम हेतुशून्य है और मानव के प्रयत्न व्यर्थ हैं। इन प्रश्नों के विषय में मेरी राय आप पूछ रहे हैं; पर वह देने का मुझमें अधिकार नहीं है, ऐसा ही मुझे लगता है। इस समय मुझे अवकाश नहीं है यह तो है ही; परन्तु वैसे भी आपकी उपस्थित की हुई शंकाओं का विशद समाधान करना मेरे लिए मुश्किल ही होता।

हम हिन्दू लोग बड़े वेदान्त-प्रिय समझे जाते हैं; लेकिन मैं ख़ुद तो वेदान्त से सदा चार हाथ दूरी पर ही रहा हूँ; क्योंकि पहले ही से मुझे ऐसा लगने लगा कि वेदान्त से मेरी बुद्धि चकराती अधिक है, और उससे मुझे मनःशक्ति या कार्य-स्फूर्ति नहीं मिलती। धर्म का भी मेरे दिल पर ज्यादह असर कभी नहीं पड़ा। पांडित्य बताने के लिए और दिखाने के लिए जैसे हम सभी करते हैं, वैसी थोड़ी-सी कोशिश भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में मैंने भी की। उसमें मेरा जी कुछ रमा और उससे मेरी दृष्टि भी कुछ व्यापक हुई; पर तोभी मेरी बुद्धि को निश्चितता नहीं मिली। मेरे मन में अनेक शंकाएँ बनी ही रहीं। मैं कुछ-कुछ नास्तिक ही बना रहा। ख़ुद मेरे निकट जिनका स्वरूप ठीक तौर पर स्पष्ट न था, ऐसे अनेक सामाजिक और राष्ट्रीय ध्येयों से मुझे प्रेम हो गया। फिर मानो धीरे-धीरे वे सब अस्पष्ट कल्पनाएँ मिलकर एक बड़ी कल्पना बन उठीं। इसी को मैं कहूँ भारत की स्वतंत्रता। यही मेरा ध्येय हो गया। भारत की स्वतन्त्रता का अर्थ मैंने कभी भी केवल शासन के अधिकारों की प्राप्ति नहीं लिया; परन्तु अपने करोड़ों देश-भाइयों को पीड़ा और गुलामो से मुक्त करने के अर्थ में ही मैंने भारतीय स्वतंत्रता को लिया। इतना ही

नहीं, मेरा वतन मुझे दुनिया-भर के गुलामी में पड़े हुए पीड़ितों का एक प्रतीक जान पड़ा और देशाभिमान की जगह मानव-जाति का अभिमान मन में लेकर मैं दुनिया के सभी मुल्कों के पीड़ितों का मसला लेकर काम करने लगा।

लेकिन इस काम में भी शंका-कुशंका, निराशा का अनुभव होता। जो करके दिखाना है, जी में जिसके लिए तड़पन है, उसी की राह में न जाने कैसे-कैसे विघ्न खड़े दीखते। किंकर्तव्यमूढ़ता ग्रस लेती, मन चकराता।

ऐसे ही समय गांधी से मेरी भेंट हुई।

उन्होंने जो राह दिखाई उससे कार्य सिद्ध होगा, ऐसा दीखा। कम-से-कम वह राह आजमाने-जैसी है। उस राह से जाने से इतने दिनों की जो भावनाएँ और महत्वाकांक्षाएँ बन्द पड़ी थीं उन्हें रास्ता मिलेगा, ऐसा मुझे लगा। मैं उसी काम में कूद पड़ा और कैसी अचरज की बात हुई कि इतने दिन से जो समाधान मैं ढूढ़ रहा था, वही मुझे मिल गया। मैं जान गया कि—

सच्चा समाधान चिर-कर्मण्य रहने में—जिस दिव्य कार्य में मेरा मन रम गया है वही कार्य अविश्रांतरूप से करने में बसा है। विचार या वेदान्त नहीं; पर अविरत उद्योग ही शांति-समाधान का उत्स है।

यह जानने के क्षण से ही मेरे अंगीकृत कार्य के लिए झगड़ने में मैं अपनी पूरी शक्ति लगा देता आ रहा हूँ और उसी में मैंने जो समाधान पाया है, उससे मेरा विश्वास बढ़ता गया है; क्योंकि मेरे जीवन का कोई अर्थ है, ऐसा मुझे प्रत्यय आया है। और मानव-जीवन का हेतु जो नहीं समझ में आ रहा था, वह समझता-सा जान पड़ा है। यह लाभ क्या कुछ कम हुआ?

यह जो मैं कह रहा हूँ उससे आपके खड़े किये प्रश्नों का समाधान मिल ही जायगा, सो नहीं कह सकता; पर मैं कोई तार्किक या वेदान्ती नहीं। मैं तो सिपाहियाना तबीयत का आदमी हूँ। कर्म-तत्पर रहने और मिहनत करने को मिलती रहे तो खुश रहे, ऐसे लोगों में से मैं एक हूँ। इस कारण तर्कशास्त्रीय या जो भौतिक विज्ञान के प्रयोग द्वारा सिद्ध हो ऐसा उत्तर देने में मैं असमर्थ हूँ। विज्ञान, तर्क, न्याय इन पर मैंने विश्वास किया था और उनकी क़ीमत अब भी मै मानता हूँ; पर बार-बार उनकी पंगुता का अनुभव होता है। और उनसे अलग और अधिक प्रबल कुछ शक्तियों से जगत का चक्रनेमिक्रम चल रहा है ऐसा मन को साफ़-साफ़ लगता है। इन शक्तियों को जन्म-जात बुद्धि, दुर्दम्य प्रेरणा चाहे जो नाम दो; पर भौतिक विज्ञान की चौखट में यह शक्तियाँ जमकर नहीं बैठ पातीं, यह भी निश्चित है। इतिहास के पन्ने-पन्ने पर दिखाई पड़नेवाला सम्राटों और संवत्-निर्माताओं की निर्बलता, अवतारी महात्माओं के प्रकाश-दर्शन की भी परवाह न करनेवाली मानव की अप्रतिहत पापवृत्ति, मानवता का बढ़ता हुआ ह्रास और मानव जाति को अधःपात की ओर ले जानेवाले नये-नये संकट—इन सबका विचार मन में आते ही मन जैसे निराशा से व्याकुल हो जाता है। पर इतना सब कुछ होते हुए भी मुझे तो जैसे लगता ही है कि मेरे देश को और संपूर्ण मानव जाति को अब अच्छे दिन देखने को मिलने वाले हैं; और हमारी मातृभूमि की आजादी के लिए जो हम लड़ रहे हैं उससे तो यह भाग्यफल और भी निकट आ रहा है।

इस आशावाद का समर्थन करने के लिए मुझे न कहिये, क्योंकि वह मैं कर

न सकूँगा। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि एक महत्कार्य में जो मैं अपनी अल्प-शक्ति लगा रहा हूँ, वे सब श्रम व्यर्थ नहीं जा सकते। इसी भावना में से मुझे चाहिये जितना समाधान, चित्तस्थैर्य, और शांति प्राप्त होती रहती है। मेरा ध्येय मुझे जल्द मिल जाय ऐसी मुझ में अधीरता भी जगती है; पर सच पूछो तो मैं अपने कर्म के फल की उतनी चिंता नहीं करता। मेरा उद्योग उचित राह से चल रहा है, ऐसा मुझे मन ही मन में विश्वास होने पर फिर उसी उद्योग में से संपूर्ण उत्साह, शांति और समाधान मैं पा लेता हूँ।

सामान्यत: सोशलिस्ट तत्वों की दृष्टि से मैं सब बातों को देखता हूँ और भारत में और दुनिया में और जगह भी सोशलिस्ट-पद्धति की राजनीति-स्थापन हो, ऐसी मेरी इच्छा है। दुनिया में की सब बुराइयाँ खत्म हो जायें तो क्या क्या होगा, यह सब कुछ मैं नहीं कह सकता और न मुझे उन पर विचार करने जैसा ही कुछ लगता है। आज एकदम करने जैसी कितनी ही बातें हैं और उतना कार्य मेरे लिए बहुत है। जगत् कभी भी पूर्णावस्था पर पहुँचेगा या नहीं या आज जैसा है, उससे तो भी बेहतर होगा या नहीं, ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने का साहस मैं नहीं करूँगा; पर जगत् सुधारने के लिए कुछ-न-कुछ किया जा सकता है, ऐसी मेरी श्रद्धा और आशा है; और इसीलिए मैं उद्योग में रोक नहीं देख पाता।

मानव-जीवन का अर्थ और हेतु क्या?—इस आपके मुख्य प्रश्न की मैंने टालम-टूल कर दी, ऐसा शायद आप कहेंगे। यह सच भी है। लेकिन मैं इस जीवन की ओर कौन-सी दृष्टि से देखता हूँ और मेरे उद्योग में मुझे चालना देनेवाले कौन-से विचार हैं, यह कहने में ही आपके प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है, ऐसा मैं समझा, और इसी से यह कह डाला।

आपका—

जवाहरलाल नेहरू।

सुविख्यात नाटककार बर्नार्ड शॉ का जवाब

इस जीवन का अर्थ क्या है, यह आप मुझसे पूछते हैं? पर आपसे कहा किन हज़रत ने है कि वह अर्थ मुझे मालूम है? और असल में आपका प्रश्न ही अर्थ-शून्य नहीं है क्या?

नोबल-पुरस्कार-विजेता अमेरिका के उपन्यासकार सिंक्लेयर लुइ के विचार

धर्म के बिना आदमी के निकट जीवन का मूल्य नहीं प्रगट होगा और दुःख के समय आधार नहीं मिलेगा, यह समझ ग़लत है। ऐसा भय किनके लिए है? उनहीं के लिए जिनके मानस बचपन से ही धर्म-संस्कारों से आविष्ट हैं, जिनके आचार-विचार धर्म के कोल्हू में बचपन में जुते हुए रहते हैं और इस कारण बड़े होने पर भी जिन्हें धर्म के बिना सूना-सा लगता है। मेरे परिचय में ऐसे कितने ही तरुण हैं, जिन्हें बचपन से ही धार्मिक शिक्षा का या मन्दिर-देवता की कल्पना का स्पर्श भी नहीं हुआ; और तो भी मैं उनमें पूरमपूर समाधान और कार्य-निष्ठा पाता हूँ। अपने दुःख का रोना-गाना प्रभु के आगे या उसके मुनीम पुजारी-पादरी के आगे छेड़ बैठने के जो आदी हैं, ऐसे धर्म-परा-

यण आदमियों जितने ही ये धर्म-शून्य आदमी भी सुख-समाधान पा लेते हैं। सांसारिक कर्तव्यों के प्रति उनकी तत्परता और हार्दिकता उतनी ही उनमें भी है। स्वास्थ्य ठीक रहा, टेनिस खेलने जितनी शारीरिक तथा नक्षत्रविज्ञान में आवश्यक इतनी मानसिक मिहनत वे कर सके कि सुख में रह लेते हैं।

आदमी बँध जाने से आस्तिक बनता है और धर्म-देवता मानने लगता है, ऐसा कहने से कोई मतलब नहीं, क्योंकि धर्म-संस्कारों के बिना भी बढ़े हुए और वृद्धावस्था तक पहुँचे हुए आदमी मेरे देखने में आये हैं। उनकी शांति विचलित नहीं हुई है। अपने यहाँ के सुविख्यात अज्ञेयवादी क्लेरेंस डैरो आज चौहत्तर बरस के हैं; पर उनके उल्लास में और जीवन-विषयक तीव्र लालसा में कोई कमी नहीं आई। मैं तो कहूँगा, इस विषय में कोई बुड्ढा धर्माधिकारी भी उनके आगे फीका पड़ेगा; क्योंकि धर्माधिकारियों की तो यह दशा रहती है कि उन्हें स्वर्ग की आशा तो लगी ही रहती है, पर उससे भी ज़्याद: न जाने प्रभु मुझे नरक में तो नहीं ढकेलेगा, इस डर-डर में ही वह मारा जाता है।

जब मैं कोई नाटक देखने जाता हूँ तो उसमें मेरा मन लगता है। उस नाटक का लेखक या सूत्रधार ईश्वर नहीं है। वह अनंत न होकर दो-तीन घंटों में खत्म होने-वाला है, इसकी याद भी मुझे ज्याद: देर नहीं रहने की और न मैं इससे कोई सदाचार ही सीख लेता हूँ; यह सब बातें पुख्ता तौर से जानते होते हुए भी नाटक में जितना रमना चाहिये उतना ही मैं रमता हूँ। उस नाटक के समान ही मैं जीवन के साथ भी तन्मयता बरतता हूँ, तन्मयता से रहता हूँ।

इटली की विदुषी लेखिका गिना लॉब्रोसो का उत्तर

प्रिय महाशय,

आपके पत्र के लिए मैं बहुत आभारी हूँ।

आपने जो प्रश्न पूछा है, उसने दूसरों के समान मुझे भी बहुत बार अस्वस्थ किया है। उस पर विचार करते हुए जो बिल्कुल मनःपूर्वक जवाब देना चाहूँ तो मैं कहूँगी कि यह जीवन प्रेम के आधार पर और प्रेम के हेतु से ही चलता है। जो व्यक्ति आज अपने आसपास जीवित है, जो मृत्यु-वश हो चुके है और जो अपने पीछे से बढ़े होने-वाले हैं, उन सबको अपने जीवन के साथ दृढ़ता से बाँधनेवाली एक ही शक्ति है—प्रेम!

मुझे खूब याद है कि जब मैं छोटी थी तब मैं समझती थी कि मेरे पिताजी के जीवन से अलग मेरा कोई जीवन ही नहीं है; उन्हें ही सुखी रखने के लिए मेरा जन्म है; वे मरेंगे तब मुझे भी मरना आना ही चाहिये।

मेरे पिता जी मर भी गये; पर उनके बाद मुझे अपने जीवन का सर्वस्व अपने पति और बाल-बच्चों में है, ऐसा लगने लगा। मुझे लगता है कि हम जिन्दा रहते हैं और कर्मरत रहते हैं। इन सब के मूल में किसी के विषय में निस्सीम प्रीति अवश्य विद्यमान होती है। स्त्री-बच्चे का घरबारी प्रेम, यह इस प्रीति का सब से स्वाभाविक स्वरूप है।

जीवन का पर्याप्त अनुभव उठाने के बाद, मुझे ऐसा ही लगने लगा कि अपने प्रेम की कक्षा अधिकाधिक विस्तृत बनाकर जितने अधिक व्यक्तियों का उस कक्षा में अंतर्भाव कर सकें, उतना ही अधिक मानवी जीवन सार्थक हुआ, ऐसा मैं मानूँगी।

अनेक जीवनों को एक सूत्र में पिरोने-वाला प्रेम ही जीवन का मर्म है। बाल-बच्चों का प्रेम सब में श्रेष्ठ है (मैं तो ऐसा कहूँगी ही, मैं स्त्री हूँ न ?) और उसके नीचे समान-धर्मी इष्ट मित्रों का प्रेम।

आपके विषय में आदर-भाव रखनेवाली—

गिना लॉम्ब्रोसो।

अनेक उत्तम ग्रंथों के लेखक और प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डित आँद्रे मोर्वे की विचार-मालिका

प्रिय ड्यूरंट,

मानवी जीवन के हेतु और सार्थकता के संबन्ध में आपने जो प्रश्न पूछे हैं, उनके उत्तर में मैं आपको एक मनोरंजक कहानी सुनाऊँ। सुनिये।

एक बार ऐसा हुआ कि पृथ्वी पर से सुरंग के द्वारा उड़ान करके चंद्रलोक पर जा सके, ऐसा एक वायुयान कुछ अंग्रेज़ स्त्री-पुरुषों ने बनाया और उसमें बैठकर वे लोग चन्द्रलोक पर जा पहुँचे। वे समझते थे कि जैसे यहाँ से चले जा रहे हैं, वैसे ही वहाँ से लौट आयेंगे ; पर उनका वह अन्दाज़ ग़लत निकला। वहाँ से उड़ान लेकर वापिस लौट आनेवाला यान बनाने के उन्होंने कितने प्रयत्न किये ; परन्तु व्यर्थ ! इस प्रकार लाचार बेचारे वे क्या करते ? रहे बेचारे वहीं चंद्रलोक पर !

होते-होते दस बरस बीत गये ; परन्तु इस अर्से में उन स्त्री-पुरुषों ने क्या किया ? उनने अपने सब व्यवहार पूर्ववत् ऐसे ही रखे मानो वे इंगलैंड में ही रहते हों। बोल-चाल, रीति-रिवाज़, समारंभों की शान-बान सब इंगलैंड में की जैसी ! सर चॉर्ल्स सालोमन बने चन्द्रलोक के गवर्नर। वे और उनकी पत्नी भोजन के वक्त निश्चित 'ड्रेस' पहने बिना कभी भोजन न करते। इंगलैंड के राजा की सालगिरह के दिन बृहद् भोज होता, सर चार्ल्स राजा के नाम का जय-जयकार करके पहली शराब की प्याली लेने को सबको कहते और फिर सब मिलकर गंभीर घोष से यह पुकार करते और सब लोग उस पर गद्गद् होते प्रतीत होते।

इस तरह दो-सौ बरस हो गये, तो भी पृथ्वी के साथ किसी भी तरह परस्पर-विनिमय होने का संयोग होते न देखकर चंद्रलोक पर की सातवीं पीढ़ी में के तरुण लोगों को लगने लगा कि लाखों मील दूर पर के ऐसे राजा पर क्यों रखी जाय श्रद्धा ? हमारे बुद्धू पुरखाओं ने उसके नाम की रूढ़ि हमारे पीछे रखी तो हमें तो वह कभी अपनी आँखों से दिखाई भी नहीं देता, फिर उससे बोलना-चालना तो दूर की बात है। नास्तिक और धर्मशून्य विद्यार्थी कहने लगे—अजी ग्रेटब्रिटेन और आयलैंण्ड के राजा, हिन्दुस्तान का बादशाह और चंद्रलोक का अधिपति इस नाते जिसका जय-जयकार किया जाता है, उसका आख़िर कहीं ठौर-ठिकाना भी है ? ऐसा राजा ही नहीं है। आज तक उसके अस्तित्व की सिर्फ़ अफ़वाहें लोगों ने फैलाई हैं, पर अब इसके आगे हम ऐसा कोई राजा-वाजा नहीं मानने के। अर्थात् इस राजा के नाम से जारी हुए क़ायदे-क़ानून और पाप-पुण्य के मूल्य भी हम चारों तरफ़ से खूब जाँच-परखने के बाद, अपने जी को जँचे तो ही मानेंगे।

इस पर कुछ परम्परागत ख़याल के लोग चिढ़कर कहने लगे—अब तुम तरुणों के इस अविचार को मैं क्या कहूँ ? तुम्हें इतना भी क्यों नहीं समझ में आता कि राजा की श्रद्धा नष्ट हो गई तो फिर चंद्रलोक के जीवन में सार क्या बचेगा ? वह श्रद्धा

तजने पर तुम्हें शांति-समाधान कहाँ मिलने का ? उद्योग के लिए उत्साह कहाँ से आवेगा ? संकट के समय में मन को कौन-सा विश्राम रहेगा ?—

पर इस संकेत का कुछ असर नहीं हुआ। तरुणों का नास्तिकवाद ही आखिर जीत गया। सब पुराने खयालात सपाटे से नष्ट हुए। न कोई ईश्वर माने, और न धर्मविधि पाले। किसी को पाप-पुण्य का व्यर्थ भय न रहा, हर कोई स्वतंत्र बुद्धि से चलने लगा, समाज की पुरानी परम्परा पूरी बिगड़ गई, ऐसा लगने लगा। और साहित्य का कुछ न पूछो, उफान आ गया ! कुछ लोगों को लगा कि ऐसी दुरवस्था विनाशकारी तो नहीं ठहरेगी ? अपना कहीं कुछ चूक तो नहीं रहा है ?—

लेकिन उनमें एक बड़ा विचारवान् पंडित था। वह कहने लगा—अरे घबराओ मत ! तुम्हारी राह ग़लत नहीं है। इस जीवन का हेतु इस जीवन के उस पार कहीं गूढ़ता में बसा है, यह सोचकर उसे टटोलते बैठना ही भूल है। राजा राजा कहकर जिसकी पूजा-अर्चा करने की परम्परा हमारे बाप-दादाओं ने डाली, वह सचमुच में है भी, यह कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। पर कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जाता इससे अपना क्या काम रुक जाता है ? पृथ्वी के मंद प्रकाश में इस चन्द्रलोक पर के पहाड़ बड़े सुन्दर दीखते हैं, यह मुझे मालूम है। और ऐसी कितनी ही बातें मुझे साफ़ दीखती हैं। मैंने तो कभी राजा को न देखा, न उसकी आवाज़ मेरे कानों में पड़ी। वह तो वैसा ही अदृश्य और प्रत्ययातीत हमेशा रहनेवाला है। उसके अस्तित्व के लिए मैं सदा सशंक ही रहूँगा, परन्तु मेरे आसपास के जीवन के लिए प्राप्त कर्म के लिए, वस्तु-वस्तु के और व्यक्ति-व्यक्ति की सुन्दरता के लिए, कष्ट और परिश्रम में मिलनेवाले समाधान के लिए मैं पूर्णतः निश्शंक हूँ। चंद्रलोक का भविष्य क्या है, मेरी आत्मा अमर है या नहीं, पुनर्जन्म सच है या झूठ, इन चिंताओं के बोझ के नीचे मैं क्यों फिज़ूल कराहता रहूँ ? इन बड़े-बड़े प्रश्नों के सुलझाने के लिए प्राप्त कर्म रुका तो रहता ही नहीं, और न वह बदलता ही है। फिर इस कर्म में ही तन्मय रहना, इसी में सच्चे समाधान की कुंजी नहीं है क्या ?

ड्यूरंट महाशय, इस कहानी में आपके प्रश्नों के उत्तर आपको मिल जाते हों, तो देखिये। और नहीं तो, चाहो तो और एक कहानी सुनाऊँ। सुनो।

एक था बड़ा-सा बाग़। उसमें की एक क्यारी में चींटियों ने बड़ा भारी घर बनाया। उनकी दौड़-धूप शुरू हुई। हज़ारों चींटियाँ घर में जा रही थीं, हज़ारों बाहर आ रही थीं। सभी में बड़ी खलबली मची हुई थी। इन चींटियों में एक दार्शनिक चींटी थी। उसने अपने साथिनों को रोका और कहा—

बहनो, आज तक हम सब ऐसी श्रद्धा में पलती चली आ रही हैं कि अपने इस घर के बाहर कोई दुनिया नहीं है, एक कोई 'महापिपीलिकादेवी' हम सब पर दयादृष्टि रखकर हमें सम्हाले हुए है, उसी की भक्ति और उपासना से अपने परिश्रम फलीभूत हो जाते हैं। इस अछोर और भयानक मैदान में से काँटे-कंकड़ और नाना कीटकों के मुर्दे कुचलते हुए घूमते रहना और यह घर बनाना, इसमें कितनी दिक़्क़त है ? उसमें सुख कैसा और सुरक्षितता कौन-सी ? पानी के पूर-के-पूर कब आ जायँ, उनका क्या ठिकाना ? चींटियों को स्वाहा करनेवाले पक्षियों के झुण्ड-के-झुण्ड तो आते ही हैं, पर आसमान में बड़े-बड़े बादलों की भीड़ जमकर मूसलधार पानी यदि गिरने लगा कि फिर

तो हजारों चीटियों का एक निमेष में संहार हो जायगा। पर इन संकटों की चिंता न करते हुए हमने कर्म-लग्नता जारी रखी। और उसके कारण 'महापिपीलिकादेवी' पर हमने श्रद्धा रखी और उसी पर अपने सुख-दुःख का सारा भार डाला।

पर बहनो, बड़े अफ़सोस की बात यह है कि हमारी सारी श्रद्धा मूर्खतापूर्ण थी। मैंने इस बात पर बहुत गहरा सोच-विचार किया है और उससे निकला हुआ निष्कर्ष सुनो। हम समझते थे कि अपना घर ही सारा ब्रह्माण्ड है। और महापिपीलिका की सारी कर्मण्यता और दया की वर्षा सिर्फ अपने पर ही हो रही है। पर ऐसा नहीं है। अपने घर-जैसे करोड़ों दूसरे भी घर हैं, और हरएक घर में करोड़ों चींटियाँ हैं, और हर-एक घर में की चींटियों को यही भ्रम है कि बस, अपने सिवा क्या है इस दुनिया में? इतना ही नहीं, पर चींटियों की जाति अरबों-खरबों में यदि गिनी जाती है, तो भी यह जाति ऐसी अनगिनती जीव-कोटियों में से एक है। यह सुनकर तुम्हें कैसा लगता होगा। नहीं? लेकिन इतने ही से क्या होता है। न केवल अपनी जात करोड़ों में से एक है, पर यह जाति दुर्बल में दुर्बल और क्षुद्रों में क्षुद्र ऐसी है। अपने को रौंद डालनेवाले जो प्राणी हैं वे अपनी तरफ़ तिरस्कार से देखकर कहते हैं—'हुँ, चींटियाँ!' और बहनो, इन प्राणियों का गर्व भी सच है, क्या ऐसा समझती हो? ना, ना। उनका भी गर्व खोखला है। वे भी क्षुद्र ही हैं, क्योंकि. जिस भूमि के अपने मालिक हैं, ऐसा वे समझते हैं, वह पृथ्वी ब्रह्माण्ड के आल-जाल में से एक छोटा-सा कीचड़ का छींटा, और उनका युग, अनन्त काल का एक पल।

सारांश, अपना यह सारा जीवन क्षण-भंगुर और व्यर्थ है। इससे मैं तुमसे कहूँ कि काहे के लिए यह इतनी सारी मिहनत? बालू के कणों की किसलिए करना यह क़ुलीगिरी? इस ऊबड़-खाबड़ जमीन पर से काहे के लिए दौड़-धूप करना और काहे के लिए यह सब हाँफना? इस सब मशक़्क़त में से निष्पन्न क्या? मिट्टी? हम चींटियों की नई पीढ़ी निर्माण करेंगे, पर उसका उपयोग? वह भी ऐसे ही पैर दुखायेगी, हाँफेगी और आखिर आदमियों की एड़ी के नीचे बिना चूँ भी किये रौंद दी जायँगी। इसलिए मैं कहूँ कि काफ़ी हुई यह मेहनत, यह गुलामी, यह आत्म-प्रवंचना? कोई महापिपीलिका है, यह भी भ्रम है और अपनी प्रगति या उन्नति हो रही है, यह भी एक भ्रम ही है। किसी भी चीज़ की शाश्वतता नहीं, इस सृष्टि में। सब नाशवान् है और सबकी आँखें हमेशा के लिए बन्द होनेवाली हैं। इतनी ही बात सत्य है—

उस दानिशमन्द चींटी का यह व्याख्यान न जाने कितनी देर और चलता रहता; पर इतने में एक जवान चींटी आदाब बजाकर आगे आई और कहने लगी—दादी मा, आपका यह सब कहना ठीक है। पर कुछ भी हो, तो भी हम, यह मकान बाँधती ही रहेंगी, इतना सच है।

ड्यूरंट साहब, देखिये, इस कहानी में आपको अपने प्रश्न का उत्तर शायद मिल जाय।

मुझे लगता है कि वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से आदमी निराशा-ग्रस्त या निरुत्साही बने, ऐसी कोई बात नहीं है। सृष्टि का आल-जाल बड़ा भारी है। और मानव-जीवन बहुत क्षुद्र है, यह विज्ञान सिखाते हैं। पर इस ज्ञान के आने से भी क्या बिगड़ जाता है? मनुष्य, यानी सारे ब्रह्मांड का क्षुद्र कीटक! अच्छा यही सही। तो भी

कीटक को जिन्दा रहने की इच्छा या स्पर्द्धा नहीं करना चाहिये, ऐसा कौन कहता है ? विज्ञान के अन्वेषण और ज्ञान की प्रगति से मनुष्यों का आत्म-विश्वास उड़ गया है ऐसा कहने में कोई सार नहीं। इन खोजों और प्रगति से यदि कुछ हुआ है तो वह इतना ही कि अपने आस-पास की दुनिया को अपनी इच्छा के अनुसार और सहूलियत के मुआफ़िक़ एक ख़ास प्रवाह देने की नई ताक़त मनुष्य में आ गई है।

आप कहेंगे, नहीं, नहीं ; विज्ञान की प्रगति से इससे भी ज्यादह उलट-पुलट हो गई है। पुरानी भोली मान्यताओं के समय मनुष्यरूपी कीटक को, मैं कीटक हूँ, यह भान न था। मनुष्यत्व की महत्ता के संबंध में बड़ी-बड़ी उदात्त कल्पनाएँ थी। वे समझते थे कि जिनके भले-बुरे की चिंता यक्ष किन्नर देवतादिक रखें और जिन्हें सदाचार के लिए वे शिक्षा दें, ऐसा है मानव ! मनुष्य के हृदय में परलोक के विषय में ऐसी श्रद्धा थी कि जिससे इहलोक के सब दुखों का परिहार हो जावे। विहित कर्म पर और सदाचार के नियमों पर ईश्वर का मुद्रालंकार था, और उससे शोक-शंका के त्रास से मानवी मन छूटा हुआ था। अब इन में से कौन-सी बात बची रही है ? नवयुग में विधि-निषेध और सदाचार के आस-पास परमेश्वर की सम्मति का बल कहाँ है ?—

हवा के झोंके से मेरे इस कमरे की खिड़कियों में लगे हुए पर्दे हिले और सफ़ेद दीवार पर की उनकी कृष्णच्छायाएँ कंपित हुईं। यह देखकर मेरे मन में आया कि सचमुच कैसे तो भी नियमों के बिना आदमी अपनी जिन्दगी नहीं बसर कर सकता। इन संकटों से ख़ुद की जिन्दगी को बचाने की बुद्धि तो उसमें जन्म-जात है। विधि-निषेध और नीति-नियमों की एक जाली उस पर से छीन लेने से वह जन्म-जात बुद्धि एक नया जाला अपने आस-पास बुनती है और अपने को बचाती है। इस जाली को कभी ईश्वरीय आज्ञा का सहारा होता है, तो कभी वैज्ञानिक सिद्धांतों का और कभी राजा के बनाये हुए क़ायदे-क़ानूनों का। सब में एक ही बात है। चंद्रलोक पर सातवीं पीढ़ी के नास्तिकों के समान निशानी केवल निशानी है, सत्य नहीं है ; ऐसा कहने में क्या बिगड़ता है ? इतने से नियमों की व्यर्थता नहीं सिद्ध होती। नियमों में हमेशा फ़र्क होता रहता है, ऐसा कहने से नियमों का महत्व नहीं कम होता। आख़िर में यही न क़बूल करना होता है कि मानवी जीवन और प्रलय की सीमा को पार कर उसके बाहर कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित करने से वह हमेशा ही शंकास्पद रहेगा। अपने को कुछ नहीं मालूम, इतना ही हमें मालूम है (मालूमम शुद हेच कि मालूमम न शुद—उमरख़य्याम) यह मान लेने में कौन-सा बड़ा नुक़सान है ? और यह सीधी सच्ची बात सौक्रेटीस ने कई वर्षों पहिले नहीं कही थी क्या।

शाम हो आई। वह देखो हमारा मकानवाला एक आराम-कुर्सी रास्ते के किनारे खींचकर मज़े से बैठने की तैयारी में है। पड़ोस के और सामने के मकान में दीये बल रहे हैं। लोग भोजन की तैयारी में हैं। मैंने मन में कहा – मेरी शांति का समाधान का मूल कहाँ है भला ? ज्ञान से डरकर दूर भागने में ? या उद्योग की हविस में ?

इतने में सामने के छत के पीछे आसमान में कुछ उजास-सी दीखी। चाँद उदित हुआ !

—अनुवादक, प्रभाकर माचवे

किसान

[यशपाल जैन]

(१)

भूल कर वर्षा-सर्दी-ताप
लगा जो रहता है दिन-रात
भूख का रहता जिसे न ध्यान
न वस्त्रों का है जिसको ज्ञान—

उसी को मिलता कष्ट अपार,
देश का कैसे हो उद्धार ?

(२)

आ गई है जाड़ों की रात
कृषक का वस्त्रहीन है गात
न पैसा और न साधन पास
कहे वह किससे अपनी बात ?—

जलाकर रात रात भर आग
शीत से पाता है वह पार।

(३)

चल रही बर्फ़ समान समीर
देह में चुभती जैसे तीर;
बचाये कैसे नग्न शरीर
पास में उसके एक न चीर—

उसे यों ही सह लेता है
एक भी आह न भरता है।

(४)

पड़ रहा जेठ-मास का ताप
जल रहा भूतल अरु आकाश
बचाने को हाँ ! उसका गात
नहीं है एक वृक्ष तक पास—

पसीना टप-टप गिरता है
काम से कृषक न हटता है।

(५)

भूख से व्याकुल हुआ शरीर
पर न मन उसका तनिक अधीर,
लुओं का आकर लगता तीर
बना है फिर भी वह गंभीर—

तनिक भी कैसे ले विस्राम ?
पड़ा है इतना अब भी काम।

(६)

मूसलाधार पड़ रहा मेह
बिचारे का है फूटा गेह।
खड़ा पानी सारा घर घेर
बचावे कैसे अपनी देह ?—

विवश मन ही मन रोता है
किसी को दोष न देता है।

(७)

नहीं है मुट्ठी भर भी नाज
भूख से पीड़ित है घर-बार
दीन, भूखा किसान असहाय,
देखता औरों का मुख आज—

किया था पैदा जिसने नाज
वही हा ! कौड़ी को मुहताज !

(८)

किसानों का ही है यह देश
उन्हीं का ऐसा दारुण वेश !
मूक हो सहें रात-दिन क्लेश
दुख भी घेरे रहें अनेक ;—

भला फिर कैसे हो उत्थान ?
मिलें फिर कैसे माँ को प्राण ?

पहाड़ों का प्रेम-मय संगीत

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

[शिमले से नौ मील दूर कोटी रियासत के अन्तर्गत एक पहाड़ी मेला लगता है जिसे 'सीपी' का मेला कहते हैं। उस मेले की अपनी विशेषताएँ (?) हैं जिनके लिए वह भारत भर में प्रसिद्ध है। वहाँ जुआ भी होता है, शराब भी उड़ती है, पहाड़ी युवतियों का जमाव भी रहता है। बड़े-बड़े पदाधिकारी मेले की रौनक़ बढ़ाते हैं और दूसरी भी कई विचित्र बातें देखने को मिलती हैं। तीन वर्ष हुए मेरी उत्सुकता मुझे वहाँ ले गई थी। मैंने जो कुछ वहाँ देखा और जो कटु अनुभव मुझे हुए उन पर मैंने तेरह परिच्छेद की एक पुस्तक 'एकरात का नरक' के नाम से लिखी है, उसका एक अंश, जो एक कहानी के रूप में है—'वह मेरी मँगेतर' के शीर्षक से जनवरी, १९३७ की 'सरस्वती' में निकल चुका है। इसी पुस्तक का एक दूसरा अध्याय मैं यहाँ दे रहा हूँ।]

वृक्षों की घनी छाया में पार्टी दायरा बनाकर बैठ गई। सुबह दस बजे छोटे शिमले से चलकर नौ मील लम्बे रास्ते की चिलचिलाती धूप में जलने और मार्ग की गर्द फाँकने के पश्चात् तनिक विश्राम आवश्यक था, भूख भी कुछ लग आई थी, इसलिए लाला भोलानाथ और श्री रामलाल ने कुली के सिर से मिठाई और फलों का टोकरा उतरवाया। सबके आगे पुराने समाचार-पत्रों का एक-एक पन्ना रख दिया गया। लाला भोलानाथ ने मिठाई परसनी आरम्भ कर दी। उसी समय समीप के वृक्षों के परे चलते हुए पंगूड़ों में-से किसी एक में बैठी हुई किसी पहाड़ी युवती ने झूलते समय तान लगाई—

'तुध पिछियाँ मैं होई बदनाम लोका !'*

लम्बी तान, ऊँचे स्वर से गाया जानेवाला पहाड़ी गीत, रमणी का युवा कंठ और झूले में झूलते समय की मस्ती ! गीत वायु के कण-कण में बस गया। रिक्सा-ड्राइवरों और ग्वालों की मोटी आवाज़ से कई बार पहाड़ी गीत सुने थे, कई बार बारीक स्वर रखनेवाले युवकों को भी अपनी आवाज़ के करिश्मे दिखाते देखा था, लेकिन ऐसी लय, ऐसी हृदय-स्पर्शी तान, ऐसी मादक संगीत-लहरी सुनने में न आई थी।

---

* ऐ मेरे प्यारे, मैं तेरे कारन बदनाम हो गई हूँ !

सहसा बाबू सालिगराम ने मेरे विचारों का सिलसिला तोड़ दिया—किसके विरह में कूक रही है ?

नीरस क्लर्कों में एक क़हक़हा गूँजा और फिर सब मिठाई पर टूट पड़े ; किन्तु मेरे कान बराबर उस पहाड़ी गीत को सुनने में व्यस्त रहे। कुछ अच्छी तरह समझ में न आ रहा था। हाँ, तान का आनन्द लिया जा सकता था ; फिर भी जो कुछ समझ में आया हृदय में एक टीस पैदा कर देने के लिए काफ़ी से ज़्यादा था। पहाड़ी गीतों में उर्दू कविता की रदीफ़ और क़ाफ़िये की क़ैद नहीं होती और न छन्द रचना देखने में आती है। उनमें हृदय होता है—पहाड़ी युवतियों का हृदय और होते हैं हृदय के कोमल उद्गार। पहाड़ी रमणियाँ अपने सीधे-सादे सरल शब्दों में वह सब कुछ वर्णन कर देती हैं, जो कवि अपनी लालित्य-पूर्ण भाषा से भी नहीं कर सकता। कदाचित् इसलिए कि कवि का प्रेम-संसार स्वप्न का संसार होता है और इन कान्त कामिनियों का वास्तविक। गीत यों है—

(१) 'गलाँ रियाँ मिट्ठियाँ
दिल्लाँ रियाँ पापनें
तुध पिछियाँ मैं होई बदनाम लोका !'

(२) 'थोड़ी थोड़ी बुरी
मापियाँ री लगदी
सजनाँ दे बुरे बजोग लोका ?'

(३) 'चिट्टे चिट्टे कपड़े
भगवें रंगा दे
करि लैना जोगियाँरा भेस लोका !'

कैसा करुणापूर्ण गीत है ! था तो बहुत लम्बा किन्तु मुझे स्मरण नहीं रहा। पहाड़ी गीतों में ही क्यों, पहाड़ी वातावरण में, समाज में, सभ्यता में एक बात है और वह है 'रोमांस' (romance) जिस रोमांस के हम क़िस्से पढ़ते हैं, सिनेमा के परदे पर देखकर उल्लसित होते हैं, उसे यदि प्रत्यक्ष देखना हो तो पहाड़ी लोगों में देखिये। जहाँ प्रेम वायु की नाईं बहता है, जहाँ पहाड़ी युवतियाँ छिपकर प्रेम के गीत नहीं गातीं, बल्कि दूध के बर्तन उठाये चलती हुई गीत गाती जाती हैं। गायों को चराती हुई ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर चढ़कर पहाड़ी गीतों को, प्रेम के सने हुए पहाड़ी गीतों को, प्रकृति की निस्तब्धता में गुँजा देती हैं। मर्दों की उपस्थिति उन्हें गीत गाने से नहीं रोकती और प्रायः वह अपने पुरुषों के साथ-साथ स्वर में स्वर मिलाती हुई गाती चली जाती हैं। पहाड़ी ग्वाले, मार्ग चलते-चलते अपनी बाँसुरी में ; पहाड़ी रिक्सावाले काम से अवकाश मिलने पर किसी हवाघर में बैठकर ; पहाड़ी चमार जूतियाँ गाँठता-गाँठता किसी ऐसे ही मर्मस्पर्शी गीत को अलाप उठता है।

---

(१) प्यारे, तेरी बातें तो मीठी हैं, परन्तु तेरे दिल में पाप भरा प्रतीत होता है। मैं तो तेरे कारन बदनाम हो गई हूँ !

(२) माँ-बाप का विछोह दुखदायी होता है, बुरा लगता है, परन्तु वह प्रियतम के विछोह का क्या मुक़ाबिला करेगा ?—कितना सत्य है—कटु सत्य !—'सजनां दे बुरे बजोग लोका।'

(३) अपने श्वेत वस्त्रों को मैं भगवें रंग में रँगा लूँगी और तेरे लिए जोगन का भेस धारण करूँगी !

मुझे किसी अवसर पर सब प्रकार के पहाड़ी गीतों को सुनने की बड़ी अभिलाषा थी। इस मौके को ग़नीमत समझ मैं उधर को चल पड़ा, जिधर से गीत की ध्वनि आ रही थी।

जहाँ हम बैठे थे, उस स्थान और पंगूड़ों के मध्य में वृक्षों का एक झुण्ड था। उनको पार करके मैं पंगूड़ों के सामने जा खड़ा हुआ। कोई दस पंगूड़े एक ही पंक्ति में लगे हुए थे, किंतु चल एक ही रहा था। अभी तक मेला लगा नहीं था। मेले के भरपूर होने का यह तात्पर्य नहीं कि मेले में रौनक़ न थी। रौनक़ खूब थी। जूए का बाज़ार ख़ूब गर्म था। भोले-भोले व्यक्ति अपनी जेबों को शीघ्रता के साथ ख़ाली कर रहे थे; हलवाइयों की मिठाइयाँ भी खूब बिक रही थीं। पकौड़ीवाले के हाथ भी विद्युत् वेग से चलते थे, किन्तु वह चीज़ न थी जिसे देखने के लिए 'सीपी' के मेले में ९० प्रतिशत लोग जाते हैं। अभी तक 'मीना बाज़ार' नहीं लग था। इसका वर्णन आगे चलकर करूँगा, यहाँ केवल इतना ही समझ लीजिये कि अभी पहाड़ी युवतियाँ काफ़ी संख्या में नहीं आई थीं। एक पंगूड़े पर एक पहाड़ी रमणी मुँह पर पाउडर, चेहरे पर सुर्ख़ी और आँखों पर ऐनक लगाये बैठी थी। ऐनक—हाँ ऐनक ही। मैं आँखों को मलकर देखने लगा। मेरे लिए यह अद्भुत बात थी। जब तक मैं खड़ा रहा, वह बराबर पंगूड़े में बैठी रही, मैंने समझा इसने सीज़न पास Season Pass ले रखा है, किन्तु बाद को ज्ञात हुआ कि वह एक पेशेवर स्त्री थी, उसी तरह की जो हमें रास्ते में मिली थी और पंगूड़ेवालों ने उसे आकर्षण के लिए बिठा रखा था। मैं कितनी देर इसी आशा में खड़ा रहा कि वह अब भी अपनी सुरीली तान अलापेगी पर प्रतीत होता है, पहली गानेवाली कोई और ही थी।

वहाँ से निराश होकर मैं बाईं ओर को मुड़ा। पहाड़ी स्त्रियों के लिए जो स्थान नियत था वहाँ केवल दो तीन स्त्रियाँ बैठी थीं। यह जगह ज़रा ऊपर पहाड़ी पर थी। नीचे बिसातियों की सस्ती जापानी वस्तुओं की दुकानें लगी हुई थीं। यह छोटा-सा बाज़ार था। इसमें अभी अधिक रौनक़ न थी। यह बाज़ार बड़े बाज़ार में मिल जाता था जिसके आधे भाग में हलवाइयों और आधे में जूएवालों की दुकानें थीं। मैं पंगूड़ों के सामने से हटकर छोटे बाज़ार से होता हुआ ऊपर को चला, क्योंकि मैं उस तिब्बती स्त्री से कुछ पूछना चाहता था, जो बड़ी सरलता से हिन्दी बोलती थी और अंग्रेज़ी ग्राहकों को अंग्रेज़ी में उत्तर देती थी।

मार्ग में मुझे एक बाँसुरीवाला पहाड़ी मिला। बाँसुरी पहाड़ियों का अपना बाजा है। यही संगीत-मय पहाड़ की जान है। मुझे स्मरण है, अपने देश में जब भी कभी किसी बाँसुरीवाले से भेंट होती तो उससे प्रायः 'पहाड़ी' गाने के लिए ही अनुरोध होता। फिर यह कैसे संभव था कि पहाड़ी मेला होता और बाँसुरी बेचनेवाला न होता। मुझे भी कुछ बाँसुरी बजाने का शौक़ है और यद्यपि पाँच वर्षों में कई बाँसुरियाँ तोड़ चुका हूँ, किन्तु हूँ वहीं, जहाँ से पहले चला था मैंने एक बाँसुरी लेकर उसमें फूँक दी। बाँस की पोरी सुरीली ध्वनि से कूक उठी। शायद इस बात की फ़रियाद कर रही थी कि भगवान् कृष्ण के अधरों से लगकर उसे जो आनन्द प्राप्त हुआ था वह अब नहीं होता। मेरा बाँसुरी ख़रीदने का कोई विचार तो था नहीं। मैं तो पहाड़ी गीत सुनना चाहता था। इस विचार से कि बाँसुरीवाले को अवश्य पहाड़ी गीत आते होंगे, मैंने उसे बाँसुरी वापस देते हुए कहा।

'क्यों भई, कोई पहाड़ी गीत भी आता है?'

'बीसियों आते हैं।'

मेरा चित्त प्रफुल्लित हो उठा। मैंने जेब से नन्हीं-सी सुनहरी पॉकेटबुक निकाली और कामिनी-सी नाज़ुक श्वेत पेंसिल को हाथ में लेकर गीत लिखने के लिए उद्यत हो गया।

पहाड़ी ने मेरी ओट आश्चर्यान्वित आँखों से देखकर अपनी भाषा में पूछा—क्या सुनना चाहते हो 'देवरा', 'छोरुआ', 'मोहना' ? मैं छोरुआ और मोहना सुन चुका था, इसलिए कहा—

देवरा सुनाओ।

उसने मेरे समीप होकर एक गीत सुनाया। मैं निस्तब्ध-सा खड़ा रह गया। गीत अत्यन्त अश्लील था। मैंने उसकी ओर देखा। वह हँस रहा था।

'क्यों बाबू जी, कैसा रहा ?'

मैंने कहा—कोई सीधा-सादा गीत सुनाओ ; गन्दा नहीं चाहिये।

पहाड़ी ने एक बार मेरी ओर देखा और हँसता हुआ चला गया। मैं खिन्न-सा कुछ देर चुपचाप खड़ा रहा ; फिर मैंने पॉकेट बुक को पुनः अपनी जेब में रख लिया। शायद बाँसुरी-वाले ने अपना बहुमूल्य समय मुझ-जैसे नासमझ और नाक़दरशनास के लिए गँवाना उचित नहीं समझा। न मैंने उससे बाँसुरी ख़रीदी, न उसके गीत की प्रशंसा की। उस गीत का पहला पद्य आज भी मेरी डायरी में उसी प्रकार लिखा हुआ है और उस पृष्ठ पर १० जून, १९३४, की तारीख़ है, जिस रोज़ कदाचित् हमलोग मेला देखने गये थे। पद्य यों हैं—

'भाभी नहान गई नरकंड।'

इसके आगे अश्लील था। बाँसुरीवाले को जो और बीसियों गीत आते थे वह इस अश्लील गीत से बेहतर नहीं होंगे, इसका मुझे पूरा निश्चय है। कदाचित्, 'छोरुआ' और 'मोहना' के गीत ऐसे अश्लील नहीं, पर 'देवरा' के गीत इतने प्रायः भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी नहीं। एक दो नमूने जो बरड़ियों * के मुँह से सुनने में आये नीचे देता हूँ—

'भाभी चली गई है दूर,
पेटे पीड़ कलेजे सूर,
अरकी नेडे शिमला दूर,
हकीम लियाई देवरा
देवरा—बे—लोभिया !' १

और एक दूसरा नमूना है—

'बागे तानी आं में तूत
चिट्टा-चिट्टा रूंदा सूत
मैं गजरेही बे रजपूत
जोड़ी मिल गई वे देवरा
देवरा—बे—लोभिया !' २

१ ऐ देवर, तेरी भौजाई (तेरे साथ सैर करते-करते) दूर निकल आई है, उसके पेट में ज़ोर का दर्द उठा है और कलेजे में शूल उठ रहा है, यहाँ से अरकी (पहाड़ी क़सबा) समीप है और शिमला दूर है, तू शीघ्र हकीम अथवा वैद्य को ले आ—ऐ मेरे लालची देवर !

२ उद्यान में शहतूत के वृक्ष लगाये जाते हैं, रुई का श्वेत सूत उतरता है, ऐ मेरे लालची देवर, मैं गुजरी हूँ और तू राजपूत है, हमारी तुम्हारी जोड़ी ख़ूब मिल गई है !

* पहाड़ों में गाने वालियाँ इनका हाल आगे चलकर विस्तार से आएगा।

इन पहाड़ी मेलों में ख़ास तौर पर और दूसरी जगह आम तौर पर आपको बरड़ियाँ दिखाई देंगी। इनमें वृद्धा और युवा दोनों शामिल होती हैं। पेशे के विचार से यह बिन्ने बनाती हैं, किन्तु प्रायः माँगना ही इनका काम है। परमात्मा ने इन्हें रंग चाहे अच्छा न दिया हो परन्तु नक़्शा देते समय कृपणता से काम नहीं लिया। स्वर तो इनका जादूभरा होता है। यह गाती और माँगती फिरती हैं। बिगड़े दिल लोग इन्हें बिठलाकर गाना सुनने के साथ अपनी आँखों और विलासी हृदय की तस्कीन का कुछ सामान भी कर लेते हैं। वे हर प्रकार के व्यङ्ग को मुसकराहट में टाल देती हैं और प्रायः ऐसे हज़रात की जेबें ख़ाली कर जाती हैं। इनके सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु मैंने यह देखा है कि जहाँ किसी ने ज़रा भी हस्तक्षेप करने की कोशिश की, वहीं वे भाग गईं।

'सीपी' में भी इनकी दो-तीन टोलियाँ आई हुई थीं। मैं बाँसुरीवाले की मूर्खता से निराश होकर आगे चलने ही को था कि मेरे कानों में बड़ी बारीक मनोमुग्धकारी आवाज़ आई। नज़र उठाकर देखा तो बाज़ार से ज़रा ऊँचे पहाड़ी पर एक वृक्ष के नीचे कुछ बरड़ियाँ गा रही थीं। एक-दो ने कानों पर हाथ रख लिया था। कमर में लँहगे, गले में क़मीज़ें, उन पर जाकटें, सर पर रँगे हुए दुपट्टे, कानों में बालियाँ, काले मुख उबटन से चमकाए हुए, अधरों पर दातन का गहरा रंग, तीखे नक़्श, छातियाँ तनी हुई, श्याम वर्ण के बावजूद आने-जानेवालों को आकृष्ट कर रही थीं। वह सब मिलकर जादू भरे गले से गा रही थीं और आने-जानेवालों को दबी आँखों में देख भी लेती थीं।

मैं उधर चल पड़ा।

एक-दो सिक्खों, दो-एक पहाड़ियों और तीन-चार दूसरे मूक दर्शकों के घेरे में बैठी हुई गा रही थीं; चार युवा थीं, एक वृद्धा। मैं इस टोली के पीछे जाकर खड़ा हो गया। उस समय वह सिक्ख महाशय की जेब से एक-दो पैसे निकालने का प्रयास कर रही थीं और वह शायद मुफ़्त में आनन्द लेनेवालों के मतानुयायी थे। गीत को मध्य ही में बन्द करके एक ने जो सबसे सुन्दर थी कटाक्ष के तीर छोड़ते हुए कहा—

'दो सरदार साहिब! एक-दो पैसे दो, 'वाहगुरू' आपका भला करे!'

'एक-दो क्या, आठ आने लो, रुपया लो, पर जो मैं कहता हूँ वह भी तो करो!'

'आप क्या कहते हैं?'—एक युवती ने मुसकराकर कहा।

'हमारे साथ चलो!' और इसके साथ ही सरदार साहिब ने आँख का इशारा किया, 'यहाँ दिन भर में भी एक रुपया न मिलेगा।'

बरडी ने कुछ शरमाकर, कुछ हँसकर उनकी ओर से मुँह फेर लिया और एक सिपाही की ओर देखकर बोली—

थानेदार साहिब, आप ही एक-दो पैसा दें। परमात्मा आपका इक़बाल दूना करे।

'थानेदार साहिब' केवल मुसकरा दिये।

इस बीच में एक की दृष्टि मुझ पर पड़ गई। उसने उस युवती को मुझसे माँगने का इशारा किया।

वह मेरी ओर मुख़ातिब हुई।

'बाबू साहिब, आप ही कुछ मेहरबानी करें, परमात्मा आपको पास करे, नौकरी दिलाये।'

भारतवर्ष के युवकों में बढ़ी हुई बेकारी का हाल इन बरड़ियों को भी ज्ञात था। इसी

लिए उन्होंने दो ही बातें कहीं। उनके समीप मेरी आयु के युवक के लिए या पढ़ना था या बेकार फिरना।

वह सिक्ख महाशय मेरे आगे बैठे थे। उन्होंने मुँह फिराकर मेरी ओर देखकर कहा—हाँ, यह अवश्य देंगे। इनकी जोड़ी भी तुमसे मिलती है!

बरड़ी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। मैं कुछ खिन्न हो गया; हँसा अवश्य, किन्तु मैं नहीं हँस रहा था, लज्जा हँस रही थी।

'पहले कुछ सुनाओ भी'—मैंने हैट उतारकर घुटने पर रखते हुए कहा।

मेरे कहने के साथ ही उनका एक स्वर वायु में गूँज उठा—

'ओ ताँ जान करन कुरबान, जिन्होंने दर्शन पालए ने!' ※

मैंने उन्हें रोककर कहा—यह नहीं, यह तो मैंने देश में भी बहुत सुने हैं, कोई यहाँ का गीत सुनाओ—छोरुआ, मोहना अथवा कोई और। बरड़ियों ने कानों पर हाथ रखे और छोरुआ गाने लगीं। छोरुआ सब पहाड़ों में गाया जाता है। गाँव-गाँव में इसके गाने के पृथक् तरीके हैं। उन्होंने जो गीत सुनाया वह यों था—

(क) 'ब्राह्मण रा छोरुआ ओ!
शिमले न जाना मंगी खाना,
तू तो बेईमान बनिया।'

(ख) 'ब्राह्मण दा छोरुआ ओ!
देश बगाना नीवें चलना,
तू तो बेईमान बनिया।'

(ग) 'ब्राह्मण दा छोरुआ ओ!
रुसी के न जाई मेरे जानियाँ,
तू तो बेईमान बनिया।'

छोरुआ की एक और तर्ज़ जो मैंने एक पहाड़ी के मुँह से सुनी थी यों है—

(घ) 'ब्राह्मण दा छोरुआ—ओ बेईमान!
तू तो टुर गयों छोटे शिमले जू
मेरी रोन्दी दे भिज गये तिन्ने कपड़े,
ओ बेईमाना,
ब्राह्मण दा छोरुआ—ओ बेईमाना!'

※ (एक पंजाबी गीत) जिन्होंने तुम्हारे दर्शन किये हैं, वे अपनी जान की क्या परवाह करते हैं।

(क) ऐ हम ब्राह्मण युवक! तू शिमले न जा, हम यहाँ माँगकर निर्वाह कर लेंगे। तू बेवफ़ा निकला, जो मुझे यहाँ छोड़कर शिमला जाने को तैयार हो गया।

(ख) (दोनों कहीं भाग जाते हैं—प्रेयसी कहती है) ऐ ब्राह्मण युवक, यह पराया देश है, यहाँ अकड़कर नहीं, नम्रता से चलना चाहिये।

(ग) ऐ ब्राह्मण युवक, मुझ से रुठकर न जा, मेरे जानी, बेवफ़ा न बन!

(घ) ऐ बेईमान! (प्रेम के साथ प्रेमी को बेईमान, अर्थात् बेवफ़ा कहा है) तू तो छोटे शिमले चला गया; किन्तु तेरे वियोग में रोते हुए मेरे तीनों वस्त्र भीग गये हैं!

पिछले ज़माने में जब लड़ाइयों-भिड़ाइयों के दिन थे, रास्ते ऊबड़-खाबड़ और दुर्गम थे, चोर और डाकुओं का डर बना रहता था और जो लोग परदेश जाते थे, उनके आने का ठिकाना न होता था, तब देश की युवतियाँ, नव-विवाहिता वधुएँ, अपने प्रेमियों और पतियों को परदेश जाने से रोकती थीं ; उनकी जुदाई से उनकी आत्मा सिहर उठती थी। महायुद्ध के समय के ऐसे अनेकों गीत पंजाब में भी मौजूद हैं। देखिये, अपने प्रियतम की जुदाई में पंजाबी दुल्हन रोकर, सिहरकर, किस प्रकार उसकी शिकायत करती है—

'देखो सख्यो नी मेरा ढोल कमला,
मेरा ढोल कमला,
आर गगानी सख्यो पार जमना,
सख्यो पार जमना,
बिच बरेती धक्का देनी गया सी!' *

प्रेयसी के लिए अपने प्रियतम की उपस्थिति के आगे नौकरी कोई महत्व नहीं रखती। अपने प्रेमी के साथ वह फ़ाक़े रहकर भी गुज़ारा कर सकती है ; यह ख़्याल कि सौ योजन पर बैठा हुआ उसका पति १००) प्रति मास कमा लेगा, उसे तनिक भी सान्त्वना नहीं देता। वह उसकी जुदाई की कल्पना से ही विह्वल होकर पुकार उठती है—

'बीबा न जा!
वे मैं हरदम नौकर तेरियाँ—
बीबा न जा,
वे बीबा न जा!'

हाँ तो, जब उसकी प्रेमिका प्रतिक्षण उसकी सेवा में हाज़िर रहने को तैयार है, उसकी नौकरी बजाने को तैयार है, तो फिर उसे नौकरी पर जाने की क्या आवश्यकता है?

कुछ इसी प्रकार की दशा पहाड़ी युवतियों की भी है। शिमले के मौसिम में निर्धन पहाड़ी युवक आजीविका पैदा करने के निमित्त पाँच-छः महीनों के लिए शिमला आ जाता है। उसके वियोग का ध्यान करके ही पहाड़ी प्रेयसी अलाप उठती है—

'शिमले न जाना, मंगी खाना!'

काँगड़े के पहाड़ में जिस प्रकार छोरुआ गाया जाता है, वह भी सुनिये—

'ब्राह्मण दा छोरुआ ला तेरे ताईं लोकी कह दे कंजरो!
भला ओ साजन मेरि आला,
तेरे ताईं लोकी कह दे कंजरी,
ब्राह्मणा दा छोरुआ!' ‡

---

* ऐ मेरी सखियो, तुम यहाँ आओ तो देखो कि मेरा भोला स्वामी मुझे कहाँ छोड़ गया है—इस ओर गंगा है, उस ओर जमना है औ वह मुझे बरेती (नदी के पानी में सूखी जगह) में धक्का दे गया है। (बेबसी का इससे बेहतर चित्र मिलना कठिन है।)

‡ ऐ ब्राह्मण युवक! तुझसे प्रेम करने के कारण लोग मुझे वेश्या कहते हैं! ओ मेरे सुंदर प्रियतम! तुमसे प्रेम करने के कारण लोग मुझे वेश्या कहते हैं। ओ ब्राह्मण युवक!

लम्बी तानें और दर्दभरे गीत जिनमें पहाड़ी युवतियों के हृदय के उद्गार होते हैं, उनके ही मुँह से सुनने के लायक़ हैं। उन्हें सुनते हुए कौन ऐसा मनुष्य है, जो मन्त्रमुग्ध नहीं रह जाता। आपको ख़ाक भी समझ नहीं आ रहा हो, किन्तु तानें कुछ ऐसी हृदय-स्पर्शी हैं, स्वर कुछ ऐसा मादक है, और उनके गाने की विधि कुछ ऐसी निराली है, कि आप गुम-सुम खड़े सुनते हैं, आप का हृदय गीत की तान के साथ उड़ता रहता है। किसी परदेशी के लिए और भी देशों के गीतों में ऐसा जादू होगा, विश्वास नहीं होता।

तीन-चार पद्य सुनाकर ही बरड़ियों ने गीत बन्द कर दिया और पैसा माँगने लगीं। मैंने उनसे कहा, एक-दो बन्द और सुनाओ।

'यह इतना ही है।'

मैं जानता हूँ, गीत बहुत लम्बा है ; पर शायद उन्हें आता ही न था या वे मुझे सुनाना न चाहती थीं। ख़ैर मैंने एक पैसा फेंक दिया और कहा—अब मोहना सुनाओ!—और मोहना फ़िज़ा में गूँज उठा।

उन गीतों में जो इधर की पहाड़ियों में लोकप्रिय हैं, मोहना सबसे प्रसिद्ध है। इसके अलाप की भी अपने-अपने गाँव की अलग-अलग रीतियाँ हैं, किन्तु सब आकर्षक और मनमोहक!

इस गीत का अपना छोटा-सा इतिहास भी है। कई प्रकार की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों का कहना है कि मोहना एक सुन्दर बलिष्ठ पहाड़ी युवक था। उसकी स्त्री को किसी पदाधिकारी ने छेड़ा। मोहना इसे सहन न कर सका, उसने उस अफ़सर की हत्या कर दी। मोहना को फाँसी मिली। पहाड़ी लोगों ने उसे शहीद का दर्जा दे दिया। उधर उसे फाँसी मिली उधर घर-घर उसके नाम के गीत गूँज उठे। एक-दो यहाँ देता हूँ—

(क) 'किस बजनी वो मोहना किस बजनी,
तेरी बन्दावाली बंसी मोहना किस बजनी।'

(ख) 'चन्ने पियली वो मोहना चन्ने पियली,
तेरे वो बजोगे बोल, बाहेर निकली।'

(ग) 'तू नहीं दिसदा वो मोहना तू नहीं दिसदा,
मेरा पाइया पाइया लहुआ बोल रोजे सुकदा।'

किंतु कुछ लोगों का ख़याल है कि मोहन अविवाहित था और पदाधिकारी की हत्या उसके भाइयों ने की थी। वे सब बाल-बच्चों वाले थे और उनके फाँसी पाने के बाद उनके बाल-बच्चों का क्या हाल होगा, इस ख़याल से मोहना ने अपने आपको भाइयों के लिए परोपकार की वेदी पर भेंट कर दिया। उसने कह दिया, यह हत्या मैंने की है। उसके भाई बच गये, पर वह फाँसी के तख़्ते पर चढ़ गया। कई गीतों में इस बात का ज़िक्र किया गया है—

(घ) 'तखते चढ़ो गया वो मोहना तखते चढ़ी गया,
बोल सुन्दर सिलोना मोहना तखते चढ़ी गया!'

(क) ऐ मोहन, अब तेरी सुन्दर बन्दों वाली बंसरी कौन बजायेगा?

(ख) पिछवाड़े पीपल का वृक्ष है, मैं तेरी जुदाई से तंग आकर जंगल को चल पड़ी हूँ!

(ग) तू कहीं भी दिखाई नहीं देता और तेरी जुदाई में मेरा लहू सूखता चला जाता है।

(घ) हाय, मोहन फाँसी के तख़्ते पर चढ़ गया, सुन्दर सलोना मोहन फाँसी के तख़्ते पर चढ़ गया!

दोनों कहानियों में अन्तिम अधिक सच्ची प्रतीत होती है। और अधिक पहाड़ी लोग भी 'मोहना' गीत के सम्बन्ध में यही कथा सुनाते हैं और बहुत से गीत भी इसी कहानी का समर्थन करते हैं। जैसे—

(अ) 'खाई लै बबरू वो मोहना खाई लै बबरू,
अपनी भाबियाँ दे हत्या या वे खाई लै बबरू।'

(उ) 'तखते चढ़ी गया जी मोहना तखते चढ़ी गया—
अपने भाइयाँ दे वो कारणे मोहना तखते चढ़ी गया।'

लेकिन जिस प्रकार पंजाब का प्रत्येक प्रेमी राँझा है और हर प्रेयसी हीर, इसी प्रकार पहाड़ का हर युवक मोहन है और प्रत्येक बिरहन उसकी भाबी! पहाड़ी प्रेमिका, अपने प्रेमी के बिरह में मोहन के नाम से गीत गाती है। इस गीत के बीसियों बन्द हैं। मैंने बरड़ियों के मुख से जो सुने वही यहाँ दे रहा हूँ।

(क) 'तेरे दर्दें वो मोहना तेरे दर्दे,
बोल, गला मेरा कटिया पैनीये कर्दे।'

(ख) 'फुली दड़ने वो मोहना फुली दड़ने,
बोल, खाया मेरा काल जावो तेरे झड़ने।'

(ग) 'खाना मौअरा जी मोहना खाना मौअरा,
एस पापिये नहीं रहना वो ठल्ली दे शाहुरा।'

इन सीधे-साधे गीतों में कितना दर्द, कितना प्रेम, कितनी टीस, कितनी हसरत है, यह वही लोग जान सकते हैं, जो दिल रखते हैं और जिन्ह ने वियोगी दिलों में कभी पैठकर भी देखा है।

पहाड़ी गीतों में 'छोरुआ, मोहना, लोका, 'देवरा' ही अधिक लोकप्रिय हैं और इसीलिए उल्लेखनीय भी हैं; किन्तु पहाड़ों में नाटियाँ भी गाई जाती हैं। लालित्य, सुन्दरता और भावों के विचार से यह भी किसी पहाड़ी गीत से कम नहीं। इनमें स्वर का उतार-चढ़ाव अधिक होता है—कभी तार (सप्तक) तक उठ जानेवाला और कभी मध्यम से भी नीचा; कभी ऐसे जैसे नदी की लहरों पर तैर रहा हो और कभी ऐसे जैसे पहाड़ की चोटी पर उड़ा जा रहा हो। किसी नाटी को एक बार सुनकर उसे उसी स्वर, तान और लय में गाना प्रायः असम्भव है। पहाड़ी नाटियाँ अधिकतर प्रेम, प्रियतम के साथ भाग जाना, वियोग के दुःख और इसी प्रकार के विषयों पर मिलती हैं। हो सकता है। दूसरे विषयों पर भी गीत मौजूद हैं पर मैं यहाँ वही चीजें दे रहा हूँ। * जो मैंने बरड़ियों के मुँह से सुनीं। हो सकता है, वे वही गीत गाती हों जो अधिकांश सुनने-

---

(अ) भौजाइयाँ, उस मृतक शरीर को देखकर रोकर कहती हैं—ऐ मोहन! एक बार उठ और अपनी भौजाइयों के हाथ का बबरू (मोटी रोटी) तो खा ले!

(उ) अपने भाइयों की करतूत के कारण मोहन फाँसी के तख़्ते पर चढ़ गया।

(क) ऐ मोहन, तेरी जुदाई का दर्द मेरे गले को तीक्ष्ण चाकू की भाँति काट रहा है।

(ख) ऐ मोहन, दड़न (झाड़ी विशेष) फूल रही है, तुम्हारा रूमाल मेरे दिल को बहुत सुन्दर लग रहा है।

(ग) मधु खाने का मौसिम आ गया। यह पापी युवक (देवर पर व्यंग किया गया है) इस बहार में तंग करेगा, इसे ससुराल ढूँढ़ दो!

वालों को अच्छे लगते हैं। मैं भी गीतों की खोज तो कर नहीं रहा था, यह तो इत्तफ़ाक़ ही था कि मुझे ये गीत सुन पड़े नहीं तो यदि मैं 'सीपी' के मेले में न जाता तो शायद आयुपर्य्यन्त यह सब-कुछ सुनने में न आता।

उस समय जब बरढ़ियाँ मोहना गा रही थीं, तो उनकी एक दूसरी टोली कुछ परे बैठी दो शराबियों के मनोरञ्जन का सामान कर रही थी। तीनों युवती थीं। एक ज़रा अधिक सुन्दर थी। पुरुष ने शराब का 'पेग' पीकर उसी को पान दिया, उसने पान लेकर खा लिया। फिर उसने नशे में मस्त होकर उसकी ओर हाथ बढ़ाया, उस समय तीनों वहाँ से भाग खड़ी हुईं। पैसे वे पहले ही ले चुकी थीं। तीनों ही आकर हमारे पास खड़ी हो गईं। ये नाटियाँ इन्होंने ही सुनाई थीं। दो नाटियाँ यहाँ देता हूँ—

(क) 'मूशी दे हाथों दा काली डांडिये छाता
बोल, कूनी पाई चुगली वो, कूनी दीता पाता
हाय बाबू रेञ्जरो कूनी दीता पाता।'

(ख) 'बानरे रा हालटो वो, लोहे रे न फाले
टोपी पाई पाकटे गरारा टांगे डाले
हाय बाबू रेञ्जरो गरारा टाँगे डाले।'

(ग) 'शक चंगे भुलका, धनिया रे न डाले
म्हारे जाने न ठेरो बाबा देगा गाले!'

कहानी यों है कि मूशी (एक युवती) रेञ्जरो के साथ भाग गई है। किसी ने उसके रिश्तेदारों को उनका पता दे दिया। रेञ्जरो और मूशी पकड़े गये। रेञ्जरो को खूब पीटा गया। उसे कष्ट में देखकर मूशी चुगली खानेवाले को कोसती है और कहती है—

'कूनी पाई चुगली, वो कूनी दीता पाता।'

इधर के पहाड़ों में, जैसा कि मैंने कहा, पहाड़ी-गीत प्रेम और इससे सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर ही सुनने में आते हैं। विवाह-शादी पर, पानी भरते और चक्की पीसते समय, और खरास चलाते और गायें हाँकते समय भी पहाड़ी स्त्रियाँ अपनी सुरीली आवाज़ में अवश्य ही सुन्दर गीत गाती होंगी; पर वे कैसे होते हैं, यह मैं नहीं जानता, उनका संग्रह तो भली-भाँति

(क) मूशी के हाथ में काली डंडी की छतरी है, वह रेंज़रो से कहती है कि हाय प्यारे, हमारे भागने का किस पापी ने पता बता दिया, किसने हमारी चुगली खाई।

(ख) दूसरे पद्य में वहाँ के देहाती जीवन की तस्वीर है; मूशी फिर काम-काज में लग गई है—वन की लकड़ी का हल है, उसमें लोहे का फल लगा हुआ है, मूशी ने टोपी जेब में डाल ली है और गरारा वृक्ष की डाली पर टाँग दिया है, पर रेंजरो की याद उसका पीछा नहीं छोड़ती।

(ग) तीसरे पद्य में वह घर के काम-काज में व्यस्त दिखाई गई है। भुलका की तरकारी बनाती है, पर ध्यान तो उसका अपने प्रेमी की ओर लगा हुआ है। शाक में धनिया डालना भूल गई है, इसलिए कहती है—मैंने शाक बनाया है; शाक तो अच्छा बन गया है पर उसमें धनिया डालना ही मैं भूल गई हूँ। अब बाबा मुझे गाली देगा। मुझसे तो यह काम न होगा, मैं तो भाग जाऊँगी; हाँ प्यारे रेञ्जरो, मैं तो भाग जाऊँगी।

खोज करने के पश्चात् ही हो सकता है। हाँ, जो कुछ मुझे सुनने को मिला उससे एक बात भली-भाँति मालूम हो गई कि इन पहाड़ियों में रोमांस वायु के साथ उड़ता है। जो लोग पश्चिम की सभ्यता पर, वहाँ के 'रोमांटिक' वातावरण पर चकित रह जाते हैं, यदि वे इन पहाड़ों पर 'कोर्ट-शिप' (प्रेम-अभिनय) और विवाह की रीतियाँ देखें तो हैरान रह जाँय। स्त्रियों की स्वतन्त्रता इन पहाड़ों में अपनी सीमा तक पहुँची हुई है। पहाड़ी युवती जिससे चाहे प्रेम करती है, जिससे दिल मिल जाता है, उसके साथ भाग जाती है। यह बात कुमारी लड़कियों के सम्बन्ध में ही नहीं कही जाती, वरन् विवाहित स्त्रियाँ भी पति-व्रत धर्म पर आरूढ़ न रहकर अपनी इच्छा के अनुसार प्रेम करती हैं और अवसर पाने पर अपने प्रेमी के साथ भाग जाती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि प्रायः लड़की के मां-बाप उसका विवाह अल्पावस्था में ही कर देते हैं; किन्तु जब वह बड़ी होती है तो उसका मन अपने पति से नहीं मिलता; आज़ादी तो होती ही है, इसलिए भाग जाती है। भागनेवालों के लिए इन लोगों ने आर्थिक दंड के सिवा और कोई सज़ा भी नहीं रखी। यदि वह दो-तीन सौ रुपया दे सकता है, तो वह किसी निकम्मे डरपोक की पत्नी को भगा सकता है। अपने प्रेमी के साथ भाग जाने की कितनी ही घटनाएँ वहाँ बयान की जाती हैं। यदि वे समाचार-पत्रों में आयें तो पश्चिम भी दंग रह जाये। शिमले की इन पहाड़ियों के हालात सुनने के बाद, मेरे मन में सभ्यता के आदि और अन्त के सम्बन्ध में जो विचार था, वह और भी दृढ़ हो गया। मानव-सभ्यता, इन पहाड़ियों में, अपनी आरम्भिक दशा में है; परन्तु इसका रूप वही है जो पश्चिम की सभ्य जातियों का। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि सभ्यता का आदि तथा अन्त एक ही है। यूरोप का नग्न-वाद (nudism) इस बात का समर्थन करेगा। इन पहाड़ी रियासतों में भी परदा नाम को नहीं, स्त्रियाँ मर्दों के बराबर काम करती हैं, खेती-बारी, मेहनत-मजदूरी, सब में पुरुषों का हाथ बँटाती हैं, इसलिए परस्पर सम्पर्क के अनेक अवसर मिलते हैं। इसी में प्रेमाभिनय होता है, इसी में भागने की तैयारी होती है, तो क्या इन बातों को देखते हुए, हम यह कह सकते हैं कि यह पहाड़ी रियासतें सभ्यता में यूरोप से आगे बढ़ गई हैं, अथवा अर्ध-सभ्य हैं? शायद नहीं। शायद यहाँ अभी सभ्यता का आविर्भाव ही नहीं हुआ। फिर क्या यूरोप जिस ओर जा रहा है, जहाँ पश्चिमीय सभ्यता की इति होगी, वह नुक़्ता वहीं न होगा जहाँ से उसका जन्म हुआ था?

इतिहास का व्यापक क्षेत्र

[कृष्णचंद्र विद्यालंकार]

संसार में बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ हुआ करती हैं। इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि किसी व्यक्ति या समाज ने एक नवीन कर्म के प्रचार के लिए प्रयत्न किया; लेकिन उसके फल-स्वरूप किसी नये राष्ट्र या एक शक्तिशाली सैनिक-समाज की उत्पत्ति हो गई। कहीं-कहीं शासक प्रेमी या जनता ने सांसारिक और राजनैतिक स्वार्थों की साधना करते हुए अकस्मात् ही एक नये धर्म या दर्शन की उत्पत्ति कर डाली। कहीं ऐसे भी उदाहरण पेश किये जा सकते हैं कि किन्हीं दो राष्ट्रों में किसी एक प्रश्न पर संघर्ष हुआ और बिल्कुल भिन्न प्रश्नों पर समझौते से शान्त हो गया। किसी एक राष्ट्र की राजगद्दी खाली हुई और उसके उत्तराधिकार-सम्बंधी प्रश्न ने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप धारण कर लिया। किन्हीं दो या तीन राज्यों का संघर्ष नये राज्यों के जन्म का भी कारण बनता देखा गया है।

कभी विभिन्न विचारकों और आविष्कारकों ने नवीन विचार, नवीन शिक्षा एवं विज्ञान या कला का प्रचार किया; परन्तु इसका परिणाम जनता की जनसत्तात्मक शासन आदि राजनैतिक अधिकार-प्राप्ति के रूप में हुआ। अनेक आन्दोलन किन्हीं निश्चित उद्देश्यों को लेकर चलाये गये; लेकिन उनका अन्त विभिन्न परिणामों पर हुआ। बहुत से आन्दोलन व्यावसायिक और व्यापारिक उन्नति के लिए प्रारम्भ किये गये; लेकिन उन का परिणाम राजनैतिक दृष्टि से महान् परिवर्तन, साम्राज्यवाद, हुआ। कभी किसी धार्मिक या दार्शनिक विचार-धारा का प्रारंभ हुआ, लेकिन उसका फल हुआ राज्य का नाश। अनेक बार देश-भक्तों ने राजा के अधिकारों को सीमित कर केवल एक नियन्त्रित एक-तंत्र राज्य चाहा है, तब अनायास ही पूर्ण स्वतन्त्रता जैसे परिणाम हो गये, जिनकी कल्पना भी उन देशभक्तों ने न की थी। किन्हीं दो राष्ट्रों में तनातनी होती है; परन्तु उनसे असम्बद्ध तीसरा राष्ट्र उनके राजनैतिक चक्र में फँस जाता है और पड़ोसी राष्ट्र उसे टुकड़े-टुकड़े कर बाँट लेते हैं।

मानवीय जगत् के इतिहास में प्रकृति के ऐसे खिलवाड़ों—ऐसी अद्भुत घटनाओं का निरीक्षण करनेवाले यदि यह कह दें कि मनुष्य के विकास और ह्रास, उन्नति और अवनति के कोई निश्चित नियम नहीं हैं, तो आश्चर्य नहीं। ये घटनाएँ कार्य से पूर्व

कारण के नियम का प्रतिवाद करती हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है। विज्ञान ऐसे निश्चित नियमों की व्याख्या करता है। भौतिकी विज्ञान, रसायन, ज्योतिष आदि प्रत्येक विज्ञान, निश्चित और अटल नियमों द्वारा ही विज्ञान कहाते हैं। प्रोफ़ेसर मैक्स नार्डन विज्ञान का लक्षण करते हुए लिखते हैं—

'Science in the most limited and only correct meaning of the word is simply the knowledge of the causal connection of phenomena and of the universal natural laws which they express.'

परन्तु विज्ञान का यह लक्षण क्या इतिहास पर नहीं घटता ? क्या इतिहास में कोई कार्य-कारण-भाव नहीं है ? क्या मनुष्य के कार्य बिना किसी नियमों के होते हैं ? क्या जातियों के उत्थान और पतन, धर्मों के अभ्युदय या व्यवसाय का विस्तार, स्वतंत्रता-प्राप्ति या दासता केवल आकस्मिक घटनाओं के परिणाम हैं ? यदि यह ऐसा है, यदि ये घटनाएँ निष्कारण होती हैं, तो प्रश्न उठता है कि आखिर मानव-जीवन का आदर्श क्या है ? मनुष्य या जाति अपनी उन्नति के लिए किस-किस नियम का पालन करे ? वे कौन से साधन हैं, जिनका ग्रहण करके एक अवनत राष्ट्र उन्नति कर सकता है ? क्या इन प्रश्नों का उत्तर इतिहास के पास नहीं है ?

फ्रीमैन नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् इतिहास का लक्षण करते हुए लिखते हैं— 'History is the science of man in his character as a being.'' वह इतिहास को मनुष्य की राजनीति का विज्ञान मानते हैं। इस लक्षण के अनुसार समाज के राजनैतिक कार्य, राष्ट्र का शासन-प्रबन्ध, अन्तर्जातीय संधि-विग्रह, राज्य की उन्नति और अवनति, जातीयता या राष्ट्रीय एकता का विकास और ह्रास ही इतिहास है। लेकिन यह इतिहास उपर्युक्त प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दे सकेगा, इसमें पूरा सन्देह है। परन्तु यदि इतिहास इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता, तो वह कौन-सा विज्ञान है जो इन प्रश्नों का उत्तर दे सके। धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, कामशास्त्र, भूगर्भ-विद्या, भाषा-विज्ञान, भौतिकी, भूगोल आदि में से कोई विज्ञान क्या हमें उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में समाहित कर सकता है ? नहीं। वस्तुतः इतिहास ही इन सब प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, लेकिन अगर इतिहास के क्षेत्र की सीमा फ्रीमैन के लक्षण तक परिमित रखी जाय, यदि इतिहास का क्षेत्र केवल मानव-जीवन की राजनैतिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष घटनाओं और कार्यों तक ही परिमित है, तो इन प्रश्नों का उत्तर इतिहास से मिलना नामुमकिन है। वस्तुतः इतिहास का क्षेत्र इससे बहुत विस्तृत है। ब्रिटिश विश्व-कोष में इतिहास का लक्षण करते हुए लिखा है—

'It is evident that Freeman's definition of history as pastpolitics is miserably in adequate. Political events are mere externals. History enters into every phase of activity and the economic forces which urge society along are so much its subject as the political result. In short, the historical spirit of the age has invaded every field.'

—Encyclopedia Britannica,
vol. १३, पृष्ठ ५२९।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्स नार्डन भी इतिहास के क्षेत्र को कहीं अधिक व्यापक बताते हुए अपने 'इतिहास के अभिप्राय' (Interpretation of History) में लिखते हैं—'History in the widest sense is the sum of the episodes of the human struggle for existence. The definition hardly needs explanation. History is the record of all, great and small, that man has done and suffered, all that he has thought, imagined and achieved within the limits of that natural and artificial environments into which ha was born, in which he has to live and by which any satisfaction of his needs and impulses is conditioned. (पृष्ठ १२)

इस लक्षण के अनुसार महाभारत और पुराण इतिहास हैं। उसमें ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से स्थावर, जंगम, सकल प्रकार के सृष्टितत्व, देवर्षि प्रभृति जीवों का संक्षिप्त परिचय, प्राचीन राजवशों का विवरण, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, आयुर्वेद और धनुर्वेद आदि विविध शास्त्रों की आलोचना है। वस्तुतः इतिहास का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। ब्रिटिश विश्वकोश ने यहाँ तक लिखा कि—Encyclopedia itself is history in the stricter and wider sense. एक और विद्वान लिखते हैं कि—'History is the patricoloured garb of Humanity.'

केवल पाश्चात्य विद्वानों ने इस दृष्टि से इतिहास पर विचार नहीं किया। हमारे भारतीय विद्वानों ने भी इसी विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण से इतिहास को देखा है। 'इतिहास' शब्द का अर्थ ही है (इति-ह-आस) 'यह हुआ था'। सब घटनाएँ जो भी हो चुकी हैं, चाहे वे आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और वैज्ञानिक हैं या किसी क्षेत्र से सम्बंध रखती हों, इतिहास की अंग हैं। महामति चाणक्य भी अपने अर्थशास्त्र में लिखते हैं—'पुराणमितिवृत्तनाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रं अर्थशास्त्रचेतिहासः।' (राजनीति ही नहीं, धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि भी इतिहास के अन्तर्गत हैं।) महाभारत में भी इतिहास का लक्षण फ्रीमैन की परिभाषा की तरह सीमित नहीं बताया गया। उसमें लिखा है—

पुण्यंपवित्रमायुष्यमितिहाससुरद्रुमम्।
धर्ममूलं श्रुतिस्कंधं स्मृतिपुष्प महाफलम्॥

अर्थात् धर्मशास्त्र, स्मृति और श्रुति तक को भी इतिहास के क्षेत्र का विषय माना है।

इन सब प्रमाणों के होते हुए भी मुग़लकालीन इतिहास नाम लेते ही हमारे सामने एक बार बाबर और राजा सांगा की लड़ाई से लेकर बहादुरशाह तक की लड़ाइयों, संधियों का नजारा खिंच आता है। हम इतिहास से राजनैतिक घटनाओं का ही बोध करते हैं। इसका कारण क्या है ?

शुभविभाग के सिद्धान्त के अनुसार एक विज्ञान के विभिन्न अंगों को स्वतंत्र और पृथक् रूप देकर उसे उन्नत करने की प्रणाली ही इसका कारण है। इस अलगाव और विशिष्टीकरण (Specialisation) का प्रभाव इतिहास पर भी बहुत पड़ा है। इससे इतिहास के अंग स्वतंत्र विज्ञानों के रूप में खूब विकास कर पाये हैं, लेकिन इनसे

रहित इतिहास का क्षेत्र संकुचित-सा हो गया है। जनता के राजनीतिक जीवन, अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्जातीय सम्बंध, युद्ध और विग्रह तक इतिहास का क्षेत्र सीमित माना जाने लगा है। मनुष्य के पारिवारिक, सामाजिक, व्यावसायिक, धार्मिक और दार्शनिक जीवन का राष्ट्र पर क्या प्रभाव पड़ता है, इतिहास के निर्माण में इनका क्या स्थान है, यह विषय समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों और शिक्षाशास्त्रियों व दार्शनिकों के लिए छोड़ दिया गया है। विज्ञानों के इस पृथक्करण और विषय-क्षेत्र के अत्यन्त सीमित करने से उसकी पूर्णता नष्ट हो गई है। प्रत्येक विज्ञान दूसरे विज्ञान के लिए सहायक होता है। ऐतिहासिक को सभी विज्ञानों का थोड़ा बहुत परिचय आवश्यक है। एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक लिखते हैं—'All the branches of knowledge if not actually branches of History, are its very closest allies. (प्रत्येक विज्ञान का इतिहास में घनिष्ट सम्बन्ध है।।) विशिष्टीकरण को अनिवार्य मानते हुए भी जब हम एकत्व की दृष्टि त्यागकर एक विषय को पृथक् समझने लगते हैं, तब बड़ी भारी भूल करते हैं। विशिष्टीकरण वर्णन की सुगमता तथा मनुष्य की असर्वज्ञता आदि कारणों से अनिवार्य अवश्य है, तथापि वस्तुतः कोई विषय पृथक और स्वतंत्र नहीं है।

एक बात और। मनुष्य केवल राजनीतिक प्राणी नहीं है। इसलिए हम केवल राष्ट्र को मानवीय इतिहास की गति का मापक नहीं मान सकते। इसी तरह वह केवल धार्मिक या आर्थिक प्राणी भी नहीं है। अनेक ऐतिहासिकों ने मनुष्य को केवल आर्थिक प्राणी मानकर इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, तो अनेक ऐतिहासिकों ने मनोवैज्ञानिक धाराओं को ही समस्त इतिहास का आधार माना है। ये सब दृष्टि-कोण सत्य होते हुए भी अपूर्ण हैं। सैलियमैन नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहते हैं—There is no economic man,just as there is no theologicalt man. The merchant has family ties, just as the clergyman has an appetite.

जीवन-विज्ञान (biology) का भी इतिहास के निर्माण में विशेष स्थान है। मनुष्य सृष्टि के आदि से किन-किन परिस्थितियों से गुजरा, उसमें कब-कब कैसे परिवर्तन हुए, और आगे क्या-क्या संभव हैं, इन सबका विवेचन मानव इतिहास के लिए अनिवार्य है। उसी तरह भूगोल का अगाध ज्ञान ऐतिहासिक को सत्य तक पहुँचने में बहुत सहायक होगा। मनुष्य संसार में किन्हीं विशेष भौगोलिक परिस्थितियों से घिरा रहता है। जलवायु, प्रकाश आदि तत्त्वों को बनानेवाली शक्तियों का मनुष्य की गति-विधि और स्वभाव पर गहरा प्रभाव पड़ता है। शाकाहारी और मांसाहारी प्राणियों के रूप, रचना, गुण तथा शीलस्वभाव में उनकी विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार ही भिन्नता हुआ करती है। स्थलीय और जलीय प्राणियों के जीवन-प्रकार तथा शरीर रचना के अन्तर का कारण भी विभिन्न परिस्थितियाँ ही होती हैं। पार्थिव वनस्पतियों की रचना में भी भेद का कारण यही है। Essence of christianity के प्रसिद्ध लेखक फ़्यूरबैश (Fewerbach) इस कल्पना के प्रचारक हैं। उनकी सम्मति में मनुष्य और प्रकृति के सिवा कोई अन्य वस्तु वास्तविक नहीं। धर्म या दर्शन तो मनुष्य की रचना है, इतिहास के निर्माण में उसका कोई स्थान नहीं। जैसा मनुष्य का भोजन होगा, वैसा उसका विचार होगा, जो दर्शन या धर्म की उत्पत्ति का कारण है—Man is what he eats या 'अन्नमयं हि मनः' इसी सत्य के बोधक हैं। मोंण्टेस्क्यू और बकले ने भी इस

कल्पना को बहुत पुष्ट किया है। मैक्कौफ़ नामक रूसी विद्वान नदियों के प्रभाव को मनुष्य के इतिहास-निर्माण में विशेष महत्व देते हैं। हम देखते हैं कि इन दरियाओं के तट पर ही हमारे पूर्वजों ने संसार की प्राचीन सभ्यता का निर्माण किया था। लाहोर, बनारस, हरिद्वार, कानपुर प्रयाग और दिल्ली नदियों के तट पर ही बसे हैं। संसार के आर्थिक इतिहास से इनका सम्बंध प्रत्यक्ष है। समुद्र भी किसी देश के इतिहास-निर्माण में कम भाग नहीं लेते। भारतवर्ष और रोम की प्राचीन स्थिति, इंग्लैण्ड जापान और हालैण्ड की आधुनिक परिस्थिति पर समुद्रों ने खूब गहरा प्रभाव डाला है। पर्वत भी किसी देश के वासियों के आचार और चरित्र पर कम असर नहीं डालते। पार्वत्य प्रदेशों के निवासी स्वभावतः परिश्रमी, अध्यवसायी, स्वावलम्बी और स्वतंत्रता-प्रिय होते हैं। गर्म और सर्द देशों की जलवायु लोगों के स्वभाव पर बहुत गहरा असर डालती है। बकले के The Wages Fund के सिद्धान्त का आधार यही है। कार्बन और ओषजन भोजन के दो मुख्य भाग हैं। शीतप्रधान देश का भोजन कार्बनप्रधान होगा और यह भोजन व्यजनप्रधान भोजन से महँगा पड़ता है। वेतन जनसंख्या या आबादी पर निर्भर होते हैं; लेकिन जनसंख्या भोजन की उपलब्धि पर निश्चित है। सर्द देशों में भोजन के महँगा होने से जन-सख्या कम होती है, फलतः वेतन अधिक मिलेंगे। शीतप्रधान इंग्लैण्ड और उष्णताप्रधान भारत के वेतनों का अन्तर इसी युक्ति को पुष्ट करता है। बकले इसी सिद्धान्त द्वारा संसार की आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालता है।

लेकिन केवल प्राकृतिक आर अलौकिक परिस्थितियाँ ही इतिहास का निर्माण करती हैं, यह नहीं कहा जा सकता। बकले भी ऐसा कहने का दुःसाहस नहीं कर सका। वह कहता है—'the measure of civilization is the triumph of the mind over external agents, it becomes clear that of the two classes of laws which regulate the progress of mankind, the mental class is more important than the physical.' (हिस्ट्री आफ़ सिविलाइज़ेशन, पृष्ठ १५६-५७)

भौतिक वातावरण के साथ-साथ मानसिक और सामाजिक वातावरण भी मनुष्य पर प्रभाव डालते हैं। चारों ओर की विविध परिस्थितियों में—चाहे वे सामाजिक हों, राजनैतिक हों या प्राकृतिक हों—मनुष्य अपने व्यक्तित्व को कायम रखने का प्रयत्न करता है और भिन्न-भिन्न मार्गों को ग्रहण करता है। एक मनुष्य जब अपने मार्ग में या नीति में परिवर्तन करता है, तब यह समझ लेना चाहिये कि जीवन-संग्राम की अवस्थाएँ और आवश्यकताएँ बदल गई हैं और मनुष्य उन्हीं के अनुसार अपने को ढाल रहा है। राष्ट्रीय और धार्मिक आन्दोलन, उपनिवेशों की स्थापना और व्यावसायिक विकास को वे हजारों शक्तियाँ नियमित करती हैं, जिनका क्षेत्र समस्त भूमण्डल का मानव-समाज है। किसी एक समाज को वैभव-वृद्धि, स्वतन्त्रता-प्राप्ति या उसका अपहरण केवल उसकी उन्नति की अति पर ही निर्भर नहीं हैं। ससार को बनानेवाली हजारों शक्तियाँ उसके भाग्य-निर्माण में हाथ डालती हैं। दूसरे पर भी ये शक्तियाँ प्रभाव डालती हैं। दूसरों की अवस्थाओं के अध्ययन का अर्थ है निरंतर होनेवाले जीवन संग्राम में अपनी स्थिति को पूरे तौर पर समझना। किसी संघर्ष में शत्रु और मित्र को—अनुकूल और प्रतिकूल

परिस्थितियों की—जाँच करना किसी भी सभ्य समाज के लिए आवश्यक है।

एक जाति की उन्नति या अवनति पर वस्तुतः सम्पूर्ण मानवजाति के विकास का अप्रत्यक्ष का प्रभाव पड़ता है। जिस बात को कोई जाति अपनी उन्नति का मुख्य परिणाम समझती है, वस्तुत: वह सम्पूर्ण मानव जाति की साधारण प्रगति की एक बहुत साधारण घटना होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक समय के राष्ट्रीय या सामाजिक कार्य तत्कालीन संसार की सभ्यता की सूचना देते हैं। विश्व की समस्त शक्तियाँ मिलकर ही किसी जाति के भाग्य-वैभव और दारिद्र्य, उन्नति या अवनति, आजादी या गुलामी पर असर डालती हैं। एक देश की दशा और स्थिति का अध्ययन करने के लिए विविध देशों की परिस्थितियों और संसार की शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष का अध्ययन करना आवश्यक है।

यह सब जो हम ऊपर लिख आये हैं, अपनी दृष्टि में रखकर संसार की उन प्राचीन और मध्यकालीन शक्तियों पर संक्षिप्त विचार कर लेना भी आवश्यक होगा, जिन्होंने संसार के इतिहास को बनाने में बड़ा भाग लिया है।

राजकुमार का देशाटन

[जैनेन्द्रकुमार]

राजकुमार के जाने के बाद कुछ देर तक अध्यक्ष सम्भ्रम से खड़े देखते ही रह गये। मानो चैतन्य खो गया हो। फिर उन्होंने एकाएक सहायक से कहा—देखिये, मन्दिर के दरवाज़े पर तुरन्त फ़ोन करके कहिये कि इस आदमी को बाहर न जाने दिया जाय। दरवाज़े पर रोक लिया जाय और मुझे इत्तला दी जाय।

सुनकर सहायक महोदय ने विस्मय से पूछा—अभी जो यहाँ से गये हैं, उन्हीं को?

अध्यक्ष ने अधीरता से कहा—जी हाँ, और आप देर न कीजिये। वह आदमी पागल है।

'पागल है?'

'आप अपना काम कीजिये।'

कुछ देर बाद एक चौकीदार ने आकर अध्यक्ष को ख़बर दी कि उस आदमी को रोक लिया गया है। अब हुजूर की क्या आज्ञा है?

अध्यक्ष ने ज्ञान-मंदिर के विशेष कमरे में कुमार को बन्द करने की आज्ञा दी और आज्ञा देकर बिना कुछ बोले वह अपने कमरे में टहलने लगे।

कुमार ने अपने को एक बड़े कमरे में पाया, जहाँ बहुत सुन्दर आलमारियों में मैली और प्राचीन किताबें रखी हुई थीं। नीचे मुलायम क़ालीन। सोफ़ा जहाँ-तहाँ थे और छोटी-छोटी मेजें थीं। ऊपर बहुत बड़ा फ़ानूस लटक था जिसमें जगह-जगह मोम-बत्तियाँ लगी हुई थीं। एक किनारे एक भारी बड़ी आलमारी में मोटी-मोटी जिल्दों की किताबें चुनी हुई थीं। कुमार वहाँ आकर बैठा रह गया। उसे कुछ समझ न आया कि यहाँ उससे क्या काम है।

थोड़ी देर बाद अध्यक्ष वहाँ आये। वह कुछ सोच में मालूम होते थे और बहुत विनीत। उन्होंने कहा—कष्ट के लिए क्षमा कीजिये। मैं आपसे जान-पहचान करना चाहता हूँ। आपका जाना मैं सह नहीं सका। मुझे बेहद खेद है। क्या मैं समझूँ कि आपको अपने अपमान पर रोष है?

कुमार—कौन-सा अपमान?

'आपको इस तरह चौकीदार से पकड़वाकर बुला लिया। यह अपमान नहीं तो क्या है? मैं माफ़ी माँगता हूँ।'

'इसको अपमान कहते हैं ! होगा; मैं नहीं जानता। लेकिन इस बात पर क्या मुझे रोष भी करना चाहिये और आपको माफ़ भी करना चाहिये ?'

अध्यक्ष ने कहा—देखता हूँ, मैं बराबर आपके साथ ग़लती करता हूँ। मैं ठीक समझ नहीं पाता। जो नहीं जानने लायक़ है, ठीक करते हैं कि आप उसे नहीं जानते। न रोष जानने लायक है, न अपमान जानने लायक है। शायद अपराध आप नहीं जानते। इसलिए क्षमा भी आप नहीं जानेंगे। लेकिन मेरी विनय है कि आप यहाँ कुछ देर ठहरें।

कुमार ने कहा—कहाँ ?

'मेरे अतिथि बनें।'

'अतिथि तो मैं हूँ हो। लेकिन आपका बनूँ, तब बाक़ी दुनिया जो रह जाती है उसका क्या बनूँ ?'

अध्यक्ष कुछ देर निरुत्तर रहे। फिर बोले—लेकिन मैं आपको बाहर जाने देना नहीं चाहता।

कुमार ने पूछा—क्यों ?

अध्यक्ष ने कहा—आप दुनिया को अभी जानते नहीं हैं इसलिए।

'लेकिन घूमघामकर उसे ही तो जानूँगा।'

अध्यक्ष कुछ देर बँधी निगाह से कुमार को देखते रहे। अनन्तर बोले—यह जगह बन्द है, आप खुली दुनिया में खुले रहे हैं। सच यह है कि मैं आपसे स्नेह करता हूँ और कहना चाहता हूँ कि इसमें बड़ा भारी ख़तरा है। दुनिया इतनी पागल है कि अपने में बुद्धिमानी ख़तम समझती है। आप जैसों को पागल ही मान सकती है। मैं यह नहीं चाहता कि आप जायें और फिर लौटने के लिए बाक़ी न रहें। अब तक आप दुनिया में बचे हुए कैसे हैं, यही अचम्भा है। क्या हमारी पुलिस और मजिस्ट्रेट और क़ानून और सभ्यता यह सब मर गये कि आप जिन्दा हैं !

कुमार—यह सब क्या चीज़ें हैं !

अध्यक्ष—यह दुनिया में हमारे बसाये हुए रोग हैं। यह इसलिए हैं कि खुद ज़िंदा रहकर जिन्दगी को मारें।

कुमार—सरकार ! यह क्या चीज़ है ?

अध्यक्ष—यह तक पूछोगे ? (धीमे से) सरकार सरकार है।

कुमार—तो यहाँ मुझसे क्या चाहा जाता है ?

अध्यक्ष—मैं बताना चाहता हूँ कि आप अधिक जिन्दा नहीं रह सकते।

कुमार—इस कमरे से जिन्दा नहीं जा सकता ?

अध्यक्ष कुमार को देखते रहे। कुछ उत्तर न दिया।

कुमार ने कहा—इन किताबों से मारोगे ?

अध्यक्ष ने जाने किस भाव से कुमार को देखकर कहा—नहीं, किताबों से तो उन्हें मारता हूँ जो तिल-तिल करके उनसे मरना चाहते हैं। आपकी मौत इतनी सामान्य न होगी। आपको लोग चिल्ला-चिल्लाकर मारेंगे। आपकी मौत हज़ारों को खुशी देगी।

कुमार—लेकिन कौन लोग मुझे मारेंगे ? और क्यों मारेंगे ?

अध्यक्ष—दुनिया के लोग मारेंगे और इसलिए मारेंगे कि आप दुनिया के नहीं हैं। यह क्या कम कारण है ?

कुमार—मारकर क्या पायेंगे ?

अध्यक्ष—मैंने कहा, ख़ुशी पायेंगे। अपने को वे मूर्ख नहीं समझना चाहते। और जिसको लेकर उनकी मूर्खता उन पर प्रगट हो जाती है, अपने को अपनी मूर्खता के भय से बचाने के लिए, वे उसे सिवाय ख़त्म कर डालने के क्या कर सकते हैं ?

कुमार—आपको इसमें क्या आपत्ति है ?

अध्यक्ष आश्चर्य से कह पड़े—क्या—आ......?

कुमार ने मुस्कराकर कहा—मैं पूछता हूँ कि तब आप क्या चाहते हैं ?

अध्यक्ष कठोर भाव से बोले—मैं कुछ भी नहीं चाहता। आप मरते हैं, इसमें आप अपना कुछ नुक़सान नहीं देखते। तब मेरा भी उसमें क्या नुक़सान है। इससे इस मामले में मैं व्यर्थ कुछ चाहना क्यों चाहूँ। यही आपका आशय है न ?

कुमार—पिता ने मुझे अमर बनाया है। मेरा यह बस नहीं है कि मैं मर जाऊँ। इसलिए कोई मुझे मार सकता है, यह समझने की मुझे इजाज़त नहीं है। और यहाँ किसकी इच्छा फलित हो रही है, यह कौन जानता है। इसीलिए बेशक क्यों कुछ भी चाहा जाय ?

अध्यक्ष चित्र-लिखे-से कुमार की इस बात को सुनते रह गये।

कुमार ने मुस्कराकर कहा, लीजिये, अब तो मुझे चलने दीजिये।'

अध्यक्ष मौन-भाव से एकटक कुमार को देखते बैठे रह गये। वह विह्वल हो आये।

कुमार ने हँसकर कहा, देखिये, यह ठीक नहीं है। यह अत्याचार है।

विचलित वाणी में अध्यक्ष ने कहा, आप न जानें मौत को। लेकिन हमारे लिए उससे बड़ी बात कोई नहीं है। और कुछ न भी हो पर मौत निश्चय है। तब आपको यहाँ से सीधे मौत के मुँह में पड़ने के लिए मैं नहीं जाने दूँगा, नहीं जाने दूँगा।'

कुमार—आपको स्नेह आपको डराता है। सवेरे से मैं इस दुनिया में हूँ। मुझसे किसीने कुछ भी नहीं कहा।

अध्यक्ष, शायद इसीलिए कुछ नहीं कहा कि आपने कुछ नहीं कहा। लेकिन दुनिया में दुःख बहुत है। और आपके मन में वह तासीर है कि वह दुःख को चूसकर अपने में ले ले और सुख दुनिया को दे। लेकिन उस सुख को दुनिया नहीं सहार सकती। दुःख के मोह के कारण हो वह आपको मार देगी।

कुमार—तो उसमें क्या बुराई है ? मैं मर तो सकता नहीं।

अध्यक्ष—मर नहीं सकते ? यह कोरी बात है। नहीं, अमरता बस तृष्णा है। वह गप है। 'अमरता' शब्द केवल मौत का निषेध है। इसलिए अमरता केवल निषेध है वह खुद में सचाई नहीं है। सचाई है तो मौत। नही, नहीं, नहीं। मैं क्या सुन रहा हूँ—यह कि मौत नहीं है ?

कुमार—हाँ, वह कहाँ है ? मौत तो मुक्ति है। मौत यदि है तो मुक्ति के द्वार के रूप में ही है। नहीं तो क्या आपका ज्ञान यह कहता है कि मौत सचमुच है ?

अध्यक्ष हैरत में कुछ देर कुमार को देखते रहे। फिर एकाएक बोले—तुम पागल हो !

कुमार ने तनिक मुस्करा दिया।

अध्यक्ष ने विह्वल होकर कहा, क्या मुझे भी पागल बनाना चाहते हो ?

कुमार ने मुस्कराकर कहा—नहीं।

अध्यक्ष ने एकटक कुमार की ओर देखते हुए कहा—तो कहो, मौत तुम नहीं चाहते हो और यहाँ से तुम्हें न जाने दूँ।

कुमार—मौत मैं नहीं चाहता, क्योंकि असम्भव मैं नहीं चाहता। और चाहता हूँ कि मुझे यहाँ से जाने दो।

अध्यक्ष—कहाँ जाओगे ? और क्या करोगे ?

कुमार—दुनिया फैली है, उसमें जाऊँगा। क्या करूँगा ?—शायद कुछ भी नहीं करूँगा। देखूँगा कि क्या करूँगा।

अध्यक्ष ने रुष्टभाव से कहा—तुम पागल हो। और जाओ, मरो।

कुमार—पागल ही सही। फिर उसमें बुराई क्या है ?

अध्यक्ष ने साश्चर्य दोहराया, 'बुराई ?'

कुमार—हाँ, पागल के मरने में क्या बुराई है ?

अध्यक्ष कुछ देर मूढ़-भाव से देखते रहे, देखते रहे। फिर जाने उन्हें क्या हो आया। उनका काठिन्य टूट गया। बोले, बुराई कुछ नहीं है। और मैं जानता हूँ, मैं आपको नहीं रोक सकूँगा। जो होना है, होगा और उसी के होने देने के लिए आप घटित हुए हैं। लेकिन मेरा मन कमज़ोर है। मैं अब तक नहीं जानता था कि वह कमज़ोर है। अब जानता हूँ कि वह बेहद कमजोर है [विह्वल हो आते हैं] मैं—मैं।—

कुमार—[साग्रह] क्यों ? क्यों ?

अध्यक्ष—[अपनी कुर्सी से खिसक और घुटनों के बल बैठकर कुमार के पैरों पर गिरते हैं] मैं आपके पैर पकड़कर रोक सकूँ तो रोकूँ। पर मैं क्या, कोई भी आपको रोक सकेगा ? मेरे जी में होता है कि सब छोड़कर आपके पीछे चल दूँ। आशीर्वाद दीजिये कि ऐसा हो।

कुमार [दोनों हाथों से अध्यक्ष को पैरों पर से उठाते हुए]—उठिये, उठिये। यह क्या करते हैं ?

अध्यक्ष—क्या मैं आपके साथ नहीं चल सकता हूँ ?

कुमार—कोई किसी के साथ कैसे चल सकता है ? सब अकेले चलेंगे, अकेले चलेंगे। सब खुद हैं और अपने धर्म में अपनी राह चलेंगे।

अध्यक्ष—इस ज्ञान-मन्दिर में कहीं धर्म नहीं है। यहाँ ज्ञान है जो अशांत है और भयभीत है। इसी से यहाँ अँधेरे में अपना किला बनाकर छिपा है। वह मूर्ख ज्ञान अपने गर्व में धर्म के हाथों शान्ति का दान नहीं लेगा ; क्योंकि अशान्ति का भी एक स्वाद है ; पर अशान्ति के स्वाद से मैं तो छक गया हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं पढ़ना भूल जाऊँ और आपके साथ चल दूँ।

कुमार ने मुस्कराकर कहा—मौत में चलोगे ?

अध्यक्ष—मेरी मौत में कब ऐसी ताक़त है कि हज़ारों को खुशी दे। इसलिए मुझे मौत में भय है ; क्योंकि उसमें स्वाद नहीं है। फिर भी यहाँ इस मन्दिर की छत के नीचे नहीं मरना चाहता हूँ। लोग धरती पर उठाकर मुझे किस आकर्षण से मारेंगे ? उन्हें मेरी इतनी चिन्ता ही कब होगी कि मारें ? फिर भी मैं आसमान के नीचे मरना चाहता हूँ।

कुमार—ज्ञान-मंदिर में रहते-रहते तुम्हारी मनीषा मौत के प्रकार के विषय में ही उलझी रही है क्या ? यह तो कोई चिन्तनीय विषय नहीं है ।

अध्यक्ष—हाँ, नहीं है ; पर हम जीते ही इतने कब हैं कि मौत को न सोचें ? ज्ञान उसी तरफ़ आँख रखने को कहता है ।

कुमार ने मुस्कराकर कहा—तुम्हारी बातों में रस है ; लेकिन मुझे अब जाना चाहिये । शाम से आगे का समय मुझे न मिलेगा । इससे मैं चलूँ ।

कुमार चलने को उद्यत खड़ा हो गया । अध्यक्ष यह देखकर फिर अवश हो आये और कुमार के पैरों पर गिर गये ।

कुमार ने मुस्कराकर उठाते हुए कहा—नहीं, नहीं, ऐसे नहीं चलेगा । तुम्हारे ऊपर तो ज्ञान-मन्दिर है । उसे हँस-हँसकर ही टिकाओ । प्रेम दुःख है ; लेकिन यह दुःख तो व्यक्ति को जब प्राप्त होगा तभी होगा । ज्ञान को इसमे मुक्त रहने दो । प्रेम बहुत भारी है । विज्ञान इसे न सह सकेगा । कोई आवश्यकता भी नहीं कि आदमी उसे अपने भीतर न लेकर विज्ञान में टाले । दुःख को तो सहकर पी लेना ही होगा । उठो, कातरता छोड़ो । मैं जाऊँ ?

अध्यक्ष को पैरों पर से उठना तो पड़ा ; लेकिन वह डबडबाई आँखों से देखते रहे और कुमार धीमी गति से बाहर चला गया ।

अज्ञात-पथ

['अनजान']

जंगलों की खाक छानी। वन-वन घूम डाले। पहाड़ों से टक्करें लीं। पर तुमको न पाया।

पर्वत-कंदराओं में, सुंदर वन-उपवनों में, झरनों के मधुर कलरव में, नदियों की इठलाती हुई तरंगों में तुम्हारी राह देखी, पर तुम वहाँ भी न दीखे।

सुनता हूँ, तुम उसे मिलते हो जो इस दुनिया से परे हो, विमुख हो, विरागी हो।

मैं अपने को स्वयं में ठीक पाता हूँ। मैं तुम्हारा खोजी और तुम्हारे लिए चिर-चिंतित, तुम्हारा सेवी और तुम्हारे लिए चिर-व्यथित। और...। तुम इस पर भी नहीं ही मिलते हो।

मुझे भ्रम में रखना चाहते हो, जैसे तुम हो ही नहीं। क्या सचमुच में तुम नहीं हो? कहीं भी नहीं हो?

कैसे छलिया हो तुम! नहीं तो तुम्हें क्या कहूँ?

तुम अपराधी की भाँति छिपे क्यों हो? मिलते क्यों नहीं हो?

क्या अवहेला करते हो? अगर नहीं, तो दीखो। और इस भटके बटोही को अपनी उंगली दो।

• • •

सारा ग्रीष्म मुझ पर इसी तरह बीता। अब वर्षा आई अपना नव-जीवन लेकर और अपना समस्त सौरभ बिखेरने।

काले-काले बादलों का गगन में फिर उत्पात आरम्भ हुआ। उनकी गर्जना से और चपला की चमक से मेरी मुर्झाई हुई दर्शन-लालसा फिर अंकुरित हो उठी।

मैं चल पड़ा। पर अबकी बार भी चातक की रटन में, मयूर के अभिवादन में, नदियों के उन्मत्त प्रवाह में और प्रकृति के मृदुहास में नकार का ही आभास मिला।

मैं हतोत्साह नहीं हुआ। और आगे बढ़ा।

आगे पर्वत-श्रृंखला मिली। उसे पारकर उधर पहुँचा। वहाँ सुंदर झरनों का

समूह मुझे मिला। सब अपनी मादक चाल से झर-झर करते बह रहे थे। किसी ने मेरी व्यथा नहीं पूछी।

मैं और आगे चला।

आगे मुझे उस नीरवता में एक तान सुनाई दी। उसकी लय में, मैं पहले क्षण नाच उठा, पर अगले ही क्षण मैं स्तब्ध हो उठा...जैसे ही मेरे कान में पहुँचा—काहे... रे...बन...खो...जन...जाई...

मेरा रोम-रोम जाग उठा। मैं अपने को बिलकुल भूल गया। मुझ में ज्योति जागी। मैं उस तान की खोज में इधर-उधर दौड़ा। झर-झर शब्द मुझे असह्य हो उठा।...

मैंने एक पत्थर उठाकर उस झरने में पूरे जोर से फेंका। मानो मैंने चुनौती दी हो, कि क्यों, अब भी नहीं बताओगे कि तान कहाँ से आई ?

वन में भीषण चीत्कार हुआ। समस्त विपिन में एक ही ध्वनि गूँजी, ओ मूरख ! अपना अंतस्त टटोल ! मैं कहाँ नहीं हूँ ? यों भटकने से क्या मिलेगा ?...

मारे आह्लाद के मैं उन्मत्त हो उठा, मानो कोई खोई वस्तु मैं पा गया हूँ। क्षणेक प्रसन्न-वदन मैं अपने को भूला वहीं खड़ा रहा।

फिर मेरे पाँव न जाने किस अज्ञात-पथ की ओर आप-से-आप ही उठते चले जाने लगे, और मैं न जाने किससे दूर-दूर और किसके पास-पास हो आने लगा।
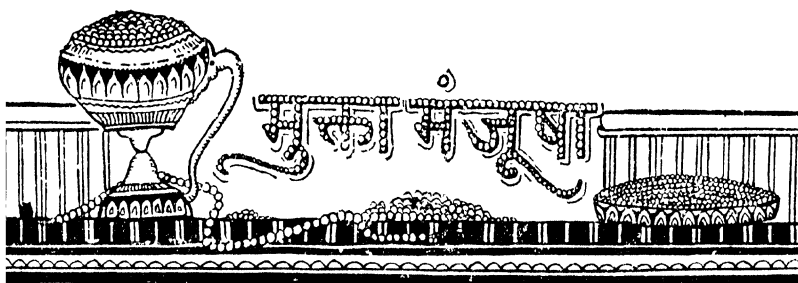
मराठी

प्राप्ति-स्वीकार

[नीचे दिये मासिक-साप्ताहिक प्राप्त हुए हैं। हम साभार स्वीकार करते हैं।]

'नवाकाल' और 'ज्योत्स्ना'

अक्टूबर में लोकमान्य की और सितंबर में गांधीजी की पुण्यतिथि और जन्म-दिन जैसे राजनैतिक महत्व के दिन हुए हैं। मराठी साहित्य के परिमित क्षेत्र में, इसी प्रकार, इन दो महीनों में, 'काल' कर्ते श्री० शि० प० परांजपे और 'दिवाकर' उपनाम से लिखनेवाले श्री० शं० का० गर्गेजी के स्मृति-दिन साहित्यिक गौरव की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। श्री० परांजपे जी मराठी के राष्ट्रीय गद्य-लेखक थे। उनकी लेखनी के ओज का लोहा अब भी माना जाता है। उनकी 'ग़रीब की कहानी' नाम की किसान की करुणतम कथा, सचमुच हृदयस्पर्शिनी थी। उनकी मृत्यु को अब काफी वर्ष हो गये, फिर भी उनकी जीवन्त शैली को, ब्रिटिश-नीति की निर्भय-निष्पक्ष आलोचना की याद अब भी महाराष्ट्र में ताजी है।

दूसरे थे नाट्यछटाकार 'दिवाकर'। मराठी में 'नाट्यछटा' नामक एक लेखन-प्रकार है जो कि monologue के समान एक ही व्यक्ति के स्वगत आत्मनिवेदन के रूप में होता है। 'दिवाकर' ऐसे भाव-क्षणों की सुरम्य झाँकी शब्दों में उतारने में सिद्धहस्त थे। 'प्रतिभा' पाक्षिक की असामयिक मृत्यु के बाद महाराष्ट्र के एक-मात्र साहित्यिक मासिक 'ज्योत्स्ना' ने उनकी स्वर्गीय आत्मा को अक्टूबर का 'दिवाकर विशेषांक' निकालकर श्रद्धांजलि अर्पण की है। इसी अंक में उनकी बहुत-सी अप्रकाशित रचनाएँ निकली हैं जो उनकी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के कारण बहुमूल्य मानी जा सकती हैं।

• • •

'विहंगम'

अभी हाल ही में काका कालेलकर और श्री० ना० बनहट्टी महोदय ने इस नागपुर के मासिक का संपादन लेकर, उसे भारतीय साहित्य-परिषद् की मराठी शाखा का मुखपत्र बनाया है। आठ-दस ही अंकों में, इस नए रूप में उसने तेज और सौन्दर्य का खासा प्रदर्शन कर दिया है। काकासाहब उसमें खलील जिब्रान के Wanderer का अनुवाद क्रमशः दे रहे हैं, जिसके कुछ अंश 'हंस' में अलग से दिये जायँगे। प्रो० वा० म० जोशी जैसे धुरंधर साहित्य-चिन्तक भी उसमें योग दे रहे हैं। अगस्त के अंक में प्रो० कोलते ने 'कालिदास के नाट्य-यश का रहस्य' नामक लेख लिखकर कालिदास और भवभूति-कालीन रंगमंच-संबंधी काफी रोचक नई बातें बता-

कर, यह सिद्ध किया है कि कालिदास के नाट्ययश का रहस्य उस समय की अभिनेत्रियों और उनकी वेशभूषा में अधिक था। इसी अंक से श्री आनन्दराव जोशी क्रमशः श्री मोहनसिंह एम० ए०, पी० एचडी० के History of Punjabi Literature नामक ग्रंथ के आधार पर लेखमाला दे रहे हैं। प्रेमचन्द की 'जादू' कहानी भी अनूदित दी गई है। गुजराती के एक विख्यात् विलापकाव्य का गद्यानुवाद भी चल रहा है।

सितम्बर के अंक में तरुण मराठी कवि ना० ध० देशपांडे की एक सुन्दर गज़ल है। गुजराती से अनुवादित उमाशंकर जोशी की 'हिल्लो' नामक कहानी मजेदार है। 'हरिऔध' जी पर एक लेख है। और बाकी अङ्क में हाल ही में स्वर्गवासी हुए श्री० ज० के० उपाध्ये नामक भक्ति, वत्सल, और करुणरस के बहुत ही रसपूर्ण कवि के संस्मरण, श्रद्धांजलि है। श्री० उपाध्ये की 'विराणी' (बौरानी) नामक कविता का एक छन्द अनुवादित नीचे दे रहा हूँ।

कोई कुछ भी कहो, कोई कुछ भी कहे,
मैंने निज मन की राह गही ;
चाहे रीति कहो, विपरीत कहो
आवरण सभी हैं फेंक दिये,
रीति-कुरीति, नीति-अनीति किसे चिन्ता
मैं तो पर पुरुष की परिणीता,
गोविंद-गुणों में लागि रही !

आश्चर्य की बात यह थी कि इस मस्ती के साथ-साथ इन कवि ने 'अकबर' के जैसे व्यंगमय फिकरे भी लिखे थे। और वे भी अपूर्व थे। उपाध्येजी के निधन से विदर्भ ने अपना एक तेजमय रत्न खो दिया।

० ० ०

लोकशिक्षण

अंग्रेजी के Review of Review के ढंग पर यह पत्र पूना से निकलने लगा है। यह अर्थ-शास्त्र, राजनीति, समाज-धर्म-संबंधी गंभीर लेखों से भरा हुआ रहता है। सितंबर के अंक में डॉ० अलतेकर डी० लिट्० का 'काशी का प्राचीन इतिहास' नामक संशोधनात्मक लेख है। प्रो० गाडगील की 'आर्थिक व्यवहार नियोजन' नामक लेखमाला बहुत विद्वत्तापूर्ण निकल रही है। 'पैलेस्टाइन के विभाजन' पर एक बहुत सुंदर लेख है और सबसे मजेदार लेख है, चीन के डॉ० लिन यूटंग के मासिक 'हार्पर' में लिखे हुए Importance of Loajing शीर्षक गंभीर विचारप्रवर्तक निबंध। उसका सारांश यह है कि सभ्य युग की व्यस्तता के खिलाफ विश्राम की और निरुद्योग की बहुत, बड़ी महती जरूरत है। बहस बहुत ही रोचक है और सोचते हैं, उसका अनुवाद 'हंस' में (कुछ अंशों में) देंगे।

० ० ०

यशवंत

यशवंत मासिक दिन-ब-दिन अपना स्थान खोता जा रहा है, ऐसा लगता है। वैसे किर्लोस्कर (महाराष्ट्र के 'स्ट्रैंड') के साथ यह पत्र भी जनरुचि को अच्छी तरह व्यक्त करता है। तो भी, इस अक्तूबर के अंक में श्री० के० ना० डांगे, का 'साक्षरता और सार्वजनिक

जीवन' शीर्षक लेख मननीय है। आपके विचार में 'शिक्षापद्धति के आमूल समाजीकरण की बहुत आवश्यकता है। इसी के अभाव में संस्थावाद में पले सार्वजनिक कार्यकर्ता लोग 'पीनलकोड' का एक अक्षर भी न जानते हुए सिर्फ बातों के पहाड़ खड़े करते हैं और सच्चे पढ़े-लिखे लोग नौकरी में सड़ते हैं। लेखक का मत है कि सुशिक्षितों पर जनता तक अक्षर-ज्ञान पहुँचाने का दायित्व बहुत ही अनुल्लंघनीय है।' इसी अंक में स० म० शुक्ल की एक हलकी-सी रेडिओ-नाटिका है। कहानियाँ प्रायः सभी बहुत साधारण कोटि की हैं। 'रस और राग' लेख रोचक है। कविवर्य तांबे की 'स्त्रीसृष्टि' नामक महत्वपूर्ण लेख में से यहाँ आज के मराठी के सर्वमान्य कविश्रेष्ठ की स्त्री विषयक कुछ पंक्तियाँ अनुवादित करके देना अनुपयुक्त न होगा:—

महाकवि, तत्वज्ञ, भूपती,
समरधुरन्धर, वीर, धीरमती
जिस हरि को मन में ध्याते हैं
उनका प्रसव तुम्हारा, जननी !
अतीत निकला तेरी कुक्षि से
वर्तमान गोद में खेलता
भविष्य भी देखता रात-दिन
लड़की, तेरे पुकार की राह !
कान्ति से तुम्हारी चाँद चमकता
लड़की, तुझसे फूलपना फूल को मिला
रत्न में राग तेरा ही निखरा
तेरे ही लिए सभी भगिनी !

और,

यह अपूर्व शक्ति सगुण
बुहारती मम आँगन
देख यह मेरा भाग्य
देवता मन-मन में जल जायँगे !

'चित्रा' और 'स्त्री'

मराठी 'चित्रा' सिनेमा-पत्रों में सर्वाति लोकप्रिय gossip-weekly है। उसमें राजनीति, साहित्य, सिनेमा सब पर खासा शिष्ट मजाक और रोचक चर्चा होती है। उसका स्टैंडर्ड किसी भी अमेरीकन पत्र से छपाई-सफाई तक में किया जा सकता है। अभी-अभी उसके एक अंश में जवाहरलालजी को हिन्दी राजनीति का हॅम्लेट मानते हुए एक लेख छपा है। उसी अंक में प्रि० प्र० के० अत्रेजी का एक व्यक्ति-चित्र आया है। वह भी खूब दिलचस्पी लिये हुए है।

'स्त्री' का दीवाली अंक निकला है। पहले पेज पर कु० संजीवनी की एक कविता है। अन्दर 'स्त्री' की हमेशा की लेखिकाओं के उद्‌बोधक लेख हैं। कहानियाँ भी हैं काफी। और सभी में वही जमानों पुराने की झगड़ालू स्त्री-वृत्ति है कि पुरुषों ने हम पर अन्याय किया, यों किया और त्यों किया। वैसे अंक में 'स्त्रियाँ और भविष्यकाल' लेख अच्छा है। अंक साधारण ही है। अब किर्लोस्कर के दीवाली अंक की प्रतीक्षा है। अबकी विशेष रूप से चूँकि उसमें कहानी प्रतियोगिता है। सर्वश्रेष्ठ तीन कहानियाँ, देखना है कौन-सी निकलती हैं। निर्णायक प्रो० फड़के हैं।

तमिष्

मौत री, आओ!

'हिममणि' के नववर्षांक में उपर्युक्त शीर्षक से 'इळंगोवन्' का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसका सारांश हम यहाँ अपने पाठकों के विचारार्थ दे रहे हैं—

'व्यर्थ के बकवाद से कोई प्रयोजन नहीं। दुनिया में हम अपने को और अपने चारों ओर की चीज़ों को प्रेतों से ही सजा रहे हैं। इस मामले में मनुष्य की अपेक्षा दूसरे जीव कई हजार गुना श्रेष्ठ हैं। सिर्फ़ सजावट के लिए ही नहीं, भोजन के लिए भी प्रेतों का ही उपयोग किया जा रहा है। साग-भाजी से लेकर बकरे तक सभी, प्रेतों के सिवाय और हैं क्या? सभी मृत हैं, मारे गये हैं। मनुष्य अपने प्राणों की रक्षा के लिए, अपने अलंकार के लिए, सभी जीव-राशियों को मारकर ढेर कर रहा है।

'मुझ से पूछा जाता है—क्या मनुष्य मिट्टी और हवा से गुज़ारा कर सकता है? क्या वह नंग-धिड़ंग घूम सकता है? क्या ईश्वर ने सभी जीव-राशियों की सृष्टि हमारे लिए ही की है?

'इस सवाल का एक ही जवाब है—हमने विश्वास खो दिया और तबाह हो गये। कठिन अहिंसा-व्रत-धारी, वन-संचारी तपस्वी को, गर्भस्थ पिण्ड को जब खाने को मिल जाता है, तब क्या मनुष्य ही को खाने को नहीं मिलता! इसके लिए जीव-हत्या करने की ज़रूरत क्या है? हरे-भरे पेड़, स्वच्छ नदी, नील आकाश, ऊँचे पर्वत, चाँदनी—ये सब कौन से वस्त्र पहनते हैं? कौन कह सकता है कि ये सब सुन्दर नहीं हैं? जन्म लेते वक्त नंगे ही पैदा हुए; और मरते वक्त नंगे ही जलाये जायँगे। बीच के काल में वस्त्रों की ज़रूरत क्यों है? सभ्यता माया के कई रूपों में से एक है। उसमें फँसना क्या अनिवार्य है? अरे मनुष्य! क्या मनुष्य के द्वारा मारे जाने के लिए ही ईश्वर ने जीवों की सृष्टि की है? ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की; तो क्या ईश्वर को सज़ा देने के लिए, मनुष्य को भी हत्या की सृष्टि करनी थी?

'बात को बढ़ाने से लाभ नहीं। 'खून का बदला खून है'—यही पवित्र धर्म है। अरी मृत्यु! तुम धर्म-स्वरूपिणी हो! जिस दिन मनुष्य हत्या को छोड़ देगा, उसी दिन वह अमरत्व प्राप्त करेगा। तब तक वह अवश्य तुम्हारा बलि-पशु होगा। अरी प्यारी! मैं अपने दोनों हाथों से तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मौत री, आओ, अभी चली आओ!

❀ ❀ ❀

'प्रेम माया से बना हुआ है। इसी प्रेम-सुख के लिए दुनिया में कितनी हलचल मच गई है? निस्सार प्रेम के लिए कितने हृदय टूक-टूक हो गये? कितने साम्राज्य ख़ाक में मिल गये? कितने कवियों ने अपने जीवन को व्यर्थ किया? आह! इसका भी कोई पता है? हा! ईश्वर की भक्ति ही वह सुख है, जिसमें माया का स्पर्श नहीं है। लेकिन इस सुख के भोगनेवालों को उँगली पर गिन सकते हैं।

'काम एक बड़ी भारी शक्ति है। बिना ईश्वर की कृपा हुए कोई उसे जीत नहीं सकता। इस शक्ति के भँवर में हम चक्कर लगा रहे हैं। लेकिन इसी भ्रमण में हम बड़े भारी आनन्द का अनुभव करते हैं।

'बाँस में पैदा होनेवाली आग जैसे बाँस के वन को जला देती है, वैसे ही मेरे हृदय में एक शरीर पैदा होनेवाला काम सारे मनुष्य-समाज को नष्ट कर सकता है जैसे सीप से मोती और गाय के पित्त से गोरोचन निकलता है, वैसे ही वस्तु से काम उद्भव होता है। लेकिन

मैं फिर कहता हूँ, वह मामूली चीज़ नहीं है ; भगवान् के भक्तों पर भी अपना प्रभाव डालनेवाला है। प्रेत और वेश्या में संभोग की दृष्टि से कोई फ़र्क नहीं है। फिर भी न जाने क्यों मैं उसके राक्षसी सौन्दर्य के मोह में पड़ जाता हूँ ?

'चारों ओर काम का ही बोलबाला है। पत्रिकाओं के पन्ने काम के विकास से ही भरे हुए हैं। सोचते ही दिल दहलने लगता है। काम के अतिरेक से कुछ दिनों में मैं एक बड़ा भारी अपराधी हो जाऊँगा। तब मुझे लोग पागल कहेंगे। मुझे सुख पहुँचानेवाली मृत्यु-सुन्दरी, आओ! काम को पराजित करने के लिए मैं तुम्हारा आह्वान कर रहा हूँ। आओ! आ जाओ! हृदय के अग्नि-कण के बुझ जाने पर, अँधेरे में आराम से सोऊँगा।

● ● ●

'पुरुष ज्ञान का राजा है। नारी वासनाओं की रानी है। ज्ञान और वासना के बीच, जगत् की सृष्टि से लेकर, झगड़ा चल रहा है। इसमें ईश्वर का फैसला क्या है, इसे मनुष्य-बुद्धि से जानना मुश्किल है। ज्ञान सूर्य के समान है। वासनाओं को काटकर फेंकना ही ज्ञान का कार्य है। दुनिया में पुरुष ज्ञान-मार्ग के पथ-प्रदर्शक हुए हैं। माया-वेणु के नाद से बद्ध होकर मरनेवाली सर्पिणी की तरह, नारी वासनाओं से बद्ध हो जाती है।

● ● ●

'मूर्ख लोग चिल्लाते हैं—'औरतों को आज़ाद करो!' यह कैसी अन्धी दुनिया है ? कौन किसका गुलाम है ? ज़रा विचार कीजिये। करोड़ों की संख्या में धन पाकर भी लात मारनेवाली उसके पैर को पुरुष चूमते हैं। समाज में पहली मर्यादा स्त्रियों की ही होती है। सभा-समाजों में वे देव-कन्याएँ समझी जाती हैं। कवि, वीर, विद्वान् और वेदान्ती कहलानेवाले बड़े-बड़े लोग दिन में ही अपनी मर्यादा का ख़याल रखते हैं। लेकिन रात में देखो तो वे कुत्तों से भी बदतर हो जाते हैं! कलाकार ही को वारांगना के घर जाना पड़ता है; यह बात नहीं कि वारांगना कलाकार के घर आती हो। क्या पुरुषों के दासत्व को दिखाने के लिए यही एक मिसाल काफी नहीं है ? अगर मैं सच बात कहता हूँ तो दुनिया मुझे लाल-पीली आँखें दिखाती है। पर मैं उसके लिए डरूँ क्यों ? हाय! पहले मर्द आज़ाद हों! पुरुषों की दासता दूर हो! जहाँ देखो तहाँ पुरुष ही गुलाम हैं। दफ़्तर में गुलाम! दोस्तों के गुलाम! राजा के गुलाम! उसके गुलाम! पैदा होते ही माँ-बापों के गुलाम! बाद में शिक्षकों के गुलाम! और उसके बाद मोह और धन के गुलाम! तुम कहते हो, 'सब्र करो!' यह कैसे हो सकता है ?

● ● ●

'दुनिया का अन्याय मुझसे सहा नहीं जाता। रात में रास्ता खोकर कोई किसी के घर पर आ गया, तो लोग उसे चोर कहकर मार-पीटकर भगाते हैं। किसी स्त्री का सतीत्व भंग करने के इरादे से कोई किसी के घर आ गया तो उस पर लोग दया करते हैं और कहते हैं—'बेचारा रात में कहीं भटकता हुआ आ गया है!' दुनिया में महात्माओं को मूर्ख की उपाधि मिलती है। लोभी धर्मात्मा कहलाता है। धर्मात्मा को मक्खीचूस की पदवी मिलती है। हत्यारा क़ानून के प्रभाव से और वकीलों के मुबाहिसे से मुक्त हो जाता है। निरपराधी के गले में, एक क्षण में, फाँसी लगाई जाती है। ये सब बातें मुझसे सही नहीं जातीं। मेरे हृदय को या तो लोहे का बना दो, या मुझे अपने पास बुला लो। आओ री कोमलांगी! आ जाओ! अपने कोमल करों से मेरी आँखें मींच दो!

● ● ●

'मनुष्य नये-नये नाशक यंत्रों की खोज में लगा हुआ है। आज का बुद्धिमान् मनुष्य पूछता है—ईश्वर कहाँ है? दिखाओ। बुद्धिहीन मनुष्य जवाब देता है—पेड़ और पहाड़ों के शिखर विचूर्णित हो जाते हैं; समुद्र का तूफ़ान जहाज़ों को डुबा देता है। मनुष्य काँपता है। क्यों? वायु के भय से। लेकिन ज़रा दिखा दो तो वह वायु है कहाँ?

'कोई भी सुख स्थिर नहीं होता। आज का सुख कल हृदय में चुभनेवाला दुःख हो जाता है; वह परसों एक स्वप्न-सा होकर उसके बाद एक कहानी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। निरर्थक काम करनेवाले इन मनुष्यों के समाज में मैं रहना नहीं चाहता; इन नर-पिशाचों से मैं मुक्त होना चाहता हूँ। मैं चंद्र-लोक में आसमान की मोहिनियों के साथ घूमना चाहता हूँ। आओ री मौत, आओ! मुझे उस सुखमय लोक में पहुँचाओ, जहाँ मनुष्य के टूटे-फूटे क़ानून न हों, और जहाँ नारी और धन के माया-बन्धन न हों।'

हिन्दी

गत गांधी-जयंती के अवसर पर श्रीमती सोफ़िया वाडिया ने हिंदू महिला समाज में जो हिंदी में भाषण दिया, वह कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। श्रीमती वाडिया का यह पहला हिंदी भाषण है और फ्रेंच महिला होने पर भी उनका हिंद और हिंदी-प्रेम गौरव की बात है। उन्होंने कहा—

'आज हम महात्मा गांधीजी की जयन्ती का समारोह सम्पन्न करने जा रही हैं। गांधीजी हमारे देश के एक महान् राष्ट्रवीर तथा नेता माने जाते हैं। उनके जैसे वीर-पुरुषों तथा राष्ट्रीय नेताओं की जयन्तियाँ देश के लिये प्रतिवार्षिक राष्ट्रीय समारोह का महत्त्व रखती हैं। प्रायः सभी सभ्य देशों में इस प्रकार के समारोह मनाये जाते हैं; क्योंकि इन समारोहों में एक किस्म की राष्ट्रीय महानता होती है। भारत की तो यह एक प्राचीन परम्परा है। भिन्न भिन्न राष्ट्रवीरों तथा राष्ट्रीय नेताओं के जन्मोत्सवों के महत्त्व में कुछ कमी वेशी अलबत्ता हो सकती है; किन्तु यह कमी वेशी,—यह अल्पाधिकता, उन प्रत्येक वीरपुरुष या राष्ट्रीय नेता के कार्य का स्वरूप जैसा रहा हो, या राष्ट्र के विकास में उनके कार्य का जितना और जैसा महत्त्व हो, उसी पर अवलम्बित रहती है। आज गांधीजी की जयन्ती को मनाते समय इस सिद्धान्त की ओर हमें विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये।

'आम तौरपर यह माना जाता है, कि गांधीजी भारत के एक महान् राजनीतिक नेता हैं। कुछ लोग उन्हें ऊँची श्रेणी के समाज सुधारक भी समझते हैं। किन्तु उनके सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। मेरे विचार से उनका जीवित-कार्य न तो राज-नीतिक स्वरूप का है, और न वह सामाजिक स्वरूप का ही है। वह तो वास्तव में आध्यात्मिक महत्त्व रखता है। स्वराज्य के सम्बन्ध में उनकी विशिष्ट प्रकार की धार-णायें हैं। सच्ची सभ्यता का स्वरूप कैसा होना चाहिये, इसके बारे में उनके हृदयपर एक तस्वीर सुस्पष्ट रूप से खुदी हुई-सी दिखाई देती है। अपने दैनंदिन रहन-सहन को भी उन्होंने एक अनूठे साँचे में ढाल रखा है। उनके जीवन के इन सारे पहलुओं को एकत्र कर जब हम उनको सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगते हैं, तो वे सब एक ही सूत्र में बँधे

हुए से नजर आते हैं, और हमें यह विश्वास होने लगता है, कि विश्व के बारे में उनके रहे हुए निगूढ़ दृष्टिकोण की भूमिका पर ही वे सब खड़े हैं। आज हमें उनके जीवन की इसी प्रधान भूमिका को दृष्टि में रखते हुए उस पर विचार करना है।'

जीवन समग्रता में एक है और सब प्रकार के कर्मों में समानभाव से आत्म-शुद्धि की आवश्यकता है—यह दिखाते हुए श्रीमतीजी ने कहा—'हम चाहे राजनीतिक संघर्ष में लगे हों, चाहे समाज सुधार के कार्य में, साथ ही साथ हमें चाहे आत्मसंशोधन तथा आत्मशुद्धि के कार्य में विशेष प्रेम हो, चाहे जनसेवा के काय में ; एक बात हमें हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए। वह बात यह है कि महात्मा गांधीजी ने अपने विश्व-बंधुत्व के महान् मन्दिर को आत्मा की अमरता की बुनियाद पर ही उभारा है। उनकी यह पक्की धारणा हैं, कि मनुष्य की आत्मा अमर है, और शुद्ध, सात्त्विक भाव से, सच्चे दिल से प्रयत्न करने पर वह पूर्ण परमात्म तत्त्व तक पहुँच सकती है। हम लोग भी जबतक उनके इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेंगे, तबतक हमारे भाव तथा व्यवहार अपने भाई-बहनों के प्रति समुचित रूप से लाभदायक हो नहीं सकेंगे, और उस हालत में उनकी सहायता तथा सेवा करने के लिए हम चाहे किसी भी कार्यक्षेत्र में कितनी ही कोशिश क्यों न करें, वह सब बेकार ही जायेगी। इसलिए अगर हम सबकी यह इच्छा हो कि जहाँ तक सम्भव है, गांधीजी के जीवन से हमें अपने लिए, तथा अपने देश के लिए अधिक से अधिक मार्गदर्शकत्व का लाभ प्राप्त हो, तो हमें चाहिए कि गांधीजी के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को तथा जीवित सिद्धान्त सम्बन्धी उनकी भावनाओं को पहिचान कर, उनके साथ समरस होने की हम कोशिश करें।

'इसके लिये प्रमुख रूप से हमारे प्रयत्न तीन प्रकार के होने चाहिये। हमारा सबसे पहला प्रयत्न अपने व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी होना चाहिये। आत्म-संशोधन करके हमें अपने अन्दर रही हुई सारी बुराइयों को धीरे-धीरे हटाने की कोशिश करनी चाहिये। बोलने में हमेशा निर्भयतापूर्वक सत्य ही का अवलम्बन करना चाहिये। अपने विचारों को ऊँचे, और भावों को उज्ज्वल बनाना चाहिये। जबतक हम लोग इस तरह के व्यक्तिगत सुधार करने के प्रयत्न नहीं करेंगे, तब तक हम अपने देश की सेवा उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकेंगे, जितनी गांधीजी कर रहे हैं।

'हमारा दूसरा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम अपनी मातृभूमि की सेवा अपने उन्हीं प्राचीन सिद्धान्तों के अनुसार करना सीखें, जिन्होंने इस देश को प्राचीन काल में वास्तविक रूप से सभ्यों का देश—आर्यावर्त—बनाया था। इसमें हमें विवेक से काम लेना चाहिए, न कि केवल पाश्चिमात्य कल्पनाओं, तथा रीति रिवाजों के अन्ध अनुकरण से। आजकल भारत में अन्ध अनुकरण का यह रोग बहुत जोर से फैल रहा है, जो हमारी मानसिक गुलामी का द्योतक है ; इसलिए जहाँ तक हो सके, बहुत शीघ्र हमें इससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिए। धीरे-धीरे सभ्य समझे जानेवाले आजकल के पाश्चिमात्य समाज भी अपनी धारणाओं तथा रस्मरिवाजों में रही हुई महान् भूलों को समझने लगे हैं, और इसलिए उनमें आवश्यक संशोधन, परिवर्तन एवं सुधार कर रहे हैं। ऐसी दशा में हम लोगों के लिए भी सावधानी से काम लेना जरूरी है।

'अब हम अपने प्रयत्नों के अन्तिम किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहलू पर पहुँचते हैं। प्रत्येक देश इस विशाल जगत् का अंश है। इन पृथक्-पृथक् अंशों का

परस्पर के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, और वे मानवता के एक अभेद्य सूत्र में बँधे हैं। ऐसी दशा में जिस तरह हमारे शरीर के एक पृथक अंश की, या कुटुम्ब के एक व्यक्ति की उन्नति पृथक और स्वतन्त्र रूप से अन्य अंशों को छोड़कर नहीं हो सकती, ठीक उसी तरह दुनिया के किसी एक देश का विकास भी अन्य देशों को हीन अवस्था में छोड़कर सम्पूर्ण रूप से हो नहीं सकता। हर एक देश की उन्नति या अवनतिका भला या बुरा असर अन्य देशों के विकास पर अवश्य ही होता है; इसलिए हमें इस बात को कदापि भूलना नहीं चाहिए कि भारत की उन्नति होना, केवल भारतवर्ष के सुपुत्रों तथा सुकन्याओं के विकास ही के लिए आवश्यक नहीं है। संसार के अन्यान्य देशों का भी उसमें काफ़ी हिस्सा रहेगा। भारत के आध्यात्मिक विकास का लाभ उसकी सन्तानों के साथ ही साथ सारे संसार को, और उसके अन्दर जीवन यापन करनेवाली समूची मानव जाति को भी मिलना चाहिये। इसे ही विश्व बन्धुत्व कहते हैं, और इस दिशा में भी हमारा प्रयत्नशील होना जरूरी है।

'जब हम भारत के सारे स्त्री-पुरुष इन सारे सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए उक्त तीनों दिशाओं में प्रयत्नशील होंगे, तभी गांधीजी की महान् सेवाओं के कारण जो ऋणभार दिन प्रतिदिन हमारे सिरों पर चढ़ रहा है, उसको हम आंशिक रूप से तोभी अदा कर सकेंगे। आशा है कि आप सब बहनें भी इन तीनों दिशाओं में प्रयत्नशील होकर इस महान् कार्य में काफ़ी हाथ बटाना शुरू कर देंगी, और इस तरह अपने महान् राष्ट्रवीर तथा नेता की जयन्ती के समारोह को सफल बनायेंगी।'

कल की बात—विविध लेखकों की आत्मकथाओं का संग्रह ; प्रकाशक, सरस्वती-प्रेस बनारस, १९३७ । पृष्ठ-संख्या १२१, मूल्य १) । छपाई-सफ़ाई अच्छी ।

इस संग्रह में हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध लेखकों की संक्षिप्त आत्मकथाएँ हैं । हिन्दी के लिए यह एक नई ही वस्तु है । सन् १९३२ में 'हंस' का जो आत्म-कथांक निकला था, उसी के कुछ लेख यहाँ संगृहीत हैं । यह लेख जीवन के एक अंग की झाँकी मात्र हैं । आशा है भविष्य में इन लेखकों में से कुछ अपनी विस्तृत आत्मकथा लिखेंगे ।

पाश्चात्य देशों में आत्मकथा लिखने की परिपाटी पुरानी है । हमारे यहाँ अभी आत्मकथा लिखने की कला का कोई पथ निर्दिष्ट नहीं । महात्मा गाँधी और पं० जवाहरलाल नेहरू इन दो महापुरुषों की आत्म-कहानी अब तक हिन्दी के सामने आ चुकी हैं । आत्मकथा में दो गुणों की विशेष आवश्यकता है —सत्य और साहित्यिकता ।

इस संग्रह में श्री कृष्णानन्द गुप्त का आत्मकथा पर एक गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण लेख है । उसमें अनेक ऐतिहासिक और विवेचनापूर्ण बातें आ गई हैं ।

श्री अन्नपूर्णानन्द में आत्मकथा-कलाकार के सभी गुण मौजूद हैं । आप साधारण बात को भी मनोरंजक और ज़ोरदार ढंग से कहना जानते हैं । इस संग्रह में सब से अच्छी कृति हमें आपकी 'कल की बात' ही लगी । गणित में आप कमज़ोर थे ; सफलता के लिए जो पथ आपने अपनाया, उससे हमारी पूर्ण सहानुभूति है । आशा है आगे चल कर श्री अन्नपूर्णानन्द जी अपनी विस्तृत आत्मकथा अवश्य लिखेंगे ।

पं० विनोदशंकर व्यास के लेख में भी हमें आत्मकथा के स्वाभाविक गुण दीखे । आप अपने अतीत जीवन की धारा को निर्द्वन्द्व भाव से देखते और चित्रित करते हैं । आपने कुछ छिपाया अथवा बढ़ाया नहीं है । सच्ची बात साहित्यिक ढंग से कही है । कलाकार नीति की चिन्ता नहीं करता । ऐसे आप थे, ऐसे अब हैं ; जिन्हें आपके व्यक्तित्व से दिलचस्पी है, वह आपकी गाथा पढ़ें । यह आवश्यक नहीं कि गांधी और नेहरू ही अपनी जीवनकथा लिखें, साधारण मनुष्य भी, यदि उसका जीवन-धारा टेढ़ा-मेढ़ा होकर नहीं है, सुन्दर आत्मकथा लिख सकता है ।

श्रीयुत सुदर्शन और श्रीयुत कौशिक ने अपने जीवन की एक-एक स्मृति पुनर्जीवित की है । उनकी रचनाएँ एक प्रकार का नैतिक निष्कर्ष लिये हैं । उनकी भाषा प्रवाहमय और रोचक है ; किन्तु उनका हृदय इस प्रकार की रचना में नहीं । जैनेन्द्रजी किसी भी बात को दार्शनिक आवरण से ढककर कहते हैं । हिन्दी के यह कहानी-लेखक अच्छी आत्मकथा नहीं लिख सकेंगे ।

पं० बद्रीनाथ भट्ट की लेखनी में भी ओज और माधुर्य है । अपनी आत्मकथा वह भी सुन्दर ढंग से लिख सकते थे । किन्तु अब तो वे इस संसार में रहे ही नहीं ।

इस संग्रह की लेखमाला मनोरंजक और हृदयग्राही है । एक नवीन ही दिशा में हमने अपने पैर बढ़ाये हैं । आशातीत सफलता भी मिली है । हमें खेद है कि 'प्रसाद' जी की आत्म-कथा इस संग्रह में नहीं । यह अभाव हमें खटकता है । हिन्दी के साहित्यिकों में 'प्रसाद' जी अपने बारे में इतने मौन हैं कि उनसे कुछ कहलाना भारी विजय हो । आशा है 'कल की बात' के कुछ लेखक अपनी बात और भी विस्तृत रूप से कहेंगे ।

– प्रकाशचन्द्र गुप्त

'कफ़न'—लेखक, प्रेमचंद, प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३७। मूल्य २) संजिल्द।

इस संग्रह में स्वर्गीय प्रेमचन्द्जी की कुछ कहानी और आत्म कथात्मक लेख सुरक्षित हैं। कहानियाँ सभी रंग की हैं। गम्भीर, हास्य-रस-प्रधान, असहयोग आन्दोलन की प्रतिध्वनियाँ, जीवन के सूक्ष्म निदर्शन। 'गोदान' और 'मानसरोवर' से जो धारणा बनी थी कि मृत्यु के पूर्व प्रेमचन्द्जी की प्रतिभा पूर्ण रूप से मुखरित और प्रौढ़ थी, उसकी पुष्टि इस संग्रह से होती है। जीवन से निरन्तर उन्हें नयी शक्ति मिल रही थी, और उनकी कल्पना सजीव थी। प्रेमचन्द्जी के अवसान में हिन्दी की भारी क्षति हुई, क्योंकि उनका अभी समस्त शक्तियों पर अधिकार था, और हिन्दी को अभी वे बहुत कुछ दे सकते थे।

'कफ़न' नाम की कहानी ग्राम्य-समाज का नग्न और भीषण चित्र है। हृदय के रक्त से लिखी गई यह कहानी है। इसमें प्रेमचन्द्जी के आदर्शवाद की पूर्ण पराजय हुई है। लेखक साहित्य की कसौटियों पर कसने से इस कहानी को बहुत ऊँचा स्थान देना होगा। प्रेमचन्द्जी की तुलना गोर्की से की गई है। गोर्की की रचनाएँ ऐसी ही शक्तिपूर्ण और भीषण होती थीं। किन्तु गोर्की का यह स्वाभाविक रूप था। प्रेमचन्द की कला अधिक कोमल और सुकुमार थी। 'बड़े घर की बेटी' को ही हम उनकी कला का स्वाभाविक रूप मानते हैं।

'लेखक', 'जुरमाना' और 'दो बहनें' नाम की कहानी इसी रूप की झाँकी हैं। यद्यपि जीवन के सन्ध्या-काल में प्रेमचन्द्जी का ईश्वरवाद में विश्वास शिथिल होता जा रहा था, मानव-हृदय की उदारता और विशालता पर उन्हें अविचल भक्ति थी; कठोर परिस्थिति में पड़कर मनुष्य अग्नि में तपे सोने की भाँति चमक उठता है, यह उनका विश्वास था। इसी कारण उनकी कहानियाँ इतनी मर्मस्पर्शी होती हैं। इसके अतिरिक्त उनके वर्णन में, रेखा-चित्रों में, भाषा-प्रवाह में वही पुरानी स्फूर्ति और तल्लीनता है।

'आहुति' और 'होली का उपहार' सत्याग्रह-काल की देन हैं। गान्धी-युग का बहुत-सा इतिहास इस कोटि की कहानियों में मिलेगा। प्रेमचन्द्जी को इन कहानियों में वह सफलता नहीं मिली, जो उनके ग्राम्य-जीवन के चित्रों में है। कलाकार एक विशेष विचार-शैली को अपना-कर जब लिखता है, तब ऐसी हार अनिवार्य है।

'कश्मीरी सेब' जीवन के एक बहुत सूक्ष्म अंग का चित्र है। इस शैली की रचनाएँ वह अधिकाधिक लिख रहे थे। उनकी कहानियाँ अब बहुत छोटी हो चली थीं। घटना-जाल, भावों का विकास इन कहानियों में नहीं। यही मनुष्य-जीवन का साधारण रूप है। इन कहानियों में वह रस नहीं मिलता जो घटना-पूर्ण रचनाओं में। प्रेमचन्द्जी उत्तरोत्तर जीवन के निकट आते जा रहे थे। उनके व्यक्तित्व अथवा कला में निरन्तर गतिशीलता रही।

'मोटेराम की डायरी' हास्य-रस-प्रधान कहानी है। शायद अभी यह असम्पूर्ण है। इसी ढंग की कुछ और भी कहानी उन्होंने लिखी हैं। 'बूढ़ी काकी' में उच्च कोटि का हास्य है। एक अँग्रेज़ी लेखक का कथन है कि जहाँ हास्य का अन्त होता है, अश्रुओं का आरम्भ होता है। इस कोटि का हास्य मोटेराम में नहीं है। मुटाप पर अथवा अधिक खाने पर हँसना सबसे हलका हास्य है। प्रेमचन्द के हास्य में सरलता और तल्लीनता थी; वह ख़ूब खुलकर हँसते थे; उनका हास्य अट्टहास तक भी पहुँच जाता था। किन्तु साहित्य में उच्च-कोटि का हास्य वही होता है जिसमें गम्भीरता हो। इसी कारण हम 'बूढ़ी काकी' को 'मोटेराम' से बहुत ऊँचा समझते हैं।

'कफ़न' में आत्म-कथा के भी कुछ टुकड़े हैं। प्रेमचन्द्जी को आत्म-कथा साहित्य से

रुचि थी। उन्होंने 'हंस' का आत्म-कथांक निकाला था। भारत में आत्म-कथा साहित्य का आविर्भाव अभी हुआ है। इस युग के महापुरुषों में से गांधी, रवि बाबू, जवाहरलाल नेहरू, पी० सी० राय अपनी आत्म कहानी लिख चुके हैं। 'जीवन-सार' प्रेमचन्द्रजी की आत्म-कहानी का सारांश मात्र है। किन्तु इसमें उच्च-कोटि की आत्म-कथा के सभी गुण हैं—सरलता, सचाई, मनोरंजकता, साहित्यिक गद्य-शैली। इस आत्म कहानी में एक सुन्दर व्यक्तित्व और कलाकार की प्रतिमा सुरक्षित है।

'कफ़न' संग्रह में प्रेमचन्द कलाकार और मनुष्य के सभी रंगों का स्मरण हमें दिलाता है। प्रेमचन्द के साहित्य और व्यक्तित्व के जो रूप हमने इतने वर्षों में देखे, उन सभी का दर्शन फिर इस संग्रह में हुआ। यह सोचकर कि वह श्रेष्ठ कलाकार अपनी लेखनी से अब नये जगों का सृजन नहीं करेगा, हृदय में ठेप-सी लगती है। क्या हम आशा करें कि स्वर्गीय प्रेमचन्द की जो अप्रकाशित रचनाएँ बची हैं, उनको भी शीघ्र ही सरस्वती प्रेस, हिन्दी संसार के लिए उपलब्ध कर देगा?

प्रतिशोध—(ऐतिहासिक नाटक) लेखक, हरिकृष्ण प्रकाशचंद्र गुप्त 'प्रेमी', प्रकाशक भारती प्रेस, लाहौर, १६३७। मूल्य १) पृष्ठ संख्या १५२।

आलोच्य पुस्तक 'प्रेमी' जी का नाटक है। कथानक बुन्देलखंड के महान वीर छत्रसाल के ऐतिहासिक जीवन से लिया गया है और लेखक के शब्दों में ऐतिहासिक सत्य की पूर्णतया रक्षा की गई है।

आलोचक का कार्य बड़ा कष्टकर है। कवि 'प्रेमी' मुझे सदा से प्रिय रहा है। उसकी 'आँखों में' मैंने एक दिन जाने क्या-क्या देखा था और उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं; पर आज उसी के 'प्रतिशोध' को पढ़कर निराशा होती है और मुझे एक वेदना भी होती है।

समूचा नाटक एक बहुत मन्दवाहिनी सरिता की तरह हलके-हलके बहता है। मुझे ऐसा लगा कि वैचित्र्य कुछ भी नहीं है, स्पर्श करनेवाले स्थल नहीं के बराबर हैं। कुशल कलाकार के हाथों पड़कर विजयी ज़ेबुन्निसा तथा प्राणनाथ प्रभु के चरित्र नाटक को साहित्य की अमर कृति बना सकते थे; पर जैसे लेखक को बच्चों के लिए कहानी कहना मंजूर था। यही शायद उसका बड़ा सम्बल भी है। जगह-जगह पर जो गीत दिये गये हैं, वे भी 'प्रेमी' की लेखनी के अनुरूप कदापि नहीं हैं। न तो उसके—

'विन्ध्यवासिनी देवि कराली'

में 'स्वर्ण-विहान' का ओज और अल्हड़पन है और नहीं उसके—

'दिल नहीं लगता लगाये।'

में 'आखों में' वाली मस्ती और दर्द है।

'प्रेमी' जी के प्रति मुझमें श्रद्धा है। उसी के तो सहारे मैं कह सकूँगा कि उन्हें इस नाटक में सफलता नहीं मिली; बच्चों के क़िस्से से अधिक यदि वे और कुछ लिखते तो अच्छा होता। छापे की भूलें काफ़ी रह गई हैं।

'मंगलामोहन।'

विश्वासघात

पिछले अंक में हमने पाठक को विश्वास दिलाया था कि अक्तूबर के महीने से 'हंस' ठीक महीने में निकलने लगेगा। वैसा नहीं हुआ। हम मानते हैं, यह विश्वास का घात हुआ। और अगर इसका परिणाम यह है कि पाठक के मन में से हमारे शब्दों की सचाई की साख उठ गई है तो यह हमारे विश्वासघात के अपराध का उचित दंड ही हो सकता है।

वचन की साख गई तो फिर रह क्या गया। एक नैतिक पत्र की तो वही एक पूँजी है। वह पूँजी जिसकी लुट गई उस पत्र को फिर पाठक क्यों पूछे?

पर आदमी के वश कर्म है, फल ईश्वर के हाथ है। 'हंस' की झंझटें अपनी हैं। पैसा पास नहीं है, तिस पर सहयोग की भी कमी है। इसके अर्थ यह नहीं हैं कि वचन देकर उसे तोड़ा जा सकता है। फिर भी पाठक चाहे तो सहानुभूति के भाव से परिस्थितियों को देख सकता है और अब भी 'हंस' का साथ दे सकता है।

हमें लज्जा है। यह कहते भी लज्जा होती है कि हमें क्षमा किया जाय। पाठक के प्रति अपना दावा हम खुद छिना बैठे हैं। फिर भी जब अपना कुछ बल नहीं है, तब बल व्यक्ति को प्रार्थना का हो जाता है। हमारी प्रार्थना है कि पाठक अब भी हमें मौक़ा दें।

यह अंक तो आ ही रहा है। अक्तूबर का अंक इस मास की २५ तारीख के लगभग डिस्पैच हो जायगा। इस भाँति दिसम्बर मास तक, ईश्वर सहायक हो, 'हंस' ठीक तिथि तक निकलने ही लगेगा।

जगह-जगह से सुझाया गया कि ऐसी अवस्था में दो महीनों का युग्मांक क्यों न निकाल दिया जाय। वह हमें न्याय नहीं मालूम हुआ। वह अपने को बहकाने के समान हो जाता। पाठक के प्रति अन्याय, अपने प्रति भी थोड़ा बहुत छल। वह उपाय इससे नहीं अपनाया जा रहा है। अंक प्रति वर्ष पूरे के पूरे बारह निकलेंगे और दिसम्बर का अंक, ईश्वर कृपा चाहिये, समय पर पहुँच जायगा।

नीति और व्यवसाय

अनेक हितैषियों ने कहा है कि विज्ञापन न देने की 'हंस' की घोषित नीति में नयापन मालूम हो, पर उसमें सार नहीं है। उसमें बहुत खतरा है। उसमें पत्र का जीवन निबाहना भी कठिन हो जायगा। उन्हें विश्वास है कि ऐसे पत्र नहीं चल सकता, वह असम्भव है। चला भी तो किन्हीं दानी की कृपा के भरोसे कुछ भले चल जाय। लेकिन उसको चलना क्या कहना चाहिये। यदि कोई पत्र अपने बल पर जीने में समर्थ नहीं है तो वह साहित्य की, अथवा सामाज की, अथवा सत्य की ही सेवा क्या कर सकता है? इससे इस विषय का आग्रह नहीं रखना चाहिये।

हितैषियों की चिंता हमारे भले के लिए ही है। उनके परामर्श के लिए क्या हम अतिशय कृतज्ञ नहीं हैं? उनकी सत्कामना का बल छोड़ने का साहस भी हम कैसे कर सकते हैं। पर ईश्वर के सामने भी यदि हमारी जवाबदारी है तो जो हमें नैतिक दृष्टि से अपने निज के लिए

आज योग्य नहीं मालूम होता है वह किस भाँति हम कर सकते हैं। जो आयोग्य दीखता है, वह अनिवार्य किसी तरह भी नहीं हो सकता। और अगर जीवन चलाने में वह अनिवार्य ही बना दीखता है, तो वैसे जीवन को अंगीकार करने में भी हमें आपत्ति है।

अव्वल तो यह मानने की कोई लाचारी हमें नहीं दिखाई देती कि प्रचलित अर्थों में विज्ञापन लिये बिना पत्र चल ही नहीं सकता। हमारी श्रद्धा है कि चल सकता है, अवश्य चल सकता है, और पत्र ऐसा ही चलना चाहिये। क्या पत्र कारोबार ही हो? नहीं, उसका हेतु नैतिक नहीं तो हमारी दृष्टि से उसकी ज़रूरत संदिग्ध है। पत्र को सन्नीति प्रचारक और सद्वृत्ति विवेचक होना चाहिये।

और अगर ऐसे पत्र नहीं चलता तो यह कार्यकर्ताओं की अक्षमता और अपात्रता गिननी चाहिये, नीति का दोष तो यह फिर भी नहीं है।

ऐसे विचार रखते हुए, मार्ग नहीं दीखता है कि हितैषी बंधुओं की इच्छा का पालन किस भाँति हम करें और सामान्य विज्ञापनों को किस भाँति 'हंस' में स्वीकार करें। अभी तो वह उचित नहीं मालूम होता, इससे संभव भी नहीं प्रतीत होता।

फिर भी यह तो प्रगट ही है कि 'हंस' में घाटा है। घाटा बहुत है। क्या हम अपने हितेच्छु बंधुओं से निवेदन कर सकते हैं कि अगर 'हंस' की वृत्ति उन्हें प्रामाणिक लगती हो तो उसके ग्राहक बनाकर वे हमारी मदद अवश्य करें!

लेखकों से

'हंस' के कृपालु लेखकों-कवियों से आवश्यक और विनीत प्रार्थना है कि अपनी रचनाओं के साथ डाक-टिकट कृपया अवश्य भेजें। अन्यथा वे अस्वीकृत होने पर वापिस न भेजी जा सकेंगी, अस्वीकृति की सूचना पहुँचाना भी कठिन होगा। यहाँ तक कि स्वीकृत रचनाओं की स्वीकृति-सूचना भी संदिग्ध हो सकती है। इन शब्दों को वर्तमान संपादक का व्यक्तिगत निवेदन समझा जावे, क्योंकि डाक-टिकट की तंगी रहने से वह तंग रहता है।

वर्ष ७

अक्तूबर १९३६ से सितम्बर १९३७ तक

'हंस' कार्यालय,
बनारस
१९३७

लेख-सूची

अक्तूबर

अगति (मैथिलीशरण गुप्त) पृ० १, सरल जीवन (रिचर्ड बी० ग्रेग) पृ० २, गोधूलि (उषादेवी मित्रा) पृ० २०, निरा अ-बुद्धिवाद (जैनेन्द्रकुमार) पृ० २६, अनुरोधि (राजेन्द्र) पृ० ३५, रस (जयशंकर 'प्रसाद') पृ० ३६, राम-कथा (जैनेन्द्रकुमार) पृ० ४४, गीत (सर्वदानन्द वर्मा) पृ० ५०, मोटर-दुर्घटना (शकुन्तला जैन) पृ० ५१, गीत ('निराला') पृ० ६२, साहित्य की सचाई (जैनेन्द्रकुमार) पृ० ६३, मराठी कथा की मनोधारा (प्रभाकर माचवे) पृ० ६८, कश्मीरी सेब (प्रेमचन्द) पृ० ७३, बंग-साहित्याकाश में गीति-काव्य का अरुणोदय (रूपनारायण त्रिपाठी) पृ० ७५, वियोग (कमलाकुमारी) पृ० ८४, मित्र के नाम एक पत्र (जनार्दनराय) पृ० ८५, मुक्ता-मंजूषा (चयन) पृ० ९२, नीर-क्षीर (समालोचना) पृ० १०६, हंस-वाणी (सम्पादकीय) पृ० १०९.

नवंबर

सरल जीवन (रिचर्ड बी० ग्रेग) पृ० ११७, बीमार (सज्जाद ज़हीर) पृ० १३२, बैल की बिक्री (सियारामशरण गुप्त) पृ० १४२, चमार ('करुण') पृ० १४९, मंगल प्रभात (गंगाप्रसाद पाण्डेय) पृ० १५७, नीम-चमेली (उषादेवी मित्रा) पृ० १३८, जीवन-स्वामी (राजेन्द्र) पृ० १६६, विसर्जन (शङ्करलाल शर्मा 'विजय') पृ० १६७, नाटकों का आरम्भ (जयशंकर 'प्रसाद') पृ० १७६, चकोर और चातक (खाँडेकर) पृ० १८०, गीत (स्नेहलता सिनहा) पृ० १८१, हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? (चार्ल्स डब्लू फ़र्गुसन) पृ० १८२, भैया-दूज (शान्ति-प्रकाश) पृ० १८८, ताण्डव (जयशंकर 'प्रसाद') पृ० १९०, श्री जैनेन्द्रकुमार, एक व्यक्तित्व चित्र (प्रभाकर माचवे) पृ० १९२, दार्शनिक, रहस्यवादी तथा छायावादी (देवीशंकर वाजपेयी) पृ० २०२, मुक्ता-मंजूषा (चयन) पृ० २०६, नीर-क्षीर (समालोचना) पृ० २२४, हंस-वाणी (सम्पादकीय) पृ० २३३.

दिसम्बर

रोटी के मतवाले (श्रीमन्नारायण अग्रवाल) पृ० २३७, सत्य (रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी) पृ० २३८, एक ही क़ब्र में (उदयशंकर भट्ट) पृ० २४५, रुदन और हास्य (जनार्दन राय) पृ० २५३, हंस, मानसरोवर (दिनेशनन्दिनी चोरड्या) पृ० २७६, मिट्टी के घड़े (वामन चोरघडे) पृ० २७७, अरुणा ('विष्णु') पृ० २८२, प्रोफेसर और डिक्टेटर (ए० लालेमण्ड) पृ० २९१, कला का एक प्रगतिशील विवेचन (अहमद अली) पृ० ३०४, आँख-मिचौनी (शीला भल्ला) पृ० ३१७, विमाता (शिवरानी देवी) पृ० ३१८,...और आज (सुरेन्द्रदेव) ३२८, नाटकों में रस का प्रयोग (जयशंकर 'प्रसाद') पृ० ३२९, मुक्ता-मंजूषा (चयन) पृ० ३३१.

जनवरी

आगे (मैथिलीशरण गुप्त) प० ३५३, गीता के भाष्यकारों की समस्या (मोशिये एम० लैद्रूस) प० ३५५, झूठ या सच ? (उषादेवी मित्रा) प० ३५६, क्वासि ? (बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन') प० ३६८, हिन्दी-उर्दू की समस्या (विशम्भरनाथ) प० ३६६, चाह (सुन्दरलाल गर्ग) प० ३७५, कर्णाटक के ग्राम्य-गीत (देवडू० नरसिंह शास्त्री) प० ३७६ प्राचीन बंग-साहित्य पर हिन्दी का प्रभाव (कामेश्वर शर्मा) प० ३८१, निर्झर-तट पर ('अज्ञेय') प० ३६२, बरगद (कृष्णलाल श्रीधराणी) प० ३६४, जीजी ('विष्णु')प० ४०४, एक पत्र (जैनेन्द्रकुमार) प० ४१२, मान (दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी) प० ४२१, आरम्भिक पाठ्य-काव्य (जयशंकर 'प्रसाद') प० ४२८,......के निकट (द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निगुण') प० ४३३, मुक्ति के मार्ग (रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी) प० ४३५, मुक्ता-मंजूषा (चयन) प० ४४०, नीर-क्षीर (समालोचना) प० ४४६, हंस-वाणी (सम्पादकीय) प० ४५६.

फ़रवरी

आह्वान (मैथिलीशरण गुप्त) प० ४५७, पहचान (उषादेवी मित्रा) प० ४५८, साहित्य-दर्शन (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) प० ४६४, गीता का तत्व और परमार्थ की खोज (चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य) प० ४७२, बरगद (कृष्णलाल श्रीधराणी) प० ४७६, कोकिल (गंगाप्रसाद पांडेय) प० ४८८, जिज्ञासा ('अज्ञेय') प० ४८६, वह स्वधर्म का रहस्य जानता था (दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर) प० ४६१, लट उलझी सुलझा दे मोहन ! (जनार्दन राय) प० ४६२, आश्वासन ('द्विजेन्द्र') प० ४६७, भ्रम (बोस, घोष, बनर्जी, चटर्जी,) प० ४६८, मुक्ताहार (पी० मालती) प० ५०२, तुम और मैं (देवीलाल सामर) प० ५०५, लोक-गीत (नरोत्तमदास स्वामी) प० ५०६, महाकवि दान्ते और उनका काव्य (कामेश्र शर्मा) प० ५०६, तथ्य (प्रेमचन्द) प० ५१३, माँ (बलदेवप्रसाद मिश्र) प० ५२०, भाई साहब ('विष्णु') प० ५२५, एक भाषण (स्व० प्रेमचन्द) प० ५३२, भाव, विचार तथा कल्पना (देवीशङ्कर वाजपेयी) प० ५४२, मधुबेला (अशोक) प० ५४५, मुक्ता-मंजूषा (चयन) प० ५४६, नीर-क्षीर (समालोचना) प० ५५२.

मार्च

असफल (मैथिलीशरण गुप्त) प० ५६१, विज्ञान और धर्म (वशीश्वर सेन) प० ५६२, सृष्टि का आरम्भ (बर्नार्ड शॉ) प० ५६७, प्रगति क्या ? (जैनेन्द्रकुमार) प० ५८१, गीत (विमल कैरलीय) ५८७, क्यों ? (गिजुभाई बधेका) प० ५८८, संस्कृत-साहित्य में समालोचना की विभिन्न धाराएँ (रूपनारायण त्रिपाठी) प० ५६६, गीत ('नलिनी') ६००, पगडंडी (कमलाकान्त वर्मा) प० ६०१, अनुरोध ('अज्ञेय') प० ६११, मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ (राजाराम शास्त्री) प० ६१२, परमेश्वर का प्रतिनिधि (रा० कृष्णमूर्ति) प० ६१७, साहित्य का प्रयोजन (कामेश्वर शर्मा) प० ६२२, उद्यत ('मंगलामोहन') प० ६२७, अनुभूति (बलदेव-प्रसाद मिश्र) प० ६२८, हृदय की प्यास (ए० चन्द्रहासन) प० ६३४, सामयिक (टिप्पणियां) प० ६३६, नीर-क्षीर (समालोचना) प० ६४३, मुक्ता-मंजूषा (चयन) प० ६५२.

अप्रैल

यथार्थवाद और छायावाद (जयशंकर 'प्रसाद') पृ० ६६५, खोखला ढोल (जैनेन्द्र-कुमार) पृ० ६७१, राष्ट्रलिपि और राष्ट्रभाषा (भदन्त आनन्द कौसल्यायन) पृ० ६७८, सृष्टि का आरम्भ (बर्नार्ड शॉ) पृ० ६८५, वह मूर्ख (आइवन तुर्गनेव) पृ० ६६६, आमंत्रण (शशिभूषण शर्मा) पृ० ७००, साहित्य का दृष्टिकोण, आदर्शवाद अथवा यथार्थवाद (देवीशंकर वाजपेयी) पृ० ७०१, बड़ी दीदी या जिज्जी ('स्नेहरश्मि') ७०४, हिन्दी का बढ़ता हुआ शब्द-कोष (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) पृ० ७१४, क्षमा (उषादेवी मित्रा) पृ० ७२०, परिचय (देवीलाल सामर) पृ० ७२६, माँ-बेटे (भुवनेश्वर प्रसाद) पृ० ७२७, गीत ('मंगलामोहन') पृ० ७३०, उत्कल साहित्य में हास्य-रस (लक्ष्मीनारायण साहु) पृ० ७३१, पहचान (देवीलाल सामर) पृ० ७३२, कंकाल का सामाजिक दृष्टिकोण (रामस्वरूप व्यास) पृ० ७३३, खोया-प्यार (कमला कुमारी) पृ० ७३८, मानवता के मार्ग (वामन चोरघडे) पृ० ७३६, वसन्त-प्रभा में (विनयकुमार) पृ० ७४२, उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी (स्व० प्रेमचन्द) पृ० ७४३, मुक्ता-मंजूषा (चयन) पृ० ७५०, नीर-क्षीर (समालोचना) पृ० ७५६, सामयिक (टिप्पणियाँ) पृ० ७६१.

मई

मैं लुट गई ! (शिवरानी देवी) पृ० ७६७, प्रेमचन्द—मैंने क्या जाना और पाया (जैनेन्द्रकुमार) पृ० ७७१, गुण-ग्राहकता (अवध उपाध्याय) पृ० ७८४, प्रेमचन्द जी की कला और उनका मनुष्यत्व (इलाचन्द जोशी) पृ० ७७६, प्रेमचन्द जी की याद (रामनरेश त्रिपाठी) पृ० ७८६, महान् साहित्यकार की स्मृति में (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) पृ० ७६१, बड़े का विनय (श्रीप्रकाश) पृ० ७६५, कवि का आमंत्रण ('नलिनी') पृ० ७६८, श्रद्धांजलि (जमनालाल बजाज) पृ० ७६६, प्रेमचन्दजी की देन (हरिभाऊ उपाध्याय) पृ० ८००, प्रेमचन्दजी (चन्द्र-हासन) पृ० ८०३, श्री प्रेमचन्द की अन्तर्दृष्टि (उदयशंकर भट्ट) पृ० ८०५, हिन्दी-साहित्य में श्री प्रेमचन्दजी का स्थान (धीरेन्द्र वर्मा) पृ० ८०८, प्रेमचन्द और देहात (उपेन्द्रनाथ 'अश्क') पृ० ८१०, प्रेमचन्द—हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभा (रामनाथ 'सुमन') पृ० ८१६, प्रेमचन्द ज़िन्दाबाद ! (रामवृक्ष बेनीपुरी) पृ० ८२५, मेरा भी कुछ खो गया है ! (धनीराम प्रेम) पृ० ८३३, स्वर्गीय प्रेमचन्दजी (भगवानदास हालना) पृ० ८३६, स्वर्गीय आत्मा की स्मृति में (श्री-निवासाचार्य) पृ० ८३८, दक्षिण भारत में प्रेमचन्द (व्रजनन्दन शर्मा) पृ० ८४१, प्रेमचन्द, जैसा मैंने पाया (जनार्दन राय) पृ० ८४५, केवल तीन ख़त (भदन्त आनन्द कौसल्यायन) पृ० ८५१, प्रेमचन्द (ऋषभचरण जैन) पृ० ८६०, श्री प्रेमचन्दजी की याद में (महेशप्रसाद मौलवी आलिम फ़ाज़िल) पृ० ८६४, प्रेमचन्द (गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र') ८६७, मुन्शी प्रेमचन्द मरहूम (मौ० मुहम्मद आक़िल) ८६८, प्रेमचन्द मेरी निगाहों में (अशफ़ाक हुसैन) पृ० ८७३, प्रेमचन्दजी की कुछ संस्मृतियाँ (अहमद अजो) पृ० ८७८, प्रेमचन्दजी मनुष्य और लेखक के रूप में (रघुपति सहाय) पृ० ८८३, प्रेमचन्द ; भारतीय कृषकों का कंठस्वर (प्रियरञ्जनसेन) ८६४, स्मृतियाँ (सुदर्शन) पृ० ६१३, नवीन भाव-धारा के प्रवर्तक (दुर्गाप्रसाद पाण्डेय) पृ० ६१७, प्रेम-स्मृति (बन्देअली फ़ातमी) पृ० ६२२, संस्मरण (भँवरमल सिंघी) पृ० ६२३, प्रणाम (शान्तिप्रिय द्विवेदी) पृ० ६२५, प्रेमचन्दजी की सर्वोत्तम कहानियाँ (आनन्द-राव जोशी) पृ० ६२७, श्री प्रेमचन्दजी का कला के प्रति दृष्टिकोण (देवीशंकर वाजपेयी) पृ० ६३०, प्रेमचन्दजी को जैसा हमने देखा (बैजनाथ केडिया) पृ० ६३३, प्रेमचन्दजी (सद्गुरु-

शरण अवस्थी) पृ० ६३५, प्रेमचन्द की कहानी-कला (प्रकाशचन्द्र गुप्त) पृ० ६३७, प्रेमचन्द का रचना-रहस्य (जगन्नाथप्रसाद शर्मा) पृ० ६४५, संतोष-जीवन का सबसे बड़ा धन (केशरी-किशोरशरण) पृ० ६४८, मानव-हृदय के कवि (वीरेश्वर सिंह) पृ० ६५३, कृषक-बन्धु प्रेमचन्द ('करुण') पृ० ६५७, हिन्दी-साहित्य के अभिमान प्रेमचन्द (अनसूयाप्रसाद पाठक) पृ० ६५६, श्री प्रेमचन्दजी (उषादेवी मित्रा) पृ० ६६५, हंस-वाणी (सम्पादकीय) पृ० ६६८.

जून

गीत (तारा पाण्डे) पृ० ६७५, सहशिक्षा (गिजुभाई बधेका) पृ० ६७६, काल्पनिक और वास्तविक (जनार्दन राय) पृ० ६८५, कहानी की करामात (लक्ष्मीधर नायक) पृ० १०००, भिखारी बालक (मार्सल प्रूस्त) पृ० १००७, प्रेयसी (आरसीप्रसादसिंह) पृ० १०१०, खेल (देवीलाल सामर) पृ० १०१३ गतिशील चिन्तन (हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० १०१४, आँसू ('मंगलामोहन') पृ० १०२०, एक पहेली ('पहाड़ी') पृ० १०२१, वर्तमान सभ्यता और उसका भविष्य (कामेश्वर शर्मा) पृ० १०३०, चित्रकार ('विश्वात्मा') पृ० १०३५, दर्पहरण (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) पृ० १०३७, वात्सल्य ('करुण') पृ० १०४५, एक भाषण (जैनेन्द्रकुमार) पृ० १०४६, मुक्ता-मंजूषा (चयन) पृ० १०६२, नीर-क्षीर (समालोचना) १०७४, सामयिक (टिप्पणियाँ) पृ० १०८१, हंस-वाणी (सम्पादकीय) पृ० १०८५.

जुलाई

सहशिक्षा (गिजुभाई बधेका) पृ० १०८७, प्रस्थान (विनयकुमार) पृ० १०६६, छिन्नपृष्ठा (सरस्वती पाणिग्राही) पृ० १०६६, सन्त रैदास (रामचन्द्र टण्डन) पृ० ११०४, बिछोह (देवीलाल सामर) पृ० ११९०, मुरब्बी ('विष्णु') पृ० ११११, सम्पत्तिवाद (जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द') पृ० १११६, मुन्शीजी (सियारामशरण गुप्त) पृ० १११८, सुखिया (कमलादेवी चौधरी) पृ० ११२७, राजकुमार का देशाटन (जैनेन्द्रकुमार) पृ० ११३३, ढांकर की रोमा (जयन्ती पांडेय) पृ० ११३८, एक प्रश्न (जैनेन्द्रकुमार) पृ० ११४३, जीवन-संध्या (उषादेवी मित्रा) पृ० ११५३, नाविक-गान (बैजनाथ सिंह 'विनोद') पृ० ११६०, असफलता में सफलता (मोतीचन्द्र चौधरी) पृ० ११६१, नारदजी की कैलास-यात्रा (स्व० सुब्रह्मण्य भारती) पृ० ११६६, मुक्ता-मंजूषा (चयन) पृ० ११७०, नीर-क्षीर (समालोचना) पृ० ११७६, सामयिक (टिप्पणियाँ) पृ० ११८०, हंस-वाणी (सम्पादकीय) पृ० ११८३.

अगस्त

सम्पत्ति-परिग्रह का अभिशाप (एडवर्ड कारपेंटर) पृ० ११८७, बालशिक्षा (भगवानदीन) पृ० ११८६, प्रेम ('दिनकर') पृ० ११६४, काल और शैतान का रहस्य (एडवर्ड कारपेंटर) पृ० ११६५, निरुपाय (उदयशंकर भट्ट) पृ० ११६६, विधवा (कुमारी पी० मालती) पृ० १२०१, राजकुमार का देशाटन (जैनेन्द्रकुमार) पृ० १२०६, जागृति (रामकुमार वर्मा) १२१३, गांगेय (स्व० व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर) पृ० १२१४, सतीश (सुन्दरलाल गर्ग) पृ० १२१७, हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी (ताराचन्द) पृ० १२२१, गीत (नेमिचन्द्र जैन) पृ० १२३३, अश्रुगीत (आरसीप्रसाद सिंह) पृ० १२३४, उपयोगिता (जैनेन्द्रकुमार) पृ० १२३६, एक प्रश्न (जैनेन्द्रकुमार)

प० १२४४, चिट्ठी (स्व० रमणभाई महीपतराम नीलकंठ) प० १२५३, कहानियों में करुणा (देवराज उपाध्याय) प० १२६०, आभार (शम्भूदयाल सक्सेना) प० १२६५, मानव-जीवन की पूर्णता (हरिभाऊ उपाध्याय) प० १२६६, संस्कार (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) प० १२६८, मुक्ता-मंजूषा (चयन) प० १२७३ नीर-क्षीर (समालोचना) प० १२८५ सामयिक (टिप्पणियाँ) प० १२८८, हंस-वाणी (सम्पादकीय) १२६२.

सितम्बर

अभिसार (एडवर्ड कारपेंटर) प० १२६५, मध्ययुग के संतों की सहज साधना (क्षिति-मोहन सेन) प० १२६७, नीति के दोहे (म० भगवानदीन) प० १३०१, बहता फूल (उषादेवी मित्रा) प० १३०३, और कोई नहीं, प्रेमी ही जान पाता है (एडवर्ड कारपेंटर) प० १३०६, अनुसरण (रामचन्द्र तिवारी) प० १३११, प्रवास-पत्र (श्रीकृष्ण सक्सेना) प० १३२०, संघर्ष के बाद ('विष्णु') प० १३२३, अचरज ('अज्ञेय') प० १३२६, सत्य, शिव, सुन्दर (जैनेन्द्रकुमार) प० १३३१, गीतिका (आरसीप्रसाद सिंह) प० १३३६, सरकारी नौकरी की सफलता का भेद (रामनारायण विश्वनाथ पाठक) प० १३३७, शीशे का जादू (वामन चोरघडे) प० १३४७, द्वादशी (रामचन्द्र तिवारी) प० १३५१, मानव-जीवन का मर्म (विश्व-विख्यात व्यक्तियों के विचार) प० १३५२, किसान (यशपाल जैन) प० १३६०, पहाड़ों का प्रेममय संगीत (उपेन्द्र-नाथ 'अश्क') प० १३६२, इतिहास का व्यापक क्षेत्र (कृष्णचंद्र विद्यालंकार) प० १३७३, राजकुमार का देशाटन (जैनेन्द्रकुमार) प० १३७६, मुक्ता-मंजूषा (चयन) प० १३८४, नीर-क्षीर (समालोचना) प० १३६४, हंस-वाणी (संपादकीय) प० १३६६.

'हंस' के विषय में

'हंस' इस अंक से अपने जीवन के आठवें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। इन सात वर्षों में 'हंस' ने क्या किया, यह दो-चार शब्दों में कहा नहीं जा सकता। 'हंस' आजकल जैसा निकल रहा है, पाठकों के सम्मुख है। साथ की सूची से अबकी वर्ष की हमारी प्रगति का अंदाज़ा लग जायगा। थोड़े-से आत्मविश्वास के बिना जीवन संभव नहीं, इसलिए यदि यहाँ पर कुछ शब्द अपने विषय में आत्म-निवेदन के रूप में कहे जायँ तो वे क्षम्य होने चाहिये। 'हंस' आज के पत्रों में सबसे प्रगतिशील है। उसकी एक-एक पंक्ति मनन के योग्य है ; कोई भी पंक्ति ऐसी नहीं है जिसे आप पढ़ने से छोड़ सकें। आज-कल हमारे पत्र जिस दिशा में झुक रहे हैं, 'हंस' ने कभी उस ओर जाने का विचार तक भी नहीं किया। यह नहीं कि वह उधर जा नहीं सकता, बल्कि इसलिए कि वह जानता है कि वह रास्ता उचित नहीं है। पाठक आज थोड़ी-सी तड़क-भड़क, शान-शौकत, थोड़ा-सा सस्ता मनोरंजन चाहता है और उसी के लिए कुछ पैसे मास में या कुछ रुपए वर्ष में खर्च करना चाहता है। किंतु 'हंस' मनोरंजन उसी अंश तक देगा, जहाँ तक जीवन में उसकी ज़रूरत है। कहानियाँ, लेख, निबन्ध, विचार आदि के लिहाज़ से 'हंस' किसी भी हिन्दी, या किसी भारतीय भाषा के किसी भी पत्र से कम नहीं, बल्कि बढ़-चढ़कर है। किन्तु इस सबका फल उसके मालिकों को जो मिलता है, वह आपको चकित कर देगा। इन सात वर्षों में 'हंस' के मालिकोंने २५,०००) नुक़सान दिया है और सात वर्षों तक अनवरत परिश्रम जो किया है, उसका कोई मूल्य लेखे में नहीं है। हिन्दी का कोई भी पत्र इतना नुक़सान देकर नहीं चलाया गया है। यह सब होते हुए भी 'हंस' के पाठक यह निश्चित समझ लें कि 'हंस' सदैव चलता रहेगा। इसी प्रकार नहीं चलेगा, अब अपने बल पर उसे चलना होगा। और इसके लिए वह अपने सब पाठकों और हिन्दी-समाज के प्रत्येक सदस्य की सहायता पर अवलम्बित है। नए वर्ष में हम कई नए परिवर्तन करनेवाले हैं। सब प्रकार से हम 'हंस' को पूर्ण बनायेंगे। पाठकों का ही उसे बल है। 'हंस'—परिवार से हम सीधा नाता जोड़ना चाहते हैं। हमें विश्वास है कि सुधी पाठक हमें अच्छी तरह समझते हैं। तब हमें 'हंस' को सफल बनाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। संक्षेप में यह कह देना पर्याप्त होगा, जैसा कि पहले भी एक बार इन्हीं पृष्ठों में कहा जा चुका है, कि प्रत्येक 'हंस' का पाठक उसे अपनी चीज़ समझकर उसे आगे बढ़ावेगा और समृद्धिशील बनावेगा। और अपनी जिम्मेदारी तो प्रत्येक पाठक भली प्रकार समझ लें ही।

इसी अंक से जिन ग्राहकों का चन्दा ख़त्म होता है उनके लिए इस अंक में एक मनीआर्डर फ़ार्म लगा हुआ है, जिसे वे भरकर भेज दें। वी० पी० का इन्तज़ार न करें। वी० पी० मँगाना यदि अनिवार्य ही हो तो वी० पी० आने पर उसे स्वीकार अवश्य करें। कम-से-कम इतना तो आसानी से किया जा सकता है कि वी० पी० न लेने का विचार हो तो एक कार्ड द्वारा इसकी सूचना कार्यालय को अवश्य दे दी जाय क्योंकि अगला अंक अब आया ही चाहता है, और कार्यालय के इस पचीस हजार रुपये के टोटे में थोड़ी-सी रकम और न बढ़ाई जाय। इतनी विनय सभी पाठकों से है और इसे आप ध्यान में अवश्य रखिये। और तो 'हंस' के विषय में आप अपने खुद के विचार रखते ही होंगे।

'हंस' के एक दयालु पाठक ने हमारे पास पाँच ऐसी महिलाओं के पास 'हंस' वर्ष-भर के लिए जारी करने को लिखा है जो 'हंस' पढ़ने को बहुत उत्सुक हैं किन्तु पैसे के अभाव के कारण ख़रीद नहीं सकतीं। ऐसी पाँच महिलाओं को हमें पत्र लिखना चाहिये। निर्णय के पश्चात् पत्र उनके पास वर्ष-भर तक के लिए जारी कर दिया जायगा।

—व्यवस्थापक 'हंस', बनारस।